अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

PRINCIPLES OF ECONOMICS

(A Text Book for Post-graduate Students)

लेखक

रघुवीर सिंह जैन एम ए, एम कॉम

भारतीय अर्थशास्त्र, मुद्रा-बैंकिंग व विदेशी विनिमय, राजस्व के सिद्धान्त आदि के रचयिता।

तथा

आर० के० तिवारी एम ए

प्रकाशक

रस्तोगी एराड कम्पनी, मेरठ.

१९६२

प्रकाशक
रस्तोगी एण्ड कम्पनी, मेरठ

प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य पन्द्रह रुपये

मुद्रक
नैशनल प्रेस, मेरठ.

लिये, जिन विद्वान लेखको की हिन्दी मे पुस्तकें हमारे हाथ लगी उनमे हमने देखा कि Monopoly शब्द के लिये 'एकाधिकार' पद का प्रयोग किया गया है। तो Monopsony के लिये क्या लिखेंगे? उपर्युक्त अर्थ गलत तथा भ्रामक है। Monopoly के लिये हमने 'विक्रयेकाधिकार' तथा Monopsony के लिये 'क्रयेकाधिकार' पदो का प्रयोग किया है, जो अग्रेजी के इन शब्दो के सही शाब्दिक अर्थ है। इसी प्रकार विक्रयद्वयाधिकार आदि और कितने बिल्कुल नये पदो का प्रयोग इस पुस्तक म किया गया है। सुविधा के लिये अग्रेजी भाषा के अर्थशास्त्र सम्बन्धी कुछ आवश्यक शब्दो तथा पदो का अर्थ पुस्तक के अन्त मे, हिन्दी मे दिया गया है। जहाँ तक सम्भव हो सका है हमने प्रचलित शब्दो के प्रयोग द्वारा—चाहे वे उर्दू के हो अथवा अग्रेजी के—भाषा को अत्यन्त सरल बनाने का प्रयत्न किया है। शकरज शब्दो का प्रयोग वर्ज्य नही।

पुस्तक मे क्लासिकल तथा नियोक्लासिकल विचारधाराओ के अतिरिक्त अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्तो, अर्थात् केन्ज तथा उसके उत्तरकालीन अर्थशास्त्रियो के चिंतन का भी विवेचन किया गया है। पद्धति विश्लेषणात्मक है। इस विश्लेषण को गणित की सरलतम पद्धति द्वारा भी समझाने का प्रयत्न किया गया है। जटिल प्रश्नो के विवेचन मे बीजगणित तथा ग्राफ दोनो की सहायता हमने प्रचुरता से ली है। लेकिन ऐसा करने का उद्देश्य केवल यह रहा है कि विषय वस्तु सरल से सरल ढङ्ग से समझाई जा सके। फिर गणित का सहारा अर्थशास्त्र के उच्च सिद्धान्तो के विवेचन के लिये अनिवार्य प्राय है। सस्थिति प्रत्यय के उपकरण द्वारा उत्पादन तथा विनिमय आदि की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। हमने इस बात का ध्यान रखा है कि आज के आर्थिक विश्लेषण की प्रमुख प्रवृत्तियो से पाठक वचित न रह। अपने सीमित क्षेत्र मे हमने विषय वस्तु को समझाने के लिये उसकी यथावश्यक ऐतिहासिक भूमिका भी देने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये प्रथम अध्याय (अर्थशास्त्र की परिभाषा) मे हमने ऐतिहासिक भूमिका के सदर्भ मे ही परिभाषाओ के विकास पर आलोचनात्मक ढङ्ग से विचार किया है। अन्यत्र भी यही प्रयत्न किया गया है।

हम पहले ही कह चुके है कि गणित के प्रत्ययो का प्रयोग इस पुस्तक मे काफी किया है। लेकिन गणित का प्रयोग हमने इतने सरल ढङ्ग से किया है कि गणित का मामूली ज्ञान रखने वाले विद्यार्थी भी इन प्रयोगो को भली भाति समझ सकते है। उन्नीसवी शताब्दी के दौरान मे तथा उसके बाद अर्थशास्त्र के विश्लेषण मे गणित तथा यन्त्रशास्त्र के प्रत्ययो का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता गया। आज स्थैतिक, प्रवैगिक, सस्थिति, सहनि आदि कितने प्रत्यय है जो अर्थशास्त्र के अपने प्रत्यय बन चुके है। पुस्तक मे हमने इन प्रत्ययो की उत्पत्ति, उनका प्रारम्भ मे अन्य शास्त्रो मे प्रयोग तथा अर्थशास्त्र मे उनके क्रमिक प्रयोग आदि के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक ढङ्ग से विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इससे इन प्रत्ययो का समझना अत्यन्त सरल होगा। जैसे 'सस्थिति' (Equilibrium) प्रत्यय की उत्पत्ति तथा उसके

विषय सूची

अध्याय *नाम तथा विषय-वस्तु* पृष्ठ

१

अर्थशास्त्र की परिभाषा

(Definition of Economics)

आधुनिक युग म विद्वानो का ध्यान जितना अधिक अर्थशास्त्र ने आकर्षित किया है उतना कदाचित् ही किसी दूसरे शास्त्र ने किया है। परन्तु यह कोई पुराना शास्त्र नही। इसका प्रारम्भ हजारो वष का न हाकर कवल सैकडो वर्षों का ही है। पुराने समय म अर्थशास्त्र नाम का कोई शास्त्र नही पाया जाता था। हमारे देश के मुनिपियो ने अर्थ की जीवन मे महत्ता को समझते हुए इसे जीवन के चार लक्ष्यो—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—मे एक प्रमुख स्थान दिया था। हा कुछ समस्यायें जिनको आजकल आर्थिक समस्याओ की सज्ञा दी जाती है, देश के शासको तथा ऋषियो-मुनियो द्वारा बताये गये नैतिक नियमो मे ही उल्लेखनीय मिलती हैं। यद्यपि कौटिल्य की प्रसिद्ध पुस्तक का नाम 'अर्थशास्त्र' है किन्तु वह वास्तविक रूप मे अर्थशास्त्र की समीक्षा न हो कर प्राय राजनीति तथा नीति मे सम्बन्धित है। परन्तु मुद्रा के विकास तथा जीविकापार्जन की कठिनाइयो के कारण उपनिवेशो की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि, करो का लगाया जाना आदि बहुत सी समस्यायें आकर खडी हो गई तथा शनै शनै उनका मनुष्य जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध हो गया कि वे मनुष्य के अधिकाश समय तथा उसकी शक्ति को लेने लगी। इसलिये मार्शल ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' मे कहा है कि धार्मिक उद्देश्य यद्यपि आर्थिक उद्देश्यो से अधिक तीव्र होते हैं तो भी उनकी सीधी कार्यवाही मानव जीवन के इतने बडे भाग पर अपना प्रभाव नही डालती जितनी कि आर्थिक उद्देश्यो की। वास्तव म आजकल मनुष्य प्रातःकाल से सायकाल तक केवल इसी धुन मे लगा रहता है कि वह किस प्रकार अपना जीविकोपार्जन करे। इसी चिन्ता से हर समय उसका मस्तिष्क भरा रहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसकी अधिकतर क्रियायें होती हैं जिनसे कि उसका चरित्र बनता है।

कोई आश्चर्य की बात नही है कि वह शास्त्र जिसका मानव जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध हो, प्रत्येक देश के लोगो का ध्यान आकर्षित करे। परन्तु देश और काल की परिस्थितियो के साथ-साथ मनुष्य के विचार भी तो बदलते रहते हैं। एक चीज को दो मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं तथा इसी अपने-अपने दृष्टिकोण से उस वस्तु का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिये हम आवश्यकताओ का

विद्वानों के प्रयत्न के फलस्वरूप बने हैं। यही कारण है कि इसमें ब्याज लिया जाय या न लिया जाय आदि बातों से लेकर व्यापाराधिक्य आदि बातों तक का अध्ययन किया जाता है। परन्तु अब समय आ गया है कि विचारों की इस भिन्नता में से अर्थशास्त्र की एक ऐसी परिभाषा निकाली जाय जो कि सब प्रकार की परिस्थितियों पर लागू की जा सके।

अर्थशास्त्र की ऐसी परिभाषा ढूंढने से पूर्व हमको उन सब परिभाषाओं पर विचार करना चाहिये जो कि अभी तक की जा चुकी हैं।

अर्थशास्त्र का जन्मदाता आदम स्मिथ को कहा जाता है। उसने अपनी पुस्तक का नाम 'राष्ट्र के धन की प्रकृति और कारणों की जांच (An Enquiry into the Nature and Cause of the Wealth of Nature) रखा।' उसके अनुसार अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है। वाकर तथा जे० बी० से ने भी अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान बताया है। वाकर का कहना है कि अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार जे० बी० से ने कहा है कि अर्थशास्त्र उन नियमों का अध्ययन है जो कि धन से सम्बन्ध रखते हैं।

इन विद्वानों द्वारा अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान बताने का यह कारण था कि जिस समय इन विद्वानों ने अर्थशास्त्र तथा उसकी समस्याओं के विषय में लिखा। उस समय आर्थिक जगत में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। आदम स्मिथ ठीक मध्यकालीन युग के पश्चात् आया। मध्यकालीन युग में खेत खुले हुए होते थे। उद्योग-धन्धों की कोई उन्नति न हुई थी। वस्तुओं के भाव तथा मजदूरों की मजदूरी रीति-रिवाज तथा सौदा करने वाले पक्षों की सामाजिक स्थिति से निश्चित होते थे। यातायात के साधनों की बहुत कम उन्नति हो पाई थी उसके फलस्वरूप व्यापार की भी बहुत कम उन्नति हुई थी। परन्तु मध्यकालीन युग के पश्चात् स्थिति में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। खुले खेतों के स्थान पर बड़े-बड़े खेत बनाये जाने लगे। उनके चारों ओर बाड़े बनाये गये। मालिक तथा नौकरों के सम्बन्ध व्यक्तिगत न होकर द्रव्य पर आधारित होने लगे। वस्तुओं का भाव व मजदूरों की मजदूरी सौदा करने वाले पक्षों की आपसी प्रतियोगिता द्वारा तय होने लगे। देशी तथा विदेशी व्यापार की उन्नति होने लगी। व्यापार न केवल देश की चाहर दीवारी तक ही सीमित रहा वरन् विदेशों में भी फैलने लगा। यह सब उन्नति इस कारण हुई कि वस्तु विनिमय का स्थान द्रव्य ने ले लिया। बढ़ती हुई द्रव्य की माग को अमेरिका की चांदी की खानों ने पूरा किया। इसके साथ-साथ बैंकिंग की उन्नति होने लगी। मुद्रा आने के कारण रीति-रिवाजों की शक्ति क्षीण होने लगी तथा जन-साधारण को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार सौदा करने में स्वतन्त्र था। इस प्रकार स्वतन्त्र प्रतियोगिता (Free Competition) एक बहुत बड़े अशिक्षित दानव के समान छोड़ दिया गया जो स्वेच्छा से कार्य करने लगा। योग्य परन्तु असभ्य व्यापारियों ने अपनी शक्ति का जो दुरुपयोग किया उससे तमाम सामाजिक व्याधियां

ध्यान किये दी जाती थी कि उससे उनका तथा उनके परिवार का भरण-पोषण हो सकेगा या नही तथा उनसे बिना इस बात का ध्यान किये काम लिया जाता था कि वे इतना काम कर सकेंगे या नही। मनुष्य को एक मशीन माना जाता था जिससे चाहे जितनी देर तथा चाहे जितनी मात्रा मे भी काम लिया जा सकता था। उस समय मजदूरो को १६–१८ घण्टो तक काम करना पडता था ६–८ वर्ष के अल्प आयु के बच्चो को बहुत समय तक काम करने पर बाध्य किया जाता था।*

उनको काम पर पहुचने के लिये ३–४ बजे उठना पडता था तथा सारे दिन उनसे मशीने साफ करने, फैक्ट्री की चिमनी साफ करने करने, किवाड खोलने तथा बन्द करने तथा जजीरो को अपनी कमर मे बाधकर घुटनो के सहारे कोयले की भारी-भारी गाडियो को खीचने का काम लिया जाता था। थकावट के कारण यदि बच्चो पर नीद का आक्रमण होता था तो उन पर कोडे पडते थे और उन्हे गालिया दी जाती थी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो इगलैण्ड की सम्पत्ति बढती जा रही थी तथा दूसरी ओर उसके लोगो का स्वास्थ्य तथा चरित्र निरन्तर गिरता जा रहा था।

इस स्थिति को देखकर कार्लाइल, रस्किन आदि समाज-सुधारको ने अर्थशास्त्र को कुबेर का सन्देश (Gospel of Mammon), दुखदायी शास्त्र (Dismal Science), रोटी मक्खन का शास्त्र (Bread and Butter Science) आदि नामो से पुकारा तथा इसकी बडी कडी आलोचना की। प्रो० मार्शल ने भी लिखा है कि आधुनिक अर्थशास्त्र का प्रारम्भ क्षेत्र की कुछ कठोरता तथा कमी तथा धन को जीवन का साधन मात्र न मान, साध्य मानने की प्रवृत्ति मे हुआ। उस समय इसका सम्बन्ध साधारणतया सार्वजनिक आय तथा करो की आमदनी तथा उनके प्रभावो से था।**

उस युग मे धन को साध्य मानने का कारण यह हो सकता है कि धन के आने के कारण चारो ओर उन्नति ही उन्नति होने लगी थी। उसके कारण व्यापार, उद्योग, कृषि, कला, साहित्य आदि सभी चीजो की उन्नति हुई। लोगो ने देखा कि जिसके पास धन है उसको सब चीजे प्राप्त हो सकती है। यहा तक धन देकर उसको पोप से पापमोचन पत्र भी प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि लोगो ने धन को साधन न मानकर साध्य माना हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

* "In 1835 Andrew Ure (Philosophy of Manufacturers P. 481) reckoned that in the manufacture of cotton, wool, linen and silk in England there were employed 4800 boys and 5308 girls below 11 years of age, 67000 boys and 89000 girls between 11 and 18 years of age."—Gide and Rist —A History of Economic Doctrines P. 171

** Marshall—Principles, p. 52

पर हमको विचार करना है कि क्या धन को साध्य मानने की प्रवृत्ति उस युग के अर्थशास्त्र वेत्ताओ की सीखो के कारण हुई या नही। यदि यह इस कारण हुई तो वास्तव मे अर्थशास्त्री दोषी है, अन्यथा नही।

जहा तक हम समझते है इस प्रकार की प्रवृत्ति का कारण अर्थशास्त्रवेत्ताओ की शिक्षा नही थी वरन् उस समय के सभी प्रकार के लोगो की ऐसी प्रवृत्ति थी। धन उस समय एक नयी वस्तु थी जो कि लोगो को सब चीजें प्रदान कर सकती थी तथा मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति मे सहायक हो सकती थी। इसी कारण लोगो ने धन को साध्य मानना आरम्भ कर दिया। अर्थशास्त्रियो ने केवल लोगो की उन क्रियाओ का अध्ययन करना प्रारम्भ किया जिनका सम्बन्ध धन से था। ऐसा करने मे तो उनकी कोई भूल नही थी क्योकि मनुष्य जीवन का धन सम्बन्धी भी एक पहलू है और उन्होंने इस पहलू का अध्ययन करना आरम्भ किया। हम पहले बता चुके हैं कि केवल अर्थशास्त्रियो की सीखो के कारण उद्योगपतियो ने मजदूरो को कम मजदूरी देनी शुरू नही की थी उस समय के अर्थशास्त्रियो के सौदा करने की स्वतन्त्रता पर जरूर जोर दिया, परन्तु स्वतन्त्रता की लहर न केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही दौड गई थी वरन् राजनैतिक क्षेत्र मे भी लोग सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त होना चाहते थे। इसी कारण वे कहते थे कि सबसे अच्छा शासन वह होता है जो लोगो के कार्यों मे कोई हस्तक्षेप नही करता। आदम स्मिथ ने देखा कि व्यापार तथा उद्योगो की उन्नति तभी सम्भव हो सकती है जबकि व्यापार तथा उद्योगो पर स मब प्रकार के बन्धन ढीले कर दिये जायें। इस प्रकार की स्वतन्त्रता देने से इगलैंड का लाभ भी इतना हुआ कि उसका व्यापार तथा साम्राज्य सारे ससार मे फैल गया। तो यहा तक तो अर्थशास्त्रियो का कोई दोष नही था क्योकि यदि वे सौदा करने की स्वतन्त्रता की नीति पर जोर न देते तो इगलेंड की आर्थिक उन्नति न होती।

परन्तु आदम स्मिथ का दोष इस बात मे था कि उसने लोगो को यह बताया कि हरएक आदमी अपने अपने हित का ध्यान रखेगा तो एक अदृश्य हाथ (Invisib'e hand) की सहायता के कारण यह सारे समाज का कल्याण करेगा। यह बात ठीक है कि समाज व्यक्तियो म बनता है। परन्तु समाज केवल व्यक्तिया का समूह नही है। समाज के शरीर मे एक ऐसी आत्मा का प्रवाह होता है जो कि व्यक्तियो के जीवन मे नही पाई जाती। इस कारण यदि एक व्यक्ति के लिय एक बात ठीक है तो वह सारे समाज के लिय भी ठीक होगी यह कोई जरूरी बात नही है। फिर यह बात भी है कि कभी-कभी समाज के कुछ व्यक्ति इतने दुर्बल होते हैं कि वे अपना भला चाहते हुए भी परिस्थिति के कारण उसको नही कर सकते। यही बात मजदूरो के साथ हुई। यद्यपि मजदूर अपना भला चाहते थे तो भी वे सौदा करने मे इतने दुर्बल थे कि वे पूंजीपतियो के सामने सौदा करने की स्थिति मे न थे, क्योकि औद्योगिक क्रान्ति के कारण इगलेंड मे कुटीर उद्योग

प्राय नष्ट हो गये थे। इस कारण वे लोग जो इन धन्धो मे लगे हुए थे बेरोजगार हो गये। छोटे-छोटे दस्तकारो के पास धन तो होता नही कि उसके सहारे बैठे हुए खाये। उनको तो यदि एक दिन भी काम न मिले तो भूखो मरने का प्रश्न आ जाता है। यही कारण है कि सौदा करने की स्वतन्त्रता मे पूजीपतियो को लाभ हुआ परन्तु मजदूरो को हानि हुई। पूजीपति उनसे बहुत अधिक काम लते थे परन्तु उनको मजदूरी बहुत कम देते थे। ऐसा करने मे उनको अपने काम के औचित्य की साक्षी आदम स्मिथ के लेखो से मिल गई। वे कहने लगे कि जब मजदूर को सौदा करने की स्वतन्त्रता है तो सौदे के फलस्वरुप उनको जो मजदूरी मिलती है वह ठीक ही होगी।

यही नही, पू जिपतियो को मजदूरो को कम मजदूरी देन के लिये रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियो की भी साक्षी मिल गई क्योकि उन्होने कहा कि श्रम की प्राकृतिक कीमत वह है जो कि मजदूरो को अपना जीवन चलाने तथा अपनी सख्या को बिना घटाये बढाये कायम रखने के लिये आवश्यक है। उनका कहना था कि यदि मजदूरी जीवन-निर्वाह की सीमा से अधिक दी जायगी तो वे अधिक बच्चे पैदा करेंगे जिससे मजदूरो की सख्या आवश्यकता से अधिक हो जायगी तथा उसके कारण मजदूरी घटकर जीवन-निर्वाह की सीमा पर आ जायगी। इसके विपरीत, यदि मजदूरी जीवन-निर्वाह से कम मिलेगी तो मजदूर कम बच्चे पैदा करेंगे जिसके कारण मजदूरी बढ जायगी तथा फिर जीवन स्तर की सीमा पर आ जायगी। रिकार्डो के इस सिद्धान्त को 'मजदूरी का लौह सिद्धान्त (Iron Law of wages) कहा गया है। इस सिद्धान्त के कारण लोगो मे यह गलत धारणा फैली कि मजदूरो के दुख का कारण वे स्वय ही हैं। यदि वे चाहे तो सख्या घटाकर अपनी मजदूरी बढवा सकते है। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूर सब मजदूरो की मजदूरी बढवाने मे कुछ नही कर सकते थ।

अर्थशास्त्रियो की उपर्युक्त सीखो तथा लेखो के कारण पू जीपतियो को मजदूरो का शोषण करने का अवसर प्राप्त हो गया। इसी कारण रस्किन तथा कार्लाइल आदि समाज-सुधारको ने अर्थशास्त्रियों को अन्धा शास्त्र तथा कुबेर का सदेश कहकर पुकारा। प्रो० मार्शल ने लिखा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के अंग्रेजी अर्थशास्त्रियो के उपर बहुधा जो दोष लगाये जाते हैं कि उन्होंने पर्याप्त सावधानी के साथ इस बात को जानने की चेष्टा नही की कि सामाजिक तथा आर्थिक मामलो मे व्यक्तिगत कार्य की अपेक्षा सामूहिक कार्य को अधिक महत्व दिया जा सकता है या नही, कि उन्होंने प्रतियोगिता की शक्ति तथा उसके कार्य की तीव्रता की बढा चढाकर प्रशसा की उनमे कुछ तथ्य अवश्य है। उनके इस आरोप मे भी कुछ सत्यता है, यद्यपि बहुत कम, कि उनका कार्य उनकी रूप-रेखा की सख्ती तथा उनके मिजाज की कठोरता के कारण नष्ट हो गया। परन्तु ये गलतिया कुछ तो बेन्थम के सीधे प्रभाव के कारण हुई, कुछ इस युग की उन

प्रवृत्तियों के कारण हुई जिनका स्मिथ ने वर्णन किया है। परन्तु वे कुछ इस कारण भी हुई कि अर्थशास्त्र का अध्ययन फिर से बहुत कुछ उन लोगों के हाथों में जा पड़ा जिनकी शक्ति का आधार मानसिक विचारों की अपेक्षा साहसपूर्ण कार्य था।*

अर्थशास्त्र की आलोचना न केवल रस्किन तथा कार्लाइल ने ही की वरन् सिसमोन्डी आदि सुधारकों ने भी की। सिसमोन्डी ने कहा कि अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहना बिल्कुल गलत है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में धन की अपेक्षा मनुष्य की प्रधानता होनी चाहिये। अर्थशास्त्र के अध्ययन का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य होना चाहिये। यदि अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन के सब पहलुओं पर ध्यान न दे तो कम से कम उसको उसके भौतिक कल्याण पर तो ध्यान देना चाहिये। उसने कहा कि यदि हम मनुष्य को भूल कर केवल सम्पत्ति पर ही ध्यान देंगे तो आरम्भ से ही हम गलत मार्ग पर चल पड़ेंगे। उसने आगे कहा कि अर्थशास्त्र का एक नैतिक उद्देश्य है। इस शास्त्र का केवल धन ही से सम्बन्ध नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध धन से मनुष्य के संदर्भ में है। इसको आर्थिक क्रिया का अध्ययन मानव कल्याण पर इसके प्रभाव को ध्यान में रखते हुये करना चाहिये। उसने बताया कि एक वास्तविक धनी देश वही है जिसमें कि वस्तुओं का यह बड़ा समूह, जिसको सम्पत्ति की संज्ञा दी जाती है, धनी तथा निर्धन दोनों प्रकार के लोगों की आवश्यकतायें पूरी करने के काम आता है। सम्पत्ति की परिभाषा करते हुए उसने कहा कि मनुष्य के साथ ही उसका सम्बन्ध स्थापित करके हम इसके विषय में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। सम्पत्ति मनुष्य के श्रम द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं का एक बड़ा समूह है जिसका उपभोग मनुष्य की आवश्यकताओं द्वारा होता है। इसलिये उसने कहा कि हम सम्पत्ति को सम्पत्ति तभी कह सकते हैं जबकि उसका वितरण उचित ढंग से हो। वह वितरण के केवल सैद्धान्तिक विवरण से ही सन्तुष्ट न था। इसी कारण उसने निर्धन लोगों पर विशेष ध्यान दिया। उसने बताया कि किस प्रकार मशीनों के आविष्कार, स्वतन्त्र प्रतियोगिता तथा निजी सम्पत्ति के कारण मनुष्य के जीवन में परिवर्तन आ गया है। इसी कारण उसने कहा कि अर्थशास्त्र एक वृहद् दृष्टिकोण में धन का सिद्धान्त है और कोई सिद्धान्त, जिसके अन्तिम विश्लेषण करने पर भी उससे मनुष्य के सुख की वृद्धि नहीं होती, विज्ञान कहलाने योग्य नहीं है।

यहाँ यह बात बताना अनुचित न होगी कि जे० बी० से ने सिसमोन्डी की इस परिभाषा की बड़ी मजाक उड़ाई है। उसने कहा है कि सिसमान्डी के अनुसार अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसका उद्देश्य मानव सुख की रक्षा करना है। इस कारण व उन लोगों के लिये जिनका सम्बन्ध मानव कल्याण में है, अर्थशास्त्र का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस प्रकार शासकों के लिये इसका ज्ञान प्राप्त करना

* Marshall—Principles pp, 60-61

आवश्यक हुआ। परन्तु यदि हम एक सामान्य नागरिक की बुद्धि तथा उद्योग पर विश्वास न करके शासकों पर विश्वास करेंगे तो मानव कल्याण बहुत कम हो जायगा। जे० बी० से की सिसमान्डी के विचारों की यह आलोचना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उसके ऊपर व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देने का इतना भूत सवार था कि वह उसके अतिरिक्त कुछ देख ही नहीं सकता था। जे० बी० से का मत था कि वैज्ञानिक के समान अर्थशास्त्र वेत्ता का कार्य सुझाव देना नहीं वरन् केवल निरीक्षण विश्लेषण तथा वर्णन करना है। इसके अतिरिक्त उसको और कुछ नहीं करना चाहिये।

सिसमान्डी के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य व्यक्तियों ने आदम स्मिथ आदि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों की आलोचना की। उदाहरण के लिये कल्पनावादी समाजवादियों, जिनमें हम सेन्ट साइमन, सेन्ट साइमोनियस, राबर्ट, ओविन, चार्ल्स फोरियर, लुई ब्लैंक तथा प्राधों को रखते हैं, ने अर्थशास्त्रियों की यह कहकर आलोचना की कि वे केवल वस्तु स्थिति में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं तथा न्याय अन्याय का कोई ध्यान नहीं रखते। उन्होंने अर्थशास्त्रियों की विशेषतया इसलिये आलोचना की कि उन्होंने (अर्थशास्त्रियों ने) बहुत सी आधुनिक समस्याओं को स्वीकार किया है। इन समाजवादियों में से सेन्ट साइमन ने सबसे पहले इस विचार का खण्डन किया कि स्व हित अर्थशास्त्र में एक बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति होती है। उसने कहा कि व्यक्ति को अपने अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों पर अधिक ध्यान देना चाहिये। सेन्ट साइमन के अनुयाइयों ने बताया कि जब मजदूरों को उत्पादन करने वाले औजारों से अलग कर दिया जाता है तो क्या क्या सामाजिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि मध्य जनों (Middle men) के आने से किस प्रकार बर्बादी होती है। फोरियर ने बताया कि उत्पत्ति तथा उपभोग में सहयोग से क्या लाभ होते हैं। लुई ब्लैंक तथा प्राधों ने प्रतियोगिता की खराबी दिखाते हुए यह बात बताई कि प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह अपने जीवन को चलाने के लिये सामान प्राप्त करे। प्रोधों का इस दृष्टि में बड़ा महत्व है क्योंकि उसने अर्थशास्त्र पर बड़ा तीक्ष्ण प्रहार किया और उसकी आलोचनाओं का प्रभाव न केवल अर्थशास्त्रियों पर ही पड़ा वरन् समाजवादियों पर भी पड़ा। उसने निजी सम्पत्ति की संस्था पर आक्रमण किया तथा लाभ के न्यायसंगत होने की बात को चुनौती दी। उसने अर्थशास्त्रियों के मूल्य सिद्धान्त को गलत बताते हुए स्वयं मूल्य के श्रम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

उपर्युक्त फ्रांसीसी समाजवादियों के अतिरिक्त जर्मन समाजवादियों, जैसे रोडवर्टस तथा कार्ल मार्क्स का भी अर्थशास्त्रियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मार्क्स के सामाजिक विकास के सिद्धान्त तथा उसके भौतिकवादी आधार और वर्ग-संघर्ष के विचारों का अर्थशास्त्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार

था कि राज्य वर्तमान सामाजिक सम्बन्धो का प्रतीक है। राज्य में व्यक्ति स्व हित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। परन्तु समाजवादियो ने सबसे पहले यह कहा कि समाज व्यक्तियो का समूह मात्र ही नही है, वरन् इसकी अपनी स्वत एक जिन्दगी है, जिसका अस्तित्व इसके सदस्यो से भिन्न है। समाजवादियों के अतिरिक्त जर्मनी मे लिस्ट आदि ने क्लासिकल अर्थशास्त्रो की इस बात का खडन किया कि अबाध व्यापार (Free Trade) की नीति से सब देशो को लाभ होता है। इसके विपरीत उसने सरक्षण की नीति का समर्थन किया।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के विचारो का सबसे बडा विरोध ऐतिहासिक विचारधारा वाले लोगो ने किया। जहा पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र का अध्ययन मशीनवत् किया था तथा सब प्रकार की आर्थिक समस्याओ को कुछ थोडे से नियमो के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया था वहा ऐतिहासिक विचारको ने इस बात पर जोर दिया कि आर्थिक क्रियाओ का अध्ययन परिस्थिति का ध्यान रखकर किया जाना चाहिये। उनका मत था कि हमको अपने आपको केवल सिद्धान्तो के अध्ययन तक ही सीमित नही रखना चाहिये वरन् उसके साथ-साथ प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक जीवन के ढाचे का एक ऐतिहासिक वृत्तान्त भी देना चाहिये जो कि प्राणीशास्त्र (Biology) के समान हो।

१८७० ई० के करीब आस्ट्रिया, इगलैड, स्वीटजरलैड तथा अमेरिका मे कुछ ऐसे व्यक्ति कार्य-क्षेत्र मे आये जिन्होंने ऐतिहासिक विचारधारा का खडन किया तथा उसके स्थान पर एक विशुद्ध अर्थशास्त्र की माग की। इस विचारधारा को आस्ट्रियन विचारधारा कहते है। इस विचारधारा की विशेषता यह थी कि उसने व्यक्ति तथा उसकी भावनाओ को प्रधानता दी। इसी कारण यह विचारधारा हर चीज का अध्ययन वैयक्तिक दृष्टि से (Subjectively) करती है। आस्ट्रियन विचारधारा वालो का कहना था कि हमको मनुष्य व्यवहार के केवल एक ही पहलू का अध्ययन करना चाहिये तथा दूसरे पहलुओ को गौण स्थान देना चाहिये तभी हम एक विशुद्ध विज्ञान की नीव डाल सकते है। वे क्लासिकल विचारको के इस मत से सहमत थे कि पूर्ण प्रतियोगिता से ही सबको अधिकतम तुष्टि प्राप्त हो सकती है। परन्तु उन्होने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो पर आरोप लगाया कि अपने स्वीकृत नियमो तथा धारणाओ को इन्होने कभी कसौटी पर कसने की चेष्टा नही की। उन्होने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो की तर्कशैली को चक्रवत् (Circular) भी बताया। उन्होंने बताया कि यह आलोचना क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के बडे-बडे नियमो जैसे माग और पूर्ति के सिद्धान्त, उनके लागत खर्च के सिद्धात तथा उनके वितरण के सिद्धात पर विशेषतया लागू होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समय मार्शल कार्यक्षेत्र मे उतरा उस समय तक पुरानी क्लासिकल विचारधारा या तो कटकर तार-तार हो गई थी या वर्तमान समस्याओ के सुलझाने मे असमर्थ थी। आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियो का

आर्थिक समस्याओं को वैयक्तिक दृष्टि से देखने तथा जर्मन अर्थशास्त्रियों के आगमन प्रणाली पर जोर देने के कारण स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया था।

यह बात समझने के लिये कि 'मार्शल ने अर्थशास्त्र को धन-प्रधान की अपेक्षा मनुष्य-प्रधान क्यों बनाया' उपर्युक्त पृष्ठभूमि का समझना बहुत आवश्यक है। अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका में मार्शल ने पुस्तक के उद्देश्य को बताते हुये कहा है कि *इस पुस्तक का उद्देश्य पुराने सिद्धान्तों का अपने युग के नये कार्य तथा नई समस्याओं के प्रकाश में नये दृष्टिकोण से प्रतिपादित करने का प्रयत्न है।* वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। मार्शल ने पुरानी क्लासिकल पद्धति को कायम रखते हुए उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया। उदाहरण के लिये हम अर्थशास्त्र की परिभाषा को ही लेते हैं। पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अर्थशास्त्र धन का विज्ञान था। मार्शल ने भी उसको धन का विज्ञान ही बताया। परन्तु जहाँ पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने एक आर्थिक-व्यक्ति (Economic-Man) की कल्पना अपने सामने रखी थी वहाँ मार्शल ने एक वास्तविक व्यक्ति की कल्पना अपने सामने रखी क्योंकि उसने देखा और पता था कि अर्थशास्त्र को अर्थ-प्रधान बनाने के कारण मनुष्य को मनुष्य नहीं समझा जाता तथा उससे मशीन के समान काम लिया जाता है, जिसके कारण समाज की बड़ी हानि होती है। इसीलिये मार्शल ने *अर्थशास्त्र को धन का अध्ययन बताकर साथ ही साथ यह कहा कि यह मनुष्य का* भी अध्ययन है और मनुष्य का अध्ययन धन के अध्ययन से अधिक महत्वपूर्ण है। मार्शल की निम्नलिखित परिभाषा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वह कहता है—

"राजनैतिक अर्थशास्त्र या अर्थशास्त्र मानव-जीवन की साधारण क्रियाओं का अध्ययन करता है। इसमें भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उनके उपभोग से निकट सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार एक ओर अर्थशास्त्र धन का शास्त्र है और दूसरी ओर जो कि अधिक *महत्वपूर्ण पहलू है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।*"* मार्शल की इस परिभाषा में पहली बार कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व शामिल किये गये। सबसे पहली बात यह है कि मार्शल पहला अर्थशास्त्री था जिसने 'अर्थशास्त्र' को एक शुद्ध-शास्त्र का रूप दिया। उससे पूर्व जितने अर्थशास्त्री हुये उन्होंने 'अर्थशास्त्र' शब्द का

* Political Economy or Economics is a study of mankind in the ordinary business of life, it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well-being.

"Thus it is on the one side a study of wealth, and on the other, and more important side, a part of the study of Man."

Marshall—Principles of Economics. p. 1.

प्रयोग न करके इसको 'राजनैतिक अर्थशास्त्र' (Political Economy) बताया। परन्तु मार्शल ने कहा कि यद्यपि यह बात ठीक है कि अर्थशास्त्र का व्यावहारिक महत्व बहुत अधिक है परन्तु फिर भी अर्थशास्त्र अपने आपको उन सब चीजो के अध्ययन से दूर रखता है जो कि राजनीतिज्ञो अथवा राजनैतिक पार्टियो को अपने देश की भलाई के लिये ध्यान मे रखनी पडती हैं। अर्थशास्त्र राजनीतिज्ञो को यह बात बतायेगा कि देश की भलाई किस बात से होती है तथा उसको प्राप्त करने का सबसे उत्तम मार्ग कौनसा है। परन्तु अर्थशास्त्र बहुत सी उन राजनैतिक समस्याओ से घृणा करता है जिनको कि एक व्यावहारिक व्यक्ति कभी नही भुला सकता। इसीलिये इसको यदि हम सामाजिक अर्थशास्त्र अथवा केवल अर्थशास्त्र कहे तो अधिक उपयुक्त होगा।

(2) मार्शल की परिभाषा से हम को दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि इसमे मानव जाति का अध्ययन किया जाता है। इसमे पशु-पक्षियो आदि का अध्ययन नही किया जाता। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम साधारणतया आर्थिक क्रियाओ का अध्ययन करते है। आर्थिक क्रियाये वे होती हैं जो धन प्राप्ति की अभिलाषा से सम्बन्धित होती हैं। प्रत्यक्ष है कि पशु-पक्षी इस प्रकार की क्रियाये नही कर सकते। इसलिये अर्थशास्त्र मे पशु-पक्षियो की क्रियाओ का अध्ययन नही किया जाता। परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि पशु-पक्षी मनुष्य के काम आते है तथा उसके भौतिक सुख की वृद्धि मे सहायक होते है। इसी कारण व्यवहार मे अर्थशास्त्र के अन्तर्गत पशु पक्षियो की वृद्धि, मनुष्य के लिये उनका उपयोग, उनकी नस्ल को सुधारने के ढग आदि बहुत सी बातो का अध्ययन किया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र मे उनकी क्रियाओ अथवा उनकी समस्याओ से सम्बन्धित कोई नियम नही बनाये जाते और न ही उनकी क्रियाओ अथवा समस्याओ का अध्ययन उस दृष्टि से किया जाता है।

३ इस परिभाषा मे तीसरी बात हमे यह मालूम होती है कि यह मनुष्य के साधारण जीवन का ही अध्ययन करता है अर्थात् यह मनुष्य की उन क्रियाओ का अध्ययन करता है जो कि मनुष्य के साधारण जीवन मे होती रहती है। जो बात मनुष्य के साधारण जीवन मे नही होती उनका अर्थशास्त्र अध्ययन नही करता है। मनुष्य के साधारण जीवन म क्या-क्या बाते होती है। इस बात पर विचार करना आवश्यक है। मनुष्य को आवश्यकताये अनुभव होती है। इन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये मनुष्य कार्य करता है। इस कार्य के कारण ही उत्पादन, वितरण, विनिमय, उपभोग आदि की समस्याये उत्पन्न होती है। इस प्रकार मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओ का स्रोत मनुष्य की आवश्यकताये है। उत्पादन, वितरण विनिमय तथा उपभोग करते समय मनुष्य का साधारणत. सदा यह प्रयत्न रहता है कि वह सस्ते बाजार मे खरीदे तथा महगे बाजार मे बेचे। परन्तु सब लोग ऐसा नही करते। कुछ लोग असाधारण होते हैं। इसी कारण वे कभी-कभी सस्ते बाजार

मे न खरीदकर महगे बाजार म भी खरीदते है, जैसे कि हमारे देश मे जो लोग काग्रेसी हैं वे मिलो का सस्ता कपडा न खरीदकर हाथ का कता तथा हाथ का बुना महगा कपडा खरीदते हैं। कभी ऐसा भी हो सकता है कि कुछ व्यक्ति एक दान करने वाली सस्था से महगी चीज इसलिये खरीदे जिससे कि गरीबो का लाभ हो। परन्तु इस प्रकार की भावना रखने वाले कदाचित् २—४ प्रतिशत व्यक्ति भी न मिलगे। अर्थशास्त्र इन दो-चार प्रतिशत व्यक्तियो का अध्ययन न करके ९६—९८ प्रतिशत साधारण व्यक्तियो का अध्ययन करता है। य साधारण व्यक्ति साधारण बुद्धि, स्वास्थ्य मनस्थिति आदि के होते है। जो व्यक्ति इस प्रकार के नही होते उनके विषय मे अर्थशास्त्र कुछ अध्ययन नही करता। इस प्रकार अर्थशास्त्र चोरो, डाकुओ, शराबियो ऋषि मुनियो का अध्ययन नही करता क्योकि इनकी क्रियाय असाधारण होती है। चोर-डाकुओ की क्रियायें असाधारण इसलिये होती है कि वे जो कार्य करते है वह गैर-कानूनी होता है। इसके अतिरिक्त वे समाज से केवल लेने का ही काय करते है बदले मे समाज को कोई सेवा नही देते। शराबी भी जब शराब पी लेता है तो उसको नशे के कारण अच्छे बुरे का ज्ञान नही रहता। इसलिये वह जो कार्य करता है उस कार्य को साधारण आदमी कभी नही करते। ऋषि-मुनि भी साधारण आदमियो के समान कार्य नही करते। ऋषि मुनि सदा भगवान का ध्यान करते रहते है। उनके पास सासारिक प्राणियो के समान न तो रहने को मकान होते है, न खाने को अनाज, न ऐश व आराम के सामान। वे इन सब चीजो को प्राप्त करने का प्रयत्न नही करते वरन् उनको छोडने का ही प्रयत्न करते हैं। यह कार्य ससार मे रहने वाले कितने व्यक्ति कर सकते है? शायद इतने कि उनके नाम उगलियो पर गिने जा सकते है। इसी कारण अर्थशास्त्र मे इनका अध्ययन नही किया जाता। अर्थशास्त्र के जो नियम होते है वे ससार के अधिकतर लोगो के कार्यो म जो समानता पाई जाती है, उनके आधार पर बनाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका सारा जीवन समाज मे रहकर ही बीतता है। समाज मे रहकर ही वह उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग की क्रियाये करता है। इसी कारण अर्थशास्त्र मे हम सामाजिक प्राणी का ही अध्ययन करते है। समाज के बाहर जो प्राणी होते हैं वे बहुत कम होते है तथा उनके कार्यों के विषय मे जानकारी प्राप्त करना कठिन है। अर्थशास्त्री सामाजिक प्राणियो की विभिन्न क्रियाओ का अध्ययन करते है तथा यदि सभव होता है तो उनकी इन क्रियाओ के विषय मे आँकडे भी एकत्र करते है। अपने इस अध्ययन के आधार पर वे किसी निर्णय पर पहुँचते है। फिर ये देखते है कि उनका निर्णय दूसरे लोगो पर भी लागू होता है या नही। यदि वह होता है तो वे उसके आधार पर एक नियम बना देते हैं। इसीलिये मार्शल ने लिखा है कि अर्थशास्त्री को तथ्य प्राप्त करने का

लालच होना चाहिये। परन्तु केवल तथ्यो के आधार पर कोई परिणाम नही निकाला जा सकता। तथ्यो को एकत्र करके अर्थशास्त्री अपनी प्रशिक्षित साधारण बुद्धि से कुछ परिणाम निकालता है जो कि व्यावहारिक जीवन मे उसका मार्ग प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार आर्थिक विज्ञान व्यवस्थित विश्लेषण के ओजारो तथा साधारण तर्क बुद्धि की सहायता से सहज ज्ञान की क्रिया मात्र है।* यह साधारण बुद्धि विशिष्ट तथ्यो को एकत्र करने उनको क्रम से रखने तथा उनके नतीजे निकालने मे सहायता देती है। प्रो० मार्शल ने कहा है कि यद्यपि अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत सीमित है तथा बिना सहज ज्ञान बुद्धि (Commonsense) की सहायता के इसका कार्य निरर्थक सा होगा, फिर भी किसी भी जटिल समस्या के सुलझाने मे अर्थशास्त्र तथा उसकी साधारण बुद्धि की सहायता करता है तथा उसको तीव्र बनाता है। अर्थशास्त्र का मुख्य कार्य हेतुको (motives) को कीमत (price) से नापना है, यही कीमत किसी वर्ग के व्यक्ति को कुछ दी हुई परिस्थितियो के अन्तर्गत कोई कार्य अथवा बलिदान करने के लिये मजबूर करती है। उदाहरण के लिये, यदि किसी व्यक्ति को भूख लगी हो तो हम देखेंगे कि वह व्यक्ति अपनी भूख को शान्त करने के लिये कितना धन देगे अथवा कितना परिश्रम करने के लिय तैयार है। इसी प्रकार अर्थशास्त्री देखेगा कि उसी वर्ग का व्यक्ति कितनी कीमत दने अथवा कितना बलिदान करने को तैयार है। उसके पश्चात् अपनी साधारण बुद्धि की सहायता से वह एक आर्थिक नियम बनायेगा परन्तु इस प्रकार का आर्थिक नियम उस अर्थ मे एक नियम नही होगा जिस अर्थ मे कि भौतिक-शास्त्र के नियम होते है। यह केवल एक प्रवृत्यात्मक कथन (Statement of tendencies) होगा। यह केवल इस बात को बत येगा कि एक दी हुई परिस्थिति मे किसी एक वर्ग के व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधारणतय कितनी कीमत दे सकते हैं अथवा कितना बलिदान कर सकते हैं। परन्तु यह इस बात का दावा नही करेगा कि प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकार कार्य करेगा। इसीलिये इसको प्रवृत्यात्मक कथन कहा गया है।

यहाँ यह बात याद रहे कि अर्थशास्त्र के प्राय सभी नियम सामाजिक प्राणियो से सम्बन्धित है। इसीकारण व उन लोगो पर लागू नही होते जो समाज से बाहर रहते है अथवा जो समाज म रहते हुय भी उस प्रकार कार्य नही करते जैसा कि सर्वसाधारण उस परिस्थिति म करेंगे। इसीलिय अर्थशास्त्र एक सामाजिक-शास्त्र है।

इस परिभाषा मे चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि अर्थशास्त्र उन व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओ का अध्ययन है जो कि भौतिक सुख के साधनो की प्राप्ति तथा उनके उपभोग स निकटतम सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार की क्रियाओ को आर्थिक क्रियाय (Economic activities) कहा गया है। जो क्रियाय आर्थिक नहीं होती उनका अर्थशास्त्र मे अध्ययन नही किया जाता। वे दूसरे शास्त्रो के अध्ययन के विषय

* Economic science is but the working of commonsense aided by appliances of organised analysis and general reasoning.
—*Marshall—Principles*, p 113.

हैं, जैसे मनुष्य के वे प्रयत्न जो राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं। राजनीति-शास्त्र के अध्ययन के विषय हैं। इस प्रकार के प्रयत्नों का अर्थशास्त्र में अध्ययन नहीं किया जाता। बहुत से लोगों का जिनमें कामट (Comte) आदि प्रमुख हैं, का मत है कि व्यक्ति के सामाजिक कार्यों का अध्ययन तभी लाभप्रद होता है जबकि हम पूरे समाज-शास्त्र का अध्ययन करें। इस प्रकार के लोगों का मत है कि व्यक्ति के समस्त सामाजिक कार्य एक दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित हैं कि उनमें से एक का विशिष्ट अध्ययन निरर्थक होगा। इसीलिये इन लोगों का मत है कि अर्थशास्त्रियों को मनुष्य जीवन के किसी एक पहलू का अध्ययन न करके समस्त सामाजिक क्रियाओं का व्यापक अध्ययन करना चाहिये। परन्तु प्रो० मार्शल का मत है कि मनुष्य के सारे कार्यों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनका कोई भी विद्वान विश्लेषण तथा वर्णन नहीं कर सकता। मार्शल ने इसके पश्चात् कहा है कि जब तक यूनान के विद्वानों ने समस्त भौतिक घटनाओं को एक ही आधार पर समझाने का प्रयत्न किया तब तक भौतिक शास्त्रों की कोई प्रगति नहीं हुई। परन्तु आधुनिक युग में जबसे उनकी विस्तृत समस्याओं को खण्डों में बांट दिया गया तब से उनकी द्रुतगति से उन्नति होने लगी। यह जरूर है कि किसी शास्त्र के विशिष्ट पहलू का अध्ययन करते समय हमें अपनी दृष्टि केवल उसी पहलू पर ही सीमित नहीं रखनी चाहिये वरन् उससे सम्बन्धित दूसरे पहलुओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है। ऐसा न करने से उस विशिष्ट पहलू का अध्ययन एकांगी होकर अधिक लाभप्रद न होगा। अर्थशास्त्र के विषय में मार्शल ने मिल की साक्षी देते हुए कहा है कि जो व्यक्ति अर्थशास्त्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता वह अच्छा अर्थशास्त्री भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सामाजिक घटनायें एक दूसरे पर इतना अधिक प्रभाव डालती हैं कि उनका अलग-अलग करके समझना कठिन है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज की भौतिक तथा औद्योगिक घटनाओं का अध्ययन बेकार है, सामयिक सभ्यता तथा सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये यह अध्ययन किया जाना चाहिये।

इससे यह बात जाहिर है कि मनुष्य की केवल आर्थिक क्रियाओं का ही अध्ययन भी लाभप्रद है। परन्तु आर्थिक क्रियायें क्या होती हैं ? आर्थिक क्रियायें वे हैं जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उद्देश्य धन की प्राप्ति करना होता है। परन्तु पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के समान मार्शल ने अपनी दृष्टि को धन पर केन्द्रित नहीं किया वरन् उनकी दृष्टि का केन्द्र बना मनुष्य। परन्तु यहां यह याद रहे कि मार्शल की मनुष्य सम्बन्धी धारणा उससे भिन्न थी जो कि उसके विषय में क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की थी। अपनी पुस्तक की भूमिका में मार्शल ने लिखा है कि एक ऐसे आर्थिक व्यक्ति (Economic Man) जिसके ऊपर किसी प्रकार के नैतिक प्रभाव नहीं होते और जो अपने धन सम्बन्धी लाभों के पीछे तत्परता तथा उत्साह से किन्तु यन्त्रवत और स्वार्थपरता के साथ दौड़ता है, के कार्यों के बारे

तुलना करके जाच सकते हैं। इस प्रकार हम उस धन का अनुमान लगा सकते हैं जो कि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये दिया जा सकता है। इसी प्रकार यह बात भी बताई जा सकती है कि अमुक मात्रा मे पूंजी एकत्र करने के लिय कितनी ब्याज-दर होनी चाहिय। इसी प्रकार हम व्यक्ति विशेष की किसी वस्तु प्राप्ति की इच्छा को उस धन से नाप सकते हैं जो कि वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये देने को तैयार है।

चूं कि हम अर्थशास्त्र मे मनुष्य की इच्छाओ व भावनाओ को द्रव्य द्वारा नाप सकते हैं इसी कारण अर्थशास्त्र दूसरे सामाजिक शास्त्रो की अपेक्षा अधिक निश्चित है श्री जे० एस० मिल का भी इस सम्बन्ध म यही विचार था।

यहा यह बात याद रखनी चाहिये कि मार्शल अपने द्रव्य के पैमाने को पूर्ण रूप से ठीक नही मानता। वह उसकी कमियो को भी जानता है। उसने कहा है कि हम अपनी इच्छाओ व भावनाओ को सीधे ढग से द्रव्य के मापदण्ड म नहीं माप सकते क्योंकि एक ही व्यक्ति की भिन्न भिन्न समय की मनस्थिति भिन्न भिन्न होती है तो फिर दूसरे व्यक्ति की इच्छाओ व भावनाओ का माप करना तो और भी कठिन है। इच्छाओ व भावनाओ को नापने की कठिनाई केवल इसी कारण नही है कि समय की इच्छायें तथा भावनायें तो उच्च स्तर की हैं तथा दूसरे समय की निम्न स्तर की बल्कि यदि वे सर्वथा समान भी रहे तो उसको किसी भौतिक मापदण्ड स मापना सम्भव नही। इस प्रकार हम इच्छाओ व भावनाओ को सीधे ढग से नाप कर परोक्ष ढग से नापते हैं तथा परोक्ष ढग से ही हम दो व्यक्तियो की इच्छाओं व भावनाओ की तुलना कर सकते हैं। इस प्रकार हम यह नही कह सकते कि दो सिगरेट पीने वाले व्यक्तियो को इसके पीने से कितनी तुष्टि प्राप्त हुई है अथवा एक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न समयो पर पी गई सिग्रट से कितनी तुष्टि प्राप्त हुई है। परन्तु यदि हम किसी व्यक्ति को इस दुविधा मे पाते हैं कि "मैं इस धन का किताब खरीदने मे खर्च करू कि सिनेमा देखने म कि कपडे खरीदने म' तो हम यह कह सकते हैं कि वह इन चीजो से एकसी ही तुष्टि प्राप्त करने की आशा करता है। किसी दूसरे समय उस व्यक्ति के पास यदि उतना ही धन हो तो उसको पहले की अपेक्षा कम या अधिक सुख प्राप्त हो सकता है क्योंकि उस को उस समय शायद धन को खच करने के और नये ढग उपलब्ध हो जायें। इस प्रकार हम मनुष्य की इच्छाओ व भावनाओ को कठिनाई से ही नाप सकते हैं। दूसरी बात यह है कि हम उनको सीधे ढग मे नही नाप सकते वरन् परोक्ष ढग से ही नाप सकते है अर्थात हम उनका नाप धन से करते हैं जो कि कोई व्यक्ति किसी चीज को प्राप्त करने के लिय खर्च करने को तैयार होता है अथवा उस त्याग या बलिदान स नाप सकते हैं जो कि वह व्यक्ति उस चीज को प्राप्त करने के लिये करने को तैयार होता है। वास्तव में अर्थशास्त्री कभी इस बात की परवाह नही करता कि मनुष्य ने किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिय जो धन दिया है वह किन किन भावनाओ अथवा विकल्पो का परिणाम है वरन् वह केवल इस बात पर ही ध्यान देता है कि किसी

चीज को प्राप्त करने के लिये कितना धन अथवा बलिदान किया गया है। मार्शल ने यह भी बताया है कि किसी वस्तु पर खर्च किये गये धन से हम किसी मनुष्य के बलिदान का अनुमान नहीं लगा सकते क्योंकि उनमें से एक अमीर तथा दूसरा गरीब हो सकता है तो एक ही धन की मात्रा के खर्च करने पर गरीब का बलिदान अमीर से कहीं अधिक होगा। इस कारण गरीब आदमी को कोई धन खर्च करके जितना आनन्द प्राप्त होता है एक अमीर आदमी को उतना ही धन खर्च करने में कहीं कम आनन्द होगा। मार्शल का मत है कि जब हम बहुत से व्यक्तियों पर एक साथ विचार करते हैं तब इस प्रकार की कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती क्योंकि अर्थशास्त्र का जिन घटनाओं से सम्बन्ध होता है वे समाज के भिन्न भिन्न वर्गों पर प्राय एकसा ही प्रभाव डालती हैं, इसी कारण यदि किन्हीं दो घटनाओं से प्राप्त लाभ बराबर हो तो वे एक ही स्तर पर मानी जायेंगी। इसी प्रकार साधारणत यह माना जाता है कि दो व्यक्तियों के भौतिक साधनों में एक सी वृद्धि करने से दोनों को एकसा जीवन चलाने का अवसर प्राप्त होगा।

इस प्रकार यद्यपि द्रव्य पूर्ण रूप से इच्छाओं तथा भावनाओं का मापदण्ड नहीं है तो भी इस कार्य के लिये, अन्य किसी उपयुक्त मापदण्ड के अभाव में इसका उपयोग लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इसी कारण सारा आर्थिक विज्ञान 'द्रव्य' अथवा 'साधारण क्रय शक्ति' के चारों ओर केन्द्रित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्य अथवा भौतिक सम्पत्ति को ही मानव क्रिया का उद्देश्य समझा जाता है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि हमारे संसार में बड़े पैमाने पर मानव हेतु का मापन का यही एक सुविधा-जनक साधन है। मार्शल का मत है कि यदि पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्री इस बात का स्पष्टीकरण कर देते तो अर्थशास्त्र के ऊपर रस्किन और कार्लाइल आदि की तीखी आलोचनायें न होतीं।

मार्शल ने यह भी बताया है कि जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य धन प्राप्त करने के लिये कार्य करता है तो इससे हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि मनुष्य का मस्तिष्क सिवाय लाभचिन्तन के अन्य चीजों के लिये बन्द हो गया। इसका कारण यह है कि व्यापारिक सव्यवहारों में भी हमें सत्य तथा विश्वास का सहारा लेकर चलना पड़ता है। बहुत से आदमी काम इस लिये करते हैं कि उनको काम करने में आनन्द प्राप्त होता है। बहुत से व्यक्ति अपने व्यापार को बढ़ाने में इस लिये परिश्रम करते हैं कि उनको अपने प्रतिद्वन्द्वियों से आगे निकलने की अभिलाषा होती है। इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति किसी उद्योग को चलाता है तो वह इस बात पर विचार करता है कि उसमें क्या-क्या भौतिक अथवा अभौतिक लाभ हैं। यदि कोई व्यक्ति यह देखता है कि एक उद्योग में उसको दूसरे की अपेक्षा अधिक बेईमानी करनी पड़ेगी तो वह उस उद्योग को चलायेगा जिसमें कम बेईमानी करनी पड़े। इसी प्रकार एक व्यक्ति कार्य करते समय साधारणतया इस बात का ध्यान रखता है कि उसके प्रयत्न से उसको जो धन प्राप्त होगा उसमें वह अपने परिवार के जीवन को सुधारेगा।

सब उद्देश्य वास्तव में शुद्ध विचारधारा के द्योतक हैं। अर्थशास्त्री इन विचारों का अध्ययन इस कारण नहीं करते क्योंकि इनका प्रभाव स्थायी नहीं होता। इसके विपरीत वे कार्य जो धन प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं अपेक्षतया स्थायी होते हैं। इसी कारण अर्थशास्त्री दूसरे प्रकार के विचारों तथा उद्देश्यों का अध्ययन करता है, पहले प्रकार के विचारों तथा उद्देश्यों का नहीं।

इस प्रकार मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र में हम एक सामाजिक व्यक्ति के कार्यों का अध्ययन करते हैं। इस कारण इसमें व्यक्ति-व्यक्ति के स्वभाव तथा इसके चरित्र पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इसके विपरीत इस शास्त्र में यह बात जानने का प्रयत्न किया जाता है कि किसी स्थान, जिले, देश अथवा संसार के लोग किसी समय किसी विशेष चीज को प्राप्त करने के लिये कितना धन देने अथवा बलिदान करने के लिये तैयार हैं। आंकड़ों की सहायता से अर्थशास्त्री इस बात का अनुमान लगा लेते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति के अन्तर्गत किसी विशेष समाज के लोग किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये कितना धन खर्च करने अथवा बलिदान करने के लिये तैयार हैं। यह हो सकता है कि इस प्रकार का अनुमान शत प्रतिशत ठीक न निकले और यदि यह शत प्रतिशत ठीक होता तो अर्थशास्त्र भौतिक विज्ञानों से भी आगे बढ़ जाता। परन्तु इस प्रकार का अनुमान अथवा पैमाना लाभप्रद अवश्य है। इसकी सहायता से तजुर्बेकार आदमी इस बात की भविष्यवाणी कर सकता है कि उद्देश्यों के परिवर्तन के क्या परिणाम होंगे। इसलिये अर्थशास्त्र का अध्ययन बड़ा लाभ प्रद होता है। अन्त में यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि मार्शल एक वास्तविक व्यक्ति के अध्ययन पर जोर देता है जिसके अन्दर स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य गुण भी होते हैं। मार्शल के अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय धन को न बता कर मनुष्य को बताया है। इस प्रकार उसने अर्थशास्त्र को रस्किन आदि लोगों के आक्षेपों से बचाने का प्रयत्न किया है। मार्शल पहला अर्थशास्त्री था जिसने अर्थशास्त्र के अध्ययन में मानव-जीवन को प्राथमिकता दी। उसके पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को जड़ विज्ञान से अधिक कुछ नहीं माना था—उनके लिये अर्थशास्त्र धन का विज्ञान था यह मार्शल था जिसने कहा कि अर्थशास्त्र के अध्ययन न केवल धन पर विचार किया जाता है बल्कि मानवजीवन के एक पहलू पर भी विचार किया जाता है—और यह विचार करने से अधिक महत्व पूर्ण है।

मानव जीवन को प्राथमिकता देने के बाद मार्शल धन की सार्वभौमिकता को छीनकर उसे एक साधन मात्र का स्थान देता है। धन उसी समय तक धन है जब तक उसके द्वारा मानव कल्याण सम्पादित होता है। वह स्वयं जड़ तथा बेकार है। यह बात बड़े ही महत्व की है। धन तथा उसके उत्पादन की सारी क्रियाओं का लक्ष्य मानव कल्याण होना चाहिये, तभी वे क्रियायें अर्थशास्त्र के किसी काम की होंगी, अन्यथा अर्थशास्त्र उनके अध्ययन पर अपना समय नष्ट न करेगा। मार्शल ने धन सम्बन्धी वैयक्तिक तथा सामाजिक उन क्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जो मानव कल्याण में

सहायक हो सकती है । इस प्रकार मार्शल ने मानव कल्याण का एक भौतिक आधार भी बताया और इस बात पर परोक्ष रूप से जोर दिया कि जिस किसी आर्थिक क्रिया में मानव कल्याण की भावना निहित न हो वह बेकार होगी। यत्न करना ही पर्याप्त है, यह आवश्यक नही की सारी आर्थिक क्रियाये कल्याण मे वृद्धि करेंगी ही ।

इस प्रकार मार्शल न उस कल्याणकारी अर्थशास्त्र का बीजारोपण किया जिसको उसके सबसे योग्य उत्तराधिकारी पीगू ने चरम सीमा तक पहुचाने की कोशिश की ।

मार्शल के समान और भी बहुत से अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र की परिभाषा कुछ इसी आधार पर की । उदाहरण के लिये प्रो० पीगू (Pigou) का कहना है कि अर्थशास्त्र मे अध्ययन करने मे हमारा उद्देश्य उन व्यवहारिक उपायो को अधिक सुविधाजनक बनाना होता है जो कि (मानव) कल्याण की वृद्धि करते है । परन्तु कल्याण एक ऐसी वस्तु है जिसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है । इस लिये उन सब कारणो की साधारण छानबीन करना जो कि कल्याण के ऊपर प्रभाव डालते है लगभग असम्भव सा है । इसी कारण हमको अपनी विषय-सामग्री को सीमित करना होगा । ऐसा करने मे हम स्वभावत अपने कार्य-क्षेत्र के उस भाग की ओर आकर्षित होते है जिसमे कि वैज्ञानिक रीतियो का सर्वोत्तम उपयोग सम्भव है । ऐसा हम तब कर सकते हैं जब कि कोई ऐसी वस्तु हमारे पास हो जिससे कि नापने का काम लिया जा सके तथा जिसके द्वारा विश्लेषण यन्त्र को नियन्त्रित किया जा सके । सामाजिक जीवन म इस प्रकार मापने की तुला प्रत्यक्ष रूप मे द्रव्य है । इसी कारण हमारी छानबीन का क्षेत्र सामाजिक कल्याण के उस भाग तक सीमित हो जाता है जिसको कि हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदण्ड के अन्तर्गत ला सकते है। कल्याण के इस भाग को हम आर्थिक कल्याण कह सकते है । परन्तु इस प्रकार के कल्याण को हम कल्याण के दूसरे भागो से पृथक नही कर सकते । इसी कारण अर्थशास्त्र के क्षेत्र को किसी चार दीवारी द्वारा हम अन्य सामाजिक क्षेत्रो से अलग नही कर सकते । फिर भी द्रव्य मापदण्ड द्वारा इनके बीच हम एक साधारण भेद निर्माण करते हैं। उपर्युक्त अर्थ ही मे आर्थिक कल्याण स्थूल रूप से आर्थिक विज्ञान की विषय-सामग्री है। यद्यपि इसमे कुछ कमिया हैं तो भी पाश्चात्य देशो के उन लोगो मे जिनकी सभ्यता प्राय स्थिर हो गई है, आर्थिक क्षेत्र के बाहर जो चीजें हैं वे या तो स्थिर रहती है या एक निश्चित सीमा के अन्दर ही घटती बढती है। इसी कारण वे नतीजे जो कि आर्थिक विश्लेषण द्वारा निकाले जाते हैं व्यवहारिक दृष्टिकोण से प्राय निकट होते है । मिल का भी यही मत है ।

उपर्युक्त विवरण से यह बात जाहिर है कि प्रो० पीगू तथा मार्शल की अर्थशास्त्र की व्याख्या प्राय एकसी है । दोनो मे ही परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य भौतिक सुख अथवा कल्याण मे वृद्धि करना बताया गया है ।

प्रो० राबिन्स ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र की प्रकृति और महत्व' (Nature and Significance of Economic Science) में कुछ विद्वानो की परिभाषाय दी हैं। उनका समझना भी हमारे लिये आवश्यक है। मार्शल की परिभाषा के पश्चात उन्होंने देवनपोर्ट (Davenport) की परिभाषा दी है जिसमे कहा गया है कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो कि घटनाओं का अध्ययन मूल्य की दृष्टि से करता है। इसके पश्चात उन्होंने प्रो० कैनन (Canan) की परिभाषा दी है जिसमे कहा गया है कि राजनैतिक अर्थशास्त्र उन कारणो की विवेचना करता है जिन पर मनुष्य का भौतिक सुख निर्भर होता है। इसके पश्चात उन्होने प्रो० बेवरिज की परिभाषा दी है जिस मे कहा गया है कि अर्थशास्त्र मानव के भौतिक सुख का विज्ञान कहना एक विस्तृत परिभाषा होगी। अर्थशास्त्र उन सामान्य रीतियो का अध्ययन करता है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके पश्चात् उन्होने प्रो० पीगू की परिभाषा दी है जिसके विषय मे हम पहले ही लिख चुके हैं।

इनके अतिरिक्त भी और बहुत से विद्वानो ने अर्थशास्त्र की परिभाषा अपने-अपने ढग से की है जैसे प्रो० जीड (Gide) ने कहा है कि राजनैतिक अर्थ-शास्त्र धन तथा धन सम्बन्धी सामाजिक क्रियाओ और सामाजिक कल्याण का विवेचन करता है। प्रो० एली (Ely) ने कहा है कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो कि उन सामाजिक घटनाओं का विवेचन करता है जो कि मनुष्य के धन प्राप्त करन तथा धन का उपभोग करने से सम्बन्ध रखती हैं। प्रो० फिशर न कहा है कि अर्थ-शास्त्र मानव जीवन तथा कल्याण का धन से सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रो० हिक्स ने कहा है कि अर्थशास्त्र द्वारा मानव आचरण के जिस विशिष्ट पहलू का वर्णन किया जाता है वह मनुष्यो के व्यापार सम्बन्धी आचरण होते हैं। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो व्यापार सम्बन्धी कार्यो का वर्णन करता है। यहा व्यापार शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे किया गया है तथा इसमे व्यक्तिगत तथा सामाजिक सभी प्रकार के मव्यवहारो का वर्णन किया जाता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ से यह बात विदित हो जाती है कि भिन्न-भिन्न विद्वानो ने अर्थशास्त्र को मानव की धन सम्बन्धी क्रियाओ अथवा कल्याण का अध्य-यन बताया है। इसी कारण इन विद्वानो का मत था कि अर्थशास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए नही बल्कि नैतिक तथा व्यवहारिक दृष्टिकोण को सामन रखकर किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये अपनी पुस्तक के प्रथम सस्करण की भूमिका मे प्रो० मार्शल लिखते हैं कि नैतिक शक्तिया वह आवश्यक शक्तिया है जिन पर अर्थशास्त्री को ध्यान देना चाहिए।* मार्शल ने यह भी कहा है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन से व्यावहारिक उपयोग अर्थशास्त्री के मस्तिष्क से कभी भी बाहर नही होने चाहिए। अर्थशास्त्र के अध्ययन का पहला उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति तथा दूसरा व्यावहारिक

* Marshal—Principles p viii

समस्याओं पर प्रकाश डालना है।* प्रो० पीगू ने भी कहा है कि जब हम मनुष्य के साधारण उद्देश्य से उत्प्रेरित कार्यों को देखना चाहते हैं—जो कार्य कभी-कभी पतित तथा दुःखदायी और निकम्मे होते हैं—तो हमारा दृष्टिकोण एक दार्शनिक का दृष्टिकोण नहीं होता अर्थात् ज्ञान प्राप्ति स्वयं कोई निरपेक्ष उद्देश्य नहीं वरन् हमारा दृष्टिकोण एक चिकित्सक का होता है, जिसका ज्ञान रोगों के निवारण करने के उद्देश्य से अर्जित किया जाता है।** इस प्रकार प्रो० मार्शल तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान न मान कर आदर्श विज्ञान तथा कला माना था।

परन्तु प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध के बीच लोगों में बहुत बड़े पैमाने पर यह विश्वास फैल गया कि आर्थिक सिद्धान्त महायुद्ध द्वारा उत्पन्न की गई नई समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ है। प्रथम महायुद्ध में मनुष्य के आर्थिक जीवन पर सरकारी हस्तक्षेप बढ़ गया। उसके कारण नई समस्यायें उत्पन्न हो गई तथा उसके साथ-साथ अर्थशास्त्र का अत्यधिक शास्त्रीय प्रभाव भी ढीला पड़ने लगा क्योंकि आर्थिक सिद्धांत में अधिकतर हस्तक्षेप न करने के सिद्धांतों पर ही जोर दिया गया था। लोगों का ध्यान इस बात पर जाने लगा कि किस प्रकार उचित आर्थिक तरीकों को अपना कर सामाजिक कल्याण को बढ़ाया जा सकता है।

युद्ध के पश्चात् कुछ नई समस्यायें उत्पन्न हुई जिनको नये ढंग से सुलझाना आवश्यक था। इस प्रकार की समस्याओं में मुख्यतः दो सस्यायें थी। पहली, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी तथा दूसरी मौद्रिक नीति सम्बन्धी। युद्ध के कारण व्यापार के साधारण मार्गों में गड़बड़ी पैदा हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय ऋणियों तथा ऋणदाताओं के सम्बन्धों में परिवर्तन आ गया। संसार के प्रायः सभी देशों ने अन्तर्राष्ट्रीयता को छोड़ कर राष्ट्रीयता को अपनाया। अपने-अपने राष्ट्र का हित बढ़ाने के लिये भिन्न-भिन्न राज्यों ने व्यापार पर तथा बहुमूल्य धातुओं के आयात-निर्यात पर पाबन्दी लगा दी। इस प्रकार की समस्याओं के हल के विषय में अर्थशास्त्र की पुस्तकों में कुछ न लिखा था। इसी कारण सिद्धांत तथा व्यवहार में बहुत अन्तर हो गया। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्रियों के दो समूह हो गये। पहला समूह वह था जो कि मनुष्य की चुनाव तथा उत्पादन सम्बन्धी मुख्य सिद्धांतों का शोधन कर रहा था तथा दूसरा वह था जो व्यावहारिक जगत की मौद्रिक स्थिरता, व्यापार-चक्र अथवा राज्य की एकाधिकारों की ओर नीति आदि समस्याओं को हल करने में लगा हुआ था। बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक में इसी प्रकार का साहित्य पाया जाता है। इसमें मौद्रिक सुधार सम्बन्धी साहित्य का बाहुल्य था। इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के प्रारम्भ के छः वर्षों में योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था पर तथा अर्थशास्त्र की नीति पर वाद विवाद खड़ा हुआ। इस समय तक अर्थशास्त्र की

* Ibid p 114
** Pigou—The Economics of Welfare, p. 5

में काफी उन्नति होने लगी थी तथा अर्थशास्त्री अपने सिद्धान्तों को अंकों पर आधारित करने लगे थे। इस क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अग्रसर हुआ और वह अभी तक भी इस क्षेत्र में अगुवा है। इस सबका प्रभाव केन्ज की पुस्तक 'साधारण सिद्धांत' (General Theory) में पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। परन्तु केन्ज से पहले, तीसरे दशक के प्रथम कुछ वर्षों में जो कार्य किया गया उसने ही केन्ज के साधारण सिद्धांत' के मार्ग को सुगम बनाया। उसमें पूर्व विभिन्न विचारधाराओं का समन्वयन शुरू हो गया था। लोगों का अधिकाधिक यह मत होने लगा था कि आर्थिक जगत में परिवर्तन के कारण उपभोग, स्टाक तथा विनियोग में विपतमाय है। इनके साथ-साथ परिवर्तन के कारणों में मौद्रिक कारणों के महत्व पर भी काफी जोर दिया जाने लगा।

इसके अतिरिक्त तीसरे दशक में अर्थशास्त्रियों की प्रणालियों पर जो वाद-विवाद खड़ा हुआ उसको प्रोत्साहन देने के वाली बात मन्दी तथा बेरोजगारी थी। इस वाद-विवाद का एक पहलू योजना का अर्थशास्त्र था जिसके अन्तर्गत इस बात पर विचार किया गया कि बिना मूल्य-यन्त्र के काम में लाये किस प्रकार साधनों का उचित वितरण किया जा सकता है अथवा यह बात भी सोची गई कि यदि उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक अधिकार हो तो मूल्य-यन्त्र की आवश्यकता किस सीमा तक तथा किस रूप में पड़ेगी। परन्तु इस प्रकार का वाद विवाद बेकार था क्योंकि सरकार को युद्ध के समय में इस बात का तजुर्बा हो गया था कि सरकारी हस्तक्षेप किस सीमा तक वांछनीय है। केन्ज तथा उसकी विचारधारा वालों ने भी सरकारी हस्तक्षेप वाली सीमा पर प्रकाश डाला था। इन सब बातों का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि लोग इस बात पर विचार करने लगे कि हस्तक्षेप की वह नीति, जो कि बहुत से राज्यों ने १९२०–३० के बीच अपनाई थी, कहा तक लाभप्रद था। बहुत से अर्थशास्त्रियों ने यह कहना शुरू किया कि अर्थशास्त्र को मानवी व्यवहार के अन्तिम ध्येय के विषय में कोई निर्णय नहीं देना चाहिये। यह विचारधारा नई कान्टियन (Neo-Kantian) विचारधारा पर आधारित थी। इस विचारधारा को रिकर्ट (Rickert) तथा मैक्स वेबर (Max Weber) ने उन्नत किया। इंगलैण्ड में इस विचारधारा के प्रवर्तक राबिन्स थे। राबिन्स का मत था कि अर्थशास्त्री को मनुष्य के व्यवहार के अन्तिम ध्येय की ओर से उदासीन रहना चाहिये। राबिन्स ने पुरानी भौतिकवादी विचारधारा की बड़ी कड़ी आलोचना की।

राबिन्स का कहना है कि मार्शल, कैनन, पिगू, क्लार्क आदि की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त दिखाई पड़ती है परन्तु किसी परिभाषा के औचित्य का अन्तिम निर्णय इस बात से नहीं किया जा सकता कि वह बोल-चाल की भाषा के किस सीमा तक अनुरूप है वरन् इस बात से कि वह किस सीमा तक विज्ञान की विषय-सामग्री का ठीक ढंग से बयान कर सकती है। राबिन्स का मत है कि जब हम भौतिक-वादी परिभाषा को इस कसौटी पर कसते हैं तो हमको पता चलता है कि न तो यह

आर्थिक विज्ञान के मुख्य नियमो के क्षेत्र का ही वर्णन कर सकती है और न उसकी वास्तविक महत्व का ही। अपने इस तर्क के समर्थन मे राबिन्स ने कई उदाहरण पेश किये हैं। सबसे पहले वे मजदूरी को लेते हैं और कहते हैं कि मजदूरी के सिद्धान्त को भौतिक-सुख की परिभाषा द्वारा ठीक ढग से नही समझाया जा सकता। मजदूरी वह धन होता है जो कि मजदूर को मालिक की देख-रेख मे कार्य करने से एक निश्चित दर के अनुसार प्राप्त होता है। कुछ मजदूरी ऐसे काम के लिये दी जाती है जिससे कि भौतिक कल्याण की वृद्धि होती है। उदाहरण के लिये कूडा साफ करने वाले भगी को दी जाने वाली मजदूरी ऐसी है। परन्तु आरकेसट्रा के सदस्यो को दी जाने वाली मजदूरी उस काम के लिये दी जाती है जिसका भौतिक कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नही है। परन्तु भगी तथा आरकेसट्रा के सदस्यो की सेवायें अपना-अपना मूल्य रखती हैं तथा दोनो विनिमय के क्षेत्र में आती हैं। मूल्य सिद्धा त आरकेसट्रा के सदस्य की मजदूरी का वर्णन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि भगी की मजदूरी का। इस प्रकार यह सिद्धा त केवल उस मजदूरी की व्याख्या करने तक ही सीमित नही है जिससे कि भौतिक कल्याण की वृद्धि होती है।

2 इसके पश्चात प्रो० राबिन्स कहते हैं कि भौतिक कल्याण वाली परिभाषा उस समय भी कसौटी पर नही उतरती जब हम इस बात का विचार करते हैं कि मजदूरी किस ढग से शुरू की जाती है। इसका कारण यह है कि मजदूरी पाने वाला उससे रोटी खरीद सकता है और थियेटर का टिकट भी। प्रो० राबिन्स का मत है कि मजदूरी का वह सिद्धा त जो कि गैर भौतिक सेवाओ के लिये लागू होता है यदि इस बात से भी उदासीन है कि मजदूरी के खर्च करने से भौतिक सुख की वृद्धि होती है या नही तो उसको सहन नही किया जा सकता। इससे सारा विनिमय का क्षेत्र बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। यदि हम कृत्रिम ढग से अपने क्षेत्र को सीमित करेगे तो हमारे लिये महत्वपूर्ण साधारण उप धारणाओ को सोचना असम्भव हो जायगा। व्यवहार म कदाचित ही किसी गम्भीर अर्थशास्त्री ने इस प्रकार से मजदूरी के सिद्धात को सीमित किया हो।

प्रो० राबिन्स के इस तर्क के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि वे अर्थशास्त्री जो अर्थशास्त्र की परिभाषा भौतिक सुख की दृष्टि से करते हैं कभी यह दावा नही करते कि उनकी परिभाषा शत प्रतिशत परिस्थितियो मे लागू होगी। दुर्भाग्य से राबिन्स ने उस चीज को महत्वपूर्ण मानकर भौतिकवादी परिभाषा की आलोचना की है जो कि वास्तविक जीवन मे अधिक महत्वपूर्ण नही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि प्रो० राबिन्स का यह विचार, कि थियेटर से किसी प्रकार का भौतिक सुख नही बढता, ठीक नही मालूम पडता। मनुष्य थियेटर म सुख प्राप्ति के लिय जाता है। उसम उसको मानसिक सुख प्राप्त होता है। अभी कुछ दिनो पहले पढने म आया था कि तजुर्बा करने से पता चला कि यदि गाय को दुहते समय गाना सुनाया जाय तो वह अधिक दूध देती है तथा धान के खेत पर तजुर्बा किया जा रहा

है कि गाना सुनाने में किस सीमा तक पौधों की वृद्धि होती है। यदि गाने का प्रभाव पशुओं व पौधों के भौतिक सुख पर पड़ता है तो वह मनुष्य के भौतिक सुख पर नहीं पड़ेगा, यह बात समझ में नहीं आती। यदि भौतिक सुख केवल अधिक खाना खाने अथवा अधिक कपड़ा पहनने अथवा बड़े मकान में रहने आदि में ही है तब तो राबिन्स का तर्क ठीक हो सकता है परन्तु यदि वह अभौतिक चीजों अथवा सेवाओं की प्राप्ति में भी है तो राबिन्स का मत ठीक नहीं माना जा सकता। एक बात और भी कहनी उचित होगी और वह यह कि आरकेसट्रा एक भौतिक वस्तु है। इस कारण एक भौतिक वस्तु में भौतिक सुख ही प्राप्त होता है आध्यात्मिक नहीं। अन्त में यह बात भी कही जा सकती है कि थियेटर की अभिलाषा मनुष्य को तब होती है जब कि वह थका हुआ हो अथवा उसका चित्त उदास हो। थियेटर में जाने से मनुष्य को ऐसा सुख होता है कि वह पहले से अधिक कार्य कर सकता है। यदि यह बात ठीक है तो थियेटर से उसी प्रकार शक्ति में वृद्धि हुई जिस प्रकार कि खाना खाने से। इस कारण प्रो० राबिन्स का यह मत कि थियेटर के टिकट खरीदने में भौतिक सुख की वृद्धि नहीं होती ठीक मालूम नहीं पड़ता।

भौतिकवादी परिभाषा का खण्डन करने के लिये प्रो० राबिन्स ने एक दूसरी चीज ली है। वे कहते हैं कि प्रो० केनन के अनुसार युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था का एक विभिन्न स्तर बयान करना चाहिए। युद्ध से किसी प्रकार का भौतिक सुख नहीं बढ़ता। परन्तु राबिन्स का मत है कि, अर्थशास्त्र भले ही अभी तक आधुनिक युद्ध के सफलता पूर्वक सचालन पर कोई प्रकाश न डाल सका हो किन्तु युद्ध के व्यवस्थापक बिना इसकी (अर्थशास्त्र) की सहायता के अपना काम सफलतापूर्वक सचालित कर सकेंगे, इस बात में सन्देह है। इसके पश्चात् प्रो० राबिन्स कहते हैं कि भौतिकवादी परिभाषा उस समय और भी अजीब लगती है जब हम अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों की उत्पादनीयता (Productivity) की गैर-भौतिकवादी परिभाषा को देखते हैं। आदम स्मिथ ने प्रारम्भ में उत्पादक तथा गैर उत्पादक श्रम में भेद किया था। उसने उत्पादक श्रम उस श्रम को बताया था जिससे भौतिक तथा मूर्त वस्तुएं उत्पादित होती हैं। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों, जिनमें से प्रो० केनन भी एक है, ने उत्पादक श्रम की इस परिभाषा को अस्वीकार किया है तथा कहा है कि जब तक नर्तकी की सेवाओं की माग जनता द्वारा होती है उसको भी उत्पादन माना जाना चाहिए। यहां प्रो० राबिन्स एक प्रश्न करते हैं कि नर्तकी की सेवा क्या उत्पन्न करती है? क्या यह भौतिक सुख इसलिए उत्पन्न करती है कि इसके द्वारा शक्ति का नया खजाना खुलता है जिसके द्वारा भौतिक-पदार्थों के उत्पादन की व्यवस्था की जा सकती है? राबिन्स इस का जवाब देते हुए कहते हैं कि यह उत्पादक है क्योंकि इसका मूल्यांकन होता है और यह बहुत से आर्थिक विषयों के लिए विशेष महत्व रखती है। राबिन्स आगे कहते हैं कि आधुनिक सिद्धान्त आदम स्मिथ तथा फिज्योक्रेट्स के सिद्धान्त से इतना दूर हो गया है कि 'उत्पादक' विशेषण उन भौतिक पदार्थों के उत्पादन में काम आने वाले श्रम को

भी नही विभूषित किया जाता जो भौतिक ता है किन्तु मूल्यवान नहा है। प्रो० फिशर ने तो यहा तक दिखाने का प्रयत्न किया है कि भौतिक पदार्थों स प्राप्त आय अन्तिम विश्लेषण म एक भौतिक उपयोग मात्र होती है। मकान तथा नतकी दोनो ही म प्राप्त आय उत्पन्न होते ही समाप्त हो जाती है। यह सब कहने के पश्चात् राबिन्स कहते है कि ऊपर जो कुछ कहा गया है यदि वह सत्य है तो अर्थशास्त्र को भौतिक कल्याण का अध्ययन बताना गलत होगा। नतकी की सेवाय धन है। अर्थशास्त्र मे इन सवाओ का मूल्याकन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि रसोइय की सवा का। इसके पश्चात् राबिन्स कहते हैं कि अथशास्त्र का सम्बन्ध चाहे जिसस भी हो परन्तु उसका भौतिक कल्याण के कारणो स कोई सम्बन्ध नहा है।

राबिन्स का मत है कि अथशास्त्र की भौतिकवादी परिभाषा इसलिए चली आ रही है कि अग्रजी अथशास्त्री अर्थशास्त्र के क्षत्र तथा प्रणाली के सम्बन्ध म काई दिलचस्पी नही लत थ। इसी कारण यदि यह परिभाषा किसी अथशास्त्री द्वारा दी गई हो तो दस म स नौ हालतो मे यह समझना चाहिए कि उसने इस अपने स पूव किसी लखक स बिना किसी आलोचना के ले लिया है।

इसके पश्चात् राबिन्स ने मनन द्वारा किय गय भौतिक तथा अभौतिक क्रियाओ के भेद पर आपत्ति की है। उन्होने कहा है कि यदि यह बात भी मान ली जाय कि आर्थिक क्रिया म भौतिक सुख बढता है तथा अनार्थिक क्रिया स गैर भौतिक सुख, तो भी व्यक्ति तथा समाज के लिए एक आर्थिक समस्या उपस्थित रहगी कि इन दोनो प्रकार की क्रियाओ म स कौनसी चुनी जाय। मनुष्य के सामने उस समय भी यह समस्या रहगी कि अपने चौबीस घण्टो को किस प्रकार आर्थिक तथा अनार्थिक क्रियाओ म विभाजित किया जाय। इस प्रकार उत्पादन के सिद्धान्त की मुख्य समस्याओ म स लगभग आधी प्रा० मनन की भौतिकवादी परिभाषा से बाहर है। यहा प्रो० राबिन्स यह प्रश्न करते है कि क्या यह तर्क भौतिकवादी परिभाषा को छोडने के लिए पर्याप्त नही है।

राबिन्स के उपयुक्त तर्कों के उत्तर म कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रो० राबिन्स इस बात पर आपत्ति करते है कि युद्धकालीन अर्थ व्यवस्था का वणन साधारण अर्थ-व्यवस्था के समान नही किया जा सकता। परन्तु उनकी आपत्ति उचित नही जान पडती क्योंकि युद्धकाल म सारे समाज का आर्थिक ढाचा ही बदल जाता है। साधारण उपभोग्य वस्तुओ के स्थान पर युद्ध का सामान तैयार किया जाता है। नागरिको तथा व्यापारिक वस्तुओ के इधर-उधर जाने पर रुकावट लगा दी जाती है। वस्तुओ के भाव माग और पूर्ति के शक्तियो के स्वतन्त्र काय द्वारा निश्चित नही होने आदि आदि बहुत सी बातें होती है। यही कारण है कि युद्ध की अर्थ व्यवस्था का वर्णन साधारण अर्थ-व्यवस्था स भिन्न होना चाहिए। प्रो० मेनन का शायद यही अभिप्राय होगा परन्तु प्रो० राबिन्स ने इसको अपने ही ढग स तोड मरोड कर बयान किया है।

प्रो० राबिन्स की यह आपत्ति भी उचित मालूम नहीं पड़ती कि मार्शल, मेनन आदि ने उत्पादक-श्रम की गैर भौतिकवादी परिभाषा को स्वीकार किया है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि मार्शल आदि ने आर्थिक वस्तुओं के अन्तर्गत उन समस्त वस्तुओं व सेवाओं को सम्मिलित किया है जो स्वल्प हैं तथा हस्तान्तरित की जा सकती हैं। इस प्रकार उनकी धन की परिभाषा में न केवल भौतिक वस्तुयें आती हैं वरन् अभौतिक भी आ जाती हैं। एक ओर जहां वे अभौतिक चीजों को धन के अन्तर्गत शामिल करते हैं वहां, दूसरी ओर, वे उन भौतिक वस्तुओं को छोड़ देते हैं जो प्रकृत में बहुतायत से पाई जाती हैं। प्राकृतिक उपहार के रूप में हैं अथवा जिनकी मांग समाज नहीं करता। इस प्रकार अर्थशास्त्र को भौतिक-कल्याण का अध्ययन बताने वाले अर्थशास्त्रियों ने अपनी परिभाषा के अन्तर्गत जिन चीजों को सम्मिलित किया है यदि हम उनको पूरी तरह से समझे बिना उनकी आलोचना करेंगे तो यह अनुचित होगा। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रो० राबिन्स भौतिक-कल्याण शब्द को पकड़ कर बैठ गये हैं और बिना उनकी पूरी बात को ध्यान में रखे उनकी आलोचना करने लगे हैं। मार्शल आदि ने नर्तकी की सेवाओं को धन के अन्तर्गत इस लिये सम्मिलित किया है कि वे स्वल्प हैं, उनमें उपयोगिता है तथा उनमें हस्तान्तरित किये जाने का गुण है। इन अर्थशास्त्रियों ने धन के अन्तर्गत केवल उन्हीं चीजों को सम्मिलित किया है जिनमें उपयोगिता, स्वल्पता तथा हस्तान्तरित होने का गुण है और नर्तकी की सेवा में ये तीनों गुण हैं। इसी कारण उन्होंने नर्तकी की सेवा जैसी अभौतिक चीजों को धन बताया है। इसी आधार पर इन अर्थशास्त्रियों ने शिक्षकों, जजों, सिपाहियों आदि की सेवाओं को भी उत्पादक बतलाया है। हमारे विचार में उन्होंने ठीक ही किया है। प्रो० राबिन्स का यह तर्क, कि वे अभौतिक हैं इस कारण उनकी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती, ठीक मालूम नहीं पड़ता। वास्तव में हमें किसी व्यक्ति के विचारों को ठीक प्रकार से समझने के लिये यह देखना पड़ेगा कि उसने महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किस अर्थ में किया है। प्रो० राबिन्स ने जान-बूझ कर इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि वे मार्शल की धन की परिभाषा पर ध्यान देते तो वे अवश्य ही इस नतीजे पर पहुंचते कि नर्तकी की सेवायें धन हैं और चूंकि वे धन हैं इसलिये उनको 'उत्पादक-श्रम' के अन्तर्गत सम्मिलित करना अनुचित न होगा।

भौतिकवादी परिभाषा की आलोचना कर चुकने के पश्चात् प्रो० राबिन्स अपनी परिभाषा देने के लिए अग्रसर होते हैं। सबसे पूर्व वे एक राबिन्सन क्रूसो जैसे व्यक्ति को लेते हैं। ऐसे आदमी के सामने भी यह समस्या रहती है कि वह किस प्रकार अपने समय को वास्तविक आय के उत्पादन करने तथा मनोरंजन आदि में विभाजित करे। राबिन्स का मत है कि समय के इस विभाजन का एक आर्थिक पहलू भी है। यहां वे एक प्रश्न करते हैं कि यह आर्थिक पहलू किस बात में है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि समय विभाजन जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत

किया गया है वे चार है—पहली, अकेला आदमी आय तथा फुर्सत (Leisure) दोनो चाहता है। दूसरी, उसके पास इन दोनो आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए दोनो चीजो मे से एक भी नही है। तीसरी, वह अपने समय को या तो अपनी आय बढाने के लिय काम मे ला सकता है या अधिक फुर्सत प्राप्त करने मे खर्च कर सकता है। चौथे, सिवाय कुछ अपवादो के, वास्तविक आय तथा फुर्सत के विभिन्न तत्वो के लिए उसकी आवश्यकताए भिन्न भिन्न होगी। इसी कारण उसके सामने चुनाव करने का प्रश्न उपस्थित होना है। उसको मितव्ययिता करनी पडती है। उसके समय व साधनो के बटवारे का उसकी आवश्यकताओ की प्रणाली (System) से सम्बन्ध है। इसीलिय इसका एक आर्थिक पहलू भी है।

उपर्युक्त अकेले आदमी के उदाहरण को राबिन्स सब प्रकार के आर्थिक अध्ययन पर लागू करते है। वे कहते है कि अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से मानव अस्तित्व की चार महत्वपूर्ण विशेषतायें है—पहली, मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त है। दूसरी, इन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये मनुष्य के पास समय और साधन दोनों ही कम है। तीसरी, समय और साधन दोनो ही के वैकल्पिक उपयोग हो सकते है। चौथे, आवश्यकताओ की तीव्रता भिन्न-भिन्न होती है और महत्व की होती है। मनुष्य इच्छाओ तथा भावनाओ का एक पु ज है तथा इनसे प्रेरित होकर मनुष्य को विभिन्न ढगो से कार्य करना पडता है। बाहरी ससार मे हमको इतने अवसर प्राप्त नही होते कि हम अपनी आवश्यकताओ की पूर्णतया सन्तुष्टि कर सके। हमारा जीवन अल्प है। प्रकृति कजूस है। भिन्न भिन्न व्यक्तियो के उद्देश्य भिन्न होते है। फिर भी हम अपने जीवन को विभिन्न कार्यो के करने मे लगा सकते हैं।

इसके पश्चात् राबिन्स बताते है कि अर्थशास्त्री को केवल आवश्यकता-बाहुल्य मे कोइ दिलचस्पी नही। वे कहते हैं कि यदि मैं दो कार्य करना चाहता हूँ तथा यदि मेरे पास उनको करने के लिये पर्याप्त समय तथा साधन है तथा समय तथा साधनो की किसी और काम के लिये मुझे आवश्यकता नही है तो मेरा व्यवहार ऐसा नही होगा जो कि आर्थिक विज्ञान की विषय सामग्री बन सके। प्रो० राबिन्स इसके पश्चात् बताते हैं कि केवल साधनो के स्वल्प होने से भी आर्थिक समस्याए उत्पन्न नही होती। यदि आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करने वाले साधनो का कोई दूसरा उपयोग न हो तो उनके स्वल्प होने पर भी कोई उनके उपयोग मे मितव्ययता न करेगा। इसके पश्चात् राबिन्स बताते हैं कि साधनो के विभिन्न उपयोग होने पर भी उस प्रकार की घटना के अस्तित्व की शर्त पूर्णरूपेण पूरी नही होती जिनका विश्लेषण हम कर रहे है। यदि हमारी सब आवश्यकताय समान महत्व रखती होती, तो समस्या का हल ही नही होता। आर्थिक समस्या तभी उत्पन्न होती है जबकि आवश्यकतायें महत्व के अनुसार क्रम से रखी जा सकें। उपर्युक्त सब शर्तें पूरी होने पर ही मनुष्य का व्यवहार चुनाव करने का रूप धारण करेगा। इस प्रकार आर्थिक समस्या तभी उत्पन्न होती है जबकि समय तथा साधन सीमित हो तथा एक आवश्यकता को पूरी

करने के कारण दूसरी को छोडना पडे। इसके पश्चात् राबिन्स बताते है कि मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले सब साधन स्वल्प नही है। उदाहरण के लिए हवा एक ऐसी वस्तु है। परन्तु ऐसी बहुत कम चीज है। अधिकतर साधन सीमित मात्रा मे ही होते हैं। इस कारण मनुष्य के सामने निरन्तर यह समस्या बनी रहती है कि वह अपने सीमित साधनो का अपनी अनन्त आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये किस प्रकार उपयोग करे। राबिन्स का दावा है कि उसके द्वारा दिये गये उदाहरण उसके विचारो के पूर्णत अनुकूल है। रसोइय तथा नर्तकी दोनो की सेवायें म ग के अनुपात मे स्वल्प है तथा उनके विभिन्न उपयोग हो सकते है। इस प्रकार मजदूरी का सारा सिद्धान्त नयी परिभाषा के अन्तर्गत आ जाता है। युद्ध की अर्थ-व्यवस्था भी इस परिभाषा के अन्तर्गत आती है। इसका कारण यह है कि युद्ध के लिय हमको स्वल्प साधनो व सेवाओ को अन्य उपयोगो म स हटाना पडता है तथा उन्हे युद्धोपयोगी वस्तुओ के निर्माण मे अधिकाधिक लगाना पडता है। इसी कारण युद्ध का भी एक आर्थिक पहलू है।

इसके पश्चात् प्रा० राबिन्स ने अपनी अर्थशास्त्र की परिभाषा दी है। व कहते है कि "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य क व्यवहार का अध्ययन साध्य तथा वैकल्पिक उपयोग वाले स्वल्प साधनो के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप म करता है।"*

प्रा० राबिन्स ने बताया है कि भौतिकवादी परिभाषा श्रेण्यात्मक (Classificatory) है जबकि उसकी स्वय की परिभाषा विश्लेषणात्मक (Analytical) है। उसकी परिभाषा किन्ही विशिष्ट प्रकार के मानव व्यवहारो को नही चुनती वरन् मनुष्य व्यवहार के एक विशिष्ट पहलू पर दृष्टिपात करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जब तक अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन के विशिष्ट पहलू को पेश करना रहेगा उसके क्षेत्र मे किसी प्रकार का भी मानव व्यवहार आ सकता है। अर्थशास्त्र की इस ढग से परिभाषा करने के कारण उसका क्षत्र सीमित नही रहता।

इसके पश्चात् प्रो० राबिन्स कहते हैं कि कुछ लेखको ने अर्थशास्त्र के भौतिक गुण सम्बन्धी विचार को गलत बताते हुए उस के ऊपर एक दूसरी प्रकार की पाबन्दी लगाने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि अर्थशास्त्र वास्तविक रूप मे मनुष्य के एक विशेष प्रकार के सामाजिक व्यवहार से अपना सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार का व्यवहार व्यक्तिवादी विनिमय वाली आर्थिक-व्यवस्था की सस्थाओ मे अन्तर्निहित होता है। प्रो० राबिन्स का भी यही मत है कि अर्थशास्त्रियो का ध्यान मुख्यत विनिमय आर्थिक व्यवस्था (Exchange Economy) की पेचीदगियो

*"Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses -L. Robbins -An Essay On the Nature and Significance of Economic Science-P. 16.

की ओर ही केन्द्रित होता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि राबिन्स की परिभाषा के अन्तर्गत समाज से पृथक व्यक्ति की क्रियायें उसी प्रकार आती है जिस प्रकार की विनिमय अर्थव्यवस्था की, परन्तु फिर भी यह कहना पडेगा कि समाज से पृथक व्यक्ति के लिये आर्थिक विश्लेषण बेकार है। इसी प्रकार रूप जैसे बन्द साम्यवादी समाज की दूसरे देशो के साथ तुलना अर्थ-शास्त्री के लिये भले ही रोचक हो परन्तु इस समाज की कार्यकारिणी के सदस्यो के लिये तो अर्थशास्त्र का साधारण सिद्धान्त बिल्कुल बकार है। उनकी स्थिति क्रूसो जैसे पृथक व्यक्ति के समान है। इसका कारण यह है कि साम्यवादी समाज म जो निर्णय भी कार्यकारिणी द्वारा किये जाते है वे कृत्रिम होते हैं अर्थात् वे उत्पादको तथा उपभोक्ताओ के मूल्यांकन (Valution) के अनुसार नही किये जाते। परन्तु एक विनिमय वाली अर्थव्यवस्था में यह बात नही है। यहा तो एक व्यक्ति का निर्णय केवल उसी के ऊपर प्रभाव नही डालता वरन् यह समस्त पेचीदास्वल्पता सम्बन्धी मजदूरी, लाभ, कीमत, पूजीकरण की दर उत्पादन की व्यवस्था आदि चीजो पर अपना प्रभाव डालता है। इसी लिये उसके निर्णय के प्रभाव को जानना बडा कठिन होता है। उन साधारण नियमो के खोज निकालने मे बडे ख्याली घोडे दौडाने पडते है जिनके द्वारा कि हम व्यक्ति के निर्णय के प्रभाव को जान सकते है। इसी कारण आर्थिक विश्लेषण का विनिमय आर्थिक व्यवस्था के लिये इतना महत्व है। यह सब कार्य एक व्यक्ति के समाज के लिये बेकार है। इसी प्रकार यह बन्द साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के लिये भी बेकार है। परन्तु जहा सामाजिक सम्बन्धो म व्यक्ति की स्वतन्त्र अन्तर प्रेरणाओ को स्थान दिया जाता है वहा पर आर्थिक विश्लेषण का अपना महत्व बहुत बढ जाता है।

इसके पश्चात् प्रो० राबिन्स कहते है कि यह कहना एक बात है कि आर्थिक विश्लेषण की दिलचस्पी तथा उपयोगिता विनिमय आर्थिक-व्यवस्था के लिये है तथा यह दूसरी बात है कि हमारी विषय-सामग्री इस प्रकार की घटनाओ तक ही सीमित है। यह पिछली बात दो कारणो से अनुचित है। पहला, यह कि विनिमय आर्थिक व्यवस्था के बाहर मनुष्य का बर्ताव साध्य तथा स्वल्प साधनो के सम्बन्ध से उसी प्रकार प्रभावित होता है जैसे कि वह विनिमय आर्थिक-व्यवस्था के अन्दर होता है। विनिमय के सिद्धान्त सम्बन्धी साधारण नियम (generalisations) उसी प्रकार एक अकेले आदमी तथा साम्यवादी कार्यकारणी पर लागू होते है जिस प्रकार कि वे विनिमय आर्थिक-व्यवस्था के अन्दर वाले आदमी पर लागू होते है। प्रो० राबिन्स विनिमय सम्बन्ध को एक टेक्नीकल घटना बताते है जो कि यद्यपि सब प्रकार की पेचीदगिया पैदा करती है फिर भी वह स्वल्पता सम्बन्धी मुख्य घटना के आधीन है। दूसरी यह कि विनिमय आर्थिक-व्यवस्था की घटनाओ को भी हम उन सम्बन्धो तथा मनुष्य के चुनाव (Choice) सम्बन्धी उन नियमो की सहायता से समझा सकते हैं

जो कि उस समय साफ तौर पर दिखाई पड़ते है जबकि हम समाज में पृथक् किसी आदमी के विषय मे विचार कर रहे हैं।

इसके पश्चात् प्रो० राबिन्स अपनी परिभाषा की तुलना भौतिक सुख वाली परिभाषा से करते हैं। उनके अनुसार यदि हम सरसरी निगाह से देखे तो हमको दोनो परिभाषाओ मे कोई अन्तर न दिखाई पडेगा। इसका कारण यह है कि साधनो की स्वल्पता तथा भौतिक सुख के कारण दोनो लगभग एक से ही विचार हैं। परन्तु वास्तव मे बात ऐसी नही है। यह बात सत्य है कि हम स्वल्पता के विषय मे विचार करते हैं तथा इसी कारण दूसरे लोगो की सेवाओ की स्वल्पता को अपने विचाराधीन करते हैं परन्तु दूसरे लोगो की सेवाओ को एक भौतिक स्पन्दन आदि कहा कर तो हम अपनी परिभाषा का सारे आर्थिक क्षेत्र पर फैला सकते है। पर ऐसा कार्य विकृत तथा भ्रामक होगा। इस रूप मे हमारी परिभाषा सारे क्षेत्र पर तो फैल जायगी परन्तु उसकी पूरी व्याख्या न कर सकेगी क्योंकि भौतिक साधनो की भौतिकता के कारण कोई वस्तु आर्थिक वस्तु नही बनती बल्कि आर्थिक वस्तु इस लिये होती है कि उसका मूल्यांकन सम्भव होता है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि वस्तुयें इसलिए आर्थिक वस्तुयें नहीं बनती कि वे भौतिक है वरन इस कारण बनती हैं क्योंकि वे आवश्यकता की उपेक्षा सीमित मात्रा मे है। इसी कारण भौतिकवादी परिभाषा यद्यपि अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विषय मे उतनी भ्रामक नही है तो भी वह हमको उसके स्वभाव के विषय मे पूर्ण परिचय देने मे असमर्थ है। इसी कारण उसका परित्याग सर्वथा उचित है।

प्रो० राबिन्स हमको आगाह करते है कि उन्होने अर्थशास्त्र की परिभाषा को ही छोडा है, उन्होने उस ज्ञान को नही छोडा जिसकी प्राप्ति के लिये यह परिभाषा रची गई थी।

प्रो० राबिन्स ने यह भी कहा है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल साधनो का खर्च करने मे है। उसका इस बात मे कोई सरोकार नही कि आवश्यकतायें अच्छी है या बुरी, भौतिक हैं कि अभौतिक। परन्तु यदि एक प्रकार की आवश्यकता पूर्ति के लिये दूसरी प्रकार की आवश्यकता अथवा आवश्यकताओ का बलिदान करना पडे तो आर्थिक समस्या उत्पन्न हो जाती है। आवश्यकताओ की अच्छाई बुराई का कोई प्रभाव इस समस्या पर नहीं पडता।* उदाहरण के लिये यदि एक समाज के आदमी जो अभी तक खाओ-पीओ मौज उडाओ के सिद्धान्त मे विश्वास करते थे, सब वैरागी वृत्ति के हो जायें तो आर्थिक समस्या पहले के समान ही बनी रहेगी।

* It follows from the argument of the preceding sections that the subject matter of economics is ssentially a series of relationsh ps—relation ships between ends conceived as the possible objectives of conduct, on the one hand and the technical and social environment on the other. Ends as such do not form part of th s subject matter Now does the technical and social environment. It is the relationshipts between these things and not the things in themselves whi h are im ortant for the economist. —Ibid P. 38

स्थिति मे कोई परिवर्तन नही हुआ था। परन्तु अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से उसम जमीन आसमान का अन्तर हो गया था। इसका कारण यह है कि आवश्यकता म परिवर्तन हो गया था।

बहुत से आदमी वस्तुओ का बडे पैमाने पर उत्पादन होते देखकर चकाचौंध हो जाते हैं परन्तु अर्थशास्त्री की दृष्टि से बडे पैमाने के उत्पादन का तभी महत्व है जबकि उसका सम्बन्ध माग से हो। बिना माग का ध्यान किय बडे पैमाने का उत्पादन टैक्नीकल दृष्टिकोण से चाहे कितना भी अच्छा क्यो न हो वह 'आर्थिक' नही हो सकता। माग से अधिक उत्पादन करने से सामाजिक बर्बादी होती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे हम कुछ नतीजे निकाल सकते है।

(१) राबिन्स ने अपनी परिभाषा के द्वारा अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विस्तृत कर दिया है। इसका कारण यह है कि जहा राबिन्स से पूर्व के अर्थशास्त्रियो ने अपने अध्ययन को केवल उन्ही लोगो तक सीमित रखा था जो समाज म रहते हैं तथा समाज के जन-साधारण के समान कार्य करते हैं वहा राबिन्स ने अपनी परिभाषा इस ढग स की है कि उसके अन्तर्गत न केवल व्यक्ति आते हैं जो कि समाज म रहते हैं वरन वे व्यक्ति भी आते हैं जो कि समाज से अलग रह कर अपना जीवन बिताते हैं।

(२) राबिन्स की परिभाषा से पता चलता है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम मनुष्य की किसी विशेष क्रिया का अध्ययन नही करते वरन प्रत्येक क्रिया के एक अश का अध्ययन करते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मानव क्रिया के कई पहलू होते हैं तथा प्रत्येक पहलू एक विशेष विज्ञान के अध्ययन का विषय है। राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र मे हम मनुष्य की क्रिया के चुनाव सम्बन्धी पहलू का अध्ययन ही करते हैं, और कुछ नही करते। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आवश्यकताये अनन्त हैं तथा उनकी तुष्टि करने वाले साधन सीमित हैं। यदि मनुष्य किसी वस्तु द्वारा एक आवश्यकता की पूर्ति करता है तो उसके द्वारा किसी दूसरी आवश्यकता की पूर्ति नही होती। इसी कारण मनुष्य को पग-पग पर निर्णय करना पडता है कि वह किस आवश्यकता की पूर्ति करे तथा किसकी न करे। मनुष्य की आवश्यकतायें एक ही डिग्री की नहीं होती इसी कारण वह उन आवश्यकताओ की पूर्ति करता है जो अधिक तीव्र होती हैं तथा उनको छोड देता है जो कम तीव्र होती है। चुनाव की समस्या अकेले आदमी के सामने भी उसी प्रकार आती है जिस प्रकार कि वह समाज मे रहने वाले व्यक्ति के लिये, इसी कारण अर्थशास्त्र का क्षेत्र समाज के सब प्रकार के लोगो तक फैल गया है।

(३) राबिन्स की परिभाषा से यह बात साफ जाहिर है कि उन्होने अर्थशास्त्र को केवल भौतिकवादी क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा है वरन भौतिक क्षेत्र को भी अर्थशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। ऐसा करने से अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

बितायें ? रॉबिन्स के रिकार्डो के द्वारा माल्थस के विषय मे लिखे गये नोट्स मे से साक्षी देते हुए रिकार्डो ने कहा है कि एम० से की यह बात बिल्कुल ठीक है कि राजनैतिक अर्थशास्त्र का कार्य किसी को नसीहत करना नही है— वह तुमको बताता है कि तुम किस प्रकार धनी हो सकते हो परन्तु वह तुमको यह सलाह नही दे सकता कि तुम आराम- तलबी का जीवन बिताने के बदले धन-दौलत को पसन्द करो या धन दौलत पैदा करने के बदले आराम तलबी का जीवन पसद करो। इस बात से प्रो० राबिन्स इस नतीजे पर पहुचते है कि अर्थशास्त्र कोई ऐसे सिद्धान्त नहीं बताता जो कि व्यवहारिक दृष्टिकोण के सर्वदा सगत हो। यह विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की अच्छाई बुराई के विषय मे अपना निर्णय देने मे असमर्थ है। यह नीतिशास्त्र से मूलत भिन्न है।

प्रो० राबिन्स अपने इस परिणाम के पश्चात एक प्रश्न करते हैं कि अर्थशास्त्र का असदिग्ध महत्व फिर किस बात मे है। इस प्रश्न के उत्तर मे वे कहते है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व इस बात मे है कि जब हम दो आवश्यकताओ के चुनाव के दलदल मे फसे हुए होते है तो अर्थशास्त्र हमे अपने चुनाव से होने वाले परिणामो के विषय मे पूरी जानकारी कराके वस्तुचुनाव मे हमारीसहायता करता है। परन्तु अर्थशास्त्र हमे यह बात सीधे नही बतायेगा कि हम किस आवश्यकता की पूर्ति करें। हाँ, अपनी तर्क, बुद्धि के आधार पर हम जरूर जान सकते हैं कि हम किस चीज को चुने। किसी चुनाव के विषय मे हमारा तर्क यह बताता कि हम किसी एक चीज का चुनाव करके दूसरी चीजो को क्या छोड रहे है। बस इसी बात मे अर्थशास्त्र का व्यवहारिक महत्व है। यह हमको इस बात से आगाह कर देता है कि किसी चीज का चुनाव करने का क्या परिणाम होगा। जब हम किसी चीज की इच्छा करते है तो हम अपनी इच्छा पूर्ति से होने वाले परिणामो के विषय मे पूरी जानकारी रखते हुए उसकी पूर्ति करते हैं। अर्थशास्त्र हमारे चुनावो मे समन्वयन पैदा करने मे सहायक होता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई देश किसी चीज पर आयात कर लगाता है तो अर्थशास्त्र यह नही बतायेगा कि ऐसा करना ठीक है या गलत क्योकि हम यह मान कर चलते है कि यह कदम कर द्वारा सम्भाव्य समस्त प्रभावो को ध्यान मे रखकर उठाया गया है। परन्तु कर के सम्भाव्य प्रभावो पर अर्थशास्त्र प्रकाश डालेगा। इसी प्रकार यदि एक देश कीमत-स्तर की स्थिरता तथा विनिमय-दर की स्थिरता प्राप्त करना चाहता है तो अर्थशास्त्र यह बतायेगा कि ऐसा होना सम्भव है या नही। यही नहीं, बिना अर्थशास्त्र के ज्ञान के समाज की विभिन्न पद्धतियो का चुनाव भी तर्क-बुद्धि के साथ नही कर सकते। इस प्रकार अर्थशास्त्र से लोगो को विवेकपूर्ण ढग से कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है।

राबिन्स की परिभाषा के लाभ—

प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दी है उसके द्वारा अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। जो शास्त्र राबिन्स से पूर्व धन अथवा भौतिक सुखो

ही का अध्ययन करने में लगा हुआ था वह अब मनुष्य की सब प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन करने लगा है।

अर्थशास्त्र को भावात्मक विज्ञान (Positive Science) बनाकर प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र को भौतिक विज्ञानों की श्रेणी में लाकर खड़ा करने का प्रयत्न किया है।

प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र का धन का अध्ययन न बनाकर इस पुरानी आलोचनाओं से बचाया है।

उद्देश्यों के प्रति उदासीन रहने का उपदेश देकर प्रो० राबिन्स ने यह प्रयत्न किया है कि अर्थशास्त्री समाज के लांछन व आक्षेपों से बच जाय।

प्रो० राबिन्स की परिभाषा की आलोचना—

प्रो० राबिन्स की परिभाषा में उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी हमको यह कहना पड़ेगा कि वह आलोचना में खरी नहीं है—

(१) राबिन्स ने प्रो० मार्शल, सेनन आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा है कि भौतिक तथा अभौतिक सुख के बीच रेखा खींचना कठिन है तथा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था भौतिक सुख की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती। इस कारण 'भौतिक कल्याण' वाली परिभाषा का छोड़ना उपयुक्त है। इसके स्थान पर वे बताते हैं कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन साध्य तथा स्वल्प और वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों के सन्दर्भ में करता है। परन्तु इस आलोचना में कोई विशेष सार नहीं है। इसका कारण यह है कि भौतिक और अभौतिक सुख के बीच रेखा खींची जा सकती है। परन्तु इसको खींचने वाला वही व्यक्ति हो सकता है जिसने कि धार्मिक तथा दार्शनिक अन्तर्दृष्टि पाई हो। भौतिक सुख वह होता है जिसका लाभ मनुष्य के शरीर को पहुंचता है परन्तु अभौतिक (आध्यात्मिक) सुख का सम्बन्ध आत्मा से होता है। आत्मा का भौतिक सामग्री के संग्रह से कोई सुख प्राप्त नहीं होता वरन् उसको उससे क्लेश होता है। भौतिक सुख क्षणिक होता है परन्तु आध्यात्मिक सुख दीर्घकालीन होता है। अर्थशास्त्र आत्मा के सम्बन्ध में तो अध्ययन करता नहीं है। अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों अर्थात् उत्पादन, विनिमय, वितरण, उपभोग, सार्वजनिक वित्त-व्यवस्था आदि में जिन नियमों तथा बातों का जिक्र किया जाता है वे सब प्रतिशत भौतिक है। प्रो० राबिन्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने भौतिक कल्याण सम्बन्धी परिभाषा का ही त्याग किया उसके द्वारा अभिप्रेत ज्ञान का नहीं। पर यह ज्ञान आवश्यक रूप से भौतिक चीजों से ही सम्बन्ध रखता है क्योंकि 'भौतिक कल्याण' सम्बन्धी परिभाषा भौतिक जगत का ही ज्ञान दे सकती है तो यह समझ में नहीं आता कि प्रो० राबिन्स ने त्याग किस चीज का किया है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि भौतिक सुख के साधन स्वल्प हैं तथा उन सबके बहुत से उपयोग हो सकते हैं। प्रो० राबिन्स ने भी स्वल्प साधनों, जिनके

बहुत से उपयोग हो सकते हैं, का ही अध्ययन करना उचित समझा है। तो फिर दोनो परिभाषाओ मे सिवाय शब्दो के हेर फेर के और क्या अन्तर है ?

इसी सम्बन्ध मे एक और बात भी कही जा सकती है और वह यह कि जो चीज मनुष्य के पास स्वल्प मात्रा मे होती है उसका उपयोग मनुष्य सोच समझकर करता है, चाहे वह धन हो, या समय। मार्शल ने कहा है कि खर्च करते समय वह या तो स्वयं हिसाब लगाकर देखता है या रीति रिवाज के कारण वह बिना सोचे समझे खर्च करता है। वह खर्च करते समय चुनाव करता दिखाई नही पड़ता। परन्तु स्वल्प साधनो के विषय मे वह किसी न किसी रूप मे चुनाव करता अवश्य है। प्रा० राबिन्स ने स्वल्प साधनो का विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिये मनुष्य के चुनाव सम्बन्धी पहलू पर जोर दिया है। इस प्रकार भौतिक कल्याण की परिभाषा मे जो पहलू परोक्ष रूप मे था उसको प्रो० राबिन्स ने प्रत्यक्ष रूप मे रख दिया है।

(२) यह सत्य है कि प्रा० मार्शल, केनन आदि की अर्थशास्त्र की परिभाषा एक समाज मे पृथक व्यक्ति तथा रूस जैसे बन्द समाज पर लागू नही होती क्योकि बन्द समाज मे माग और पूर्ति की शक्तियो को स्वतन्त्र रूप मे कार्य करने का अवसर नही मिलता। प्रो० राबिन्स ने अपनी परिभाषा के द्वारा इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया था। परन्तु इस विषय मे अपने विचारो को व्यक्त करते समय उन्होने कहा कि यद्यपि यह बात ठीक है कि उनकी परिभाषा के अन्तर्गत समाज मे पृथक व्यक्ति की क्रियाओ का अध्ययन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार की विनिमय अर्थ-व्यवस्था मे, फिर भी यह कहना पडेगा कि समाज मे पृथक व्यक्ति के लिये आर्थिक विश्लेषण बेकार है। यही नही प्रो० राबिन्स यह भी कहते हैं कि एक बन्द साम्यवादी समाज की दूसरे देशो के साथ तुलना अर्थशास्त्री के लिये भले ही रोचक हो परन्तु इस समाज की कार्यकारणी सभा के सदस्यो के लिये तो अर्थशास्त्र के नियम बिल्कुल बेकार हैं। ऐसे समाज की स्थिति राबिन्स क्रूसो जैसे पृथक् व्यक्ति के समान है। इसका कारण यह है कि साम्यवादी समाज मे जो निर्णय कार्यकारिणी सभा द्वारा किये जाते हैं वे कृत्रिम होते हैं अर्थात् वे उत्पादकों तथा उपभोक्ताओ के मूल्यांकन के अनुसार नही किये जाते। परन्तु एक विनिमय वाली आर्थिक व्यवस्था मे यह बात नही होती। यहा तो किसी व्यक्ति का निर्णय केवल उसी के ऊपर प्रभाव नही डालता वरन् वह समस्त पेचीदा स्वल्पता सम्बन्धो—मजदूरी, लाभ, कीमत, पूंजीकरण की दर, उत्पादन की व्यवस्था आदि चीजो पर अपना प्रभाव डालता है। इसलिये उसके निर्णय के प्रभाव का जानना बड़ा कठिन होता है। इसी कारण विनिमय अर्थ-व्यवस्था मे साधारण नियमो को खोज निकालने मे बड़े ख्याली घोडे दौड़ाने पडते हैं जिसमे कि हम व्यक्ति के निर्णय के प्रभावो का ज्ञान सकें। इसी कारण आर्थिक विश्लेषण का विनिमय वाली आर्थिक-व्यवस्था मे इतना महत्व है। यह सब काम एक व्यक्ति के समाज के लिये बेकार है। परन्तु जहा सामाजिक सम्बन्धों मे

व्यक्ति की स्वतन्त्र अन्तर्प्रेरणाओं का ध्यान दिया जाता है वहां पर आर्थिक विश्लेषण का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

ऊपर दिए हुए प्रो० राबिन्स के विचारों से यह बात साफ जाहिर है कि वे अपनी परिभाषा की व्यापकता का स्वयं ही विशेष कोई लाभ नहीं समझते। तो फिर जिस चीज से कोई लाभ नहीं उसके आधार पर एक मौलिक विचार रखने का प्रयत्न करना कोई महत्व नहीं रखता।

(३) प्रो० राबिन्स के विचार में अर्थशास्त्र एक भावात्मक विज्ञान (Positive Science) है। उनका मत है कि अर्थशास्त्री को किसी समस्या की अच्छाई बुराई के विषय में अपना मत प्रगट नहीं करना चाहिये। वे कहते हैं कि अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का अध्ययन अलग अलग होना चाहिये। राबिन्स के शब्दों में "अर्थशास्त्र का सम्बन्ध एसे तथ्यों से होता है जिनके सही होने के विषय में हमको ज्ञान होना है, नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यांकन (Valuations) तथा कर्त्तव्य (Obligations) से होता है।

परन्तु हमारे विचार में राबिन्स का यह मत ठीक नहीं है। प्रो० राबिन्स ने इस बात का प्रयत्न किया है कि वे अर्थशास्त्री को एक भौतिक वैज्ञानिक की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दें। परन्तु वे यह बात भूलते हैं कि भौतिकशास्त्री निर्जीव वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है जबकि अर्थशास्त्री के अध्ययन का विषय एक चलता-फिरता प्राणी होता है। इस कारण भौतिक वैज्ञानिक अपनी विषय-सामग्री के दुख-सुख से कोई सम्बन्ध न रखे तो कोई हर्ज की बात नहीं। परन्तु यदि अर्थशास्त्री अपनी विषय-सामग्री के सम्बन्ध में उदासीन रहे तो बड़ी खराबी होगी। महात्मा गांधी के शब्दों में ऐसा अर्थशास्त्र जो नैतिक और भावात्मक चीजों की ओर ध्यान नहीं देता है, ऐसे मोम के बने हुए खिलौने की भांति है जो देखने में जीवित प्रतीत होता है फिर भी हाड़-मांस के शरीर के समान उसमें जान नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्री मनुष्य के उद्देश्यों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता जैसा कि प्रो० राबिन्स उससे कराना चाहते हैं। यदि वह उदासीन रहता है तो यह उसी प्रकार घातक होगा जिस प्रकार डाक्टर के किसी रोगी के रोग का निदान करने के विषय में उदासीन होने में। यदि अर्थशास्त्री समाज की गरीबी के कारणों की खोज करता है तो वही एक ऐसा व्यक्ति होगा जो कि यह बता सकता है कि वह गरीबी कैसे दूर हो सकती है। प्रो० राबिन्स स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि अर्थशास्त्रियों को नैतिक सम्बन्धी विचार व्यक्त ही नहीं करने चाहिएँ बल्कि इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि अर्थशास्त्रियों को पहले से भलीभांति समस्याओं का अध्ययन करना चाहिये और तभी वे उन समस्याओं के उद्देश्य सम्बन्धी पक्ष को समझ सकते हैं, जो कि उनके सम्मुख हल करने के लिये प्रस्तुत की जाती हैं।*

*Ibid P. P. 149—50

इस प्रकार प्रो० राबिन्स के मत के अनुसार अर्थशास्त्री नीति-शास्त्री के समान किसी विषय पर अपना मत दे सकता है। परन्तु कदाचित प्रो० राबिन्स के अनुसार जब वह किसी विषय पर अपना मत देगा तब वह अर्थशास्त्री के रूप में कार्य न करेगा वरन् एक नीति शास्त्री के रूप म ऐसा करेगा। चाहे जिस रूप में भी हो प्रो० राबिन्स न स्वीकार तो किया कि अर्थशास्त्री उद्देश्यों की ओर से उदासीन नहीं रह सकता। प्रो० पीगू ने इस सम्बन्ध म ठीक ही कहा है कि 'हमारी प्रेरणा किसी दर्शनशास्त्री की प्रेरणा नहीं है कि हम अध्ययन केवल ज्ञान प्राप्ति के लिये करें वरन् हमारी प्रेरणा किसी शरीर विज्ञान शास्त्री की प्रेरणा है जो कि अपनी योग्यता द्वारा जख्मों के भरने मे सहायता करता है।* प्रो० पीगू के अतिरिक्त वूटन (Woottou) ने भी कहा है कि अर्थशास्त्रियों के लिये यह बात बहुत कठिन है कि वे अर्थशास्त्र के नैतिक तथा व्यवहारिक पक्ष को अपने विवेचन से बिल्कुल अलग कर दें।

यहा यह बात भी बता देनी उचित है कि प्रो० राबिन्स ने स्वल्प साधनों को अपने अध्ययन में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। परन्तु प्रो० राबिन्स साधनों को उस समय तक कैसे स्वल्प बता सकते है जब तक कि उनके मस्तिष्क म कोई ऐसा पैमाना न हो जिसके आधार पर वे वस्तुओं की मात्रा को कम या अधिक बता सकें तथा एक पैमाने का निश्चित करना नीतिशास्त्र के क्षेत्र म जा पडता है। इस प्रकार जिस चीज से प्रो० राबिन्स दूसरे अर्थशास्त्रियों को अलग रहने की सलाह देते हैं उसी चीज के शिकार वे स्वय है।

प्रो० जे० के० मेहता की परिभाषा—

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० जे० के मेहता प्रो० राबिन्स की परिभाषा के क्षेत्र से तो सहमत हैं परन्तु उनका आवश्यकताओं की तुष्टि के सम्बन्ध मे प्रो० राबिन्स से मतभेद है। प्रो० मेहता का मत है कि मनुष्य के कार्य उसके मस्तिष्क की बचैनी अथवा मानसिक असतुलन के परिणाम होते है तथा इस मानसिक बेचैनी का कारण यह है कि मनुष्य के ऊपर बाह्य शक्तियों का प्रभाव पडता है। मनुष्य निरन्तर यह प्रयत्न करता है कि वह मानसिक बेचैनी को दूर करके सन्तुलन की स्थिति प्राप्त करे क्योंकि जब तक मानसिक सन्तुलन प्राप्त नहीं होता तब तक मनुष्य को कष्ट रहता है। जब वह मानसिक सन्तुलन प्राप्त कर लेता है तो उसको सुख का अनुभव होने लगता है। प्रो० मेहता ने बताया है कि मानसिक सन्तुलन को प्राप्त करने के दो ढग है। पहला यह कि उन बाह्य शक्तियों का जो मस्तिष्क म असन्तुलन उत्पन्न करती है पारस्परिक सामजस्य कर दिया जाय। राबिन्स ने इस प्रकार के सामजस्य का उल्लेख किया है, परन्तु प्रो० मेहता के अनुसार इस प्रकार का सामजस्य अस्थायी रूप से ही स्थापित किया जा सकता है, वह स्थायी नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त होती हैं जिनका

*Pigou—Economics of Welfare P. 5

नियमों द्वारा सचालित होती है, जिनकी खोज करना अर्थशास्त्री का कर्तव्य है। इसके साथ-साथ अर्थशास्त्री का एक कार्य यह बताना भी है कि चूकि अन्तिम उद्देश्य अधिकतम आवश्यकताओं की तुष्टि करने से प्राप्त नही हो सकता इसलिये मनुष्य का इच्छाओं के परित्याग की चेष्टा करनी चाहिए। इससे भी भिन्न उसका कर्तव्य उन ढगो को बताना है जिनसे अन्तिम लक्ष्यो को सफलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके। अपने इन विचारो से प्रेरित होकर प्रो० मेहता ने अर्थशास्त्र की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव व्यवहार का अध्ययन आवश्यकता-विहीनता की स्थिति पर पहुचाने के प्रयत्न के रूप मे करता है।"*

प्रो० मेहता की परिभाषा की आलोचना—

प्रो० मेहता की परिभाषा की आलोचना कई प्रकार से की जाती है। आलोचकों का मत है कि साधारण मनुष्य उस प्रकार की आवश्यकता-विहीन स्थिति मे अपना अधिकतम सुख नही मानता जिसका वर्णन प्रो० मेहता ने किया है। वह तो आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढाने तथा उनको तुष्ट करने मे ही सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रो० मेहता की परिभाषा अव्यावहारिक है। आलोचकों का यह भी कहना है कि प्रो० मेहता की परिभाषा अपने विनाश के बीज स्वय बोती है क्योंकि जब आवश्यकताओं का ही अन्त हो जायगा तो फिर अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या रह जायगी। इसके अतिरिक्त आलोचको का यह भी कहना है कि प्रो० मेहता ने आवश्यकता-विहीनता सुख आदि शब्दो का प्रयोग धार्मिक दृष्टि-कोण मे करके बेकार ही अर्थशास्त्र को धर्म, दर्शन एव नीति के दलदल मे फसा दिया है। अन्त म, कुछ लोग यह भी कहते हैं कि प्रो० मेहता ने अपनी परिभाषा मे अर्थशास्त्र को एक आदर्श विज्ञान (Normative Science) मानकर भूल की है। अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान न होकर प्रधानत भावनात्मक विज्ञान (Positive Science) है।

जहा तक इन आलोचनाओं का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि ससार के सब मनुष्य आवश्यकताओं को बढाकर उनको तुष्ट करने मे अधिकतम सुख का अनुभव नहीं करते। ऐसा सोचने वाले वे व्यक्ति होते हैं जिन पर भौतिकवाद का अधिक प्रभाव है। परन्तु भारत तथा कुछ अन्य देशो मे अधिकतर व्यक्ति ऐसा नही सोचते। वे जानते हैं कि स्थायी सुख आवश्यकताओं को बढाकर उनको तुष्ट करने मे नही मिलता वरद् उनको कम करने मे मिलता है। इस प्रकार इस आलोचना मे कोई विशेष बल नही है। प्रो० मेहता की परिभाषा पर यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि यह स्वय मे एक विरोधाभास है, आवश्यकता विहीनता की स्थिति मे हमे अर्थशास्त्र के अध्ययन की जरूरत ही क्या रह जाती है? आलोचक आगे कहते है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन स्वय मे कोई लक्ष्य नही। इसका अध्ययन तो आवश्यकताओं के

---

*"Economics is a science that studies human behaviour as an attempt to reach the State of Wantlessness."—J. K. Mehta.

से नहीं वरन् उनको कम करने से मिलता है। इस प्रकार प्रो० मेहता के विचार की सत्यता के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र का जन्म पाश्चात्य देशो मे हुआ था। पाश्चात्य देशो मे शायद ही इने-गिने ऐसे व्यक्ति हो जो कि आवश्यकता विहीनता की स्थिति मे सुख अनुभव करते हो। उनका विचार है कि जो राष्ट्र थोडी सी आवश्यकताओ का ही अनुभव करते है वे अवश्य ही नष्ट हो जायेगे।* आजकल हम अर्थशास्त्र म इस बात का अध्ययन नही करते कि आवश्यकता-विहीनता की स्थिति को कैसे प्राप्त किया जाय वरन् इस बात का अध्ययन करते हैं कि अधिकतम आवश्यकताओ को किस प्रकार भौतिक वस्तुओ से की सहायता से तुष्ट किया जाय। इस प्रकार प्रो० मेहता द्वारा दी गई परिभाषा भले ही दर्शन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हो परन्तु उसको हम व्यवहारिक दृष्टि से ठीक नही कह सकते। प्रो० मेहता भले ही उन मानवी व्यवहारो का अध्ययन करते हो जो आवश्यकता-विहीन अवस्था की प्राप्ति के लिए किये जाते है, शेष अर्थशास्त्री तो अभी तक ऐसा नहीं करते। हो सकता है कि वे प्रो० मेहता से प्रेरणा लेकर ऐसा प्रयत्न शुरू कर दे। किन्तु अध्यात्मवाद तथा तत्व ज्ञान इहलौकिक अर्थशास्त्र के विरोधाभास से लगते है।

प्रो० मेहता की परिभाषा का बहुत बडा दोष यह है कि वह व्यवहारिकता से बहुत दूर है। वास्तविक जगत की आर्थिक क्रियाओ मे कही भी हमे कोई आवश्यकता-विहीनता की ओर जाने के लिये प्रयत्न करता नही दिखाई देता। इस दिशा मे कही भी कोई प्रवृत्ति नहीं दिखाई पडती, हमारे आर्थिक व्यवहार जाने-अनजाने, किसी प्रकार भी आवश्यकता-विहीनता की स्थिति की ओर परिलक्षित नही होते। आवश्यकता विहीनता की स्थिति प्राप्त करने की प्रेरणा से हमारी आर्थिक क्रियाओ का जन्म नही होता, उनका जन्म होता है आवश्यकता पूर्ति के लिये। शोर मचाती हुई बुभुक्ष इच्छाओ की तृप्ति करने के लिये। यदि कोई आवश्यकता-विहीनता की स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करता हुआ मिलेगा भी, तो पूछने पर कदाचित् वह बतायेगा कि वह अर्थशास्त्र से बहुत दूर है। इस उद्देश्य के लिये की जाने वाली चेष्टायें दार्शनिक, धार्मिक तथा योग-युक्त हो सकती है, आर्थिक कभी नही।

प्रा० मेहता के इस दिशा मे समग्र विचार एव धार्मिक सदेश का भार लिए प्रतीत होते है। हमे यह न भूलना चाहिए कि अर्थशास्त्र एक समाजिक न कि वैयक्तिक विज्ञान है, यह व्यक्ति की केवल उन्ही क्रियाओ का अध्ययन करता है, जो समाज के सन्दर्भ मे की जाती है। मनुष्य का वातावरण मानव शरीर-यन्त्र पर उद्दीपन का कार्य करता रहता है शरीर-यन्त्र मे इसके फलस्वरूप प्रतिक्रिया होती है जिसकी बाह्य अभिव्यक्ति मानव क्रिया के रूप मे होती है। ये क्रियायें सदैव वातावरण तथा शरीर-यन्त्र के बीच किसी प्रकार के समायोजन का विधान करती रहती है। हमारी आर्थिक क्रियायें भी इसी प्रकार की है। इनका

* Gide—Political Economy, P. 42.

उद्देश्य आर्थिक वातावरण तथा मानव शरीर-यन्त्र के बीच समायोजन ले जाना है। जिन व्यक्तियो पर वातावरण उद्दीपन का कार्य नही कर सकता, व्यक्ति या तो जडवत् होंगे या कदाचित सिद्ध योगी। और कदाचित् मेहता साहब भी इस बात की कल्पना न करेंगे कि समाज जडवत इकाइया अथवा योगियो का समूह हो सकता है। ऐसी कल्पना तो समाज के प्रत्यय की ही जड काट देती है। मूलत समाज का प्रादुर्भाव ही मानव आवश्यकताओ (जिनमे भौतिक आवश्यकतायें प्रमुख हैं, आध्यात्मिक आवश्यकतायें तो व्यक्तिवादी होती हैं) के प्रत्युत्तर स्वरुप हुआ है। इस प्रकार आवश्यकता-विहीनता के लक्ष्य से उत्प्रेरित क्रिया का उद्दीपन वाह्य वातावरण नही हो सकता, उसकी प्रेरणा केवल अन्त होगी जो असामाजिक तथा वैज्ञानिक अध्ययन से परे है, अर्थशास्त्र से उसका कोई दूर का भी सम्बन्ध नही हो सकता।

सस्थिति (Equilibrium) शब्द का मन के सम्बन्ध मे प्रयोग किया जाना भी असगत ही नही विरोधभास भी है। विश्व को हम दो भागो म बाट सकते हैं—पदार्थ तथा (ii) मन। पदार्थ मे विस्तार होता है, मन म नही, पदार्थ ही भौतिक है, मन अभौतिक, मन कोई वस्तु नहीं, वह विचार, सवेदन तथा इच्छा की क्रियाओ का सामूहिक नाम है, वह कोई 'वस्तु' या 'विषय नही'।

सस्थिति क्या है ? सस्थिति म तीन बात निहित हैं—धनात्मक शक्ति, ऋणात्मक शक्ति तथा सस्थिति मे आने वाली कोई वस्तु या प्रणाली, जो इन दो प्रकार की शक्तियो का विषय हो। सस्थिति (Equilibrium) शब्द भौतिकशास्त्र से लिया गया है। जब दिक् (space) की किसी वस्तु या पद्धति (system) पर कार्य करती हुई धनात्मक तथा ऋणात्मक शक्तियो का इस प्रकार समन्वयन हो जाता है कि उस वस्तु या पद्धति मे गतिवर्द्धन (acceleration) कहते है। जैसे वह बैलून (balloon) जिसकी प्रवृत्ति न उपर उठने की ओर है न नीचे उतरने की ओर सस्थिति मे होता है। हम अब और अधिक सस्थिति के बारे मे कहना उचित नही समझते। इतना ही हमारे काम के लिये पर्याप्त है।

प्रो० मेहता इस भौतिकवादी प्रत्यय का प्रयोग मन के सन्दर्भ मे कैसे करते हैं ? पता नही। मन पर काम करने वाली शक्तियो का धनात्मक तथा ऋणात्मक वर्गों मे विभाजन किस आधार पर किया जा सकता है ? क्या आनन्द तथा वेदना के सहारे ? ऐसा करना सारे वैज्ञानिक तत्वो को तिलाजली दे देने के बराबर होगा। फिर यदि ऐसा हो तो वे किस पर काम करेंगी—मन पर ? वह तो कोई वस्तु या पद्धति है नही।

इस तरह और भी कई बातें मेहता जी की परिभाषा मे असगत है। इस परिभाषा को हम अन्य शास्त्रो पर भी समान रूप से लागू कर सकते है—यदि सर्वत्र हमारा केवल एक ही लक्ष्य हो अर्थात आवश्यकता-विहीनता की प्राप्ति। निश्रेयस (Summum bonum) की भी तो यही स्थिति होगी। तो क्या अर्थशास्त्र का लक्ष्य

भी वही चरम बिन्दु प्राप्त करना है? दर्शन तथा अर्थशास्त्र के साथ ही क्या अर्थशास्त्र का नाम भी लिया जाय? यह अनुचित होगा। इस लिये यह परिभाषा अवैज्ञानिक तथा असगत है।

अर्थशास्त्र की उपयुक्त परिभाषा—

ऊपर हमने विस्तारपूर्वक अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओ का अध्ययन किया है। इस अध्ययन से हमको पता चला है कि अर्थशास्त्र की बहुत सी परिभाषाय की गई है। प्रत्येक परिभाषा के अपने गुण व दोष हैं। इसी कारण बहुत से लोगो का मत है कि अर्थशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यन्त कठिन होगा। प्रो० गुन्नार माइरडल (Gunnar Myrdal), मॉरिस डॉब (Mawrice Dobb), जे० एम० क्लार्क आदि इस मत के पोषक है। किन्तु हमारे विचार से अर्थशास्त्र की अब इतनी उन्नति हो चुकी है कि इसकी परिभाषा देनी आवश्यक है। अर्थशास्त्र की जितनी परिभाषा भी दी गई है उन सबसे पता चलता है कि सब विद्वान इस बात से तो सहमत हैं कि अर्थशास्त्र मे मनुष्य का अध्ययन होता है परन्तु मनुष्य जीवन के सब पहलुओ का अध्ययन अर्थशास्त्र मे नही किया जाता। इसमे मानव जीवन के केवल उसी पहलू का अध्ययन होता है जिसमे वह अपने सुख प्राप्ति के लिए कार्य करता है। प्रश्न उठता है कौनसा सुख? भौतिक या आध्यात्मिक। आध्यामिक सुख अर्थशास्त्र द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता। उस सुख को प्राप्त करने का मार्ग-दर्शन तथा धर्म-ग्रन्थ बताते है। अर्थशास्त्र का यह कार्य नही। तो फिर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्र मे हम अर्थ से प्राप्त होने वाले सुख का अध्ययन करते हैं। अर्थ मनुष्य जीवन का एक महत्वपूर्ण अग है। आचार्य कौटिल्य ने तो अर्थ को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया था कि वे कहते थे कि धर्म और काम दोनो का कारण ही अर्थ होता है। इसलिए अर्थशास्त्र की परिभाषा हम इस प्रकार करे कि यह वह शास्त्र है जो मानव का अर्थ के सदर्भ मे अध्ययन करता है।

'अविकसित' देश तथा अर्थशास्त्र—

अविकसित देशो से हमारा अभिप्राय ऐसे देशो से है जिनमे पश्चिमी योरुपीय तथा उत्तरी अमेरिका के देशो की अपेक्षा, प्रति व्यक्ति की औसत आय तथा पूंजी का स्तर बहुत कम है। ऐसे देशो मे जापान को छोड़कर एशिया के सब देश, दक्षिणी अमेरिका के देश, अफ्रीकीय देश तथा योरुप के कतिपय दक्षिणी तथा पूर्वी प्रदेश शामिल किये जाते रहे है। इन देशो मे वैज्ञानिक तथा टैक्नीकल प्रगति कम हो पाई है। आर्थिक व्यवस्था प्राय खेतिहर है। मशीनो का प्रयोग प्रथम तो है ही नही और है भी तो कुछ थोडे से क्षेत्रो मे, और वह भी छोटे पैमाने पर। इन देशो मे मुद्रा का प्रयोग अपेक्षतय कम होता है, वस्तु विनिमय (Barter) का प्रचलन काफी है। भारत के देहातो मे आज भी यह देखा जा सकता है कि किसान गुड लेकर करीब के हाट-बाजार मे जाता है तथा उसे बनिये को देकर मिट्टी का तेल, नमक तथा अपनी

आवश्यकता की अन्य वस्तुए उसके बदले मे वनिये से ले आता है । इन देशो मे सगठित मुद्रा-बाजार नही हैं । उद्योग धन्धे श्रम प्रधान है । जनसख्या तेज रफ्तार से बढ रही है, तथा जन्म-मरण की दरें ऊची है । बच्चे अधिक सख्या मे मरते है । औसत आयु कम है । शिक्षा का अभाव पौष्टिक भोजन की कमी है जिससे जन-जीवन अस्वस्थ तथा रुग्ण है । यातायात के साधन पिछडी अवस्था मे है । शहरी जनसख्या कम है ग्रामीण अधिक । आर्थिक क्षेत्र मे युगो से चली आने वाली प्रणालियो के प्रति अन्धा मोह है । शिक्षा का अभाव भी इन देशो की प्रमुख विशेषता है ।

ये देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग तो अवश्य लेते हैं, किन्तु प्राय खाद्यान्न तथा कच्चे माल का निर्यात करते हैं और माल की आयात । व्यापार-तुला इनके अनुकूल होती है, अर्थात् अन्य देशो से पावना, दने से प्राय कम रहता है क्योकि आयात कम करते है और निर्यात अधिक ।

इन देशो मे बचत बहुत कम होती है इसलिए वास्तविक विनियोग * की दर भी बहुत कम है । जबकि पश्चिमी योरप तथा उत्तरी अमेरिका के देशो मे वास्तविक विनियोग राष्ट्रीय आय के १५ प्रतिशत से भी अधिक होता है, एशिया मे यह औसतन राष्ट्रीय आय के ५ प्रतिशत से अधिक नही होता । इसके साथ ही हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एशिया की जन-सख्या भी तेजी से बढ रही है । इसलिए यह ५ प्रतिशत और भी तथ्यहीन बन जाता है । पाश्चात्य के विकसित तथा पूर्व के अविकसित देशो के बीच आर्थिक खाई दिन-ब-दिन विस्तृत होती जा रही है और वर्तमान सापेक्ष खाई को और चौडी होने से हम तभी रोक सकते है जबकि एशिया मे (और अन्य ऐसे भूभागो म) पू जी-निर्माण की दर कम से कम कुल राष्ट्रीय आय की १५ प्रतिशत हो ।**

इन देशो मे औद्योगिक श्रमिको का अभाव है । कुशल श्रमिक बहुत कम मिलते हैं । चतुर प्रबन्धको की भी यहा कमी है । ससाधन अनुपयोगित पडे है ।

लेकिन यह सब कहने का अर्थ यह नही कि सभी अविकसित देशो मे उपर्युक्त बात समान रूप मे पाई जाती है । इन देशो मे कुछ औरो की अपेक्षा अधिक विकसित हैं । लेकिन उपर्युक्त बातो की प्रवृत्ति निश्चय रूप से औसतन सभी अविकसित देशो मे पाई जाती है और अर्थशास्त्र की व्याख्या केवल एक प्रवृत्ति बताती है, अर्थशास्त्र के नियम गणित के तथ्य नही केवल एक प्रवृत्तियो के परिचायक होते है । इसलिए अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से इन देशो को एक से वर्ग म रक्खा जा सकता है ।

---

*वास्तविक विनियोग (Net investment) या नय विनियोग से अभिप्राय ऐसे विनियोग से है जो पुराने पू जी-उपकरणो की प्रतिस्थापना के अतिरिक्त नवीन पू जी उपकरणो के तैयार करने मे किया जाता है ।

** See U. N, E C A F E Secretariat "Some Financial Aspects of Development Programme in Asian Countries" Economic Bulletin for Asia and the Far East Vol. III No 1—2 January-June 1952, P 1-2.

यदि हम उपर्युक्त सक्षेप को ध्यान मे रखकर सोचें तो हमे यह समझने मे कठिनाई न होगी कि वे आर्थिक सिद्धान्त जो पाश्चात्य के विकसित देशो की आर्थिक व्यवस्था को दृष्टिकोण मे रखकर प्रतिपादित किये गये हैं। इन अविकसित आर्थिक ढाचो के लिए समान रूप से उपर्युक्त नही हो सकते।

फिर, पाश्चात्य मे प्रतिपादित सिद्धान्तो के बारे मे यह भी याद रखना चाहिए कि वे सिद्धान्त शक्तिशाली वर्गों और हितो की वकालत करने के लिए अक्सर वजूद मे आये हैं। वे निष्पक्ष वैज्ञानिक खोजो के लेखे-जोखे नही, बल्कि बहुधा हालतो मे धनी वर्ग के कार्यों के औचित्य को साबित करने के लिए उनका जन्म हुआ। इसीलिए तो मजदूरी, लाभ आदि के बारे मे पू जीपतियो के हित की रक्षा करने के लिए अर्थशास्त्रियो ने कभी-कभी बडे अजीब तथा भ्रामक विचार पेश किये हैं। धन तथा आय मे वैषम्य को वर्तमान समय तक उचित तथा समाज के लिए हितकर बताया जाता था। पू जीवादी व्यवस्था मे केन्ज ने पहले-पहल इस वैषम्यता को अभिशाप के रूप मे प्रदर्शित किया। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने धनी वर्गों के हित की रक्षा करने की धुन म बडे पेचीदे ढग से यह बताया कि यदि धन वैषम्य न हो तो देश मे पू जी का निर्माण न हो पायेगा क्योकि धनी वर्ग ही बचत कर विनियोग को बढाता है, धन के सम-वितरण का अर्थ यह होगा कि राष्ट्रीय आय का अधिकाश भाग उपभोग के कार्यों मे लग जायगा और राष्ट्रीय बचत और इस प्रकार विनियोग बहुत कम हो पायेगा। इससे समाज का अहित होगा। शताब्दियो से यह तर्कसगत लगने वाली खोखली धारणा अर्थशास्त्र की अकाट्य मान्यता बनी रही। लेकिन आज हम जानते हैं कि यह धारणा कितनी निर्मूल है। आगे चल कर केनेसियन सिद्धान्तो की व्याख्या करते समय हम इस पर और विचार करेगे। यहा यह कहने का तात्पर्य यह था कि पश्चिमी देशो मे प्रतिपादित होने वाले सिद्धान्त दोषपूर्ण है तथा हमारे देश या अन्य अविकसित देशो पर वे सर्वदा लागू नही होते।

फिर, अर्थशास्त्री देश तथा समय विशेष की उपज होता है। राष्ट्रीय हितो को ध्यान म रखकर ही वह अपने सिद्धातो की व्याख्या करता है। इसलिये पश्चिमी देशो—जिनका हित प्राय अविकसित देशो के शोषण से पोषण पाता रहा है—म प्रतिपादित हुए सिद्धान्त यथा-तथा इन अविकसित देशो पर लागू नही हो सकते: इनकी परिस्थितिया सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा भौगोलिक, और उससे भी अधिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भिन्न तथा निराली है। पश्चिमी देशो के विकास मे पिछडी हुई आर्थिक व्यवस्थाओ ने काफी योग दिया—कच्चे माल, उत्पादित माल की खपत के लिए बाजार आदि बातो की जो सुविधाय पश्चिमी देशो को उनके आर्थिक विकास के शैशव काल मे मिली, वह आज के, प्रगति-ड्योढी पर खडे, देशो के लिये उपलब्ध नही।

जैसा ऊपर कह चुके हैं इन अविकसित देशो मे भी काफी परिस्थिति वैषम्य है। किसी ऐसे सामान्य सिद्धात का प्रतिपादन करना कठिन है जो इन सब पर समान रूप से लागू हो।

किन्तु कुछ मौलिक विश्लेषण ऐसे अवश्य हैं जो कुछ सुधार तथा संशोधन के साथ सर्वत्र उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। मांग-पूर्ति का विश्लेषण, मुद्रास्फीति, सीमान्त पर स्थानापन्न (Substitution at the Margin) का प्रत्यय, उत्पादन के साधनों में पूरक या प्रतियोगिता का सम्बन्ध आदि सम्बन्धी सिद्धान्त कमोवेश सर्वत्र लागू होते हैं। लेकिन विश्लेषण के ऐसे उपकरणों का प्रयोग भी बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। जिन देशों का विकास पाश्चात्य देशों के अनुकरण पर हो रहा है, जैसे हमारे देश का, वहां अर्थशास्त्र के विश्लेषण के यह प्रारम्भिक सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण हैं। अविकसित देशों के लिए अभी तक कोई विशिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किये गये। पाश्चात्य देशों में पनपने वाले सिद्धान्तों का अविकसित देशों में काफी हेर-फेर के बाद प्रयोग किया जाना चाहिये। जहां तक बीसवीं शताब्दी में प्रतिपादित अर्थशास्त्र के नये सिद्धान्तों का प्रश्न है, यह कह देना उचित है कि उनका अविकसित देशों की आर्थिक व्यवस्था से बहुत कम सम्बन्ध है। आर्थिक विचार-क्षेत्र में क्रान्ति का सन्देश लाने वाला केनेसियन अर्थशास्त्र इन अविकसित देशों के लिए बहुत कम उपयोगी है। पिछली अर्द्ध शताब्दी में सामान्य सन्स्थिति तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों की विवेचना में काफी प्रगति हुई है। इस काल के अर्थशास्त्री मुख्यतः सन्स्थिति-प्रणाली के माध्यम से मूल्य के सिद्धान्त, फर्म के सिद्धान्त तथा आयविभाजन के सिद्धान्त की खोज में लगे रहे। व्यापार-चक्र तथा उपयोगीकरण के सिद्धान्त भी सस्थिति को मानदण्ड मान कर आगे बढ़े। अल्पकालीन अवधि की व्याख्या पर अधिक जोर दिया गया। गणित का अधिकाधिक प्रयोग अर्थशास्त्र में किया गया। भावात्मक, अमूर्त विवेचन पर अधिक बल दिया गया। ये बातें अविकसित देशों के लिए निकट भविष्य में अधिक महत्व की नहीं, यद्यपि भारत जैसे देशों में इन सिद्धान्तों को आर्थिक योजनाओं पर विचार करते समय ध्यान में रखना लाभप्रद है।

इन देशों के अर्थशास्त्र के विश्लेषण में जिन बातों पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये वे हैं दीर्घकालीन अवधि में आय तथा धन को निर्धारित करने वाले मुख्य तत्व, जैसे पूंजी की वृद्धि करने वाली बातें, जनसंख्या, श्रम की ओर सामाजिक दृष्टिकोण, लोगों में जोखिम उठाने की भावना तथा क्षमता, बचत, मालों की खपत तथा बाजार, औद्योगिक संगठन, श्रमिकों की कुशलता तथा कार्यक्षमता तथा अन्य आर्थिक तथा अनार्थिक पहलू। पाश्चात्य देशों में प्रगति इतनी हो चुकी है कि इन बातों को दिया हुआ मान कर अर्थशास्त्रियों ने उपर्युक्त आधुनिक व्याख्याएं की हैं। *आदम स्मिथ और मार्शल द्वारा की हुई व्याख्याएं वर्तमान अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों से* अधिक इन देशों के लिए उपयोगी हैं। इन देशों में आर्थिक विकास तथा समाधनों के समुचित वितरण—दोनों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्राचीन मान्यताओं, जैसे पूर्ण प्रतियोगिता, पूर्ण उपयोगीकरण, सरकार की तटस्थता, कीमत-यन्त्र का अचूक न्याय आदि, के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। न उनकी व्याख्या वर्तमान पश्चिमी देशों की शिरोबिन्दु पर पहुंची हुई आर्थिक प्रगति की

व्याख्या के लिए प्रतिपादित सिद्धातो द्वारा ही की जानी चाहिये । इन देशो मे आर्थिक मॉडल, गुणक या गतिवर्द्धक के सिद्धात आदि उपयोगी न हो सकेंगे । केन्ज की मौद्रिक आर्थिक व्यवस्था भी इन देशो की आर्थिक व्यवस्था से भिन्न है ।

अविकसित आर्थिक-व्यवस्था मे अर्थशास्त्र के सिद्धात को यथार्थ की ओर झुकना होगा । निर्बाध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धात का परित्याग करना होगा । सरकार की तटस्थता, स्थिर सस्थिति, परम्परागत आर्थिक तथा अनार्थिक के बीच भेद आदि बातो की मान्यता को छोडकर इन देशो के लिए सिद्धात प्रतिपादित करना होगा । अर्थशास्त्र को वास्तव मे सामाजिक सिद्धात मे बदल देना होगा । इन देशो के आचार-विचार, जाति-वर्ग सामाजिक तथा राजनैतिक बाते एक दूसरे से इतनी भिन्न है कि बहुत सोच-समझ कर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा सकता है । प्रसगिक परिवर्तनशील तत्व इतने अधिक है कि आर्थिक मॉडल द्वारा कोई व्याख्या नही की जा सकती । यदि इन देशो को आगे बढाना है तो इन्हे औरो से शिक्षा लेते हुए अपने जलवायु, मिट्टी, ससाधन तथा समाज के यथार्थ को देखते हुए आर्थिक सिद्धातो का सृजन करना होगा । पाश्चात्य देशो से सिद्धातो की आयात करने के पहले इन देशो को वहा के व्यवहारो का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके यह देखना होगा वे व्यवहार इनकी आर्थिक व्यवस्था से किस हद तक सगति रखते है । जैसा हम पहले कह आये है कि अर्थशास्त्र के विश्लेषण मे हम जो नतीजे निकालते है उनकी सत्यता उन स्वय-सिद्धियो, स्वीकृत नियमो तथा पूर्व-मान्यताओ की सत्यता पर निर्भर होती है जिनके आधार पर हम उन नतीजो को निकालते है । इसीलिए पश्चिमी देशो मे निकाले गये नतीजे, अनुमान इन अविकसित देशो मे खरे नही उतरेंगे, क्योकि यहा पाश्चात्य देशो की स्वय-सिद्धिया आदि मूल रूप से भिन्न हैं ।

२

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

(Scope of Economics)

यह एक बडा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि अर्थशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र क्या है। कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि एक वैज्ञानिक के समान एक अर्थशास्त्री को केवल यह बात बताने तक ही अपने आप को सीमित रखना चाहिए कि किसी चीज का क्या कारण है तथा उस कारण से उत्पन्न होने वाला क्या प्रभाव है अर्थात् ये अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान (Positive Science) ही मानते हैं। वास्तविक *विज्ञान वह होता है जो कार्य-कारण सम्बन्ध को बताता है।** उदाहरण के लिये श्री जे० बी० से का मत था कि एक बुद्धिमान मनुष्य के समान एक अर्थशास्त्री का कार्य नसीहत देना नही वरन् केवल देखना, विश्लेषण करना तथा बयान करना है। से ने १८२० ई० मे माल्थस को लिखा था कि अर्थशास्त्री को केवल एक निष्पक्ष द्रष्टा रहने तक ही सन्तोष करना चाहिये। हमारा काम जनता को केवल यह बात बताना है कि एक तथ्य दूसरे का परिणाम क्यो और कैसे है, चाहे परिणाम का स्वागत किया जाय अथवा उसका खण्डन किया जाय। यदि अर्थशास्त्री कारण का दिग्दर्शन करादे तो यह पर्याप्त होगा। उसको नसीहत नही देनी चाहिये। वास्तव मे से का मत था कि अर्थशास्त्र के नियम भौतिक शास्त्र के नियमो के समान हैं जो कि मनुष्य-कृत नही होते। इसके विपरीत, वे वस्तुओ के स्वभाव से निकाले जाते हैं। उनको प्रतिपादित नही किया जाता, उनको खोज कर निकाला जाता है। उनका प्रभाव राजकुमारो तथा विधान सभाओ पर भी पडता है तथा कोई भी व्यक्ति उनका आत्म हानि के बिना उल्लघन नही कर सकता। गुरुत्वाकर्षण नियम के समान अर्थशास्त्र के नियम किसी एक देश तक सीमित नही हैं तथा राज्यो की सीमायें जो एक राजनीति के विद्यार्थी के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण होती हैं अर्थशास्त्री के लिये केवल एक घटना मात्र है। इस प्रकार अर्थशास्त्र एक पूर्ण विज्ञान के समान है जिसके नियम सर्वव्यापी हैं। भौतिक-शास्त्र के समान इसका कार्य विशिष्ट तथ्यों को एकत्र

* When we assume the positive point of view, we take the facts of the universe as they are,—Chapman—Outline of political Economy P. 3

करना न होकर कुछ साधारण सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना है जिनकी सहायता से परिस्थिति के अनुसार बडी या छोटी लम्बाई की परिणामो की एक श्रृंखला निकाली जा सके।*

जे० बी० से के अतिरिक्त प्रो० सीनियर (Senior) का भी यही मत था कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। उन्होने कहा है कि राजनैतिक अर्थशास्त्री मे अध्ययन का विषय सुख न होकर धन है। उसकी प्रतिज्ञाये (Premises) कुछ इने गिने साध्य होते हैं जो कि निरूपण अथवा चेतना के परिणाम होते है। इनके लिय कोई सबूत देने अथवा कोई नियमानुसार बयान देने की आवश्यकता नही होती। अर्थशास्त्र के अनुमान प्राय इतने साधारण होते है तथा यदि ठीक ढग के तर्क पर आधारित हो तो उतने ही निश्चित तथा व्यापक होगे जितनी कि उनकी प्रतिज्ञाये प्रो० हने न लिखा है कि सीनियर का मत था कि अर्थशास्त्री को नसीहत का एक शब्द भी नही कहना चाहिये तथा उसको नैतिक बातो तथा राजनैतिक विज्ञान से दूर रहना चाहिये।**

सीनियर के समान केयर्न्स (Cairnes) का भी यही मत था कि अर्थशास्त्री को समानता तथा औचित्य के विचारो से मुक्त रहना चाहिये।

यही नही, आजकल प्रो० राबिन्स का भी यही मत है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। उन्होने कहा है कि पिछले सैकडो वर्षों मे अर्थशास्त्र की भावात्मक प्रणाली पर बहुत से आक्षप किए जा चुके है तथा इस बीच मे ऐतिहासिक विचारधारा, संस्थावादी विचारधारा (Institutionalism) आदि बहुत सी विचारधाराये पनप चुकी हैं तथा इन सबका बडा स्वागत भी किया गया है परन्तु इन सौ वर्षों के पश्चात् इतिहास मे पाई जाने वाली सबसे बडी मन्दी ने उनको बेकार (Sterile) तथा किसी उपयोगी आलोचना करने के अयोग्य पाया। इस प्रकार उनकी विचारधारा प्रतिकूल पाई गई तथा उनकी उन्नति को बडा आघात पहुँचा। परन्तु इसी बीच मे कुछ इने गिने विचारको के 'घृणित' निगमन सिद्धान्त (Deductive Theory) का सहारा लेकर हमारे कीमत परिवर्तन के सिद्धान्त के ज्ञान को ऐसे बिन्दु पर लाकर खडा कर दिया है जहा से कि हम पिछले कुछ वर्षों की महत्वपूर्ण घटनाओ को साधारण रूप मे समझ सकते है तथा अगले कुछ वर्षो मे मन्दी के इस गोरख धन्धे को सुलझाने की सम्भावना भी हमारी शक्ति के बाहर दिखाई नही पडती।*** प्रो० राबिन्स का मत है कि वास्तविकता की खोज भी वही ठीक प्रकार से कर सकता है जो कि विश्लेषणात्मक पद्धति से परिचित होता है। प्रो० राबिन्स का यह भी मत है कि अर्थशास्त्र के नियम ऐसी सम्भावनाओ का वर्णन करते हैं जिनकी परिणति

---

* Gide and Rist—A History of Economic Doctrines P. 110 111.

** Haney—History of Economic Thought P. 344

*** Robins—An Essay on the Nature and significance of Economic Science—P. 115.

वास्तविकताओं में अवश्य होगी बशर्ते कि वे परिस्थितियां जिनके अन्तर्गत वे नियम बनाये गये थे मौजूद हो। परन्तु चूंकि घटनाओं को बहुधा काबू में नहीं रखा जा सकता इस कारण कोई भी भविष्यवाणी करना बड़ा भयानक होता है। परन्तु यदि हमको इस बात का ज्ञान हो कि 'अन्य बात' (Other things) किस प्रकार बदलती हैं तो हम अपने नतीजे की सत्यता पर कोई शंका नहीं कर सकते। यहां यह ध्यान रहे कि अपने सब विश्लेषण के कार्य में हम मूल्यांकनों के पैमाने (Scales of valuations) को दिया हुआ मानकर चलते हैं। इन मान्यताओं के आधार पर प्राप्त किए गये नियम ही सर्वव्यापी होते हैं। परन्तु अर्थशास्त्री का कार्य यह नहीं है कि वह यह देखे कि व्यक्तिगत मूल्यांकन के परिवर्तन के क्या कारण थे। वह आर्थिक नियम के रूप में केवल इतना बता सकता है कि कुछ टैक्नीकल हालतों तथा सापेक्षित मूल्यांकनों के बीच क्या सम्बन्ध हो सकते हैं। वह केवल इतना बता सकता है कि यदि सामग्री (Data) में परिवर्तन होगा तो उसके कारण क्या परिवर्तन होने की सम्भावना है। परन्तु वह यह नहीं बता सकता कि सामग्री में परिवर्तन क्यों होते हैं। उदाहरण के लिये वह इस बात की भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि विशिष्ट स्वाद भविष्य में क्या होंगे तथा उनका विशिष्ट वस्तुओं से क्या सम्बन्ध होगा। इस प्रकार प्रो॰ राबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र को लक्ष्यों के प्रति उदासीन रहना चाहिए। अर्थशास्त्र किसी लक्ष्य के औचित्य के विषय में अपना कोई निर्णय नहीं दे सकता। राबिन्स का यह भी मत है कि अर्थशास्त्र तथा नीति-शास्त्र में बड़ा मत-भेद है। अर्थशास्त्र जांचने योग्य तथ्यों का वर्णन करता है जबकि नीति शास्त्र मूल्यांकनों (Valuations) तथा कर्त्तव्यों का। खोज के ये दोनों क्षेत्र सैद्धान्तिक रूप में समान स्तर पर नहीं हैं। अर्थशास्त्र का कोई ऐसा नियम नहीं है जो कि व्यवहार में मनुष्य के ऊपर लागू हो। यह विभिन्न लक्ष्यों की अच्छाई बुराई के विषय में कोई निर्णय नहीं दे सकता। इस प्रकार यह नीति-शास्त्र के नियम से बिल्कुल भिन्न है।

इसके विपरीत बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र उन आदर्शों को उपस्थित करता है जिनको प्राप्त करने की चेष्टा मनुष्य को करनी चाहिए। इस प्रकार अर्थशास्त्र 'क्या होना चाहिए ? प्रश्न का उत्तर देता है। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र को एक आदर्श विज्ञान (Normative Science) माना गया है।* उदाहरण के लिये प्रो॰ मार्शल ने लिखा है कि अर्थशास्त्री को नैतिक शक्तियों को ध्यान में रखना चाहिये। इसी कारण मार्शल का मत था कि अर्थशास्त्र एक 'आर्थिक मनुष्य'

---

* When we assume the normative point of view we deal not with facts, as facts are ordinarily understood but with the ideals of facts, or standards "norm" is derived from the Latin word *no ma*, meaning a rule or standard. Ethics (or the science of what conduct ought to be and why) is a normative science —Chapman—Outl nes of Political Economy P. 3.

का अध्ययन न करके एक वास्तविक व्यक्ति का अध्ययन करता है। यह मनुष्य हाड़-मास का बना होता है। उसमे सब प्रकार की भावनायें होती हैं तथा इन भावनाओ से प्रेरित होकर मनुष्य कार्यरत देखा जाता है। यह मनुष्य समाज मे रहता है तथा समाज मे रह कर ही सब कार्य करता है। परन्तु मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र ऐसे वास्तविक व्यक्ति की केवल उन्ही क्रियाओ का अध्ययन करता है जिनका द्रव्य द्वारा मूल्याकन किया जा सकता है। मार्शल का मत है कि अर्थशास्त्र को द्रव्य के इस माप दण्ड के प्राप्त होने से बहुत लाभ है। यद्यपि द्रव्य के इस माप दण्ड मे कुछ कमिया है तो भी इसके कारण अर्थशास्त्र जैसे अनिश्चित शास्त्र को भी निश्चित होने का लाभ प्राप्त हो गया है, तथा इस अन्य सामाजिक शास्त्रो की तुलना मे एक उच्च स्थान प्राप्त हो गया है। मार्शल का यह निश्चित मत है कि द्रव्य सम्बन्धी सभी इच्छायें व भावनाये निकम्मी नही होती। बहुधा मनुष्य अपने परिवार के प्रेम अथवा दान देने अथवा प्रशसा प्राप्त करने की भावना से कार्य करता हुआ देखा जा सकता है। इस प्रकार द्रव्य सम्बन्धी सब इच्छायें व भावनायें निकम्मी नही कही जा सकती।

प्रो० पीगू का भी मत है कि सामाजिक शास्त्रो मे उनका प्रकाश दायक पहलू इतना महत्वपूर्ण नही है जितना कि फल-दायक पहलू। प्रो० पीगू का कहना है कि यदि व्यक्ति के सामाजिक कार्यों के अध्ययन से यह आशा न की जाती कि उसके द्वारा किसी न किसी समय सामाजिक उन्नति होगी तो प्राय सभी विद्यार्थी यह सोचते कि उन्होने इन कार्यों के अध्ययन मे जो समय लगाया है वह बेकार गया। प्रो० पीगू का मत है कि यह बात सभी सामाजिक शास्त्रो के सम्बन्ध मे खरी उतरती है परन्तु अर्थशास्त्र के विषय मे विशेषतया ठीक है क्योकि अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन का अध्ययन करता है तथा साधारण जीवन का अध्ययन करते समय हमारा भाव दार्शनिक भाव न हो कर एक चिकित्सक के भाव सा होना चाहिए अर्थात् हमारी योग्यता का उद्देश्य होना चाहिये समाज के घावो को भरना।* प्रो० हाट्रे (Howtrey) भी अर्थशास्त्र को एक आदर्श विज्ञान मानते है। उनका कहना है कि कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि अर्थशास्त्र मे से नैतिक भावो को अलग कर देना तथा अर्थशास्त्री को अपने आप को केवल आर्थिक व्यवहारो (Economic behaviour) के अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहिए और उन लक्ष्यो की आलोचना करनी चाहिए जिन को प्राप्त करने के लिये आर्थिक क्रियायें की जाती हैं। परन्तु अर्थशास्त्र का ऐसा वास्तविक विज्ञान अव्यवहारिक होगा। यदि अर्थशास्त्री अच्छे या बुरे के सम्बन्ध मे कोई विचार न भी करे तो भी यह बात तो ठीक है कि

* Pigou—Economics of Welfare, p 5
A mormative science is a science that treats of facts or they should be in accordance with some deal —J. K. Mehta—Ground work of Economics vol. p. 8.

अपने विज्ञान को आवश्यक तथा अनावश्यक मे भेद किये बिना बहुत आगे नही बढ सकता और वस्तुयें उसी अनुपात मे महत्वपूर्ण होती हैं जिस अनुपात मे वे अच्छी या बुरी होती हैं, फिर चाहे वे साधन के रूप मे अच्छी या बुरी हो या साध्य के रूप मे। अर्थशास्त्री अपनी खोज के विषय को बिना इस कसौटी पर कसे भी नही चुन सकता।

अर्थशास्त्री मे यह सलाह ली जा सकती है कि एक विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये साधनो का उपयोग कैसे किया जाय और वह इस प्रश्न का उत्तर लक्ष्य की आलोचना किये बिना भी दे सकता है। परन्तु फिर भी वह लक्ष्य के अतिरिक्त अच्छे बुरे के सब भावो को बेकार नहीं कह सकता। यद्यपि एक पूर्व निश्चित विधि के अनुसार वह लक्ष्य को स्वीकार कर सकता है परन्तु उसमे यह आशा अवश्य की जायगी कि वह बात बताये कि लक्ष्य को अपेक्षाकृत कौनसा मार्ग उचित तथा अच्छा होगा। वास्तव म अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नही किया जा सकता तथा व्यवहार मे अर्थशास्त्रियो ने वही चीज प्राप्त की है जो कि उनको अच्छी नही लगी।*

इस प्रकार हम देखते है कि अर्थशास्त्री इस बात पर एक मत नही है कि अर्थशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र क्या है अर्थात क्या अर्थशास्त्र मे हम अपने आप को नियम बनाने तक ही सीमित रख अथवा उसमे भी आगे बढे और लोगो को उनके अच्छे बुरे होने का भी ज्ञान करायें। इसमे सन्देह नही है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है क्योकि इसमे मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित कारणो के आधार पर कुछ नियम बनाये जाते है। उदाहरण के लिये, इसमे बताया जाता है कि मजदूरी, लगान, ब्याज आदि किस प्रकार निश्चित होते हैं, किसी वस्तु का अधिकाधिक उपभोग करने से माग के ऊपर क्या प्रभाव पडता है, उत्पादन मे वृद्धि हुये बिना यदि द्रव्य की मात्रा को बढाया जाय तो उसका कीमत-स्तर पर क्या प्रभाव पडता है आदि। ये सब नियम जिन परिस्थितियो की उप धारणा करके बनाये जाते हैं यदि वे परिस्थितिया मौजूद हो तो ये नियम सच्चे अवश्य होंगे। इस प्रकार अर्थशास्त्र के नियमो के समान सर्वव्यापी कहा जा सकता है। इसी लिये अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान कहा जा सकता है।

यहा यह प्रश्न उठता है कि अर्थशास्त्री का कार्य क्या यही बताना है कि कार्य तथा कारण मे क्या सम्बन्ध है या उससे भी आगे है? क्या अर्थशास्त्री केवल यही बताने तक अपने आप को सीमित रखेगा कि देश मे गरीबी का क्या कारण है, मजदूरो की मजदूरी किस प्रकार तय होती है, लगान तथा लाभ किस प्रकार निश्चत होते हैं अथवा इससे आगे यह भी बतायेगा कि गरीबी को किस प्रकार दूर किया जा सकता है, मजदूरो को इतनी मजदूरी दी जानी चाहिये जिसमे कि मजदूर तथा

* R. G. Hawtrey—Economic Destiny, pp 5, 6, 7.

उसके परिवार का जीवन निर्वाह हो जाय, लगान तथा लाभ अत्यधिक नही लेने चाहियें। अर्थशास्त्र की परिभाषा करते समय हम बता चुके हैं कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य से होता है। इसके विपरीत भौतिक विज्ञानो का सम्बन्ध जड पदार्थों से होता है। यही कारण है कि भौतिक वैज्ञानिक अपनी विषय-सामग्री के सुख-दुख के विषय मे उदासीन हो सकता है। परन्तु अर्थशास्त्री की विषय-सामग्री मनुष्य है, स्वय अर्थशास्त्री है। तो क्या अर्थशास्त्री अपने बन्धुओ अथवा स्वय अपने सुख-दुख के विषय मे उदासीन हो सकता है। स्वय प्रो० राबिन्स जिन्होने अर्थशास्त्रियो को लक्ष्यो के प्रति उदासीन रहने का उपदेश दिया है ऐसा नही कर सके। राबिन्स ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे से भौतिक कल्याण के अध्ययन को निकाल देने का उपदेश दिया है, उन्होने कहा है कि अर्थशास्त्र मे हम शराब जैसी चीजो के उत्पादन के विषय मे भी अध्ययन करत हैं जिनका भौतिक सुख से कोई सम्बन्ध नही होता। परन्तु शराब का उपभोग भौतिक कल्याण के ऊपर दो प्रकार स प्रभाव डालता है। प्रथम, यह शराबियो की आवश्यकता की पूर्ति करके उनके वतमान सुख को बढाता है। दूसरे, यह शराबियो की कार्य क्षमता को घटाता है। यदि हम उन साधनो का अध्ययन करते हैं जिनम कि उत्पादन तथा सुख बढता है तो हमको उन साधनो का भी अध्ययन करना चाहिये जो कि इन दोनो को घटाते हैं। इसके अतिरिक्त राबिन्स की स्वय की परिभाषा मे कल्याण का प्रश्न परोक्ष रूप से निहित है। इसका कारण यह है कि स्वल्प साधनो को सोच समझ कर ही काम मे लाया जा सकता है। ऐसा न केवल व्यक्ति ही करते है वरन् सम्पूर्ण समाज भी करता है। इस कारण इन साधनो के उपयोग के लिये विवेकपूर्ण चुनाव करना पडता है। और विवेकपूर्ण चुनाव करने का अर्थ है साधनो को इस ढग से काम मे लाना जिसस कि अधिकतम तुष्टि प्राप्त हो सके। यदि अधिकतम तुष्टि प्राप्त नही होगी तब साधनो का उपभोग हुआ नही माना जा सकता अथवा चुनाव को विवेकपूर्ण नही कहा जा सकता। इस प्रकार प्रो० राबिन्स जिस चीज मे परहेज करने का उपदेश दूसरो को देते है वही चीज इन के विचारो की आधारशिला सी प्रतीत होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र न केवल एक वास्तविक विज्ञान है वरन् एक आदर्श विज्ञान भी है अर्थात् अर्थशास्त्री का अपने आपको न केवल नियम बताने तक ही सीमित रखना चाहिय वरन् उसको अभीष्ट आदर्शों को भी बताना चाहिये। कुछ लोग तो अर्थशास्त्रियो से भी अधिक आशा करते हैं। वे कहते हैं कि अर्थशास्त्री को यह भी बताना चाहिये कि आदर्श को प्राप्त करने का क्या मार्ग है। अर्थशास्त्री यदि आदर्श को प्राप्त करने का मार्ग नही बतायगा तो फिर कौन बतायेगा? वही तो वह व्यक्ति होता है जो कि समाज के आर्थिक ढाचे के विषय मे अध्ययन करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र न केवल वास्तविक तथा आदर्श विज्ञान है वरन् यह एक कला भी है।

आर्थिक नियम
(Economics Laws)

नियम शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। सबसे पहले सरकारी नियम होते हैं जो कि किसी देश के लोगों को किसी कार्य के करने या न करने की आज्ञा देते हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने से व्यक्ति को दंड दिया जाता है। इसके पश्चात् सामाजिक नियम होते हैं जो कि सामाजिक प्रवृत्तियों का वर्णन करते हैं। ये नियम उस मार्ग का वर्णन करते हैं जिसका अनुसरण समाज के प्रत्येक सदस्य को करना चाहिये। यदि किसी ने इन नियमों का पालन न किया तो समाज उस व्यक्ति को दंड देने का विधान करता है। परन्तु सभ्यता के विकास के कारण सामाजिक नियमों की शक्ति ढीली पडती जा रही है। फिर, सभा सोसाइटी के नियम होते हैं जो कि इनके समुचित सचालन के लिये बनाये जाते हैं। इन नियमों का पालन न करने से व्यक्ति को सभा में से निकाल दिया जाता है। नियम शब्द का इन सबसे भिन्न एक और अर्थ है जिसका प्रयोग भौतिक विज्ञान के नियमों के लिये किया जाता है। मार्शल के अनुसार वैज्ञानिक नियम साधारण साध्य (General proposition) अथवा निश्चितप्राय प्रवृत्तियों के वर्णन (Statement of tendencies) के सिवाय कुछ नहीं है।* ये नियम बताते हैं कि यदि अमुक प्रकार की परिस्थिति हो तो अमुक प्रकार का परिणाम निकलेगा। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि के नियम इसी प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के नियम अन्य नियमों से भिन्न होते हैं क्योंकि ये किसी को यह आज्ञा नहीं देते कि 'ऐसा करो' वरन् केवल यह बताते हैं कि "ऐसा होता है।'

अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस अर्थ में कि वैज्ञानिक नियमों का किया जाता है। ये नियम उन आर्थिक क्रियाओं के कार्य तथा कारण के परस्पर सम्बन्ध का बयान करते हैं जो मनुष्य के द्रव्य सम्बन्धी प्रयत्नों के फलस्वरूप होती हैं। ये नियम बताते हैं कि किसी परिस्थिति में मनुष्य किस लिये क्या आर्थिक कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिये, 'माग का नियम' यह बताता है कि जब कीमत बढ़ती है तो माग कम हो जाती है और जब कीमत गिरती है तो माग बढ़ जाती है। इसी प्रकार क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) यह बताता है कि यदि श्रम और पूंजी की मात्राओं में वृद्धि की जाय तो उत्पादन या वस्तु उत्पादन उस अनुपात में नहीं बढ़ेगा जिस अनुपात में कि श्रम और पूंजी की मात्राओं में वृद्धि की गई। इसी प्रकार के और भी बहुत से नियम अर्थशास्त्र में हैं। प्रो० मार्शल ने कहा है कि आर्थिक नियम अथवा आर्थिक प्रवृत्तियों के वर्णन वे सामाजिक नियम हैं जिनका सम्बन्ध

---

* "A scientific law is then nothing, but a general proposition, or statement of tendencies, more or less ceretain, more or less definite.'—Marshall Principles, P. 104.

मानव व्यवहार की उस शाखा से होता है, जिसमे कि प्रमुख हेतुओं की शक्ति को द्रव्य कीमत के मापदण्ड द्वारा नापा जा सके।*

किसी भी नियम की यह विशेषता होती है कि वह प्रत्येक दशा, काल तथा अवस्था मे लागू होता है। यदि कोई नियम एक समय तो लागू होता है परन्तु दूसरे समय लागू नही होता तो वह नियम अधूरा होता है। प्राकृतिक नियमो म यह गुण होता है कि वे हर अवस्था व काल मे सत्य होते हैं जैसे गुरुत्वाकर्षण नियम (Law of gravitation) सब स्थानो, काल व परिस्थितियो मे लागू होता है।

अर्थशास्त्र के नियम इस अर्थ मे नियम नही कहे जा सकते। अर्थशास्त्र के नियम सत्य अवश्य होते है परन्तु वे तभी सत्य होते है जबकि कुछ शर्तें जिनको अर्थशास्त्र मे 'यदि अन्य बात समान हो' (Other things being equal) के अन्तर्गत लिया जाता है, पूरी हो जाती हैं। यदि इन अन्य बातो मे कोई हेर-फेर हो जाता है तो अर्थशास्त्र के नियम सत्य नही होते। प्रो० पीगू ने कहा है कि नियम एक बडी प्रतिज्ञा (Major premiss) होती है तथा किसी समस्या के विशिष्ट तथ्य एक छोटी प्रतिज्ञा। जब नियम के वर्णन मे यथार्थता की कमी होती है तो उससे निकाले जाने वाले नतीजे मे भी साधारणतया वही दोष होगा और दुर्भाग्य से आर्थिक नियमो को यथार्थ रूप मे बयान करने का कार्य कठिनाई से ही आरम्भ हुआ है।** प्रो० पीगू ने इसके तीन कारण बताये हैं।

पहला, यह कि अर्थशास्त्र मे जिन सम्बन्धो को निश्चित किया जाता है वे बहुत से है। भौतिक शास्त्र मे मुख्य वस्तु अर्थात् गुरुत्वाकर्षण जो कि दूरी तथा खींचने वाली शक्ति के सम्बन्ध को बताता है, सब प्रकार के पदार्थों (Matter) के लिये समान रूप से लागू होता है। परन्तु आर्थिक जगत की मुख्य बाते, जैसे कि वे तालिकाये जो कि व्यक्तियो की सामूहिक इच्छाओ अथवा अनिच्छाओ तथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओ तथा सेवाओ के बीच के सम्बन्ध को बताती हैं, इतनी साधारण तथा क्रमबद्ध नही हैं। कीमत का नियम प्रत्येक वस्तु पर अलग-अलग लागू नही होता। अर्थशास्त्री केवल इतना कह सकता है कि बहुत सी वस्तुओ मे से किसी एक पर वह मूल्य लागू हो सकता है। इस प्रकार गतिशास्त्र (Dynamics) के समान अर्थशास्त्र का कोई एक ऐसा नियम नही है जो कि सब प्रकार की परिस्थितियो मे लागू हो सके। किन्तु अर्थशास्त्र मे बहुत से ऐसे नियम है जो कि समीकरण द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। परन्तु उनमे स्थिर राशियां (Constants) समान नही होतीं। इसी कारण स्थिर राशियो को मालूम करने का कार्य बडा कठिन होता है।

* "Economic laws, or statements of economic tendencies, are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by a money price."
—*Ibid P. 105.*

** Pigou—Economics of Welfare P, 8.

जाती है। परन्तु सागर मे परिस्थिति के बदल जाने के कारण ज्वार-भाटा समय से पहले या पीछे आ सकता है अथवा आता ही नही। अत ये निश्चित नही होते। इसी प्रकार अर्थशास्त्र के नियमो का सत्य होना या न होना बहुत सी परिस्थितियो पर निर्भर होता है। प्रो० केन्ज ने इस विषय मे कहा है कि अर्थशास्त्र से हम निश्चित नतीजो व नियमो का कोई पुज प्राप्त नही होता। इसके स्थान पर यह हमको मस्तिष्क का एक यन्त्र, विचारने का ढग, एक दृष्टिकोण तथा एक पहुँच प्रदान करता है। आर्थिक सिद्धान्त तथा आर्थिक विश्लेषण की ट्रनिग हमको ठोस आर्थिक समस्याओ को अच्छी प्रकार समझाने मे सहायता करती है और इस प्रकार हमको अपनी समस्याओ का वैज्ञानिक हल खोजने के लिये तैयार कर देती है। प्रो० राबिन्स का भी मत है कि अर्थशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान के नियमो के भेद पर जोर देने से उससे कम हानि होगी जितनी कि उनमे समता दिखाने मे होगी।* प्रो० राबिन्स ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि विभिन्न यन्त्रो की सहायता से हम अपने निरीक्षण (Observation) के क्षत्र को दीर्घकालीन अवधि तक फैला सकते है जैसे मछली के बाजार का निरीक्षण थोडे दिनो करने के बदले हम कीमतो तथा माग और पूर्ति के परिवर्तनो के आक्डे कई वर्षों के लिये एकत्र कर सकते है तथा मौसमी उतार चढाव तथा जनसख्या के परिवर्तनो को ध्यान मे रखते हुए इस प्रकार का एक अङ्क निकाल सकते है जो कि एक दीघकालीन माग की लोच के औसत का द्योतक हो। किसी हद तक इस प्रकार के हिसाब किताब से बडा लाभ है क्योकि यह इतिहास के उस युग की जिसका वह प्रतीक है, कुछ प्रचलित शक्तियो के बयान करने का एक सुविधाजनक ढग है तथा उससे हमको निकट भविष्य मे होन वाली कुछ बातो का भी आभास हो सकता है। परन्तु इसको हम सर्वव्यापी नियमो की सज्ञा नही दे सकते। वह भूत का वर्णन चाहे जितना भी ठीक करे परन्तु उसके विषय मे यह धारणा नही की जा सकती कि वह भविष्य को भी उसी प्रकार ठीक बयान करता रहेगा। परन्तु इतना होते हुए भी इसका व्यवहारिक महत्व बहुत अधिक है। प्रो० राबिन्स ने कहा है कि अर्थशास्त्र के वे आलोचक जो अर्थशास्त्र को वास्तविकता से दूर समझते हैं गलती करते हैं। यह बात सत्य है कि अर्थशास्त्र मे उन तथ्यो का ज्ञान जिनके आधार पर आर्थिक नियम बनाये जाते हैं उन तथ्यो के ज्ञान से भिन्न होता है जिन पर कि प्राकृतिक नियम बनाये जाते है। यह भी सत्य है कि आर्थिक विज्ञान की पद्धति प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धति से भिन्न होती है परन्तु इसका जरा भी यह अर्थ नही है कि अर्थशास्त्र के नियम केवल औपचारिक (Merely formal) पद के होते है

* It seems clear, from what has happened already that less harm is likely to be done by emphasising the difference between the social and the natural sciences than by emphasising their similar ties —Robbins— An Essay on the Nature and Significance of Economic Science—pp 111—112.

अथवा वे कृत्रिम रूप से स्थापित की गई परिभाषाओं से निकाले गये शास्त्रीय परिणाम हैं।

आर्थिक नियमों के विषय में प्रो० चैपमैन कहते हैं कि जब हम सामाजिक कार्य जिस पर कि इच्छा का प्रभाव होता है, से सम्बन्धित एक नियम बनाते हैं तो हम यह नहीं कहते कि प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट ढंग से कार्य करेगा वरन् हम यह कहते हैं कि सामूहिक रूप से आदमी अवश्य ही एक निश्चित ढंग से कार्य करेंगे। इस तरह इस प्रकार के नियमों में समूह की एकरूपता पर ही जोर दिया जाता है। प्रो० चैपमैन का मत है कि यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय कि आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की अपेक्षा सीमित रूप में सर्वव्यापी होते हैं तो भी इससे अर्थशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में कोई विशेष क्षति नहीं पहुँचेगी। एक सामाजिक नियम की सर्वव्यापकता वास्तव में ऊँची नहीं हो सकती क्योंकि नियम बनाने से पहले उन लोगों के विषय में बहुत जानकारी प्राप्त करनी, साधन जुटाने तथा जोखिम उठानी पड़ती है जिनके आधार पर नियम बनाये जाते हैं।* बहुत से विद्वानों का मत है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमों से किसी प्रकार भी नीची श्रेणी के नहीं हैं। अर्थशास्त्र के प्राय सभी नियमों के साथ यदि 'अन्य बातें समान हों' वाक्यांश जुड़ा रहता है जिसका यह अर्थ है कि अर्थशास्त्र के नियम तभी सच्चे होते हैं जबकि 'अन्य बातें समान हों, अर्थात् इस वाक्यांश में जो उपधारणायें की गई हैं वे पूर्ववत् रहें। परन्तु प्रत्येक नियम, चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा आर्थिक, तभी ठीक होता है जब कि वे सब परिस्थितियाँ मौजूद हों जिनके आधार पर वह नियम बनाया गया था। इस प्रकार रसायनशास्त्र का यह नियम कि एक भाग आक्सीजन तथा दो भाग हाइड्रोजन को मिला देने से पानी बन जाता है तभी सत्य होता है जबकि उसके नियंतार और दबाव की सब शर्तें पूरी हों। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण नियम की सत्यता भी कुछ बातों के पूरी होने पर ही निर्भर होती है—जैसे वस्तु पृथ्वी से एक निश्चित फासले पर हो, कोई दूसरी शक्ति किसी दूसरी दिशा में खींचने वाली न हो, हवा का कोई प्रभाव न हो आदि। इससे यह सिद्ध हुआ कि अर्थशास्त्र के नियमों के समान प्राकृतिक विज्ञानों के नियम भी कुछ शर्तों के पूरा होने पर ही सत्य होते हैं। इस प्रकार आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों के समान ही होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अर्थशास्त्री अपनी कमी को स्वीकार करता है, परन्तु वैज्ञानिक उसको स्वीकार नहीं करता। अर्थशास्त्र के कुछ ऐसे भी नियम होते हैं जो प्राय हर परिस्थितियों में लागू होते हैं जैसे यह नियम कि वचत-आमदनी और खर्च के अन्तर बराबर होता है अथवा क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम अथवा उपयोगिता ह्रास नियम आदि हर परिस्थिति में लागू होने वाले नियम हैं इसलिये हम यह कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र के नियमों का विषय मनुष्य होते हुये भी वे काल्पनिक नहीं हैं। अर्थशास्त्र के नियम साधारण प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं और वे ऐसा करने

* Chapman, Outlines of Political Economy p. 11

मे सफल है। इस प्रकार यह बात कहनी कि अर्थशास्त्र के नियमो के लिये 'नियम' शब्द का प्रयोग करना उचित नही है, सर्वथा अनुचित है। वास्तव मे अर्थशास्त्र के नियम उसी प्रकार कार्य और कारण मे सम्बन्ध स्थापित करते हैं जिस प्रकार कि भौतिक शास्त्र के नियम। वे वास्तविक होते है, काल्पनिक नही। यह ठीक है कि वे उस सीमा तक सत्य नही होते जिस सीमा तक कि भौतिक-शास्त्रो के नियम होते है। किन्तु इस कमी के होते हुये भी उनका व्यावहारिक महत्व जरा भी कम नही होता।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ
(Methods of Studying Economics)

उस तरीके या प्रणाली को जिसके द्वारा किसी विज्ञान मे किसी परिणाम या सत्य पर पहुँचा जाता है उस विज्ञान के अध्ययन की प्रणाली कहते है। विभिन्न विज्ञानो के अध्ययन के लिये साधारणत दो प्रणालियो का उपयोग किया जाता है। पहली निगम प्रणाली (Deductive method) तथा दूसरी आगमन प्रणाली (Inductive method)। निगम प्रणाली वह प्रणाली होती है, जिसके अनुसार कुछ आधारभूत तथा स्वत सिद्ध बातो को अपना आधार मान लिया जाता है और उसके उपरान्त उनके आधार पर हम उन सत्यो अथवा नियमो का प्रतिपादन करते है जिनका सम्बन्ध हमारे अध्ययन के विषय से होता है। संक्षेप में, निगमन प्रणाली की तर्क-शैली समष्टि या सामान्य (General) से व्यष्टि अथवा विशिष्ट (Particular) की ओर होती है। उदाहरण के लिये, अनुभव से हमें मालूम है कि सभी मनुष्य मरण-शील है। इस कारण हम यह कह सकते है कि राम, श्याम, मोहन आदि आदमी एक न एक दिन अवश्य मरेंगे। इसके विपरीत, आगमन प्रणाली मे हम किसी घटना से सम्बन्धित बातो का अध्ययन करते हैं और कुछ तथ्यो और आकडो को एकत्र करते है, तत्-पश्चात् उनकी परीक्षा करते हैं। इस प्रकार हम किसी एक नतीजे पर पहुँचते है। उदाहरण के लिये यदि हम एक कार्क पानी मे फेंके तो हम देखेंगे कि वह तैरने लगता है। यदि हम दूसरा फेंके तो वह भी तैरने लगता है। इसी प्रकार हम देखेंगे कि तीसरा, चौथा, पाँचवा, छटा आदि कार्क भी तैरने लगता है। इस प्रकार बहुत से कार्क पानी मे फेंकने के पश्चात् हम इस नतीजे पर पहुँच जायेंगे कि सब कार्क पानी पर तैरते हैं। इस नतीजे पर पहुँच कर हम अपने नतीजे की सत्यता की जाँच विभिन्न स्थानो तथा कालो मे करेंगे। यदि हम देखते है कि हर परिस्थिति मे कार्क पानी पर तैरते हैं तो हम एक नियम के रूप मे कहेंगे कि सब कार्क पानी पर तैरते हैं। इस प्रकार आगमन प्रणाली मे हम विशिष्ट तथा पृथक तथ्यो के अध्ययन और अवलोकन द्वारा नियमो का निर्माण करते है। माल्थस ने अपना जनसंख्या के सिद्धान्त को इसी पद्धति को अपना कर प्रतिपादित किया था।

निगमन और आगमन, दोनो प्रणालियो के अध्ययन के अपने अपने कुछ गुण व दोष हैं। इसी कारण अर्थशास्त्रियो मे आपस मे इस बात पर बड़ा मतभेद रहा

कि अर्थशास्त्र के अध्ययन की उचित प्रणाली क्या होनी चाहिये। माल्थस को छोड़ कर प्रायः सभी क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने निगमन प्रणाली का उपयोग किया। इन लोगों ने अपने तर्क का आधार साधारण मानव स्वभाव से सम्बन्धित कुछ बातों को बनाया। जैसे, मनुष्य सदा ही अपने स्व हित को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहता है। वह सस्ते बाजार में खरीदता है तथा महगे बाजार में बेचता है। प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करता है कि उसको अतिरिक्त धन कम से कम बलिदान करके प्राप्त हो जाय, आदि। उनके कुछ नियम कृषि विज्ञान के अन्तर्गत उत्पादन ह्रास-नियम पर भी आधारित थे। इन बातों के आधार पर उन्होंने लाभ, मजदूरी, लगान, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी बहुत से नियम बनाए। परन्तु ये सब नियम इंगलैंड की उस समय की परिस्थिति पर आधारित थे जिस समय कि इन नियमों को बनाया गया था। यदि क्लासिकल अर्थशास्त्री अपने इन नियमों को केवल इंगलैंड के लिये ही उपयुक्त समझते तो कोई हानि न थी, परन्तु उन्होंने एक बड़ी भारी भूल की और वह यह थी कि उन्होंने यह समझा कि उनके नियम न केवल इंगलैंड ही के लिये वरन् सारे संसार के लिये उपयुक्त हैं। उनकी यह धारणा गलत थी। इसका कारण यह था कि जिस समय इन नियमों का प्रतिपादन किया गया था उस समय संसार के सारे देश इंगलैंड के समान उद्योग-धन्धों तथा कृषि में उन्नत नहीं थे। इसलिए जो आर्थिक नीति इंगलैंड के लिये उपयुक्त थी वह दूसरे देशों के लिये उपयुक्त न थी। उदाहरण के लिये इन अर्थशास्त्रियों द्वारा बताई गई हस्तक्षेप न करने की नीति तथा अबाध प्रतियोगिता की नीति इंगलैंड के लिये तो उपयुक्त थी, परन्तु वह जर्मनी, अमेरिका, भारत आदि देशों के लिये उपयुक्त नहीं थी। यही कारण है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों व नीतियों की जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में बड़ी कड़ी आलोचना की गई।

जर्मन लेखकों ने कहा कि अर्थशास्त्र के अध्ययन की प्रणाली निगमन नहीं वरन् आगमन है, क्योंकि मनुष्य सदा ही स्व. हित से प्रेरित होकर कार्य नहीं करता। स्व हित के अतिरिक्त मनुष्य में देश-प्रेम, पारिवारिक प्रेम, दया, धर्म, त्याग आदि भावनायें भी होती हैं जो उसके कार्य पर प्रभाव डालती हैं इसलिये स्व. हित की भावना पर आधारित नियम अवश्य ही अपूर्ण होंगे। इसके अतिरिक्त, परिस्थितियां सदा बदलती रहती हैं। इसलिये एक प्रकार की परिस्थितियों के अन्तर्गत बनाये गये नियम हर काल और देश के लिये उपयुक्त नहीं हो सकते। जर्मन अर्थशास्त्रियों में लिस्ट तथा अमेरिका में केरे ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों तथा उन के क्षेत्र तथा पद्धति की बड़ी कड़ी आलोचना की। इनसे पहले **सिसमोन्डी** भी क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की आलोचना कर चुका था। सिसमोन्डी वास्तव में एक इतिहासकार था तथा वह अर्थशास्त्र को नैतिक शास्त्र की एक शाखा समझता था। उसने इस बात पर जोर दिया था कि आर्थिक तथ्यों को उनकी परिस्थितियों का ध्यान रखकर ही अध्ययन किया जाना चाहिये। वह कहता था कि हमको तथ्यों

सत्य की वास्तविकता या यथार्थता को जाचने का कोई ढग नही है। इस पद्धति मे यह पता लगाना कठिन है कि जिस सत्य के आधार पर हम चल रहे हैं वह कहा तक विश्वसनीय है। यह निश्चित बात है कि यदि सामान्य सत्य ही गलत है तो फिर परिणाम के ठीक होने का प्रश्न ही नही उठता। अग्रेजी क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के साथ भी यही हुआ। वे जिन सामान्य सत्यो को अपना आधार मान कर चले थे, वे सब देशो व कालो के लिये उपयुक्त नही हैं। उदाहरण के लिये आदम स्मिथ का यह कहना कि यदि हर मनुष्य अपने हितो की रक्षा करता रहे तो उसमे सारे समाज का हित स्वय बढ जायेगा, व्यवहार मे गलत है। इसी प्रकार उनकी अबाध व्यापार की नीति भी सब देशो व कालो के लिये ठीक नही है। स्वय इंगलैंड ने, जिसने कि इस नीति को उस समय अपनाया था जबकि क्लासिकल विचार धारा का वहा पर बोल बाला था, प्रथम महायुद्ध तथा १९२९ के पश्चात् होने वाली मदी के समय इसको तिलाञ्जली दे दी। अमेरिका, जो पहले अबाध व्यापार की नीति के विरुद्ध था, आजकल उस नीति के पक्ष मे है। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि जिन अर्थशास्त्रियो ने इस प्रणाली को अपनाया था वे यह बात भूल गये कि जिन आधारो के ऊपर उन्होने अपने नतीजे निकाले थे यदि वही गलत या अपर्याप्त हैं तो उनसे निकाले गये नतीजे कैसे ठीक हो सकते है। इसी कारण उनका कर्तव्य था कि वे अपने परिणामो की सत्यता को व्यवहारिक दृष्टि से जाचते तथा उसके अनुसार उनके आवश्यक परिवर्तन करते। प्रो० जीड (Gide) ने लिखा है कि पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो का दोष यह नही था कि उन्होने निगमन प्रणाली का बहुत अधिक प्रयोग किया वरन् उनका यह दोष था कि उन्होने काल्पनिक चीजो को वास्तविक मान लिया।* जैसे उन्होने एक आर्थिक मनुष्य की कल्पना की जो कि स्वार्थ हित का पुतला था। उन्होने इस बात के जाचने की परवाह नही की कि इस प्रकार का व्यक्ति ससार मे पाया जाता है या नही। इस प्रकार के आदमी को अपना आधार मान कर उन्होने जो नतीजे निकाले वे व्यवहार मे कैसे ठीक हो सकते थे।

आगमन प्रणाली के गुण—आगमन प्रणाली का पहला गुण यह है कि यह प्रणाली जीवन की वास्तविक घटनाओ के ऊपर आधारित है। इस लिये यह वास्तविकता के बहुत समीप है। इसका दूसरा गुण यह है कि यह निगमन प्रणाली पर आधारित परिणामो की सत्यता जाचने के लिए एक बहुत उपयोगी ढग है। उदाहरण के लिये, निगमन प्रणाली के समर्थको ने जो नियम यह सोचकर बनाये थे कि मनुष्य की आदत अपरिवर्तनशील है उनके अन्दर देश और काल के अनुसार

---

* "The mistake of the classical school did not consist in to frequent use of the abstract method, but in having too much mistaken the abstraction for the reality."

होते हैं। उदाहरण के लिये, अंग्रेजी (Poor Law) इस सिद्धान्त पर आधारित था कि यदि मजदूर को राज्य की ओर से सहायता दी जायेगी तो उससे मजदूरी कम हो जायेगी। इसके विपरीत, वह सिद्धान्त, जिसके अनुसार स्कूल के बच्चो को भोजन दिया जाता है तथा वूढो को पेंशन दी जाती है, इस बात पर आधारित था कि राज्य द्वारा दी गई सहायता का कोई प्रभाव नही पडता और यदि पडता भी है तो बहुत कम। इन दोनो प्रकार के मतो के पक्ष मे कुछ आकडे प्राप्त किये ही जा सकते है। देखा गया है कि एक ही प्रकार के तथ्यो पर हर दो राजनीतिज्ञो ने विदेशी व्यापार सम्बन्धी दो भिन्न-भिन्न आर्थिक नीतियो को निर्धारित किया है। तथ्य कभी भी सीदे सादे नही होते, वे पेचीदा होते है। इस लिये उनको समझने से पहले उनकी पेचीदगियो को खोलने के लिय सैद्धान्तिक विश्लेषण की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार तथ्यो और सिद्धान्त मे हमको जो विरोधाभास विदित होता है वह भ्रमवश होता है। वास्तव मे ये एक दूसरे के सहायक होते है। व्यवहार मे हम किसी तथ्य पर उस समय तक विचार नही कर सकते जब तक कि उसका सम्बन्ध दूसरे तथ्यो से स्थापित न किया जाय। यह सम्बन्ध ही सिद्धान्त होता है। तथ्य स्वय कुछ नही कहते। उनसे कोई नतीजा निकालने से पूर्व उनको क्रम मे रखना पडता है तथा इस प्रकार तथ्यो को क्रम मे रखने का नाम ही सिद्धान्त है। अर्थशास्त्र मे हम पहले परीक्षा करते हैं फिर एक ही प्रकार के तथ्यो को एक स्थान पर एकत्र करते है। तत्पश्चात तर्क द्वारा देखते है कि यदि इनको किसी दूसरे क्रम मे रखा जाय तो क्या परिणाम होगा। इस प्रकार एक दूसरे से सम्बधित तथ्यो के आधार पर हम एक नतीजे पर पहुच जाते हैं कि कारण क्या है तथा उसका कार्य क्या है। इस सबसे यह बात सिद्ध हुई कि केवल आगमन प्रणाली से हम अर्थशास्त्र मे कोई नियम नही बना सकते। नियम बनाने के लिये निगमन प्रणाली का सहारा लेना ही पडेगा। अर्थशास्त्र मे इस लिये इसकी आवश्यकता है कि मनुष्य पर किसी प्रकार भी प्रयोग करना कठिन है। इस लिये निगमन प्रणाली के सर्वथा बहिष्कार से हमारा मानव स्वभाव सम्बन्धी किसी निर्णय पर पहुचना कठिन होगा।

अपरच, यह भी होता है कि भिन्न-भिन्न कारण एक ही परिणाम का जन्म देते हुए देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये, मूल्य बढने के कई कारण हो सकते है जैसे चलन मे मुद्रा की मात्रा का बढना, साख का अधिक निर्माण किया जाना, सट्टेबाजो की कार्यवाही, उत्पादन कम होना, युद्ध का होना आदि। प्राकृतिक विज्ञानो मे तो फल को प्रयोग द्वारा जाचा जा सकता है परन्तु अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञान मे प्रयोग द्वारा फल की जाच नही की जा सकती।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र की बहुत सी ऐसी समस्यायें है जिनका एक दूसरे से बडा गहरा सम्बन्ध होता है। इन समस्याओ के बीच केवल आगमन पद्धति द्वारा सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। इस कार्य के लिये हमको निगमन प्रणाली का सहयोग भी आवश्यक है।

उसके भिन्न-भिन्न भागों के पारस्परिक तथा उसका अन्य सब टुकड़ों से सम्बन्ध मालूम करें। ऐसा करने में हम निरन्तर निगमन व आगमन दोनों प्रणालियों का प्रयोग करते हैं।

चीजों का निरीक्षण करने से हमको इस बात का पता चल जाता है कि एक घटना दूसरी के साथ घटी है या एक दूसरे के आगे पीछे घटी हैं। परन्तु विश्लेषण और तर्क के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि कारण कौन है तथा उसका कार्य क्या है। यदि हम तर्क करने में जल्दी करते हैं तो हम गलती कर सकते हैं। हमारे अनुभव तथा सावधान-जाँच हमको यह बतायेंगे कि वे कारण, जिनमें कोई घटना घटी है, अकेले-अकेले, बिना दूसरे कारणों की सहायता के कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सके। हो सकता है कि वे कारण जो हमारी निगाह में आये हैं उस घटना को घटने से रोकते हो तथा वह घटना कुछ दूसरे कारणों से घटी हो जो कि हमारी निगाह में नहीं आये है। इसी कारण प्रो० बोल्डिंग (Boulding) ने कहा है कि अर्थशास्त्र में प्रयोग का बहुत कम महत्व है। उदाहरण के लिये, हम व्यापारियों को दो वर्गों मे बाट कर तथा उनमें से एक वर्ग के व्यापारियों को नीची ब्याज दर के प्रभाव में रख कर तथा दूसरे वर्ग वालों को ऊंची ब्याज दर के प्रभाव में रख कर व्यापारियों के ऊपर ब्याज दर के परिवर्तन के प्रभाव का अनुमान नहीं लगा सकते। उन्होंने यह भी कहा है कि अर्थशास्त्र में अंकशास्त्र विधि पर भी अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही नतीजे पर पहुँचने के लिये एक समय जो कारण काम करते हैं हो सकता है कि वे दूसरे समय न करें। उदाहरण के लिये हो सकता है कि आकड़ों के आधार पर हमको पता चले कि चीनी की कीमत बढ़ जाने के कारण इसके उपभोग में कमी आ गई है। परन्तु इसमें हम इस नतीजे पर नहीं पहुँच सकते कि उपभोग में कमी का कारण केवल कीमत में वृद्धि है। कीमत में वृद्धि न होने पर भी (और यहाँ तक कि कभी-कभी कीमत में कमी पर भी) उपभोग कम हो सकता है। उदाहरण के लिये, यह तब हो सकता है जबकि लोगों को चीनी के बदले कोई सस्ता स्थानापन्न पदार्थ मिल जाय अथवा लोगो में झूठे ही इस बात का प्रचार हो जाय कि चीनी खाने से बीमारी हो जाती है। प्रो० बोल्डिंग का मत है कि अंकशास्त्र-विधि का सबसे खतरनाक प्रभाव यह है कि यदि हम किन्हीं दो चीजों को कुछ हालतों में एक ही स्थान पर देख लेते हैं तो हम समझ बैठते हैं कि वे अवश्य ही एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जहाँ तक अर्थशास्त्र में इस विधि के प्रयोग का प्रश्न है उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक राशियों तथा सम्बन्धों का वास्तविक जगत बहुत पेचीदा होता है। इस कारण बिना पर्याप्त प्रशिक्षा के एक छोटी सी घटना के सहारे समस्त पेचीदा आर्थिक प्रभावों को समझना बड़ा कठिन होता है। ऐसी अवस्था में हम जो कार्य करते हैं वह यह है कि सबसे पहले हम अपने मस्तिष्क में कुछ ऐसी आर्थिक पद्धतियों की धारणायें कर लेते हैं जो वास्तविकता से कहीं सरल होती है। उसके पश्चात् हम इन

पद्धतियो मे निहित सम्बन्धो का पता लगाते है, और तब उसमे अधिकाधिक पेचीदा धारणाओ का समावेश करते जाते हैं और अन्त मे हम वास्तविकता का पता लगा लेते हैं। प्रो० बोल्डिग का मत है कि यह पद्धति शुद्ध गणित पद्धति के समान है जिसमे कि हम अत्यन्त सरल साध्यो को लेकर चलते है। उसके पश्चात् सबूत दे-दे कर हम ऐसे अधिक पेचीदा साध्यो की धारणा करते हैं जिनको हम देख नही सकते। इसी प्रकार शुद्ध अर्थशास्त्र मे भी हम कुछ सरल धारणाओ से आरम्भ कर ऐसे नतीजे निकालते हैं जो कि वास्तविक जगत मे सच्चे उतरते हैं।

यह तो रही वर्तमान घटनाओ की बात, यदि हम बहुत पुराने समय की घटनाओ पर भी विचार करते हैं तो भी हमे इस बात पर विचार करना पडता है है कि घटना घटने से लेकर आज तक आर्थिक जीवन के स्वभाव मे क्या-क्या परिवर्तन हो गये हैं। इसका कारण यह है कि एक मौजूदा समस्या देखने मे भले ही किसी पुरानी समस्या के सदृश्य लगती हो किन्तु यदि उसका वैज्ञानिक ढग से अध्ययन किया जाय तो दोनो के वास्तविक स्वभाव मे अवश्य ही अन्तर पाया जायगा। जब तक इस प्रकार का अध्ययन न किया जाय तब तक एक घटना से दूसरी के लिये कोई वास्तविक तर्क ग्रहण नही किया जा सकता।

प्रो० मार्शल का मत है कि क्रमबद्ध वैज्ञानिक तर्क ज्ञान की वृद्धि मे वही कार्य करता है जो कि मशीन वस्तुओ के उत्पादन मे करती है। इसका कारण यह है कि मशीनो का प्रयोग वही पर किया जाता है जहाँ एक कार्य को बार-बार एक ही ढग मे करना पडता है। यदि किसी चीज के बनाने मे बहुत सी छोटी-छोटी प्रक्रियाओ की आवश्यकता हो तो उस दशा मे चीज को हाथ से बनाना ही श्रेयस्कर होता है। इसी प्रकार ज्ञान के विषय मे भी यह बात है कि जब अनुसधान अथवा तर्क के किसी ढग मे एक ही कार्य को बार-बार तथा एक ही ढग से किया जाना आवश्यक है तब उस ढग को एक पद्धति का रूप देना, तर्क के ढग को व्यवस्थित करना तथा साधारण नियम बनाना ही अच्छा होता है।

प्रो० मार्शल इसके पश्चात् कहते हैं कि यह सत्य है कि आर्थिक समस्यायें नाना प्रकार की होती हैं, आर्थिक कारण विभिन्न ढगो से एक दूसरे से इतने घुले मिले रहते है कि वैज्ञानिक तर्क पद्धति से शायद ही हम अपने गन्तव्य पर पहुँच सकें। परन्तु फिर भी हमारे लिये इस ढग को न अपनाना मूर्खता की बात होगी। इसका जो थोडा उपयोग हो सकता है वही काफी है और किया जाना चाहिये। यह सोचना भी उतनी ही मूर्खता होगी कि केवल विज्ञान ही हमारे सब कार्य सिद्ध कर देगा और व्यावहारिक अन्त प्रेरणा तथा प्रशिक्षित सामान्य बुद्धि (Trained common sense) के लिये कोई कार्य ही न बचेगा। प्राकृतिक अन्त प्रेरणा शीघ्रता से उन विचारो को छाट लेती है तथा उनको उचित रूप से सयोजित कर देती है जिनका सम्बन्ध हमारी विचाराधीन समस्या से होता है। परन्तु यह छाटती है केवल उन्ही घटनाओ मे से जो कि व्यावहारिक जगत मे घटित होती हैं।

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण करते समय हम मानव व्यवहार से सम्बन्धित बहुत सरल उप-धारणायें करते हैं। तब हम इस बात के जानने का प्रयत्न करते हैं कि यदि ये उप-धारणायें वास्तविक हो तो सारी आर्थिक पद्धति का क्या रूप होगा। इस प्रकार हम आर्थिक पद्धति की एक सीधी सादी तसवीर बना सकते हैं। इस तसवीर की पूर्ण रूप से जानकारी कर लेने के पश्चात् हम अपनी प्रारम्भ मे की गई *उप धारणाओ म इस प्रकार के परिवर्तन करके, जिससे कि वे वास्तविक जगत क* समीप आ जायें, यह देखते हैं कि हमारी तसवीर का कैसा रूप हो गया। परन्तु यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि हमारी यह तसवीर वास्तविक जगत का पूर्ण रूप से दिग्दर्शन नही करा सकती क्योकि वास्तविक जगत सदा ही अपनी तसवीर से अधिक पेचीदा होता है। इसी कारण विद्यार्थी कभी-कभी यह समझ बैठते है कि आर्थिक विश्लेषण वास्तविकता से दूर होता है। परन्तु यह बात सोचने का अर्थ अर्थशास्त्र के समस्त स्वभाव को समझने मे गलती करना है। आर्थिक विश्लेषण आर्थिक जीवन का पूर्ण चित्र नही होता, यह उसका एक मान चित्र होता है। जिस प्रकार हम यह आशा नही कर सकते कि मान चित्र प्रत्येक पेड, मकान तथा नयनगोचर प्रदेश के एक एक घास के तिनके को दिखायेगा उसी प्रकार हम यह आशा नही कर सकते कि आर्थिक विश्लेषण वास्तविक आर्थिक व्यवहारो से सम्बन्धित प्रत्येक छोटी छोटी बात का दिग्दर्शन करायेगा। वह मानचित्र जिसमे बहुत अधिक छोटी छोटी चीज दिखाई जाती है मानचित्र के रूप मे बेकार है। इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण मे हमको छोटी छोटी बातें देखने का प्रयत्न नही करना चाहिये।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे पाठक यह बात समझ गये होगे कि अर्थशास्त्र के अध्ययन की कोई एक रीति नही है। अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिय *निगमन और आगमन दोनो ही रीतियो का प्रयोग किया जाता है।* अर्थशास्त्र के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमे आगमन प्रणाली का प्रयोग किया जा सकता है परन्तु दूसर कुछ क्षेत्रो मे इसका प्रयोग नही किया जा सकता। प्रणाली का चुनाव समस्या के अनुसार किया जाता है। जिस क्षेत्र मे आसानी से पर्याप्त सामग्री एकत्रित की जा सकती है, जहा प्रकृति का प्रभाव अधिक होता है, जहा घटना म परिवर्तन करके परिणाम पर विचार हो सकता है तथा जहा मनुष्य के निजी स्वभाव का अधिक महत्व नही होता, वहा पर आगमन प्रणाली ही अधिक लाभदायक होती है। उत्पादन का अध्ययन करने के लिये यह पद्धति बहुत ही उपयुक्त है। माल्थस का जनसख्या का नियम, पूजी का सचय नियम आदि आगमन प्रणाली के द्वारा बनाय गये हैं। इसक विपरीत, उपभोग की समस्याओ का अध्ययन करने के लिए निगमन प्रणाली उपयुक्त है क्योकि प्रत्येक मनुष्य की मनोवृत्ति और स्थिति भिन्न भिन्न होने के कारण उसका अवलोकन नही किया जा सकता। उपयोगिता ह्रास नियम, समसीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत का नियम आदि जो उपभोग सम्बन्धी मुख्य नियम हैं

* K F Boulding—Economic Analysis P. 15

निगमन प्रणाली द्वारा ही बनाये गये हैं। विनिमय और वितरण की समस्याओं का अध्ययन करने मे लिये कहीं निगमन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है तो कहीं आगमन प्रणाली का। ब्याज, मजदूरी, लगान आदि के नियम निगमन प्रणाली द्वारा बनाये गये है परन्तु इन नियमो मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पडती है। उदाहरण के लिये, रिकार्डो के लगान व मजदूरी के नियम आज के युग मे सत्य नहीं है। आजकल के अर्थशास्त्री लगान का कारण भूमि की उर्वरा शक्ति मे भिन्नता नहीं मानते वरन् भूमि की स्वल्पता मानते हैं। हमारे देश मे तो लगान अभी तक रीति-रिवाज के द्वारा ही तय होता आ रहा है। इसी प्रकार आजकल रिकार्डो का मजदूरी का यह नियम कि मजदूरी जीवन निर्वाह की सीमा से न कम हो सकती है और न अधिक, व्यावहारिक सत्य नहीं है। इसी कारण इन नियमो मे आगमन प्रणाली के द्वारा आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया गया है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिये दोनों ही रीतियो का प्रयोग किया जाता है। जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सोमलर (Schomller) ने, जिसका समर्थन मार्शल ने भी किया है, ठीक ही कहा है, "आगमन और निगमन प्रणालियां दोनों ही वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार चलने के लिये दाये और बाये पैर आवश्यक हैं।"* परीटो (Pareto) ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि रीति के ऊपर वाद विवाद केवल समय का नष्ट करना है। इस विज्ञान का ध्येय आर्थिक समरूपताओं (economic uniformities) की खोज करना है और किसी भी उस मार्ग पर चलना अथवा किसी भी उस रीति का अनुसरण करना जिसके द्वारा ध्येय पूर्ति सम्भव है, सदा ही उपयुक्त है। जैसा हम कह चुके है प्रो० मार्शल ने भी कहा है कि वैज्ञानिक पद्धति से सम्बन्धित पुस्तकों मे कारण और कार्य के बीच सम्बन्धो की खोज करने के लिये जो साधन काम मे लाये गये है उनको अर्थशास्त्रियों को भी काम मे लाना पडेगा। खोज की कोई ऐसी पद्धति नही है जिसको कि उचित रूप से अर्थशास्त्र की पद्धति कहा जा सके। प्रत्येक पद्धति का उचित स्थान पर चाहे अकेले चाहे अन्य के संयोग में प्रयोग करना चाहिये।** इस प्रकार अर्थशास्त्र का अध्ययन करने की सही प्रणाली का हल आगमन अथवा निगमन प्रणाली नही है वरन् आगमन और निगमन दोनो प्रणालियां है।*** यहां यह बात बताने योग्य है कि अर्थशास्त्रियो ने निगमन और आगमन प्रणालियो मे जो भेद किया है वह केवल सिद्धान्त तक ही रखा है, व्यवहार मे उन्होने दोनों प्रणालियो का ही प्रयोग किया है।

---

* 'Induction and deduction are both needed for scientific thought as the right and left foot are both needed for walking "—*Schmoller*.

** Marshell—Principles of Economics, p 91.

*** 'The true solution of the contest about method is not to be found in the selection of deduction or indution, but in the acceptance of deduction and induction."—Wagner.

आर्थिक उप-धारणायें
(Economic Assumptions)

अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य से है। प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव, इच्छायें आदि एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इसी कारण अर्थशास्त्र के नियम बनाते समय अर्थशास्त्री को कुछ उप-धारणायें करनी पडती हैं जिनका 'यदि अन्य बातें समान हों' के अन्तर्गत बयान किया जाता है। इनमे से कुछ उप-धारणाय इस प्रकार हैं—

(१) अर्थशास्त्र मे हम यह उप-धारणा करके चलते हैं कि मनुष्य का व्यवहार विवेकपूर्ण (Rational) होगा। दूसरे शब्दो मे, हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य साधारणत वही काय करगा जो कि एक साधारण बुद्धि के आदमी मे करने की आशा की जाती है। वह आदमी न तो मूर्ख ही होगा और न बहुत चतुर हो। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति को एक दुकान से १८ रु० का एक जोडा जूता मिलता है तथा दूसरी दुकान से उसी प्रकार का जूता २१ रु० का मिलता है तो वह व्यक्ति १८ रु० का ही जूता खरीदेगा जब तक कि उसके ऊपर किसी दूसरी बात का प्रभाव न होगा जैसे कि वह समाज मे अपने आप को ऊचा उठाने के विचार से महगी दुकान से खरीद सकता है अथवा इसलिये खरीद सकता है कि मजदूरो को उचित मजदूरी मिले अथवा इसलिये खरीद सकता है कि देशी उद्योग उन्नत हो जैसे कि कांग्रेस वाले खद्दर को गाधी आश्रमो से खरीदते हैं चाहे वह अन्य कपडो से महगा ही क्यो न हो। परन्तु ऐसी बात कम लोग करते हैं। जन-साधारण सस्ती दुकान से ही खरीदेंगे। अर्थशास्त्र मे जनसाधारण के कामो मे पाई जाने वाली समानता के आधार पर नियम बनाये जाते हैं।

प्रो० राबिन्स का कहना है कि साधारण बोलचाल मे विवेकपूर्ण कार्य उस कार्य के अर्थ मे लिया जाता है जो कि नैतिक दृष्टि से करना उचित होता है, परन्तु आर्थिक विश्लेषण मे कार्य की नैतिकता के सम्बन्ध मे कोई उप-धारणा नही की जाती। अर्थशास्त्र मे व्यक्तियो की मान्यताओ का ध्यान रखा जाता है। परन्तु इस बात का ध्यान नही रखा जाता कि ये मान्यतायें मूल्यवान हैं या नही अर्थशास्त्र में विवेकपूर्ण आचरण केवल उसी को कहा गया है जो कि सगत (Consistent) होता है। सगत वही कहा जायगा जबकि पूर्ण सन्तुलन की स्थिति म मनुष्य को वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने मे कोई लाभ न हो। एक दूसर अर्थ मे भी तर्कवादी बर्ताव का प्रयोग किया जाता है और वह है सकल्पी (Purposive)। राबिन्स कहते है कि यदि मनुष्य का व्यवहार सकल्पी न हो तो साधन तथा लक्ष्यो के बीच के सम्बन्ध का विचार ही अर्थहीन हो जायगा। इस प्रकार यदि सकल्पी कार्य न होते तो आर्थिक घटनायें न होतीं। परन्तु सब सकल्पी कार्य उचित नही होते। सकल्पी कार्य को जितना-जितना अपने विषय मे ज्ञान होता जाता है उतना ही उतना वह उचित होता जाता है।

(२) अर्थशास्त्र मे यह धारणा भी करके चला जाता है कि यदि एक व्यक्ति कपडे के स्थान पर किताब मोल लेता है तो वह किताब से अधिक उपयोगिता प्राप्त करने की आशा रखता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति नौकरी के बदले व्यापार करता है तो यह आशा की जाती है कि वह आदमी यह समझता है कि उसे व्यापार मे नौकरी की अपेक्षा कम कष्ट होगा या अधिक लाभ होगा। इस उप-धारणा का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को अपनी माग तथा अधिमानता (Preference) का पूर्ण ज्ञान है।

(३) क्लासिकल अर्थशास्त्री एक आर्थिक व्यक्ति की उपधारणा करके चले थ। आर्थिक व्यक्ति के सामने सदा ही स्व हित का ध्यान रहता था। उपभोक्ता के रूप मे वह अपनी आय से अधिक से अधिक तुष्टि (Satisfaction) प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। इस कारण वह अपनी आय को उन चीजो पर खर्च करता था जो कि उसको दूसरी चीजो की अपेक्षा अधिक तुष्टि प्रदान करती थी। उत्पादक के रूप मे वह अपने उत्पादन को उस सीमा तक बढाता था जिस पर कि उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता था। मजदूर के रूप मे वह अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करता था तथा मिल-मालिक के रूप मे वह कम से कम मजदूरी देने का उपाय करता था। रुपया उधार देते समय वह अधिक से अधिक ब्याज लेता तथा उधार लेते समय कम से कम ब्याज देने की चेष्टा करता था। इस प्रकार आर्थिक व्यक्ति के सामन केवल आर्थिक लाभ का ही दृष्टिकोण रहता था। इसका अर्थ यह नही है कि क्लासिकल अर्थशास्त्री यह नही जानते थे कि मनुष्य के अन्दर आर्थिक विचारो के अतिरिक्त दूसरे विचार भी होते हैं, परन्तु उन्होन केवल इन्ही विचारो का, दूसरा से अलग करके, अध्ययन किया था। इसका कारण यह था कि उनकी निगमन पद्धति के लिय यह विचार सबसे उपयुक्त था। अपने व्यापारिक सम्बन्धो मे मनुष्य के सामने यह विचार ही सबसे महत्वपूर्ण होता है। मनुष्य के दूसरे विचार इतन अधिक तथा इतने अनिश्चित होते है कि उन सबका प्रभाव जानना बडा कठिन होता है।

आजकल के अर्थशास्त्रियो ने 'आर्थिक व्यक्ति के स्थान पर 'औसत व्यक्ति' (Average man) की धारणा की है। प्रो० मार्शल के शब्दो मे यह व्यक्ति हाड मास का बना हुआ होता है। व्यापारिक सम्बन्धो म इसके ऊपर स्व हित का ही अधिक प्रभाव रहता है परन्तु स्व हित का प्रभाव ही उस पर एकमात्र प्रभाव नही होता वरन् उसके ऊपर परिवार, देश आदि के प्रेम का प्रभाव भी होता है। वह दूसरो से प्रशसा प्राप्त करने के लिये भी कार्य करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र वास्तविक आदमी का अध्ययन करता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह आवश्यक नहीं है कि वह औसत व्यक्ति वास्तविक जगत मे पाया ही जाय। इसका कारण यह है कि औसत व्यक्ति के कार्य व्यक्ति-व्यक्ति के अलग अलग कार्य नही होते वरन् सारे समाज के व्यक्तियो क कार्यों के औसत मात्र होते हैं। हम सभी जानते हैं कि औसत

निकालने मे व्यक्ति-विशेष की विशेषता औसत मे घुल मिल जाती है। औसत व्यक्ति मे सब व्यक्तियो के सामूहिक कार्य की झलक तो दिखाई दे सकती है परन्तु किसी एक व्यक्ति के पूर्ण कार्य का आभास उससे नही मिल सकता।

इस प्रकार हमारे विचार म 'औसत व्यक्ति' की धारणा लगभग आर्थिक व्यक्ति की धारणा के समान ही है। हा, उसमे प्रेम, प्रशसा, आवेग, आदि बातो का समावेश कर उसे एक नया रूप दे दिया गया है।

(४) क्लासिकल अर्थशास्त्री यह धारणा भी करके चले थे कि सामाजिक व्यवस्था पूंजीवादी है। अभी तक जो आर्थिक नियम अर्थशास्त्र मे पाये जाते है वे रूस जैसी सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के लिये उपयुक्त नही हैं। इसका कारण यह है कि ये नियम एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की उपधारणा करके बनाये गये है जिसमे माग और पूर्ति की आर्थिक शक्तियो को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को काम करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। परन्तु शर्त यह होती है कि वह कार्य नियमपूर्वक किया जाय। समाजवादी व्यवस्था मे व्यक्ति को कार्य करने की इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती। इसी कारण ऐसे समाजो पर इन आर्थिक नियमो का प्रभाव देखने को नही मिल सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि आर्थिक नियम बेकार है। आजकल ससार के अधिकतर देशो मे पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की प्रधानता है तथा व्यक्ति को कमोवेश कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। इस कारण आर्थिक नियम ससार के अधिकतर देशो मे कार्य करते हुए देखे जाते हैं।

(५) अर्थशास्त्र मे यह उपधारणा भी की जाती है कि व्यक्ति विधि विहित कार्य करता है तथा वैध ढग से अपनी जीविका का उपार्जन करता है। जो व्यक्ति वैधरूप से अपनी जीविका का उपार्जन नही करते, जैसे चोर, डाकू आदि उनका अर्थशास्त्र मे अध्ययन नही किया जाता। इसी प्रकार अर्थशास्त्री चोर बाजारी करने वालो तथा धोखेबाजी से माल इधर-उधर भेजने वाले लोगो के कार्यो मे भी दिलचस्पी नही लेता।

(६) इनके अतिरिक्त आवश्यकता के अनुसार और बहुत सी उपधारणाय भी की गई हैं। उदाहरण के लिये बेजहाट (Bagehot) ने आर्थिक उपधारणाओ के अन्तर्गत केवल श्रम और पू जी की स्वतन्त्र गतिशीलता की उपधारणा की थी अर्थात् उसका कहना था कि श्रम और पू जी बिना रुकावट के एक स्थान तथा पेशे को छोडकर दूसरे स्थान तथा पेशे मे जा सकते हैं।

(७) मूल्य का सिद्धान्त इस धारणा को लेकर बनाया गया है कि व्यक्ति जिन चीजो को चाहता है उन सबका उसके लिये एकसा महत्व नही होता तथा वह इनको महत्व के अनुसार क्रम मे रख सकता है। इसी धारणा के आधार पर एक वस्तु का दूसरी से स्थानापन्न किये जाने की उपधारणा की गई है तथा इसी के आधार पर एक वस्तु की माग का स्थानापन्न दूसरी वस्तु की माग से किया जाता है।

इसी के आधार पर किसी वस्तु का वितरण विभिन्न उपयोगों में किया जाता है। जब हम व्यक्ति-विशेष के आचरण को छोड़कर सम्पूर्ण बाजार पर विचार करने लगते हैं तो हमको कुछ और उपधारणायें भी करनी पड़ती है जैसे कि बाजार में दो व्यक्ति हैं या अधिक, पूर्ति पर एक आदमी का अधिकार है कि या बहुतों का, क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार के विषय में ज्ञान है या नहीं, सरकार ने माल के इधर-उधर भेजने पर कोई पाबन्दी लगा रखी है या नहीं। इनके अतिरिक्त हम सम्पत्ति का एक दिया हुआ वितरण भी मानकर चलते हैं। यदि हम उत्पादन कार्य के निरन्तर होते रहने की उपधारणा करके चलें तो हमको यह भी मानना पड़ता है कि उत्पादन कार्य क्रमगत ह्रास नियम के अन्तर्गत होगा, क्योंकि उत्पादन के एक साधन का दूसरे से पूर्ण रूप से स्थानापन्न ऐसी दशा में सम्भव न हो सकेगा।

(८) इसके अतिरिक्त एक और उपधारणा भी की गई है और वह है सस्थिति की। सस्थिति उस स्थिति को कहा गया है जहां पर कि व्यक्ति को अधिकतम लाभ या सुख प्राप्त होता है। उपभोक्ता उस समय सस्थिति में होता है जबकि उसको अपनी आय से अधिकतम तुष्टि प्राप्त होती है। इसके विपरीत, उत्पादक उस समय सस्थिति में होगा जबकि उसको अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। हम यह उपधारणा भी करके चलते हैं कि आर्थिक व्यवस्था या तो सस्थिति में है या होने का प्रयत्न कर रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य होने के कारण इसमें बहुतसी उपधारणायें करनी पड़ती है। अर्थशास्त्र के नियम तभी सत्य होते हैं जबकि उपधारणायें ठीक होती है। यदि उपधारणायें व्यवहारिक जगत में सत्य नहीं होतीं तो अर्थशास्त्र के नियम सत्य नहीं होंगे।

३

आर्थिक विश्लेषण
(Economic Analysis)

अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य भी ज्ञान प्राप्त करना है। ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा उत्सुकता-जन्य होती है, जिज्ञासु मनुष्य ही ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। जिज्ञासा के पीछे सदैव कोई न कोई भौतिक, आत्मिक अथवा आध्यात्मिक, आवश्यकता काम करती है। तदनुसार ही तमाम शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। अर्थशास्त्र अधिक महत्वाकांक्षी नहीं है, वह मनुष्य के इहलौकिक, भौतिक पक्ष की खोज करके ही में संतुष्ट है।

ज्ञान प्राप्ति के कई स्रोत हैं। बहुत सी बातों का ज्ञान हमें अपने अनुभव द्वारा होता है। लेकिन मनुष्य की क्षमता तथा जिन्दगी सीमित हैं, ज्ञेय अनन्त हैं। इसलिये स्वयं का अनुभव उसे बहुत दूर तक ज्ञान-क्षेत्र में न ले जा सकेगा। ज्ञान प्राप्ति का दूसरा प्रमुख स्रोत है दूसरों के अनुभव, जिनसे हम ज्ञान पाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि नैसर्गिक, सहज ज्ञान (Intuition) की क्षमता भी मनुष्य में होती है। लेकिन मनुष्य की बुद्धि ने ज्ञान प्राप्ति का एक अन्य बहुत बड़ा स्रोत ढूंढ निकाला है, वह है तर्क तथा निगमन। निगमन एक व्यवहारिक विज्ञान है जो हमारी बुद्धि का पथ-प्रदर्शन करने का प्रयत्न करता है। सत्य की खोज में हमारी तार्किक शक्ति भूल कर सकती है, निगमन उसे गल्ती से बचाने की चेष्टा करता है। यही निगमन तमाम विज्ञानों का मूलमन्त्र है और तमाम कलाओं का उद्‌गम। इसीलिये इसे विज्ञानों का विज्ञान तथा कलाओं की कला कहा गया है। ज्योमेट्री में हम क्या करते हैं? किसी त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है— इस प्रतिज्ञा को हम कैसे सिद्ध करेंगे? उत्तर है निगमन द्वारा, तर्क के बल पर। ज्योमेट्री में कुछ स्वयं-सिद्धियां दी हुई रहती हैं, उन्हीं के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है। गणित इन्हीं स्वयं सिद्धियों तथा स्वीकृत नियमों पर आधारित है। गणित की प्रणाली निगमन प्रणाली है। निगमन में भी हम कुछ स्वयं-सिद्धियों तथा स्वीकृत नियमों का सहारा लेकर नतीजे निकालते हैं। यही नतीजे, अनुमान हमारे ज्ञान-भण्डार के निष्कर्ष हैं।

यहा यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञान दो प्रकार का हुआ—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो हम सीधे अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त करते है तथा जिसमे अनुमान अथवा तर्क का सहारा हम नही लेते। परोक्ष ज्ञान अनुमानित ज्ञान है, जिसको हम कुछ दी हुई स्वय-सिद्धियो तथा स्वीकृत नियमो के आधार पर तर्क द्वारा प्राप्त करते हैं। यदि हमारी ज्ञानेन्द्रिया विकृत नही हैं तो उनके द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान सत्य का ज्ञान होता है। अनुमानित ज्ञान औपचारिक सत्य का बोध कराता है। औपचारिक सत्य वास्तव मे सत्य है कि नही—इस प्रश्न का उत्तर एक अन्य शर्त पर निर्भर है वे स्वय-सिद्धिया, स्वीकृत नियम तथा पूर्व सिद्धिया, जिनके आधार पर हमने इस औपचारिक सत्य को पाया है, वास्तव म सच है कि नही ? यदि वे सत्य हैं तो यह भी सत्य है। इस प्रकार परोक्ष रूप से प्राप्त किया हुआ औपचारिक सत्य उन स्वय-सिद्धियो तथा स्वीकृत नियमो पर टिका होता है जिनके आधार पर उसकी उपलब्धि होती है। एक उदाहरण लेते है —

सब मनुष्य मरण शील हैं।
राम मनुष्य है।
राम मरण शील है।

यहा निगमन द्वारा हम इस नतीजे पर पहुचे कि राम मरण-शील है। लेकिन राम की मरण शीलता एक औपचारिक सत्य है इसकी वास्तविकता दो अन्य प्रश्नो के उत्तर पर निर्भर करती है —

(१) क्या यह सत्य है कि मनुष्य मरण-शील होता है।
(२) क्या यह सत्य है कि राम मनुष्य है।

यदि ये दो बातें सत्य हुई तथा हमने निगमन के नियमो का ठीक पालन कर यह अनुमान निकाला है कि राम मरण शील है तो राम की मरण-शीलता सत्य है, अन्यथा नही। जैसे यदि राम मनुष्य न होकर कोई देवता हो तो उसकी मरण-शीलता सत्य नही होगी।

निगमन रीति द्वारा हम दिये हुए सामान्य-सत्य के आधार पर विशिष्ट सत्य को पाते हैं। इस विशिष्ट सत्य की सत्यता दिये हुए सामान्य सत्य की सत्यता पर ही निर्भर होती है। तमाम विज्ञानो मे इसी निगमन प्रणाली का प्रयोग होता है, इसलिए वैज्ञानिक 'सत्य' अपनी सत्यता के लिए उन दिए हुए सामान्य सत्यो पर निर्भर हैं जिनकी पृष्ठ भूमि पर व आधारित हैं।

इतना समझ लेने के बाद अब हम अर्थशास्त्र पर विचार करते हैं। अर्थशास्त्र के तीन विभाग किए जा सकते हैं —

(१) आर्थिक विश्लेषण।
(२) आर्थिक नीति।
(३) व्यवहारिक अर्थशास्त्र।

आर्थिक-विश्लेषण आर्थिक-व्यवस्था का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। इसका कार्य विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक है। भिन्न-भिन्न आर्थिक क्षेत्रो का यह निरीक्षण करता है; प्रत्येक क्षेत्र की विशेषताओ का विश्लेषण करता है, इन क्षेत्रो से प्राप्त सामग्रियो को तुलनात्मक ढग से देखकर उनके साम्य तथा वैभिन्य लक्षणो को अलग करता है तथा इन्ही के आधार पर वस्तुओ, घटनाओ तथा स्थितियो का वर्गीकरण करता है। तत्पश्चात् यह कुछ सामान्य नियमो का प्रतिपादन करता है। यह मनुष्य की आर्थिक क्रियाओ की व्याख्या करता है, उन्हे अच्छे-बुरे तथा उचित-अनुचित होने की इसे परवाह नही। इसका सम्बन्ध प्राय "कैसे" प्रश्न का उत्तर देने से है। ससाधनो का भिन्न-भिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे किस प्रकार वितरण होना है, राष्ट्रीय आय का बटवारा किस प्रकार हो रहा है, मुद्रा, विशिष्टीकरण, विनिमय आदि आर्थिक-व्यवस्था मे कैसे काम कर रहे हैं तथा किस प्रकार कीमत निर्धारित की जाती है—आदि प्रश्नो का उत्तर पाने की चेष्टा यह करता है। 'क्या-होना-चाहिये' से इसे मतलब नही, यह केवल 'क्या-है' से सरोकार रखता है।

(७ आर्थिक-विश्लेषण अर्थशास्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विभाग है, किन्तु यदि इस विश्लेषण द्वारा प्राप्त सामग्री का हमारे लक्ष्यो के अनुसार व्यावहारिक उपयोग न किया जा सके तो यह विश्लेषण बन्ध्या के सदृश होगा। आर्थिक-विश्लेषण की रूपरेखा भिन्न-भिन्न हो सकती है। जिन उद्देश्यो तथा व्यवहारिक कठिनाइयो को सामने रखकर अर्थशास्त्री इस विश्लेषण को करता है तदनुसार ही इसकी रूप-रेखा होती है। इसीलिए पाश्चात्य देशो मे आर्थिक-विश्लेषण की रूपरेखा समय-समय पर बदलती हुई पाई जाती है। मरकॉन्टाइलिस्ट, फिजियोक्रोट्स, क्लासिकल अर्थशास्त्री, मार्क्सवादी तथा आधुनिक केनेसियन—सबने अपने-अपने उद्देश्यो के अनुसार आर्थिक विश्लेषण को भिन्न-भिन्न रूप दिया है।

(२) जैसा कि हम कह चुके हैं, आर्थिक-विश्लेषण का कोई उद्देश्य होता है। वास्तव मे किसी भी आर्थिक-सुधार के लिए आर्थिक-विश्लेषण अपेक्षित है। बिना आर्थिक विश्लेषण के कोई कदम उठाना असफलता को पहले ही सवरण करना होगा। आर्थिक-विश्लेषण से प्राप्त सामग्री के आधार पर हम आगे बढते हैं तथा यह निश्चय करते हैं कि आर्थिक-व्यवस्था मे क्या खराबिया है, आर्थिक-व्यवस्था मे काम करने वाली शक्तियो मे कौन कल्याणकारी है तथा कौन हानिकारक है। यहा हमे एक प्रतिमान निर्धारित करने की आवश्यकता पडती है, हम किसी प्रतिमान को सामने रखकर ही यह निश्चित कर सकते हैं कि क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या उचित है क्या अनुचित। यह काम 'आर्थिक-नीति' का है, जो यह निश्चित करती है कि आर्थिक-व्यवस्था मे क्या अच्छा है तथा क्या बुरा, इसमे क्या होना चाहिए।

(३) आर्थिक-व्यवस्था की अच्छाइयो तथा बुराइयो को जान लेने के बाद हम बुराइयो को दूर करने के लिए कदम उठायेगे। आर्थिक-विश्लेषण द्वारा प्राप्त ज्ञान

के प्रकाश मे, किसी प्रतिमान के आधार पर, आर्थिक-व्यवस्था मे सुधार करना व्यवहारिक अर्थशास्त्र का काम है।

उदाहरण के लिये मान लिया कि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा हमे यह ज्ञात हुआ कि जूट के कारखानो में ८ वर्ष से नीची आयु के बच्चे पर्याप्त सख्या मे काम पर लगाये गये हैं। हम इन बच्चो के काम पर लगाये जाने के औचित्यानौचित्य पर एक प्रतिमान को सामने रखकर विचार करेंगे। यह काम आर्थिक नीति का है। यदि हम इस नतीजे पर पहुँचे कि इन बच्चो का उपयोगीकरण उचित नही है तो हम इस बुराई को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। यह काम व्यवहारिक अर्थशास्त्र का है।

इस पुस्तक मे हमारा उद्देश्य प्रमुख रूप से आर्थिक विश्लेषण करना है, वैसे आर्थिक नीति तथा व्यवहारिक अर्थशास्त्र को अलग रखकर हम ऐसा नही करेंगे। वास्तव मे इन तीनो का समावेश कमोवेश सर्वत्र मिलेगा। किन्तु आर्थिक विश्लेषण को प्राथमिकता प्राप्त होगी। इसीलिये यह आवश्यक है कि हम इस पर थोडा विस्तारपूर्वक विचार करें।

आर्थिक विश्लेषण को पूजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत बाजार का भौतिक शास्त्र कहा जा सकता है। हमारी आर्थिक व्यवस्था बाजार प्रधान है, विनिमय इसका रक्तवाहक सस्थान (Circulatory system) है, इसी रक्तवाहक सस्थान की प्रक्रिया पर आर्थिक व्यवस्था कलेवर का स्वास्थ्य निर्भर है। इसीलिये प्रारम्भ से ही विनिमय तथा उसकी सस्था, बाजार, अर्थशास्त्रियो का ध्यान आकृष्ट करते रहे। वास्तव मे बाजार सस्था पर लोगो का अटूट विश्वास आर्थिक क्षेत्र मे काफी व्यापक रहा।

आर्थिक विश्लेषण शुद्ध विज्ञान के रूप मे मूलत निगमन प्रणाली पर आश्रित है। लेकिन हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि निगमन-प्रणाली का आधार बहुत कुछ आगमन (Inductive) प्रणाली है। आगमन प्रणाली मे हम विशिष्ट उदाहरणो का निरीक्षण करके किसी सामान्य नियम का प्रतिपादन करते हैं। उदाहरण के लिये हमने देखा कि 'क, ख, ग' आदि नामक व्यक्ति हमारे सामने मरे। इनकी मृत्यु के बारे मे हमे जानकारी है, फिर हम औरो के अनुभव द्वारा भी ज्ञात करते हैं कि 'त, थ, ध' आदि व्यक्ति भी मृत्यु को प्राप्त हुए। इन विशिष्ट अनुभवो के आधार पर हम एक सामान्य नियम की स्थापना करते हैं कि मनुष्य मरणशील है। यद्यपि ससार के सब मनुष्यो को मरते हम नही देख सकते, फिर भी एकत्रित दत्तो (Datas) के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुँचे। विशिष्ट उदाहरणो के आधार पर किसी सामान्य नियम की स्थापना ही आगमन प्रणाली कहलाती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि आगमन प्रणाली द्वारा प्राप्त यही सामान्य नियम हमारा साध्यावयव बनता है जब हम यह मालूम करना चाहते हैं कि राम मरणशील है कि नही। इसलिये आगमन तथा निगमन प्रणालिया एक दूसरे मे

बिल्कुल दूर नही रक्खी जा सकती। वे एक दूसरे मे सन्निहित हैं। इसीलिये आर्थिक विश्लेषण, अन्य सामाजिक विज्ञानो की भाति, सङ्कुरज है—आगमन तथा निगमन दोनो प्रणालियो का प्रयोग इसमें होता है। फिर भी जैसा हमने ऊपर कहा है कि यह मूलत निगमन प्रणाली पर आश्रित है। आगमन प्रणाली मे प्रयोग, अन्वीक्षण, व्यवहारिक जाच, उपमान आदि बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं, आर्थिक विश्लेषण मे इनको वह महत्ता प्राप्त नही है। हमे यह न भूलना चाहिये कि आर्थिक क्रियायें, जो आर्थिक विश्लेषण की विषय वस्तु हैं, प्रोय मनुष्य की अनियत्रित प्रवृत्तियो, उद्वेगो तथा सवेदनाओ पर निर्भर होती हैं। इन प्रवृत्तियो, उद्वेगो तथा सवेदनाओ को हम प्रयोगशाला मे ले जाकर उन पर प्रयोग नही कर सकते, न उनकी अन्य प्रकार से व्यवहारिक जाच ही सम्भव है। उपमान द्वारा भी हम बहुत सहायता प्राप्त नही कर सकते।

(६) आर्थिक विश्लेषण जटिल आर्थिक व्यवस्था को समझने मे हमारी सहायता करता है। आर्थिक व्यवस्था को समझने के अन्य उपाय भी हैं, किन्तु वे गौण हैं। आर्थिक विश्लेषण प्रमुखत निगमन प्रणाली है, हम यह कह चुके हैं। कुछ स्वय सिद्धियो तथा प्रतिज्ञाओ से हम अनुमान निकालते हैं। ये अनुमान यदि निगमन की उचित रीति के सहारे निकाले गये हैं तो औपचारिक सत्य होंगे, अर्थात् इनकी सत्यता उन स्वय सिद्धियो, स्वीकृत नियमो, साध्यावयव (Major Premise) तथा पक्षावयव (Minor Premise) की सत्यता पर निर्भर होगी जिनसे यह निकाले गये हैं। जिन स्वय सिद्धियो आदि की कल्पना पर आर्थिक विश्लेषण ने कोई अनुमान निकाला है, यदि वे सत्य हैं तो अनुमान भी सत्य होगा। आर्थिक विश्लेषण की तुलना हम अन्य विज्ञानो से भी कर सकते हैं, अन्तर केवल इतना है कि प्रयोगो, व्यवहारिक जाचो आदि की इसमे गुजायश नही है। गणित, विशेषकर ज्योमिट्री से इसका अधिक साम्य है। ज्योमेट्री मे कुछ परिभाषायें, स्वय सिद्धिया तथा स्वीकृत नियम या पूर्व सिद्धिया सत्य मान ली जाती हैं, उन्ही के आधार पर अन्य प्रतिज्ञाओ को सिद्ध किया जाता है। परिभाषा करने का अर्थ यह नही होता कि परिभाषित वस्तु का अस्तित्व है ही। परिभाषा से अभिप्राय यह होता है कि परिभाषित वस्तु का प्रयोग जब कभी किया जायगा उसी सदर्भ मे किया जायगा। इस प्रकार ज्योमेट्री मे बिन्दु एक कल्पना मात्र है, उसका कोई अस्तित्व नही होता यह मान लिया गया है कि उसमे लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊचाई कुछ भी नही होती। तो फिर ऐसी अमूर्त वस्तु का अस्तित्व कहा है। वही हालत सरल रेखा की है। इसमे केवल लम्बाई होती मानी गई है। लेकिन यह बाती कैसे है? यदि कहे कि बिन्दुओं द्वारा तो प्रश्न उठता है कि बिन्दु मे तो लम्बाई, चौडाई तथा ऊचाई शून्य होती है तो एक बिन्दु मे यदि हम दूसरा जोड़ें तो वह वैसे ही होगा जैसे कि हम शून्य मे शून्य जोडे तथा शून्य मे कितने भी शून्य जोड़ें तो फल शून्य ही निकेगा। फिर सरल रेखा कैसे बनेगी जो शून्य नही होती। इससे जाहिर है कि गणित न

भी बहुत सी स्वय सिद्धियो का आश्रय लिया है। जब अर्थशास्त्रियो की आलोचना (विशेषतया क्लासिकल अर्थशास्त्रियो की) करते समय लोग यह तर्क देते है कि उन्होने अपनी स्वय सिद्धियो को कभी सिद्ध करने की कोशिश नही की तो लोग यह भूल जाते हैं कि गणित जैसे निश्चयपूर्ण शास्त्र को भी कुछ ऐसी परिभाषाओ तथा स्वय सिद्धियो के आधार पर काम करना पडता है जिनको सिद्ध करने की कभी कोशिश ही नही की जाती। आर्थिक विश्लेषण मे हम यह कहते प्राय सुने जाते है कि 'यदि अन्य वस्तुयें पूर्ववत् रहे (If other things remain the same) तो ऐसा होने से उसका परिणाम यह होगा। तो यह स्पष्ट है कि कल्पित शर्तों के पूरा होने पर ही हमारे विश्लेषण के अनुमान सही तथा खरे उतर सकते है।

२ फिर आर्थिक विश्लेषण कोरा अनुमान तथा बेकार वस्तु नही। सावधानी से कार्य करने से इसके सहारे हम वास्तविकताओ के काफी निकट पहुँच सकते है। इससे प्राप्त नतीजे, हो सकते है, कि बिल्कुल सही न हो, फिर भी इनको हम अपनी आर्थिक नीति का अग बना सकते हैं। जिस कार्य-कारण की व्याख्या हमे आर्थिक विश्लेषण द्वारा प्राप्त होती हैं उसके सहारे हम प्रशुल्क आय कर, मोद्रिक तथा राजस्व नीति आदि के तथ्यो को अच्छी तरह समझ सकते हैं। फिर ऐसा विश्लेषण जो प्रकृति तथा समाज के आर्थिक जैसे महत्वपूर्ण पहलु का चित्रण करता हो उसमे एक सौदर्य भी होता है। इसलिये आर्थिक विश्लेषण आर्थिक व्यवस्था के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। हा, इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि आर्थिक विश्लेषण को आर्थिक वास्तविकताओ के समीप रखा जाय। आर्थिक व्यवस्था की तस्वीर खीचने मे हमे तथ्यो को आख से ओझल नहीं होने देना चाहिये। वर्ना तस्वीर कोरी तस्वीर ही रह जायगी। हमारा ध्येय केवल तस्वीर नही, किसी वस्तु की तस्वीर बनाना होना चाहिये।

अर्थशास्त्र की आर्थिक विश्लेषण पद्धति के उद्देश्य—

हम ऊपर यह कह चुके है कि आर्थिक विश्लेषण "कैसे" प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करता है। मौलिक रूप से आर्थिक व्यवस्था की तमाम क्रियाओ को हम विनिमय सव्यवहारो के अन्तर्गत ले सकते हैं। विनिमय सव्यवहारो के मौलिक तत्व हैं माग, पूर्ति तथा कीमत। इन तत्वो के सामूहिक प्रत्यय मे बाजार का प्रत्यय निहित है, बाजार ही आधुनिक युग मे समस्त आर्थिक क्रियाओ का रग मच है। इसलिये आर्थिक विश्लेषण की खोज का क्षेत्र बाजार रहा है। विनिमय सव्यवहारो का विवेचन इसका प्रमुख कार्य रहा है। इसीलिये क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के आर्थिक विश्लेषण का आर्थिक-उदारवाद से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। बाजार को स्वतन्त्र, राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त बनाये रखने पर अर्थशास्त्रियो ने क्लासिकल काल मे काफी जोर दिया था। वे विशेषत प्रारम्भिक वेला मे, स्वत नियन्त्रित बाजार यत्र के हामी थे। आज के नव क्लासिकल विचारधारा के लोग भी कुछ हद तक

इसी बात पर जोर देते हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही कि इस उदार नीति के समर्थक अर्थशास्त्री-वर्ग के अतिरिक्त किसी ने आर्थिक विश्लेषण की ओर ध्यान दिया ही नही। इसके सबसे कट्टर विरोधी कॉर्ल मार्क्स ने भी एक आर्थिक विश्लेषण की पिण्ड रचना अपने ढग से की। लेकिन इस पिण्ड रचना का उद्देश्य धनात्मक न हो कर ऋणात्मक था, इसके द्वारा मार्क्स ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि बाजार यत्र पर टिकी पूजीवादी व्यवस्था का विनाश निश्चय है। निकट भूत म केन्ज न भी बाजार-यत्र के स्वत नियन्त्रित रहने की कल्पना को कोरी कल्पना कहा तथा आर्थिक विश्लेषण की नई प्रणाली को जन्म दिया, जिसका उद्देश्य पूजीवादी व्यवस्था मे सुधार करना था। अन्य लोगो न भी ऐसा किया। लेकिन इन सब विश्लेषणो के पीछे बाजार-यत्र की क्रिया विधि ही प्रेरणा के रूप म काम करती हुई दिखाई देती है। किसी ने इस क्रिया-विधि की आलोचना के लिय आर्थिक विश्लेषण का सहारा लिया, किसी ने इसके पोषण के लिय। लक्ष्य के अनुसार विश्लेषण-मॉडल मे भी वैभिन्य का होना अनिवार्य था।

जो कुछ भी हो आर्थिक विश्लेषण का व्यक्तियो तथा आर्थिक सस्थाओ की पारस्परिक उन क्रियाओ तथा प्रतिक्रियाओ से सम्बन्ध है जिनस बाजार मे कीमत निर्धारित होती हैं। कीमत निर्धारण का यत्र आर्थिक विश्लेषण के लिये अत्यधिक महत्व रखता है, क्योकि यह सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे कार्य करने वाली तमाम शक्तियो का समन्वयन करता है। उत्पादन, वितरण तथा उपभोग—सब मे यह व्याप्त होता है तथा इन सबको मात्राओ तथा दिशाओ को यह निर्धारित करता है। कीमत-निर्धारण का यत्र कच्चे माल के उत्पादन स लकर उन माला स अन्तिम वस्तु उत्पादन तथा उनके वितरण, उपयोग उपभोग तक, प्रत्यक चरण पर काम करता है। कच्चे माल तथा ससाधनो का विविध वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन हेतु विभाजन का काम यही यत्र करता है।

वास्तव मे प्रत्यक समाज को, चाहे वह पूजीवादी हो या साम्यवादी अथवा मिश्रित आर्थिक व्यवस्था वाला, यह निर्णय करना पडता है कि वह क्या वस्तुयें किन मात्राओ मे उत्पादित करे। अर्थात् प्रत्येक समाज को यह निर्णय करना पडता है कि अपने सीमित ससाधनो के उपयोग द्वारा किन वस्तुओ को वह उत्पादित करे तथा उन वस्तुओ की मात्राओ के अनुपात को वह किस प्रकार न्यायत निर्धारित करे। अपने निर्णय के अनुसार वह ससाधनो का भिन्न भिन्न उत्पादनो मे विभाजन करता है।

५ स्वत नियन्त्रित बाजारो वाली आर्थिक व्यवस्था मे ससाधनो के विभाजन का काम कीमत-यत्र द्वारा सपादित होता है। आर्थिक विश्लेषण करने वालो के लिय कीमत निर्धारण के यत्र की क्रिया विधियो की व्याख्या करना ही पर्याप्त नही है, उनके लिये यह बताना भी आवश्यक है कि किस प्रकार यह कीमत-यत्र आर्थिक

में हमें अधिक तुष्टि प्राप्त होगी तो हम मोटरकार के बदले (स्थानापन्न) घर के क्रय में अपने साधन (रुपया) को लगायेंगे।

इस प्रकार अपने ससाधनो के विभाजन मे आर्थिक व्यवस्था की प्रत्येक इकाई कम तुष्टि देने वाली वस्तु या सेवा के स्थान पर अधिक तुष्टि प्रदान करने वाली वस्तु या सेवा को निरन्तर स्थानापन्न बनाया करती है। अर्थात् ससाधन विभाजन मे स्थानापन्न का भाव निहित है। किसी वस्तु के उत्पादन को बढाने के लिए हम अन्य किसी वस्तु के उत्पादन को या तो बिल्कुल छोडना पडेगा या कम करना पडेगा, क्योंकि यदि ससाधन की मात्रायें दी हुई हो तो किसी वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि करने का अर्थ होगा ससाधन को किसी अन्य उपयोग से खीच कर इस वस्तु के उत्पादन मे लगाना। इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण की उपधारणा यह है कि ससाधन स्वल्प है तथा आर्थिक व्यवस्था (और इसमे की प्रत्येक आर्थिक इकाई) को इन स्वल्प साधनो का विभाजन वैकल्पिक साध्यों की प्राप्ति हेतु करना पडता है, इसीलिये एक साध्य को दूसरे का पूर्ण या आशिक रूप से स्थानापन्न बनाते रहना पडता है।

(२) **इष्टतम प्राप्ति का सिद्धांत**—एक वस्तु को किसी अन्य का स्थानापन्न बनाने का अभिप्राय होता है अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना। आर्थिक व्यवस्था (तथा उसमे की प्रत्येक इकाई) अपने लक्ष्यो को इष्टतम रूप से प्राप्त करना चाहती है, अपने साध्यो की इष्टतम सिद्धि चाहती है। आर्थिक विश्लेषण यह उपधारणा करता है कि आर्थिक व्यवस्था (तथा उसमे की प्रत्येक इकाई) अपने स्वल्प साधनों का विभाजन भिन्न भिन्न साध्यो हेतु इस प्रकार करेगी (तथा इस प्रकार एक साध्य को दूसरे का स्थानापन्न बना कर समन्वयन करने की चेष्टा करती रहेगी) कि उसे इष्टतम प्रत्याय प्राप्त हो सके। साध्य ही नही, ससाधन भी परस्पर स्थानापन्न होते हैं, उत्पादन मे एक ससाधन की दूसरे के द्वारा स्थान पूर्ति तब तक की जाती रहेगी जब तक कि उत्पादक को दिये हुए ससाधनो (जिनकी माप मुद्रा से की जा सकती है) मे इष्टतम उत्पादन-मात्रा प्राप्त न हो जाय। इस प्रकार उत्पादक श्रमिको को कम कर उनके स्थान पर पूंजी उपकरण ले आयेगा यदि उसे यह आशा है कि ऐसा करने मे उसके उत्पादन मे उचित वृद्धि होगी।

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण की दूसरी मुख्य उपधारणा यह है कि आर्थिक व्यवस्था मे सर्वत्र विभाजन का उद्देश्य होता है अभीष्ट साध्य की इष्टतम प्राप्ति तथा इसके लिये जो ढग अपनाया जाता है वह है स्थानापन्नता का ढग, अर्थात् किसी भी कार्य मे कम उत्पादक ससाधनो के बदले अधिक उत्पादक ससाधनो का उपयोग करना।

(३) **सीमान्त सिद्धान्त**—'सीमान्त' आर्थिक विश्लेषण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। सीमान्त इकाई वह इकाई है जो किसी वस्तु की अन्तिम इकाई होती है। सीमान्त शब्द का प्रयोग किसी वस्तु की कुल मात्रा के लिये नही, केवल अन्तिम इकाई के लिये होता है। इकाई-पन इसका परमावश्यक तत्व है। सीमान्त का भाव एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक है, यह उपधारणा कर ली जाती है कि अपने

ससाधन विभाजन के सम्बन्ध म कोई तुरन्त फैसला नही कर लता वह किसी एक स्थिति से चलकर एक एक इकाई करके एक नई स्थिति पर पहुँचता है। उसके प्रत्येक चरण या स्थिति को हम इस रूप मे ले सकते हैं कि वह स्थिति अपनी पूववर्ती स्थिति म एक सीमान्त इकाई के योग के फलस्वरूप वजूद मे आई है।

उपयु क्त दूसरे सिद्धान्त से हमे यह ज्ञात हुआ था कि किसी काय मे कम उत्पादक ससाधनो का अधिक उत्पादक ससाधनो द्वारा स्थानापन्न कर दिया जाना चाहिये। प्रश्न है कि किसी ससाधन को वैकल्पिक साध्यो मे से किस साध्य की प्राप्ति मे लगाया जाय। सीमान्त सिद्धान्त हम यह बताता है कि किसी वस्तु पर खच की हुई मुद्रा की अन्तिम इकाई से हमे ठीक वही प्रत्याय प्राप्त होनी चाहिय जो कि हम प्रत्यक अन्य वस्तु पर खच की जाने वाली मुद्रा की अ तिम इकाई स प्राप्त होती है। तभी हम इष्टतम विभाजन तथा प्रत्याय पा सकते है। यह प्रत्या ा साधारण बात है क्योकि हम क वस्तु के खरीदने मे अपनी मुद्रा व्यय नही करेंगे यदि हमे यह मालूम हो कि उस मुद्रा को अन्यत्र कही खच करने से हमे अधिक तुष्टि प्राप्त हा सकेगी। अपनी मुद्रा से या ससाधनो से प्रत्यक व्यक्ति अधिकतम प्रत्याय पाने की चेष्टा करता है और ऐसा तभी होगा जब प्रत्येक दिशा से मुद्रा या ससाधन की अन्तिम इकाई बराबर प्रत्याय ल आय। इसलिय आर्थिक विश्लेषण की तीसरी उप धारणा यह है कि स्वल्प ससाधनो के विभाजन से उच्चतम प्रत्याय पाने के लिय भिन्न भिन्न ससाधनो की अ तिम इकाइयो से प्राप्त होने वाली सीमा त प्रत्यायो का परस्पर समान कर दिया जाना चाहिय।

(४) विवेकपूर्ण आचरण का सिद्धान्त—उपरोक्त सिद्धान्तो म यह उप धारणा निहित है कि आर्थिक व्यवस्था के प्रत्येक व्यक्ति का आचरण विवेकपूर्ण होगा। विवेकपूर्ण आचरण से अभिप्राय है कि व्यक्ति अपने आचरण को इतनी सावधानी क साथ निर्धारित करेगा कि उसे अधिकतम प्रत्याय प्राप्त हो सके। स्वत नियन्त्रित बाजार वाली आर्थिक व्यवस्था म इस विवेकपूर्ण आचरण का अत्यधिक महत्व है उसमे यह सवसत्ता सम्पन्न हाता है। किन्तु हम यह नही मान लेना चाहिये कि ऐसा आचरण किसी आर्थिक व्यवस्था म वास्तविक रूप से पाया जाता है। समाज म हम समन्वित व्यवहार पायग। मानव हेतुक तथा व्यवहार जटिल बहुमुखी तथा गूढ हाते है। उद्वेग न कि विवेक मानव व्यवहारो के प्रबल प्र रक होते हैं। इसलिय यह उपधारणा मानव आचरण का आदश उपरूप है न कि वास्तविक। किन्तु फिर भी अन्धेरे म भटकने से ता यह अच्छा है कि हम इस बात की उपधारणा कर ल क्योकि हम इस बात का तो दावा है नही कि आर्थिक विश्लेषण द्वारा प्रतिपादित नियम गणित के नियमो के समान व्यापक तथा निश्चित होते है हम तो केवल इतना कहते है कि य नियम एक प्रवृत्ति बताते है तथा सामान्य स्थिति की ओर इशारा करते हैं। इसलिय इस बात का उपधारणा कर लेते है कि विवेकपूर्ण रूप म

कार्य करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र मे अधिकाधिक प्रत्याय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

(५) प्रतियोगिता, सस्थापित तथा सगठन सम्बन्धी सिद्धात—अब तक हमने मुख्यत आर्थिक व्यवस्था की परमाणविक इकाइयो के सम्बन्ध म ही उपधारणायें की हैं। बाजार की स्थिति के सम्बन्ध मे भी कुछ उपधारणाय कर ली जाती हैं, इसलिये उनका सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

हम ऊपर कह आये है कि विभाजन, इष्टतम प्रत्याय तथा सीमान्त सिद्धान्त सब बाजार के रगमच पर कार्य करते हैं। इन सबमे विनिमय कार्य निहित है। आर्थिक व्यवहार के प्रत्येक चरण पर विनिमय कार्यरत दिखाई पडता है। वस्तु विनिमय के बजाय आज के बाजारो की विशेषता है मौद्रिक विनिमय। 'बाजार' प्रत्यय मे कतिपय क्रेताओ तथा कतिपय विक्रेताओ का भाव निहित होता है। क्रेताओ की सख्या भिन्न भिन्न अवस्थाओ मे बदलती रहती है। प्रत्येक क्रेता अपनी प्रत्याय को अधिकतम बिन्दु पर पहुचाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न मे उसे विक्रेता के शिकजे से बचाना पडता है। इस प्रयत्न म उसे एक ओर तो अपने प्रतियोगी क्रेताओ का सामना करना पडता है, दूसरी ओर उसे विक्रेता के शिकन्जे से बचना पडता है। इस प्रकार विनिमय प्रक्रिया मे सर्वत्र सघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता तथा प्रतियोगिता व्याप्त रहते हैं। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति उपर्युक्त उपधारणाओ के आधार पर ही कार्य करता है। इस प्रकार कार्य करते हुए प्रत्येक व्यक्ति बाजार मे एक शक्ति का सचार करता है। ये शक्तिया पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक समन्वयन की स्थिति पैदा करती है, इस स्थिति को हम सस्थापित (Equilibrium) कह सकते है। बाजार मे प्रत्येक विनिमय सस्थिति मे होता है, अर्थात जब बाजार मे काम करने वाली समस्त शक्तिया सन्तुलन की अवस्था मे होती हैं। यह सस्थिति समय तथा परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण करती है, किन्तु बिना किसी प्रकार की सस्थिति के बाजार म सव्यवहार होना कठिन होगा।

सस्थिति की प्रक्रिया कीमत तथा विनिमय साध्य वस्तु मात्रा दोनो को निर्धारित करती है। यह सस्थिति प्रक्रिया बाजारो मे नही ही सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे कार्य करती है। आर्थिक-व्यवस्था मे किस प्रकार की तथा कितनी मात्राओ म वस्तुए उत्पादित की तथा बेची जायेंगी, यह बात इसी सस्थिति की प्रक्रिया द्वारा निश्चित की जाती है। चू कि आर्थिक-व्यवस्था के प्रत्येक तत्व के लिए एक बाजार होता है इसलिए उसी प्रकार की सस्थिति प्रक्रिया विभाजन (Allocation) के सारे प्रश्नो को हल करती है। चू कि बाजार का प्रत्येक सव्यवहार विभाजन कार्य का एक अश होता है और चू कि प्रत्येक आर्थिक-क्रिया बाजार-सव्यवहार का रूप धारण करती है, इसलिए व्यापक बाजार-सस्थिति (General Market Equilibria) के माध्यम मे सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था सुसगठित होती है। सक्षेप मे, हमारी अन्तिम उपधारणा यह है कि आर्थिक व्यवस्था के बाजार सव्यवहारो म भाग लेने वाली

तमाम इकाइया पारस्परिक प्रयतियोगिता द्वारा प्रत्येक बाजार मे सस्थिति उत्पन्न करती हैं इसी सस्थिति द्वारा उस बाजार मे बिकने वाली वस्तु की मात्रा तथा कीमत निर्धारित होती है तथा बाजारो के अन्तर सम्बन्ध मे सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था का सुसगठन तथा आर्थिक-व्यवस्था के उपर्युक्त पाचो कार्यों का सस्थिति प्रक्रियाओ द्वारा सम्पादित होना निहित है।

इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य उपधारणायें भी है जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है। इन समस्त उपधारणाओ मे स्थूल रूप से पू जीवादी व्यवस्था या बाजार-पू जीवाद की उपधारणा निहित है। विश्लेषण करते समय "अन्य बातें पूर्ववत् रहे' की धारणा भी कर ली जाती है। ये अन्य बातें स्थूल रूप से निम्नलिखित हैं—

(१) मुद्रा की क्रय शक्ति,
(२) मुद्रा परिणाम,
(३) रीति रिवाज,
(४) स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ की कीमतें,
(५) स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ की प्राप्य सख्या,*
(६) उत्पादन की टैक्नीक तथा पू जी-उपकरण,
(७) जनसख्या।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं यही उपधारणायें आर्थिक विश्लेषण के आधारस्वरूप हैं जिनके सहारे यह नये सिद्धातो का प्रतिपादन करता है तथा ज्ञात द्वारा अज्ञात की खोज करता है। प्राय ये उपधारणाये किसी सिद्धांत को हमारे समक्ष अत्यन्त सक्षप मे रखती हैं। परोक्ष रूप से इनके द्वारा हम प्रतिपादित नियमो की जाच भी कर सकते हैं तथा ये उन शर्तों को बताती हैं जिनके पूरी होने ही पर कोई आर्थिक सिद्धात सही होगा।

आर्थिक विश्लेषण के उपकरण
(Tools of Economic Analysis)

आर्थिक-विश्लेषण मे निम्नलिखित विषयो का सहारा लिया जाता है —

(१) गणित।
(२) सांख्यकी (Statistics)।
(३) सस्थिति (जो भौतिकशास्त्र का शब्द है) [Equilibrium]।

आर्थिक विश्लेषण मूलत गणित की विधि के समान ही है। गणित दो सख्याओ के बीच का सम्बन्ध बताता है, लेकिन इसकी क्रिया विधि तार्किक निगमन के समतुल्य होती है। इसको हम साकेतिक तर्कशास्त्र कह सकते हैं, जब हम कोई

*Essays in Positive Economics by M Friedman, p 76.

समीकरण हल करते हैं तो वस्तुत हम निगमन की तार्किक प्रक्रिया का ही अनुसरण करते हैं। तर्कशास्त्र के प्रश्नो को सांकेतिक भाषा मे लिखकर हम गणित की विधियो द्वारा अधिक सरलता से हल कर सकते हैं। गणित जटिन प्रश्नो को सक्षिप्त रीति मे हल करने मे हमारी सहायता करता है। जैसे-जैसे प्रश्न अधिक जटिल होते जाते है, वैसे-वैसे हमारी साधारण भाषा का उनके लिये उपयोग कठिन होता जाता है। गणित प्रश्नो के हल करने मे समय की बचत करता है।

आर्थिक-विश्लेषण की पद्धति, जैसा हमने कहा है, गणित की पद्धति है। हम समस्त आर्थिक-व्यवस्था को संख्यात्मक इकाइयो की बनी हुई मान सकते हैं। ये इकाइया तथाकथित आर्थिक 'नियमो' के अनुसार काम करते हुए मानी जा सकती हैं। ऐसी हालत में हम इन इकाइयों की कार्य विधि को समीकरणो मे व्यक्त कर सकते हैं, इससे आर्थिक-व्यवस्था को हम सरलता से समझ सकते हैं। आर्थिक विश्लेषण म हम सारे प्रश्नो को निगमन की विधि से, गणित का सहारा लेकर, सुलझाने तथा समझने की चेष्टा करते हैं। इसका यह तात्पर्य नही कि आर्थिक विश्लेषण म हम गणित के 'निश्चय' पर पहुच सकते हैं, किन्तु, जैसा हम पहले बता चुके हैं, कि यदि हमारी वे उपधारणायें तथा स्वय सिद्धिया जिनके आधार पर हमने अपना अनुमान निकाला है सही हैं, तो उन पर आधारित अनुमान भी सही होंगे। चू कि ये उपधारणायें तथा स्वय सिद्धिया अधिकतर प्रवृत्यात्मक होती हैं, इसलिए इन पर आधारित अनुमान भी प्राय प्रवृत्ति मात्र के परिचायक होते हैं।

गणित के अतिरिक्त हम दो अन्य विषयो का भी सहारा लेंगे सस्थिति तथा सांख्यकी। सस्थिति की अवस्था आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस पर हम पहले कुछ कह चुके हैं तथा आगे और कुछ कहेंगे।

साख्यकी एक प्रकार का गणित है। गणित से यह केवल इस मायने मे भिन्न है कि साख्यकी का सम्बन्ध सच्चे दत्तो तथा आकड़ो से है। परम्परागत आर्थिक-विश्लेषण मे साख्यकी का स्थान नगण्य था, क्योंकि यह आगमन की रीति है जबकि आर्थिक विश्लेषण प्रमुखत निगमन की रीति है। किन्तु, आधुनिक युग मे लोगो ने इस ओर काफी रुचि दिखाई है तथा अर्थशास्त्री अपने अनुमानो की यथाशक्ति प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा पुष्टि करने की चेष्टा करने लगे हैं। साख्यकी म उच्च गणित का भी प्रयोग होता है, लेकिन साधारण साख्यकी का प्रयोग भी आर्थिक विश्लेषण म काफी सहायक हो सकता है। साख्यकी मे भी प्राय एक प्रवृत्ति का अध्ययन होता है। उदाहरण के लिये हम औसत के प्रत्यय को ले सकते हैं। औसत किसी समूह विशेष की प्रवृत्ति बताता है, वास्तव म उस समय की कोई भी इकाई कदाचित् औसत के बिल्कुल अनुरूप नही होगी, फिर भी यह प्रवृत्यात्मक कथन हो आर्थिक जगत की पेचीदगियो को समझने म हमारी सहायता करते हैं। अब हम सक्षेप म आर्थिक-विश्लेषण के लिए प्रयुक्त इन विधियो का वर्णन करेंगे।

गणित—

गणित के जिन प्रत्ययो का आर्थिक विश्लेषण मे उपयोग होता है, वे सामान्यत निम्नलिखित हैं —

(क) निरन्तरता तथा पृथक्त्व (Continuity and discreteness)
(ख) परिवर्तनशील तत्वो के सम्बन्ध या फलन (Functions)
(ग) ग्राफ।
(घ) समीकरण (Equations)
(ङ) ढाल (Slope)
(च) सीमान्त।
(छ) युगपत समीकरण (Simultaneous Equations)

(क) निरन्तरता तथा पृथकत्व—गणित मे सबसे पहले हम अर्थमेटिक (अङ्कशास्त्र) पर विचार करें जो इसकी सबसे सरल शाखा है। अर्थमेटिक का सम्बद्ध सख्याओ से होता है। सख्याय दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की सख्याये तो गणना के काम आती हैं, दूसरी प्रकार की माप मे प्रयुक्त होती हैं। जिन वस्तुओ की हम गणना करते है, उनकी प्रत्येक इकाई को हम पृथक्-पृथक् मानते है, जैसे सडक के किनारे गडे हुए खम्भे। खम्भे एक दूसरे से पृथक् होते है। लेकिन जब हम उन खम्भो से गुजरते हुए विद्युत तारो को देखते हैं तो हमे पृथक्त्व नजर नही आता। ये तार अविराम रूप से खिंचे होते हैं, तार मे निरन्तरता होती है। इस प्रकार प्रकृति मे सामान्यता दो प्रकार की वस्तुयें पाई जाती हैं, एक तो वे जिनको गिना जा सकता है, दूसरी, वे जिनको मापा जा सकता है।

कठिनाई तब उपस्थित होती है जब गणनीय वस्तुओ मे हम निरन्तरता मान लेते है तथा मापनीय वस्तुओ मे गणनीयता। कुछ ऐसी वस्तुये हैं जिनम निरन्तरता होते हुए भी हम उन्हे पृथक्-पृथक् मानकर गिनने का प्रयत्न करते है, जैसे समय। समय एक अनन्त प्रवाह है उसमे निरन्तरता है, फिर भी हम उसे छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित करते है जैसे कि वह पृथक् पृथक् घटो, मिनटो, सेकिण्डो, महीनो, वर्षो आदि से निर्मित हो।

अर्थशास्त्र मे भी बहुत सी पृथक्-पृथक् वस्तुओ मे हम निरन्तरता मान लेते हैं तथा निरन्तर, मापनीय वस्तुओ मे पृथक्त्व। जब कुछ चुनी हुई वस्तु-सख्या का प्रयोग किसी आर्थिक तथ्य को प्रकट करने के लिये किया जाता है तो हमारे पास सख्याओ के पृथक् पृथक् समूह होते है। लेकिन यदि हम किन्ही दो सख्याओ के बीच मे कोई सख्या डाल सकें तो हम यह कह सकते है कि ये सख्याये निरन्तर हैं।

जनसख्या मे पृथक्त्व का भाव छिपा है। किन्तु इसमे हम निरन्तरता मान लेते है, जैसे यदि सन् १६४१ ई० मे किसी नगर की जनसख्या १ लाख थी तथा सन् १६५१ ई० मे यह बढकर १ लाख १० हजार हो गई तो हम यह मान लेते है

कि आबादी १ हजार प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ी। हम यह निकाल भी सकते हैं कि सन् १९४५ ई० में नगर की जनसंख्या १ लाख ५ हजार रही होगी। जबकि वर्ष का अनन्त समय का पृथक् टुकड़ा मान लिया जाता है। समय तथा जनसंख्या दोनों को हम परिवर्तनशील पाते हैं। समय को पृथक्-पृथक भागों में विभाजित कर हम उसमें परिवर्तनशीलता लाते हैं। जनसंख्या भी परिवर्तित होती रहती है।

(ख) **परिवर्तनशील* राशियों के सम्बन्ध** —दो परिवर्तनशील राशियों का तुलनात्मक अध्ययन आर्थिक विश्लेषण में भी काफी महत्व का होता है। इस प्रकार समय तथा जनसंख्या का तुलनात्मक अध्ययन कर हम यह देख सकते हैं कि कुछ वर्षों में जनसंख्या में किस हिसाब से वृद्धि हुई है। दो या अधिक परिवर्तनशील तत्वों का पारस्परिक सम्बन्ध फलन या फकशन (Function) कहलाता है। अपने उपर्युक्त दो तत्वों-समय तथा जनसंख्या-की तालिका द्वारा हम मान्यम के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त को दिखा सकते हैं।

जब दो परिवर्तनशील तत्व इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं तो प्रायः उनमें से एक को 'कारण' तथा दूसरे को 'कार्य' माना जाता है। 'कारण' परिवर्तनशील को 'स्वतन्त्र' (Independent) कहा जाता है तथा 'कार्य' परिवर्तनशील को 'आश्रित'।** 'स्वतन्त्र' परिवर्तनशील में परिवर्तन स्वतः होता है, वह किसी अन्य पर अपने परिवर्तन के लिये आश्रित नहीं होता, जबकि 'आश्रित' परिवर्तनशील में परिवर्तन किसी अन्य परिवर्तनशील के परिवर्तन पर निर्भर होता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'समय' एक 'स्वतन्त्र' परिवर्तनशील है तथा 'जनसंख्या' आश्रित।

कभी-कभी परिवर्तनशीलों का यह विभाजन (स्वतन्त्र तथा आश्रित में) उचित नहीं समझा जाता, क्योंकि कतिपय हालतों में दो सम्बन्धी परिवर्तनशीलों में से किसी को भी 'स्वतन्त्र' तथा किसी को भी 'आश्रित' कहा जा सकता है। लेकिन 'समय' को सर्वदा एक स्वतन्त्र परिवर्तनशील माना जाता है—कम से कम आर्थिक विश्लेषण में तो यह हमेशा स्वतन्त्र माना गया है। 'समय' तमाम 'कारणों' का 'कारण' है, यह कभी 'कार्य' नहीं होता।

(ग) **ग्राफ**—परिवर्तनशील तत्वों के सम्बन्ध को हम ग्राफ द्वारा भी दिखा सकते हैं। ग्राफ में हम दो अक्ष एक दूसरे के लम्ब के रूप में खींचते हैं। क्षैतिज अक्ष पर 'स्वतन्त्र' परिवर्तनशील दिखाया जाता है तथा उध्वर्ग पर 'आश्रित'। लेकिन अर्थशास्त्र में यह नियम सर्वथा आवश्यक रूप से लागू नहीं होता। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, कभी-कभी दो परिवर्तनशीलों में से किसी को भी हम 'स्वतन्त्र' मान सकते हैं। ऐसी सूरत में किसी को भी हम क्षैतिज अक्ष पर दिखा सकते हैं।

* परिवर्तनशील राशियों को कहीं-कहीं चार राशियां भी कहा गया है।

** इसको परतन्त्र भी कहा जाता है, किन्तु 'आश्रित' अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

ग्राफ आर्थिक विश्लेषण मे अत्यन्त लाभदायक होता है। पृथक्-पृथक् अकों को हम ग्राफ की सहायता से निरन्तरता प्रदान कर सकते है। जनसख्या मे पृथकत्व होता है, इसकी गणना हम कर सकते है, फिर भी हम ग्राफ की सहायता से इसे एक निरन्तरता प्रदान कर मापते हैं।

उदाहरण के लिये हम निम्नलिखित तालिका लेते हैं —

अनुसूची नं० १

वर्ष	जनसख्या
१	१०००
२	२०००
३	४०००
४	८०००
५	१६०००
६	३२०००
७	६४०००

उपर्युक्त तालिका के दो तत्वो को ग्राफ पर हम दिखा सकते हैं —

उपर्युक्त ग्राफ मे हमने क्षैतिज अक्ष पर तो समय लिखा है तथा उर्ध्वर्ग पर जनसख्या। इस ग्राफ मे हमने जनसख्या तथा वर्षों के सम्बन्ध को बताने वाले भिन्न-भिन्न विन्दुओ से गुजरता हुआ एक वक्र खीचा। इस वक्र पर स्थित कोई भी बिन्दु यह बतायेगा कि अमुक समय पर जनसख्या कितनी थी।
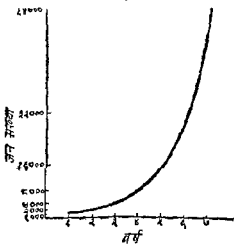
माल्थस के समय म यह बात बराबर देखी गई है कि इस वक्र की शक्ल अग्रजी अक्षर एस (S) के सदृश होती है। इससे हमे यह भी पता चलता है कि पहले तो जनसख्या बढती है, फिर कुछ समय स्थिर रहकर घटती है।

चित्र न० (1)

इस प्रकार का वक्र हमारे बड़े काम का है। आर्थिक विश्लेषण में हमारी यह बहुत सहायता करता है। अन्य प्रकार के और परिवर्तनशील तत्वों का 'समय' से सम्बन्ध हम इस प्रकार के वक्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार के वक्र की प्रारम्भिक अवस्था द्वारा हम यह भी दिखा सकते हैं कि कोई मूलधन चक्रवृद्धि ब्याज की दर से किस प्रकार बढ़ता है। मजदूरों की संख्या तथा उत्पादन-मात्रा के बीच के सम्बन्ध को हम इसी प्रकार प्रकट कर सकते हैं।

(७) **समीकरण**—दो परिवर्तनशीलों के सम्बन्ध को हम ग्राफ के बिन्दुओं अथवा वक्र द्वारा दिखा सकते हैं। लेकिन इन दो विधियों के अतिरिक्त एक तीसरी विधि भी है। इनके सम्बन्ध को हम समीकरण द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। यदि हम 'स्वतन्त्र' परिवर्तनशील को 'क' कहें तथा 'आश्रित' को 'ख' कहें तो इनके सम्बन्ध को हम निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रकट कर सकते हैं—

ख = १ + २क

इस सम्बन्ध को हम एक अनुसूची द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। क का मान पहले हम १ मानते हैं, इससे ख का मान ३ मिलता है। इसी प्रकार—

अनुसूची नं० २

क	ख
१	३
२	५
३	७
४	९
५	११
६	१३
७	१५
८	१७
९	१९
१०	२१
११	२३

उपर्युक्त को हम ग्राफ पर भी दिखा सकते हैं—

हम देखते हैं कि दिए गए चित्र में बिंदुओं को जोड़ने वाला 'वक्र' एक सरल रेखा है। या संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि दिए गए समीकरण को प्रकट करने वाला

'वक्र' एक सरल रेखा है। समीकरण की भांति यह सरल रेखा भी परिवर्तनशीलों के बीच एक निरन्तर परिवर्तनीय सम्बन्ध प्रकट करती है। इस प्रकार का कोई भी समीकरण सरल रेखा का समीकरण होगा। 'इस प्रकार के समीकरण' से हमारा अभिप्राय ऐसे समीकरण से है जिसमे 'आश्रित' (ख) को किसी स्थिर (१) तथा स्वतन्त्र परिवर्तनशील (क) और किसी स्थिर (२) के गुणनफल के योग द्वारा दिखाया जाये।
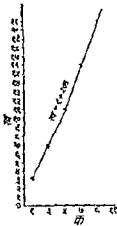
चित्र न० (२)

(इ) ढाल—अब हम एक अन्य प्रकार के सरल रेखीय समीकरण पर विचार करेंगे। मान लिया कि ख = १६ − ३क

अनुसूची नं० ३

क	ख
०	१६
१	१३
२	१०
३	७
४	४
५	१
६	−२
७	−५
८	−८

उपर्युक्त में सूची में हम देखते है कि जैसे-जैसे क का मान बढ़ता है वैसे-वैसे ख का मान घटता जाता है। ग्राफ में समीकरण को प्रकट करने वाली सरल रेखा बाएं से दायीं ओर गिरती जाती है। इस वक्र के गिरने का कारण है ऋण चिन्ह, जो समीकरण में 'क' के पूर्व स्थित है। जैसे-जैसे क का मान बढ़ता है वैसे-वैसे एक स्थिर संख्या, १६ में से अधिकाधिक घटता जाता है। इस प्रकार के सरल रेखीय

परिवर्तनशीलों के सम्बन्ध को (जिनमें 'क' के पहले ऋण का चिन्ह हो) ऋणात्मक ढाल वाली कोई रेखा उपर्युक्त चित्र में दिखाये 'वक्र' की भांति बायें से दायें ओर गिरती दिखाई देगी। इससे पूर्व के चित्र में 'वक्र' का ढाल धनात्मक है तथा वह ऊपर उठता दिखाई देता है।

यह आवश्यक नहीं कि सभी परिवर्तनशील सम्बन्ध सरल रेखीय ही हों, वे वक्रीय भी हो सकते हैं, जैसे वृत्ताकार आदि। कुछ वक्र ऋणात्मक तथा धनात्मक दोनों रूप में ढालू होते हैं जैसे चित्र न० १ का वक्र। इस ऋणात्मक तथा धनात्मक ढाल को हम सरल रेखा द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। यदि कोई सरल रेखा ऐसी खींची जाय जो वक्र को किसी एक ही बिन्दु पर स्पर्श करे तो इस सरल रेखा को हम स्पर्शक रेखा या केवल स्पर्शक (Tangent) कहते हैं। किसी दिये हुए बिन्दु पर वक्र की ढाल वही होगी जो उस बिन्दु पर खींचे हुए स्पर्शक की होगी।
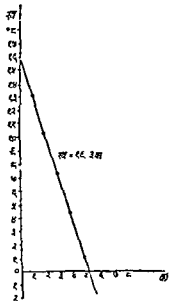
चित्र न० (३)

ढाल है क्या ? इसको केवल ऋणात्मक या धनात्मक कह देना ही काफी नहीं है। वास्तव में ढाल एक प्रकार की माप है जो यह बताती है कि सम्बन्धित वक्र *किस दर या गति से उठ रहा है (यदि ढाल धनात्मक है) अथवा किस गति या दर* से गिर रहा है (यदि ढाल ऋणात्मक है) यह माप हमें यह बताती है कि 'क' में एक इकाई के परिवर्तन के फल स्वरूप 'ख' में कितना (+या—) परिवर्तन आता है। इस प्रकार चित्र (२) में हम देखते हैं कि क में १ इकाई परिवर्तन के फलस्वरूप ख में दो इकाई का परिवर्तन आता है। या हम कह सकते हैं कि इस चित्र में वक्र की ढाल २ है। यदि हम इस परिवर्तनशीलों के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाले समीकरण (ख=१+२ख) को देखें तो हम देखते हैं कि 'क' को सदैव २ से गुणा किया गया है। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि किसी रेखा के समीकरण में 'क' का गुणक ही उस रेखा की ढाल प्रकट करता है। चित्र ३ में हम देख सकते हैं कि 'क' में प्रति इकाई वृद्धि के फलस्वरूप 'ख' में ३ इकाई की कमी आती है। अर्थात् ढाल ३ है जो समीकरण में 'क' का गुणक है।

(ख) सीमान्त—किसी सरल रेखा की ढाल कभी परिवर्तित नहीं होती। चित्र न० २ में प्रत्येक बिन्दु पर रेखा की ढाल २ है। ढाल को स्वयं सम्बन्धित रेखा के परिवर्तनीय सम्बन्ध के रूप में ग्राफ पर हम आलेखन (Plot) कर सकते हैं।

हैं। सरल रेखा की दशा मे, उसका ढाल भी सरल रेखीय परिवर्तनशील सम्बन्ध के रूप मे होगा, तथा क्षैतिज सरल रेखा के रूप मे प्रकट होगा।

चित्र न० २ मे इस ढाल को एक क्षैतिज रेखा द्वारा प्रदर्शित किया जायगा जो २ इकाई दूरी पर क अक्ष के समानान्तर होगी। अर्थशास्त्र मे इस ढाल को सीमान्त भी कहते हैं। स्वतन्त्र चर राशि मे एक इकाई परिवर्तन के फलस्वरूप आश्रित चर राशि मे जो परिवर्तन होगा उसे सीमान्त कहते हैं। अत ढाल के ग्राफ को हम सीमान्त का ग्राफ भी कह सकते हैं।

किसी वक्र रेखा के ढाल के वक्र का आलेखन भी किया जा सकता है। लेकिन चू कि किसी वक्र की स्पर्शक लगातार बदलती रहती है तथा प्रत्येक का ढाल भिन्न भिन्न है, इस लिये वक्र रेखा के ढाल (सीमान्त) का ग्राफ भी वक्ररेखीय होगा। चित्र न० १ मे दिखाए गये वक्र के ढाल का ग्राफ खीचने से उसकी शक्ल अग्रेजी अक्षर यू (U) के उल्टे (∩) रूप के समान होती है। यदि चित्र न० ७ मे हमे क अक्ष पर कोई उत्पादन का साधन दिखाए (यह मान कर कि उत्पादन के अन्य साधन स्थित हैं) तथा ख अक्ष पर उत्पादन, तो आलेखित वक्र 'कुल उत्पादन' प्रदर्शित करेगा। और निम्नांकित ग्राफ सीमान्त उत्पादन को प्रकट करेगा।
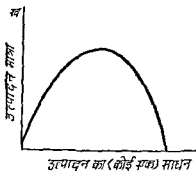
किसी ढाल को हम सारिणी या अनुसूची की सहायता से भी ज्ञात कर सकते हैं। हमारी परिभाषा के अनुसार ढाल $= \frac{\text{ख* — अक्ष पर वृद्धि}}{\text{क — अक्ष पर वृद्धि}}$ इसको हम दी हुई सारिणी से ज्ञात कर सकते हैं कि क अक्ष पर इकाई परिवर्तन से ख अक्ष पर *क्या परिवर्तन आया।*

ग्राफ को नाप कर भी हम ढाल या सीमान्त पा सकते है।

इस प्रकार किसी वक्र** के ढाल को (सीमान्त को) हम तीन प्रकार से पा सकते है—सरल रेखा अथवा वक्र के स्पर्श के समीकरण से, किसी सारिणी या अनुसूची से तथा ग्राफ से।

(छ) **युगपत्समीकरण**—युगपत्समीकरण भी आर्थिक विश्लषण मे हमारी काफी सहायता करता है। यदि दो समीकरण एक साथ ही सही हो तो उनके एव

---

* *Insrement on X axis* / Increment on X-axis where independent variables are shown on X axis, while dependent ones on Y axis

** गणित मे सरल रेखा को भी एक प्रकार का वक्र माना जाता है।

या प्रवित्र उभयनिष्ट हल हो सकते हैं। युगपत्समीकरण की हालत में दो अज्ञात राशियां होती हैं। इन अज्ञात राशियों द्वारा ऐसे समीकरण बनते हैं जिनका समाधान अज्ञात राशियां अपने एक ही मान से एक ही साथ करती हैं। इसी लिये इन समीकरणों को युगपत्समीकरण कहते हैं। दो समीकरणों का अज्ञात राशियों के एक ही मान द्वारा समाधानित होने का अर्थ ग्राफ में यह होगा कि इन समीकरणों की रेखाएं परस्पर एक दूसरे को एक या अधिक बिन्दुओं पर काटेंगी या स्पर्श करेंगी। यदि दोनों समीकरणों का समाधान करने वाला उत्तर एक ही है तो स्पष्ट है कि 'क' का मान दोनों समीकरणों में समान होगा और उसी प्रकार 'ख' का मान भी दोनों समीकरणों में समान होगा, और यदि 'क' तथा 'ख (किसी बिन्दु के निर्देशांक) दोनों वक्रों पर स्थित हैं तो दोनों वक्र अवश्य ही एक दूसरे को काटेंगे या स्पर्श करेंगे।

हमने पीछे के दो समीकरण लिये हैं।

ख = १ + २ क तथा

ख = १६ — ३ क

पीछे दी हुई अनुसूचियों को यदि हम गौर से देखें तो हम देखेंगे कि उनमें एक बिन्दु ऐसा है जो दोनों में शामिल है अर्थात् क = ३ तथा

ख = ७

इस बिन्दु को हम अनुसूची न० २ तथा ३ दोनों में पा सकते हैं, यह उभयनिष्ट है।

बीजगणित की सहायता से भी हम उपर्युक्त दोनों समीकरणों को कई रीतियों से हल कर सकते हैं। ये रीतियां अत्यंत सरल है तथा प्रारम्भिक कक्षाओं में ही इनका ज्ञान करा दिया जाता है। इस लिये हम इन रीतियों को ब्योरेवार यहां नहीं बतायेंगे। हां, बीजगणित की सहायता से भी हमें क = ३ तथा ख = ७ मिलता है।

चित्र न० ४

उपर्युक्त दोनों समीकरणों का हल हम ग्राफ द्वारा भी कर सकते हैं। यदि अनुसूची २ तथा ३ को हम एक ही ग्राफ पर आलेखित करें तो हम निम्नांकित रूप से इन समीकरणों का हल मिल जाता है।

उपर्युक्त ग्राफ में दोनों समीकरणों को प्रकट करने वाली रेखाएं 'म' बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं। 'म' बिन्दु का निर्देशांक अब (Coordinate) (३, ७) है। यदि इनमें से कोई एक रेखा वक्र हो तो दोनों रेखायें
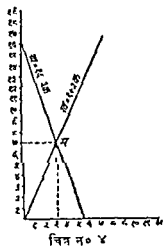
एक से अधिक बिन्दुओ पर मिलेगी तथा समीकरण से एक से अधिक हल हो सक्ते है। जो समीकरण युगपत्समीकरण की विधि द्वारा हल किये जा सकते हैं उन्हे सगत समीकरण कहते हैं। दो समीकरणो की युगपत्समीकरण की रीति से तभी हल किया जा सकता है जब दोनो का उत्तर वही हो।

वास्तव मे, वक्रो द्वारा किसी हल के निकालने मे बडी सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। वक्र बनाते समय वक्र के अर्थ को पूर्णरूपेण समझ लेना आवश्यक है। अर्थशास्त्र मे भी हम दो या अधिक वक्रो का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। ये वक्र यदि एक दूसरे को काटते है तो उनका हल हम युगपत्समीकरण द्वारा निकाल सकते है। लेकिन इसके लिय वक्रो के अर्थ को ठीक ठीक समझना आवश्यक है। प्रारम्भिक अर्थशास्त्र म माग-पूर्ति वक्र एक दूसरे को जहा काटते हैं वही बिन्दु सस्थिति का बिन्दु होता है तथा उसके निर्देशनाक द्वारा हम सम्बन्धित वस्तु मात्रा तथा कीमत का पता लगा लेते हैं। आगे चलकर हम यह भी देखेगे कि कोई फर्म सस्थिति की अवस्था म तभी होता है जब उसका सीमान्त आय-वक्र उसके सीमान्त लागत वक्रो को काटता है यह बिन्दु महत्वपूर्ण है। लेकिन सभी प्रकार के वक्रो का एक दूसरे को काटना सर्वदा मतलब का नही होता। जैसे सीमान्त आय-वक्र (लागत के स्थाई न होने की हालत मे) कुल लागत वक्र को भी काटता है लेकिन इस प्रकार के काटने का कोई अर्थ नही होता। यह बिन्दु किसी महत्व का नही। तात्पर्य यह है कि वक्रो के काटने से कुछ अर्थ तभी निकाला जा सकता है जब उन वक्रो के उद्देश्य तथा अर्थ को पूरा-पूरा समझकर उनका आलेखन किया जाय।

सस्थिति—सस्थिति का प्रत्यय आर्थिक विश्लेषण मे काफी गौरव का स्थान प्राप्त कर चुका है। सस्थिति को हमेशा किसी युगपत्समीकरण के हल के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। पहले भी हम कह चुके है कि सस्थिति के भाव को भौतिकशास्त्र से उधार लिया गया है। जब दिक (space) म किसी वस्तु पर धनात्मक तथा ऋणात्मक शक्तिया इस प्रकार काम करती हैं कि उस वस्तु मे गति वर्द्धन नही होता तो कहा जाता है कि वह वस्तु सस्थिति मे है। गुब्बारा, जो न ऊपर उठने की प्रवृत्ति रखता है न नीचे गिरने की सस्थिति की, अवस्था मे है। अर्थशास्त्र के विश्लेषण मे हम कल्पना करते है कि क्रता तथा विक्रेता बाजार मे 'शक्तियो' की सृष्टि करते हैं। ये ही शक्तिया पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा कीमत, फर्म तथा उद्योग के उत्पादन, उपभोक्ताओ के व्यय आदि मे सस्थिति ले आती हैं। ये सस्थितिया स्थाई भी हो सकती है तथा अस्थाई भी। अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक विश्लेषण मे प्राय सस्थिति का हम स्थाई मान कर चलते है।

बाजार की 'शक्तियो' से हमारा क्या तात्पय हो सकता है ? कदाचित् क्रताओ तथा विक्रेताओ की इच्छाओ को हम बाजार की शक्ति कह सकते है। प्रत्येक बाजार मे दो प्रकार के लोग कार्य करते है, एक तो क्रता जो माग की शक्ति

का सृजन करते हैं, दूसरे विक्रेता जो पूर्ति की शक्ति के सृजन करने वाले होते है। ये दोनो पक्ष एक दूसरे के सहयोगी भी होते हैं तथा विरोधी भी। बाजार की स्थिति का निर्माण इन्ही से होता है। क्रेता अपनी इच्छाओं की अधिकतम तुष्टि चाहता है, विक्रेता अपने लाभ की। किन्तु किसी न किसी बिन्दु पर दोनो को समझौता करना ही पडता है। क्रेताओं तथा विक्रेताओं की विरोधी 'शक्तियो' मे समझौता ही सस्थिति का मूल है। क्रेताओं की 'शक्ति' को हम एक समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते है, तथा विक्रेताओं की शक्ति का दूसरे समीकरण द्वारा। चूंकि सस्थिति का अर्थ समझौता होता है, इसलिये यदि इस प्रकार के समीकरणो का हल हम युगपत्समीकरण की रीति से करें तो हमे समझौते अथवा सस्थिति का बिन्दु प्राप्त हो जायेगा।

सांख्यकी—साख्यकी आर्थिक विश्लेपण का एक दूसरा परमोपयोगी उपकरण है। इसकी महत्ता अन्य विज्ञानो मे भी कुछ कम नही है। साख्यकी ज्ञान की वह शाखा है जो दत्त आकडो का वर्णन करती है तथा इन्ही आकडो के आधार पर ऐसे साधारण नियमो का प्रतिपादन करती है जिनकी सहायता से हम किसी ग्रुप या समूह की विशेषता पा सकते है तथा एक ग्रुप को दूसरे से विभेदित कर सकते हैं। माध्य या औसत साख्यकी की दी हुई एक परमोपयोगी प्रत्यय है। इसका प्रयोग बहुत कुछ प्रारम्भिक कक्षाओं मे छात्रो को बता दिया जाता है, इसलिये हम इस पर और कुछ न कहेगे।

४
उपभोग
(Consumption)

उपभोग का महत्व—

अध्ययन की सुविधा के लिये अर्थशास्त्र को उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व—इन पाँच भागों में विभाजित किया जाता है। वास्तव में, ये पाँचों विभाग अर्थशास्त्र के उसी प्रकार के अंग हैं जिस प्रकार हाथ, पैर, नाक, कान आदि मानव शरीर के अंग होते हैं। ये एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। इन पाँचों भागों में उपभोग अर्थात मनुष्य की आवश्यकतायें तथा उनकी तुष्टि, अर्थशास्त्र के विज्ञान का प्रस्थान बिन्दु है। दुर्भाग्य से अर्थशास्त्र के निर्माताओं अर्थात् क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने उपभोग की समस्या की ओर कोई ध्यान न देकर उत्पादन की ओर ही ध्यान दिया था। परन्तु जेवन्स आदि आस्ट्रियन विचारधारा वालों ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की इस भूल को सुधारा तथा यहाँ तक कह डाला कि सारा आर्थिक सिद्धान्त उपभोग के सही सिद्धान्त पर आधारित होता है। जेवन्स के अतिरिक्त पेटन आदि ने भी उपभोग को प्राथमिकता दी है।

परन्तु उपभोग है क्या और उसको इतनी प्राथमिकता देने का क्या कारण है—यह प्रश्न हमारे सामने स्वाभाविक रूप से ही उपस्थित होता है। संसार में चारों ओर हमको जो चहल पहल दिखाई पड़ती है उसका स्रोत मानव आवश्यकतायें हैं। मनुष्य को किसी चीज की आवश्यकता अनुभव होती है। उसकी तुष्टि के लिये वह प्रयत्न करता है। उसके प्रयत्न के फलस्वरूप चीजों का उत्पादन होता है। जब तक मानव समाज पिछड़ी हुई दशा में था तब तक मनुष्य स्वयं परिश्रम करके उत्पादन करता था तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था परन्तु जब सभ्यता का विकास होने लगा तथा मानव आवश्यकताओं का वृत्त विस्तृत होने लगा तब से उत्पादन का ढंग भी पेचीदा हो गया। उत्पादन में श्रम विभाजन का एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया। श्रम विभाजन के आते ही वितरण, विनिमय आदि की बहुत सी समस्यायें उपस्थित होने लगीं। इस प्रकार हम आजकल उत्पादन, वितरण, विनिमय आदि की पेचीदा समस्यायें अपने सामने देखते हैं। परन्तु इन सब पेचीदा चीजों के पीछे एक ही शक्ति कार्य कर रही है और वह है मानव आवश्यकता।

आवश्यकतायें—

साधारण बोल-चाल मे 'आवश्यकता' शब्द का प्रयोग 'इच्छा' (Desire) के अर्थ मे किया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र मे 'इच्छा' और 'आवश्यकता' मे भेद किया जाता है। अर्थशास्त्र मे 'इच्छा' शब्द का प्रयोग किसी चीज की लालसा के लिये होता है। मनुष्य का मन एक बडे महासागर के समान है जिसमे सहस्रो इच्छायें उठती रहती हैं। परन्तु इन इच्छाओं का समाज के ऊपर उस समय तक कोई प्रभाव नही पडता जब तक कि मनुष्य उन इच्छाओं को तुष्ट करने का प्रयत्न नही करता। इसी कारण ऐसी इच्छा को जिसको तुष्ट करने का मनुष्य प्रयत्न करता है, उस इच्छा से भिन्न करना आवश्यक है जो केवल चिंगारी के रूप मे उठ कर शीघ्र ही स्वयं समाप्त हो जाती है। इस पिछले प्रकार की इच्छा को केवल 'इच्छा' ही कहा जाता है परन्तु उस इच्छा का, जिसको पूरा करने की शक्ति मनुष्य मे होती है अर्थात् जिसको पूरा करने के लिये उसके पास पर्याप्त साधन होते हैं तथा इन साधनो को वह उस इच्छा की पूर्ति के लिये काम मे लाने को तैयार होता है उसको अर्थशास्त्र मे 'आवश्यकता' (Want) कहा गया है।

आवश्यकताओं की विशेषतायें—

मानव आवश्यकताओ की बहुत सी विशेषताये होती है जिनके ऊपर अर्थशास्त्र के बहुत महत्वपूर्ण नियम आधारित है जैसे आवश्यकताओ की इस विशेषता पर 'प्रगति का नियम' (Law of Progress) आधारित है कि आवश्यकतायें अनन्त होती हैं। आवश्यकताओ की दूसरी विशेषता यह होती है कि प्रत्येक आवश्यकता को तुष्ट किया जा सकता है। आवश्यकता की इस विशेषता पर उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) आधारित है। आवश्यकताओ की तीसरी विशेषता यह है कि वे एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा (Competition) रखती हैं अर्थात् प्रत्येक आवश्यकता तुष्टि की प्राथमिकता चाहती है। आवश्यकताओ की इस विशेषता के ऊपर 'स्थानापन्न का नियम' (Law of Substitution) आधारित है। आवश्यकताओ की चौथी विशेषता यह है कि वे तीव्रता मे भिन्न होती है अर्थात कोई आवश्यकता तो अधिक तीव्र गति से आती है परन्तु दूसरी कुछ आवश्यकतायें इतनी तीव्र नही होती। आवश्यकताओ की इस विशेषता पर सम सीमान्त उपयोगिता नियम आधारित है। आवश्यकताओ की पाचवी विशेषता यह है कि कुछ आवश्यकतायें एक साथ मिलकर आती हैं। आवश्यकताओ की इस विशेषता पर सयुक्त माग (Joint Demand) का नियम आधारित है। आवश्यकताओ की छटी विशेषता यह है कि वर्तमान की आवश्यकतायें भविष्य की आवश्यकताओ से अधिक तीव्र होती है। आवश्यकताओ की इस विशेषता पर फिशर (Fisher) का 'ब्याज का समय अधिमान नियम' (Time Preference Theory of Interest) आधारित है आवश्यकताओ की सातवी विशेषता यह है कि वे कई ढग से पूरी की जा सकती हैं। आवश्यकताओ की इस विशेषता के

ऊपर मिश्रित पूर्ति का नियम आधारित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आवश्यकताओं की प्रत्येक विशेषता के साथ अर्थशास्त्र का कोई न कोई नियम सम्बन्धित है। इसी कारण अर्थशास्त्र के अध्ययन मे उनको एक विशेष स्थान दिया गया है।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण—

हम ऊपर बता चुके है कि मनुष्य की सभी आवश्यकताये तीव्रता मे समान नही होती। कुछ आवश्यकताये बहुत तीव्र होती है। यदि उनको तुष्ट न किया जाय तो मनुष्य का जीवन ही खतरे मे पड जायगा। परन्तु दूसरी आवश्यकतायें इतनी अधिक तीव्र नही होती। इसी कारण आवश्यकताओ को तीन श्रेणियो में विभक्त किया गया है—(१) अनिवार्य आवश्यकतायें, (२) आरामदायक आवश्यकतायें, (३) विलासिता की आवश्यकताये। (१) अनिवार्य आवश्यकताये वे होती है जिनकी तुष्टि से हमारी कार्यक्षमता बढती है तथा जिनको तुष्ट न करने से हमारी कार्यक्षमता घट जाती है। य तीन प्रकार की होती है—(अ) जीवन रक्षक आवश्यकतायें (Necessaries of life)—वे होती हैं जिनकी तुष्टि हमको मृत्यु से बचाती है। उदाहरण के लिये साधारण भोजन, कपडा तथा मकान। य चीजे हमको प्राप्त न हो तो हमारा जीवन ही खतरे में पड जाता है। (आ) कार्यक्षमता की आवश्यकताये (Necesaries of Efficiency)—वे होती है जिनकी तुष्टि हमारी कार्य-क्षमता को बढाती है। यदि मनुष्य निरन्तर थोडा भोजन खाता रहे, थोडा कपडा पहनता रहे तथा थोडे मकान मे रहता रहे तो उसका काम न चलेगा क्योंकि उसके अन्दर कम शक्ति के कारण काम करने की कुशलता नही आयेगी। इसी कारण उसको साधारण भोजन, कपडा व मकान के अतिरिक्त भोजन मे साग, फल, दूध आदि भी चाहिये। यदि देश ठण्डा है तो साधारण कपडे के स्थान पर कुछ अधिक वस्त्र व मकान की आवश्यकता भी पडेगी। (इ) कृत्रिम अथवा समाजिक आवश्यकतायें (Conventional necessaries)—वे आवश्यकतायें होती है जिनकी तुष्टि करना जीवन-रक्षा तथा कार्यक्षमता मे वृद्धि करने के लिये तो आवश्यक नही परन्तु कुछ दूसरे कारणों से उनकी तुष्टि आवश्यक होती है जैसे इसलिये कि मनुष्य को कुछ चीजो के उपभोग करने की आदत पड गई है, उदाहरण के लिये मनुष्य को शराब व सिगरेट की आदत पड जाती है। यदि मनुष्य इन चीजो का उपभोग न करे तो उसका बडी पीडा होती है। इसी प्रकार भारतवर्ष मे सामाजिक बन्धनो के कारण मृत्यु या शादी के अवसरो पर लोगो को दावत देनी ही पडती है। यदि वे दावत न दें तो समाज के लोग ऐसे व्यक्तियो को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी कारण इस प्रकार की आवश्यकताय अनिवार्य आवश्यकताओ की श्रेणी मे रखी गई है।

(२) आरामदायक आवश्यकताये वे होती हैं जिनकी तुष्टि जीवन को सुखदायी बनाने के लिये आवश्यक होती है। इनके उपभोग से मनुष्य का जीवन-स्तर ऊचा होता है। इनकी तुष्टि से मनुष्य की कार्यक्षमता बढती है परन्तु उनकी तुष्टि न

दशा मे कीमत से कोई सम्बन्ध नही रखते, इस दशा मे कीमत का भाव अन्तर्निहित है। जब किसी वस्तु की कीमत बहुत समय तक एकसी ही रहती है तो उस समय माग की मात्रा के साथ व्यवहार मे कीमत को छोड दिया जाता है। माग की यह भी विशेषता होती है कि वह किसी कीमत पर एक निश्चित समय के लिये होती है। यदि कीमत घट या बढ जाय तो माग भी बढ या घट जायगी। इस प्रकार माग किसी कीमत पर एक दिन 'एक सप्ताह, एक मास अथवा एक वर्ष की होती है। इसलिये हम कह सकते है कि माग का सम्बन्ध समय की इकाई से होता है। वह माग जो कीमतो (Prices) के ऊपर अपना प्रभाव डालती हैउसको क्षमशील माग (Effective demand) कहते है। उन लोगो की माग जो कि मागी हुई कीमत को देने की क्षमता नही रखते चाहे जितनी भी हो परन्तु वह कीमत पर अथवा कोई भी प्रभाव नही डाल सकती। इन लोगो की माग की उपमा प्रो० विक्सैल (Wicksell) ने उन बहुतेरे परन्तु साधनहीन लोगो से दी है जो कि जौहरी की दुकान की खिडकी में सजाई बहुमूल्य वस्तुओ को लुब्ध दृष्टि से देखते रहते है। क्षमशील माग वही माग कहलाती है जो कि प्रचलित कीमत पर बाजार की पूर्ति के बिल्कुल बराबर होती है। माग का विचार हम व्यक्तिगत माग तथा बाजार की माग की दृष्टि से करेंगे।

व्यक्ति की माग तालिका–

किसी व्यक्ति की किसी एक निश्चित समय पर किसी वस्तु की माग का अभिप्राय वस्तु की वे मात्राये है जो कि वह व्यक्ति विभिन्न कीमतो पर खरीदेगा। आगे चल कर हम देखेंगे कि माग के नियम के अनुसार जैसे-जैसे किसी वस्तु की कीमत बढती जाती है वैसे-वैसे उसकी माग कम होती जाती है तथा जैसे जैसे कीमत घटती जाती है वैसे-वैसे माग बढती जाती है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि किसी निश्चित समय पर कोई व्यक्ति किसी वस्तु की जो मात्राय खरीदने के लिये तैयार होगा वे कीमत के ऊपर निर्भर होगी। कीमत कम होने पर व्यक्ति वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने को तैयार होगा परन्तु, कीमत अधिक होने पर वह उस वस्तु की कम मात्राये खरीदने का तैयार होगा। एक व्यक्ति किसी निश्चित समय पर किसी वस्तु की विभिन्न कीमतो पर जो जो मात्राये खरीदने को तैयार होगा उसको हम एक तालिका अथवा अनुसूची का रूप दे सकते है। इस तालिका को व्यक्ति की माग तालिका अथवा अनुसूची (Individual Demand Schedule) कहेगे। व्यक्ति की माग-तालिका का निम्नलिखित रूप हो सकता है —

दूध की कीमत प्रति सेर	दूध की माग (सेर में)
१२ आने	१
१० ,,	१½
८ ,,	२
७ ,,	२½
६ ,,	३

पूर्वोक्त अनुसूची को देखने से पता चलता है कि अधिक कीमत पर दूध की कम मात्रा तथा कम कीमत पर दूध की अधिक मात्रा खरीदी जायगी।

पीछे दी गई तालिका के आधार पर हम व्यक्ति का माग वक्र (Individual demand curve) भी बना सकते है।

यहाँ पर OX पर व्यक्ति की दूध की माँग सेरो मे दिखाई गई है तथा कीमत OY पर आनो म दिखाई गई है। इसमे १ सेर दूध को २ सेन्टीमीटर मे तथा २ आने को एक सेन्टीमीटर स दिखाया गया है। इस प्रकार १ सेर दूध की कीमत m^1p^1 से, १½ सेर दूध की कीमत m^2p^2 से, २ सेर दूध की कीमत m^3p^3 से, २½ सेर दूध की कीमत m^4p^4 मे तथा ३ सेर दूध की कीमत m^5p^5 से दिखाई गई है। उसके पश्चात् $p^1p^2p^3p^4p^5$ को मिलाकर एक वक्र तैयार किया गया है। यही व्यक्ति का माँग वक्र है। यह वक्र कीमत तथा माग की मात्रा का सीधा सम्बन्ध दिखाता है। इस वक्र पर यदि हम कोई कीमत लें तो हम को पता चल सकता है कि उस कीमत पर व्यक्ति वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा। इसके विपरीत, यदि इस वक्र पर हम कोई मात्रा लें तो हम को पता चल सकता है कि उस मात्रा को किस कीमत पर खरीदा जा सकता है।

बाजार की मांग तालिका—

व्यक्तिगत माँग तालिका के आधार पर हम बाजार की माग तालिका बड़ी आसानी से बना सकते हैं। बाजार मे बहुत से व्यक्ति सौदा खरीदने आते हैं। उनमे से प्रत्येक की अपनी-अपनी माग तालिका होती है। ध्यान रहे कि प्रत्येक खरीदार इस प्रकार की तालिका लेकर बाजार मे नहीं जाता, प्रत्यक अपनी आवश्यकता की तीव्रता व ससाधनो के अनुसार अपने मस्तिष्क म एक प्रकार की तालिका रखता है अर्थात् इस प्रकार का विचार रखता है कि यदि अमुक कीमत होगी तो वह वस्तु की अमुक मात्रा खरीदेगा और यदि कीमत और कुछ होगी तो वह वस्तु की इतनी मात्रा खरीदेगा। इस प्रकार के सब खरीदारो की विभिन्न कीमतो पर यदि हम माँग को जोडकर एक तालिका बना ल तो वह बाजार की माग तालिका (Market demand schedule) हो जायगी। बाजार की माग तालिका हम दो ढगो से तैयार कर सकते हैं—

(१) विभिन्न व्यक्तियो की माँग तालिका को जोडकर,

(२) बाजार के एक औसत अथवा प्रतिनिधि व्यक्ति की माग तालिका लेकर उसको बाजार के सब खरीदारो की सख्या से गुणा करके हम यह बात मालूम कर

सकते है कि विभिन्न कीमतो पर किसी निश्चित समय पर किसी वस्तु की कितनी-कितनी मात्रायें खरीदी जायेंगी। यही बाजार की माग तालिका होगी। उदाहरण के लिये, यदि किसी स्थान का एक औसत व्यक्ति १२ आने प्रति सेर पर एक मास म १ मन दूध खरीदता है, १० आने प्रति सेर पर १$\frac{१}{२}$ मन खरीदता है, ८ आने पर २ मन और यदि उस स्थान पर १०० ऐसे लोग रहते है तो हम कह सकते है कि उस स्थान की दूध की मांग प्रति मास १२ आने पर १०० मन, १० आने पर १५० मन, ८ आने पर २०० मन आदि होगी। इस प्रकार बाजार की माग तालिका हम निम्नलिखित रूप से दिखा सकते है—

दूध का मूल्य (प्रति सेर)	दूध की मांग
१२ आने	१०० मन
१० आने	१५० मन
८ आने	४०० मन
६ आने	६०० मन
४ आने	१००० मन

उपर्युक्त ढग से बनाई गई बाजार की माग तालिका बाजार की माग की बहुत अशो तक द्योतक होगी। इसका कारण यह है कि बाजार मे सब प्रकार के खरीदार होते है। उनमे से कुछ धनी होते है तो कुछ निर्धन, कुछ एक प्रकार का स्वाद व फैशन रखते है तो कुछ दूसरी प्रकार का। औसत निकालने से एक खरीदार की एक दिशा मे विशेषता दूसरे खरीदार की दूसरी दिशा मे विशेषता से कट जाती है। इस प्रकार औसत किसी समूह के लोगो का सही अर्थों मे प्रतीक होता है। इस औसत के आधार पर बाजार की माग वास्तविकता के लगभग समीप होगी।

उपर्युक्त बाजार की माग तालिका के आधार पर हम निम्नलिखित माग वक्र बना सकते हैं—
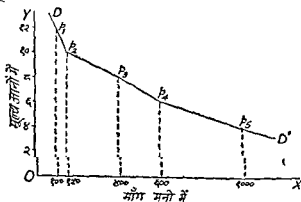
उपर्युक्त ग्राफ मे OX अक्ष पर माग मनो मे तथा OY पर कीमत आनों मे दिखाई गई है। यहा पर OX पर १०० मन १ सेन्टीमीटर के बराबर तथा OY पर

२ आने १ सेन्टीमीटर के बराबर दिखाये गये है। इस प्रकार १२ आने तथा १०० मन से १० आने तथा १५० मन से, ८ आने तथा ४०० मन से, ६ आने तथा ६०० मन से तथा ४ आने तथा १००० मन से हम क्रमश $p^1p^2p^3p^4p^5$ बिन्दु प्राप्त किये। इन बिन्दुओं से गुजरता हुआ हमने D D एक वक्र खीचा। यह D D¹ वक्र ही बाजार की माग का वक्र है। इस वक्र पर कोई भी बिन्दु लेने पर यदि हम OX तथा OY पर लम्ब डाल दें तो हमको यह पता लग जायगा कि किसी कीमत पर वस्तु की कितनी मात्रा खरीदी जायगी अथवा किसी मात्रा को यदि हम खरीदना चाहे तो उसको किस कीमत पर खरीद सकते है।

उपधारणायें—किसी वस्तु की माग पर कई प्रकार के प्रभाव पडते हैं। उदाहरण के लिये उपभोग वस्तु की माग उपभोग करने वाली जनसख्या, उपभोक्ताओं की आय, उनके स्वाद, प्रतियोगी वस्तुओं की कीमतो तथा वस्तु की स्वय की कीमत पर निर्भर होती है। माग वक्र को खीचते समय हम इन सब प्रभावो को स्थिर मानकर चलते हैं। माग वक्र खीचते समय हम केवल कीमत के प्रभाव को ही स्वीकार करते हैं अर्थात् माग वक्र मे केवल यह बात बताई जाती है कि यदि कीमत घटे या बडे तो वस्तु मात्रा के ऊपर क्या प्रभाव पडेगा।

उपर्युक्त माँग वक्र को निरन्तर इस लिये बनाया गया है कि बाजार मे सैकडो खरीदार होते हैं। इनमे से कुछ न कुछ उपभोक्ता प्रत्येक कीमत पर वस्तु की कोई न कोई मात्रा खरीदने को तैयार रहते है। इसी कारण माग वक्र को निरन्तर दिखाया गया है। परन्तु यदि बाजार मे ऐसी स्थिति न हो अर्थात् यदि खरीदारो की माग की कीमत मे एक दूसरे को अपेक्षा बहुत अन्तर हो तो माग वक्र निरन्तर न होकर बीच-बीच मे टूट-फूट जायगा। इस प्रकार के माग वक्र को हम विरत वक्र (Discontinuous Curve) कह सकते है।

वास्तविक मांग तालिका का अनुमान लगाने मे कठिनाइयाँ—

हमने ऊपर जो माग तालिका बनाई है वह काल्पनिक ही है। व्यवहार मे किसी वस्तु अथवा सेवा की वास्तविक माग तालिका बनाना कोई सरल काम नही है। वास्तविक माग तालिका बनाने मे जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है उनका वर्णन प्रो० बेनहम ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' मे किया है। वे कहते हैं कि हम किसी वस्तु की किसी समय किसी दी हुई कीमत पर एक निश्चित मात्रा खरीदते हैं। यह मात्रा प्रति दिन अथवा प्रति सप्ताह खरीदी जा सकती है। अब हमारे सामने यह समस्या उपस्थिति होती है कि यदि कीमत मे परिवर्तन हो जाय तो वस्तु की कितनी मात्रा खरीदी जायगी। इस समस्या को हम भूतकाल के आकडो के आधार पर नही सुलझा सकते। यह हो सकता है कि तीन वर्ष पूर्व वस्तु की कीमत आज की कीमत से १० प्रतिशत ऊँची रही हो परन्तु माग आज की माग से ३० प्रतिशत कम रही हो। यह भी हो सकता है कि वस्तु की माग पर जो शक्तिया आज प्रभाव

डाल रही है वे उनसे भिन्न हो जो कि तीन वर्ष पूर्व डाल रही थीं। भूतकाल की कीमतो तथा बिक्री से हम वर्तमान माग का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, परन्तु इस प्रकार के आकडो को बडी सावधानी से काम मे लाना चाहिये तथा नतीजा निकालते समय उपभोग करने वाली जनसख्या, लोगो की मौद्रिक आय, उनकी रुचियो, व्यापार की हालतो, अन्य वस्तुओ की कीमतो आदि मे जो परिवर्तन हुये है उनको भी ध्यान मे रखना चाहिये। प्रत्येक व्यापारी, प्रत्येक विक्रय काधिकारी ,प्रत्येक वित्त मन्त्री इस बात को जानने मे दिलचस्पी रखता है कि किसी कीमत विशेष पर वस्तु की माग क्या होगी। परन्तु इस बात का ठीक अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि माग *के ऊपर जिन प्रभावो को हम स्थिर मान कर चलते है वे कभी स्थिर नही रहते।*

इसके अतिरिक्त इस मार्ग मे एक और भी कठिनाई आती है, वह यह है कि प्रत्येक वस्तु की कोई न कोई प्रतियोगी वस्तु होती है। यदि प्रतियोगी वस्तु की कीमत बढ जाय तो वस्तु की कीमत कम न होने पर भी उसकी माग बढ सकती है। उदाहरण के लिय, यदि चीनी की कीमत बहुत अधिक बढ जाय तो लोग चीनी के स्थान पर गुड का उपभोग करने लगेंगे। इस प्रकार गुड की माग बढ जायगी। यद्यपि गुड की कीमत जरा भी नही गिरी। इसके अतिरिक्त आजकल बाजार मे इससे नामो तथा ब्राडो से एक ही चीज बिकती है कि अलग अलग दुकानो पर वह अलग अलग कीमतो पर बिना कठिनाई के बेची जा सकती है। इन्ही कारणो से व्यवहार म कोई वास्तविक माग वक्र बनाना बडा कठिन है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये वस्तु मे अलग अलग ब्राडो अथवा किस्मो को एक ही माग तालिका म सजोया जाना चाहिये।

माँग के प्रकार

माग तीन प्रकार की होती है—(१) कीमत माग, (२) आय-माग तथा (३) भेदक-माग।

(१) कीमत-माग (Price-demand)—कीमत माग किसी वस्तु या सेवा की उन भिन्न-भिन्न मात्राओ को बताती है जो कि उपभोक्ता किसी दिये हुये समय पर भिन्न भिन्न कीमतो पर खरीदने के लिये तैयार होते हैं। ऊपर हमने जिस माग का वर्णन किया है वह कीमत माग ही है। साधारणत हम कीमत मांग से ही सम्बन्ध रखते है। इसका माग वक्र हम बाजार की माग तालिका का वर्णन करते समय ऊपर खीच चुके है।

(२) आय-माग (Income-demand)—*यदि अन्य बाते समान हो तो* उपभोक्ता अपनी आय के विभिन्न स्तरो पर किसी वस्तु या सेवा की जितनी मात्राय खरीदेंगे वही आय माग कहलायगी। इस हालत म माग तालिका बनाते समय हम एक ओर विभिन्न आयो को दिखायगे तथा दूसरी ओर माग की मात्राये दिखायेंगे। इस माग तालिका म हमको दो प्रकार की वस्तुये मिलेगी—पहली वे जिनकी माग

आय बढने से घट जाती है। इस प्रकार की वस्तुये खाद्य-पदार्थ आदि होते हैं। हम सभी जानते हैं कि आय बढने पर मनुष्य अनाज के स्थान पर अधिकाधिक घी, दूध, साग भाजी, फल आदि का प्रयोग करने लगता है जिसके कारण अनाज पर उसका व्यय अपेक्षाकृत कम हो जाता है। इस माग तालिका मे हमको दूसरी प्रकार की वे चीजें मिलेगी जिनका उपभोग आय की वृद्धि से बढता है। इस श्रेणी मे विलासिता की वस्तुयें जैसे बढिया कपडे, मद्य, रेडियो धूम्रपान सम्बन्धी वस्तुयें आदि हैं। इस प्रकार आय-माग मे हमको दो प्रकार के माग वक्र मिलेंगे—एक घटिया चीजो का जो कि दायें हाथ की ओर झुकेगा तथा दूसरा, बढिया चीजो का जो कि दाय हाथ की ओर ऊपर उठेगा। इन वक्रो का रूप निम्नाकित ढग का होगा—

बराबर मे दिये गये चित्र मे OX पर घटिया वस्तु की मात्रा तथा OY पर विभिन्न आयो को दिखाया गया है। इस चित्र को देखने से पता लगता है कि जब आय ६०० रु० है तो माग १०० मन है। आय के कम होने से माग बढती जाती है। इस प्रकार ४०० रु० आय रह जाने पर माग १०० मन से बढकर २०० मन हो गयी तथा २०० रु० की आय रह जाने पर माग बढकर ३०० मन हो गयी।
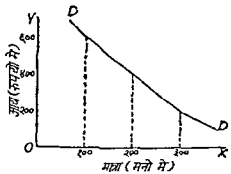
नीचे बढिया चीजो का माग का वक्र बनाया गया है। यह वक्र दिखाता है कि जैसे-जेसे आय बढती जाती है वैसे वैस-इन वस्तुओ की माग भी बढती जाती है। इस चित्र मे OX पर वस्तु-मात्रा तथा OY पर आय दिखायी गयी है। $\overline{DD}$ बढिया चीजो का माग वक्र है जो दायें हाथ की ओर ऊपर उठता जाता है।

(३) भेदक (Cross demand)—भेदक माग के अन्तर्गत किसी वस्तु-विशेष की माग पर उसकी स्वय की कीमत का प्रभाव नही पडता वरन् उस वस्तु से सम्बन्धित अन्य वस्तुओ की कीमतो का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिये, चीनी की माग के ऊपर चीनी की कीमत का प्रभाव न पडकर यदि गुड की कीमत का प्रभाव पडे तो चीनी की माग भेदक माग कहलायेगी।
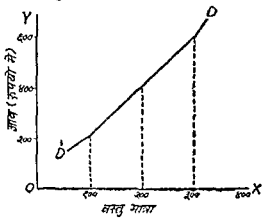
वस्तुयें एक दूसरे से दो ढग से सम्बन्धित होती है। या तो, वे एक दूसरे की प्रतियोगी अथवा स्थानापन्न होती है, या, वे एक दूसरे की पूरक (Complementary) होती हैं। स्थानापन्न वस्तुये वे होती हैं जो एक ही प्रकार की आवश्यकता की तुष्टि करती है। उदाहरण के लिये मीठे की आवश्यकता चीनी से भी पूरी की जा सकती है और गुड से भी। इसी प्रकार से तम्बाकू पीने की आवश्यकता हुक्के, बीडी, व सिगरेट से तुष्ट की जा सकती है। जब वस्तुये एक दूसरे की प्रतियोगी होती हैं तब उनमे से एक वस्तु की कीमत बढ जाने से दूसरी वस्तु का उपभोग अधिक होने लगता है। इस प्रकार यदि चीनी की कीमत बढ जाती है तो लोग गुड का उपभोग अधिक करने लगते है। ऐसी स्थिति मे गुड की माग इस लिये नही बढी कि गुड की कीमत गिर गई है वरन् इसलिये बढी कि चीनी की कीमत बढ गयी है।

जब दो वस्तुय इस ढग की हो कि एक की माग बढ जाने पर दूसरी की माग स्वय बढ जाय तो वे वस्तुय एक दूसरे की पूरक कहलायेंगी। उदाहरण के लिये, यदि कार की माग बढती है तो पेट्रोल की माग स्वय ही बढ जायेगी। इसी प्रकार फाउन्टेनपेन की माग बढ जाने से स्याही की माग अवश्य बढेगी। इसी प्रकार बहुत सी चीजो के उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि एक वस्तु की कीमत बढ जाने के कारण उसकी माग कम हो जाती है तो पूरक वस्तु की माग भी कम हो जायेगी।
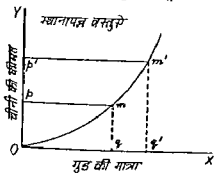
उपरोक्त चित्र मे OX पर गुड की मात्रा तथा OY पर चीनी की कीमतें दिखाई गई है। D D माग वक्र है। इस चित्र को देखने से पता लगता है कि जब चीनी की कीमत Op से बढकर Op^1 पर पहुँच जाती है तो गुड की माग Oq से बढकर Oq^1 पर पहुँच जाती है।
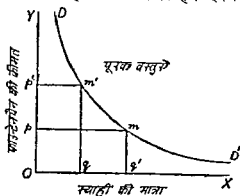
Y D
पूरक वस्तुऐं
फाउन्टेनपेन की कीमत
p'
p
m'
m
O
q
q'
D'
स्याही की मात्रा
X

बराबर दिये गये चित्र मे यदि फाउन्टेन पैन की कीमत Op से बढ कर Op^1 हो जाय तो स्याही की माग Oq^1 से घटकर Oq रह जाती है।

ऊपर बताई गई तीनो प्रकार की मागो म अधिकतर कीमत माग का ही अध्ययन किया जाता है। इसी कारण इसको रूढ (Conventional) माग कहते हैं।

मांग में परिवर्तन

(Changes in Demand)

हमने अभी तक जिन माग वक्रो का अध्ययन किया है उनमे हमने यह धारणा की है कि खरीदारो की आय मे कोई परिवर्तन नही होता, उनकी रुचिया व फैशन पूर्ववत् रहते है, उन वस्तुओ की कीमतें जो कि खरीदी जाने वाली वस्तु मे निकटतम सम्बन्ध रखती हैं स्थिर रहती हैं। इसी कारण हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम कीमत परिवर्तन के कारण माग मे होने वाले परिवर्तन तथा उप धारणा की गई बातो की स्थिति मे परिवर्तन होने के कारण माग म होने वाले परिवर्तन पर अलग-अलग विचार करें। कीमत मे परिवर्तन के फलस्वरूप माग मे जा परिवर्तन होता है वह पहले दिखाये गये वक्र के समान वक्र द्वारा दिखाया जा सकता है जैसा कि ऊपर चित्र मे दिखाया गया है—
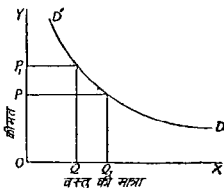
ऊपर के चित्र को देखने से पता चलता है कि जब कीमत OP से बढ कर OP_1 हो जाती है तो खरीदार OQ_1 मात्रा के स्थान पर OQ मात्रा खरीदने लगते हैं। इसी चित्र से हम यह भी कह सकते हैं कि जब कीमत OP^1 से गिरकर OP पर आ जाती है तो वस्तु की माग OQ से बढ कर OQ_1 पर चली जाती है। इस प्रकार कीमत परिवर्तन के कारण माग म जो कमी या वेशी होती है उसको एक ही माग वक्र पर दिखाया जा सकता है। इसके लिये कोई नया माग वक्र बनाने की आवश्यकता नही पडती। कीमत मे परिवर्तन के कारण माग मे जो परिवर्तन होते हैं उनको परिस्थिति अनुसार माग का सकोच (Contraction) अथवा विस्तार (Extension) कहते है। इसके विपरीत जब हम यह कहते हैं कि माग बढने के कारण कीमत बढती है तो उस समय माग तथा कीमत का आपसी सम्बन्ध बदल जाता है क्योंकि ऐसी अवस्था मे माग कारण तथा कीमत परिवर्तन उसका कार्य हो जाता है। इस प्रकार माग म परिवर्तन के फलस्वरूप कीमत मे जो परिवर्तन होता है उसको सिजविक (Sidgwick) ने माग का तीव्रीकरण (Intensification of demand) कहा है।

परन्तु माग वक्र बनाते समय हम जिन शर्तों की उप-धारणा करके चले हैं वे कभी भी स्थिर नही रहती, उनमे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। कीमत

के अतिरिक्त दूसरी चीजो मे परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप माग मे जो परिवर्तन होता है उसको हम पहले जैसे माग वक्र पर नही दिखा सकते। इन दूसरी चीजो मे परिवर्तन होने पर हमको एक नया माग वक्र बनाना पडेगा जो कि पहले माग वक्र से ऊपर या नीचे हो सकता है। जब माग वक्र पहले वक्र से ऊपर की ओर होगा तब उसको 'माग मे वृद्धि' (Increase in demand) कहेगे, जब वह उससे नीचे होगा तब उसको 'माग मे कमी' (Decrease in demand) कहेगे। 'माग मे वृद्धि' तथा 'माग मे कमी' को बराबर के चित्र मे दिखाया गया है।
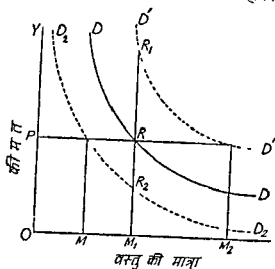
उपरोक्त चित्र मे DD वक्र साधारण स्थिति को दिखाता है। D^1D^1 'माग मे वृद्धि' तथा D^2D^2 'माग मे कमी' को दिखाता है। इस चित्र को देखने से पता चलता है कि यदि कीमत O P हो तो वस्तु की OM_1 मात्रा खरीदी जा सकती है। माग की स्थिति मे वृद्धि हो जाने पर यद्यपि कीमत वही रहती है तो भी उस कीमत पर वस्तु की OM_2 मात्रा खरीदी जा सकती है तथा 'माग मे कमी' हो जाने से उसी कीमत पर केवल OM वस्तु मात्रा खरीदी जा सकती है। इसके विपरीत, यदि हम OM_1 मात्रा खरीदना चाहे तो साधारण माग की स्थिति मे उसको M_1R कीमत पर खरीद सकते हैं लेकिन 'माग मे वृद्धि' की स्थिति मे उसको M_1R_1 कीमत पर तथा 'माग मे कमी' की स्थिति मे उसको M_1R_2 कीमत पर खरीदा जा सकेगा।

उपर हमने बताया है कि जब माग मे वृद्धि होती है तो माग वक्र पुराने माग वक्र से ऊपर की ओर चला जाता है तथा यदि माग मे कमी होती है तो वह नीचे की ओर चला जाता है। प्रो० मार्शल ने माग की वृद्धि को समझाते हुए कहा है कि जब हम यह बात कहते है कि किसी व्यक्ति की किसी चीज की माग बढ गई तब हमारा अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति उस चीज की पहली वाली कीमत पर अधिक मात्रा खरीदेगा तथा वह पहले से ऊँची कीमत पर उसकी पहले जितनी ही मात्रा खरीदेगा।*

* Marshall—Principles of Economics 4th Ed pp 170 71

माग मे परिवर्तन के कारण

माग मे वक्र बनाते समय हम कुछ बातो की उप-धारणा करके चले हैं। परन्तु हम पहले बता चुके हैं कि वास्तविक जगत मे ये उप धारणायें सत्य नही होती। माग पर निम्नलिखित बातो का प्रभाव पडता है—

(१) मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन—जब कभी उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि या कमी हुए बिना मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि या कमी हो जाती है तो उसके कारण माग मे परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण यह है कि लोगो के हाथो मे पहले से अधिक या कम क्रय शक्ति आ जाती है। इसी कारण वे प्रत्येक चीज के लिए पहले से अधिक या कम मुद्रा दे सकते हैं। उदाहरण के लिये, हमारे देश मे १९३९ मे लगभग १८० करोड रु० के नोट थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध तथा योजनाओ का अर्थ-प्रबन्धन करने के लिये सरकार को इतने नोट छापने पडे कि आजकल (अप्रैल १९६१ म) कुल नोट २,०३८ करोड रुपये के लगभग हैं। इस बीच उत्पादन में पहले की अपेक्षा उस अनुपात में वृद्धि नही हुई जिस अनुपात म कि नोटो मे वृद्धि हो गई है। इसके फलस्वरूप हम बाजार में वह चीज जो पहले एक रुपए मे खरीदते थे उसकी कीमत आज कई रुपये हो गई है। उदाहरण के लिये, पहले घी एक रुपये का लगभग १ सेर आता था परन्तु अब वह ६½ रुपये का एक सेर आता है। पहले २½ रुपये मन गेहू मिलता था, आजकल वह २० रु० मन से भी अधिक महगा मिलता है। इसी प्रकार चीनी तब लगभग ७–८ रुपये मन मिलती थी परन्तु अब वह ४४–४५ रुपये मन मिलती है। इस प्रकार हम वह चीज जो १९३९ में १ रुपये मे खरीद सकते थे वह आजकल ७–८ रुपये में खरीदी जा सकती है। इस प्रकार अब पहले की अपेक्षा माग मे वृद्धि हो गई है। ध्यान रहे कि माग मे वृद्धि का अर्थ, जैसा हमने ऊपर बताया है, यह भी है कि वस्तु की पहले जितनी मात्रा अधिक कीमत पर खरीदी जाय।

(२) वास्तविक आय मे परिवर्तन—बहुधा ऐसा होता है कि कुछ नये आविष्कारो तथा अनुसधानो के कारण उत्पादन की टैक्नीकल पद्धति में उन्नति हो जाती है, जिससे कि उत्पादन की औसत लागत में काफी कमी आ जाती है। उत्पादन लागत में कमी का प्रभाव बाजारी कीमत पर पडता है जिसके कारण चीजें सस्ती हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य उन चीजो को कम कीमत पर खरीद सकता है। इन चीजों की खरीद में जो बचत होती है उसको वह अन्य चीजो को खरीदने के काम में ला सकता है। इस प्रकार कुछ चीजो की कीमत गिरने से दूसरी कुछ चीजो की माग गिर सकती है। यह भी हो सकता है कि इन चीजों की कीमतें इतनी गिर जायें कि गरीब आदमी भी उनको खरीद सकें। ऐसा होने पर दूसरे कुछ धनी लोग जो इनका उपभोग अभी तक कर रहे थे उनका उपभोग मान-सम्मान के फेर में पडकर न करें। ऐसा भी हो सकता है कि यदि किसी व्यक्ति की आय पूर्ववत् रहे तो कीमतों में ह्रास आ जाने के कारण वह पहले से बढिया चीजो का उपभोग शुरू कर

दें। उदाहरण के लिये, वह डालडा घी के बदले गाय-भैंस का घी खाने लगे, सूती कपडो के स्थान पर रेशमी कपडे पहनने लगें, रेडियो मोल ले ल अथवा सिनेमा देखने लगे। इस प्रकार जब कभी भी व्यक्ति की वास्तविक आय में कमी या बेसी होती है तब उसकी माग तालिका मे परिवर्तन हो सकता है।

(३) जनसख्या में परिवर्तन—जनसख्या में परिवर्तन कई प्रकार के हो सकते है। पहले उपभोग करने वाली जनसख्या की सख्या पहले से अधिक हो जाय। जनसख्या बढने का कारण या तो यह हो सकता है कि जन्म-दर मृत्यु-दर से अधिक हो अर्थात् जितने बच्चे मरते है उनसे अधिक बच्चे पैदा होते हो या हो सकता है कि देश के अन्दर बाहर से लोग आकर बस जाये। भारत का १६४७ ई० म जब विभाजन हुआ तब करोडो आदमी पाकिस्तान से भारत में आकर बस गये। हाल ही मे चीन ने जब तिब्बत पर अपना अधिकार कर लिया तो हजारो की सख्या म तिब्बती लोग भारत में आकर बस गय। हम जानते है कि प्रत्येक देश का खाना-पीना पहराव आदि अलग-अलग ढग के होने है। इस कारण जब कभी जनसख्या मे वृद्धि बाहर के लोगो के आकर बसने के कारण होती है तब नई चीजो की माग उत्पन्न हो जाती है। इसका प्रभाव पहले से बसी हुई जनसख्या पर भी पडता है। उदाहरण के लिये पश्चिमी पाकिस्तान से जब लोग आकर उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि राज्यो म बसे तब उनके प्रभाव के कारण इन राज्यो के गाव गाव मे लडकियाँ सलवार व चुन्नी का प्रयोग करने लगी। इसी प्रकार जब से भारत म अंग्रेज आये तब से हमारे देश मे पेंट-कोट का रिवाज बढ गया। इस प्रकार बाहर से आई हुई जनसख्या के कारण माग के आकार तथा रूप में परिवर्तन हो जाता है।

जनसख्या मे परिवर्तन उसके गुण के कारण भी हो सकता है। उदाहरण के लिये यदि किसी देश मे अधिक बच्चे पैदा होते है तब उन चीजो की माग बढगी जो कि बच्चो के उपभोग के काम मे आती है परन्तु यदि उस देश के लोग बर्थ-कन्ट्रोल के ढगो का प्रयोग एका एक शुरू करदे तो उस देश मे बच्चो के स्थान पर प्रौढ लोगो के उपभोग मे आने वाली चीजो की माग बढ जायगी।

जनसख्या मे एक तीसरी प्रकार का भी परिवर्तन हो सकता है। यदि किसी देश के लोगो मे जो अभी तक जल्दी शादी करते थे यह विचार उत्पन्न हो जाय कि वे उस समय तक शादी नही करेंगे जब तक कि उनकी आय म वृद्धि नही होगी तब उस देश मे शादिया कम होगी, जिसके कारण उस देश म मकाना व फर्नीचर तथा ऐसी ही अन्य चीजो की माग घट जायगी जिनका उपभोग शादीशुदा आदमी करते है।

(४) सम्पत्ति के वितरण मे परिवर्तन—एक व्यक्ति की माग इस बात पर निर्भर होती है कि उस व्यक्ति के पास कितनी सम्पत्ति है। यदि उसके पास बहुत सम्पत्ति है तो वह अधिक माग कर सकता है, यदि उसके साधन कम है तो कम माग करेगा। सम्पत्ति की वैषम्यता के कारण न केवल माग की मात्रा पर ही प्रभाव

पडता है वरन् उसके प्रकार पर भी प्रभाव पडता है। जो व्यक्ति मालदार होते हैं उनकी माग जिन चीजो की होती है गरीब लोग उन चीजो की माग नही करते। उदाहरण के लिए, अमीर लोगो की माग बडे हवादार मकानो, कीमती फर्नीचर, उत्तम प्रकार के भोजन फल, साग भाजी, कीमती कपडे, जेवर आदि की होगी। इसके विपरीत, गरीब आदमी मोटे अनाज, मोटे कपडे, छोटे मकान आदि की माग करेंगे। अस्तु यदि किसी समाज मे धन वितरण की असमानता बढती है तो जिस सीमा तक मध्यम वर्ग के लोगो का धन अमीर लोगो के पास चला जाता है उस सीमा तक वे अपने से निम्न गरीबो की श्रेणी म प्रवेश कर जायगे तथा उन चीजो की माग करने लगेंगे जिनकी माग कि गरीब आदमी करते हैं। इसके विपरीत, अमीर आदमी जब और अधिक अमीर हो जायेंगे तो वे पहले से अधिक कीमती मोटर, कालीन, फर्नीचर, मकान आदि की माग करने लगेंगे।

परन्तु यदि किसी समाज म सरकार करो द्वारा धन वितरण की असमानता को दूर कर देती है तो अमीर आदमी पहले से कम अमीर व गरीब आदमी पहले से अधिक साधन-सम्पन्न हो जायँगे। इस कारण अमीर आदमियो की बहुत अधिक कीमती चीजो की माग बहुत कम हो जायगी तथा गरीब आदमियो की जो अब पहले से खुशहाल हो गये हैं बहुत सी नयी-नयी चीजो की माग बढ जायगी।

इस प्रकार हम देखते है कि सम्पत्ति वितरण के स्वरूप मे परिवर्तन होने से माग के उपर बहुत प्रभाव पडता है।

(५) व्यापार की स्थिति मे परिवर्तन—जब व्यापार पहले स अच्छा हो जाता है तब व्यापारियो के हाथो में अधिक धन आ जाता है जिसके कारण वे अधिक चीज उत्पन्न करने के लिये प्लान्ट तथा मशीनो की माग करने लगते है। इसके विपरीत, जब व्यापार की स्थिति खराब होने लगती है तब व्यापारी प्लान्ट तथा मशीनो की माग करना छोड देते हैं। इस प्रकार व्यापार की स्थिति म परिवर्तन का भी माग पर प्रभाव पडता है।

(६) अन्य चीजों की कीमत मे परिवर्तन—बहुत सी चीजे ऐसी होती है जो एक दूसरे की प्रतियोगी होती है, जैसे, गुड व चीनी, चाय व कहवा, सिगरेट व बीडी आदि। ऐसी चीजो में से यदि एक की कीमत बढ जाय, जैसे चाय की, तो लोग पहली चीज अर्थात् चाय का उपभोग बन्द या कम कर देंगे, तथा कहवे का उपभोग शुरू कर देंगे। इसी प्रकार जब मजदूर अधिक मजदूरी की माग करने लगते हैं तब उत्पादक अधिक मशीनो का प्रयोग करते हैं।

(७) रुचि व फैशन में परिवर्तन—माग के परिवर्तन म इन दानो का एक बडा स्थान होता है। रुचि और फैशन बडी जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं जिनके कारण माग पर बडा प्रभाव पडता है। अभी लगभग एक वर्ष पूर्व नायलौन् के कपडे का बडा रिवाज था, परन्तु, अब वह बहुत कम हो गया है। इसी प्रकार हवाई

चप्पलो की आजकल बडी माग है। हो सकता है कुछ समय पश्चात् उनकी माग कम हो जाय। इसी प्रकार खाद्य-पदार्थों की माग मे भी समय-समय पर बहुत से परिवर्तन होते रहते है। रुचि और फैशन के परिवर्तन में विज्ञापन का बहुत बडा हाथ होता है।

माग का नियम

माग तालिका तथा माग वक्र की सहायता से हम माग का नियम बडी आसानी से समझा सकते हैं। माग का नियम बताता है कि 'यदि अन्य बातें समान रहें' तो कीमत के कम होने से वस्तु की माग बढ जाती है और कीमत बढने से माग घट जाती है। प्रो० मार्शल ने माग के नियम की व्याख्या इस प्रकार की है —

'जितनी ही अधिक किसी वस्तु की मात्रा को बेचना होता है, उतनी ही उस वस्तु की वह कीमत कम होनी चाहिए जिस पर वह बेची जाय ताकि इस वस्तु के नये खरीदार मिल सक। दूसरे शब्दो म कीमत कम हो जाने पर माग की मात्रा मे वृद्धि तथा कीमत म वृद्धि होने से माग की मात्रा में कमी हो जाती है।*

परन्तु यह बात ध्यान म रखनी चाहिये कि माग का यह नियम केवल प्रवृत्त्यात्मक है। यह गणित की भाति निश्चयपूर्ण नही है। दूसरे शब्दो में यह कहना गलत है कि यदि कीमत दुगनी हो जाय तो माग आधी तथा कीमत आधी रह जाये तो माग दुगनी हो जायगी। माग का यह नियम केवल इस बात का द्योतक है कि यदि माग तालिका के बाय हाथ के खाने (अर्थात् कीमत के खाने) की सख्या म कोई वृद्धि होती है तो दाय हाथ के खाने (अर्थात् माग के खाने) की सख्या म सदा ही कुछ कमी होने की सम्भावना है।

माग का यह नियम उन उपधारणाओ पर आधारित है जिनको दृष्टिगत रखकर माग तालिका बनाई जाती है। इनका वर्णन हम पहले ही कर आये हैं।

माग के नियम को समझाने के लिये दो तरीको को काम में लाया गया है। मार्शल तथा उसके पूर्ववर्ती लेखको ने इसको 'उपयोगिता की सहायता से समझाने का प्रयत्न किया था परन्तु अभी हाल ही म इसको प्रतिस्थापना विश्लेषण (Substitution analysis) की सहायता से समझाने का प्रयत्न किया जाता है। अब हम इन दोनो पर विचार करेंगे।

---

* There is then one general *law of demand* viz that the greater the amount to be sold the smaller will be the price at which it will find purchasers or, in other words, that the amount demanded increases with a fall in price, and diminishes with a rise in price —*Marshall* Principles of Economics (4th Ed) p 174

५

उपयोगिता
(Utility)

ससार म अनन्त चीजें है । उनका उपभोग ससार के लोग करते ही हैं परन्तु, सब चीजो का प्रयोग सब व्यक्ति नही करते, कर भी नही सकते और यदि कर सकने की स्थिति म भी हो तो करने की इच्छा नही रखते । उदाहरण के लिए यदि मैं जैन मत का पालन करने वाला हूँ, तो मैं मास, मछली, अडा आदि चीजो का उपभोग नही करू गा । यदि मुझे ये चीजें कोई मुफ्त भी दे तो मैं इनको छुऊ गा भी नही, उपभोग करना तो दूर की बात । इसके विपरीत, हमारे देश के करोडो तथा ससार के अरबो व्यक्ति इन चीजो को बडे स्वाद से खाते हैं तथा इन चीजो को खरीदने के लिये बहुत सा धन खर्च करते है । इसी प्रकार जब एक व्यक्ति बीमार होता है तब वह अच्छा होने के लिये दवा खरीदने पर बहुत सा धन खर्च कर सकता है किन्तु, एक स्वस्थ व्यक्ति दवा को खरीदने के लिये एक पैसा भी क्यो खर्च करेगा । एक पढा लिखा व्यक्ति किताबें खरीदने के लिये सैकडो रुपया खर्च करता रहता है, परन्तु एक बिना पढा लिखा व्यक्ति एक पैसे की किताब भी नही खरीदता । शराबी शराब खरीदने पर बहुत सा धन खर्च करता है परन्तु जो व्यक्ति शराब नही पीता वह उसके लिये एक फूटी कौडी भी खर्च नही करेगा । इस प्रकार के सैकडो उदाहरण दिये जा सकते हैं जबकि एक ही चीज के लिए एक व्यक्ति बहुत सा धन खर्च करता है अथवा कर सकता है अथवा करने को तैयार है परन्तु, दूसरा व्यक्ति उसके लिये कुछ भी खर्च नही करता, या नही कर सकता अथवा करने को तैयार नही है । ऐसा क्यो है ? इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति किसी वस्तु पर कुछ खर्च करता है अथवा खर्च करने के लिये तैयार है, वह उस वस्तु को अपने लिये उपयोगी समझता है अर्थात् वह समझता है कि इस चीज के उपभोग से मेरी इच्छा की पूर्ति हो जायगी । यदि व्यक्ति के मन मे उस चीज के उपभोग करने की इच्छा ही पैदा नही होती तो वह उसको कभी भी ग्रहण करने का प्रयत्न नही करेगा और न उसके लिये कोई धन खर्च करना चाहेगा ।

जिस वस्तु का उपभोग करने की मनुष्य के दिल मे इच्छा उत्पन्न होती है वह वस्तु उस मनुष्य के लिए उपयोगी कही जाती है अर्थात् हम कहते हैं कि इस

चीज की इस मनुष्य के लिये उपयोगिता है। इस प्रकार किसी वस्तु की मानव आवश्यकता को तुष्ट करने की शक्ति को उपयोगिता कहते हैं। प्रो० मार्शल के अनुसार "किसी समय किसी मनुष्य के लिये किसी वस्तु की उपयोगिता उस सीमा से नापी जाती है जिस तक कि वह उसकी आवश्यकता को सतुष्ट करती है।"* प्रो० टॉजिग (Taussig) के अनुसार "यह उस तुष्टि अथवा तृप्ति को बताती है जो कि किसी वस्तु से उस समय प्राप्त होती है जिस समय उसको क्रय किया जाता है।"**

उपयोगिता के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें समझनी बहुत ही आवश्यक हैं :—

(१) किसी वस्तु मे उपयोगिता निहित नही होती, उसमे उपयोगिता पैदा करने का काम मनुष्य का मन करता है, क्योकि सब लोगो के मन एक ही प्रकार के नही होते, इस कारण हर व्यक्ति के लिए किसी चीज मे उपयोगिता नही होती। दूसरे व्यक्तियो की तो बात छोडिये, एक ही व्यक्ति के लिए किसी चीज की उपयोगिता दो भिन्न भिन्न समयो पर भिन्न-भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए एक सिगरेट पीने वाले के लिए आज सिगरेट मे उपयोगिता हो सकती है परन्तु, यदि वह कुछ समय पश्चात् सिगरेट पीना छोड दे तो उसके लिए सिगरेट की कोई उपयोगिता न रहेगी। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जब हम यह कहते है कि अमुक चीज हमारे लिये उपयोगी है तब हम केवल वस्तु की उपयोगिता की प्रशसा उसी समय तक के लिये करते हैं, जबकि हम बात करते है उसके कुछ समय पश्चात् हमारा कथन गलत हो सकता है।

(२) अर्थशास्त्र म उपयोगिता शब्द का प्रयोग नैतिक दृष्टि से नही किया जाता अर्थात् अर्थशास्त्र मे हम उसी चीज को उपयोगी नही कहते जो कि मनुष्य के लिये कल्याणकारी होती है। अर्थशास्त्र मे हम उन चीजो को भी उपयोगी कहते हैं जो मनुष्य के लिये हानिकारक होती हैं परन्तु, शर्त केवल यह है कि इन चीजो के उपभोग की इच्छा मनुष्य मे होनी चाहिये। इस प्रकार शराब एक शराबी के लिए उपयोगी है तथा विष उस आदमी के लिये उपयोगी है, जो कि अपने जीवन से ऊब चुका है। इसलिये नैतिक दृष्टिकोण से ये वस्तुए भी अर्थशास्त्र मे 'उपयोगितापूर्ण' मानी जाती हैं।

(३) बहुधा ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु की उपयोगिता समय तथा स्थान की दूरी तक सीमित होती है। उदाहरण के लिए, एक रेल या ट्राम का टिकट उस फासले तथा समय तक ही उपयोगी है जिसके लिये वह इश्यू किया जाता है।

* "The utility of a thing to a person at a time is measured by the extent to which it satisfies his wants."—Marshall—Principles of Economics (4th Ed.), p 167.

** "In the discussion of exchange and value ...it refers to the satisfaction or gratification derived from an article at the time it is procured—" Taussig—Principles of Economics, Vol I (4th Ed.), p. 106.

उस फासले तक जिसके लिए टिकट जारी किया जाता है, यात्रा कर लेने के पश्चात् वह टिकट बेकार हो जाता है तथा उस समय के गुजरने के पश्चात् भी वह टिकट बेकार हो जायगा जिस तक के लिए वह जारी किया गया है। उसके पश्चात् यदि उसमें उपयोगिता पैदा करना भी चाहे तो भी नहीं कर सकता। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जहां उपयोगिता मन द्वारा उत्पन्न की जाती है वहां वह वस्तु जिसमें मन उपयोगिता पैदा करना चाहता है इस लायक होनी चाहिये कि उसमें उपयोगिता पैदा हो सके।

(४) उपयोगिता तथा कीमत का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। एक वस्तु हमारे लिये इतनी उपयोगी हो सकती है कि उस पर हमारा जीवन ही निर्भर होता है तो भी वह हमको मुफ्त मिल सकती है जैसे हवा, पानी, रोशनी आदि। परन्तु बहुत सी चीजें ऐसी हैं जिनसे मनुष्य को भौतिक दृष्टि से कोई लाभ नहीं पहुँचता तो भी उनकी कीमत बहुत अधिक होती है, जैसे कि सोना-चांदी, हीरे-जवाहरात आदि। हम आगे चलकर बतायेंगे कि इनकी कीमतें उपयोगिता के कम होते हुये भी इसलिये अधिक होती है कि इनमें स्वल्पता होती है।

(५) यद्यपि वस्तु में उपयोगिता पैदा करने का कार्य मनुष्य का मन करता है तो भी यह बात समझनी आवश्यक है कि जिस चीज में मनुष्य का मन उपयोगिता पैदा करना चाहता है उसमें मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करने की अव्यक्त शक्ति (Potentiality) अवश्य होनी चाहिये। यदि किसी चीज में इस प्रकार की शक्ति नहीं होती तो इच्छा रहते हुये भी मन उसमें उपयोगिता उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसे कि हमने ऊपर रेल या ट्राम के टिकट के सम्बन्ध में बताया कि वह फासला पार कर लेने के पश्चात् जिसके लिये टिकट जारी किया जाता है उस टिकट की वह अव्यक्त शक्ति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार उपयोगिता व्यक्तिगत (Subjective) भी हुई और वस्तुगत (Objective) भी हुई।

उपयोगिता की माप—हम पहले बता चुके हैं कि उपयोगिता पैदा करने का काम मन का होता है। मन की हर समय एकसी स्थिति नहीं होती। कभी वह एक बेकार चीज के लिए चलायमान हो जाता है और मनुष्य उसको प्राप्त करने के लिए धन तो क्या अपना जीवन भी देने को तैयार हो जाता है। कभी मन ऐसा होता है कि बढ़िया से बढ़िया चीज के लिये भी कुछ भी बलिदान करने को तैयार नहीं होता। तो उपयोगिता जिसका सम्बन्ध मन से होता है कैसे मापी जा सकती है? यद्यपि विज्ञान ने आश्चर्यजनक उन्नति की है तो भी भावनाओं व इच्छाओं को मापने के लिये अभी तक कोई यन्त्र नहीं बनाया जा सका। इच्छाओं व भावनाओं की तीव्रता के अनुसार ही हम किसी वस्तु का अधिमान (Preference) करते हैं। अर्थशास्त्र में 'उपयोगिता' शब्द का प्रयोग अधिमान की मात्रा को दिखाने के लिये ही किया जाता है। इस प्रकार जब हम इच्छाओं और भावनाओं को ही जिनके ऊपर उपयोगिता

निर्भर करती है, नही माप सकते तो फिर हम उपयोगिता को ही कैसे माप सकते है।

परन्तु व्यवहार मे हम देखते हैं कि एक व्यक्ति एक वस्तु को प्राप्त करने के लिये जितना बलिदान करने को तैयार होता है दूसरो के लिये वह उससे आधा बलिदान करने को तैयार होता है तथा तीसरी के लिये दुगना। परन्तु, हम ऊपर बता चुके है कि मनुष्य किसी चीज के लिये जितना बलिदान करने को तैयार होता है वह उसके मन की स्थिति पर निर्भर होता है, इस कारण हम यह कह सकते है कि मनुष्य जिस चीज के लिये आधा बलिदान करने को तैयार है उसकी उपयोगिता दूसरी चीज से आधी तथा जिसके लिये वह दुगना बलिदान करने को तैयार है उसके लिये उस चीज की उपयोगिता दूसरी से दुगनी है। प्रो० चैपमैन ने लिखा है कि यदि मैं यह कहूँ कि एक व्यक्ति नाश्ते के समय अपने समाचार-पत्र से तुष्टि अथवा उपयोगिता की दस इकाइया प्राप्त करता है तथा अपने कहवे से तुष्टि अथवा उपयोगिता की दो इकाइया तो उससे मेरा केवल यह अभिप्राय है कि वह व्यक्ति समाचार-पत्र का अधिमान कहवे की अपेक्षा दस और दो के अनुपात मे करता है। तुष्टि अथवा उपयोगिता की दस और दो इकाइयो का प्रयोग बाह्य चीजो के रूप मे उसके अधिमान अथवा चुनाव को दिखाने के अतिरिक्त और कुछ नही है।*

प्रो० ब्रिजनारायण ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त मे लिखा है कि यदि आप दगल देखने जाये और मैं आपसे पूछू कि पहलवानो के विषय मे आपका क्या विचार है तथा दोनो मे कौनसा अच्छा है और आप कहते है कि उन्नीस बीस का फर्क है, यह बात कहने से आपका क्या अभिप्राय है? इसका अभिप्राय यह तो नही है कि आपके मस्तिष्क मे पहलवानो की शक्ति अथवा योग्यता मापने के लिये १६ और २० इन्च अथवा गज का कोई माप है। इसी प्रकार जब हम फसल के सम्बन्ध मे कहते हैं कि वह १०–१२ आने भर है तब भी हम एक अमाप्य चीज को माप्य मानकर ऐसा कहते है। इसी प्रकार लोग यह भी कहते है कि यह बात सोलह आने ठीक है अथवा मैं सोलह आने तुम्हारे साथ हूँ अथवा रोगी को ८–१० आने भर फायदा है, तब भी हम अपने मस्तिष्क के विचारो को मुद्रा के रूप में प्रकट करते है। इसी प्रकार हम वस्तु की उपयोगिता उस कीमत से माप सकते है, जो कि किसी वस्तु को खरीदने के लिये दी जाती है अथवा कोई व्यक्ति उसको देने के लिये तैयार है। प्रो० जे० के० मेहता का भी मत है कि हम उपयोगिता का माप कर सकते हैं। उनका मत है कि वैसे तो हम भौतिक चीजो को भी नही माप सकते। जब हम उनको मापते है तो उनको लम्बाई की ही माप कहते है और लम्बाई उसी प्रकार अभौतिक है, जिस प्रकार कि उपयोगिता, परन्तु ध्यान रहे कि उपयोगिता को हम निरपेक्ष (Absolute) दृष्टि से न मापकर केवल सापेक्षित (Relative)

---

*Chapman—Outlines of Political Economy, p. 22

तुष्टि मे माप सकते हैं अर्थात् हम मुद्रा की उपयोगिता की तुलना वस्तु की उपयोगिता से करके ही उसकी माप कर सकते हैं।

परन्तु मुद्रा का यह पैमाना जिसका प्रयोग अर्थशास्त्र में उपयोगिता को मापने के लिये किया जाता है पूर्ण नही है। एक व्यक्ति जो 'खाओ पीओ, मौज उडाओ' के सिद्धान्त में विश्वास करता है, मुद्रा को पाते ही खर्च कर देता है और किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये अधिक धन खर्च कर सकता है। इसके विपरीत, वह मनुष्य जो भविष्य को अपने सामने रखता है तथा जिसको अपने परिवार से प्रेम है रुपये को सोच समझकर खर्च करता है। वह किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये उससे कम धन खर्च करने को तैयार होगा जितना कि वह व्यक्ति करने को तैयार है जो धन को बचाने में विश्वास नही करता। इसके अतिरिक्त, एक गरीब व्यक्ति रुपये का अधिमान किसी धनी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक करता है। यही नही, एक ही व्यक्ति एक ही समय किसी वस्तु को खरीदने के लिये अधिक धन दे सकता है, किन्तु किसी दूसरे समय अपेक्षाकृत कम या अधिक देने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार, यदि हम एक व्यक्ति को किसी चीज के खरीदने के लिये दूसरे से दुगुना धन देते देखते हैं तो हम निश्चयपूर्वक यह नही कह सकते कि पहले व्यक्ति के लिये उस चीज की उपयोगिता दूसरे से दुगनी है। पहले व्यक्ति का दुगनी कीमत देने का प्रस्ताव यह बात बताता है कि उसके पास दूसरे से अधिक धन खर्च करने के लिये है।

परन्तु मौद्रिक पैमाने की इस कमी के होते हुए भी अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया जाता है तथा हम दो व्यक्तियो के लिये किसी चीज की उपयोगिता उस धन से नापते हैं जो कि व उस चीज को प्राप्त करने के लिये खर्च करने को तैयार होते हैं। ऐसा करने से भी अर्थशास्त्र जैसे अनिश्चित शास्त्र में कुछ निश्चय अवश्य आ जाता है तथा अर्थशास्त्र दूसरे समाजशास्त्रों की अपेक्षा अधिक निश्चित (Exact) बन जाता है। इसका कारण यह है कि दूसरे समाजशास्त्रियो के पास मुद्रा जैसा अधूरा पैमाना भी तो नही है। अर्थशास्त्री अपने इस पैमाने की कमी को जानता है तथा आवश्यकतानुसार उसका स्वीकार भी करता है।

उपयोगिता तथा तुष्टि
(Utility and Satisfaction)

यहा पर मुद्रा तथा सन्तोष का सम्बन्ध समझना आवश्यक है। उपयोगिता वस्तु का वह गुण होता है जिसको उपभोक्ता वस्तु को खरीदते समय ध्यान मे रखता है। बिना उपयोगिता हुए वस्तु खरीदी ही नही जायगी। परन्तु वस्तु को खरीदकर उसका उपभोग करने पर ही तुष्टि प्राप्त होती है। यदि वस्तु को खरीदने की इच्छा मनुष्य को उत्पन्न होती है तो उस वस्तु में उपयोगिता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु वस्तु मे तुष्टि तभी प्राप्त होती है जबकि उसे

प्राप्त करके उसका उपभोग कर लिया जाय। इस प्रकार उपयोगिता वस्तु मे उस समय भी होती है जबकि उसको खरीदने की शक्ति मनुष्य मे नही होती परन्तु तुष्टि तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि मनुष्य मे चीज खरीदने की शक्ति होती हो। उपयोगिता से हम तुष्टि का अनुमान नही लगा सकते। कहावत है हाथी के दात खाने के और दिखाने के और हो सकता है कि मनुष्य किसी वस्तु की बाहरी चमक-दमक देखकर उसको काफी ऊची कीमत पर भी खरीदने के लिये तैयार हो जाय, परन्तु उपभोग करने पर उससे जरा भी तुष्टि प्राप्त न हो। कहते हैं कि एक काबुली ने साबुन को खाने की चीज समझकर खरीद लिया तथा उसको खाने लगा, परन्तु वह तो साबुन था उसको खाने मे मजा न आया। किसी ने उससे पूछा, "क्या खाते हो"? काबुली ने जवाब दिया, "पैसा खाता हूँ।" जब हम किसी चीज के गुण का ठीक अनुमान नही लगा कर उस चीज को खरीद लेते हैं तो हम उस काबुली के समान पैसा ही खाते है। इस प्रकार वस्तु की उपयोगिता तथा उससे प्राप्त होने वाली तुष्टि मे जमीन आसमान का अन्तर हो सकता है। इसीलिये मार्शल ने सुझाव दिया है कि यदि यह सम्भव हो तो हमको एक इच्छाओ का तथा दूसरा उपभोग्य वस्तुओ से प्राप्त तुष्टि का हो, अलग-अलग बहियां रखनी चाहियें, परन्तु माग का सिद्धान्त इस उपधारणा पर आधारित है कि उपयोगिता तथा तुष्टि मे कोई अन्तर नही होता। इसी कारण अर्थशास्त्र मे हम उपयोगिता को आवश्यकता पूर्ति की शक्ति कहते है। व्यवहार मे यह उपधारणा सत्य होती है, क्योकि अधिकतर चीजे जो हम खरीदते हैं या तो विशिष्ट (Specialised) होती हैं या उनको हम अपने तजुर्बे के आधार पर या अपने मित्रो तथा सम्बन्धियो की नसीहत के अनुसार खरीदते है। इसी कारण इन चीजो की उपयोगिता तथा इनसे प्राप्त तुष्टि मे बहुत कम अन्तर होता है। प्रो० पीगू ने भी इस मत का समर्थन किया है।*

सीमान्त तथा कुल उपयोगिता
(Marginal and Total Utility)

उपयोगिता के विषय मे सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता के विचार को भी समझना बहुत आवश्यक है। आदम स्मिथ ने उपयोगिता शब्द के लिये उपयोग मूल्य (Value in use) शब्द का प्रयोग किया था तथा मूल्य (Value) शब्द के लिये विनिमय मूल्य का। उसने कहा था कि जिन वस्तुओ का उपयोग-मूल्य सबसे अधिक होता है उनका विनिमय-मूल्य बहुधा या तो होता ही नही और यदि होता भी है तो बहुत कम जैसे हवा, पानी आदि। इसके विपरीत, जिन वस्तुओ का विनिमय मूल्य सबसे अधिक होता है। उनका उपयोग मूल्य या तो कुछ भी नही होता और यदि होता है तो बहुत कम जैसे हीरे का, परन्तु आदम स्मिथ ने अपने इस विचार को यही पर छोड दिया। स्मिथ के इस कथन मे विरोधाभास है, क्योकि उसने यह बात नही बताई कि ऐसा कहते समय उसका अभिप्राय कुल उपयोगिता मे

* A C Pigou—The Economics of Welfare—4th Ed p 24.

है अथवा सीमान्त उपयोगिता से। यदि उसका अभिप्राय कुल उपयोगिता से था तो उसकी बात बिल्कुल बेहूदी है क्योंकि हवा और पानी की कुल उपयोगिता हीरे की कुल उपयोगिता से अनन्त गुनी होती है। यदि हमसे कोई व्यक्ति सांसारिक चीजों का त्याग करने को कहे तो हम सबसे पहले हीरे को ही छोड़ेंगे तथा सबसे अन्त में हवा को। इससे यह सिद्ध हुआ कि हवा हमारे लिये सबसे अधिक उपयोगी है। यदि हमको एक मिनट भी हवा न मिले तो शायद हमारे जीवन का अन्त ही हो जाय। इस प्रकार हवा, हीरे की अपेक्षा बहुत मूल्यवान है, परन्तु बाजार में हवा नहीं बिकती, हीरा बिकता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि हवा सबको सब स्थानों पर किसी भी मात्रा में मिल सकती है। तो फिर उसकी कोई क्यों कीमत देगा। इसके विपरीत, हीरा सबको सब स्थानों पर नहीं मिल सकता अर्थात् वह स्वल्प है। इसी कारण धनवान लोग उसको बहुत सा धन देकर खरीदते हैं। स्वल्पता के कारण ही हीरे का विनिमय मूल्य इतना अधिक होता है। तो हीरे का मूल्य इसलिये इतना अधिक नहीं है कि उसकी कुल उपयोगिता हवा से अधिक है वरन् इसलिये इतना अधिक है कि इसकी सीमान्त उपयोगिता हवा से अधिक होती है। 'सीमान्त' शब्द से हमारा क्या तात्पर्य है?

सीमान्त उपयोगिता शब्द का प्रयोग सबसे पहले आस्ट्रिया के प्रो० वीजर ने किया था। इसके पश्चात् विक्स्टीड ने भी इस शब्द को ग्रहण किया। प्रो० जेवन्स ने सीमान्त के बदले अन्तिम (Final) शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु अधिकतर अर्थशास्त्रियों ने सीमान्त शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त समझा है।

सीमान्त उपयोगिता शब्द की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। जैसे प्रो० विकसेल (Wicksell) ने इसको उस वस्तु की उपयोगिता बताया है जो कि सबसे कम महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करती हो*। प्रो० मार्शल ने पहले सीमान्त खरीद (Marginal purchase) को समझाया है तथा उसके पश्चात् सीमान्त उपयोगिता को। मार्शल के अनुसार, किसी वस्तु मात्रा का वह अन्तिम भाग जिसको खरीदने के लिये कोई क्रेता तैयार हो, सीमान्त विक्रय कहा जाता है, क्योंकि इस भाग को खरीदते समय उसे सदैव यह शंका बनी रहती है कि आया कि उस भाग की जितनी कीमत वह चुका रहा है, उसके बराबर उसे तुष्टि प्राप्त हो सकेगी या नहीं।

क्रय की जाने वाली वस्तु की सीमान्त खरीद की उपयोगिता ही क्रेता के लिये उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता होती है।** इस प्रकार प्रो० मार्शल के अनुसार वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसकी उस अन्तिम इकाई की उपयोगिता है, जिसकी उपयोगिता उस (इकाई) पर व्यय किये जाने वाले धन के रूप में खोई गई उपयोगिता के बराबर होती है। इस सीमा पर पहुँचकर खरीदार को वस्तु

* Wicksell—Lectures on Political Economy Vol. I. p. 30
** Marshall—Principles of Economics (4th Ed.) p. 168.

खरीदने से न कोई लाभ ही होता है, और न कोई हानि ही। सीमान्त इकाई से पूर्व खरीदी गई सब इकाइयों पर खरीदार को लाभ होता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति जैसे-जैसे कोई वस्तु प्राप्त करता जाता है, वैसे वैसे उसकी उस वस्तु को ग्रहण करने की उत्सुकता कम होती जाती है तथा वस्तु को ग्रहण करने की उत्सुकता की कमी के साथ ही उसकी उस वस्तु के लिये धन के रूप मे बलिदान करने की इच्छा भी कम होती जाती है। इसके विपरीत चूकि क्रता का धन क्रय करन स कम होता जाता है। इसलिये उसके लिये धन की उपयोगिता बढती जाती है। अर्थात् खरीद करते समय खरीदार के लिये खरीदी जाने वाली वस्तु की उपयोगिता कम होती जाती है तथा धन की उपयोगिता बढती जाती है। इस प्रकार बढते घटते एक ऐसा बिन्दु आ जाता है जहा पर कि धन की एक इकाई की उपयोगिता वस्तु की एक इकाई की उपयोगिता के बराबर हो जाती है। इसी इकाई की उपयोगिता को मार्शल ने सीमान्त उपयोगिता कहा है।

किसी वस्तु की किस इकाई की उपयोगिता सीमान्त होगी—यह इस बात पर निर्भर है कि बाजार में वस्तु की कीमत क्या है ? यदि वस्तु की बाजारी कीमत अधिक है तो सीमान्त बिन्दु कुछ ही इकाइयो क खरीदन पर आ जायेगा, यदि बाजारू कीमत कम है तो वस्तु की अधिक इकाइयां खरीदने पर सीमान्त बिन्दु आयेगा। यही कारण है कि जब बाजारू कीमत अधिक होती है तो कम चीजें खरीदी जाती है तथा जब बाजारू कीमत कम होती है तो अधिक चीजें खरीदी जाती हैं।

सीमान्त उपयोगिता क विषय में यह बात समझनी आवश्यक है कि यह किसी समय खरीदी गई कुल इकाइयो में से अन्तिम इकाई की ही उपयोगिता नही होती जसा भ्रम उपर क कथन से हो सकता है। इसके विपरीत, यह वह वृद्धि है जो कि सीमान्त इकाई के उपभोग के फलस्वरूप कुल उपयोगिता म आती है। उदाहरण के लिय यदि कोई व्यक्ति चार सेबो से ५० इकाई उपयोगिता प्राप्त करता है तथा पाच स ५५ तो पाचवे सेव के उपभोग से कुल उपयोगिता म ५ इकाई की वृद्धि हुई है। बस ५ ही सेबो की सीमान्त उपयोगिता है। इस ५ को हम केवल पाचवी इकाई की उपयोगिता नही कह सकते क्योकि हो सकता है कि पाचवी इकाई खरीदने से पहले चार इकाइयो की उपयोगिता मे कुछ कमी आ गई हो जिसके कारण पाचवी इकाई खरीदने से कुल उपयोगिता में केवल ५ की ही वृद्धि हुई हो। प्रो० चैपमैन तथा अन्य बहुत से विद्वानो ने सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा इस बात को ध्यान म रखकर की है। प्रो० चैपमैन कहते है कि सीमान्त उपयोगिता का अभिप्राय कुल उपयोगिता म हुई उस वृद्धि से है जो कि कुल उपयोगिता म उपभोग वस्तु की अन्तिम वृद्धि के फलस्वरूप होती है।*

* Marginal Utility means the addition made to the total utility by the addition of the last increment consumed —Chapman—Outlines of Political Economy, p 28

The potential utility of an increment not actually possessed or consumed is called the marginal utility—Ely & Wicker—Elementary Principles of Economics

प्रो० चैपमैन ने कहा है कि सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। पहला, यह कि किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता वही उपयोगिता नहीं होती जो कि अन्तिम इकाई का उपभोग करते समय उपभोक्ता को प्राप्त होती है। इस बात को हम ऊपर समझा चुके हैं। दूसरी, यह कि जब उपभोग प्रारम्भ किया जाता है तब उपभोग की जाने वाली इकाइयों में से प्रारम्भ की कुछ इकाइयों की कोई उपयोगिता निश्चित नहीं की जा सकती क्योंकि इन प्रारम्भ की इकाइयों की उपयोगिता असीमित होती है जैसे, यदि किसी स्थान पर पानी मोल मिलता हो तो एक प्यासा व्यक्ति एक गिलास पानी के लिये अपना सब कुछ दे सकता है, क्योंकि वह इतना प्यासा है कि इस पहले गिलास पानी की उपयोगिता उसके लिये अनन्त है, परन्तु दूसरे गिलास और उसके बाद और गिलासों की उपयोगिता उसके लिये क्रमशः कम और मापनीय होती जायगी।

कुल उपयोगिता
(Total Utility)

प्रो० चैपमैन ने कहा है कि किसी वस्तु की किसी दी हुई मात्रा की कुल उपयोगिता का अर्थ उस समस्त उपयोगिता अथवा तुष्टि से है जो कि किसी व्यक्ति को उसके उपभोग से प्राप्त होती है।* उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति ६ रोटियां खरीदे जिनसे निम्नलिखित ढंग से उपयोगिता प्राप्त होती है—

रोटी की संख्या	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
१	५०	५०
२	९०	४०
३	११५	२५
४	१२३	८
५	१२३	०
६	११८	–५

तो ६ रोटियों में कुल उपयोगिता ११८ इकाई के बराबर मिलती है। इस तालिका से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि चार रोटियों में उपभोक्ता को कुल १२३ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु पांचवीं रोटी से उसको कोई उपयोगिता प्राप्त नहीं होती। पांचवीं रोटी की उपयोगिता शून्य है। इस कारण कुल उपयोगिता में

* "The *total utility* of a given quantity of any commodity means the whole of the utility or satisfaction obtained by the person consuming it."—Ibid.

कोई वृद्धि नही होती। अर्थशास्त्र म शून्य उपयोगिता के बिन्दु को तुष्टि तल (Satiety level) कहते है। यदि उपभोक्ता इसमे आगे अपने उपभोग का जारी रखेगा तो कुल उपयोगिता बढने के बजाय घटने लगेगी।

पूर्वोक्त तालिका से यह बात समझ म आ सकती है कि किसी समय उपभोग की कुल उपयोगिता का अभिप्राय उस समय उपभोग की गई इकाइयो की उपयोगिता के योग से है। यदि एक रोटी खाई जाती है तो उससे कुल उपयोगिता ५० के बराबर मिलती है। यदि दो रोटिया खाई जाती है तो उनसे कुल ६० उपयोगिता मिलती है, इसी प्रकार तीन के उपभोग से ११५ तथा चार के उपभोग से १२३ कुल उपयोगिता प्राप्त होती है। पाचवी के उपभोग से कुल उपयोगिता मे कोई वृद्धि नही होती और छठी के उपभोग म तो कुल उपयोगिता बढने के बदले घटने लगती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता का जबरदस्ती खिलाया जा रहा है। इसी कारण उसकी कुल उपयोगिता म ह्रास होने लगता है।

इस तालिका से यह बात भी जाहिर है कि सीमान्त उपयोगिता वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई म कुल उपयोगिता म हुई वृद्धि के बराबर होती है। उदाहरण के लिये दूसरी रोटी की उपयोगिता ६०–५०=४० है, तीसरी की ११५–६०=२५, चौथी की १२३–११५=८, पाचवी की १२३–१२३=० तथा छठी की १२३–१२८=५। इस प्रकार तुष्टि तल पर पहुँचने के पश्चात् कुल उपयोगिता म ह्रास होने लगता है तथा सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।

सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता मे भेद—

अब हम सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता म भेद कर सकते हैं। इन दोनो के भेद को सबसे पहले प्रो० जेवन्स ने बताया था तथा उनके विचार से उनकी यह एक बहुत बडी खोज थी। वास्तव म बात ऐसी ही थी क्योकि इस अन्तर के कारण ही हम यह पता चलता है कि हवा व पानी की कुल उपयोगिता अधिक होते हुए भी उनकी कोई कीमत क्यो नही होती। इनकी कोई कीमत इसलिये नही होती कि इन वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर होती है। इस भेद स यह बात भी ज्ञात होती है कि यद्यपि किसी व्यक्ति के लिये दो वस्तुओ से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिताओ मे अन्तर हो सकता है तो भी वह उनम से प्रत्येक पर उस बिन्दु स आगे खर्च नही करेगा जहा पर कि प्रत्येक से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हो जाती हैं।

सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता का पारस्परिक सम्बन्ध—

सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता म बडा गहरा सम्बन्ध होता है। जब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक (Positive) होती है तब तक कुल उपयोगिता बढती रहती है परन्तु उसके बढने की दर कम होती रहती है। पूर्ण तुष्टि बिन्दु पर पहुँच कर कुल उपयोगिता अधिकतम हो जाती है। इस बिन्दु के पश्चात् भी यदि

उपभोग का क्रम जारी रखा गया तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक (Negative) हो जाती है और उसके साथ-साथ कुल उपयोगिता भी घटने लगती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कुल उपयोगिता में वृद्धि की गति सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि की गति पर निर्भर होती है।

पूर्वोक्त दी हुई तालिका को हम ग्राफ पर अंकित कर सकते हैं। इससे हम कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता के बीच के सम्बन्ध को भलीभांति समझ सकते हैं। पूर्वोक्त तालिका से यह भी विदित है कि यदि हम रोटियों की सब इकाइयों की सीमान्त उपयोगिताओं को जोड़ दें तो हमें उन इकाइयों के उपभोग से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। उदाहरण के लिये, हम रोटी की तीन इकाइयों को लेते हैं। प्रथम रोटी की सीमान्त उपयोगिता ५०, दूसरी की ४० तथा तीसरी की २५ है। इन तीनों को जोड़ने से हमें तीन रोटियों के उपभोग से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता प्राप्त हो जायगी अर्थात् ५०+४० +२५=११५ जो हमारी तालिका में दिये हुए ग्राफ से मिलती है। उपर्युक्त ग्राफ में भी इसी बात को रेखित भाग द्वारा दिखाया गया है। इस प्रकार सीमान्त उपयोगिताओं का जोड़ कर हम कुल उपयोगितायें प्राप्त कर सकते हैं। विलोमत क्रमागत (Consecutive) कुल उपयोगिताओं को घटा कर हम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त कर

सीमान्त कुल के सम्बन्ध

सकते हैं, जैसे ३ रोटियों से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता में से यदि हम २ रोटियों से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता को घटायें तो हमें तीसरी रोटी की सीमान्त उपयोगिता (२५) मिल जाती है।
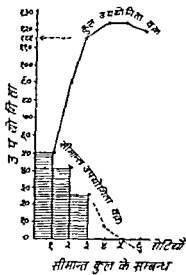
यह एक सामान्य नियम है कि किसी दिये हुए भुज* तक किसी अनवरत सीमान्त वक्र के नीचे का क्षेत्रफल उस भुज पर, संगत कुल-वक्र के कोटि** के बराबर होता है।

अपनी पूर्वोक्त तालिका के आधार पर रेखांकित ग्राफ में यद्यपि हमने प्रारम्भ ही से सीमान्त उपयोगिता के ह्रास नियम के सिद्धान्त को लागू होते मान लिया है तथा चित्र में सीमान्त उपयोगिता वक्र निरन्तर नीचे गिर रहा है फिर भी हम यह देखते हैं कि कुल उपयोगिता वक्र पहले तो ऊपर उठता है फिर समतल हो जाता

---

* भुज=Abscissa.

** कोटि=Ordinate.

है अर्थात् न गिरता हुआ है, न उठता हुआ, इसके बाद फिर वह गिरना शुरू होता है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सीमान्त उपयोगिता वक्र शून्य से भी नीचे जा सकता है तथा ऋणात्मक हो सकता है। तथ्य तो यह है कि जब कभी कुल उपयोगिता ह्रासोन्मुख होगी तब सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होगी क्योंकि कुल उपयोगिता मे ह्रास का अर्थ होना है कि वस्तु की एक और इकाई के उपभोग से हम कुल उपयोगिता मे कुछ जोडने के बजाय उसमे से कुछ घटा रहे हैं। या यो कह कि कुल उपयोगिता मे धनात्मक के बजाय ऋणात्मक वृद्धि हो रही है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक है और उसका वक्र क्षैतिज-अक्ष के नीचे जा रहा है।

कुल उपयोगिता ही वह राशि है जिसकी अधिकतम वृद्धि उपभोक्ता चाहता है। उसे इस बात से मतलब नहीं कि यह वृद्धि किस रूप मे और किस वस्तु से उसे प्राप्त होती है। उपभोक्ता अपने द्वारा खरीदी गई तमाम वस्तुओ की कुल उपयोगिताओ को जोडता है और इस प्रकार जोडने से जो योग उसे प्राप्त होता है वही उपभोक्ता द्वारा प्राप्त कुल उपयोगिता राशि है। प्रत्येक बुद्धिमान उपभोक्ता का लक्ष्य इसी राशि को वृद्धि की चरम सीमा तक पहुँचाना होता है। प्रत्येक उपभोक्ता के सामने यह प्रश्न होता है कि वह अपने सीमित ससाधनो को (या क्रय शक्ति को) वैकल्पिक उपयोगो मे किस प्रकार लगाये कि उसे कुल उपयोगिता की उच्चतम राशि प्राप्त हो सके। हमने अन्यत्र यह कहा है कि कुल उपयोगिता उच्चतम तब होगी जब प्रत्येक वस्तु पर खर्च की गई अन्तिम मुद्रा इकाई से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होगी। यही बिन्दु उपभोक्ता की सस्थिति प्रकट करता है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है, समय मे हम इस सम्बन्ध मे आगे और कुछ कहेंगे।

यहाँ यह बात स्मरण रहनी चाहिए कि किसी वस्तु पर खर्च किये गये कुल धन से प्राप्त कुल उपयोगिता का ठीक-ठीक अनुमान हम नही लगा सकते। किसी वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता की द्योतक है। परन्तु हम जानते हैं कि किसी समय बाजार मे प्रत्येक समान गुण की चीज के लिये एक-सी ही कीमत देनी पडती है। इस कारण किसी एक ही समय पर खरीदी गई एक ही वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिये एक-सी ही कीमत देनी पडेगी। इस प्रकार कीमत के द्वारा हमको किसी वस्तु की कुल उपयोगिता का अनुमान तभी हो सकता था जबकि प्रत्येक इकाई की उपयोगिता सीमान्त इकाई की उपयोगिता के बराबर होती क्योंकि ऐसी दशा मे क्रय की गई वस्तु-इकाइयो को कीमत मे गुणा करके हम कुल उपयोगिता प्राप्त कर सकते थे। परन्तु हम अभी बतायेंगे कि प्रत्येक इकाई की उपयोगिता समान नहीं होती। इस कारण सीमान्त इकाई की उपयोगिता से कुल उपयोगिता नहीं पाई जा सकती। न किसी वस्तु के लिये खर्च किये गये धन से ही हम कुल उपयोगिता का अनुमान लगा सकते है।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम
(Law of Diminishing Marginal Utility)

आवश्यकताओं के गुणों का वर्णन करते समय हमने बताया था कि आवश्यकताओं का एक गुण यह भी है कि प्रत्येक आवश्यकता तुष्ट की जा सकती है, आवश्यकताओं के इसी गुण पर सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम आधारित है। यह नियम बताता है कि जब हम किसी वस्तु के उपभोग का क्रम जारी रखते हैं तो उसकी इकाइयों की उपयोगिता हमारे लिए उत्तरोत्तर कम होती जाती है तथा अन्त में एक बिन्दु ऐसा भी आ जाता है जबकि उसके उपभोग से हमको कोई उपयोगिता प्राप्त नहीं होती। तत्पश्चात् भी यदि उपभोग का क्रम जारी रखा जाता है तो उसके उपभोग से उपयोगिता प्राप्त होने के बदले पहले प्राप्त की जा चुकी कुल उपयोगिता का ह्रास होने लगता है। उदाहरण के लिए, यदि हम पानी पीना प्रारम्भ करें या रोटी खानी प्रारम्भ करें तो दो-तीन गिलास पीने के पश्चात् या ५-६ रोटी खाने के पश्चात् हमारी पानी या रोटी के उपभोग की इच्छा समाप्त हो जाती है।

जिस समय किसी वस्तु का उपभोग शुरू किया जाता है, उसकी पहली इकाई से हमको सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है क्योंकि वह वस्तु पहले हमारे पास नहीं थी। परन्तु, जब हम दूसरी इकाई का उपभोग करेंगे तो उससे हमको पहली इकाई से प्राप्त उपयोगिता से कम उपयोगिता मिलेगी। तीसरी इकाई के उपभोग से हमको दूसरी इकाई से प्राप्त उपयोगिता से कम उपयोगिता मिलेगी। इस प्रकार जब तक हम उपभोग का क्रम जारी रखेंगे तब तक वस्तु की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता अपनी पूर्ववर्ती इकाई की अपेक्षा कम होती जायगी। इस प्रकार एक बिन्दु ऐसा आयेगा जहां हमारी आवश्यकता पूर्ण रूप से तुष्ट हो जायगी। यदि उपभोग करते समय वस्तु की अगली इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता अपनी पूर्ववर्ती इकाई की उपयोगिता के बराबर या उससे अधिक होती तो हम निरन्तर अपने उपभोग के क्रम को जारी रखते अर्थात् न हमारी भूख कभी तुष्ट होती और न प्यास बुझती। परन्तु व्यवहार में हम ऐसा नहीं देखते। इसका कारण यह बात सत्य है कि यदि किसी वस्तु का उपभोग शुरू किया जाय तो उसकी प्रत्येक अगली इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क्रमशः कम होती जायगी। अर्थशास्त्र में इस पाई हुई सीमान्त उपयोगिता की प्रवृत्ति को सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कहा गया है। प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है —

"एक मनुष्य के पास एक वस्तु की जितनी मात्रा होती है उस मात्रा में एक दी हुई वृद्धि होने से जो अतिरिक्त लाभ उसको प्राप्त होता है वह (उसके पूर्व के स्टाक में) प्रत्येक ऐसी वृद्धि के साथ क्रमशः घटता जाता है।"*

* "The additional benefit which a person derives from a given increase of a stock of a thing diminishes with every increase in the stock that he already has."—Marshall—Principles of Economics' p. 168.

प्रो० बेनहम ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है —

"यह बताता है कि यदि एक उपभोक्ता, जिसकी रुचि दी हुई है, केवल एक वस्तु के (साप्ताहिक) उपभोग को बढाता है, तो उसके लिये उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की अपेक्षा कम हो जायगी ।*

प्रो० चैपमैन ने कहा है कि "उपयोगिता के रूप मे रखने से यह नियम साधारणत यह घोषणा करता है कि किसी दिये हुये समय मे जैसे-जैसे किसी वस्तु की मात्रा बढती है इससे प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता मे क्रमश ह्रासोन्मुख दर पर वृद्धि होती है। यदि वास्तव मे उपयोगिता बढती है अथवा दूसरे शब्दो मे, इसकी सीमान्त उपयोगिता क्रमश घटती है। यदि उपभोग जारी रखा जाय तो नियमत यह उस समय तक होती रहती है जब तक कि सीमान्त उपयोगिता गिर कर शून्य नही हो जाती और यदि शून्य उपयोगिता पर पहुचने के पश्चात किसी वस्तु की पूर्ति फिर भी समाप्त नही होती और हमको उसका उपभोग करने पर बाध्य किया जाता है तो तुष्टि के स्थान पर हमे अतुष्टि मिलने लगती है।"**

इस नियम को हम एक तालिका व चित्र की सहायता से इस प्रकार समझा सकते है —

वस्तु की इकाई	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
१	१००	१००
२	१७०	७०
३	२१०	४०
४	२३०	२०
५	२३५	५
६	२३५	०

पृष्ठ १३३ पर दिये चित्र मे OX पर वस्तु की इकाइया तथा OY पर उपयोगिता दिखाई गई है। इसके पश्चात तालिका के पहले खाने अर्थात वस्तु की इकाई तथा तीसरे खाने अर्थात् सीमान्त उपयोगिता की सहायता से एक DD वक्र बनाया गया है। इस वक्र से साफ दिखाई देता है कि वस्तु की इकाइयो का उपभोग जैसे जैसे बढाया

* "It states that if a consumer, with a given taste increases his (weekly) consumption of one commodity only, the marginal utility to him of that commodity will fall relatively to the marginal utility of other commodities —Benham—Economics, p 45

** Chapman—Outlines of Political Economy, pp 29-30

जाता है उपयोगिता, गिरती जाती है और अन्त मे शून्य हो जाती है। इसके पश्चात् यह ऋणात्मक हो जाती है।

उपधारणायें—सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कुछ उपधारणाओ पर आधारित है। पहली यह कि उपभोग की प्रत्येक इकाई मात्रा व गुण मे पूर्ण रूप से दूसरी के समान होनी चाहिये जिससे कि हम दी हुई इकाइयो मे से अपने उपभोग के लिये कोई भी इकाई ले सकें। दूसरी, उपभोग मे समय के दृष्टिकोण से एक निरन्तरता होनी चाहिये। यह नही, कि हम एक रोटी तो अब खाये तथा दूसरी एक घण्टे पश्चात। ऐसा होने पर उपयोगिता घटने की अपेक्षा बढ सकती है। तीसरी, यह कि उपभोक्ता की रुचि सम्बन्धी, मानसिक तथा आर्थिक दशा मे कोई परिवर्तन नही होना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि उपभोक्ता रोटी खाते-खाते मिठाई खा ले तो उसकी मानसिक स्थिति तथा रुचि मे अन्तर आ सकता है जिसके कारण वह कम रोटियो का उपभोग करने के स्थान पर अधिक रोटियो का उपभोग कर सकता है। मनुष्य की आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन हो जाने के कारण भी उपयोगिता पर बडा प्रभाव पडता है। इस कारण यह नियम लागू होना बन्द हो जाता है। प्रो० चैपमैन ने कहा है कि जैसे ही किसी व्यक्ति की आय बढ जाती है, वैसे ही वह आर्थिक दृष्टिकोण से एक दूसरा आदमी बन जाता है। हो सकता है कि वह अपनी आय की कमी के कारण उस प्रकार का जीवन व्यतीत न कर सके जो उसको सबसे अधिक आकर्षित करता है। यदि भाग्य से उसके पास इतना धन आ जाय कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके तो अब उसके लिये आय की सीमान्त उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम हो सकती है। चौथी, वस्तु की कीमत मे कोई अन्तर नही होना चाहिये। कीमत गिरने से [illegible]गिता घटने के बदले बढ सकती है। पाचवी, जब तक उपभोग का क्रम जारी [illegible] है उस समय तक मनुष्य के स्वभाव व फैशन मे कोई अन्तर नही होना चाहिये।
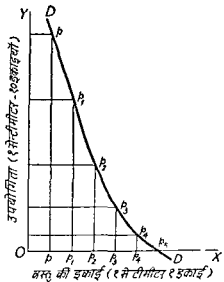
नियम के अपवाद—सीमान्त उपयोगिता नियम अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण नियम है। प्रो० टॉजिग का मत है कि "यह प्रवृत्ति इतने विस्तृत रूप में और इतने कम अपवादो के साथ प्रकट होती है [illegible] इसे सार्वलौकिक (Universal) कहने मे कोई त्रुटि न होगी।" फिर भी इस नियम के कतिपय अपवाद महत्वपूर्ण हैं, इस नियम के प्रयोग करते समय उनका ध्यान हमे अवश्य रखना चाहिये। वे अग्रलिखित हैं—

(१) यदि वस्तु की पहली इकाई मात्रा मे इतनी कम होती है कि उससे आवश्यकता पूरी न हो सके तो दूसरी इकाई की उपयोगिता पहली से अधिक होगी। जैसे यदि मुझे ट्राम मे ९ न० पै० का टिकट खरीदना है और मेरे पास केवल ८ नये पैसे ही है तो नवें पैसे की उपयोगिता मेरे लिये बहुत अधिक होगी।

(२) कुछ लोगो का कहना है कि शराब पीने की इच्छा कभी पूरी नही होती। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि शराबी शराब पी लेने के पश्चात साधारण आदमी नही रहता और अर्थशास्त्र मे हम केवल साधारण आदमियो का ही अध्ययन करते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी सत्य है कि कुछ प्याले पी लेने के पश्चात शराबी को शराब पीना बन्द करना ही पडेगा नही तो वह मर जायेगा।

(३) कुछ लोगो का कहना है कि आदमी की धन की भूख कभी शान्त नही होती। परन्तु धन भी इस नियम का अपवाद दिखाई नही पडता क्योकि एक सीमा पर पहुच कर व्यक्ति की पिपासा अवश्य क्षीण हो जाती है। कहते हैं कि मेडास (Medas) नाम के राजा को जब यह वरदान प्राप्त हो गया कि वह जिस चीज को छुएगा वही सोना हो जायेगी तो कुछ ही समय पश्चात् वह उससे ऊब गया और उसको तब शान्ति मिली जब कि उसने प्राप्त किया हुआ वरदान वापिस कर दिया। यह बात सत्य है कि धन से हम ससार की प्राय सभी वस्तुयें खरीद सकते हैं तथा धन आज के युग मे शक्ति का सूचक है। इसी कारण धन के लिये यह नियम जरा देर से लागू होता है, परन्तु लागू होता है अवश्य। इसलिये धन को भी इस नियम का अपवाद कहना उचित नही है।

कुछ लोगो का कहना है कि फैशन की चीजो तथा शक्ति के साथ भी यह नियम लागू नही होता। परन्तु बात ऐसी नही है क्योकि फैशन तथा शक्ति की इच्छा बहुत सी इच्छाओ मे मिल कर बनती है तथा उनमे से प्रत्येक इच्छा की पूर्ति हो सकती है।

बहुत सी विचित्र तथा दुर्लभ चीजो, जैसे कोई प्राचीन पाण्डुलिपि, तस्वीर, स्टाम्प आदि एकत्र करने की इच्छा के साथ भी यह नियम लागू नही होता दिखाई पडता। परन्तु देखने म आता है कि किसी एक सीमा पर पहुच कर यह इच्छायें भी कम हो जाती है। यदि ये इच्छायें समाप्त न होती तो फिर इस प्रकार की इच्छा रखने वाले सदा ही इन चीजो को एकत्र करने के पीछे लगे रहते। फिर यह बात भी है कि हर दूसरी दुर्लभ चीज नयी होती है। एक ही प्रकार की दूसरी चीज की उपयोगिता व्यक्ति के लिये कम होगी।

यह भी कहा जाता है कि किसी वस्तु से हमे जितनी उपयोगिता मिलती है वह केवल इस बात पर निर्भर नही होती कि उस वस्तु का हमारे पास कितना स्टाक है वरन् इस बात पर निर्भर होती है कि समाज के दूसरे लोगो के पास उस वस्तु का कितना स्टाक है। टेलीफोन कनेक्शन का उदाहरण इस सम्बन्ध मे दिया जाता है। यदि टेलीफोन कनेक्शन की सख्या बढ जाय तो इससे अपने कनेक्शन की उपयोगिता

भी बढ जायगी। परन्तु इस उदाहरण मे त्रुटि है, क्योकि यह नियम केवल उस दशा मे लागू होता है जब कि हमारे स्टाक में वृद्धि होती है न कि दूसरे के स्टाक में।

प्रो० टाजिग ने बताया है कि किसी अच्छी कविता को दो तीन बार पढने अथवा किसी मधुर सगीत को कई बार सुनने पर पहली बार की अपेक्षा अधिक आनन्द आता है। परन्तु एक ही चीज का बार-बार पढन अथवा सुनने के पश्चात् जी उससे ऊब जाता है। आदमी फिर उसको पढना या सुनना पसन्द नहीं करता।

ऊपर के सब अपवादो के कारण ही प्रा० चैपमैन ने सुझाव दिया है कि हम को एक नियम के स्थान पर दो नियम मानने चाहियें। पहला, वस्तु का उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility of things) तथा दूसरा, आय का उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility of Income)। पहला नियम उस समय तक प्राय बिना अपवाद के लागू होता है जब तक कि लोगो की आय समान रहती है। दूसरा नियम उस समय ठीक होता है जब कि आय म थोडी-थोडी मात्रा म वार्षिक वृद्धि के रूप म वृद्धि होती है। परन्तु जब कोई आय बहुत अधिक मात्रा म बढ जाती है तब यह नियम लागू नही होता क्योकि ऐसी हालत मे खर्च की एक नयी योजना बनानी पडती है तथा हो सकता है कि नयी योजना मे हमको पहले से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम व्यावहारिक दृष्टिकोण से बडा महत्वपूर्ण है। यह न केवल उपभोग के क्षेत्र म ही लागू होता है वरन् विनिमय राजस्व आदि के क्षेत्रो म भी लागू होता है। उपभोग के विषय म हम ऊपर लिख चुके हैं। विनमय के क्षेत्र मे जब उपभोक्ता वस्तु खरीदने लगता है तो उसके लिये वस्तु की अगली इकाइयो की उपयोगिता कम होती जाती है। इसलिये व्यापारी अधिक माल बेचना चाहता है तो उसको माल का दाम कम करना पडता है। वर्द्धमान रीति पर कर लगाने का भी यह कारण है कि यदि बडी-बडी आयो म से कर ले लिया जाय तो उसमे उपयोगिता का उतना ह्रास नही होता जितना इस धन को गरीबो के हित के लिये खर्च करके लाभ होता है। समाजवादी धन वितरण की समानता की बात भी इसी आधार पर करते हैं कि यदि अमीर आदमियो की सम्पत्ति का कुछ भाग गरीबो को दे दिया जाय तो उससे अमीर आदमियो की कुल उपयोगिता मे उतना ह्रास न होगा जितना लाभ कि गरीबो को वह सम्पत्ति पाकर होगा।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Equi marginal Utility)

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम उपभोग का एक महत्वपूर्ण नियम है। इस नियम के कई नाम हैं जैसे, अधिकतम तृप्ति नियम (Doctrine of Maximum Satisfaction), स्थानापन्नता का नियम (Law of Substitution), उदासीनता का नियम (Law of Indifference) आदि हैं। इसका नाम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम इसलिए है कि प्रत्येक आदमी अपने व्यय मे हर हालत मे बराबर

सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि ऐसा करने से उसे अधिकतम तुष्टि प्राप्त होती है इसलिये इस नियम को अधिकतम तृप्ति नियम कहा गया है। मनुष्य को अधिकतम लाभ तभी प्राप्त होता है जब कि वह कम लाभप्रद व्यय की प्रतिस्थापना अधिक लाभप्रद व्यय से करता है। इसी कारण इस नियम को स्थानापन्नता का नियम कहा गया है। जब व्यक्ति ऐसे बिन्दु पर पहुच जाता है जिस पर कि प्रत्येक व्यय से उसे समान उपयोगिता प्राप्त होती है तब वह इस बात मे उदासीन हो जाता है कि वह इस खर्च को करे या उसको, क्योंकि न तो उसको इस खर्च के करने से अपेक्षाकृत लाभ होता है और न उस खर्च से कोई सापेक्ष हानि। इसी कारण इस नियम को उदासीनता का नियम कहते है।*

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम प्राणीशास्त्र के इस नियम पर आधारित है कि ससार मे वही प्राणी जिन्दा रह सकेगा जो जीने के सबसे अधिक योग्य है (Survival of the fittest)। नदैव केवल वही चीजें मोल ली जाती है जो दूसरी की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्रदान करती है। मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं इन आवश्यकताओ को तुष्ट करने वाले साधन अल्प है। इस कारण उसके सामने हर समय यह समस्या बनी रहती है कि वह अपने इन अल्प साधनो का किस ढग से उपयोग करे कि उसको अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो। हमने सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम मे पढा है कि यदि कोई व्यक्ति अपने साधनो का उपयोग केवल एक ही वस्तु को खरीदने के लिये करता है तो उसको प्रत्येक अगली इकाई से घटती दर पर उपयोगिता प्राप्त होती जाती है। इस प्रकार होते-होते अतिरिक्त वस्तु-इकाइयो से प्राप्त होने वाली उपयोगिता शून्य हो जाती है और यदि इसके पश्चात् भी खरीद जारी रखी जाती है तो कुल उपयोगिता मे ह्रास होने लगता है। इसलिये मनुष्य अपने सब साधनो को एक ही चीज पर खर्च नही करता। इसके विपरीत, वह उनको विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की तुष्टि पर खर्च करता है। आवश्यकताओ पर खर्च करने का क्रम उनकी तीव्रता पर निर्भर होता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि वस्तु पर किया गया खर्च इस बात का द्योतक नही है कि उससे कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है। वे वस्तुय जिनसे सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है उनकी कीमत प्राय कम होती है। इस कारण यद्यपि किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य बहुत उत्सुक हो सकता है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह उस पर अधिक धन भी खर्च करेगा। सबसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् वह उससे कम

---

* *The law of equi marginal utility, substitution, or indifference,* is so-called because it alleges that every person will try to get equi marginal returns from his expenditure, that he will seek to attain his end by substituting the more profitable for the less profitable whenever he sees an opportunity, and that, when he has brought about equi marginal returns, a diminutive accession to his income will be spent indifferently upon one thing or another' --Chapman Outlines of Political Economy p. 46.

तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करेगा तथा उसके पश्चात् उससे कम। परन्तु इस प्रकार खर्च करते समय वह साधारणत तर्क से काम लेता है। यह बात सत्य है कि व्यवहार मे आदमी सदा ही इस ध्येय को सामने नही रखता कि उसको भौतिक चीजो से अधिकतम तुष्टि प्राप्त हो। कभी-कभी आदमी इस ढग से कार्य करता है कि उसको लाभ के बदले हानि हो जाती है विशेषत उस समय जबकि उसके ऊपर धार्मिक अथवा राजनैतिक प्रभाव होता है या वह तार्किक मार्ग से अनभिज्ञ होता है। परन्तु अर्थशास्त्र मनुष्य के विवेकपूर्ण आचरण का सहारा नही छोड सकता। इसका कारण यह है कि इस सहारे को छोडने से आर्थिक विश्लेषण को आगे बढाया ही नही जा सकता तथा अर्थशास्त्रियो को यह कहना पडेगा कि एक ही परिस्थिति को निर्माण करने के लिये असख्य सम्भावनाय हो सकती है। परन्तु इस प्रकार के नतीजे का कोई लाभ न होगा। इसके विपरीत, यह बात भी है कि ससार मे अधिकतर व्यक्ति प्राय तर्क से ही काम लेते हैं। [प्रो० चैपमैन न कहा है कि यद्यपि हम लोग सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के आधार पर आवश्यक रूप स उसी प्रकार काम नही करते जिस प्रकार कि एक पत्थर को हवा मे फेंकने से निश्चय रूप से वह जमीन पर गिरता है। हम अपनी आय को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार इसलिय खर्च करते हैं कि हम मे विवेक है]

यदि हम यह मानकर चलें कि जनसाधारण अपने साधनो से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है तथा वह विवेकी है तो हम इस नतीजे पर बडी आसानी से आ सकते हैं कि वह अपने खर्च को विभिन्न चीजो पर इस प्रकार बाटेगा कि उसको क्रय की जाने वाली प्रत्येक वस्तु से समान सीमान्त उपयोगिता मिले अथवा प्रत्येक वस्तु से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता और कीमत का हर हालत मे एक सा ही सम्बन्ध रहे। ऐसा करने से ही व्यक्ति को अपने दिये हुए साधनो से अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सकती है। प्रो० मार्शल ने इस नियम की निम्नलिखित परिभाषा दी है —

'यदि एक व्यक्ति के पास कोई ऐसी वस्तु हो जिसको वह अनेको कामो मे ला सकता है तो वह उसको इन कामो मे इस प्रकार बाटेगा कि सब कामो म इसकी सीमान्त उपयोगिता समान रहे।"*

उदाहरण के लिये, यदि किसी व्यक्ति के पास कुछ कपडा है जिससे वह कमीज, टोपी, पाजामा आदि बना सकता है तो वह इस कपडे से केवल कमीज या केवल टोपी या केवल पाजामे नही बनवायेगा क्योकि ऐसा करने से उसको दूसरी, तीसरी, चौथी कमीज अथवा टोपी अथवा पाजामा बनाने से सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के लागू होने के कारण कुल उपयोगिता उस परिस्थिति की अपेक्षा कम

* "It a person has a thing which he can put to several uses, he will distribute it between these uses in such a way that it has the same marginal utility in all."--Marshall—Principles (4th. Edn) p. 192.

मिलेगी जिसमे कि वह उस कपडे से कुछ कमीज, कुछ टोपिया तथा कुछ पाजामे बनवाता है। जो बात कपडे के लिये सत्य है वह बिजली, पानी, जमीन आदि सभी चीजों के लिये सत्य है। कोई भी व्यक्ति बिजली, पानी, जमीन आदि को केवल एक ही काम मे नही लाता वरन् उसको उतने अधिक कामो मे लाने का प्रयत्न करता है जितने कामो मे कि वह उसको ला सकता है। जो बात वस्तुओ के लिये सत्य है वह धन के लिये भी सत्य है। यदि एक व्यक्ति अपने धन को केवल एक ही चीज के खरीदने मे खर्च करता है तो उसको उस धन से अधिक उपयोगिता प्राप्त न होगी। परन्तु यदि वह अपने धन को बहुत सी चीजें खरीदने मे खर्च करता है तो उसको अधिक उपयोगिता मिलेगी। इस बात को हम एक तालिका द्वारा समझा सकते हैं —

द्रव्य की इकाइया	आटा	फल	चीनी	घी
१	३५	२५	२७	३०
२	३२	२०	२३	२८
३	२८	११	१४	२६
४	२४	५	११	११
५	११	३	७	५
६	५	१	४	३

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि उदाहरण मे दिये गये व्यक्ति को सबसे अधिक इच्छा आटे की है क्योंकि आटे की पहली इकाई से उसको ३५ उपयोगिता प्राप्त होती है। इस कारण वह अपने रुपये की पहली इकाई को आटा खरीदने मे खर्च करेगा। आटे की दूसरी इकाई की उपयोगिता भी अन्य वस्तुओ की उपयोगिता से अधिक है इस कारण वह अपने रुपया की दूसरी इकाई भी आटे पर ही खर्च करेगा। आटे की दो इकाइया खरीदने पर उस मनुष्य के लिये आटे की उपयोगिता कुछ कम हो जाती है और आटे की अपेक्षा घी की उपयोगिता बढ जाती है। इस कारण वह अपना तीसरा रुपया घी खरीदने मे खर्च करेगा। इसके पश्चात् आटे और घी की उपयोगिता बराबर हो जाती है। इस कारण वह अपना चौथा व पाचवा रुपया आटा व घी को खरीदने मे खर्च करेगा। इस प्रकार यदि उस व्यक्ति के पास १६ रु० हो तो वह ५ रु० आटे पर, ३ रु० फलो पर, ४ रु० चीनी पर तथा ४ रु० घी पर खर्च करेगा। ऐसा करने मे उसका आटे से १३०, फलो से ५६, चीनी से ७५ तथा घी से ९५ उपयोगिता प्राप्त होगी। अर्थात् उसे अपने १६ रुपयो से १३०+५६+७५+९५=३५६ उपयोगिता प्राप्त होगी। परन्तु यदि वह अपने खर्च करने के ढग को बदल दे तो उसको अपने १६ रुपया से कुल उपयोगिता पहले

से कम प्राप्त होगी उदाहरण के लिये यदि वह आटे पर ५ रुपयो के बदले ६ रुपय खर्च करने का निश्चिय करे तथा फलो पर केवल २ रुपये खर्च करे तो उसको ११ उपयोगिता को हानि तथा ५ उपयोगिता का लाभ प्राप्त होगा अर्थात् उसको कुल ३५० उपयोगीता मिलेगी । यही बात एक चीज के क्रय से धन को हटाकर दूसरी चीज के क्रय पर लगाने से होगी । इस बात से सिद्ध होता है कि अपने धन को सम सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार खर्च करने से ही किसी व्यक्ति को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है । इसी कारण इसको अधिकतम तृप्ति सिद्धान्त कहा गया है । इस नियम को हम निम्नलिखित चित्र से दिखा सकते हैं—
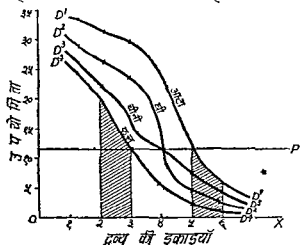
उपर्युक्त चित्र मे OX पर द्रव्य की इकाइया तथा OY पर विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त उपयोगिता दिखाई गई है । दी हुई तालिका के आधार पर हमको D^1D^1 आटे का, D^2D^2 घी का, D^3D^3 चीनी का तथा D^4D^4 फल का, आदि उपयोगिता वक्र प्राप्त होते हैं । इस चित्र मे P P रेखा सम-सीमान्त रेखा है । इस चित्र को देखने से यह साफ पता चलता हैं कि फलो पर २ रु० खर्च करने से (१) रेखाकित भाग की हानि व आटे पर ५ रु० के बदले ६ रु० खर्च करने से, (२) रेखाकित भाग का लाभ होता है । चित्र देखने से साफ पता चलता है कि (१) रेखाकित भाग, (२) रेखाकित भाग से बडा है जिसका अर्थ यह हुआ कि लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है ।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को एक दूसरे ढग से भी बयान किया जा सकता है । किसी व्यक्ति को अधिकतम तुष्टि उस समय भी प्राप्त होती है जबकि क्रय की जाने वाली वस्तुओ मे से प्रत्येक वस्तु की कीमत तथा उसकी सीमान्त उपयोगिता के बीच प्रत्येक दशा में समान अनुपात हो । उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति ३ पौंड चाय ३ रु० प्रति पौंड की दर से, ४ पौंड चीनी ८ आने प्रति

पौंड की दर से खरीदे और तीसरे पौंड चाय की उपयोगिता १२ हो तथा चौथे पौंड चीनी की उपयोगिता २ हो तो इस हालत मे चाय की कीमत तथा सीमान्त उपयोगिता मे १ ४ का अनुपात है तथा यही अनुपात चीनी की कीमत तथा उसकी सीमान्त उपयोगिता मे है। इस प्रकार हर एक उपभोक्ता इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अपनी आय को इस प्रकार खर्च करे कि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत मे प्रत्येक हालत मे समान अनुपात हो। हो सकता है कि व्यवहार मे उपयोगिता की माप इस प्रकार न की जा सके, परन्तु इससे हमारे परिणाम पर कोई प्रभाव नही पडता क्योकि हमारा अभिप्राय यह नही है कि हम यह देखे कि एक इकाई को कम या अधिक खरीदने से कुल उपयोगिता मे कितनी कमी या अधिकता होती है वरन् हम केवल यह बात चाहते है कि हम जो-जो वस्तुये खरीदें उनकी सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत का अनुपात हर हालत मे समान रहे। इस प्रकार उपभोक्ता को अपने धन से तभी अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता है जबकि

$$\frac{\text{चाय की कीमत}}{\text{चाय की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{चीनी की कीमत}}{\text{चीनी की सीमान्त उपयोगिता}}$$

उप-धारणायें—इस नियम के सम्बन्ध मे निम्नलिखित उप-धारणाये की की गई है—

(१) इस नियम मे यह माना गया है कि मुद्रा की उपयोगिता मे कोई परिवर्तन नही होता यद्यपि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार मुद्रा की उपयोगिता भी निरन्तर कम होती जाती है।

(२) इस नियम मे यह भी मानकर चलते हैं कि उपभोक्ता विवेकपूर्ण (Rational) है अर्थात् वह अच्छे, बुरे लाभ, तथा हानि को ध्यान में रखकर चीजे खरीदता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का महत्व—

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम अर्थशास्त्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण नियम है। यह नियम न केवल उपभोग के क्षेत्र मे, वरन् दूसरे क्षेत्रो म भी लागू होता है। उदाहरण के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा भविष्य की आय को समान रखने के लिये ही बचत करता है। मनुष्य जानता है कि भविष्य मे वह बीमार हो सकता है अथवा बुढापे के कारण कमजोर हो सकता है। इसलिये वह वर्तमान की सब आय को वर्तमान म खर्च न करके भविष्य के लिये भी इसमे से कुछ बचाकर रख लेता है जिससे कि उसकी आय की वर्तमान तथा भविष्य की उपयोगिता समान रहे। उत्पादन करते समय उत्पादक का यही प्रयत्न होता है कि वह इस प्रकार से उत्पादन के साधनो को उत्पादक कार्य मे लगाये कि प्रत्येक साधन से प्राप्त होने वाली उत्पादनीयता समान रहे। यदि वह यह देखता है कि एक साधन से अधिक उत्पादनीयता मिलती है तथा दूसरे मे कम तो वह दूसरे साधन के स्थान पर पहले साधन का प्रयोग करेगा। विनिमय करते समय भी प्रत्येक व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता है कि

वस्तु मे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता धन की सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाय। इसी प्रकार राजस्व के क्षेत्र में सरकार धन का व्यय करते समय विभिन्न मदो पर इस प्रकार खर्च करती है जिससे कि प्रत्येक मद मे प्राप्त होने वाली उपयोगिता समान रहे। वर्द्धमान कर पद्धति के अनुसार कर इस कारण वसूल किया जाता है क्योंकि गरीब आदमियो के लिये धन की सीमान्त उपयोगिता अमीर आदमियो की अपेक्षा अधिक होती है। इसी कारण यदि अमीर आदमियों से कर ले लिया जाय तो उनके पास जो धन बचेगा उसकी सीमान्त उपयोगिता भी पहले से अधिक हो जायगी तथा गरीब आदमियो की धन की सीमान्त उपयोगिता के समीप आने लगेगी। इस प्रकार सम-सीमान्त उपयोगिता नियम लगभग प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र मे लागू होता है।

सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना तथा उनका उपभोक्ता सस्थिति और माग वक्र से सम्बन्ध

दो वस्तुओं के बीच विनिमय सीमान्त पर होता हुआ माना जा सकता है अर्थात म वस्तु की एक इकाई के बदले स वस्तु की इकाइयो की अमुक सख्या या उसका अमुक इकाई अश दिया जाता है या लिया जाता है। म की सीमान्त इकाई को प्राप्त करने के लिये स की कुछ इकाइयो (या उसके किसी इकाई अश) का बलिदान करना होगा। विनिमय समतुल्य है और यदि ख वस्तु की इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क वस्तु की बलिदान की हुई मात्रा की उपयोगिता के बराबर है तो उपभोक्ता की कुल उपयोगिता मे इस विनिमय से कोई परिवर्तन नहीं आया। मान लिया कि कोई परिवार मक्खन (म) तथा सेव (स) अपने उपभोग में ले आता है। यदि हम यह मान लें कि पाचवें पाव मक्खन में उपयोगिता की १५ इकाइया प्राप्त होती है तथा आठवें सेव मे उपयोगिता की ५ इकाइया प्राप्त होती है। तो, सेव स की सीमान्त उपयोगिता = मक्खन (म) की $\frac{1}{3}$ सीमान्त उपयोगिता।

इस प्रकार मक्खन का पाचवा पाव, आठवें सेव से तीन गुना अधिक मूल्यवान है या यो कहे कि आठवा सेव $\frac{1}{3}$ पाव मक्खन के बराबर है यदि। $\frac{1}{3}$ पाव मक्खन को हम इकाई मान लें तो इसकी सीमान्त उपयोगिता ५ है, उसी प्रकार जिस प्रकार की एक सेव की सीमान्त उपयोगिता ५ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दो वस्तुओं की विनिमय निष्पत्ति (The ratio of exchange) उनकी सीमान्त उपयोगिता की व्युत्क्रम (Reciprocal) होती हैं।

दोनो सीमान्त उपयोगिताओं की निष्पत्ति (Ratio) दोनो वस्तुओं के बीच स्थानापन्न की सीमान्त दर (Marginal rate of Substitution) कहलाती है। इससे हमें यह पता चलता है कि कुल उपयोगिता के स्तर को पूर्ववत् बनाये रखने के लिये १ सेव $\frac{1}{3}$ पाव मक्खन का स्थानापन्न होगा। किसी तीसरी वस्तु के लिये भी यही बात लागू होगी। मान लिया कि किसी व्यक्ति ने छ पाव कडुवा तेल (क)

खरीदा तथा छठ पाव कड़ुवे तेल की सीमान्त उपयोगिता २० है तो पाचवें पाव मक्खन तथा छठव पाव कड़ुवे तेल के बीच स्थानापन्नता की सीमान्त दर

$$\frac{सीउ_म}{सीउ_क} = \frac{१५}{२०} = \frac{३}{४} = \frac{\frac{३}{४}}{१} = \frac{क}{म} \left(अथवा\ \frac{क}{म} = १ - \frac{सीउ_क}{सीउ_म} \right)$$

यहा पर —

$सीउ_म$ = मक्खन की सीमान्त उपयोगिता म = मक्खन।

$सीउ_क$ = कड़ुवे तेल की सीमान्त उपयोगिता क = कड़ुवा तेल।

दूसरे शब्दो म १ पाव मक्खन $\frac{३}{४}$ पाव कड़ुवे तेल से बदला जायगा।

$$और\ भी\ \frac{सीउ_स}{सीउ_क} = \frac{५}{२०} = \frac{१}{४} = \frac{\frac{१}{४}}{१} = \frac{क}{म} \left(या\ \frac{क}{स} = १ - \frac{सीउ_क}{सीउ_स} \right)$$

अर्थात १ सेव का विनिमय $\frac{१}{४}$ पाव कड़ुवे तेल से किया जायगा। कड़ुवे तेल के स्थान पर हम अन्य कोई वस्तु ले सकते हैं तथा इसे दो वस्तुओं के बीच विनिमय का माध्यम बना सकते हैं। यदि इसके स्थान पर हम रुपया ले तो १ पाव मक्खन $\frac{३}{४}$ रुपया से अदला-बदला जा सकता है। मुद्रा की वे इकाइया जो किसी वस्तु की एक इकाई को प्राप्त करने के लिये आवश्यक हो उस वस्तु की कीमत कहलाती हैं। इस प्रकार मक्खन की प्रति पाव कीमत ७५ नय पसे है। इससे हम निम्नलिखित सूत्र प्राप्त होते है। (यहा हम क के स्थान पर रुपया (र) ले रहे हैं)।

$$मक्खन\ की\ कीमत = \frac{रुपया\ की\ सख्या}{मक्खन\ की\ एक\ इकाई} = \frac{र}{म} = \frac{\frac{३}{४}}{१}$$

$$और\ चूकि\ \frac{मक्खन\ की\ सीमान्त\ उपयोगिता}{रु०\ की\ सीमान्त\ उपयोगिता} = \frac{र}{म}$$

$$इस\ लिये\ मक्खन\ की\ कीमत = \frac{मक्खन\ की\ सीमान्त\ उपयोगिता}{रु०\ की\ सीमान्त\ उपयोगिता} = \frac{३}{४}\ रु०$$

$$अथवा\ की_म = \frac{सीउ_म}{सीउ_र}$$ [कीम = मक्खन की कीमत] र = रुपया है

$$या\ सीउ_र = \frac{सीउ_म}{की_म} \qquad (१)$$

यहा स्पष्ट है कि जब मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता हर (Denominator) होती है तो कीमत स्थानापन्न की सीमान्त दर होगी।

इसी प्रकार हम सेव या अन्य किसी वस्तु को ले सकते हैं।

$$\text{कौ}_{\text{क}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{क}}}{\text{सीउ}_{\text{र}}} \qquad \left(\begin{array}{l}\text{'क' कोई वस्तु है ।} \\ \text{र=रुपया है}\end{array}\right)$$

$$\text{या सीउ}_{\text{र}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{क}}}{\text{कौ}_{\text{क}}} \quad \ldots\ldots \ldots\ldots\ldots\ldots (२)$$

चूंकि हम उपर्युक्त उदाहरणो मे सर्वत्र कडुवे तेल अथवा रुपया की उसी इकाई (छटी) की बात करते चले आये है, इसीलिये प्रत्येक दशा मे सीउ$_{\text{क}}$ य सीउ$_{\text{र}}$ =२० के । जो चीज किसी भी वस्तु के बराबर होती है अर्थात,

$$\text{सीउ}_{\text{र}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} = \quad \left(\text{या } \frac{१५}{\frac{३}{४}} = \frac{५}{\frac{१}{४}}\right)$$

यहा हम एक मौलिक नियम पर पहुचते हैं। ऊपर के सूत्र से समान विनिमय प्रकट होता है । इस सूत्र को हम अन्य वस्तुओ पर भी लागू कर सकते है ।

$$\frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{क}}}{\text{की}_{\text{क}}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{ख}}}{\text{की}_{\text{ख}}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{ग}}}{\text{की}_{\text{ग}}} \quad \ldots\ldots\ldots$$

यही अवस्था उपभोक्ता सहति प्रकट करती है । यहा प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (मुद्रा परिभापए की माप से) समान है। प्रत्येक वस्तु पर खर्च की गई मुद्रा की अन्तिम इकाई की उपयोगिता समान है। यदि कोई व्यक्ति अपनी अन्तिम मुद्रा इकाई को मक्खन पर खर्च करके उपयोगिता की २० इकाइया प्राप्त करता है, लेकिन सेव पर उसे खर्च कर वह उपयोगिता की २५ इकाइया प्राप्त कर सकता है तो वह व्यक्ति मक्खन छोड, सेव ही खरीदेगा। इस प्रकार व्यक्ति अपने दिये हुए धन से भिन्न भिन्न वस्तुओ की मात्राओ को इस प्रकार खरीदता है कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च की गई अन्तिम मुद्रा इकाई से प्राप्त उपयोगिता समान हो। जब 'कम उपयोगी' वस्तुओ के आधार पर 'अधिक उपयोगी' वस्तुओ का खरीदना और सम्भव नही होता तो सस्थिति की दशा आ जाती है।

इस सस्थिति को हम एक दूसरे रूप मे भी देख सकते हैं।

$$\because \frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{\text{सीउ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{म}}}$$

$$\therefore \frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{सीउ}_{\text{स}}} = \frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}}$$

दूसरे शब्दों में उपभोक्ता की सस्थिति वह बिन्दु है जहा सीमान्त उपयोगिताए कीमतो की समानुपाती होती हैं। या हम यो कह कि उपभोक्ता सस्थिति वह बिन्दु है जहा दो वस्तुओं के बीच स्थानापन्न की सीमान्त दर उन वस्तुओं की कीमतो की निष्पत्ति के बराबर होता है अथवा यो कह कि दो वस्तुओं के पारस्परिक स्थानापन्न की सीमान्त दर उनमे से प्रत्येक वस्तु तथा मुद्रा के बीच स्थानापन्न की सीमान्त दरो की निष्पत्ति के बराबर होती है।

अब हम माग वक्र पर विचार करगे। किसी व्यक्ति का माग वक्र सम्बन्धित वस्तु तथा मुद्रा के पारस्परिक स्थानापन्न की सीमान्त दर की अनुसूची है। यह अनुसूची हम उस वस्तु की भिन्न भिन्न मात्राओं को लेकर तयार करते हैं। हम यह पहले ही कह चुके है कि किसी वस्तु की कीमत स्थानापन्न का सीमान्त दर के बराबर होती है। दो वस्तुओं के बीच स्थानापनता के सम्बन्ध मे एक सामान्य नियम काम करता है जिसे हम सीमान्त स्थानापनता की दर मे क्रमगत ह्रास का नियम' कहते है। जब दो विनिमय की जाने वाली वस्तुओं मे एक को हम मुद्रा मान ले तथा इस नियम का प्रयोग कर तो हमे माग का सिद्धात अथवा ऋणात्मक ढाल वाला माग वक्र मिलता है। आगे चल कर इसकी पूर्ण व्याख्या की जायगी।

उपभोक्ता की बचत
(Consumer s Surplus)

उपभोक्ता की बचत की प्रत्यय का सम्बन्ध उपयोगिता से है। यद्यपि इसकी ओर सबसे पहले क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने सकेत किया था तथा पीछे चल कर जेवन्स तथा फ्रासीसी इजिनियर अर्थशास्त्री दूपू (Dupuit) ने इसको एक वास्तविक रूप दिया तो भी इस धारणा का प्रवतक प्रो० मार्शल को माना जाता है जिसने इस विचार को स्पष्ट रूप दिया। सबसे पहले मार्शल ने इसको उपभोक्ता का लगान (Consumer s rent) कह कर पुकारा। परन्तु अन्त मे जब उन्होने अपनी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त नामक पुस्तक लिखी तब इसको उपभोक्ता की बचत (Consumer s Surplus) कह कर पुकारा।

उपभोक्ता की बचत की प्रत्यय सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। हम पहले बता चुके है कि जसे-जसे कोई उपभोक्ता किसी वस्तु का उपभोग करता जाता है वसे ही वसे उसके लिये वस्तु की अगली इकाई की उपभोगिता कम होती चली जाती है। इसके विपरीत वस्तु खरीदने मे हम जो धन खर्च करते चले जाते है उसकी प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता हमारे लिय बढती चली जाती है। इस प्रकार वस्तु की उपयोगिता घटने तथा उस पर व्यय किये जाने वाले उपयोगिता बढने के कारण एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जिस पर कि वस्तु से प्राप्त उपयोगिता धन की उपयोगिता के बराबर हो जाती है। इस बिन्

से पूर्व जितनी इकाइयां भी उपभोक्ता खरीदता है उन से उपभोक्ता को उससे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है जितनी उपयोगिता का वह धन के रुपये में बलिदान करता है। इस प्रकार के बिन्दु को अर्थशास्त्र में सीमान्त बिन्दु (Marginal Point) कहा गया है। हम पहले बता चुके हैं कि एक विवेकशील उपभोक्ता अपना क्रय उसी बिन्दु पर बन्द कर देता है जिस पर कि धन और वस्तु की उपयोगिताये बराबर हो जाती हैं। जिस बिन्दु पर उपभोक्ता अपना क्रय बन्द करता है वह बाजारू कीमत होती है। अभी तक हमने जो कुछ कहा है उससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि विक्रेता वस्तु की एक एक इकाई के लिये उपभोक्ता से उसकी इच्छा की तीव्रता के अनुसार भिन्न भिन्न कीमत लेता है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। व्यवहार में विक्रेता उपभोक्ता से वस्तु की उन सब इकाइयों के लिये जो एक ही समय खरीदी जाती हैं एक सी कीमत लेता है। इस लिये उपभोक्ता किसी समय जो वस्तु क्रय करता है उससे उस वस्तु के क्रय में व्यय किये हुये धन की अपेक्षा अधिक उपयोगिता उसे प्राप्त होती है। किसी वस्तु के क्रय करने पर उपभोक्ता द्वारा उस वस्तु से प्राप्त की हुई उपयोगिता तथा उस पर खर्च किये हुए धन की उपयोगिता के बीच का अन्तर उपभोक्ता की बचत कहलाता है। प्रो० मार्शल के अनुसार 'किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो (अधिकतम) कीमत उस वस्तु के लिये देने को तैयार है—उसकी कीमत का, वास्तव में उसके द्वारा दी गई कीमत से आधिक्य ही तृप्ति-आधिक्य होती है,' जिसे हम उपभोक्ता की बचत कह सकते हैं।*

प्रो० जे० के० मेहता ने किसी वस्तु के उपभोग से मिलने वाली तुष्टि तथा उस वस्तु को पाने के लिये किये गये त्याग के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहा है।

उपभोक्ता की बचत को हम एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। मान लिया कोई उपभोक्ता भूखा है और रोटी खरीदने के लिये बाजार में जाता है। चूंकि उसे भूख लगी है इसलिये उसको पहली रोटी खरीदने से बहुत अधिक उपयोगिता मिलती है। माना कि पहली रोटी से प्राप्त उपयोगिता १६ है तथा उपयोगिता की एक इकाई १ आने के बराबर है तो पहली रोटी के लिये वह उपभोक्ता १६ आने खर्च करने को तैयार होगा। जब वह दूसरी रोटी खरीदता है तो मान लिया कि ह्रास नियम के अनुसार, उसको उससे १२ उपयोगिता प्राप्त होती है। अब हम मान चुके हैं कि १ उपयोगिता १ आने के बराबर होती है इस कारण दूसरी रोटी के लिये वह १२ आने खर्च करने को तैयार होगा। ऐसे ही, वह उपभोक्ता तीसरी रोटी के लिये ८ आने चौथे के लिये ३ आने तथा पांचवें

*"The excess of the price which he would be willing to pay rather than go without a thing over that which he actually does pay, is the economic measure of this surplus of satisfaction." —*Marshall*

के लिये १ आना खर्च करने के लिये तैयार होता है। इस प्रकार पाचो रोटियो के लिये वह उपभोक्ता ४० आने खर्च करने के लिये तैयार है। परन्तु हम पहले ही बता चुके हैं कि वह उपभोक्ता प्रत्येक रोटी की कीमत एक सी देगा, इस कारण उसको पाचो रोटियो के लिये ५ आने खर्च करने पडेंगे। इस प्रकार उसको पाचो रोटियो से तुष्टि तो ४० आने के बराबर प्राप्त होने की आशा है परन्तु वह उनके लिये देता है केवल ५ आने तो ४०—५=३५ आने उपभोक्ता की बचत हुई। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—(सीमान्त उपयोगिता × खरीदी गई वस्तु की इकाइया)

उपभोक्ता की बचत को हम एक निम्न द्वारा इस प्रकार समझा सकते हैं—
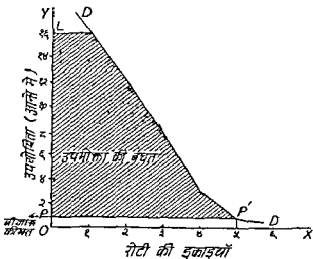
उपर्युक्त चित्र मे OX पर रोटी की इकाइया तथा OY पर आनो मे उपयोगिता दिखाई गई है। इस चित्र मे DD' माग वक्र है। P P बाजारू कीमत की रेखा है। हमारा उपभोक्ता पाच रोटियो से LDP MO उपयोगिता प्राप्त करने की आशा रखता है। परन्तु उस मुद्रा के रूप मे L D P P' का लाभ प्राप्त होता है। यही उपभोक्ता की बचत है।

हमने ऊपर जो उदाहरण दिया है उसमे रोटियो से प्राप्त उपयोगिता वास्तविक उपभोग के पश्चात् प्राप्त नही होती वरन् उपभोक्ता इतनी उपयोगिता प्राप्त करने की आशा रखता है। हो सकता है कि जिस पहली रोटी से उपभोक्ता १६ आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त करने की आशा करता है उससे उसको वास्तविक उपभोग के पश्चात् केवल १० आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त हो सके। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी, चौथी तथा पाचवी रोटी से भी उसको अनुमान से बहुत कम उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। ऐसा होने के कारण उपभोक्ता की बचत के स्थान पर कभी-कभी उपभोक्ता-हानि हो सकती है। मार्शल ने इस विचित्र स्थिति ‥‥ यह

उप-धारणा करके किया है कि वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता वास्तविक उपभोग के पश्चात् उतनी ही होती है जितनी कि उससे प्राप्त होने की आशा की गई थी, परन्तु बोल्डिंग ने इस बात का सुझाव दिया है कि चूंकि उपभोक्ता की बचत उपयोगिता के आधार पर जाची जाती है इसी कारण इस धारणा का नाम उपभोक्ता की बचत के स्थान पर क्रेता की बचत (Buyer's surplus) होना चाहिये।

प्रो० जे० आर० हिक्स ने उपभोक्ता की बचत का उदासीनता-वक्रो (Indifference Curves) की सहायता से मापने का प्रयत्न किया है।
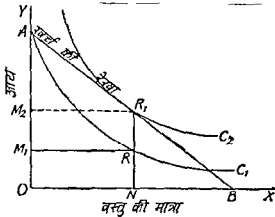
उपर्युक्त चित्र मे OX पर खरीदी जाने वाली वस्तु मात्रा को तथा OY रेखा पर उपभोक्ता की आय को दिखाया गया है। C_1 एक ऐसा उदासीनता वक्र है जो कि आय और वस्तु के उन सयोगो को दिखलाता है जिन पर उपभोक्ता को वस्तु की कीमत मालूम नही है। इसके विपरीत C_2 उदासीन वक्र जो कि AB (खर्च रेखा) को छूता हुआ जाता है आय और वस्तु के उन सयोगो को दिखलाता है जो कि उस समय बनेंगे जबकि उपभोक्ता को बाजार की कीमत का पता है। इन सब बातो को ध्यान मे रखकर अब हम इन दोनो उदासीन वक्रो का अध्ययन करेंगे। C_1 उदासीन वक्र पर ON वस्तु तथा OM_1 आय का सयोग है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता ON वस्तु की मात्रा तथा OM_1 आय अपने पास रखना पसद करता है अर्थात् वह अपनी कुल आय (AO) मे से ON वस्तु की मात्रा को खरीदने के लिये AM_1 आय खर्च करने को तैयार है। अब हम C_2 उदासीन वक्र का अध्ययन करेंगे। इस वक्र को देखने से पता चलता है कि उपभोक्ता ON वस्तु की मात्रा तथा OM_2 आय का योग रखना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता ON वस्तु की मात्रा को खरीदने के लिये AM_1 आय खर्च करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपभोक्ता ON वस्तु की मात्रा को खरीदने के लिये AM_1 आय खर्च करने को तैयार है परन्तु वह केवल AM_2 आय खर्च करता

है। इस प्रकार उपभोक्ता को $AM_1 - AM_2 = M_1M_2$ आय का लाभ प्राप्त होता है। यही उपभोक्ता की बचत है।

उपभोक्ता की बचत परिस्थिति (Conjucture) के ऊपर निर्भर होती है। जो मनुष्य बडे-बडे शहरो मे रहते है उनको अधिक उपभोक्ता की बचत होती है, परन्तु जो लोग गावो मे रहते हैं उनको कम उपभोक्ता की बचत का लाभ होता है। इसका कारण यह है कि बडे-बडे शहरो मे मनुष्य हजारो चीजे खरीदता है और उनमे से प्राय हर एक चीज पर उपभोक्ता की बचत का लाभ प्राप्त होता है परन्तु गावो मे वह बहुत कम चीजे खरीदता है और उन सब पर मिलकर उसको जो उपभोक्ता की बचत या लाभ होता है वह उस उपभोक्ता की बचत से कम होनी है जो कि शहरो के उपभोक्ताओ को प्राप्त होती है। यही कारण है कि बहुत से लोग गावो की अपेक्षा शहरो मे रहना पसन्द करते है।

अभी तक हमने एक उपभोक्ता की बचत का जिक्र किया है। मार्शल ने उपभोक्ता की बचत के विचार को कुल बाजार पर फैलाने का प्रयत्न किया है। बाजार मे उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाना बडा कठिन है क्योकि वहा पर हजारो आदमी होते है जिनके स्वभाव रुचिया, भावनायें आदि भिन्न होती है। इसी लिये उनमे से प्रत्येक को एक ही कीमत पर किसी वस्तु को खरीदने पर एक सी उपभोक्ता की बचत का लाभ प्राप्त नही होता। परन्तु समूह साधारण व्यक्ति का प्रतिनिधि होता है। भिन्न भिन्न व्यक्तियो के भेद एक दूसरे मे लुप्त हो जाते है तथा माध्य के नियम (Law of Averages) के अनुसार हम साधारण व्यक्ति द्वारा समूह की उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगा सकते है। बाजार की उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाने के लिये हमको यह उप-धारणा करनी पडगी कि एक ही धन-राशि खर्च करने पर भिन्न भिन्न लोगो को एक सी उपयोगिता प्राप्त होती है। बाजार की उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाने के लिये हमे बाजार की माग तालिका को लेना पडेगा तथा उससे यह देखना पडेगा कि भिन्न-भिन्न कीमतो पर किसी चीज की कितनी मात्रा बाजार मे बिक सकती है। इन मात्राओ को उन कीमतो से गुणा करने से हम को पता लग जायगा कि बाजार मे लोग किसी चीज के लिय कितना धन खर्च करने को तैयार हैं। इसके पश्चात् हम बाजार की माग तालिका म दी हुई मात्राओ को बाजार की कीमत से गुणा करेंगे। गुणनफल उस धन का द्योतक होगा जो कि क्रेताओ को खर्च करना पडता है। फिर पहले गुणनफल म से दूसरा गुणनफल घटाने से हम को बाजार की उपभोक्ता की बचत का ज्ञान हो जाय।

उपधारणायें —

मार्शल की उपभोक्ता की बचत की धारणा बहुत सी उप-धारणाओ पर आधारित है। पहली यह कि उपभोक्ता के लिये कुल क्रय के दौरान मे मुद्रा की उपयोगिता स्थिर रहती है। वास्तव मे यह उप धारणा गलत है, क्योकि जितनी ही अधिकाधिक मुद्रा किसी वस्तु के खरीदने मे खच होती जाती है उतनी ही मुद्रा की

उपयोगिता क्रमश हमारे लिये बढती जाती है। यद्यपि मुद्रा की उपयोगिता स्थिर माने बिना हमारे लिये उपभोक्ता की बचत मापना कठिन है।

इस सम्बन्ध मे दूसरी उप धारणा यह की गई है कि प्रत्येक खरीदी जाने वाली वस्तु दूसरी वस्तुओ की कीमत से प्रभावित नही होती।

मार्शल की तीसरी उप-धारणा यह है कि खरीदी जाने वाली वस्तु की कोई स्थानापन्न वस्तु नही होती। यही नही, मार्शल की यह भी धारणा है कि यदि किसी वस्तु की कुछ स्थानापन्न वस्तुये भी हैं तो वे सब एक ही वस्तु है।

बाजार की उपभोक्ता की बचत के सम्बन्ध म मार्शल ने यह उप धारणा की है कि लोगो की आय, रुचि व फैशन मे कोई परिवर्तन नही होता।

क्या उपभोक्ता की बचत को मापा जा सकता है?

प्रो० टॉजिग का कहना है कि जब हम यह कहते हैं कि क्या हम उपभोक्ता की बचत को माप सकते है तो हम दूसरे शब्दो म यह प्रश्न पूछते हैं कि कुल उपयोगिता किस सीमा तक वास्तविक होती है तथा उसको हम किस सीमा तक माप सकते हैं।

इस सम्बन्ध मे सबसे पहली कठिनाई यह आती है कि धन की सीमान्त उपयोगिता सब लोगो के लिय समान नही होती। एक गरीब आदमी किसी वस्तु के लिये जो कुछ धन खर्च करता है उसकी उपयोगिता उसके लिये उससे कही अधिक होती है जितनी कि उसी धन के लिये अमीर आदमी को होती है। इस कारण किसी वस्तु पर खर्च किये गये धन से हम इस बात का अनुमान नही लगा सकते कि किसी व्यक्ति को कितनी उपभोक्ता की बचत का लाभ हुआ है, जब तक कि हम उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति मालूम न कर लें। इसलिये यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के लिये दूसरे से अधिक धन देने को तैयार होता है तो यह इस बात का सूचक नही है कि उस व्यक्ति को उस वस्तु से पहले व्यक्ति से अधिक उपयोगिता प्राप्त होने की आशा है।

कुछ ऐसी चीजें होती है जिनमे हमारी केवल दिखावट की आवश्यकतायें पूरी होती हैं। इस प्रकार की चीजें हीरे-जवाहारात, किसी उस्ताद कारीगर द्वारा बनाई गई तस्वीर आदि होती हैं। इन चीजो की कीमतें तभी तक अधिक होती हैं जब तक कि वे मात्रा मे स्वल्प हैं। यदि उनकी मात्रा इतनी अधिक हो जाय कि उनको मामूली साधनो के व्यक्ति भी खरीद सकें तो उनके द्वारा 'दिखावट की आवश्यकता' पूरी न हो सकेगी। इस प्रकार पहले वाली बहुत अधिक कीमत द्वारा मापी गई उपभोक्ता की बचत गायब हो जायगी।

इसी प्रकार वे वस्तुयें जो हमारी अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं उनके लिये हम कितना भी धन देने को तैयार हो जाते है। इसलिये इस प्रकार की चीजो से प्राप्त उपभोक्ता की बचत का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इस कठिनाई से बचने के लिये प्रो० पैटन ने सुझाव दिया है कि हमको 'दुख-सीमा' या

'सुख-सीमा' के बीच भेद करना चाहिये। प्रो० पेटन का मत है कि 'दुख-सीमा' की स्थिति तक हम उपभोक्ता की बचत का अनुमान नहीं लगा सकते, 'सुख-सीमा' से हम उपभोक्ता की बचत को माप सकते हैं।

इसी प्रकार वे वस्तुयें जिनकी लोगो को लत पड़ जाती है, चाहे वे अच्छी हो या बुरी, उनके उपभोग न करने से उनको बडा कष्ट होता है। उदाहरण के लिये जो लोग सिगरेट पीते हैं उनको यदि सिगरेट न मिले तो वे बडे परेशान रहते हैं और सिगरेट के लिये कुछ भी खर्च करने को तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसी चीजो के भी उपभोक्ता की बचत का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

इस सम्बन्ध में एक और कठिनाई उपस्थित होती है। हम यह नहीं कह सकते कि यदि हमारे हाथ चीज एक-एक करके बची जायें तो हम उनके लिय कितना खर्च करने को तैयार हो सकते हैं। उदाहरण के लिय, यदि हमको रोटी एक एक करके दी जाय और हमको यह पता न हो कि दूसरी रोटी है या नहीं तो हम रोटी के लिये उससे कही अधिक कीमत देने का तैयार हो जायेंगे जितना कि हम उस समय देन को तैयार होते हैं जब कि हम बेचने वाले के पास रोटियो के स्टॉक का ज्ञान होता है।

उपर्युक्त सब बातो के कारण हम 'कुल उपयोगिता' अथवा 'उपभोक्ता की बचत' का अनुमान नहीं लगा सकते। हमने ऊपर रोटी का उदाहरण दिया है। उससे ऐसा आभास होता है कि उपभोक्ता की बचत को मुद्रा के प्रमाण से मापा जा सकता है। परन्तु वह उदाहरण भ्रमात्मक है, क्योंकि हम कोई पूर्ण कीमत-तालिका नहीं बना सकते और यदि हम ऐसा करने में सफल भी हो जायें तो भी लोगो की आयो के भेद, उनकी प्रदर्शन की इच्छा, 'दुख की सीमा' तक अनिवार्य आवश्यकताओं से प्राप्त उपयोगिता का अनिश्चय आदि कारणों से हम उपभोक्ता की बचत को ठीक ढग से नहीं माप सकते। इस सबके होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि उपभोक्ता की बचत की धारणा केवल कल्पना है, क्योंकि व्यवहार में हम सभी कहते हैं कि अमुक चीज हमको बडी सस्ती मिल गई। इसका अर्थ यह हुआ कि हम उसके लिये उससे कुछ अधिक धन भी दे सकते थे जितना कि हमने दिया है। यह बात ठीक है कि उपभोक्ता की बचत अनिवार्य आवश्यकताओं के लिये तथा दिखावट की आवश्यकता के लिये मापनी बडी कठिन है तो भी आरामदायक वस्तुओं के लिये तो हम उसको अवश्य ही माप सकते हैं। उदाहरण के लिये, हमको अच्छे स्वादिष्ट भोजन, बढिया सिले हुये कपडो, सुन्दर चित्रो आदि से उससे अधिक तुष्टि प्राप्त होती है जितनी कि हम उनके लिये धन के रूप में बलिदान करते हैं। इसलिये हम कह सकते है कि उपभोक्ता की बचत की धारणा कल्पनामात्र नहीं है। उपभोक्ता की बचत का हम ऊपर बताई गई उप धारणाओ को ध्यान में रखकर मुद्रा के प्रमाण द्वारा माप भी सकते हैं। मार्शल का मत है कि चूंकि हम अपने दैनिक जीवन में अपनी इच्छाओ तथा आवश्यकताओ को मुद्रा के रूप में व्यक्त करते हैं इस लिये हम उपभोक्ता की बचत को मुद्रा के रूप में माप सकते हैं।

आलोचनायें
(Criticisms)

उपभोक्ता की बचत की धारणा के विरुद्ध बहुत सी आलोचनायें की गई हैं। प्रो० निकलसन (Nicholson) ने इस धारणा को असत्य तथा काल्पनिक बताया। उन्होंने कहा इस बात के कहने से क्या लाभ है कि १०० पौंड वार्षिक आय की उपयोगिता १००० पौंड के बराबर होती है। मार्शल ने इस आलोचना का उत्तर स्वयं दिया। उन्होंने कहा कि इस बात के कहने से तो कोई लाभ न होगा परन्तु यदि हम इंगलैंड तथा मध्य अफ्रीका के जीवन-स्तर की तुलना करें तो हम यह देखेंगे कि यद्यपि बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनको हम मध्य अफ्रीका में उतनी ही सस्ती खरीद सकते हैं जितनी कि इंगलैंड में, तो भी बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो कि मध्य अफ्रीका में बिल्कुल नहीं खरीदी जा सकतीं। क्योंकि ये वस्तुयें वहाँ उपलब्ध ही नहीं हैं। इंगलैंड में क्रय-विक्रय, होने वाली वस्तुओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इसलिये वहाँ के लोग अधिक वस्तु-संख्या पर उपभोक्ता की बचत का लाभ उठाते हैं। इसलिये मध्य अफ्रीका में रहने वाला आदमी जो १००० पौंड कमाता है उतना खुशहाल नहीं हो सकता जितना कि इंगलैंड में रहने वाला वह आदमी जो कि केवल १०० पौंड कमाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि किसी वस्तु के लिये हम जितना धन खर्च करने को तैयार होते हैं वह केवल यह बात बताता है कि हमारी उस वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा कितनी तीव्र है। हो सकता है कि वास्तविक उपभोग करने पर हमको उससे कम या अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में उपयोगिता के आधार पर निकाली हुई उपभोक्ता की बचत व्यवहार में काल्पनिक ही सिद्ध होगी। इस तर्क के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि व्यवहार में हमको साधारणतः वस्तु के उपभोग से उतनी ही उपयोगिता प्राप्त होती है जितनी कि हमको उससे प्राप्त होने की प्रत्याशा होती है तथा कुछ ही हालतों में ऐसा होता है कि हमको प्रत्याशित से कम या अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। यह बात प्रायः उन सभी वस्तुओं के लिए सत्य है जिनको हम अपने दैनिक व्यवहार में ले आते हैं, जैसे खाने का सामान, कपड़े तथा अन्य इसी प्रकार की चीजें।

कुछ आलोचकों का यह भी कहना है कि जैसे-जैसे हम मुद्रा को खर्च करते जाते हैं वैसे ही वैसे हमारे लिये मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है परन्तु उपभोक्ता की बचत निकालते समय हम मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता का स्थिर मान कर चलते हैं अर्थात् हम यह मान कर चलते हैं कि यदि हमारे पास १०० रुपये हैं तो भी हमारे लिये १ रुपये की सीमान्त उपयोगिता उतनी ही होगी जितनी कि उस समय होगी जबकि हम उसमें से २५ रुपये खर्च कर दें। यह एक उचित ही आलोचना जान पड़ती है परन्तु मार्शल ने इस आलोचना के उत्तर में कहा है कि हम किसी

एक वस्तु के ऊपर अपनी कुल आय का इतना कम भाग खर्च करते है कि उससे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता पर कोई प्रभाव नही पडता।

आलोचको का यह भी कहना है कि जैसे उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयो को खरीदता जाता है वैसे वैसे उसके लिये पिछली इकाइयो की उपयोगिता कम होती जाती है। उदाहरण के लिये, यदि उपभोक्ता के लिये पहली रोटी की उपयोगिता १६ है तथा तथा दूसरी की ११, तो दूसरी रोटी खरीद लेने के पश्चात उसके लिये पहली रोटी की उपयोगिता १६ न रहेगी वरन् $\frac{१६+१२}{२}=१४$ रह जायगी। इसी प्रकार तीसरी, चौथी आदि रोटियो को खरीदने पर पहली, दूसरी आदि रोटियो की उपयोगिता उसके लिये कम होती जायगी। इसी कारण हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम निरन्तर अपनी माग तालिका मे परिवर्तन करते रहे। मार्शल का कहना है कि यह आलोचना अज्ञानतावश की गई है। इसका कारण यह है कि माग तालिका उत्तरोत्तर खरीदी जाने वाली इकाइयो से प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता की ही सूचक होती है। वह अगली इकाइयो की औसत उपयोगिता की सूचक नही होती। इस कारण आगे खरीदी जाने वाली इकाइयो से जो अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है उसका प्रभाव पूर्व की खरीदी गई इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता पर नही पडता। इसलिये यह आपत्ति ठीक नही है। इसके अतिरिक्त प्रो० पीगू ने कहा है कि, किसी वस्तु के उपभोग मे थोडा अन्तर होने के कारण पहली इकाइयो की उपयोगिता मे कोई विशेष अन्तर नही आता, क्योकि उपभोग मे बहुत काफी अन्तर होने पर ही हमे स मान्य वस्तु के उपभोग के अन्तर का पता लग सकता है।

आलोचको ने कहा है कि हम बाजार की उपभोक्ता की बचत को नही निकाल सकते क्योकि एक बाजार म बहुत प्रकार के लोग होते हैं। उनमे से कुछ अमीर होते हैं तो कुछ गरीब, कुछ किसी चीज की अधिक इच्छा रखते हैं तो कुछ किसी की। ऐसी हालत मे यदि हम यह देखते हैं कि एक अमीर आदमी किसी चीज के लिये उतना ही धन खर्च करन को तैयार है जितना कि एक गरीब आदमी तो हम यह कैसे कह सकते है कि उन दोनो को उस वस्तु से समान उपयोगिता प्राप्त हुई है ? परन्तु, हम पहले ही बता चुके है कि मध्यम के नियम के अनुसार हम साधारण व्यक्ति द्वारा समूह की उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगा सकते है।

कुछ लोगो की यह आपत्ति है कि हम जो माग तालिका बनाते हैं वह काल्पनिक होती है क्योंकि हम यह नहीं जानते कि लोग प्रचलित कीमत से भिन्न कीमत पर वस्तु की कितनी माग करेंगे। दूसरे शब्दो म, यदि हम एक केले के लिय १ आना खर्च करते हैं तो हम यह अनुमान नही लगा सकते कि केलो की माग उस समय कितनी होगी जबकि केले की कीमत १ रुपया हो। परन्तु व्यवहार मे हमारे लिये

इतना ज्ञान ही पर्याप्त है कि प्रचलित कीमतों के आस-पास वस्तु की कीमत में जो अन्तर हुआ है उसके फलस्वरूप माग में कितना अन्तर हुआ है। कीमत में थोडा अन्तर होने से उपभोक्ता की बचत में जो अन्तर होता है उसको हम आसानी से जान सकते हैं और यही जानना हमारा लक्ष्य है।

प्रतियोगी तथा पूरक वस्तुओं की कीमत का एक दूसरे पर बडा प्रभाव पडता है। इस कारण इन वस्तुओं पर उपभोक्ता की बचत का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिये कहवा–चाय की स्थानापन्न वस्तु है। चाय की कीमत बढने से हम कहवे का उपभोग कर सकते हैं। परन्तु कहवे के न रहने से हम चाय की कीमत बढने पर किसी चीज का उपभोग नहीं कर सकते। स्थानापन्न वस्तुओं की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति की हालतों में सम्बन्धित वस्तु से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचतें भिन्न-भिन्न होगी। इसी प्रकार स्याही–पैन की पूरक वस्तु है। यदि पैन न हो तो स्याही की उपयोगिता बहुत कम रह जायगी। इस कारण पैन की कीमत बढने पर स्याही की माग पर अवश्य प्रभाव पडेगा। यही कारण है कि स्याही का एक अलग माग वक्र बनाना कठिन है। मार्शल ने इस कठिनाई को दूर करने के लिये सुझाव दिया है कि स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं को एक मान कर चलना चाहिये।

हम पहले ही बता चुके हैं कि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली तथा दिखावे की चीजों पर उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाना असम्भव सा है। अनिवार्य आवश्यकताओं पर उपभोक्ता की बचत को मापने का प्रो० पैटन (Patten) ने एक ढंग बताया है। उनके अनुसार उपभोग को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, उपभोग की एक अवस्था तो वह होती है जिसमें हम अपने जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये उपभोग करते हैं। इस अवस्था में हमारा प्रयत्न जीवन के अस्तित्व को खतरे में डालने वाली पीडाओं, भूख, प्यास, आदि को दूर करने के लिये होता है, यहाँ 'तृप्ति' का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पैटन ने उपभोग की दूसरी अवस्था उसे बताया है जहा कि मनुष्य के पास जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये आवश्यक वस्तुओं से अधिक वस्तुए मौजूद हैं। यह अवस्था पहली अवस्था के बाद आती हुई बताई गई है। दूसरी अवस्था में, पैटन के अनुसार धनात्मक तृप्ति शुरू होती है। इस अवस्था में वह किसी सिलसती हुई पीडा को शात करने के लिये उपभोग नहीं करता; उसका उपभोग सुख की प्राप्ति हेतु किया जाता है। जब मनुष्य उपभोग की पहली अवस्था में होता है तब पैटन के अनुसार, उपभोक्ता की बचत अमाप्य होती है, उसे किसी प्रकार भी मापा नहीं जा सकता यह उपभोग की दूसरी अवस्था है, जिसके शुरू होने पर हम उपभोक्ता की बचत का प्रत्यय ला सकते हैं। जब हम धनात्मक तुष्टि प्राप्त कर रहे हैं तभी उपभोक्ता की बचत मापी जा सकती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पैटन का तर्क अत्यधिक निर्विषयक तथा असगत है। उपभोग को पीडावस्था (Pain economy) तथा सुखावस्था

(Pleasure economy) मे विभाजित करने का प्रयत्न अर्थशास्त्र मे बिना प्रयोजन भोगवादी नीतिशास्त्र (Hedonistic Ethics) का झंझट पैदा करना है। पैटन के तर्क को स्थूल रूप से हम इस प्रकार दुहरा सकते हैं कि हमारी अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाला उपभोग किसी प्रकार भी उपभोक्ता की बचत को जन्म नही देता। हा, हमारे आराम (Comforts) तथा दिखावे (Luxuries) की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये किये गये उपभोग मे ही उपभोक्ता की बचत सम्भव होती है। पीडा तथा सुख की राग छेड कर अटपट भाव-भूमि पर पैर जमाने की क्या जरूरत थी?

पुनश्च उपभोग के किस बिन्दु पर पीडा जाती तथा सुख पदार्पण करता है—यह बताना असम्भव है। पीडा को शात करने की क्रिया ही सुखदायिनी होती है। आवश्यकताओ की तीव्रता ही पीडादायिनी होती है और तभी उसको तुष्ट करने का प्रयत्न शुरू होता है इसी प्रयत्न की सफलता सुख है। पीडा तथा सुख सापेक्षित है। बिना भूख के खाने मे (उपभोग मे) सुख कहाँ, तथा बिना पीडा वाली भूख कैसी? इस प्रकार और बहुत सी बात पैटन के विभाजन को अनावश्यक तथा असगत सिद्ध करती है।

उपभोक्ता की बचत एक सरल प्रत्यय है। किसी वस्तु के पाने के लिये अपने धन का कौन सा हिस्सा व्यय करने को उपभोक्ता तैयार है तथा वास्तव मे बाजार की मौजूदा स्थिति मे उसे उस वस्तु के प्राप्त करने के लिये कितना धन देना पडता है-इन दोनो के बीच का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत है।

उपभोक्ता की बचत के प्रत्यय की उपयोगिता—

यद्यपि उपभोक्ता की बचत की धारणा की इतनी आलोचनाय की गई है तो भी इस धारणा का व्यावहारिक जीवन मे बडा महत्व है। हम साधारणत कहते है कि अमुक वस्तु तो हम बडी सस्ती मिल गई। इसका अर्थ यह हुआ कि हम वस्तु के लिये अधिक धन खर्च करने के लिये तैयार थे परन्तु हमको अपेक्षाकृत कम खर्च करना पडा यही उपभोक्ता की बचत होती है।

उपभोक्ता की बचत के द्वारा हम दो देशो के लोगो की वास्तविक आय का पता लगा सकते हैं। जिस देश मे अधिक उपभोक्ता की बचत होती है वह देश अधिक खुशहाल होता है। इसके विपरीत जिस देश मे उपभोक्ता की बचत कम होती है उस देश के लोगो का जीवन अधिक सुखी नहीं होता।

उपभोक्ता की बचत से एक विक्रयेकाधिकारी को भी बडा लाभ होता है विक्रयकाधिकारी केवल उन्ही चीजो की कीमत बढा सकता है जिनसे उपभोक्ता की बचत अधिक मिलती हो। जिन चीजो पर उपभोक्ता की बचत कम प्राप्त होती है वह उनकी कीमत अधिक नही बढा सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो उसे व्यापार मे सभवत हानि उठानी पडेगी।

उपभोक्ता की बचत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा बढ़ जाती है। जो चीजें हमारे देश में पैदा नहीं होतीं, यदि उनको पैदा करने का प्रयत्न भी किया जाय तो वे अधिक लागत पर पैदा की जा सकती हैं। तो यदि ऐसी चीजों को विदेशों से आयात किया जाय तो वे सस्ती आवेंगी तथा उन पर उपभोक्ता की बचत बढ़ जायेगी।

वित्त-मंत्री के लिये इस धारणा का विशेष महत्व है। वित्त-मंत्री को कोई भी कर लगाने से पूर्व यह बात अवश्य देखनी चाहिये कि कर का उपभोक्ता की बचत पर क्या प्रभाव पड़ेगा। कर केवल उसी हालत में लगाना उचित होता है। जबकि सरकार को उससे अधिक लाभ होता है, जितना कि उपभोक्ताओं को उपभोक्ता की बचत की हानि होती है। जो चीजें क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अन्तर्गत उत्पादित की जाती हैं। उनकी कीमत में कर की मात्रा में कम वृद्धि होती है, क्योंकि कर लगाने से चीज की माग गिरेगी तथा कम चीज कम लागत पर उत्पन्न की जा सकेगी। इस प्रकार वस्तु की कीमत में वृद्धि उस पर लगाये गये कर के बराबर न होकर उससे कम होगी। इसके विपरीत जो चीजें क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत की जाती हैं उनकी कीमत में कर लगाने से कर की मात्रा से भी अधिक वृद्धि होगी, क्योंकि कर लगाने से चीज की माग कम हो जायगी तथा कम चीज अधिक लागत पर पैदा की जा सकेगी। इसी कारण चीज की कीमत कर लगाने से कर की मात्रा से भी अधिक बढ़ेगी। यही कारण है कि कर उन चीजों पर लगाना चाहिये जो क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पादित की जाती है। जो चीजें क्रमगत उत्पादन समानता नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती हैं उन पर कर लगाने से उपभोक्ताओं को अधिक हानि होती है तथा सरकार की कर से आय इस हानि की अपेक्षा कम होती है। इसलिये इन चीजों पर भी कर नहीं लगाना चाहिये। इस बात को हम चित्रों की सहायता से सिद्ध कर सकते हैं।

चित्र नं० १

चित्र नं० २

पृष्ठ १५५ ५६ पर चित्र बनाये गए है। चित्र न० १ उस वस्तु को दिखाता है जिस पर क्रमगत उत्पादन समानता नियम लागू होता है। चित्र न० २ उस चीज को दिखाता है जिस पर क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है तथा चित्र न० ३ उस चीज को दिखाता है जिस पर क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम लागू होता है। इन चित्रो मे DD माग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है। जब वस्तु पर कर लगा दिया गया तो वस्तु के पूर्ति वक्र पर प्रभाव पडेगा तथा उसकी स्थिति मे परिवर्तन आ जायगा। मान लिया कि कर लगने के बाद हमारे उपर्युक्त चित्रो मे पूर्ति वक्र S_1S_1 हो जाता है। चित्र न० १ को देखने से पता चलता है कि कर लगने से S_1P_2 PS के बराबर उपभोक्ता की बचत की हानि होती है। इसके विरुद्ध सरकार की कर से आय S_1T P_1S के बराबर है। इस प्रकार सरकार को कर के रूप मे प्राप्त लाभ की अपेक्षा उपभोक्ता को P_2 PT के बराबर उपभोक्ता की बचत की अधिक हानि हुई। चित्र न० २ मे कर से सरकार को प्राप्त होने वाली L_1 P_1 P_2L_2 के बराबर है तथा उपभोक्ता की बचत कर L_1 P_1 P L के बराबर घट जाती है। चित्र न० ३ मे कर से आय L_1 P_1 P_2 L_2 के बराबर होती है परन्तु उपभोक्ता की बचत L_1 P_1 PL के बराबर घट जाती है। यह स्पष्ट है कि कर से सरकार द्वारा प्राप्त आय (L_1 P_1 P_2L_2) केवल चित्र न० २ के अन्तर्गत उपभोक्ता को 'उपभोक्ता की बचत' के रूप मे होने वाली हानि से अधिक है। इसलिये केवल इसी हालत मे कर लगाना उचित है।

चित्र न० ३

यदि सरकार किसी उद्योग को आर्थिक सहायता (Bounty or subsidy) देती है तो इसका प्रभाव कर का उल्टा होता है जैसा नीचे के चित्रो से विदित है —

यहा चित्र न० ४, ५, ६ दिए गए हैं। इनमे चित्र न० ४ मे समान लागत उद्योग, चित्र न० ५ मे बढती लागत उद्योग तथा चित्र न० ६ मे घटती लागत उद्योग के ऊपर सरकारी सहायता का प्रभाव दिखाया गया है। चित्र न० ४

चित्र न० ४

को देखने से पता चलता है कि सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता $S P_2 P_1 S_1$ के बराबर है। इसके विरुद्ध उपभोक्ता को उपभोक्ता की बचत $S P P_1 S_1$ के बराबर बढ़ती है। यह बचत आर्थिक सहायता देने के फलस्वरूप होने वाली सरकार की हानि से कम होती है। चित्र न० ५ में सरकार को $L_1 P_1 P_2 L_2$ के बराबर हानि होती है। इसके विपरीत उपभोक्ता को केवल $L P P_1 L_1$ के बराबर लाभ होता है। इस प्रकार सरकार को उससे अधिक हानि होती है जितना कि उपभोक्ता को उपभोक्ता
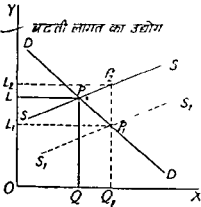
चित्र न० ५
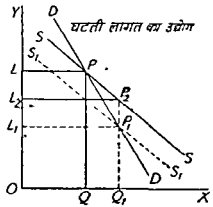
चित्र न० ६

की बचत के रूप में लाभ होता है। इस कारण सरकार को चाहिये कि वह इन दोनों प्रकार के उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान न करे। चित्र न० ६ में सरकार को $L_1 P_1 P_2 L_2$ की हानि तथा उपभोक्ता को $L P P_1 L_1$ का लाभ प्राप्त होता है। उपभोक्ता का लाभ सरकार की हानि से अधिक है। इसलिये सरकार को चाहिये कि वह उन उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करे जिनके ऊपर क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम (घटती लागत का नियम) लागू होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपभोक्ता की बचत की धारणा व्यावहारिक जीवन में बड़े काम की है। प्रो० पीगू ने ठीक ही कहा है कि मार्शल द्वारा निर्मित इस यन्त्र का क्षेत्र सीमित भले ही हो किन्तु यह हमारे लिये उपयोगी सिद्ध हुई है।

मांग वक्र दायीं ओर नीचे को क्यों झुकते हैं ?

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम तथा सम-सीमान्त उपयोगिता नियमों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् हम यह बात आसानी से समझ सकते हैं कि मांग वक्र दायीं ओर नीचे को क्यों झुकते हैं। मांग वक्र का दायीं ओर को झुकाव इस बात का द्योतक है कि जहां एक ओर वस्तु की उपयोगिता उत्तरोत्तर उपभोग से गिरती जाती है वहां दूसरी ओर मुद्रा की उपयोगिता निरन्तर खर्च के कारण बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में, मांग वक्र का दायीं ओर झुकाव इस बात का सूचक है कि उपभोग वस्तु की उपयोगिता खर्च की गई मुद्रा की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक

तेजी से गिरती जा रही है।* उपभोक्ता वस्तु की अधिक मात्रा तभी खरीदेगा जबकि उसकी कीमत गिर जायगी। यदि हम बाजार की माग पर विचार करे तो हम देखेंगे कि जब किसी चीज की कीमत गिरती है तो उसकी माग बढ जाती है। इसका कारण यह है कि जो लोग वस्तु को पहले से ही खरीद रहे हैं वे कीमत गिरने से उसकी अधिक मात्रा को खरीदने लगेंगे। इसके अतिरिक्त वे लोग जो ऊची कीमत होने के कारण अभी तक वस्तु को नही खरीद रह थे कीमत के गिर जाने पर उसको खरीदने लगेगे। इस प्रकार कीमत के गिरन स वस्तु की अधिक मात्रा बेची जायगी।

इस बात को हम एक दूसरे ढग से भी कह सकते हैं। प्रत्येक उपभोक्ता यह प्रयत्न करता है कि उसको अपनी आय से अधिक स अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। इस कारण वह अपनी आय को इस ढग से खर्च करता है कि प्रत्येक खरीदी गई वस्तु से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत के बीच की निष्पत्ति समान हो। अब यदि हम यह मान ल कि उनम से किसी एक चीज की कीमत गिर गई तो उसकी सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत के बीच की निष्पत्ति दूसरी चीजो की सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत के बीच की निष्पत्ति से भिन्न हो जायगी। इन निष्पत्तियो को बराबर करने के लिये उसे इस वस्तु की अधिक मात्रा खरीदनी पडेगी अन्यथा वह अपनी कुल उपयोगिता को उच्चतम नही कर पायगा और न सस्थिति मे आ पायेगा। उदाहरण के लिये, यदि एक केले की कीमत १ आना है तथा उसकी सीमान्त उपयोगिता ६ है तो केले की कीमत तथा उसकी सीमान्त उपयोगिता की निष्पत्ति १ ६ है। अब यदि सन्तरे की कीमत २ आने व उसकी सीमान्त उपयोगिता १२ हो तो इसकी कीमत व सीमान्त उपयोगिता मे भी १ ६ की निष्पत्ति है। मान लिया सन्तरे की कीमत गिरकर १½ आना हो जाये तो इसकी कीमत तथा सीमान्त उपयोगिता की निष्पत्ति १ ८ हो जायगी। इस निष्पत्ति को १ ६ पर लाने के लिय उसको इतने सन्तरे और अधिक खरीदन पडेगे कि सन्तरे की सीमान्त जिससे कि अन्तिम सन्तरे स प्राप्त सीमान्त उपयोगिता व उसकी कीमत (१½ आना की निष्पत्ति १ ६ हो जाय उपयोगिता गिरकर ६ रह जाय।

माग के नियम के अपवाद
(Exceptional Demand Curves)

हम ऊपर बता चुके है कि माग वक्र दायी ओर नीचे की ओर झुकते हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी परिस्थितिया है जिनम कि माग वक्र दायी ओर नीचे गिरने के बदल ऊपर की ओर उठत है अर्थात् कीमत बढने स माग भी बढती है तथा घटने से घटती है, परन्तु यह स्मरण रहे कि माग वक्र ऊपर की ओर स्थायी रूप से नही उठते। वे किसी न किसी सीमा पर पहुँचकर नीचे की ओर अवश्य झुकते हैं। इस प्रकार की अग्रलिखित दशाये हो सकती हैं।

* J K Mehta Advanced Economic Theory p 34

(१) कभी-कभी ऐसा होता है कि लोगों को यह आशा होती है कि किसी चीज की कीमत निकट भविष्य में बढ़ने वाली है। इसलिये वे बढ़ी हुई कीमत पर भी अधिक वस्तु मात्रा खरीद लेते हैं। यह बात कम्पनी के हिस्सों आदि के लिये विशेषतः ठीक है। अभी पिछले दिनों जब कम्पनियों के हिस्सों की कीमत बढ़ रही थी तब लोगों ने खूब हिस्से खरीदे।

(२) बहुत सी चीजें ऐसी होती हैं जो कि लोग प्रदर्शन के लिये खरीदते हैं, जैसे हीरे-जवाहरात, कीमती फर्नीचर आदि। इस प्रकार की चीजों को लोग तभी तक खरीदते हैं जब तक कि उनकी कीमत अधिक है। यदि उनकी कीमत गिर जाय तो दिखावट करने वाले लोग उनको खरीदना बन्द कर देंगे, परन्तु यदि उनकी कीमत बढ़ जाय तो वे उनकी अधिक माग करने लगेंगे तथा हो सकता है और ऊंचे स्तर वाले लोग जो उन्हें नहीं खरीदते थे, अब खरीदने लगें।

(३) प्रो० बेनहम ने बताया है कि कभी-कभी उपभोक्ताओं की अज्ञानता के कारण भी किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिये, महायुद्ध में इंगलैंड में तस्वीरों की एक किताब छपी थी जिसकी कीमत १०½ शि० रखी गई थी, परन्तु उसकी कुछ ही कापियां बिक सकीं। युद्ध के पश्चात् वही पुस्तक फिर छापी गई और उसकी कीमत ३½ पौ० रखी गई, परन्तु इस बार वह खूब बिकी क्योंकि लोगों ने समझा कि जब इस किताब की कीमत बढ़ गई है तो वह अवश्य ही कोई अत्यधिक उपयोगी पुस्तक होगी तथा अपने पास रखने लायक है। इसलिये उसे अधिक लोगों ने खरीदना शुरू कर दिया।

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं, जैसे रोटी आदि के लिये भी यही होता है। यदि रोटी की कीमत बढ़ जाय तो लोग उसका उपभोग कम नहीं कर सकते। वे अपेक्षाकृत कम आवश्यक चीजों के उपभोग को कम करके उनमें जो बचत होगी उस बचत को रोटी पर खर्च करने लगेंगे। इस प्रकार रोटियों की माग बढ़ जायगी क्योंकि रोटियों की पहली वाली मात्रा कीमत बढ़ जाने के कारण अब अधिक धन से खरीदी जा सकेगी।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कुछ चीजें फैशन में आने पर बड़ी मात्रा में बिकती हैं चाहे उनकी कीमत भी बढ़ रही हो। अभी एक दो वर्ष पूर्व नाइलोन के कपड़े तथा हवाई चप्पलों की माग इतनी बढ़ गई थी कि लोग इन चीजों को ऊंची कीमत पर भी अधिकाधिक खरीद रहे थे। मध्यम श्रेणी के अधिकतर घरों में भी ये चीजें पहुंच गईं। इस प्रकार इनकी माग बहुत अधिक बढ़ गई।

उपयोगिता विश्लेषण के दोष—

हमने पहले बताया कि उपयोगिता विश्लेषण-यन्त्र का प्रयोग मार्शल तथा उससे पूर्व के अर्थशास्त्रियों ने किया था, परन्तु आधुनिक युग के कुछ अर्थशास्त्री इस यन्त्र से काम नहीं लेते हैं। इसका कारण यह है कि इस यन्त्र में कई दोष हैं।

(१) हम पहले बता चुके हैं कि उपयोगिता का सम्बन्ध मनुष्य के मन से होता है। हम यह भी बता चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का मन अलग-अलग इच्छायें व भावनायें रखता है। अपरच एक ही व्यक्ति की मनस्थिति हर समय एक-सी नहीं रहती। इन सब बातों के कारण उपयोगिता को ठीक प्रकार से मापा नहीं जा सकता। यदि हम दो व्यक्तियों को किसी वस्तु के लिय एक-सी धन राशि देते देखते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि दोनों व्यक्तियों को उस वस्तु से समान उपयोगिता प्राप्त हुई है।

(२) जब हम किसी वस्तु की उपयोगिता का विवेचन करते हैं तो हम यह उपधारणा करके चलते हैं, कि उस वस्तु की न तो कोई स्थानापन्न है और न पूरक परन्तु व्यवहार में हम जानते हैं कि किसी वस्तु की उपयोगिता पर उसकी स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं का स्टाक बढ़ता है तो उपभोक्ता के लिय उस वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त, यदि उपभोक्ता के पास किसी वस्तु की एक बड़ी मात्रा होती है तो उसकी पूरक वस्तु के बढते हुए स्टाक की उपयोगिता घटने के बदले बढ़ती जायगी। इस प्रकार उपयोगिता विश्लेषण अब विश्वास करने योग्य नहीं है।

(३) उपयोगिता विश्लेषण के द्वारा किसी वस्तु की कीमत गिरने से उसकी माग पर आय प्रभाव तथा स्थानापन्न* प्रभाव के कारण जो वृद्धि होती है उसका तो ज्ञान किया जा सकता है, परन्तु इन दोनों प्रकार के प्रभावों के कारण माग मे अलग अलग कितनी वृद्धि हुई है इसका ज्ञान हमको इसके द्वारा नहीं हो सकता।

(४) मकान, रेडियो, मोटर आदि कीमती चीजें की प्राय एक ही इकाई क्रय जाती है। इस कारण इनकी कोई माग तालिका बनाना लाभ प्रद नहीं है। इसका कारण यह है कि इन चीजों की कीमत गिरने पर भी इनकी माग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

(५) उपयोगिता विश्लेषण मे हम इस उपधारणा के आधार पर चलते हैं कि कीमत गिरने पर उपभोक्ता एक ही वस्तु की अधिक इकाइयां खरीदेगा। परन्तु, व्यवहार में ऐसा नहीं होता। उपभोक्ता एक ही वस्तु की कई इकाइयां नहीं खरीदता वरन् वह एक ही प्रकार की कई चीजों की थोड़ी-थोड़ी मात्राएँ खरीदता है। इस कारण उपयोगिता ह्रास नियम के आधार पर माग के नियम का विवेचन कठिन है।

---

* स्थानापन्न विश्लेषण के अध्याय को आगे देखिये

६

स्थानापन्न विश्लेषण
(Substitution Analysis)

उपयोगिता विश्लेषण की चर्चा समाप्त करते समय हमने बताया था कि उपयोगिता का सम्बन्ध मन से होने के कारण उसको ठीक प्रकार से मापा नहीं जा सकता परन्तु, फिर भी मार्शल आदि अर्थशास्त्रियों ने दो वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिताओं को अङ्कों में व्यक्त करके उनकी तुलना करने का प्रयत्न किया है। दूसरे शब्दों में, इन अर्थशास्त्रियों की विश्लेषण पद्धति गणनात्मक (Cardinal) थी। परन्तु इस पद्धति के दोषों के कारण कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें प्रो० जे० आर० हिक्स (J. R. Hicks) तथा आर० जी० डी० एलन (R. G D Allen) मुख्य हैं, क्रमवाचक (Ordinal) विश्लेषण पद्धति को अपनाया है। इस पद्धति में हम यह नहीं कहते कि 'अ' वस्तु से प्राप्त उपयोगिता ५० है तथा 'ब' वस्तु से प्राप्त उपयोगिता ४० है, इस कारण उपभोक्ता 'ब' वस्तु की अपेक्षा 'अ' वस्तु को पसन्द करता है। हम केवल इतना ही कहते हैं कि उपभोक्ता 'ब' की अपेक्षा 'अ' को अधिक पसन्द करता है। इस पद्धति में हम यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि उपभोक्ता 'अ' को क्यों अधिक पसन्द करता है अथवा उसको 'अ' वस्तु से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है या 'ब' वस्तु से। इसमें हम यह भी जानने का प्रयत्न नहीं करते कि उपभोक्ता 'अ' वस्तु को 'ब' वस्तु से कितना अधिक पसन्द करता है। इस प्रकार इस पद्धति में मात्राओं (Quantities) पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इसमें केवल इतना ही कहा जाता है कि उपभोक्ता *'अ' वस्तु को 'ब' वस्तु से अधिक पसन्द करता है। इस पद्धति को स्थानापन्न* पद्धति (Substitution method) कहा गया है।

स्थानापन्न पद्धति व्यावहारिकता पर आधारित है। इस पद्धति का आधार यह है कि हम उपयोगिता को नहीं माप सकते परन्तु अनुभव द्वारा हम इतना जान सकते हैं कि उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं में से कुछ को अधिक पसन्द करते हैं तथा कुछ को कम। उदाहरण के लिये, लोग भारत ब्लेड की अपेक्षा सेविन 'ओ' क्लॉक का ब्लेड अधिक पसन्द करते हैं तथा वनस्पति घी में और ब्राण्डों की अपेक्षा डालडा को अधिक पसन्द करते हैं। यही बात अन्य चीजों के साथ भी है।

दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि 'क' वस्तु छोडने से उपभोक्ता को जितनी हानि होती है उतना ही लाभ उसको 'ख' वस्तु प्राप्त करने से होना चाहिए। क के अभाव को ख पूरा कर सकता है।

सीमान्त स्थानापन्न दर तथा कीमत—

ऊपर हमने माना था कि भूखा व्यक्ति रोटी के लिये ८ आने देने को तैयार है। परन्तु यदि वह रोटी उसको बाजार मे २ आने की मिलती हो तो यह स्पष्ट ही है कि जहा रोटी की धन के लिये सीमान्त स्थानापन्न दर $\frac{\text{८ आने}}{\text{एक रोटी}}$ है वहा बाजारी कीमत $\frac{\text{२ आने}}{\text{एक रोटी}}$ है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यक्ति एक से अधिक रोटी खरीद सकता है। अधिक रोटी खरीदने से उसकी रोटी की अभिरुचि कम होने लगेगी तथा अन्त मे वह बाजारी दर के बराबर हो जायगी। इस प्रकार कोई व्यक्ति किसी समय उस बिन्दु तक चीज खरीदेगा जिस तक कि सीमान्त स्थानापन्न दर बाजारु दर के बराबर नही हो जाती। इसको सस्थिति बिन्दु कहते है। यहा यह ध्यान रहे कि यह सस्थिति उपयोगिता विश्लेषण की सस्थिति से भिन्न है। उपयोगिता विश्लेषण मे जब हम यह कहते है कि सीमान्त उपयोगिता कीमत के बराबर होती है तो केवल एक ही वस्तु पर हमारा ध्यान टिका होता है। परन्तु स्थानापन्न विश्लेषण मे किसी व्यक्ति की वस्तु की माग पर दूसरी वस्तुओ की माग का प्रभाव भी स्वीकार किया जाता है। इस कारण जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु तथा मुद्रा मे चुनाव करना चाहता है तो उसके निर्णय पर बाजार मे विक्रय होने वाली अन्य चीजो का भी प्रभाव पडता है।

सीमान्त स्थानापन्न दर तथा माग वक्र——

हम ऊपर बता चुके हैं कि जैसे-जैसे कोई उपभोक्ता कोई वस्तु खरीदता जाता है वैसे वैसे उसके लिए चीज की स्थानापन्न की दर कम होती चली जाती है। हमने यह भी बताया है कि उपभोक्ता उस बिन्दु पर अपनी खरीद बन्द करता है जिस पर कि सीमान्त स्थानापन्न दर बाजारु कीमत के बराबर हो जाती है। यदि बाजारु कीमत सीमान्त स्थानापन्न दर से कम है तो वह उस समय तक चीज खरीदता रहेगा जब तक कि ये दोनो बराबर न हो जायें। इसके विपरीत, यदि बाजारु कीमत सीमान्त स्थानापन्न दर से अधिक है तो वह चीज न खरीदेगा। इस प्रकार जब बाजारु कीमत स्थानापन्न दर से कम होती है तब वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाती है परन्तु जब वह अधिक होती है तो वस्तु की कम मात्रा खरीदी जाती है। जो बात एक व्यक्ति के लिये ठीक होती है वह बाजार के सभी क्रेताओं के लिये ठीक होगी अर्थात् वे कम कीमत पर अधिक वस्तु तथा अधिक कीमत पर कम वस्तुये खरीदते हैं। इसको आगे के चित्र से देखा जा सकता है।
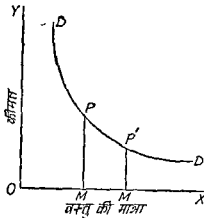
बराबर के चित्र मे OX पर वस्तु की मात्रा तथा OY पर कीमत दिखाई गई है। DD एक माग वक्र है। इस चित्र को देखने से पता चलता है कि जब कीमत PM है तो OM मात्रा खरीदी जाती है। परन्तु जब कीमत गिर कर P'M' हो जाती है तब वस्तु की OM' मात्रा खरीदी जाती है जो कि OM मात्रा से अधिक है। इस चित्र को देखने से यह भी पता चलता है कि माग वक्र दायी ओर नीचे को झुकता है। स्थानापन्न विश्लेषण की वास्तविक सुन्दरता का पता हमको तटस्थ वक्रो (Indifference curves) से चल सकता है जिनका हम आगे वर्णन करेंगे।

तटस्थ वक्र रेखाये
(Indifference curves)

हम पहले बता आये है कि उपयोगिता का सम्बन्ध मन से होता है। इस कारण हम उसको नही माप सकते। इस कठिनाई से मुक्ति दिलाने के लिये परीटो (Pareto) ने किसी वस्तु की उपयोगिता को दूसरी वस्तुओ की उन इकाइयो के रूप मे व्यक्त किया है जो कि पहली वस्तु की एक इकाई के बदले इस प्रकार खरीदी जा सके कि खरीदने वाले को कोई हानि न हो। इस प्रकार विचार करने से हम यह भले ही न कह सके कि किताब, कापी से कितनी अधिक उपयोगी है परन्तु हम इतना अवश्य कह सकते है कि किताब, कापी से उपयोगी है। इसी कारण परीटो, विकस्टीड (Wicksteed), वीजर (Wieser), चैम्बरलैन (Chamberlain), हिक्स, एलन आदि ने अर्थशास्त्र मे सापेक्ष अधिमानता की माप (Relative scale of Preferences) की विचारधारा का प्रतिपादन किया है।

सापेक्ष अधिमानता की माप क्या होती है—अब यह समझना आवश्यक है। हम सभी जानते है कि प्रत्येक उपभोक्ता की इतनी आय नही होती कि वह हर चीज को किसी भी मात्रा मे खरीद सके। इसी कारण उसको विभिन्न वस्तुओ मे से इस प्रकार चुनाव करना पडता है जिससे कि उसको अपनी आय से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। यदि उपभोक्ता एक वस्तु को मोल लेता है तो उसको दूसरी छोडनी पडती है अथवा दूसरी की मात्रा मे कमी करनी पडती है। इस कारण जब उपभोक्ता एक वस्तु को खरीदता है तो उसके उपर न केवल उसी वस्तु की कीमत का प्रभाव पडता है वरन् इस बात का भी प्रभाव पडता है कि अन्य वस्तुये किस कीमत पर बेची जा रही है। चीज खरीदते समय उपभोक्ता अपने से यह पूछेगा कि यदि मैं यह वस्तु

खरीदूं तो मुझे इसके लिये क्या देना पडेगा। क्या इतना धन चीज के लिए दिया जा सकता है ? यदि मैं यह चीज खरीदू तो मुझे किन-किन चीजो को छोडना या *कम करना पडेगा। तथा इनकी मुझे कितनी कीमत देनी पडेगी।* व्यवहार मे उपभोक्ता इस प्रकार के निर्णय विभिन्न वस्तुओ की कीमत को ध्यान मे रख कर करता है। विक्स्टीड के शब्दो मे यदि बढिया पुराने आलू कम कीमत पर मिल सकते हैं तो खरीदार के किये नए आलुओ के लिये ऊची कीमत देने की कम सम्भावना है क्योकि उसके लिये अच्छी दर पर एक अच्छा वैकल्पिक (Alternative) मौजूद है। मनुष्य के निर्णय पर न केवल एक ही दुकान मे रखी हुई दूसरी चीजो का ही प्रभाव पडता है वरन् अन्य बातो का भी पडता है। उदाहरण के लिये यदि चीज खरीदते समय *वह देखता है कि एक गरीब आदमी भूख से मर रहा है तो सकता है कि वह चीज* खरीदने के बदले उसी धन मे उस गरीब आदमी की सहायता करे। इस प्रकार उपभोक्ता अपने विवेक से इस बात का निर्णय करता है कि कौन-कौन सी चीजें उसको दूसरी चीजो की अपेक्षा अधिक तुष्टि प्रदान करेंगी। यदि वह अपने इस निर्णय को किसी कागज पर लिखने तो उसको एक तुलनात्मक अभिरुचि मापतालिका तैयार हो जायगी जिस पर कि वे सब चीजें होगी जिनको वह पसन्द करता है तथा इस तालिका से इस बात का बोध हो जायगा कि ये चीजे दूसरी कितनी चीजो के बदले प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु व्यवहार मे उपभोक्ता इस प्रकार की कोई तालिका नहीं बनाता वरन् वह अपने मस्तिष्क मे इस प्रकार की तालिका रखता है। हम देखते हैं कि व्यवहार मे इस प्रकार की तालिका पूर्ण नही होती। इस कठिनाई से बचने के लिए हम यह धारणा करके चलते हैं कि उपभोक्ता तर्कशील होता है तथा वह चीजो को तुलनात्मक अभिरुचि की माप के अनुसार खरीदता है। लेकिन चू कि उपभोक्ता की *आय सीमित होती है इस कारण वह अपनी तुलनात्मक अभिरुचि माप तालिका मे* सम्मिलित सभी चीजो को नही खरीद सकता। वह केवल उन्ही चीजो को खरीदेगा जिनको वह अपनी तालिका मे उच्च स्थान देता है।

उपभोक्ता अपनी जो अधिमान माप तालिका बनायगा उसमे हमको यह नही मिलेगा कि गल्ला, कपडे से ऊपर रखा हुआ है तथा कपडा, किताब से ऊपर रखा हुआ है। वरन् उसमें हमको यह मिलेगा कि कितने गल्ले तथा कपडे का जोडा कितने कपडे तथा किताब के जोडो मे अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार उसमें हम देख सकते हैं कि कितने कपडे तथा किताबो का जोडा किताबो तथा फलो के जोडो से अधिक उपयोगी समझा जाता है। इसी प्रकार हम को अन्य चीजो के जोडे भी इस तालिका मे मिलेंगे। इस तालिका मे गल्ले तथा कपडे अथवा कपडे किताब अथवा किताब तथा फलो के जो जोडे मिलेंगे वे अकेले-अकेले नही होंगे अर्थात यह तालिका केवल इस बात ही की सूचना नही देगी कि उपभोक्ता १ मन गल्ले + २० गज कपडे को २५ गज कपडे + १० किताबो से अधिक पसन्द करता है अथवा ३० गज कपडे + ५

किताबों को २० किताबों + ५ सेर फलों से अधिक पसन्द करता है वरन् इस तालिका से हमको इससे भी अधिक सूचना प्राप्त होगी और वह यह कि गल्ले तथा कपड़े व कपड़े तथा किताबों व किताबों व फलों के अन्य भी बहुत से ऐसे जो जोड़े हो सकते हैं जिनकी अधिमानता समान है। इन जोड़ो मे से कोई भी जोड़ा चुनने से वह उतना ही लाभ प्राप्त करेगा जितना कि वह दूसरे जोड़े के चुनने से प्राप्त कर सकता है। इसको हम एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं--

पहला जोड़ा	४० सेर गल्ला	+२० गज कपड़ा
दूसरा "	३५ सेर "	+३० गज "
तीसरा "	३० सेर "	+३७ गज "
चौथा "	२५ सेर "	+४२ गज "

इनके अतिरिक्त और जोड़े भी बन सकते है। उपभोक्ता इन जोड़ो मे से कोई सा जोड़ा भी चुन सकता है। इसमे से कोई एक जोड़ा चुनने से उसको उतना ही लाभ प्राप्त होगा जितना कि किसी दूसरा जोड़ा चुनने से अर्थात ४० सेर गल्ला +२०गज कपड़ा = ३५ सेर गल्ला +३० गज कपड़ा = ३० सेर गल्ला + ३७ गज कपड़ा आदि आदि। इसी कारण उपभोक्ता इन जोड़ो के चुनाव मे उदासीन होगा। इसी कारण उपर्युक्त तालिका को तटस्थ तालिका (Indifference Schedule) कहा जा सकता है। इस तालिका के आधार पर हम एक वक्र बना सकते हैं जिसको तटस्थ वक्र (Indifference Curve) कहा जा सकता है।
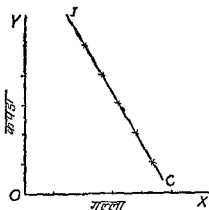
उपर्युक्त चित्र मे OX पर गल्ला तथा OY पर कपड़ा दिखाया गया है। इस चित्र मे विभिन्न जोड़ो के आधार पर बिन्दुओ को रेखाकन किया गया। उसके पश्चात् इन बिन्दुओ को मिला कर IC तटस्थ वक्र प्राप्त किया गया है। इस वक्र की यह विशेषता है कि इस पर कोई भी बिन्दु लेने से गल्ले तथा कपड़े का जो जोड़ा प्राप्त होगा वह अधिमानता मे इस वक्र पर दूसरे किसी बिन्दु को लेने से प्राप्त गल्ले व कपड़े के जोड़े के बराबर होगा। इस प्रकार तटस्थ वक्र उस रेखा को कहा जा सकता है जिस पर स्थित प्रत्येक बिन्दु दो वस्तुओ के ऐसे जोड़ो को प्रदर्शित करता है जिनसे किसी उपभोक्ता को समान तृप्ति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दो मे, यह दो वस्तुओ की

मात्राओं के उन जोड़ो को दिखाने वाला पथ होता है जिनकी अधिमानता के विषय में कोई व्यक्ति तटस्थ रहता है।*

तटस्थ मानचित्र
(Indifference Map)

ऊपर हमने एक तटस्थ वक्र बनाया है। जब तक उपभोक्ता की आय तथा उसकी रुचि मे कोई परिवर्तन न होगा तब तक एक ही तटस्थ वक्र बनेगा। परन्तु यदि हम यह उपधारणा करलें कि उपभोक्ता की आय अथवा रुचि व फैशन मे कोई परिवर्तन हो गया है तो इससे भिन्न बहुत से तटस्थ वक्र बन जायगे जो कि पहले तटस्थ वक्र से दायें या बायें हो सकते हैं। यदि कोई तटस्थ वक्र किसी दूसरे तटस्थ वक्र के दायी ओर होता है तो इस बात को दिखाता है कि उपभोक्ता को पहले से अधिक तृप्ति प्राप्त होती है और यदि तटस्थ वक्र पहले वक्र की बायी ओर होता है तो इस बात को सूचित करता है कि उपभोक्ता को पहले से कम तृप्ति प्राप्त हो रही है। एक ऐसा चित्र जिसमे कई तटस्थ वक्र दिखाये गये हो तटस्थ मानचित्र कहलाता है जैसा कि उपरोक्त चित्र मे दिखाया गया है।
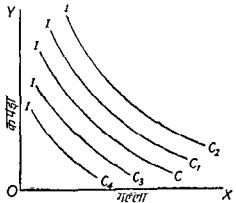
उपर्युक्त तटस्थ मानचित्र मे IC पहला तटस्थ वक्र है तथा IC_1 व IC_2 पहले से अधिक तुष्टि को दिखाने वाले तटस्थ वक्र हैं तथा IC_3 व IC_4 कम तुष्टि का दिखाने वाले तटस्थ वक्र हैं। ऊपर का चित्र जिसमे पाच तटस्थ वक्र दिखाये गये हैं तटस्थ मानचित्र कहलायेगा।

तटस्थ वक्रो के गुण—

तटस्थ वक्रो के निम्नलिखित गुण होते हैं—

(१) तटस्थ वक्र दायें हाथ की ओर नीचे को ढालू होते हैं— तटस्थ वक्रो की पहली विशेषता यह होती है कि वे सीधे हाथ की ओर ढालू होते हैं। इसका कारण यह है कि जब उपभोक्ता दोनो मे से किसी

* Indifference curves represent the 'contours' of a hypothetical utility or preference function A single indifference curve (or function) defines all those points in a field of potential choice—*i e* all those combinations of values of the significant variables—to which the chooser is *Indifferent*— Boulding—A Reconstruction of Economics P 79
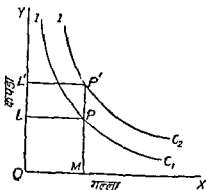
एक वस्तु की अधिक मात्रा खरीदना चाहता है तो उसको दूसरी चीज पहले से कम मिलेगी जैसा कि नीचे के चित्र से विदित है—

उपर्युक्त चित्र को देखने से पता चलता है कि उपभोक्ता जब OM गल्ला खरीदना चाहता है तो उसको PM कपडा खरीदना पडता है। परन्तु यदि उसकी आय व रुचि व फैशन पहले के समान ही रहे, और यदि वो केवल OM' गल्ला खरीदने का निश्चय करे तो उसको P M' कपडा मिल सकता है जो कि पहले से अधिक है। इसी को हम दूसरे ढग से इस प्रकार कह सकते हैं कि जब उपभोक्ता PM कपडे से बढा से कर कपडा खरीदना चाहता है तो उसको OM गल्ले के बदले OM' गल्ला खरीदना पडेगा जो पहले से कम है।

यदि हम यह माने कि उसको अधिक गल्ला खरीदने पर पहले से अधिक कपडा भी मिलेगा या पहले के बराबर ही मिलेगा तो यह बात पहले वाले तटस्थ वक्र स प्रदर्शित न हो सकेगी जैसा कि पीछे के चित्रो से विदित है—

चित्र न० (१)
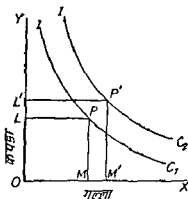
दिये गये चित्र न० १ मे हम देखते हैं कि जब उपभोक्ता यह निश्चित करता है कि वह OM के बदले OM' गल्ला व OL के बदले OL' कपडा खरीदेगा तो वह पहले वाले तटस्थ वक्र IC_1 पर रह कर ऐसा नही कर सकता। उसको उससे अधिक लाभप्रद तटस्थ वक्र IC_2 पर जाना पडेगा। इसी प्रकार जब उपभोक्ता गल्ला तो OM ही खरीदना चाहता है परन्तु कपडा OL के बदले OL' खरीदना चाहता है तो उसको इतना कपडा पहले वाले तटस्थ वक्र IC_1 पर प्राप्त नही हो सकता वरन् उसको दूसरे तटस्थ वक्र IC_2 पर जाना पडेगा। इस बात से सिद्ध हुआ कि उपभोक्ता एक ही तटस्थ वक्र पर न तो दोनो चीजो के समान रूप मे पहले से अधिक खरीद सकता है और न उनमे से एक को पहले जितनी खरीद कर दूसरी की मात्रा मे ही वृद्धि कर सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि कोई व्यक्ति एक ही तटस्थ वक्र पर

रह कर एक चीज को पहले से अधिक खरीदना चाहता है तो उसका दूसरी चीज पहले से कम खरीदनी पड़ेगी। इसी कारण सभी तटस्थ वक्र नीचे हाथ की ओर नीचे का ढालू होते हैं अर्थात् वे दिखाते हैं कि यदि कपड़ा कम मात्रा में खरीदा जाता है तो गल्ला अधिक मात्रा में खरीदा जायगा। यदि हम यह कहें कि उपभोक्ता एक ही उदासीन वक्र पर रह कर पहले से अधिक मात्रा में कपड़ा तथा गल्ला, दोनों खरीदता है अथवा पहले जितना गल्ला परन्तु पहले से अधिक कपड़ा खरीदता है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसको पहले से अधिक कपड़े से उतनी ही तुष्टि प्राप्त होती है जितनी कि पहली मात्रा वाले गल्ले तथा कपड़े से होती थी परन्तु यह बात कहनी बिल्कुल निरर्थक है।

(२) तटस्थ वक्र, मूल बिन्दु के उन्नतोदर (Convex) होता है— तटस्थ वक्र की दूसरी विशेषता यह होती है कि यह मूल-बिन्दु (०) का उन्नतोदर होता है। इसका अर्थ यह है कि यह वक्र बायें हाथ की ओर ढालू होता है तथा दायें हाथ की ओर क्षैतिज प्राय होता जाता है। इस प्रकार का वक्र इस बात को बताता है कि जब उपभोक्ता अपने पास की किसी वस्तु के बदले कोई दूसरी वस्तु खरीदता है तो वह प्रारम्भ में अपने पास वाली चीज की अधिक मात्रा देकर दूसरे आदमी से उसकी चीज की कम मात्रा मोल लेता है। यदि वह इस विनिमय कार्य को जारी रखता है तो उसके पास अपने पास वाली चीज का स्टॉक कम होता जाता है तथा बदले में ली जाने वाली चीज का स्टॉक बढ़ता जाता है। इस कारण प्रत्येक अतिरिक्त विनिमय के लिये वह अपने पास की चीज के बदले दूसरे आदमी की चीज अधिकाधिक मात्रा में लेगा। इसी कारण तटस्थ-वक्र बायें हाथ की ओर ढालू तथा दायें हाथ की ओर क्षैतिज प्राय होता जाता है।
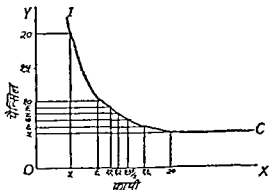
ऊपर के चित्र को देखने से पता चलता है कि उपभोक्ता २० कापी + ५ पेंसिलों का संयोग (Combination) रखना चाहता है। इससे यह भी विदित है कि उपभोक्ता के लिये १६ कापियों + ६ पेंसिलों का संयोग भी समान रूप से लाभप्रद है। इसका अर्थ यह हुआ कि १ और पेंसिल को प्राप्त करने के लिये वह ४ कापियां छोड़ने को तैयार है। ७ पेंसिलों के साथ वह १३½ कापियों का संयोग रखना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि १ और पेंसिल प्राप्त करने के लिये वह २½ कापियां छोड़ने को तैयार है। यदि वह १ और पेंसिल (अर्थात् कुल ८ पेंसिलें) रखना चाहता है तो

वह उसके साथ केवल १२ कापिया रखने को तैयार है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह १ अतिरिक्त पेंसिल प्राप्त करने के लिये केवल १½ कापी छोडने के लिये तैयार है। इस प्रकार हम देखते है कि जैसे जैसे उपभोक्ता पेसिले अधिकाधिक सख्या मे प्राप्त करता जाता है वैसे-वैसे वह कापियो की कम से कम सख्या छोडने को तैयार होता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते है कि उपर्युक्त उदाहरण मे दिया हुआ उपभोक्ता अपनी चीज के बदले इस दूसरे व्यक्ति की चीज की अधिकाधिक मात्रा लेने का प्रयत्न करता जाता है। इसी बात को हम एक तीसरे ढग मे भी कह सकते है कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति किसी चीज को अधिकाधिक मात्रा या सख्या मे प्राप्त करता जाता है वैसे वैसे उसके लिये, प्राप्त की गई चीज का सीमान्त महत्व निरन्तर कम होता चला जाता है।

यहा यदि हम यह उपधारणा करले कि प्राप्त की गई चीज का सीमान्त महत्व उपभोक्ता के लिय बढता चला जाता है तो यह प्रत्यक्ष ही है कि वह चीज को अधिकाधिक प्राप्त करता जायगा। यहा तक कि उसके पास वाली चीज का सब स्टॉक समाप्त हो जायगा तथा फिर भी उसकी उस वस्तु के लिय माग बनी रहेगी। परन्तु व्यवहार मे हम यह नही देखते कि कोई उपभोक्ता किसी दूसरी चीज को प्राप्त करने के लिये अपने पास की चीज का सब स्टॉक समाप्त कर देता हो। इसलिये हम कह सकते हैं कि तटस्थ वक्र मूल-बिन्दु के नतोदर (Concave) नही हो सकता। हा हम यह उपधारणा कर सकते है कि कुछ समय के लिये तटस्थ-वक्र नतोदर हो सकता है, परन्तु फिर वह उन्नतोदर हो जायगा अन्यथा सस्थिति कभी न आयेगी और बिना सस्थिति आये सौदा तय न होगा। तटस्थ-वक्र दिये चित्र के अनुसार उन्नतोदर व
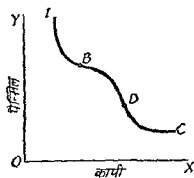
नतोदर हो सकता है—ऊपर वाले चित्र मे तटस्थ वक्र I से B तक उन्नतोदर है, B स D तक नतोदर तथा D से C तक फिर से उन्नतोदर है। इसका अर्थ यह हुआ कि पेंसिले प्राप्त करने के लिये उपभोक्ता I से B तक उत्तरोत्तर कम कापिया देने को तैयार है परन्तु B से D तक वह अधिकाधिक कापिया देने को तैयार है तथा D से C तक फिर वह कम से कम कापिया देने को तैयार होगा।

परन्तु कुछ ऐसी भी हालतें है जबकि तटस्थ-वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर नहीं होता। यह तब होता है जबकि एक वस्तु का स्थानापन्न किसी दूसरी वस्तु से पूर्ण-रूपेण हो सकता है। जब एक वस्तु दूसरी की पूरक होती है तब भी यही बात होती है, इस हालत मे भी दोनो पूरक वस्तुओं के सदर्भ मे खीचा गया तटस्थ-वक्र मूल

बिन्दु के उन्नतोदर न होगा, क्योंकि यदि उनमें से एक वस्तु कुछ अधिक मात्रा में खरीदी जायगी तथा दूसरी कुछ कम मात्रा में तो अधिक खरीदी गई वस्तु बेकार पड़ी रहेगी। इन दोनों हालतों में सीमान्त स्थानापन्नता की दर अनन्त होती है। इस कारण तटस्थ-वक्र का रूप बराबर में दिये गये चित्र जैसा होगा।
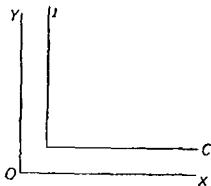
(३) दो तटस्थ वक्र एक दूसरे को नहीं काटते—

तटस्थ वक्रों की तीसरी विशेषता यह होती है कि एक ही प्रणाली का एक तटस्थ वक्र दूसरे को नहीं काटता। यदि एक वक्र दूसरे को काटे तो इसका अर्थ यह हुआ कि एक वक्र पर कोई भी बिन्दु उतनी ही तृप्ति का सूचक होगा जितना कि दूसरे वक्र पर कोई बिन्दु। परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं क्योंकि एक वक्र दूसरे की अपेक्षा या तो ऊँचा होगा या नीचा हो सकता है। ऊँचे वक्र पर का बिन्दु अधिक तुष्टि का सूचक होगा तथा नीचे वक्र पर का बिन्दु कम तुष्टि का। लेकिन चूंकि दोनों वक्र एक दूसरे को काटते हैं इसलिये वह बिन्दु जहां पर एक वक्र दूसरे को काटता है उभयनिष्ट बिन्दु होगा, इसलिये ऊँचे वक्र तथा नीचे वक्र पर के समस्त बिन्दुओं को उतनी ही तुष्टि प्रदान करते हुए मानना पड़ेगा जितनी कि उस बिन्दु से प्राप्त होती है जहां दोनों वक्र एक दूसरे को काटते हैं। हम जानते हैं कि जब दो चीजें किसी तीसरी के बराबर होती हैं तो वे आपस में भी बराबर होती हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि जब ऊँचे वक्र तथा नीचे वक्र पर के बिन्दु उस बिन्दु के बराबर होते हैं जहां पर वक्र एक दूसरे को काटते हैं तब ऊँचे वक्र पर का कोई बिन्दु उतनी ही तुष्टि प्रदान करेगा जितनी कि नीचे वक्र का। परन्तु यह कहना गलत है। इस कारण हम कह सकते हैं कि एक तटस्थ वक्र दूसरे तटस्थ वक्र को नहीं काटता। इसको

बराबर में दिए गए चित्र द्वारा समझाया जा सकता है—उपरोक्त चित्र में हमने मान लिया कि IC_1 तथा IC_2 दो ऐसे तटस्थ वक्र हैं जो एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते

है। IC_1 पर B बिन्दु है तथा IC_2 पर A बिन्दु। B बिन्दु नीचे की ओर है तथा A बिन्दु ऊपर की ओर। इस कारण A अधिक तृप्ति का सूचक है तथा B कम का। परन्तु P दोनों वक्रो पर है इस कारण P बिन्दु पर प्राप्त होने वाली तुष्टि वही होनी चाहिये जो कि A तथा B बिन्दु पर प्राप्त होती है। परन्तु यह बात असम्भव है। अस्तु, हम यह कह सकते है कि दो तटस्थ वक्र एक दूसरे को नही काटते।

उपभोक्ता की सस्थिति
(Consumer's Equilibrium)

तटस्थ वक्र विश्लेषण बहुत सी आर्थिक समस्याओ को समझने के लिये एक बडा ही उपयोगी यन्त्र है। इसके द्वारा हम बता सकते हैं कि उपभोक्ता किस प्रकार अपनी आय को खर्च करे जिससे कि अधिकतम प्रत्याय प्राप्त हो। इसको समझने के लिये हम केवल दो वस्तुये ही लेंगे, जिनमे एक मुद्रा तथा दूसरी कापिया होगी। आगे बढने से पूर्व हम कुछ उपधारणाये करेंगे जो कि निम्नलिखित है —

(१) उपभोक्ता का एक तटस्थ मानचित्र है जिसके ऊपर कि कापियो तथा मुद्रा के भिन्न भिन्न सयोगो के बीच उपभोक्ता की अधिमानता के पैमाने दिखाये गय है। अधिमानता का यह पैमाना सम्पूर्ण विश्लेषण के दौरान मे पूर्ववत् रहता है।

(२) उसके पास जितना धन है सब का सब वह या तो कापियो के खरीदने मे खर्च करता है या दूसरी चीजो के खरीदने मे।

(३) वह सब चीजो की प्रचलित कीमतें जानता है तथा उसके अतिरिक्त बाजार मे और बहुत से क्रेता होते है।

(४) अन्य सब चीजो की कीमत दी हुई तथा स्थिर रहती है।

(५) सब चीजें समावयव तथा विभाज्य है।

(६) उपभोक्ता विवेकशील है तथा अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना चाहता है।

इन उपधारणाओ के आधार पर हम उपभोक्ता का एक तटस्थ वक्र मान चित्र बना सकते है, जिसका रूप निम्न दिये चित्र जैसा हो सकता है —
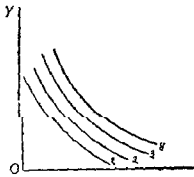
इनमे न० १ वक्र सब से कम तुष्टि का सूचक है, न० २ उससे अधिक का, न० ३ उससे अधिक का, आदि-आदि। यह ध्यान रहे कि ये सब वक्र उपभोक्ता की व्यक्तिगत रुचि के सूचक है, उनका कीमत से कोई सम्बन्ध नही है।

अब हम यह मानते है कि उपभोक्ता की आय OA है तथा वह उससे OB कापिया खरीदना चाहता है। यदि वह अपनी सारी आय को OB कापियो के खरीदने

पर खर्च करे तो १ कापी की कीमत $\frac{OA}{BB}$ होगी। इसको हम निम्न चित्र द्वारा दिखा सकते हैं —

यहाँ पर आय OA है तथा उपभोक्ता OB कापियाँ खरीदना चाहता है तो ऐसी स्थिति में कीमत-रेखा (Price line) AB होगी। यह रेखा उन समस्त सुअवसरों को दिखाती है जो कि उपभोक्ता का OB कापियाँ खरीदने के लिये प्राप्त हैं। इसीलिये इस रेखा को कीमत-सुअवसर रेखा (Price-opportunity line) भी कहा जाता है। इस रेखा पर कोई भी बिन्दु लेने से हमको इस बात का ज्ञान हो सकता है कि उपभोक्ता कितनी कापियाँ खरीदना चाहता है तथा उसके लिये उसको कितना धन देना पड़ेगा और उसके पास कितना धन अन्य चीजों के खरीदने के लिये बचेगा। उदाहरण के लिये यदि उपभोक्ता OQ कापियाँ खरीदना चाहता है तो उसको AL आय खर्च करनी पड़ेगी तथा उसके पास OL आय शेष बचेगी। इसके विपरीत, यदि वह OS कापियाँ खरीदना चाहता है तो उसको AM आय खर्च करनी पड़ती है तथा वह OM आय दूसरी चीजें खरीदने के लिये बचाता है। उपभोक्ता न इस रेखा से ऊपर किसी (मान लिया T) बिन्दु पर जा सकता है क्योंकि उसकी आय कम है और न वह इससे नीचे W बिन्दु पर ही रह सकता है क्योंकि हम पहले ही उपधारणा कर चुके हैं कि वह अपनी सारी आय वस्तु (कापियाँ) खरीदने अथवा अन्य चीजों के खरीदने में खर्च कर देता है। इस प्रकार कीमत रेखा उन सारे सुअवसरों को दिखाती है जो कि उपभोक्ता को उस समय प्राप्त होते हैं जबकि हम उसकी आय तथा वस्तु की कीमत मान कर चलते हैं। उपभोक्ता को तभी सबसे अधिक तुष्टि प्राप्त होती है जब सुअवसर रेखा तटस्थ वक्र को स्पर्श करती है।
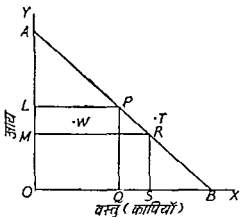
कीमत रेखा में परिवर्तन—

कीमत-रेखा में दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं—एक हालत में यह रेखा पूर्णरूपेण अपने स्थान से हट कर इस स्थान के समानान्तर कोई स्थान ग्रहण करती है, दूसरी हालत में इस रेखा का एक सिरा अपने पूर्ववत् स्थान पर रहता है तथा दूसरा पूर्व स्थान से हट जाता है जिससे कि इस रेखा की नई स्थिति पूर्व स्थिति के साथ एक कोण बनाती है। चित्र नं० १ पहली तथा चित्र नं० २ दूसरी स्थिति का

परिचायक है। पहली स्थिति जब पैदा होती है जबकि विनिमय की दर पहले जितनी ही रहे लेकिन उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन हो जाय। दूसरी वह जब विनिमय-दर मे परिवर्तन हो जाय किन्तु आय पूर्ववत् रहे। इस बात को चित्र न० १ व चित्र न० २
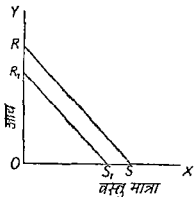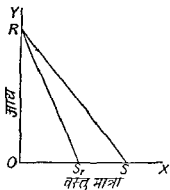
चित्र न १ चित्र न २

मे दिखाया गया है। ऊपर के चित्र न० १ मे विनिमय दर पहले जितनी ही रहती है परन्तु व्यक्ति की आय OR से घट कर OR_1 हो जाती है जिससे कि विनिमय की जाने वाली वस्तु मात्रा मे भी समानुपातिक परिवर्तन आयेगा तथा वह OS मात्रा के बदले OS_1 मात्रा खरीदने लगेगा। अब कीमत रेखा RS के बदले R_1S_1 हो जाती है। RS रेखा R_1S_1 के समानान्तर है। दूसरे चित्र मे व्यक्ति की आय OR है। इस आय से पहले वह OS वस्तु खरीदता था जिसके कारण कीमत-रेखा RS थी। परन्तु अब विनिमय दर मे परिवर्तन आ गया है यद्यपि आय पूर्ववत् ही रहती है। इससे खरीदी जाने वाली वस्तु मात्रा पर ही इसका प्रभाव पडेगा। मान लिया कि विनिमय दर मे परिवर्तन के फलस्वरूप अब उपभोक्ता केवल OS_1 वस्तु मात्रा खरीद पाता है, तो अब कीमत रेखा RS से हट कर R_1S_1 हो गई।

यह बात जानने के पश्चात् कि कीमत-रेखा क्या होती है तथा एक तटस्थ-वक्र के दाये ओर के सब वक्र अपने पूर्ववर्ती बाये वक्र से अधिक लाभ प्रद जोडो के सूचक है तथा बायें ओर के वक्र अपने से दायें ओर के वक्रो से कम लाभ-प्रद जोडो के सूचक होते हैं हमारे लिये यह बात समझनी
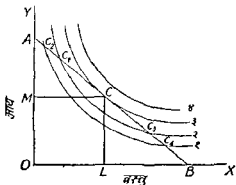
सरल होगी कि उपभोक्ता साम्यस्थिति को कैसे प्राप्त करता है। इसको हम पृष्ठ १७४ पर ग्रन्त मे दिये गये चित्र की सहायता से समझ सकते हैं—पृष्ठ १७४ पर ग्रन्त मे एक उपभोक्ता का तटस्थ-वक्र मानचित्र दिया है। इसमे हमने AB को उपभोक्ता की कीमत रेखा माना है। यह कीमत रेखा बिन्दु C_2 C_3 C, C_3 तथा C_4 से क्रमश गुजरती है। बिन्दु C_1 तथा C_4 तटस्थ वक्र १ पर स्थित हैं, बिन्दु C_2 तथा C_3 वक्र २ पर स्थित हैं तथा बिन्दु C वक्र ३ पर स्थित है। हमारी उपधारणा प्रारम्भ ही से यह है कि उपभोक्ता अपनी कुल तुष्टि को चरम बिन्दु पर पहुँचाना चाहता है। वह अपनी आय का इस प्रकार खर्च करता है कि उससे अधिकतम तुष्टि प्राप्त हो सके। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वह उच्चतम तटस्थ वक्र पर पहुँचना चाहेगा। लेकिन उसका यह प्रयत्न कीमत रेखा तक ही सीमित होगा। इस प्रकार हमारा उपर्युक्त उपभोक्ता बिन्दु C_2 से प्रारम्भ कर दायीं ओर उच्चतर तटस्थ वक्र पर जाता है और ग्रन्त मे C बिन्दु पर पहुँच जाता है। स्पष्ट है कि C_2 बिन्दु पर आय तथा वस्तु का जो जोड़ा उसे प्राप्त होता था वह C_1 पर प्राप्त होने वाले जोड़े से घटिया था। इस प्रकार चलते हुए C बिन्दु पर पहुँचकर उपभोक्ता को अपने आय वस्तु के जोड़े से अधिकतम तुष्टि प्राप्त होगी। अतः इन सब जोड़ों मे से व्यक्ति C को चुनेगा अर्थात् वह OL वस्तु खरीदेगा तथा AM आय खर्च करके OM आय अपने पास रखना चाहेगा। वह न इससे कम रखेगा और न अधिक। C_1, C_2, C_3 तथा C_4 बिन्दु, तटस्थ वक्र ३ के नीचे और के वक्रों पर हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उसको इन जोड़ों के चुनने से C पर के जोड़े से कम लाभ प्राप्त होगा। वक्र न० ४ पर वह कोई बिन्दु न चुनेगा क्योंकि यह कीमत रेखा AB के बाहर है। अपनी दी हुई आय तथा बाजार की विनिमय-दर के कारण वह वक्र न० ४ पर नहीं जा सकता। इस कारण वह C बिन्दु को ही चुनेगा। इस बिन्दु पर उसको सबसे अधिक लाभ प्राप्त होगा। यही उसकी साम्यस्थिति है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साम्यस्थिति वह होती है जहा पर कि कीमत रेखा तटस्थ-वक्र को छूकर चलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तटस्थ वक्र विश्लेषण हमारे लिए बहुत उपयोगी है। इसके द्वारा हम सीमान्त ह्रासमान तुष्टि तथा सम-सीमान्त तुष्टि आदि चीजों को बिना उपयोगिता की सहायता लिये समझ सकते हैं। इनमे से पहली बात को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब एक उपभोक्ता चीजों के एक समूह को दूसरे समूह से अधिक पसन्द करता है तो यह स्पष्ट ही है कि इनमे से पहला समूह उसको दूसरे से अधिक तुष्टि प्रदान करता है। दूसरी बात को समझने के लिये हम तटस्थ-वक्रों की सहायता लेते हैं। यदि हम देखते हैं कि एक व्यक्ति चीजों के दो समूहों के बीच उदासीन है तो हम कह सकते है कि ये दोनो समूह उपभोक्ता को समान उपयोगिता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, इस विश्लेषण को हम भिन्न प्रकार की

आर्थिक समस्याओं को समझने के लिये काम में ला सकते हैं। इसका अध्ययन हम नीचे करेंगे।

अभी तक हम यह उपधारणा करके चले हैं कि उपभोक्ता की आवश्यकता, उसकी आय वस्तु की कीमत आदि स्थिर हैं। परन्तु हम जानते हैं कि ये स्थिर नही रहते। अब हम यह देखेंगे कि यदि उपभोक्ता की आय अथवा कीमत मे परिवर्तन हो जाय तो उपभोक्ता की सस्थिति म किस प्रकार का परिवतन आयगा। इस चीज का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हम अपने विश्लेषण को तीन भागो म विभाजित करेंगे— (१) आय प्रभाव, (२) स्थानापन्न प्रभाव तथा (३) कीमत प्रभाव।

(१) आय-प्रभाव
(Income effect)

उपभोक्ता की आय को हम दी हुई मान कर चले हैं परन्तु हम जानते है कि व्यवहार मे आय स्थिर नही रहती वरन् वह घटती-बढती रहती है। जब उपभोक्ता की आय बढ जाती है तो उसके हाथ म अधिक क्रय-शक्ति आ जाती है जिसके फलस्वरूप वह अधिक माल खरीद सकता है। यदि खरीदी जाने वाली वस्तु अथवा वस्तुओ की कीमत पहले जितनी ही रहती है तो भी उपभोक्ता अब पहले से अधिक माल खरीद सकेगा। इसके विपरीत, यदि उपभोक्ता की आय घट जाय तथा खरीदी जाने वाली चीजो की कीमत पहले जितनी ही रहे तो उपभोक्ता ऐसी हालत म पहले से कम माल खरीद सकेगा। इस प्रकार जब उपभोक्ता किसी दूसरी बात के प्रभाव स प्रभावित न होकर केवल आय म परिवतन होने के कारण पहले से कम या अधिक माल खरीद सकता है तो उसको आय प्रभाव कहते हैं।

आय प्रभाव को जानने के लिये हम दो वस्तुयें गल्ला और कपडा ले सकते हैं। अब हम यह उपधारणा करते हैं कि गल्ले और कपडे की बाजारू कीमत पहले जितनी ही रहती है तथा उपभोक्ता की आय पहले की अपेक्षा बढती रहती है जिसके फलस्वरूप हमको पहले तटस्थ-वक्र के दायी ओर कई तटस्थ वक्र प्राप्त होते हैं जैसा कि बराबर के चित्र म दिखाया गया है—
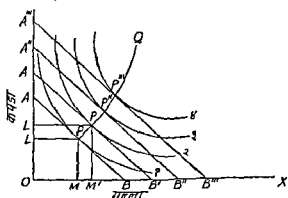
ऊपर के चित्र म OX पर गल्ला तथा OY पर कपडा दिखाया गया है। इस चित्र मे उपभोक्ता की आय गल्ले के रूप म OB है तथा कपडे

के रूप में OA है। AB कीमत-रेखा है तथा न० १ तटस्थ-वक्र है। यह वक्र कीमत रेखा को P विन्दु पर स्पर्श करता है। जैसा हम पहले बता चुके हैं, इसी कारण P विन्दु सुस्थिति को दिखाता है अर्थात् यदि उपभोक्ता की आय गल्ले के रूप में OB हो तथा कपडे के रूप में OA हो तो उपभोक्ता OM गल्ला तथा OL कपडा अपने पास रखना पसद करेगा।

यदि उपभोक्ता की आय बढ कर गल्ले के रूप में OB' हो जाय तथा कपडे के रूप में OA' हो जाय तो A'B' कीमत-रेखा होगी तथा न० २ तटस्थ-वक्र होगा। कीमत-रेखा तटस्थ-वक्र को P' विन्दु पर स्पर्श करती है। इस कारण P' सस्थिति विन्दु होगा। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता *OM' गल्ला तथा OL' कपडा रखना* पसद करेगा।

इस प्रकार जब उपभोक्ता की आय कपडे के रूप में OA" तथा गल्ले के रूप में OB" होगी तो P" सस्थिति बिन्दु हो जाता है। आय के कपडे के रूप OA''' तथा गल्ले के रूप में OB''' होने से सस्थिति विन्दु P''' होगा। यदि हम चाहे तो इसी प्रकार के और बहुत से तटस्थ वक्र बनाकर अनेक सस्थिति विन्दु प्राप्त कर सकते हैं। यदि P, P', P", P''' मिला दें तथा उसको आगे किसी विन्दु Q तक बढा दें तो P–P'–P"–P'''–Q रेखा प्राप्त होगी। इस रेखा को आय-उपभोग वक्र (Income-Consumption curve) कहा जायेगा। यह रेखा समस्त आय-स्तरो के सस्थिति विन्दुओ को दिखाती है। यह रेखा हमको दिखाती है कि यदि दो चीजों की कीमतें स्थिर रखें जसा कि हमने मान लिया है, तो आय के परिवर्तन के फलस्वरूप दोनो चीजो के उपभोग पर क्या प्रभाव पडेगा। परन्तु यहा यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह रेखा केवल आय परिवर्तन के प्रभाव को ही दिखाती है।

पृष्ठ १७६ पर दिये चित्र मे हम देखते हैं कि आय-उपभोग वक्र का ढाल (Slope) दाहिने हाथ की ओर ऊर्ध्वग है। साधारणत यह ऐसा ही रहता है। इस प्रकार का ढाल इस बात का सूचक है कि यदि उपभोक्ता की आय बढ जाती है तो वह दोनो चीजो को पहले से अधिक खरीदने लगता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि उपभोक्ता आय बढने के कारण किसी चीज का उपभोग बढाने के बजाय घटा देता है। जिन का उपभोग घटाया जाता है उनको निम्न श्रेणी की वस्तुयें (Inferior goods) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति की आय
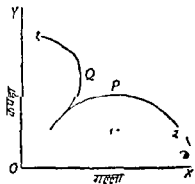
१०० रु० मासिक से बढ कर ४०० रु० मासिक हो जाय तो वह व्यक्ति अनाज का उपभोग कम कर देगा तथा उसके स्थान पर दूध, फल आदि के उपभोग को बढा देगा। जब आय बढने के कारण किसी निम्न श्रेणी की वस्तु का उपभोग कम हो जाता है तो आय उपभोग वक्र का रूप बदल जाता है। इसको पृष्ठ १७७ पर दिये गय चित्र म दिखाया गया है।

पिछले पृष्ठ पर दिये चित्र मे यदि आय-उपभोग वक्र न० १ है तो गल्ला निम्न श्रेणी की वस्तु है परन्तु यदि आय-उपभोग वक्र न० २ है तो कपडा निम्न श्रेणी की वस्तु है। यदि आय-उपभोग वक्र की ढाल दाये हाथ की ओर ऊर्ध्वग है तो आय का प्रभाव कपडे तथा गल्ले, दोनो के लिये धनात्मक (Positive) कहा जायगा। परन्तु यदि वक्र पीछे की ओर अथवा नीचे की ओर ढलता है तो हम यह कह सकते है कि एक बिन्दु पर पहुँचने के पश्चात् आय का प्रभाव एक वस्तु के लिये ऋणात्मक (Negative) हो जाता है। पृष्ठ १७७ पर दिये गये चित्र मे कपडे के लिये आय प्रभाव P बिन्दु के बाद ऋणात्मक हो जाता है। इसी प्रकार गल्ले के लिये Q बिन्दु के पश्चात् यह प्रभाव ऋणात्मक हो जाता है।

स्थानापन्न प्रभाव
(Substitution effect)

जब कभी किसी वस्तु की कीमत बाजार मे घट या बढ जाती है और उसके साथ साथ उपभोक्ता की आय भी इतनी घट या बढ जाती है कि उपभोक्ता न पहले से खराब स्थिति मे होता है न अच्छी स्थिति मे तो इस प्रकार के परिवर्तन को स्थानापन्न प्रभाव कहते हैं। जब किसी चीज की कीमत बाजार म गिरेगी तो उपभोक्ता पहले वाला धन खर्च करके पहले से अधिक चीज खरीद सकेगा। इस प्रकार यदि उसकी आय न घटे तो चीज की कीमत गिरने के कारण पहले से अच्छी स्थिति मे आ जायेगा। परन्तु यदि कीमत गिरने के साथ साथ उपभोक्ता की आय भी इतनी गिर जाय कि वह पहले से अच्छी स्थिति मे न रहे तो इसको स्थानापन्न प्रभाव कहग। परन्तु यहा यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी प्रत्येक चीज की खरीद पहले जितनी नही रहेगी। कीमत मे परिवर्तन होने के कारण उपभोक्ता सस्ती चीज को अधिक मात्रा मे खरीदेगा तथा महगी चीज को कम मात्रा म। इस प्रकार चीज की कीमत गिरने तथा साथ साथ आय मे कमी होने के कारण उपभोक्ता पहले वाले
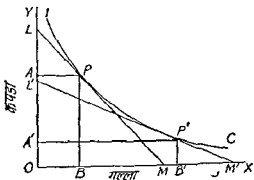
तटस्थ वक्र पर ही रहेगा । हा इतना अवश्य होगा कि उसकी सस्थिति बदल जायगी अर्थात् वह किसी एक चीज को पहले से कम या अधिक मात्रा मे खरीदेगा । इस बात को हम एक तटस्थ वक्र की सहायता से समझा सकते हैं ।

पृष्ठ १७८ पर दिये चित्र मे OX पर गल्ला तथा OY पर कपडा दिखाया गया है । IC तटस्थ-वक्र है । LM कीमत रेखा है । LM रेखा IC वक्र को P पर स्पर्श करती है । इस कारण P बिन्दु सस्थिति बिन्दु है । इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता अपने पास OA कपडा तथा OB गल्ला रखना चाहता है । अब मान लिया कि गल्ले की कीमतें गिर गई तथा उसके साथ-साथ उसकी आय भी कम हो गई जिससे फलस्वरूप नई कीमत-रेखा L'M' हो गई । यह रेखा IC तटस्थ वक्र को P' बिन्दु पर स्पर्श करती है । इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता की आय गिरने के कारण गल्ले की कीमत गिरने पर भी उसको कोई लाभ नही हुआ । चू कि दूसरी कीमत-रेखा अर्थात् L' M' IC वक्र को P पर स्पर्श करती है इस कारण P नया सस्थिति बिन्दु हुआ । इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता अब OA' कपडा (जो पहले से कम है) तथा OB' गल्ला (जो पहले से अधिक है) खरीदेगा । इस प्रकार P से P' पर आना स्थानापन्न प्रभाव कहलाता है । जैसा हम पहले बता चुके हैं कि इस प्रभाव मे वस्तुओ की कीमत मे ह्रास के फलस्वरूप उपभोक्ता की वास्तविक आय मे जो वृद्धि आती है वह उसकी मौद्रिक आय से भी ह्रास होने के कारण प्रभाव-शून्य हो जाती है ।

कीमत-प्रभाव
(Price-effect)

तटस्थ वक्रो की सहायता से हम यह भी समझ सकते हैं कि किसी उपभोग्य वस्तु की कीमत मे परिवर्तन आने से उपभोक्ता की सस्थिति पर क्या प्रभाव पडता है । यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय तथा अन्य बातें पूर्ववत् रहे तो किसी एक वस्तु की कीमत मे ह्रास का अर्थ होगा उपभोक्ता की वास्तविक आय (Real Income) मे वृद्धि, तथा उसकी कीमत मे वृद्धि का अर्थ होगा उपभोक्ता की वास्तविक आय मे ह्रास । इसलिये कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की सस्थिति मे भी परिवर्तन होगा, वह या तो पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति मे जायगा या पहले से बुरी अवस्था को प्राप्त होगा । कीमत परिवर्तन का प्रभाव वास्तव मे दोहरा होगा, एक तो वास्तविक आय के दृष्टिकोण से उपभोक्ता या तो पहले से अच्छी स्थिति मे आयगा या बुरी, अर्थात्, उसकी गति आय-उपभोग वक्र के सहारे होगी । दूसरा प्रभाव होगा उसकी भिन्न भिन्न वस्तुओ के क्रय की समायोजना के रूप मे । जब अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर किसी एक वस्तु की कीमत मे ह्रास आता है, तो उपभोक्ता उस वस्तु की पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा खरीदेगा । जिन वस्तुओ की कीमतें पूर्ववत् हैं वे इस वस्तु की अपेक्षा महगी कही जा सकती हैं। चूकि सीमान्त उपयोग (तुष्टि) मे असमानता पैदा हो गई है । इसलिए सस्थिति प्राप्त करने के

लिये उपभोक्ता सस्ती वस्तु को अपेक्षाकृत महगी वस्तु (या वस्तुओं) के स्थानापन्न करेगा, और यह तब तक करता जायगा जब तक कि उनके सीमान्त मे समुचित तथा अभीष्ट समायोजना नही हो जाती। इस प्रभाव को हम पूर्णतः जानते हैं, यह स्थानापन्न प्रभाव है। इस प्रभाव का अर्थ होगा कि उपभोक्ता न केवल आय-उपभोग वक्र पर गतिशील होगा अपितु, तटस्थ वक्र के सहारे भी उसकी गति होगी, अर्थात् वह इसके सहारे ऊपर-नीचे जायगा। इन दोनो प्रभावो को सयुक्त-रूपेण तटस्थ वक्र मानचित्र पर जो वक्र दिखाता है उसे हम कीमत-उपभोग वक्र कहते हैं। इस वक्र को हम निम्न चित्र पर दिखाते हैं—
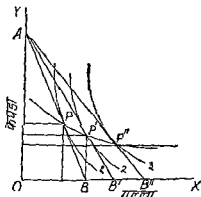
बराबर के चित्र मे OX पर गल्ला तथा OY पर कपडा दिखाया गया है। माना कि उपभोक्ता की आय कपडे के रूप मे प्राप्त होती है तथा वह आय OA के बराबर है। यदि उपभोक्ता OA आय से OB गल्ला खरीदना चाहता है, तो कीमत रेखा AB होगी। यह रेखा तटस्थ वक्र १ को P पर स्पर्श करती है। इस कारण P सस्थिति विन्दु हुआ। अब यदि उपभोक्ता की आय तो OA के बराबर ही रहे परन्तु गल्ले की कीमत गिर जाय तथा उपभोक्ता OB के स्थान पर OB' गल्ला खरीदने लगे तो नयी कीमत रेखा AB' हो जायगी तथा उपभोक्ता तटस्थ वक्र २ पर आ जायगा जो कि पहले तटस्थ वक्र के दायी ओर होने के कारण पहले से अच्छी स्थिति का द्योतक है। यह वक्र कीमत-रेखा AB' को P' बिन्दु पर स्पर्श करता है। इस प्रकार P' नया सस्थिति विन्दु हुआ। गल्ले की कीमत के और अधिक गिरने के कारण P'' एक नया सस्थिति बिन्दु हो जायगा। यदि हम P-P'-P'' बिन्दुओ को मिला कर प्राप्त वक्र को C बिन्दु तक बढा दे तो हमको कीमत-उपभोग वक्र (Price-consumption Curve) प्राप्त हो जायगा। यह वक्र कीमत के प्रभाव को दिखाता है। यह उस मार्ग को दिखाता है, जिस पर कि उपभोक्ता गल्ले की कीमत गिरने से चलेगा बशर्ते कि कपडे की कीमत तथा कपडे के रूप मे उपभोक्ता की आय पूर्ववत् रहे।

यदि उपभोक्ता का तटस्थ मानचित्र तथा इस पर दिखाई गई दो, चीजो की कीमत दी गई हो तो हम उपभोक्ता का आय-उपभोग वक्र तथा कीमत-उपभोग वक्र बना सकते हैं जैसा कि पृष्ठ १८१ पर दिये चित्र मे दिखाया गया है —

पृष्ठ १८१ पर दिये चित्र मे OX पर गल्ला व OY पर कपडा दिखाया गया है तथा व्यक्ति की आय कपडे के रूप मे OA है। AB कीमत-रेखा है। यह कीमत-रेखा तटस्थ वक्र १ को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। P सस्थिति बिन्दु है। तटस्थ वक्र २

(जो कि पहले वक्र की दायीं ओर है), पर एक दूसरा बिन्दु है जो कि पहले से अच्छी स्थिति को दिखाता है। P-Q बिन्दुओं से होकर खींची गई रेखा ICC आय-उपभोग वक्र है। P बिन्दु से होकर PCC कीमत-उपभोग वक्र खींचा गया गया है। यह वक्र तटस्थ वक्र २ को R बिन्दु पर काटता है, जो कि P बिन्दु से नीचे है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता अब पहले की अपेक्षा कपड़ा कम मात्रा में खरीदेगा तथा गल्ला अधिक मात्रा में। P बिन्दु से होकर PCC' दूसरा कीमत-उपभोग वक्र खींचा गया है जो कि पहले वक्र से विपरीत स्थिति को दिखाता है, अर्थात् यह

वक्र दिखाता है कि कपड़े की कीमत कम हो गई है तथा उपभोक्ता कपड़ा अधिक तथा गल्ला कम खरीदेगा। स्पष्ट है कि इस दूसरी अवस्था में उपभोक्ता की आय को गल्ले के रूप में लिया गया है तथा उसे स्थिर मान लिया गया है।

ऊपर के चित्र को देखने से पता चलता है कि कीमत-उपभोग वक्र, आय-उपभोग वक्र तथा प्रारम्भिक तटस्थ वक्र १ के बीच में है। चाहे उपभोक्ता कोई भी हो परन्तु, इस स्थिति में कोई परिवर्तन न होगा। इसका कारण यह है कि कीमत-उपभोग वक्र कीमत रेखाओं तथा सगत तटस्थ वक्रों के (क्रमिक) पारस्परिक स्पर्शक बिन्दुओं को दिखाने वाले होते हैं, जबकि आय-उपभोग वक्र उन्हीं तटस्थ वक्रों तथा समान ढाल वाली क्रमिक कीमत रेखाओं के पारस्परिक स्पर्शक बिन्दुओं को प्रकट करता है।

ऊपर दिये चित्र को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमको पता चलेगा कि जब गल्ले की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता गल्ले की खरीद अधिक तथा कपड़े की खरीद अपेक्षतया कम कर देता है। इस प्रकार वह P बिन्दु से R बिन्दु पर आ जाता है अर्थात् वह OL मात्रा के बदले OL'' खरीदने लगता है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि उपभोक्ता जब OL मात्रा के बदले OL'' मात्रा खरीदने लगता है तो वह एकदम इस स्थिति में नहीं आ जाता। पहले वह P बिन्दु से Q बिन्दु पर जाता है अर्थात् गल्ले की कीमत गिरने के कारण उसकी वास्तविक आय बढ़ जाती है, जिसके कारण वह पहले से दायें हाथ की ओर के तटस्थ वक्र पर स्थित बिन्दु Q पर आ जाता है। इसके फलस्वरूप वह OL गेहूँ की मात्रा खरीदने की अपेक्षा OL' मात्रा खरीदने की स्थिति में आ जाता है। यह कीमत गिरने का आय-प्रभाव हुआ। इसके पश्चात् उपभोक्ता Q बिन्दु से R बिन्दु पर जायगा जो कि एक ही तटस्थ वक्र २ पर स्थित है। हम पहले बता

व्यक्ति गल्ले की कीमत गिरने पर गल्ले की खरीद पहले से कम कर देगा तथा दूसरी चीजों की खरीद बढ़ा देगा। ऐसी स्थिति में आय प्रभाव इतना अधिक ऋणात्मक हो जायेगा कि वह धनात्मक स्थानापन्न प्रभाव को भी शून्य प्राय बना देगा। अन्त में वास्तविक प्रभाव यह होगा कि धनात्मक स्थानापन्न प्रभाव के बवजूद भी वह चीज जिसकी कीमत गिरी है पहले से कम खरीदी जायेगी। इसको ऊपर दिये गये चित्र द्वारा दिखाया गया है।

ऊपर के चित्र मे जब उपभोक्ता OL गल्ला खरीदता है तब वह साधारण स्थिति मे होता है। अब मान लिया कि गल्ले की कीमत गिर गई है। इसके कारण उपभोक्ता तटस्थ वक्र १ से वक्र २ पर आ जायगा। गल्ले की कीमत गिरने का आय प्रभाव ऋणात्मक है, इस कारण उपभोक्ता OL के स्थान पर OL' गल्ला खरीदेगा। इस प्रकार ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण उपभोक्ता L'—L गल्ला कम खरीदेगा। परन्तु कीमत गिरने का स्थानापन्न प्रभाव यह होता है कि उपभोक्ता Q बिन्दु से हटकर R बिन्दु पर आ जाता है तथा उपभोक्ता OL गल्ले के बदले OL" गल्ला खरीदने लगता है। इस प्रकार गल्ले की कीमत गिरने का वास्तविक आय प्रभाव इतना अधिक ऋणात्मक होता है कि उपभोक्ता पहले की अपेक्षा L—L" गल्ला कम खरीदता है। यदि स्थानापन्न-प्रभाव न होता तो ऋणात्मक आय प्रभाव गल्ले की क्रीत मात्रा को घटाकर OL' के बराबर कर देता, यदि केवल स्थानापन्न प्रभाव ही कार्य करता (और ऋणात्मक आय-प्रभाव न होता) तो क्रीत मात्रा मे L L" के बराबर वृद्धि होती।

तटस्थ वक्र तथा उपभोक्ता का माग वक्र—

हमने देखा कि माग वक्र सीधे हाथ की ओर झुकता है। यदि हम ग्राफ के क्षैतिज अक्ष पर वस्तु की मात्रा दिखायें व ऊर्ध्वर्ग अक्ष पर वस्तु की कीमत दिखाय तो हमको माग वक्र प्राप्त हो जायगा। बहुत से लोगो का मत है कि तटस्थ वक्रो मे कीमत उपभोग वक्र, माग वक्र जैसा ही होता है। कीमत उपभोग वक्र हमको यह दिखाता है कि किसी वस्तु की कीमत गिरने या बढ़ने के कारण उसके उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ता है। माग वक्र भी हमको प्राय यही सूचना देता है। परन्तु दोनो वक्रो मे थोड़ा अन्तर होता है। कीमत-उपभोग वक्र बनाते समय हम दो चीजो को काम मे लाते है जैसा कि हमने पिछले पृष्ठो मे कपड़ा व गल्ले से उनको बनाते

रहे हैं। उनमे से हम एक चीज को मुद्रा भी मान सकते हैं। इसके विपरीत, साधारण माग वक्र को हम वस्तु की भिन्न भिन्न मात्राओ व उनकी सगत भिन्न-भिन्न कीमतो की सहायता से बनाते है। इन दोनो मे दूसरा अन्तर यह है कि जहा कीमत को रुपये, नये पैसे के रूप मे न बताकर, कीमत रेखा के द्वारा, दोनो वस्तुओ की कीमतो के बीच की निष्पत्ति को बताता है वहा साधारण माग वक्र मे वस्तु की कीमत रुपये, नये पैसे मे व्यक्त की जाती है। इस कारण इस माग वक्र से हम इस बात को ज्ञात कर सकते हैं कि किसी कीमत पर वस्तु की कितनी मात्रा खरीदी जायगी अथवा यदि हमे किसी वस्तु की कुछ मात्रा खरीदनी हो तो वह किस कीमत पर खरीदी जा सकती है। इस दृष्टि से साधारण माग वक्र कीमत उपभोग वक्र से अच्छा होता है। इसके विपरीत, कीमत उपभोग वक्र के द्वारा हम किसी वस्तु की कीमत गिरने के आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव को जान सकते है परन्तु साधारण माग वक्र के द्वारा यह सब नही जान सकते। इस दृष्टि से कीमत उपभोग वक्र साधारण माग वक्र से अच्छा कहा जा सकता है। साधारण माग वक्र, कीमत उपभोग वक्र से एक अन्य दृष्टि से भी अच्छा कहा जा सकता है। साधारण माग वक्र पर पूर्ति वक्र को बनाकर हम किसी चीज की कीमत का पता लगा सकते हैं परन्तु कीमत उपभोग वक्र के द्वारा हम किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण नही कर सकते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कीमत उपभोग वक्र यद्यपि साधारण माग वक्र के समान ही वस्तु की कीमत मे परिवर्तन तथा उसकी माग मे परिवर्तन के सम्बन्ध को बता सकता है, परन्तु यह उसको रुपये नये पैसे की इकाइयो मे नही बता सकता। इस कारण साधारण आदमी के लिये इस सम्बन्ध को समझना कठिन है। बहुत से अवसरो पर तो वह काम मे भी लाया जा सकता। कीमत वक्र की सहायता से हम माग वक्र बना सकते हैं—

अब हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि कीमत उपभोग वक्र से एक साधारण माग वक्र कैसे बनाया जा सकता है।

आगे के चित्र मे OX पर वस्तु तथा OY पर मुद्रा द्रव्य दिखाई गई है। KE, KE', KM" तथा KE''' कीमत रेखायें है, जिनको न० १, २, ३ तथा ४ तटस्थ वक्र क्रमश A, B, C तथा D बिन्दु पर स्पर्श करते हैं। इस प्रकार A, B, C, D बिन्दु विभिन्न कीमतो पर सस्थिति बिन्दु हुए। इसका अर्थ यह हुआ कि जब उपभोक्ता KE कीमत पर रेखा है तो वह OA' वस्तु खरीदता है। जब वह KE' कीमत रेखा पर है तो वह OB' वस्तु खरीदता है। जब वह KE" कीमत रेखा पर है तो वह OC' वस्तु खरीदता है तथा जब वह KE'' कीमत रेखा पर है तो वह OD' वस्तु खरीदता है। यदि हम K, A, B, तथा D बिन्दुओं को आपस मे मिला दें तो हमको PCC कीमत उपभोग वक्र प्राप्त हो जायगा। उपभोक्ता जब OA' वस्तु की मात्रा खरीदता है तब वह उसके लिये KL मुद्रा मात्रा देने को तैयार है। इस

नोट — कीमत रेखा KE तथा तटस्थ वक्र ३ के C बिन्दु से डाला हुआ लम्ब CC सयोग से एक ही बिन्दु पर मिल रहे।

कारण वस्तु की प्रति इकाई कीमत $\frac{KL}{OA}$ हुई। इसी प्रकार OB मात्रा खरीदने पर वस्तु की प्रति इकाई कीमत $\frac{KM}{OB}$ होगी। इसी प्रकार OC तथा OD' मात्रायें खरीदने पर वस्तु की प्रति इकाई कीमत क्रमश: $\frac{KN}{OC}$ तथा $\frac{KR}{OD}$ होगी। ये कीमतें क्रमश: $\frac{OK}{OE}$, $\frac{OK}{OE'}$, $\frac{OK}{OE''}$ तथा $\frac{OK}{OE'''}$ के बराबर होगी अर्थात् $\frac{KL}{OA}=\frac{OK}{OE}$ $\frac{KM}{OB}=\frac{OK}{OE'}$, $\frac{KN}{OC}=\frac{OK}{OE''}$ तथा $\frac{KR}{OD}=\frac{OK}{OE'''}$। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता की आय OK है तथा जब वह अपनी सारी आय से OE वस्तु की मात्रा खरीद सकता है जो कि KE कीमत रेखा द्वारा बताई जाती है तो वस्तु की प्रति इकाई कीमत $\frac{OK}{OE}$ होगी। KE कीमत रेखा पर कोई भी बिन्दु लेकर (हमने A बिन्दु लिया है। यदि हम OX तथा OY रेखाओं पर लम्ब डालें तो हमको इस बात का ज्ञान हो जायगा कि उपभोक्ता वस्तु की कितनी मात्रा खरीदना चाहता है तथा वह उसके लिये कितना धन देने को तैयार है। जब हम A बिन्दु से OX पर AA लम्ब डालते हैं तो हमको पता लगता है कि उपभोक्ता OA मात्रा खरीदना चाहता है तथा OY पर AL लम्ब डालने से पता चलता है कि उपभोक्ता OA मात्रा के लिये KL धन खर्च करने को तैयार है। इस प्रकार यदि KL को OA मात्रा से भाग दें तो हमको जो कीमत मिलेगी वह वही होगी जो कि OK

को OE से भाग देने से प्राप्त होती है। इसीलिये हमने $\frac{KL}{OA'}=\frac{OK}{OE}$ तथा $\frac{KM}{OB}=\frac{OY}{OE'}$ आदि कहा है।

अभी तक हमने यह बताया है कि OA' वस्तु कि कीमत KL है, OB' की KM, OC की KN तथा OD' की KR हैं परन्तु हम यह पता नहीं है कि वस्तु की एक इकाई की कीमत कितनी है। यदि हमको विभिन्न कीमतों पर वस्तु का खरीदी जाने वाली विभिन्न मात्राओं का पता चल जाय तो उसकी सहायता से हम एक माग वक्र तैयार कर सकते हैं। इसका पता लगाना कोई कठिन बात नहीं है। ऐसा करने के लिये हम A' की दायीं ओर X, B' की दायीं ओर X', C' की दायीं ओर X'' तथा D' की दायीं ओर X''' बिन्दु लेते हैं तथा A'X, B X', C X'' तथा D'X''' फासले को वस्तु की एक इकाई मानते हैं। इसके पश्चात् हम X, X', X'' तथा X''' बिन्दुओं से क्रमशः KE के समानान्तर XP, KE' के समानान्तर X'P', KE'' के समानान्तर X''P'' तथा KE''' के समानान्तर X''' P''' खींचते हैं समानान्तर रेखाओं के ढाल समान होते हैं, इसलिये KE का ढाल $\frac{OK}{OE}$=XP के ढाल $\frac{A'P}{A'X}$ आदि। हम यह जानते हैं कि जब वस्तु की कीमत $\frac{OK}{OE}$ है ($\frac{OK}{OE}$=KE के ढाल के, वस्तु की कीमत बराबर होती है कीमत रेखा के ढाल के) तो उपभोक्ता वस्तु की OA' मात्रा खरीदता है। A'X को हमने वस्तु एक अतिरिक्त इकाई माना है, अत A'X की कीमत=$\frac{OK}{OE}$(अर्थात् KE के ढाल के) $\frac{A'P}{A'X}$ लेकिन हमने A'X को वस्तु मात्रा की इकाई माना है, इसलिये A'X की कीमत=$\frac{A'P}{१ \text{ इकाई}}$=A'P।

इस प्रकार A'P= $\frac{OK}{OE'}$, B' P'= $\frac{OK}{OE}$, C'P''=$\frac{OK}{OE''}$ तथा D'P'''=$\frac{OK}{OE'''}$ होंगे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जब उपभोक्ता OA' मात्रा से अधिक एक और इकाई खरीदना चाहता है तो उसको A'P कीमत देनी पड़ेगी। इस प्रकार P उपभोक्ता के माग वक्र का एक बिन्दु कहा जा सकता है। जब उपभोक्ता OB' मात्रा से एक अधिक इकाई खरीदना चाहता है तो उसको B' P' कीमत देनी पड़ेगी। इस प्रकार P उपभोक्ता के माग वक्र का दूसरा बिन्दु हुआ। इसी प्रकार हम P'' तथा P''' आदि बिन्दु भी प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम P, P, P'' तथा P''' बिन्दुओं को मिलाकर बायीं ओर D बिन्दु तथा दायीं ओर D' तक बढा दें तो हमको उपभोक्ता का वक्र प्राप्त हो जायगा। इस वक्र को देखने से पता चलेगा कि यह दायें हाथ की ओर नीचे झुकता है क्योंकि तटस्थ वक्र मानचित्र जिसके आधार पर यह माग वक्र बनाया गया है उसमें आय प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव दोनों धनात्मक हैं। परन्तु हमने देखा है कि कुछ हालतें ऐसी होती हैं जबकि आय प्रभाव

ऋणात्मक हो सकता है। ऐसा तब हो सकता है जबकि कोई वस्तु 'गिफिन वस्तु होती है। ऐसा नीचे के चित्र मे दिखाया गया है।

इस चित्र को देखने से यह पता चलता है कि पहले माग वक्र साधारण रूप से दाय हाथ की ओर नीचे का झुकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कीमत घटन का आय प्रभाव धनात्मक है। कुछ समय तक प्राय सभी चीजो के लिये कीमत घटने का आय प्रभाव धनात्मक ही होता है क्योकि प्रारम्भ म जब कीमत अधिक होती है तब आदमी उस पर बहुत कम धन खर्च करता है। इस कारण यदि आय-प्रभाव थोडा ऋणात्मक भी होता है तो भी वह स्थानापन्न प्रभाव के कारण नष्ट हो जाता है और उपभोक्ता कीमत गिरने पर अधिक चीजे खरीदता है। परन्तु बराबर वाले चित्र म जब कीमत OP तक गिर जाती है तब आय प्रभाव ऋणात्मक हो जाता है तथा अब वह शक्तिशाली भी हो जाता है जिसस वह स्थानापन्न प्रभाव को बिल्कुल नष्ट कर देता है। इस कारण माग वक्र बाये हाथ की ओर को नीचे झुकने लगता है अर्थात् कीमत और गिरने से क्रमश वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा पहले की अपेक्षा कम होती जाती है। यह उस समय तक झुकता रहता है जब तक कि कीमत गिर कर OP' तक नही आ जाती। OP' तक कीमत गिरने पर माग वक्र फिर दायी ओर नीचे को झुकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थानापन्न प्रभाव, आय प्रभाव म फिर अधिक शक्तिशाली हो गया। 'गिफिन-वस्तुओ' के साथ प्राय ऐसा ही होता है कि उनका माग वक्र पहले दाय हाथ की ओर, फिर बाय हाथ की ओर तथा अन्त म फिर दायें हाथ की ओर नीचे को झुकता है।
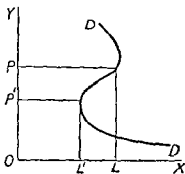
इस प्रकार हम कह सकते है कि व्यक्ति का माग वक्र साधारणत दाय हाथ की ओर नीचे झुकता है क्योकि कीमत गिरने का आय प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव दोनो धनात्मक होते हैं। यदि कभी आय प्रभाव ऋणात्मक भी हुआ तो भी धनात्मक स्थानापन्न प्रभाव के प्राबल्य के कारण माग वक्र दायी ओर ही झुकता है। परन्तु जब आय प्रभाव इतना अधिक ऋणात्मक हो जाता है कि वह धनात्मक स्थानापन्न प्रभाव को भी नष्ट कर देता है तब माग वक्र दायी ओर झुकने के बजाय बाय हाथ की ओर झुकने लगता है परन्तु ऐसा बहुत कम हालतो मे होता है। माग वक्र साधारणत दाय हाथ की ओर झुकते हैं।

अभी तक हमने व्यक्ति के माग वक्र की शक्ल के विषय म चर्चा की है। अब हम बाजार क माग वक्र की शक्ल पर विचार करेंगे।

बाजार में बहुत से उपभोक्ता होते हैं। उन सबकी अलग-अलग मागो के मिलकर बाजार की माग बनती है। हम बता चुके हैं कि साधारणत माग वक्र दायें हाथ की ओर नीचे को झुकता है अर्थात् कीमत के गिरने मे वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाती है चाहे उपभोक्ताओं की सख्या न भी बढे। परन्तु ऐसा साधारणत कम होता है कि खरीदारो की सख्या न बढे क्योंकि बाजार मे बहुत से खरीदार ऐसे होते हैं जो कि अधिक कीमत पर वस्तु को नहीं खरीद सकते लेकिन कम कीमत पर वे वस्तु को खरीद सकते हैं। कीमत गिरने से ऐसे लोग भी वस्तु की माग करने लगेंगे जिससे कि बाजार की कुल माग (कीमत गिरने से) बढ जायेगी। वे वस्तुयें, जिनको हम गिफिन वस्तुयें कह कर पुकारते हैं, इस बात की अपवाद नहीं हैं क्योंकि जो वस्तुये समाज के एक वर्ग के लिये निम्न श्रेणी की होती हैं वही दूसरे वर्ग के लिये उच्च श्रेणी की हो सकती हैं। इस कारण ऐसी वस्तुओं की कीमत गिरने पर भी वस्तु की कुल माग कम नहीं होगी। इस कारण हम यह कह सकते हैं कि बाजार माग वक्र साधारण दायी तरफ नीचे को झुकते हैं।

तटस्थ मांग वक्र विश्लेषण की आलोचनायें—

प्रो० बाल्डिग ने अपनी पुस्तक 'A Reconstruction of Economics'* में तटस्थ माग वक्र विश्लेषण के विरुद्ध बहुत सी आलोचनायें की है। उनका कहना है तटस्थ वक्रो के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि वे बहुत अधिक कहते हैं तथा दूसरी आपत्ति यह है कि वे बहुत कम कहते हैं। वे अधिक तो इसलिये कहते हैं कि भावी अभिरुचि के सारे क्षेत्र को दर्शन के लिये वे उससे भी अधिक कहते हुये प्रतीत होते हैं जो कि मस्तिष्क में होता है हमारी अधिमानता का क्षेत्र सीमित है असीमित क्षेत्र तथा दशाओं मे हमारी अधिमानता कार्य करती हुई नहीं मानी जा सकती। कदाचित् हम यह कह कर इस आपत्ति को टाल सकते हैं कि हमारे लिये व्यक्ति की वास्तविक स्थिति के इर्द गिर्द का अधिमानता-फलन (Preference function) भाग ही काम का है, फिर भी बहुधा यह उप-धारणा करके नतीजे निकाले जाते हैं कि अभिरुचि की एक स्थायी पद्धति है जिसके अन्दर कि सब प्रकार के भावी तजुर्बे सम्मिलित होते हैं।

यदि अभिरुचि मे कोई परिवर्तन होता है तो उसको सारे अभिरुचि कार्य के एक पेचीदा परिवर्तन के द्वारा ही दिखाया जा सकता है परन्तु अभिरुचि फलन अथवा तटस्थ वक्र पद्धति में से हम ऐसा सीधा सादा पैमाना नहीं निकाल सकते जो कि अभिरुचि मे मामूली परिवर्तन को दिखा सके। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति वस्तु की अपेक्षा मुद्रा को अधिक पसद करने लगता है तो तटस्थ वक्र के रूप में यह बात कहनी यदि असभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि मुद्रा के लिये कितनी मात्रा में अभिरुचि मे परिवर्तन हुआ है क्योंकि अभिरुचि के परिवर्तन में सहायता देने वाली

*K.E. Boulding—A Reconstruction of Economics —P. 81.

कोइ निश्चित स्थिरगणित राशि नही होती वरन् इसम सहायता देने वाले बहुत प्रकार के कार्य-कारण सम्बन्ध होते हैं। इस तर्क के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस बात का पता कि अधिमानता मे कितना परिवर्तन हुआ है, तटस्थ वक्र के ढाल अथवा स्थानापन्न की सीमान्त दर से चला सकते है। परन्तु सीमान्त स्थानापन्न दर इस क्षेत्र के विभिन्न बिन्दुओ पर अलग-अलग होती है। तटस्थ वक्रो का कदाचित् उस समय तक स्थिर ढाल नही होता जब तक कि उपभोक्ता के मस्तिष्क मे एक वस्तु पूर्ण रूप से दूसरी वस्तु की स्थानापन्न नही होती। परन्तु बहुधा ऐसा नही होता इसलिये अभिरुचि मे परिवर्तन के कारण हर बिन्दु पर सीमान्त स्थानापन्न दर मे एक स्थायी आनुपातिक परिवर्तन नही होता।

तटस्थ-वक्र विश्लेषण के विरुद्ध एक और भी आपत्ति की गई है, और वह यह कि इसमे यह उप-धारणा की जाती है कि अभिरुचि पद्धति सुअवसर फलन (opportunity function) तथा विशेषत वस्तुओ की कीमतो के सम्बन्ध मे निश्चल रहती है। इस प्रकार की निश्चलता कुछ समय तक तो स्वीकार की जा सकती परन्तु इसको सदा स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये, कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिनके प्रति अभिरुचि उनकी कीमत पर निर्भर होती है जैसे हीरा। इस दशा मे जितनी ही अधिक कीमत होती है उतनी ही अधिक चीज पसन्द की जाती है परन्तु साधारणत ऐसा नही होता। साधारणत वस्तु की कीमत गिरने से उसकी माग बढती है।

तटस्थ वक्रो के कुछ व्यावहारिक प्रयोग

तटस्थ वक्र विश्लेषण का प्रयोग अर्थशास्त्री पर्याप्त रूपण मे करने लगे हैं। यहा पर हम बतायगे कि तटस्थ वक्रो के द्वारा किस प्रकार बहुत सी बातें समझाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिये हम सब से पहले यह दिखायेंगे कि सरकार को वस्तुओ के उत्पादन अथवा विक्रय पर कर लगा कर आय प्राप्त करनी चाहिये या आय कर लगा कर। अर्थात् किस प्रकार का कर सरकार को अधिकतम आय देने के साथ-साथ जनता पर कम से कम भार डालेगा।
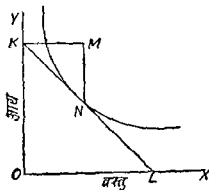
बराबर के चित्र म OX पर वस्तु तथा OY पर आय दिखाई गई है। KL कीमत रेखा है। इस रेखा को तटस्थ वक्र N बिन्दु पर स्पर्श करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि N सस्थिति बिन्दु है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता MN धन खर्च करके KM वस्तु का उपभोग कर सकता है।

अब हम यह मानते हैं कि वस्तु पर कर लगा दिया गया जिसके कारण वस्तु

की कीमत कर की मात्रा के बराबर बढ़ गई। इसलिये उपभोक्ता पहले से नीचे तटस्थ वक्र पर आ जायगा तथा वह पहले से कम मात्रा में वस्तु का उपभोग कर सकेगा जैसा कि बराबर के चित्र में दिखाया गया है।
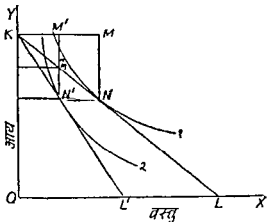
ऊपर के चित्र में कर लगने से पूर्व व्यक्ति की आय OK थी तथा उसमें वह OL वस्तु खरीद सकता था। इस कारण KL कीमत रेखा थी। कीमत रेखा तटस्थ वक्र न० १ को N बिन्दु पर स्पर्श करती है। इसलिये N बिन्दु सम्स्थिति बिन्दु हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति M N धन खर्च करके KM वस्तु खरीदना चाहता है। अब मान लिया कि सरकार ने वस्तु के ऊपर कर लगा दिया तथा वस्तु की कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ़ गई। इस कर के फलस्वरूप वह व्यक्ति न० २ तटस्थ वक्र पर आ जायगा। जैसा चित्र में विदित है यह वक्र नयी कीमत रेखा KL' को N' बिन्दु पर स्पर्श करता है। इस कारण N' नया सस्थिति बिन्दु हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता अब M'N' मात्रा धन खर्च करके केवल KM वस्तु की मात्रा खरीद सकता है। KM' वस्तु को खरीदने के लिये उसको पहले केवल M'M'' धन खर्च करना पड़ता, परन्तु कर लगने के कारण उसको M'N' धन खर्च करना पड़ता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वस्तु की कीमत M''N' के बराबर बढ़ गई, परन्तु हम पहले ही मान चुके हैं कि वस्तु की कीमत उतनी ही बढ़ी है जितना कि कर लगा है। इसलिये हम कह सकते हैं कि सरकार को कर के रूप में M'N' धन मिलेगा जो कि पहली कीमत रेखा KL तथा दूसरी कीमत रेखा KL' के बीच की दूरी के बराबर है।

अब यदि हम यह मानें कि सरकार वस्तु के ऊपर कर न लगाकर उसको सीधे उपभोक्ता से वसूल करती है तो इस हालत में उपभोक्ता की आय में कर की मात्रा के बराबर कमी आ जायगी। इसलिये, उपभोक्ता पहले से नीचे तटस्थ वक्र पर आ जायगा। लेकिन चूंकि वस्तु की कीमत पहले जितनी ही रहती है इसलिये नयी कीमत रेखा पहली के समानान्तर होगी। पृष्ठ १६२ पर दिये गये चित्र से पता चल सकता है कि यदि कर वस्तु पर न लगाकर उपभोक्ता से आय-कर के रूप में वसूल किया जाय तो उपभोक्ता किस स्थिति में रहेगा।

दिये हुये के चित्र मे OX पर वस्तु तथा OY पर आय दिखाई गई है। कर लगने से पूर्व उपभोक्ता न० १ तटस्थ वक्र पर था, जिसके फलस्वरूप वह MN आय खर्च करके KM वस्तु की मात्रा खरीद सकता था। कर लगने के कारण उपभोक्ता की आय घट जाती है। इस कारण वह पहले से नीचे तटस्थ वक्र न० २ पर आ जाता है, परन्तु चूंकि वस्तु पर कोई कर नही लगा है इसलिये उसकी कीमत पहले जितनी ही रहेगी। अर्थात् K' L' कीमत रेखा K L कीमत रेखा के समानान्तर होगी।* न० २ तटस्थ वक्र कीमत रेखा K' L' को N' बिन्दु पर स्पर्श करता है। इसलिये

N' बिन्दु नया सस्थिति बिन्दु हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता M' N' आय खर्च करके K M' वस्तु खरीद सकता है, परन्तु यदि कर वस्तु पर लगाया जाय तो उपभोक्ता इससे भी नीचे तटस्थ वक्र न० ३ पर होगा अर्थात् पहले से बुरी अवस्था मे होगा। इससे यह बात सिद्ध हुई कि सरकार को वस्तु पर कर लगाने के बदले व्यक्ति की आय पर कर लगाना चाहिये। ऐसा करने से उपभोक्ता को अधिक तुष्टि प्राप्त होगी।
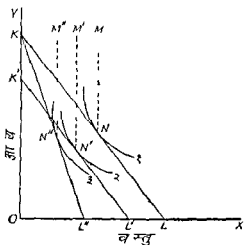
तटस्थ वक्रो की सहायता से हम यह भी दिखा सकते है कि आय कर लगाने का व्यक्ति की कार्य करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसको हम नीचे के चित्रो द्वारा दिखा सकते हैं।

पृष्ठ १८३ पर चित्र न० १ तथा २ दिए गए हैं। इनमे OX पर कार्य अथवा आराम तथा OY पर आय (मजदूरी) दिखाई गई है। इन चित्रो मे हम मानकर चले है कि मजदूर के पास २४ घण्टे है जो कि OL के बराबर है। मजदूर के सामने यह समस्या रहती है कि इन २४ घण्टो मे से वह कितने समय काम करे तथा कितने घण्टे आराम करे। हमने यह भी माना है कि मजदूर का २४ घण्टे काम करके अधिक से अधिक मजदूरी OK के बराबर मिल सकती है। यदि हम KL को मिला दें

* स्मरण रहे कि वस्तु की कीमत बराबर होती है कीमत रेखा के ढाल को उपर्युक्त दोनो हालतो मे कीमतें तभी बराबर होंगी जब दोनो की कीमत रेखाओ का ढाल समान हो और यह तभी सम्भव है जब दोनो कीमत रेखायें एक दूसरे की समानान्तर हों।
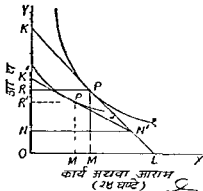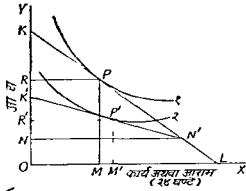
चित्र न० १ चित्र न० २

तो हमको मजदूरी रेखा प्राप्त हो जायगी। इस रेखा पर कोई भी बिन्दु लेन से हम इस बात का ज्ञान कर सकते हैं कि मजदूर कितना काम करके कितनी मजदूरी प्राप्त करना चाहता है। मजदूरी रेखा KL का ढाल हमको यह बताता है कि मजदूरी की दर क्या है। इन चित्रों में से चित्र न० १ में KL अपेक्षाकृत अधिक ढालू है जो इस बात की सूचक है कि मजदूरी की दर अधिक है तथा चित्र न० २ में KL कम ढालू है जो कि इस बात की सूचक है कि मजदूरी की दर कम है।

इन चित्रों के देखने से पता चलता है कि KL मजदूरी रेखा साधारण स्थिति की द्योतक है अर्थात् उस स्थिति की जब कि मजदूर को कोई कर नहीं देना पड़ता। ऐसी स्थिति में मजदूर का साम्यस्थिति बिन्दु P है, क्योंकि यह ऐसा बिन्दु है जहाँ पर कि तटस्थ वक्र न० १ मजदूरी रेखा KL को स्पर्श करती है। ऐसी स्थिति में मजदूर OR आय तथा OM आराम चाहता है। दूसरे शब्दों में, वह ML के बराबर काम करना चाहता है (उसके पास २४ घन्टे हैं जिनको वह काम तथा आराम में बिता सकता है)। कुल २४ घन्टों में से आराम का समय OM निकाल देने से हमको काम का समय ML मालूम हो गया।

अब मान लिया कि सरकार ON के बराबर छूट देकर शेष आय पर आय कर लगाना चाहती है। सरकार के कर लेने से मजदूर के पास अवश्य ही आय कम रह जायगी। ऊपर के चित्रों में हम मानते हैं कि आय-कर देने के पश्चात् OK' ही आय प्राप्त होती है। इनमें से ON छूट देने के कारण हमारा आधार NN' हो जाता है तथा नयी मजदूरी रेखा K'N' हो जाती है। मजदूरी रेखा बदलने से मजदूर की काम करने की इच्छा पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा जिसके कारण वह तटस्थ वक्र न० २ पर आ जायगा। यह वक्र मजदूरी रेखा को P' बिन्दु पर स्पर्श करता है। इस कारण P' नया साम्यस्थिति बिन्दु हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर OR' (ON+NR') मजदूरी तथा OM' आराम चाहता है। दूसरे शब्दों में, मजदूर M'L काम करना चाहता है।

चित्र न० १ मे M' बिन्दु पहले बिन्दु M के बायी ओर है जिसका अर्थ यह है कि मजदूर पहले से कम आराम करना चाहता है तथा पहले से अधिक काम करना चाहता है। पहले जहा वह ML के बराबर काम करना चाहता था अब वह ML+M'M अर्थात् M'L काम करना चाहता है। इसके विपरीत, चित्र न० २ मे मजदूरी रेखा N'K' तटस्थ वक्र न० २ को P' पर स्पर्श करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर OR' मजदूरी तथा OM' आराम चाहता है। इस चित्र मे M' पहले बिन्दु M की दायी ओर है। इस कारण हम कह सकते है कि मजदूर जहा पहले ML काम करता था वहा अब वह MM' कम काम करना चाहता है अर्थात् केवल M'L काम करना चाहता है।

इस प्रकार चित्र न० १ मे मजदूर पहले से अधिक काम करना चाहता है तथा चित्र न० २ मे पहले से कम काम करना चाहता है। पर इसका क्या कारण है? इसका ठीक उत्तर तो हम उस समय तक नही दे सकते जबकि हमको मजदूर का तटस्थ वक्र मानचित्र तथा मजदूरी रेखाओ का बोध न हो। परन्तु साधारणत. हम यह कह सकते हैं कि चू कि पहले चित्र मे मजदूरी की दर अधिक है इस कारण मजदूर का जीवन स्तर ऊँचा है। आय-कर लगने से जब मजदूरी कम होने लगती है तब मजदूर अधिक कार्य करके अधिक मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिससे कि उसका जीवन-स्तर न गिरे। इसके विपरीत, चित्र न० २ मे मजदूरी दर कम है इस कारण कर लगने पर मजदूर पहले से कम काम करता है क्योकि उसको जीवन-स्तर गिरने की कोई परवाह नही है, वह पहले ही गिरी हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तटस्थ वक्र विश्लेषण बहुत सी आर्थिक समस्याओ को सुलझाने के काम मे लाया जा सकता है। हिक्स आदि अर्थशास्त्रियो का दावा है कि यह विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण स अच्छा है। कुछ अर्थों मे तटस्थ वक्र विश्लेषण अच्छा अवश्य है। उदाहरण के लिय यह एक वास्तविक दृष्टिकोण अपनाता है क्योकि इसमे माग का अध्ययन किसी एक वस्तु को ध्यान मे रखकर नही किया जाता वरन् उपभोग की भिन्न भिन्न चीजो को ध्यान मे रख कर किया जाता है। व्यवहार मे जब हम कोई चीज खरीदने जाते है तब हम किसी एक चीज को न खरीद कर दूसरी चीजो को भी ध्यान मे रखते है। यदि हम देखते हैं कि एक वस्तु की कीमत ऊँची है तो हम दूसरी खरीद लेते है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के लिये हमारा कुछ न कुछ अधिमान होता है। तटस्थ वक्र विश्लेषण इस प्रकार के अधिमान को ध्यान मे रखता है, उपयोगिता विश्लेषण इस बात पर ध्यान नहीं देता। दूसरे, उपयोगिता विश्लेषण यह मान कर चलता है कि उपयोगिता को अङ्को के रूप में मापा जा सकता है, परन्तु वास्तव म उपयोगिता का सम्बन्ध मन से होने के कारण हम उसको नही माप सकते। तटस्थ वक्र विश्लेषण अधिमान को अङ्को के रूप मे नही मापता वरन् केवल यह बताता है कि एक वस्तु दूसरी के अपेक्षा अधिक पसन्द की जाती है। कोई वस्तु कितनी मात्रा मे दूसरी से अधिक पसन्द की जाती है,

तटस्थ वक्र विश्लेषण इस बात पर कोई ध्यान नही देता। तीसरे, तटस्थ वक्रो के द्वारा हम वस्तु परिवर्तन के आय प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव को साफ तौर पर दिखा सकते हैं परन्तु उपयोगिता विश्लेषण के द्वारा हम इन प्रभावो को नही जान सकते।

परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखे तो हमको पता चलेगा कि तटस्थ वक्र विश्लेषण पुराने उपयोगिता विश्लेषण का ही एक बदला हुआ रूप है। इसमे 'उपयोगिता, के बदले 'अधिमान' शब्द का प्रयोग किया गया है। अङ्को के बदले इसमे क्रम (अर्थात पहला, दूसरा तीसरा आदि) का प्रयोग किया जाता है। सीमान्त उपयोगिता के स्थान पर स्थानापन्नता की सीमान्त दर का प्रयोग किया गया है। जहा यह कहा जाता था कि उपभोक्ता को किसी वस्तु से अधिकतम उपयोगिता तब प्राप्त होती है जबकि उस वस्तु के प्रत्येक उपयोग से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है। इसके स्थान पर अब हम कहते है कि उपभोक्ता के लिये सस्थिति बिन्दु वह होता है जहा पर कि स्थानापन्नता की दर दो वस्तुओ की कीमतो की निष्पत्ति के बराबर होती है। इस प्रकार तटस्थ वक्र विश्लेषण पुराने उपयोगिता विश्लेषण का ही एक बदला हुआ रूप कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त तटस्थ वक्र विश्लेषण मे यह उपधारणा की जाती है कि उपभोक्ता पूर्ण रूप से अपने अधिमान के विभिन्न जोडो को जानता है तथा यह भी जानता है कि उनका प्रतिस्थापन किस दर पर किया जा सकता है। परन्तु क्या एक साधारण उपभोक्ता इतना सब कुछ जानता है ? और यदि हम कहे कि 'हा' तो हमको यह कहने मे सकोच न होगा कि वह वस्तु से प्राप्त उपयोगिता का अनुमान भी ठीक प्रकार से लगा सकता है। इसके होते हुए भी हमको यह बात अवश्य माननी पडेगी कि यह तटस्थ वक्र विश्लेषण कुछ बातो मे जिनके विषय मे हम पहले ही सकेत कर चुके हैं उपयोगिता विश्लेषण से अच्छा है।

७

मांग की लोच

(Elasticity of Demand)

'लोच' शब्द का अर्थ है 'लचक' कोमलता अथवा लचलचाहट'। हम कहते हैं कि रवड में लोच है अर्थात् हम उसको मरोड सकते है तथा उसको खीच कर बडा कर सकते है परन्तु पत्थर मे लोच नही है क्योकि न तो हम उसको मरोड सकते है और न झुका सकते है। कदाचित् इसी कारण उस व्यक्ति की उपमा पत्थर के दिल वाले से दी जाती है जिसके ऊपर दूसरे लोगो की वात का कोई प्रभाव नहीं होता। अर्थशास्त्र मे जब हम विभिन्न वस्तुओ की माग का अध्ययन करते हैं तब हम को पता चलता है कि कुछ चीजे ऐसी होती है जिनकी माग के ऊपर कीमत के घटने बढने का कोई विशेष प्रभाव नही पडता अर्थात् जब इन चीजो की कीमत बढती है तब भी वे उतनी मात्रा मे ही खरीदी जाती है। तथा जब कीमत गिरती है तब भी उतनी मात्रा मे ही खरीदी जाती है। इस प्रकार की वस्तु का सरल उदाहरण नमक है। इसके विपरीत, कुछ चीजें ऐसी होती है जिनकी मांग कीमत गिरने से बढ जाती है तथा कीमत बढने से कम हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की चीजो की माग मे कोमलता अथवा लचलचाहट है जिसके कारण उनके ऊपर कीमत का प्रभाव पडता है। वे चीजें, जिनकी माग पर कीमत के घटने-बढने का प्रभाव पडता है, पर्याप्त मात्रा मे पाई जाती है। इस प्रकार की चीजो के उदाहरण फल, तरकारी, दूध, चीनी, कपडा आदि है। अर्थशास्त्र मे उन चीजो की माग लोचदार कही जाती है जिनकी माग के ऊपर कीमत के घटने बढने का काफी प्रभाव पडता है। जिन चीजो की माग कीमत के घटने बढने पर भी प्राय समान ही रहती है उनकी माग बेलोच कही जाती है। कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप अभियाचित वस्तु मात्रा मे परिवर्तन की डिग्री ही पर लोच का कम या अधिक होना निर्भर होता है। यदि कीमत मे थोडे से परिवर्तन के फलस्वरूप माग मे अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तन आ जाता है तो लोच अधिक है, यदि यह अपेक्षाकृत कम है तो लोच कम।

प्रो० रुद्र के शब्दों म 'कीमत मे न्यूनतम परिवर्तन होने पर ही माग मे परिवर्तन हो जाने की क्षमता को माग की लोच कहते है।"

डा० वेनंकाम का मत है कि किसी वस्तु की माग की लोच वह गति है जिस पर मॉगी गई वस्तु की मात्रा कीमत के आधार पर बदलती है।

माग की लोच की धारणा को माग वक्र के ढाल के द्वारा भी समझाने का प्रयत्न किया गया। इस दृष्टि से किसी बिन्दु पर माग वक्र का ढाल सम्बन्धित वस्तु की उस कीमत पर माग की लोच का द्योतक होता है।

इन सबका निष्कर्ष यह है कि माग की लोच कीमत के घटने-बढने के फलस्वरूप माग मे आने वाले परिवर्तन की प्रवृत्ति को कहते है।

हम पहले बता आये हैं कि कीमत के घटने-बढने का माग के ऊपर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पडता है कदाचित् ही कोई ऐसी वस्तु होगी जिसकी माग पत्थर के समान कडी होगी अर्थात् जो हर कीमत पर एक-सी मात्रा मे ही मागी जाती रहेगी। साधारणत कीमत के घटने-बढने पर माग बढती घटती अवश्य है। हम ऊपर सकेत कर चुके है कि कुछ चीजे ऐसी होती है जिनकी माग के ऊपर कीमत के परिवर्तन का बहुत कम प्रभाव पडता है। अर्थशास्त्र म ऐसी चीजो की माग बलोच (Inelastic) कही जाती है। इस स्थिति मे यदि कीमत म ५% परिवर्तन होता है तो माग मे ३% परिवर्तन होता है। प्रो० टॉजिग (Taussig) न कहा है कि माग के बेलोच होने का कारण यह हो सकता है कि वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो मे प्राप्त उपयोगिता म बडी तेजी के साथ ह्रास होता है परन्तु इसका प्रमुख कारण यह है कि सब लोगो के साधन समान नही होते। बाजार मे कुछ लोग बहुत मालदार होते है, कुछ साधारण मालदार तथा कुछ गरीब। इसलिए कीमत मे परिवर्तन का प्रभाव इन सब प्रकार के खरीदारो पर सामूहिक रूप से विचार करने पर ही सकता है, बहुत कम पडे। यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि अर्थशास्त्र मे बलोच माग उस अवस्था को नही कहा जाता जब माग पर कीमत के परिवर्तन का कोई प्रभाव ही नही पडता, बल्कि बलोच अवस्था वह है जब माग मे परिवर्तन कीमत के परिवर्तन के अनुपात मे कम होता है। हम ऐसी बहुत सी चीजो के उदाहरण दे सकते हैं। बहुत सी चीजें ऐसी है जिनकी कोई स्थानापन्न नही होती जैसे नमक, दियासलाई आदि। इन चीजो की माग पर कीमत के घटने बढने का कोई विशेष प्रभाव नही पडता क्योकि इनकी कीमत बढने पर हम कोई दूसरी चीज इनके बदले काम मे नही ला सकते। परन्तु कीमत का प्रभाव कुछ न कुछ पडेगा अवश्य। इसका कारण यह है कि कीमत बढने पर हम इन चीजों का उपभोग काफी सोच विचार कर करेंगे और जहा तक सम्भव होगा इनको बर्बाद न होने देंगे। इस प्रकार सोच-विचार कर उपभोग करने से कुल माग कुछ कम अवश्य हो जायगी। नमक आदि चीजो के अतिरिक्त कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं जिनके उपभोग की आवश्यकता न होने पर भी आदत पड जाती है। जैसे, शराब, तम्बाकू, पान आदि। इन सब चीजो की माग पर कीमत के अधिक होने का कोई विशेष प्रभाव नही पडता। यदि कोई व्यक्ति २० सिगरेट रोज पीता है तो कीमत बढने पर वह शायद ही अपने उपभोग को २० से कम करे। वह अन्य चीजो के उपभोग को कम करने का प्रयत्न भले ही करे परन्तु सिगरेट का उपभोग वह उतना ही रखेगा। इसी प्रकार बहुत सी औषधिया ऐसी हैं जिनकी माग

के ऊपर कीमत के घटने-बढ़ने का प्राय कोई प्रभाव नही पड़ता । इसी लिये इनकी माग बेलोच कही जाती है । परन्तु बेलोच माग वाली चीजें कम होती हैं ।

इसके विपरीत, अधिकतर चीजो की माग लोचदार होती है । जब कीमत मे थोडा सा परिवर्तन होने पर माग मे बहुत परिवर्तन हो जाता है तो ऐसी माग को हम लोचदार कहते हैं उदाहरण के लिये यदि कीमत ५% घटती है तथा फलस्वरूप माग १०–१५% बढ जाती है तो माग लोचदार कही जायगी । व्यवहार मे देखते है कि जब किसी चीज की कीमत बढती है तो या तो हम उसका उपभोग करना कम या बिल्कुल बन्द कर देते हैं अथवा प्रयत्न करते है कि उस चीज के बदले कोई दूसरी चीज का उपभोग आरम्भ कर दे । उदाहरण के लिये, यदि गेहूँ की कीमत बढती है तो हम चना, ज्वार, बाजरा, मक्का, चावल आदि का उपभोग आरभ कर देते हैं । इस प्रकार कीमत के बढने पर माँग कम हो जायगी । इसके विपरीत जब उस वस्तु का उपभोग अधिक मात्रा मे होने लगता है । उदाहरण के लिये, यदि आम २–३ रुपये सेर बिकता है तो केवल धनी वर्ग के लोग ही इसे खरीदते हैं । परन्तु यदि इसकी कीमत १ रुपय या १२ आने सेर हो जाय तो उनकी माग कई गुनी बढ जायगी । क्योंकि अब कीमत धनी गरीब सभी की पहुच के भीतर है । इस प्रकार जिन चीजो की माग पर कीमत के थोडे से परिवर्तन का अधिक प्रभाव पडता है उनकी माग लोचदार कही जाती है । परन्तु स्मरण रहे कि लोचदार का अर्थ यह नही है कि किसी दी हुई कीमत पर वस्तु की कोई भी (कम या अधिक) मात्रा खरीदी जा सकती है । इसका अर्थ केवल यही है कि यदि किसी चीज की कीमत मे जरा-सा भी परिवर्तन होता तो है माग म उसके फलस्वरूप बहुत बडा अन्तर पड जाता है ।

माग की लोच के पाच भिन्न-भिन्न स्तर हो सकते हैं ।

(१) पूर्णतया बेलोच (Perfectly Inelastic)—जब किसी चीज की माग की पर कीमत के घटने-बढने का कोई प्रभाव नही पडता तथा वह सदैव समान रहती है तब हम उस चीज की माग को पूर्णतया बेलोचदार कहते हैं । हम ऊपर बता चुके हैं कि ससार म शायद ही कुछ ऐसी चीजें हो जिनकी माग पूर्णतया बलोच हो क्योंकि कीमत के अधिक होने पर माग किसी न किसी मात्रा मे कम अवश्य हो जाती है । परन्तु फिर भी हम बलोच वाली माग की कल्पना कर सकते हैं । इस प्रकार की माग का वक्र निम्नांकित हैं—
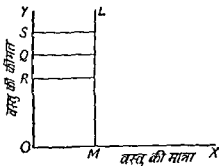
बराबर मे दिये हुये चित्र को देखने से पता चलता है कि जब वस्तु की कीमत OQ है तो OM मात्रा की माग की

जाती है। परन्तु जब कीमत गिर कर OR हो जाती है तब भी OM मात्रा की माग की जाती है। जब कीमत OQ से बढ कर OR हो जाती है तब भी OM मात्रा की ही माग की जाती है। इस प्रकार कीमत के घटने बढने का माग के ऊपर कोई प्रभाव नही पडता। इस प्रकार की माग पूर्णत बलोच कही जाती है।

(२) **पूर्णतया लोचदार (Perfectly Elastic)**—हमने ऊपर जिस प्रकार की माग की लोच बताई है उससे विपरीत भी एक स्थिति हो सकती है अर्थात् ऐसी स्थिति जबकि एक ही कीमत पर वस्तु को कभी कुछ मात्रा खरीदी जाती है तो कभी कुछ। दूसरे शब्दो मे, परिवर्तन न होने पर भी वस्तु की मागी गई मात्रा मे भिन्नता हो जाती है। इस प्रकार की माग की लोच भी अधिकतर सैद्धान्तिक कही जा सकती है जिसका व्यवहार से बहुत कम सम्बन्ध होता है। इस प्रकार की माग का वक्र नीचे दिया गया है—
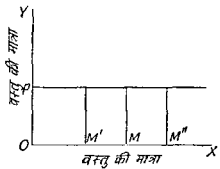
ऊपर के चित्र को देखने से पता चलता है कि OP कीमत पर कभी तो OM मात्रा खरीदी जाती है, कभी OM' जो कि पहली मात्रा से कम है तथा कभी OM' जो कि OM से अधिक है। इस प्रकार एक ही कीमत पर वस्तु की भिन्न भिन्न मात्रायें खरीदी जा सकती है। परन्तु यह स्थिति केवल काल्पनिक है।

(३) **बहुत लोचदार (Highly Elastic)**—जब कभी कीमत मे बहुत थोडा सा परिवर्तन होने पर भी माग मे अपेक्षाकृत बहुत अधिक परिवतन हो जाता है तो हम उसको बहुत लोचदार माग कहते हैं। उदाहरण के लिये, जब आलू की कीमत ८ आने सेर है तो यदि आलू की माग कलकत्ता बाजार मे १०,००० मन है, तथा यदि कीमत गिर कर ७ आने सेर हो जाय तथा माग १५००० मन हो जाय तो कीमत मे $\frac{३}{२०}$ के परिवर्तन से माग की मात्रा मे $\frac{१}{२}$ परिवर्तन आगया। अत आलू की माग बहुत लोचदार है। इस प्रकार कीमत जहाँ १२$\frac{१}{२}$ प्रतिशत
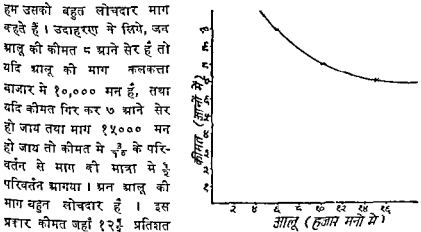
गिरी वह माग ५० प्रतिशत बढ गई। इसी प्रकार यदि कीमत ८ आने सेर से बढकर १० आने सेर हो जाय तथा माग गिर कर ६००० मन रह जाती है, तो भी हमे वही फल मिलता है अर्थात् कीमत मे २५% परिवर्तन से माग मे ४० प्रतिशत परिवर्तन हो गया। इस प्रकार की माग का वक्र पिछले पृष्ठ पर दिखाया गया है।

पीछे के चित्र मे OX पर आलू तथा OY पर कीमत दिखाई गई है। ८ आने तथा १०००० मन का एक, ७ आने तथा १५००० मन का दूसरा तथा १० आने तथा ६००० मन का तीसरा निर्देशक लेकर हमने DD माग वक्र प्राप्त किया। इस वक्र को देखने से पता चलता है कि यह बहुत कम ढालू है अर्थात् यह दिखाता है कि यदि कीमत थोडी सी भी गिरती है तो माँग बहुत अधिक बढ जाती है। इस प्रकार की माग बहुत लोचदार कही जाती है।

(४) साधारण लोचदार (Moderately Elastic)—जब कभी कीमत मे बहुत परिवर्तन होने पर भी माग म उसकी अपेक्षा कम परिवर्तन होता है तब माग साधारण लोचवाली कही जाती है। उदाहरण के लिये, मान लिया कि जब गेहूँ की कीमत २० रु० मन है तो उसकी माग २०,००० मन है, तथा यदि कीमत गिर कर १५ रु० मन हो जाती है तो माग बढकर २५००० मन हो जाती है, और यदि कीमत बढ कर २५ रु० मन हो जाय तो माग गिर कर १८००० मन रह जाती है। इस प्रकार की माग साधारण लोचवाली कही जाती है इसको उपर दिए गये चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।
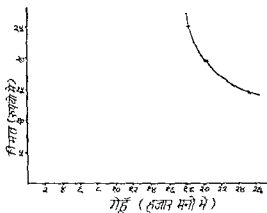
उपर हमने OX पर गेहूँ तथा OY पर कीमत दिखाई है। इसके पश्चात् २० रु० तथा २०,००० मन, १५ रु० तथा २५००० मन तथा २५ रु० और १८००० मन के तीन निर्देशक लिये तथा माग वक्र प्राप्त किया। इस वक्र को देखने से पता चलता है कि यह बहुत ढालू है जिसका अर्थ यह है कि कीमत के घटने बढने का माग पर कम प्रभाव पडता है। साधारणत लोचदार माग को ही हम बेलोच माग कहते हैं।

(५) लोचदार माग (Elastic demand)—जब कीमत मे परिवर्तन होने पर माग मे उसी अनुपात मे परिवर्तन होता है तब वस्तु की माग लोचदार कही जाती है। उदाहरण के लिये, यदि ३ आने प्रति कापी की कीमत पर २०० कापिया

खरीदी जायें, २ आने प्रति कापी पर ३०० कापिया तथा ४ आने प्रति कापी पर १५० कापिया खरीदी जायें तो इस हालत मे माग लोचदार कही जायगी क्योकि इस हालत म कीमत मे जितने प्रतिशत वृद्धि होती है माग मे उतने ही प्रतिशत कमी होती है। इसको हम दिये हुये चित्र के द्वारा दिखा सकते हैं—
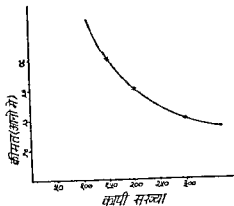
ऊपर के चित्र म हमने OX पर कापी तथा OY पर कीमत दिखाई है। उसके पश्चात् ३ आने तथा २०० कापी २ आने तथा ३०० कापी ४ आने तथा १५० कापी के निर्देशको की सहायता से DD माग वक्र बनाया। यह माग वक्र लोचदार माग को दिखाता है।

अभी तक हमने जिस माग की लोच का बयान किया है वह माग को कीमत लोच (Price elasticity of demand) है। अर्थशास्त्र मे माग की लोच का अर्थ साधारणत इसी लोच से होता है। परन्तु माग की लोच पर दो और बातो का भी प्रभाव पडता है। उनमे से एक माग की आय लोच (Income elasticity of demand) होती है तथा दूसरी स्थानापन्नता की लोच (Elasticity of substitution कहलाती है। साधारणत माग की कीमत लोच इन दोनो प्रकार की लोचों के बीच एक समझौते के समान है। अब हम इन दोनो पर विचार करेंगे।

हमने बताया है कि जब किसी चीज की कीमत मे परिवर्तन होता है तब उसकी माग के ऊपर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पडता है। परन्तु कीमत परिवर्तन के अतिरिक्त किसी वस्तु की माग पर उपभोक्ता की आय पर भी प्रभाव पडता है। यदि किसी प्रकार उपभोक्ता की आय मे वृद्धि हो जाय ता कीमत के बढने पर भी वस्तु की माग न घटेगी। इस प्रकार आय का भी माग पर प्रभाव अवश्य पडता है। कीमत लोच के समान ही माग की आय लोच होती है। माग की आय लोच यह बात दिखाती है कि किसी व्यक्ति की आय मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप उसके द्वारा किसी वस्तु विशेष की माग पर क्या प्रभाव पडेगा।*

$$\text{माग की आय लोच} = \frac{\text{वस्तु विशेष की खरीद मे अनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय मे अनुपातिक परिवर्तन}}$$

*"It shows the responsiveness of a consumer's purchases of a particular good to a change in his income."—*Stonier and Hague*, A Text book of Economic Theory—P. 71.

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि किसी चीज के लिये माग की आय लोच अधिक होती है तो आय मे थोडा सा परिवर्तन होने पर भी वस्तु की माग मे बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है। इसके विपरीत, यदि किसी वस्तु की माग की आय लोच कम होती है तो आय मे पर्याप्त मात्रा मे परिवर्तन होने पर भी उस वस्तु की माग में कोई विशेष परिवर्तन नही होता। उदाहरण के लिये यदि किसी व्यक्ति की आय १ प्रतिशत बढती है परन्तु उसके फलस्वरूप उसकी दूध की माग ५ प्रतिशत बढ जाती है तो ऊपर दिए हुए सूत्र के आधार पर उसकी दूध के लिये माग की आय लोच $\frac{५}{१}$=५ होगी। इसके विपरीत, यदि आय मे १ प्रतिशत वृद्धि होने पर दूध की माग मे केवल $\frac{१}{२}$ प्रतिशत वृद्धि होती है तो दूध की माग की आय लोच $\frac{१}{२}$ होगी।

माग की आय लोच बताते समय यह उपधारणा की जाती है कि सभी खरीदी जाने वाली चीजो की कीमते अपरिवर्तनशील होती हैं, और यह केवल आय ही है जिसमे परिवर्तन होता है। आय के बढने से प्राय सभी चीजो की माग बढ जाती है। इसी कारण माग की आय लोच प्राय धनात्मक होती है। हो सकता है कि कुछ निम्न श्रेणी की चीजो की हालतो मे यह ऋणात्मक भी हो—

माग की आय लोच शून्य, धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकती है। जब माग की आय लोच शून्य होती है तब आय के बढने पर भी उस चीज की माग नही बढती जिसके ऊपर हम विचार कर रहे है। इसी कारण उस वस्तु पर किया जाने वाला खर्च पूर्ववत बना रहता है। जब हम बहुत सी चीजो की माग की आय लोच पर विचार करते है तब हम देखते हैं कि उनमे से कुछ की माग की आय लोच ऋणात्मक होती है तथा कुछ की धनात्मक। कदाचित् ऋणात्मक उन चीजो की होगी जो कि निम्न श्रेणी की होती है तथा धनात्मक उनकी होती है जो उच्च श्रेणी की होती हैं। यदि हम अपनी तालिका की कुल ऋणात्मक तथा धनात्मक आय की लोचो को जोडने पर दोनो का योग बराबर पाते हैं तो तालिका मे सम्मिलित चीजो की माग की आय लोच शून्य हो जायगी क्योकि सब धनात्मक लोच ऋणात्मक लोच से कट जायगी। इस प्रकार यदि हमारी तालिका की धनात्मक माग की आय लोच का योग +५० हो तथा ऋणात्मक आय लोच का योग −५० हो तो सब चीजो की सामूहिक माग की आय लोच शून्य हो जायगी। यदि कोई व्यक्ति आय बढने पर अपनी आय का वही अनुपात किसी चीज के खरीदने पर खर्च करे जो कि वह आय बढने से पहले खर्च कर रहा था तब आय की माग की लोच 'एक' होती है। यदि आय की माग की लोच एक से अधिक होती है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उपभोक्ता आय बढने पर अपनी आय का पहले से अधिक अनुपात वस्तु-विशेष पर खर्च करने लगा है। इसके विपरीत, जब कोई उपभोक्ता आय बढने पर अपनी आय का पहले से कम अनुपात किसी चीज पर खर्च करने लगता है तब उस वस्तु की माग की आय लोच एक से कम होती है। वे चीजें जिनके ऊपर कोई

व्यक्ति आय बढने पर अपनी आय का पहले से अधिक अनुपात खर्च करता है साधारणत विलासिता से सम्बन्धित होती हैं। इसके विपरीत, वे चीजें जिनके ऊपर आय बढने से आय का पहले से कम अनुपात खर्च किया जाता है साधारणत जीवन की आवश्यक चीजे होती हैं। इस प्रकार इकाई वाली आय की माग की लोच एक ऐसी रेखा होती है जिसके एक ओर परमावश्यक आवश्यकताय होती हैं तथा दूसरी ओर विलासिता वाली वस्तुयें होती हैं।

माग की आय लोच की एक तीसरी किस्म भी हो सकती है, अर्थात् जबकि उपभोक्ता अपनी सम्पूर्ण बढी हुई आय को वस्तु विशेष के खरीदने पर खच करता है। ऐसी स्थिति मे आय की माग की लोच $\frac{1}{\text{क स}}$ के बराबर होगी जब कि 'क स' किसी व्यक्ति की आय का वह अश है जो कि 'स' वस्तु के खरीदने पर खर्च किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी चीज पर आय म हुई वृद्धि स भी अधिक खर्च करता है तो माग की आय लाच $\frac{1}{\text{क स}}$ से अधिक होगी परन्तु यदि वह बढी हुई आय से कम खर्च करता है तो माग की आय लोच $\frac{1}{\text{क स}}$ से कम होगी।

स्थानापन्नता की लोच–

तटस्थ वक्रो का वर्णन करते समय हम बता चुके हैं कि स्थानापन्न प्रभाव किसे कहते हैं। *स्थानापन्न प्रभाव के समान ही, तटस्थ वक्र पर हम स्थानापनता* की लोच का भी अध्ययन कर सकते हैं। स्थानापन्नता की लोच उस सीमा को बताती है जिस तक कि एक वस्तु को किसी दूसरी का स्थानापन्न किया जा सकता है यदि उपभोक्ता एक ही तटस्थ वक्र पर रहे। स्थानापन्नता की लोच नीचे लिखे सूत्र से निकाली जा सकती है—

स्थानापन्नता की लोच

$$= \frac{\text{एक वस्तु का दूसरी द्वारा स्थानापन्न करने म सापेक्ष परिवर्तन}}{\text{दोनों वस्तुओं की कीमतों के अनुपात म सापेक्षव परिवतन}}$$

स्थानापन्नता की लोच मुख्यत तीन प्रकार की होती है। एक स्थिति वह होती है जबकि एक वस्तु का स्थानापन्न दूसरी से पूर्ण रूप से किया जा सकता है अर्थात हम चाहे एक चीज को काम मे लायें या दूसरी को, हमको किसी प्रकार की भी हानि नहीं होगी। ऐसी स्थिति म यदि एक चीज की कीमत बढती है तो हम दूसरी का प्रयोग करने लगते हैं। जहा इस प्रकार की चीजें होती हैं वहा पर *स्थानापन्नता की लोच अनन्त (Infinite) होती है। व्यवहार म इस प्रकार की* चीजों का पाना कठिन है और यदि वे होती भी हैं तो उनको एक ही चीज कहा जाता है। इस स्थिति मे तटस्थ वक्र एक सीधी रेखा होती है।

व्यवहार मे एक वस्तु को दूसरी का पूर्ण रुप से स्थानापन तो नही किया जा सकता परन्तु कभी-कभी बहुत बडी सीमा तक हम ऐसा कर सकते हैं। उदाहरण के लिये, रेल के बदले हम मोटर मे यात्रा कर सकते हैं अथवा शुद्ध घी के बदले हम डालडा का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसी स्थिति मे स्थानापन्नता की लोच बहुत अधिक होती है।

स्थानापन्नता की लोच की दूसरी किस्म उन चीजो से सम्बन्ध रखती है जो एक दूसरे की पूरक होती है। इस प्रकार की वस्तुयें मोटर तथा पेट्रोल, स्याही तथा पेन, पान तथा कत्था आदि हैं। इनमे से प्रत्येक जोडे मे एक वस्तु दूसरी के साथ एक निश्चित अनुपात मे काम मे लाई जाती है। यदि हम इनम से एक चीज का उपभोग बन्द करे तो दूसरी का उपभोग भी हमको बन्द करना पडेगा। जैसे यदि हमारे पास मोटर न हो तो पेट्रोल की हमको क्या आवश्यकता। पान के बिना कत्था बेकार है। पेन के बिना स्याही का कोई उपयोग नही है। इस प्रकार की स्थिति मे एक चीज की कीमत बढने पर दूसरी को हम उसके स्थान पर प्रयुक्त नही कर सकते। इसीलिए इन चीजो की स्थानापन्नता की लोच शून्य होती है।

अनन्त तथा शून्य स्थानापन्नता की लोच के बीच म हमको अन्य प्रकार की बहुत सी स्थानापन्नता की लोचें प्राप्त हो सकती हैं। यदि दो वस्तुओं की स्थानापन्नता की दर बहुत अधिक है तो उनकी स्थानापन्नता की लोच कम होगी, यदि स्थानापन्नता की दर कम होगी तो स्थानापन्नता की लोच अधिक होगी।

कीमत लोच, आय लोच तथा स्थानापन्नता की लोच का सम्बन्ध—

हम बता चुके हैं कि कीमत के परिवर्तन का प्रभाव आय प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव से सम्बन्धित है। इस कारण इन तीनो प्रकार की लोचो मे भी एक गणितात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

माना कि—

e_p = माग की कीमत लोच

e_1 = माग की आय लोच

e_s = स्थानापन्नता की लोच

k = किसी वस्तु (कपडे) पर खर्च किया गया कुल आय का अनुपात

$1-k$ = आय का वह अनुपात जो कपडे के अतिरिक्त दूसरी चीजो पर खर्च किया जाता है।

तो $e_p = k\ e_1 + (1-k)e_s$

ऊपर के सूत्र को देखने से पता चलता है कि माग की कीमत लोच के ऊपर दो प्रकार के प्रभाव पडते हैं, एक आय लोच का प्रभाव है तथा दूसरा स्थानापन्नता की लोच का प्रभाव। हम पहले ही बता चुके है कि आय का प्रभाव धनात्मक या ऋणात्मक दोनो प्रकार का हो सकता है। साधारणत यह धनात्मक ही होता है

परन्तु जब कोई वस्तु निम्न श्रेणी की होती है तब यह प्रभाव ऋणात्मक भी हो सकता है। इस कारण उपभोक्ता वस्तु की पहले से कम या अधिक मात्रा खरीद सकता है। साधारणत कीमत घटने पर जब वास्तविक आय बढती है तब उपभोक्ता वस्तु की अधिक मात्रा खरीदता ही है परन्तु निम्न श्रेणी की वस्तु होने पर वह उसकी कम मात्रा भी खरीद सकता है। किसी व्यक्ति की आय मे वृद्धि होने पर वह किसी चीज को पहले से कितनी अधिक खरीदेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्ति अपनी आय का कितना भाग उस वस्तु को खरीदने के लिये खर्च कर रहा है। इससे हमको यह पता चल जायगा कि कीमत गिरने पर व्यक्ति के पास उस वस्तु को क्रय करने के बाद कितना धन बच गया। यदि हमको माग की आय लोच दी हुई हो तो हम यह कह सकते है कि जितना ही अधिक अपनी आय का भाग वह किसी वस्तु के खरीदने पर खर्च करता है उतना ही अधिक धन उस चीज की कीमत गिरने पर उस व्यक्ति के पास बचेगा, जिसको वह न केवल उसी वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदने मे खर्च कर सकता है वरन् दूसरी चीजो की अधिक मात्राओ को खरीदने मे भी लगा सकता है। परन्तु किसी वस्तु की कीमत गिरने पर कोई व्यक्ति उस चीज की कितनी मात्रा खरीदेगा यह उस वस्तु की आय लोच पर भी निर्भर होता है क्योकि आय लोच से ही इस बात का पता चलेगा कि कीमत गिरने पर जो आय बढी है उसमे से कितना भाग उस वस्तु की अधिक मात्रा को खरीदने पर खर्च किया जायगा तथा कितना दूसरी चीजों की अतिरिक्त मात्राओ को खरीदने मे खर्च किया जायगा। इस प्रकार (k e_i) इस बात को दिखाता है कि माग की लोच पर, कीमत के घटने बढने के कारण, आय प्रभाव क्या होता है। परन्तु, जिस वस्तु की कीमत घटी है उसकी माग की लोच पर केवल आय प्रभाव ही नही पडेगा वरन् इस बात का भी प्रभाव पडेगा कि सस्ती होने के कारण वह वस्तु, दूसरी वस्तुओ (जिनकी कीमत अब पहले जितनी ही रहती है) के बदले किस सीमा तक उपयोग मे लाई जा सकती है। यदि वह वस्तु ऐसी है कि उसे दूसरी वस्तुओ का स्थानापन्न किया जा सकता है तब उस वस्तु की माग की लोच के ऊपर स्थानापन्न-प्रभाव भी पडेगा। इस चीज की कीमत गिरने पर स्वाभाविक रूप से ही इसके उपभोग को बढाया जायगा तथा दूसरी चीजो के उपभोग को कम किया जायगा। इस प्रकार इस चीज की माग के ऊपर स्थानापन्नता की लोच का भी प्रभाव पडेगा। स्थानापन्नता की सम्भावना इस बात पर निर्भर करती है कि हम उन चीजो को जिनकी कीमत नही गिरी है कितनी मात्राओ मे खरीद रहे थे तथा उनकी कितनी मात्राएँ हमारे पास उस समय मौजूद हैं जब इस वस्तु की कीमत गिरी है। इन बातो के मालूम होने पर ही हम यह कह सकते है कि उन वस्तुओ का जिनकी कीमत नही गिरी है किस सीमा तक उस वस्तु द्वारा स्थानापन्नता सम्भव हो सकती है जिसकी कीमत गिरी है। ऊपर दिये हुए सूत्र मे ($1-k$) आय के उस अनुपात को दिखाता है जो कि उस चीज

पर खर्च नही किया जा रहा है जिसकी कीमत गिरी है। e_s स्थानापन्नता की लोच को दिखाता है। इस प्रकार $(1-k)e_s$ इस बात को दिखाता है कि वह वस्तु जिसकी कीमत गिरी है किस सीमा तक उन वस्तुओ की स्थानापन्न के रूप मे खरीदी जायगी जिनकी कीमत नही गिरी है।

इस बात को हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते है। मान लिया कि एक व्यक्ति कपडे पर अपनी आय का $\frac{१}{५}$ भाग खर्च करता है, कपडे की आय की माग की लोच १ है और कपडे तथा अन्य चीजो के बीच स्थानापन्नता की लोच २ है तब माग की लोच इस प्रकार निकाली जायगी—

$$
\begin{aligned}
e_p &= k\ e_i + (1-k)e_s = \tfrac{१}{५} \times १ + (१ - \tfrac{१}{५}) \times २ \\
&= \tfrac{१}{५} \times १ + \tfrac{४}{५} \times २ \\
&= \tfrac{१}{५} + \tfrac{८}{५} \\
&= \tfrac{९}{५} = १\ ८
\end{aligned}
$$

माग की भेदक लोच
(Cross elasticity of Demand)

कभी-कभी दो वस्तुए आपस मे इस प्रकार सम्बन्धित होती है कि उनमे से एक की कीमत मे परिवर्तन आने से दूसरी की माग मे परिवर्तन आ जाता है। ऐसा तब होता है जब ये दो वस्तुए या तो एक दूसरे की पूरक हो—जैसे चीनी तथा चाय अथवा एक दूसरे की स्थानापन्न हो,— जैसे चाय तथा कॉफी। एक वस्तु की कीमत मे आये समानुपातिक परिवर्तन के फलस्वरूप किसी अन्य वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा मे समानुपातिक परिवर्तन को हम भेदक-लोच द्वारा माप सकते हैं, या यो कहे कि प्रथम वस्तु के समानुपातिक कीमत-परिवर्तन तथा दूसरी वस्तु के समानुपातिक माग-मात्रा परिवर्तन के बीच को हम भेदक-लोच कहते हैं। यदि हम क तथा ख दो ऐसी वस्तुओ को ले जो आपस मे इस प्रकार सम्बन्धित है कि क की कीमत मे समानुपातिक परिवर्तन से ख की माग-राशि मे समानुपातिक परिवर्तन आ जाता है तो क तथा ख के बीच माँग की भेदक लोच

$$= \frac{\text{ख की क्रय की जाने वाली राशि मे समानुपातिक परिवर्तन}}{\text{क की कीमत मे समानुपातिक परिवर्तन}}$$

बशर्ते कि ख की कीमत दी हुई हो, परिवर्तन सूक्ष्म हो तथा ख की माग क की कीमत से प्रभावित होती हो।

यदि —

$\Delta म_{ख}$ = ख की मात्रा या राशि मे वृद्धि

$म_{ख}$ = ख की पहले की क्रय की जाने वाली राशि

तो ख की क्रय की जाने वाली राशि मे समानुपातिक परिवर्तन $= \frac{\Delta म_ख}{म_ख}$

तथा यदि Δ की$_क$ = क की कीमत मे वृद्धि

तथा की$_क$ = क की पहले की कीमत के

तो क की कीमत मे समानुपातिक परिवर्तन $= \frac{\Delta की_क}{की_क}$

$$दोनो\ के\ बीच\ भेदक\ लोच = \frac{\Delta म_ख / म_ख}{\Delta की_क / की_क}$$

यदि दो वस्तुय X तथा Y एक दूसरे की प्रतियोगी हो तो X की कीमत बढने पर X की माग तो कम हो जायगी तथा Y की माग बढ जायगी इसके विपरीत यदि X की कीमत गिर जाय तथा Y की न गिरे तो लोग Y के बदले X की माग करने लगेगे। इस प्रकार साधारण स्थिति मे X की कीमत मे परिवर्तन तथा Y की खरीदी जाने वाली मात्रा मे परिवर्तन दोनो एक ही दिशा मे होगे। इसके विपरीत, यदि X तथा Y की सयुक्त माग (Joint demand) हो अर्थात् वे परस्पर पूरक हो तो X की कीमत गिरने पर Y की माग बढ जायगी तथा X की कीमत बढने पर Y की माग कम हो जायगी।* इस प्रकार सयुक्त माग मे X तथा Y की माग की भेदक लोच ऋणात्मक होगी।

माग की भेदक लोच अनन्त (Infinite) तथा शून्य भी हो सकती है। जब वस्तुय प्रतियोगी होती है तथा उनकी माग भेदक लोच अनन्त (धनात्मक) है तो उनमे से X की कीमत थोडी सी भी गिरने पर Y की माग मे अनन्त गुना कमी हो जायगी। यदि वस्तुओ की माग सयुक्त है तथा उनकी माग की भेदक लोच (ऋणात्मक) अनन्त है तब X की कीमत मे थोडी सी कमी होने पर Y की माग मे अनन्त गुना वृद्धि हो जायगी। परन्तु व्यवहार मे इस प्रकार की अनन्त गुना माग की भेदक लोच नही पाई जाती। साधारणत माग की भेदक लोच धनात्मक तथा ऋणात्मक के बीच मे रहेगी। इन दोनो प्रकार की लोचो को विभाजित करने वाली रेखा शून्य भेदक लोच की द्योतक होगी, यदि X की कीमत मे थोडा उतार-चढाव होने पर Y की माग पर उसका कोई प्रभाव नही पडता।

---

* क्योकि X की कीमत गिरने का अर्थ है उसकी माग मे वृद्धि, अत Y की माग म भी वृद्धि स्वाभाविक है तथा इसका विलोम भी सही है।

माग की लोच में भिन्नता के कारण—

माग की लोच कई बातो पर निर्भर होती है —

(१) वस्तु का गुण—साधारणत उन वस्तुओ की माग बेलोच होती है, जो जीवन की आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। इसका कारण यह है कि हम इस प्रकार की चीजो का उपयोग किये बिना रह ही नही सकते। इसके साथ-साथ यह भी बात है कि हम उनको आवश्यकता से अधिक नही खरीद सकते क्योकि ये साधारणत निम्न श्रेणी की चीज होती है। इसी कारण इनकी कीमत बढने पर इनकी माग साधारणत कम नही होती और न कीमत कम होने पर उनकी माग बढती ही है। इस श्रेणी मे गल्ला आदि वस्तुयें आती है। इसके विपरीत, कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं, जो आरामदायक तथा विलासिता की श्रेणी मे रखी जाती है। इस प्रकार की चीजो का उपभोग हम कर भी सकते हैं तथा छोड भी सकते हैं क्योकि इनका उपयोग न करने से हमारी कार्य-क्षमता पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। इस कारण इस प्रकार की चीजो की माँग साधारणत उनकी कीमतो पर ही निर्भर होती है। कीमत कम होने से इनकी माग बढ जाती है, यदि कीमत बढती है तो माग कम हो जाती है। उदाहरण के लिये साग भाजी, दूध, रेशमी कपडे, रेडियो आदि इसी प्रकार की चीजें होती है।

(२) स्थानापन्न की सम्भावना (Possibility of Substitutes)—ऊपर हमने बताया है कि जीवन की आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली वस्तुओ की माग बेलोच होती है। परन्तु इस प्रकार की चीजो की माग भी स्थानापन्न की सम्भावना के कारण लोचदार हो जाती है। उदाहरण के लिये, यदि गेहूँ की कीमत ऊची हो जाय तथा अन्य खाद्य पदार्थो की कीमत पूर्ववत् रहे तो लोग गेहूँ की कीमत बढने पर चावल, मक्का, ज्वार, बाजरे आदि का उपयोग शुरू कर देंगे। इस प्रकार कीमत बढने पर गेहूँ की माग कम हो जायेगी अर्थात् गेहूँ की माँग लोचदार हो जायगी। बहुत सी चीजें ऐसी भी होती हैं, जो हमारे जीवन के लिए परमावश्यक तो नही कही जा सकती, परन्तु हमको उनके उपभोग की इतनी आदत पड जाती है कि वे हमारे लिये जीवन की आवश्यकताय सी बन जाती है। कभी कभी स्थिति यहा तक पहुच जाती है कि चाहे परमावश्यक आवश्यकताओ का उपभोग छोड भी दें, पर इनको उपभोग का त्याग करना अथवा उसे कम भी करना बहुत कठिन हो जाता है। इस प्रकार की आवश्यक चीजो की माग भी स्थानापन्न वस्तुओ की उपस्थिति से लोचदार हो जाती है। उदाहरण के लिये, यदि सिगरेट की कीमत बढ जाती है तो लोग सस्ती सिगरेट का प्रयोग प्रारम्भ कर देते है तथा कुछ लोग बीडी पीना शुरू कर देते है। बढिया शराब की कीमत बढने पर लोग सस्ती शराब काम म लाने लगते है।

(३) विभिन्न उपयोग (Variety of uses)—बहुत सी चीजे ऐसी होती हैं जिनको हम बहुत से उपयोगो मे ला सकते हैं। परन्तु इनमे से प्रत्येक उपयोग की

माग की तीव्रता समान नहीं होती। कुछ उपयोग तो ऐसे होते है कि हम उनको छोड ही नही सकते, कुछ ऐसे होते हैं जिनको हम छोड सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी स्थान पर पानी मोल मिलता है तो ऐसे स्थान के लोग पानी का उपयोग पीने, खाना बनाने आदि मे करेंगे। परन्तु यदि पानी मुफ्त मे मिलता है तो वे उसको कपडा धोने, बरतन साफ करने, कमरो के फर्श धोने, बगीचे मे पानी देने आदि के काम मे लायेंगे। इस प्रकार पानी की कीमत सस्ती होने पर उसकी माग बहुत बढ जायगी तथा उसकी कीमत बढने पर उसकी माग बहुत कम हो जायगी। इसी प्रकार बिजली भी रोशनी करने, पखा चलाने, रेडियो चलाने, खाना बनाने, कपडो पर प्रेस करने, कमरा गर्म करने आदि विभिन्न कामो मे आ सकती है। बिजली की कीमत बढ जाने पर लोग उसको आवश्यक रोशनी करने, पखा चलाने आदि के काम मे ही लायेंगे तथा इन कामो मे भी बहुत मितव्ययिता करेंगे अर्थात् व कम शक्ति के बल्ब काम मे लायेंगे, उनको तभी जलायेंगे जब आवश्यक होगा। इसी प्रकार पखे को भी आवश्यकतानुसार ही चलायेंगे। इसी कारण जिन वस्तुओ के विभिन्न उपयोग हैं, उनकी माग लोचदार होती है।

आदत (Habit)—स्थानापन्न प्रभाव बताते समय हमने सकेत किया था कि बहुत सी चीजे ऐसी होती हैं जिनकी आदमी को लत पड जाती है। इन चीजो मे बहुधा शराब, सिगरेट, बीडी, पान, तम्बाकू, अफीम, भाग, चरस, गाँजा, सिनेमा, चाय आदि चीजें शामिल हैं। एक बार आदत पडने पर आदमी इनके उपभोग को नही छोड पाता। इस कारण इन चीजो की कीमत बढ जाती है, तब भी आदमी इन चीजो के उपभोग को जारी रखता है। यह बात सत्य है कि कीमत बढने पर उपभोक्ता इन सब चीजो की स्थानापन्न चीज तलाश करने का प्रयत्न करेगा, परन्तु यदि हम केवल आदत के प्रभाव को ही ध्यान मे रखे तो हम कह सकते है कि इन सब चीजो की कीमत बढने पर आदमी उनका उपभोग साधारणत नही घटा सकता। इस कारण इन चीजो की माग साधारणत बेलोच होती है।

(५) कीमत का प्रभाव (Influence of Price)—माग की लोच बहुत कम कीमत के ऊपर भी निर्भर होती है। जिन चीजो की कीमत इतनी अधिक होती है कि उनको बहुत अमीर आदमी ही खरीद सकते हैं, उनकी माग साधारणत बेलोच होती है। इसका कारण यह है कि यदि इन चीजो की कीमत गिर भी जाय तो भी वे जन-साधारण की क्रय शक्ति के बाहर ही रहेगी। इस कारण कीमत गिरने पर भी उनकी माग मे कोई विशेष वृद्धि न होगी। उदाहरण के लिये, यदि कार की कीमत १४,००० रु० मे गिर कर १३,००० रु० हो जाय तो भी उनको हमारे देश के अधिकतर लोग न खरीद पायेंगे। इसी प्रकार एक हीरा, जिसकी कीमत २५,००० रु० है, यदि २४,००० रु० का हो जाय तो भी उसकी माग पर कोई विशेष प्रभाव न पडेगा।

माग की लोच उस समय भी कम होती है, जबकि चीज की कीमत इतनी कम हो कि उसको गरीब से गरीब आदमी भी खरीद सके। इसका कारण यह है कि उस चीज की कीमत गिरने पर उसकी माग न बढेगी क्योकि उसको पहले ही सब आदमी खरीद रहे हैं। उदाहरण के लिये, यदि आलू या टिमाटर ३ आने सेर बिक रहा हो तो उसकी कीमत २½ आने होने पर उसकी माग पहले जितनी ही रहेगी।

बहुत ऊंची तथा नीची कीमतो के बीच की कीमतो पर माग लोचदार होती है। ऐसी हालत मे यदि किसी चीज की कीमत कम या अधिक होती है तो उसके अनुसार उसकी माग बढती अथवा घटती है। उदाहरण के लिये, यदि आम १ रु० सेर के बदल ८ आने सेर हो जाय तो उसकी माग मे कई गुनी वृद्धि हो जायगी, क्योकि अब वह बहुत लोगो की क्रय-शक्ति के अन्दर आ जायगा। मार्शल ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि 'ऊंची कीमतो पर माग की लोच बहुत अधिक होती है, औसत दर्जे की कीमत पर अधिक अथवा कम से कम पर्याप्त होती है तथा जैसे-जैसे कीमत गिरती जाती है वैसे-वैसे यह (लोच) गिरती जाती है तथा धीरे-धीरे यह समाप्त होती जाती है, यदि कीमत इतनी गिर जाय कि तुष्टि-तल पहुंच गया हो।"

(६) वस्तु पर खर्च किया गया आय का अनुपात—माग की लोच इस बात पर निर्भर होती है कि उस वस्तु पर जिसकी माग की लोच हम जानना चाहते हैं व्यक्ति की आय का कितना अनुपात खर्च होता है। यदि वह उस वस्तु पर अपनी आय का एक बडा भाग खर्च कर रहा है तो उसकी कीमत बढने पर उसे उस वस्तु के उपभोग को कम करना पडेगा। इस प्रकार वस्तु की माग कम हो जायगी। इसके विपरीत, यदि उसकी कीमत गिर जायगी तो वह व्यक्ति उसकी अधिक मात्रा खरीदना प्रारम्भ कर देगा। इस प्रकार उस वस्तु की माग बढ जायगी, परन्तु यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसके ऊपर आय का एक ही छोटा भाग खर्च होता है तो उस वस्तु की कीमत घटने-बढने का उस व्यक्ति की वास्तविक आय पर कोई प्रभाव न पडेगा। इस कारण कीमत के घटने-बढने पर भी माँग प्राय पहले जितनी ही रहेगी। उदाहरण के लिये, नमक पर साधारणत एक मास मे ४ आने या ८ आने खर्च होते हैं, यदि नमक की कीमत डेढ-दो गुनी भी हो जाय तो भी नमक का कुल खर्च कुल आय का एक मामूली भाग ही रहेगा। इस कारण नमक की माग के ऊपर कीमत के घटने-बढने का कोई विशेष प्रभाव न पडेगा।

(७) वस्तु के उपभोग मे विलम्ब करने की सम्भावना—कुछ चीजे ऐसी होती है कि उनके उपभोग को स्थगित नही कर सकते, जैसे खाना, पानी आदि का उपभोग। इसके विपरीत, बहुत सी ऐसी चीजे होती हैं जिनके उपभोग को बिना हानि के स्थगित किया जा सकता है। वे वस्तुये जिनके उपभोग को स्थगित नही किया जा सकता वे लोच वाली माग की होती है, परन्तु जिन वस्तुओ के उपभोग

को कुछ काल के लिये स्थगित किया जा सकता है उनकी माग लोचदार होती है। कपडा, जूता, सिनेमा आदि की माग लोचदार होती है क्योंकि इनकी कीमत बढने पर इनकी माग को स्थगित किया जा सकता है।

(८) आय का वितरण—प्रो० टॉजिग ने कहा है कि साधारणत माग की लोच धन के सम वितरण से बढ जाती है तथा समाज म धन का विषम वितरण होने से माग बे लोच हो जाती है। इसका कारण यह है कि जब धन का समान वितरण होगा तो जैसे ही किसी चीज की कीमत गिरेगी या बढ़गी वैसे ही सारे समाज की माग बढ या घट जायगी, माग के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पडेगा। इसीलिये माग लोचदार कही जायगी। इसके विपरीत, यदि धन का वितरण विषम होता है तो कीमत गिरने या बढने का प्रभाव सारे समाज पर एकसा न पड कर समाज के एक छोटे से समूह पर अधिक पडेगा। इसीलिये माग कीमत के घटने या बढने पर बहुत कम बढ़ या घटगी तथा बेलोच होगी।

(९) उपभोक्ता की आय—माग की लोच समाज के विभिन्न वर्गों के लिये भिन्न होती है। हमने ऊपर बताया है कि मोटर की माग बलोच होगी क्योंकि इसका उपभोग जनसाधारण की शक्ति के बाहर है। हा, यदि हम केवल उसी श्रेणी के लोगो पर विचार करें जो कार को खरीद सकते हैं तो हम देखेगे कि इस वर्ग के लिये कार की माग लोचदार होगी। इस प्रकार माग की लोच समाज के विभिन्न श्रेणियो के लिए भिन-भिन होती है।

(१०) समय का प्रभाव—माग की लोच के ऊपर समय का भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पडता है। अल्प काल मे हम कीमत बढने पर भी वस्तु के उपभोग को जारी रखते है, क्योंकि एक दम किसी चीज के उपभोग का नहीं छोडा जा सकता। इस कारण अल्प काल मे माग बेलोच होती है, परन्तु जैसे-जैसे समय दीर्घ होता जाता है, माग लोचदार होती चली जाती है।

माग की लोच की माप
(Measurement of Elasticity of Demand)

माग की लोच कई ढगो से मापी जा सकती है—

(१) वस्तु पर किये गये कुल खर्च द्वारा (Total Outlay Method)—मार्शल ने बताया है कि माग की लोच का अनुमान हम वस्तु पर किये गये कुल खर्च से कर सकते है। *मार्शल का मत है कि जब किसी चीज की कीमत घटने बढने पर भी* वस्तु पर किया गया कुल खर्च पहले जितना ही रहता है तो माग की लोच इकाई (Unity) के बराबर होती है। उदाहरण के लिये, यदि ३ आने प्रति कापी कीमत होने से कोई व्यक्ति २०० कापिया खरीदता है, २ आने प्रति कापी की दर पर ३०० कापिया खरीदता है तथा ४ आने प्रति कापी की दर पर १५० कापिया खरीदता है तो कापियो पर किया गया कुल खर्च हर हालत मे ६०० आने ही रहत

इस कारण इस हालत मे मांग की लोच इकाई के बराबर होगी। इसको निचे एक चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं—

नीचे के चित्र मे कीमत QR प्रारम्भिक कीमत है तथा OQ प्रारम्भ मे की गई वस्तु की माग है। इस कारण वस्तु पर किया गया खर्च OQRP आयात के बराबर होगा। अब यदि वस्तु की कीमत गिरकर Q_1R_1 के बराबर हो जाय तथा वस्तु की मागी गई मात्रा बढकर OQ_1 हो जाय तो वस्तु पर किया गया कुल खर्च $OQ_1R_1P_1$ हो जायगा। इस प्रकार पहले आयत OQRP मे से $PRSP_1$ आयत के बराबर खर्च कम होकर QQ_1R_1S आयत के बराबर खर्च बढ गया। यहा पर $PRSP_1$ आयत QQ_1R_1S के बराबर है। इसका अर्थ यह हुआ कि OQRP आयत $OQ_1R_1P_1$ आयत के बराबर हुआ। इसी कारण माग की लोच इकाई होगी।
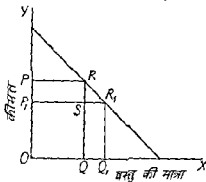
चित्र न १

यदि कीमत घटने पर माग इतनी बढ जाय कि उस पर किया जाने वाला कुल खर्च पहले से अधिक हो जाय तथा कीमत के बढने पर माग इतनी घट जाय कि उस पर किया जाने वाला कुल खर्च पहले से कम हो जाय तो माग की लोच इकाई से अधिक होगी। उदाहरण के लिये, यदि २ आने प्रति कापी कीमत होने पर कापियो की माग ४०० हो, ४ आने प्रति कापी होने पर १०० हो और १ आने प्रति कापी पर १००० हो तो माग की लोच इकाई से अधिक कही जायगी क्योकि पहले कापियो पर कुल खर्च ८०० आने होता था, कीमत बढने पर केवल ४०० आने ही खर्च होता है। कीमत घटने पर खर्च बढकर १००० आने हो जाता है। यहा पर कीमत मे जिस अनुपात मे परिवर्तन होता है। माग मे उससे अधिक अनुपात मे परिवर्तन होता है। इसका बरारर मे दिय चित्र द्वारा इस प्रकार दिखा सकते है—

चित्र न० २

इस चित्र मे QR कीमत पर OQ वस्तु की मात्रा की माग की जाती थी जिसके कारण कुल खर्च OQRP आयत के बराबर था। परन्तु जब कीमत गिरकर

Q_1R_1 हो गई तो वस्तु की माग OQ_1 हो गई जिसके कारण कुल खर्च $OQ_1R_1P_1$ हो गया। अब, कीमत के गिरने के कारण कुल खर्च $PRSP_1$ आयत के बराबर कम होता है परन्तु QQ_1R_1S आयत के बराबर खर्च बढ जाता है। चित्र को देखने से पता चलता है कि $QQ_1R_1S_1$ आयत का क्षत्र $PRSP_1$ आयत से अधिक है। इस कारण हम कह सकते हैं कि कीमत गिरने से कुल खर्च बढ गया। इसलिय माग की लोच इकाई से अधिक होगी।

यदि कीमत के कम होने से माग इतनी बढ कि उस पर किया जाने वाला कुल खर्च पहले से कम हो जाय अथवा कीमत बढने पर माग इतनी कम घटे कि उस पर किया जाने वाला कुल खर्च पहले से बढ जाय तो माग की लोच इकाई से कम कही जायेगी। उदाहरण के लिये, यदि २ आने प्रति कापी कीमत दर पर कापियो की माग ४०० हो, ४ आने प्रति कापी की दर पर ३०० हो और १ आना प्रति कापी की दर पर ५०० हो तो कापियो की माग की लोच इकाई से कम होगी क्योकि यहा कीमत मे जिस अनुपात मे परिवतन हाता है माग म उसस कम अनुपात मे परिवर्तन आता है। इस प्रकार की माग को बेलोच कहा जाता है। इसको हम चित्र न० ३ द्वारा निम्न प्रकार दिखा सकते है—

इस हालत मे जब कीमत QR है तो OQ मात्रा की माग की जाती है, तथा कुल खच OQRP होता है। परन्तु यदि कीमन गिर कर R_1Q_1 हो जाय तो कुल खर्च $OQ_1R_1P_1$ आयत के बराबर हो जाती है। यहा पर $PRSP_1$ आयन QR_1R_1S आयत से बडा है। इसका अर्थ यह हुआ कि कीमत गिरने से कुल खर्च भी कम हो गया। इस कारण माग की लोच इकाई से कम हुई।
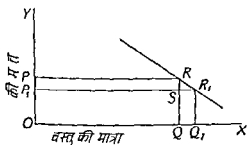
चित्र न० ३

(२) **अकगणित निष्पत्ति द्वारा (By Arithmetical Ratio)**—माग की लोच का अनुमान हम नीचे लिखे सूत्र द्वारा भी लगा सकते हैं—

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग मे प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत मे प्रतिशत परिवर्तन}}$$

अथवा

$$\text{माग की लोच} = \frac{\dfrac{\text{माग मे वृद्धि या कमी}}{\text{प्रारम्भिक माँग}}}{\dfrac{\text{कीमत मे वृद्धि या कमी}}{\text{प्रारम्भिक कीमत}}}$$

उदाहरण के लिये यदि एक किताब की कीमत ५ रु० से बढकर ५ रु० १ आना हो जाय तथा किताब की माग ६०० से घटकर ५६५ रह जाय तो

$$\text{माग की लोच} = \frac{\frac{\text{५ किताबें}}{\text{६०० किताबें}}}{\frac{\text{१ आना}}{\text{८० आने}}} = \frac{\frac{१}{१२०}}{\frac{१}{८०}} = \frac{१}{१२०} \times \frac{८०}{१}$$

$$= \frac{२}{३} = .६६\ldots\ldots\ldots$$

प्रो० वेनहम ने बताया है कि इस पद्धति द्वारा प्राप्त किया गया परिणाम उपर्युक्त कुल खर्च पद्धति से भिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिये मान लिया कि कीमत में १० प्रतिशत कमी (१० से ९०) होने के कारण माग में १० प्रतिशत वृद्धि (१०० से ११०) हुई तो अकगणित निष्पत्ति के अनुसार माग की लोच $\frac{\frac{१०}{१००}}{\frac{१०}{१००}} = १$ होगी, परन्तु कुल खर्च पद्धति के अनुसार, कुल खर्च १०० × १०० = १०,००० से गिरकर ९० × ११० = ९९०० हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि माग की लोच इस पद्धति के अनुसार इकाई से कम हुई। प्रो० वेनहम ने बताया है कि इस अन्तर का कारण यह है कि माग की लोच का सम्बन्ध किसी विन्दु पर (At a point) की माग की लोच से होता है न कि कीमतों के परिमित फैलाव पर की माग लोच से।

(३) विन्दु द्वारा (At a Point)—प्रो० मार्शल ने माग की लोच का अनुमान लगाने के लिये एक और ढग बताया है। वे एक ऐसे सरल रेखीय माग वक्र पर दो ऐसे विन्दु P तथा P_1 लेते है जो एक दूसरे के समीप हैं तथा इन दोनों के बीच माँग की लोच नापने का ढग बताते हैं। इस ढग को हम नीचे समझाने का प्रयत्न करेंगे।
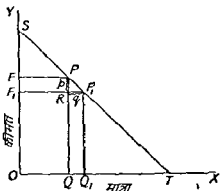
चित्र नं० ४

बराबर के चित्र में ST एक ऐसा माग वक्र है जो कि OY को S पर तथा OX को T पर काटता है। इसमें—

OQ वह मात्रा है जो कि कीमत घटने के पूर्व मागी जाती थी।

PQ वह कीमत है जो कि प्रारम्भ में दी जाती थी।

P_1Q_1 नई कीमत है।

O Q_1 नई कीमत पर मागी गई वस्तु की मात्रा है।

p कीमत के परिवर्तन का प्रतीक है तथा q वस्तु की मागी हुई मात्रा में परिवर्तन का।

हम जानते है कि माग की लोच $= \frac{\text{माग मे वृद्धि या कमी/प्रारम्भिक माग}}{\text{कीमत मे वृद्धि या कमी/प्रारम्भिक कीमत}}$

पृष्ठ २१४ पर चित्र न० के आधार पर हम कह सकते है कि

$$\text{माग की लोच} = \frac{\frac{q}{OQ}}{\frac{p}{PQ}} = \frac{q}{OQ} \times \frac{PQ}{p} = \frac{q}{p} \times \frac{PQ}{OQ}$$

पृष्ठ २१४ पर चित्र न० ४ मे $\triangle PRP_1$ व $\triangle SFP$ व $\triangle PQT$ समरूप है, क्योकि इन तीनो के कोण परस्पर एक दूसरे के बराबर है।

त्रिभुजो के समरूप होने का यह नतीजा होता है कि एक त्रिभुज की एक भुजा का उसकी भुजा से जो अनुपात होता है वही अनुपात दूसरे त्रिभुज की एक सगति भुजा का दूसरी सगति भुजा से होगा अर्थात् $\triangle PRP_1$ तथा $\triangle PQT$ में $\frac{PR}{RP_1} = \frac{PQ}{QT}$ अर्थात् $\frac{p}{q} = \frac{PQ}{QT}$। यहा यह स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनो त्रिभुज देखने मे एक दूसरे से बडे-छोटे हैं तो भी इनकी भुजाओ का अनुपात समान हो सकता है। नीचे के चित्र मे भी यही बात है। अब . $\frac{p}{q} = \frac{PQ}{QT}$, अत हम यह भी कह सकते हैं कि $\frac{q}{p} = \frac{QT}{PQ}$

ऊपर हम बता आये हैं कि माग की लोच $= \frac{q}{p} \times \frac{PQ}{OQ}$

अब हम $\frac{q}{p}$ के बदले $\frac{QT}{PT}$ भी ले सकते हैं।

इसलिये हम कह सकते है कि माग की लोच $= \frac{QT}{PQ} \times \frac{PQ}{OQ} = \frac{QT}{OQ} = \frac{OT}{FP}$

$(\because OQ = FP)$

परन्तु चू कि $\triangle SFP$ तथा $\triangle PQT$ भी समरूप हैं—

$\therefore \frac{QT}{PQ} = \frac{FP}{SF}$ अथवा $\frac{QT}{FP} = \frac{PQ}{SF} = \frac{PT}{SP}$, परन्तु $\frac{QT}{FP} = \frac{QT}{OQ}$

इसलिये हम कह सकते हैं कि माग की लोच $\frac{QT}{OQ}$ अथवा $\frac{PQ}{SF}$ अथवा $\frac{PT}{SP}$ के के बराबर है।

यदि P तथा P_1 की दूरी को बहुत सूक्ष्म कर दिया जाय तो P तथा P_1 एक दूसरे को ढक लेंगे तथा उस समय ऊपर दिया हुआ चित्र इस प्रकार का हो जायगा—

यहां पर ST रेखा DD माग वक्र की स्पर्शक रेखा (Tangent) है। इस कारण P बिन्दु पर माग की लोच=

$$\frac{QT}{OQ}=\frac{FO}{FS}=\frac{PT}{PS}$$
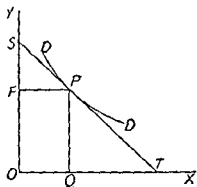
चिन नं० ५

नीचे के चित्र मे DD, D_1D_1 तथा D_2D_2 माग वक्र एक दूसरे के समानान्तर हैं। OP कीमत पर इन तीनो माग वक्रो मे भिन्न-भिन्न माग की लोच होगी। इन माग वक्रो में DD की लम्बाई लगभग १" है तथा P_1 बिन्दु DD के लगभग बीच का बिन्दु है। इस कारण (ऊपर बताये गये ढग के अनुसार) P_1 बिन्दु पर माग की लोच $\frac{\frac{१}{२}}{\frac{१}{२}}=\frac{१}{२}\times\frac{२}{१}=१$ होगी। D_1D_1 वक्र लगभग २" लम्बा है तथा P_2 बिन्दु OX रेखा मे लगभग $\frac{१}{२}$" की दूरी पर है। इस कारण माग की लोच $\frac{\frac{१}{२}}{\frac{३}{२}}=\frac{१}{२}\times\frac{२}{३}=\frac{१}{३}$ होगी। D_2D_2 माग वक्र की लम्बाई लगभग ३" है तथा P_3 बिन्दु OX से $\frac{१}{२}$" की दूरी पर है। इस कारण भिन्न P_3 पर माग की लोच $\frac{\frac{१}{२}}{\frac{५}{२}}=\frac{१}{२}\times\frac{२}{५}=\frac{१}{५}$ होगी।
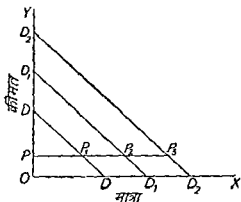
चित्र नं० ६

इससे सिद्ध हुआ कि एक ही कीमत पर भिन्न समानान्तर माग वक्रो पर माग की लोच भिन्न-भिन्न होगी।

जॉन, रॉबिन्सन, ने, बिन्दु रेखा की सहायता से औसत मूल्य (Average value), सीमान्त मूल्य (Marginal value) तथा लोच के सम्बन्ध को बताया है।
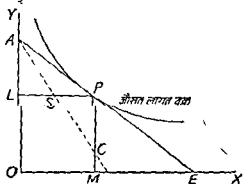
इस प्रकार यदि (चित्र न० ८) ST, माग वक्र, OY रेखा को S पर काटे तथा OX रेखा को T पर काटे तो माग की लोच S बिन्दु पर अनन्त से लेकर T बिन्दु पर शून्य के बीच मे रहेगी। इसको नीचे के चित्र म जाना जा सकता है—
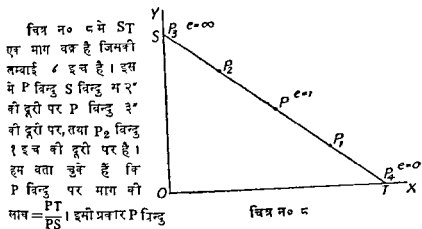
चित्र न० ८

चित्र न० ८ मे ST एक माग वक्र है जिसकी लम्बाई ४ इच है। इस मे P बिन्दु S बिन्दु म २" की दूरी पर P बिन्दु ३" की दूरी पर, तथा P_2 बिन्दु १ इच की दूरी पर है। हम बता चुके हैं कि P बिन्दु पर माग की लोच $=\frac{PT}{PS}$। इसी प्रकार P बिन्दु पर यह $\frac{PT}{P_1S}$ तथा P_1 बिन्दु पर $\frac{P_2T}{P_2S}$ होगी। यदि हम आकडा को काम म लायें तो हम कह सकते हैं कि P बिन्दु पर माग की लोच $\frac{२''}{२''}=१''$होगी।

P बिन्दु पर $\frac{१}{३}=\frac{१}{३}$ होगी तथा P_2 बिन्दु पर यह $\frac{३}{१}$ अर्थात ३ होगी।

S बिन्दु पर माग की लोच $\frac{ST^*}{P_3S}$ अर्थात $\frac{४}{०}$ अर्थात अनन्त होगी।

इसके विपरीत, T बिन्दु पर यह $\frac{P_4T}{ST}$ अर्थात $\frac{०}{४}=०$

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि माग की लोच मध्य बिन्दु पर इकाई, मध्य बिन्दु से बायी ओर, ऊपर, इकाई से अधिक, मध्य बिन्दु से दायी ओर, नीचे, इकाई म कम होती है तथा जहा माग वक्र कीमत अक्ष OY को काटता है वहा यह अनन्त तथा जहा माग वक्र वस्तु मात्रा वाली अक्ष OX को काटता है वहा माग की लोच शून्य होती है।

पूर्व दिये गये चित्र न० ७ मे PM औसत लागत पर OM वस्तु मात्रा उत्पन्न की जाती है तथा इस उत्पादन के लिये CM सीमान्त लागत है। AE रेखा औसत

* P_3 तथा S के बीच की दूरी शून्य है, ये बिन्दु एक दूसरे पर सम्पात हैं।

मूल्यो-वक्र को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। इस कारण औसत वक्र की P बिन्दु पर लोच $\frac{PE}{AP}$ हुई।

परन्तु $\triangle ALP$ तथा $\triangle PME$ समरूप है ($\because \triangle ALS = \triangle PSC$)

इस कारण $\frac{PE}{AP} = \frac{PM}{AL} = \frac{PM}{PC}$

$= \frac{PM}{PM - MC}$ { समरूप त्रिभुजो की भुजाये अलग अलग समानुपाती होती है। }

$= \frac{\text{औसत मूल्य}}{\text{औसत मूल्य} - \text{सीमान्त मूल्य}}$

यदि हम लोच को e से औसत मूल्य को A से तथा सीमान्त मूल्य को M से दिखाये तो $e = \frac{A}{A - M}$, $A = M \frac{e}{e - 1}$ तथा $M = A \frac{e - 1}{e}$

माग की चाप लोच

(Arc Elasticity of Demand)

यद्यपि बिन्दु पद्धति द्वारा नापी गई माग की लोच काफी सन्तोषजनक है तो भी इस पद्धति के द्वारा माग की लोच नापना कठिन है क्योंकि ऐसे माग वक्र जो कि कीमत तथा वस्तु की मात्रा के सूक्ष्म परिवर्तनो को ध्यान मे रख कर बनाये गये हो शायद ही हमको व्यवहार म प्राप्त होते है। व्यवहार में तो हमको ऐसे माग वक्र ही प्राप्त होते है जोकि बहुत बडे-बडे परिवर्तन दिखाते है। इस कठिनाई से बचने के लिये हम चाप लोच का प्रयोग करते है। इस पद्धति मे कीमत तथा वस्तु की मात्रा के पुराने व नये आकडो के मध्य बिन्दुओ को काम मे लाते है। माग वक्र के किन्ही भी दो बिन्दुओ के बीच के भाग का चाप कहते है। इसी कारण इस प्रकार की माग की लोच को चाप लोच कहते है। इसका मालूम करने का सूत्र निम्नलिखित है—

$$\text{माग की लोच} = -\frac{\dfrac{\text{वस्तु की मात्रा मे परिवर्तन}}{\text{प्रारम्भिक मात्रा} + \text{कीमत परिवर्तन के पश्चात की मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत म परिवर्तन}}{\text{प्रारम्भिक कीमत} + \text{परिवर्तन के पश्चात कीमत}}}$$

मान लिया किसी चीज की कीमत ५ रु० है तथा उसकी मांग १०० है। यदि कीमत गिर कर ४ रु० हो जाय तथा माग बढ कर १२० हो जाय तो

$$\text{माग की लोच} = \frac{१००-१२०}{१००+१२०} - \frac{५-४}{५-४}$$

$$= \frac{-२०}{२२०} - \frac{१}{६}$$

$$= \frac{-२०}{२२०} \times \frac{६}{१}$$

$$= -\frac{१८०}{२२०}$$

$$= -८२$$

माग की लोच को व्यावहारिक उपयोगिता—

व्यावहारिक जीवन म माग की लोच की धारणा बडी ही उपयोगी है। विशेषत कीमत के निर्धारण करने म इसका बडा महत्त्व है। जिन वस्तुओ की माग की लोच अधिक होती है उनकी कीमत का बढावा या ऊचा रखना कभी भी लाभ-प्रद नही होगा। इसके विपरीत, जिन वस्तुओ की माग बेलोच होती है उनकी कीमत ऊची रखी जा सकती है क्योकि ऐसा करने स माग म ह्रास होने का कोई भय नही रहता।

माग की लोच का ज्ञान किसी विक्रेय अधिकारी के लिये बडा महत्त्वपूर्ण है। विक्रयकाधिकारी का वस्तु की माग पर कोई अधिकार नही होता। उसका अधिकार केवल पूर्ति पर होता है। इस कारण वह कीमत को इस ढग मे रखता है कि उसको अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। जिन वस्तुओ की माग लोचदार होती है उनकी कीमत को बढाने से कोई लाभ न होगा। इसके विपरीत, बेलोच माग वाली चीजो की कीमत ऊची की जा सकती है। विभेदित विक्रयेकाधिकार (Discriminating monopoly) भी माग की लोच के कारण ही सभव है। कीमत विभेदन उन्ही दो मडियो म सभव है जिनम किसी वस्तु विशेष की माग की लोच बराबर नही होती।

माग की लोच का ज्ञान सरकार के लिय भी बहुत आवश्यक है। सरकार बहुत सी चीजो पर कर लगाती है। यदि कर ऐसी चीजो पर लगाय जायें जो लोचदार माग वाली हैं तो सरकार को कर लगान से अधिक आय प्राप्त न होगी क्योकि चीज की कीमत बढने पर उसकी माग कम हो जायगी तथा करो से प्राप्त कुल आय पहले से भी कम हो सकती है। इसके विपरीत, यदि कर उन वस्तुओ पर लगाय जायें जो बेलोच माग वाली हैं तो सरकार अपने प्रयत्न मे अधिक सफल हो सकती है।

कर-भार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ भी वस्तु की माग की लोच के अनुसार ही निश्चित होते हैं। जिन वस्तुओं की माग लोचदार होती है उन पर लगे हुये कर का भार विक्रेताओं पर पडता है परन्तु जिन चीजों की माग बेलोच होती है उन पर लगे हुये कर का भार क्रेताओं पर पडता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उस देश को लाभ होता है जिसकी वस्तु की माग दूसरे देश के लिये बेलोच होती है। उदाहरण के लिये, हमारे लिये अमेरिकन गेहूं, मशीन आदि की माग बेलोच है क्योंकि हम उनको दूसरे देशों में प्राप्त नहीं कर सकते परन्तु अमेरिका के लिये हमारे जूट, चाय आदि की माग लोचदार है इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अमेरिका को लाभ तथा भारत को हानि होगी।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि माग की लोच का ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

८
TEXT BOOK उत्पादन
(Production)

उत्पादन क्या है ?—

अभी तक हमने आपको उपभोग के विषय म बताया है। परन्तु हम उपभोग किसी चीज का करते हैं ? यह चीज हमको कैसे प्राप्त होती है ? ये बडे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। हम केवल उपभोग्य चीजो का उपभोग करते है। उपभोग्य वस्तुयें वे होती हैं जो हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। पर ये चीजें हमको कैसे प्राप्त होती हैं ? ये चीजें हमको उत्पादन द्वारा प्राप्त होती हैं। अब प्रश्न उठता है कि उत्पादन क्या है ? उत्पादन शब्द का अर्थ साधारण भाषा में किसी चीज के निर्माण से लिया जाता है अर्थात् एक ऐसी चीज बनाने के अर्थ मे जो पहले ससार मे मौजूद नहीं थी। परन्तु विज्ञान हमको बतलाता है कि मनुष्य न तो पदार्थ को निर्माण ही कर सकता है और न उसको नष्ट ही कर सकता है। अधिक से अधिक वह किसी वस्तु पदार्थ का रूप परिवर्तन कर सकता है। वे सब चीजें जिनका हम उपभोग करते हैं हमको प्रकृति प्रदान करती है। ये सब चीज ससार मे हैं जैसे कोयला, लोहा, ताबा, सोना, चादी आदि धातुयें खानो मे भरी पडी है। मनुष्य उनको खानो से निकाल कर साफ करता है तथा उनको अपने लिये उपयोगी बनाता है। जिन देशों मे ये चीज भूमि के नीचे दबी हुई नही पाई जाती उन देशो मे मनुष्य एक पैसा भर भी इन चीजो को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रकृति हमको वन प्रदान करती है। मनुष्य लकडी को वन से काटता हैं और उस को शहरो तथा गावो तक पहुचाता है। वहा यह लकडी फर्नीचर बनाने, जलाने आदि के काम आती है। किसान हमको कुछ नई चीजें निर्माण करता हुआ दिखाई पडता है क्योकि थोडा अन्न अथवा अन्य चीजें बोकर उससे कई गुना उत्पादन करता है। परन्तु यदि हम विचार कर तो हमको पता चलेगा कि वह केवल खेत तैयार करके उसम बीज डाल देता है तथा उसके पश्चात उसमे पानी देता रहता है। लेकिन बीज से किस प्रकार पौधा बनता है तथा उसमे किस प्रकार फल, फूल आते हैं—किसान को इन प्रक्रियाओ का पता नही चलता। यह गूढ रहस्य हैं। यदि किसान अन्न आदि उत्पन्न करने की स्वय शक्ति

रखता तो फिर अन्न का संकट कभी न आता। इसी प्रकार बड़े-बड़े कारखानों में हमको जो उत्पादन कार्य होता हुआ दिखाई पड़ता है वह भी किसी नये पदार्थ का रूपान्तरण है जो कि प्रकृति मनुष्य को प्रदान करती है। अतः जब हम कहते हैं कि हमने अमुक चीज का निर्माण किया है तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि हमने एक ऐसे पदार्थ का निर्माण किया है जो संसार में पहले मौजूद नहीं था, वरन् हमारा अभिप्राय केवल यह होता है कि हमने उस पदार्थ को जो कि प्रकृति ने हमको किसी न किसी रूप में प्रदान किया था अपने लिये उपयोगी बनाया है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में 'उत्पादन' शब्द का प्रयोग उपयोगिता निर्माण करने के अर्थ में किया जाता है।

उपयोगिता निर्माण करने का कार्य कई ढंग से किया जाता है, जिससे कि भिन्न-भिन्न प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न होती हैं। सबसे पहले हम रूप उपयोगिता को लेते हैं। अधिकांश उत्पादन रूप परिवर्तन के द्वारा होता है, जैसे कि हम लकड़ी से मेज, कुर्सी, आलमारी आदि बनाते हैं, कपड़े से कोट, पतलून, कमीज आदि बनाते हैं, लोहे से कील, कांटे, गार्डर, सरिया आदि बनाते हैं, पानी से बिजली उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार रूप उपयोगिता द्वारा हम एक अनुपयोगी पदार्थ को अपने लिये पहले से अधिक उपयोगी बनाते हैं।

उपयोगिता निर्माण करने का कार्य स्थान-परिवर्तन द्वारा भी किया जाता है। यदि कोई वस्तु एक स्थान पर उपयोगी न हो तथा किसी दूसरे स्थान पर ले जाने से वह उपयोगी बन जाय तो उसमें स्थान उपयोगिता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिये, लकड़ी जंगल में उपयोगी नहीं है, परन्तु उसको जंगलों से काट कर जब शहरों में लाया जाता है तो वह हमारे लिये उपयोगी बन जाती है। यह उपयोगिता स्थान-परिवर्तन द्वारा निर्मित हुई। इसी प्रकार पानी को नदी से नलों द्वारा शहरों तक पहुंचाने में भी स्थान उपयोगिता उत्पन्न हो जाती है।

कुछ ऐसी चीजें होती हैं जिनमें आज इतनी उपयोगिता नहीं है जितनी कि कल हो सकती है, जैसे ऊनी कपड़े गर्मी के दिनों में उतने उपयोगी नहीं होते जितने कि वे जाड़ों में होते हैं। जो व्यापारी गर्मी के दिनों में ऊनी कपड़ा उठा कर रखता है तथा उसको जाड़ों में बेचता है वह उसमें काल उपयोगिता का निर्माण करता है। कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं जिनकी कुछ समय तक उठा कर रखने से उनकी कीमत बढ़ जाती हैं जैसे शराब, चावल आदि। ऐसी चीजों को उठा कर रखना भी उनमें काल उपयोगिता का निर्माण करना है।

कुछ चीजें ऐसी भी होती है जो एक व्यक्ति के लिये बेकार पर किसी अन्य के लिये बड़ी उपयोगी हो सकती है, जैसे दुकानदार लोग चीजें थोक व्यापारियों व मिलों से खरीद कर ग्राहकों को देते हैं। अपने इस कार्य के द्वारा वे इन चीजों में स्वामित्व उपयोगिता (Possession utility) निर्माण करते हैं।

बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो अपनी सेवाओं द्वारा दूसरे लोगों की इच्छा की पूर्ति करते हैं। अपने इस कार्य के द्वारा वे सेवा उपयोगिता का निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिये, अध्यापक, डाक्टर, वकील आदि अपनी-अपनी सेवाओं के द्वारा सेवा उपयोगिता उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार उत्पादन पदार्थों के रूप बदलने, उनको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने, उनको कुछ समय तक रखने, अथवा उनका उत्पादन करने वाला से उपभोक्ताओं के पास पहुचाने को कहते हैं। पुराने अर्थशास्त्री वकील, डाक्टरो, अध्यापको, सिपाहियों, न्याय धीशों आदि की सेवाओं को उत्पादनशील नहीं मानते थे। परन्तु आजकल लोगो का यह मत नहीं हैं। वे इन लोगो की सेवाओं को भी उत्पादन क्रिया ही मानते हैं।

उत्पादन कार्य-भूमि, श्रम, पूजी, व्यवस्था, जोखिम—इन पाच उत्पादन के साधनो द्वारा सम्पन्न होता है। अर्थशास्त्र मे भूमि, श्रम आदि विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये, भूमि के अन्तर्गत पृथ्वी का धरातल, वायु, प्रकाश, वर्षा, खनिज पदार्थ आदि आते हैं। श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य का श्रम ही आता है। यह श्रम शारीरिक अथवा मानसिक हो सकता है। इन दोनो प्रकार के श्रमों मे से अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम केवल उसी प्रकार के श्रम का अध्ययन करते हैं जो धन कमाने की इच्छा से किया जाता है। जो श्रम धन प्राप्त करने की इच्छा से नहीं किया जाता उसका अध्ययन अर्थशास्त्र मे नहीं किया जाता। पूजी मनुष्य की सम्पत्ति का वह भाग होता है जो कि और अधिक धन कमाने की इच्छा से उठा कर रखा जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने धन को जमीन में गाड़ कर रख देता है तो वह पूजी कहलायेगी। पूंजी औजार, कल-कारखानो, पुर्जों आदि के रूप में हो सकती है या मुद्रा के रूप मे हो सकती है। व्यवस्था एक विशेष प्रकार का श्रम होता है जिसकी आवश्यकता इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् महसूस हुई, जबकि उद्योग-धन्धों का क्षेत्र बहुत बढ गया तथा उत्पादन क्रिया को सम्पन्न करने वाले सब साधन एक स्थान पर न रहे। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व, उत्पादक की अपनी भूमि होती थी, उसका स्वय का श्रम होता था, उसकी पूजी होती थी, उसी की व्यवस्था होती थी तथा उसी को जोखिम उठानी पड़ती थी। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् उत्पादन क्रिया इतनी जटिल हो गयी कि एक व्यक्ति के लिये ये सब चीजें रखना सम्भव न हुआ। इसी कारण एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता पडी जो उत्पादन के इन सब साधनो को एक स्थान पर एकत्र करके उनको उत्पादन कार्य मे इस प्रकार लगाये कि उनसे प्रति इकाई अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो सके। ऐसे व्यक्ति को व्यवस्थापक की सज्ञा दी गई। व्यवस्थापक का उत्पादन-कार्य मे वही स्थान होता है जो कि सेना मे एक सेनापति का होता है। अमेरिकन अर्थशास्त्रियो ने जोखिम नाम का एक और साधन भी बताया। उनका कहना है कि आजकल व्यवस्थापक एक वैतनिक व्यक्ति होता है। इस कारण वह व्यापार अथवा उत्पादन

की जोखिम को सहन नही करता, उसको सहन करने वाले व्यक्ति कम्पनियो के हिस्सेदार होते हैं। इस प्रकार बहुत से अर्थशास्त्री उत्पादन के इन पाच साधनो को स्वीकार करते हैं।

परन्तु बेनहम आदि कुछ अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन-सम्बन्धी साधनो को पाच भागो म बाटने पर आपत्ति की है। उनका मत है किसी वर्ग के सारे साधन एक समान नही होते उनम बडा अन्तर होता है। उदाहरण के लिये, यदि हम अध्यापक डाक्टर, वकील, इन्जीनियर आदि के कार्यो को श्रम की श्रणी म रक्खे तो उचित न होगा, क्योकि इन सबो के कार्य एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होत हैं। इसी प्रकार सब भूमि एक समान नही होती। कोई उपजाऊ है तो कोई बजर। किसी पर खूब वर्षा होती है तो किसी पर वर्षा नाममात्र को भी नही होती। ऐसी स्थिति म सब भूमि को एक ही श्रणी मे रखना अनुचित होगा। पूजी की भी यही अवस्था है। कुछ पूजी ऐसी होती है जो केवल एक ही काम मे आ सकती है जैसे रेल का इजन। परन्तु कुछ पूजी ऐसी भी होती है जो कि एक से अधिक कामो मे आ सकती है जैसे बिजली की मोटर चक्की चलाने के काम भी आ सकता है तथा कुए से पानी निकालने के काम म भी। इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की तथा विभिन्न गुणो वाली वस्तुओ को समान मान कर उन्ह एक साधन मानना अनुचित तथा अवैज्ञानिक होगा। समान गुण सम्पन्न भूमि, श्रम, पूजी आदि को एक एक साधन के अन्तर्गत माना जा सकता है। यदि सम्पन्नता के आधार पर भी विभिन्न साधनो का वर्गीकरण किया जायगा तो हजारो साधन बन जायगे। इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधनो को एक श्रणी म रखना अनुचित होगा क्योकि बहुधा एक ही साधन म दो-तीन साधनों का समावेश होता है। उदाहरण के लिये आज सब भूमि प्रकृति की दन नही कही जा सकती क्योकि उस पर बहुत पूजी लगाकर उसको उन्नत किया जा चुका है। एसी स्थिति म यह अनुमान लगाना कठिन है कि कितनी भूमि प्रकृति की देन है तथा कितनी पूजी के रूप म है। श्रम तथा पूजी को उत्पादन का मौलिक साधन बताया जाता है परन्तु पूजी स्वय उत्पादि॰ वस्तु है। अपरञ्च भूमि, श्रम व पूजी की उत्पादन शक्ति को बढाया जा सकता है। भूमि को साफ करके ठीक बनाया जा सकता है। श्रमिको का शिक्षा देकर उनको अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। अत विशेषता के आधार पर भी साधनो को पृथक मानना उचित नही जान पडता।

बहुधा एक साधन की दूसरे स प्रतिस्थापना की जा सकती है। हम भूमि के स्थान पर श्रम श्रम के स्थान पर पूजी आदि का प्रयोग कर सकत हैं। बढई लकडी बिना मज नही बना सकता। परन्तु एक चतुर बढई, साधारण बढई की अपेक्षा कम लकडी का प्रयोग करके मेज बना सकता है। यहा पर लकडी का स्थान चतुरता ने ले लिया है। इसी प्रकार किसी खेत पर कुछ भूमि, श्रम तथा पूजी लगा कर कोई फसल उगाई जा सकती है। परन्तु उतनी ही फसल उससे कम भूमि परन्तु

पहले से अधिक पूंजी लगा कर उत्पन्न की जा सकती है। यह बात उत्पादन के सभी क्षेत्रों के लिये लागू होती है।

इन्हीं सब कारणों से उत्पादन के पांच साधन मानना गलत मालूम पड़ता है। अतः सभी साधनों को विशिष्ट (Specific) तथा अविशिष्ट (Non-specific) दो भागों में बांटा जा सकता है। जिन साधनों को भिन्न-भिन्न कामों में लाया जा सकता है अथवा जिनकी प्रतिस्थापना हो सकती है उन्हें अविशिष्ट कहा जा सकता हैं। इसके विपरीत, जिन साधनों को केवल एक ही काम में लाया जा सकता है उन्हें हम विशिष्ट कह सकते हैं। रेल का इन्जन केवल रेल चलाने के काम में ही लाया जा सकता है, इसीलिये वह एक विशिष्ट साधन है, परन्तु बिजली का मोटर अविशिष्ट साधन है क्योंकि उसको कई प्रकार के कामों में हम ला सकते हैं।

उत्पादन का महत्व—उत्पादन क्रिया का हमारे लिये बड़ा महत्व है क्योंकि उत्पादन की मात्रा पर ही हमारा जीवन-स्तर निर्भर होता है। यदि उत्पादन कम होता है तो स्वाभाविक है कि हम कम चीजों का उपभोग कर सकेंगे, यदि हम अधिक उत्पादन कर सकते हैं तो हम अधिक उपभोग कर सकेंगे तथा हमारा जीवन-स्तर ऊंचा होगा। यह बात सत्य है कि कुछ विशेष सुविधाओं के कारण एक देश दूसरे से अधिक उत्पादन कर सकता है तथा पहले देश के उत्पादन को दूसरे देश के लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा करने के काम में लाया जा सकता है। परन्तु उत्पादन करने की शक्ति सीमित है। यही कारण है कि इतनी वैज्ञानिक उन्नति के होते हुए भी संसार के सभी लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्णरूपेण सम्भव नहीं हो सकी। भविष्य में अणु-शक्ति अथवा और किसी शक्ति के कारण हमारी उत्पादन-शक्ति बढ़ जाय तब की बात हम नहीं कह सकते, परन्तु अभी तक हमारी उत्पादन-शक्ति सीमित है।

यहां कुछ लोग यह कह सकते हैं कि आजकल संसार में इतना उत्पादन होता है कि संसार के बहुत से देश अपनी कितनी चीजों को नष्ट कर देते हैं जैसे १९३१-३४ ई० के बीच ब्राजील में २० लाख टन कहवा जान-बूझ कर बर्बाद कर दिया गया। परन्तु इस प्रकार जो उत्पादन नष्ट किया जाता है वह संसार के कुल उत्पादन का एक छोटा सा अंश होता है। बहुत से लोगों का यह मत है कि आजकल संसार में उत्पादन के बहुत से साधनों का पूरा उपयोग नहीं किया जाता, जैसे बहुत सी भूमि बिना जुती पड़ी हुई पाई जाती है तथा बहुत सा श्रम बेकार होता है, परन्तु यदि हम अच्छे तथा बुरे वर्षों की सारे संसार की औसत निकालें तो हमको पता चलेगा कि सारे श्रम को निरन्तर रोजगार मिलने पर भी संसार के कुल उत्पादन में ५-१० प्रतिशत से अधिक वृद्धि नहीं हो सकती।* यह बात सत्य है कि हम उत्पादन के ढंगों में उन्नति करके उत्पादन को पर्याप्त मात्रा में बढ़ा सकते हैं परन्तु

* *Benham*—Economics—3rd. Ed., P. 103

फिर भी इस ढग से भी हम प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति उत्पादन मे ४–५ प्रतिशत से अधिक वृद्धि नही कर सकते। इस प्रकार हमारे सामने कम उत्पादन का प्रश्न अभी बहुत समय तक खडा रहेगा। इसका कारण यह है कि प्राय सभी प्रकार के उत्पादन मे किसी न किसी बिन्दु पर क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है। इस नियम के विषय मे हम आगे चलकर बयान करेंगे।

उत्पादन पर प्रभाव डालने वाली चीजें—

प्रो० बेनहम ने बताया है कि उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले कारणो को हम तीन भागो मे बाट सकते हैं।* सबसे पहले वे कारण आते है जिनके ऊपर मनुष्य अपना कोई प्रभाव नही डाल सकता। इनमे भूकम्प बाढ आना, वर्षा की न्यूनता आदि प्राकृतिक शक्तिया आती है। जिस वर्ष मे इनमे से कोई भी कारण अपना प्रकोप नही दिखाता उनमे फसल अच्छी होती है परन्तु जिन वर्षों मे इनमे से किसी भी शक्ति का प्रकोप हो जाता है उनमे फसल खराब हो जाती है। अन्य प्रकार के उत्पादन पर भी ये शक्तिया पर्याप्त रूप से काम करती है।

दूसरे, उत्पादन पर किसी देश के द्वारा प्राप्त किया गया शैल्पिक ज्ञान आता है। पाश्चात्य देशो मे आजकल इसी कारण इतना अधिक उत्पादन हो रहा है कि इन देशो ने शैल्पिक ज्ञान प्राप्त करने मे आश्चर्यजनक उन्नति की है। इसी कारण इन देशो मे आये दिन नई-नई मशीनो का आविष्कार किया जा रहा है जिनसे कि उत्पादन की मात्रा बहुत बढती जा रही है। इसके विपरीत हमारा देश इस दृष्टि से अभी तक बहुत पीछे है। यही कारण है कि आज हमारा देश प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से धनी होते हुये भी निधन है।

तीसरे उत्पादन की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि किसी देश मे *उत्पादन के साधन कितनी मात्रा मे पाये जाते है तथा उनका उपयोग किस प्रकार* किया जाता है। उदाहरण के लिये आजकल हम अपने देश मे पशुओ की उन्नति करके दूध की मात्रा बढाना चाहते है। परन्तु उसको हम इस कारण नही बढा सकते कि प्राय सारे देश के जोत गये क्षेत्र से इतना उत्पादन कठिनाई से प्राप्त होता है कि देश के सारे लोगो को गल्ला प्राप्त हो सके इसलिये हम पशुओ के लिये न तो चारा उगा सकते है और न ही उनके लिये घास के मैदान तथा चरागाह छोड सकते हैं। फलस्वरूप, पशुओ की स्थिति निरन्तर खराब होती जा रही है स्वाभाविक ही है कि दूध की मात्रा भी घटती जा रही है। यही नही यदि आज हम अपने देश मे मिट्टी के तेल व पैट्रोल का उत्पादन बढाना चाहे तो हम ऐसा शीघ्र नही कर सकते क्योकि हमारे देश के मिट्टी के तेल के ज्ञान गम्य साधन बहुत अपर्याप्त है। इसी कारण शैल्पिक ज्ञान पर्याप्त होते हुय भी कोई देश उस समय तक उन्नति नही कर सकता जब तक कि उस देश मे उत्पादन के साधनो का अभाव रहेगा।

*Ibid., P 109

की है। उनका कहना है कि 'नियम' की विशेषता यह होती है कि वह हर परिस्थिति मे लागू होता है। परन्तु ये दोनो नियम निश्चित रूप से किसी भी उद्योग के ऊपर लागू नही होते। इस कारण इनके विषय मे 'नियम' शब्द का प्रयोग उचित न होगा। परन्तु इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र का कोई भी नियम हर परिस्थिति मे लागू नही होता। यदि हम अन्य स्थानो पर 'नियम' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इस स्थिति मे क्या आपत्ति हो सकती है, विशेषत उस समय जबकि क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम उत्पादन के किसी न किसी चरण पर अवश्य देखने को मिलता है। तो फिर इसके साथ 'नियम' शब्द का प्रयोग उचित ही जान पडता है।

प्रो० पीगू ने 'लागत ह्रास' तथा 'लागत वृद्धि' शब्दो के स्थान पर 'बढती हुई पूर्ति कीमत' (Increasing Supply Price) तथा 'घटती हुई पूर्ति कीमत' (Decreasing Supply Price) वाक्याशो का प्रयोग किया है क्योकि कभी-कभी ऐसा होता है कि औसत लागत गिरती है तो सीमान्त लागत बढती है अथवा औसत लागत बढती है तो सीमान्त लागत गिरती है, परन्तु श्री मती जान राबिन्सन ने प्रो० पीगू के 'पूर्ति कीमत' वाक्याश पर आपत्ति प्रकट करते हुय कहा है कि इसका किसी एक फर्म के लिये कोई अर्थ नही है। विक्रयकाधिकारी उत्पादन की पूर्ति कीमत बताना असम्भव है। इस कारण हमारे लिय सबसे अच्छा मार्ग यह है कि हम 'ह्रास' तथा 'वृद्धि लागत' शब्दो का प्रयोग करे तथा जहा कही आवश्यक हो इन शब्दो का स्पष्टीकरण कर दे।*

क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम

क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण नियम है। पुराने अग्रेजी अर्थशास्त्रियो का मत था कि यह नियम खेती पर ही लागू होता है। वे कहा करते थ कि यदि जनसख्या बढती है तो खाद्य सामग्री की माग भी बढ़ती है, परन्तु भूमि का क्षेत्र सीमित होता है। इस कारण अधिक खाद्य सामग्री प्राप्त करने के लिये भूमि पर अधिक आदमियो को लगाना पडेगा। परन्तु इन आदमियों को लगाने से उत्पादन मे उसी अनुपात मे वृद्धि न होगी जिस अनुपात मे अधिक व्यक्ति लगाये गये है। इस कारण प्रति एकड औसत उपज गिर जायगी। उदाहरण के लिए यदि आदमियो की सख्या पहल से दुगनी कर दी जाय तो भूमि से प्राप्त उत्पादन पहले से दुगना न होगा। इन अर्थशास्त्रियो का मत था कि यद्यपि वैज्ञानिक उन्नति के कारण इस प्रवृत्ति को कुछ समय तक के लिये रोका जा सकता है परन्तु यह सदा विद्यमान रहती है। प्रो० मार्शल की परिभाषा इस मत को प्रकट करती है। वे कहते हैं कि—

* *Joan Robinson*—The Economics of Imperfect Competition P 329

'यदि कृषि कला के साथ-साथ उन्नति न हो तो भूमि पर लगाई गई पूंजी और श्रम की मात्राओं मे वृद्धि होने से कुल उपज मे सामान्यत उससे कम अनुपात मे वृद्धि होती है।'*

अपने निजी अनुभव तथा इतिहास के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्येक किसान इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अधिक उपज प्राप्त करने के लिये अधिक भूमि प्राप्त करे। यदि भूमि उसको नि शुल्क प्राप्त हो जाय तो अच्छा ही है, परन्तु यदि वह नि शुल्क प्राप्त न हो तो वह उसको धन दे कर प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह ऐसा क्यो करता है ? इसलिये, कि वह जानता है कि अपनी भूमि से आवश्यकतानुसार वह उपज प्राप्त नही कर सकता। यदि वह कर सकता तो वह अधिक पू जी तथा श्रम लगाकर अपनी सीमित भूमि से सारे ससार के लिये खाद्य सामग्री उत्पन्न करने का प्रयत्न करता जिससे कि शेष भूमि और दूसरे कामो मे आ सकती। यहाँ यह बात बतानी आवश्यक है कि कुछ भूमि ऐसी होती है जो हाल मे ही प्राप्त किये होने के कारण ठीक प्रकार से उन्नत नही होती। उदाहरण के लिये, आजकल हमारे देश मे विभिन्न स्थानो पर जगलो को काटकर टीलो को हटाकर तथा अन्य ढगो से प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रकार की भूमि को खेती के योग्य बनाने के लिये पर्याप्त श्रम व पू जी लगानी पडती है तथा इस प्रकार कई वर्षों तक परिश्रम तथा व्यय के पश्चात् ही वह भूमि खेती के योग्य बनती है। जब तक भूमि खेती के पूर्ण योग्य नही बनती तब तक उससे प्राप्त होने वाली औसत उपज उस अनुपात से अधिक होती है जिस अनुपात मे कि श्रम व पू जी मे वृद्धि की जाती है। परन्तु जब भूमि पूर्ण रूप से खेती के योग्य हो जाती है तब उस पर श्रम व पू जी की मात्रा बढाने से उपज का अनुपात अपेक्षाकृत क्रमश गिरने लगता है। यदि क्रमगत-ह्रास की प्रवृत्ति न होती तो प्रत्येक किसान छोटे से भूमि के क्षेत्र को रखकर तथा शेष भूमि को छोड कर अपने सारे लगान को बचाने का प्रयत्न करता तथा अपनी सब पू जी व श्रम को उस छोटे भूमि के टुकडे पर लगाने का प्रयत्न करता। यदि उसका समस्त श्रम व उसकी पू जी उसको उसी अनुपात मे प्रतिफल प्रदान करते जितने कि वे मौजूदा हालत मे कर रहे हैं तो वह उस टुकडे से इतनी पैदावार प्राप्त करने का प्रयत्न करता जितनी कि वह अपनी सारी भूमि से इस समय प्राप्त कर रहा है तथा उस छोटे टुकडे के लगान को छोडकर वह शेष भूमि के लगान से मुक्त हो जाता।

यह बात सत्य है कि इगलैंड जैसे उन्नतिशील देश मे भी बहुत सी भूमि इतनी अयोग्यता से जोती जाती है कि यदि इस पर वर्तमान से दुगना श्रम व पू जी योग्यता से लगा दी जाय तो कुल उपज दुगनी से अधिक मिलेगी। परन्तु इस बात के होते हुये भी यह सिद्ध नही होता कि यदि परिस्थिति मे कोई परिवर्तन न हो तो हम

* *Marshall, Principles p 125.*

अधिकाधिक श्रम तथा पूंजी लगाकर भूमि से क्रमश बढती हुई मात्रा मे उपज निरन्तर प्राप्त कर सकते हैं।

यहा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि उत्पादन ह्रास नियम केवल यह बताता है कि श्रम और पूंजी की अधिकाधिक अतिरिक्त इकाइयो से जो अधिक उपज प्राप्त होती है उसकी मात्रा अनुपात मे अपनी पूर्ववर्ती वृद्धि की अपेक्षा कम होती है। यह नियम प्राप्त की गई उपज की कीमत से कोई सम्बन्ध नही रखता। इसका सम्बन्ध केवल अतिरिक्त उपज से है। उदाहरण के लिये, यदि हमको १०० रुपये लगाकर १० मन गल्ला प्राप्त होता है तथा २०० रुपये लगाकर १६ मन गल्ला प्राप्त होता है तो हमको पहले १०० रु० से १० मन गल्ला प्राप्त हुआ तथा दूसरे १०० रुपये से केवल ६ मन, परन्तु यह सम्भव है कि पहला १० मन गल्ला १०० रु० मे ही बिके तथा दूसरा ६ मन गल्ला भी १०० रुपये मे बिके। इसलिये जब हम कहते हैं कि भूमि पर यह नियम लागू होता है तो हमारा अभिप्राय यही है कि उपज की मात्रा उत्तरोत्तर उस गति से प्राप्त न होगी जिस गति से कि पहले प्राप्त हो रही थी। इस सम्बन्ध मे यह बात भी स्मरण रहे कि यह नियम यह नही कहता कि कुल उपज घट जाती है। कुल उपज तो बढती है परन्तु इसके बढने की गति मन्द पड जाती है। इस नियम के सम्बन्ध मे तीसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि इसका खेती के पैमाने से कोई सम्बन्ध नही होता। यह नियम विस्तृत खेती पर उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार कि गहरी खेती पर।

विस्तृत खेती पर यह नियम उस समय लागू होता है जिस समय समान उर्वरा-शक्ति वाले सब खेत जोते जा चुकते हैं तथा और अधिक उपज प्राप्त करने के लिये किसानो को कम उर्वरा-शक्ति वाले खेत जोतने पड़ते हैं। जब किसान कम उर्वरा-शक्ति वाले खेतो पर खेती करेगे तो यह स्वाभाविक ही है कि उनमे उतना ही श्रम व पूंजी लगाकर अपेक्षकृत कम उपज प्राप्त की जा सकेगी। इस प्रकार जब हम कहते है कि यह नियम विस्तृत खेती पर लागू होता है तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि निम्न श्रेणी की भूमि पर अच्छी श्रेणी की भूमि की अपेक्षा प्रति इकाई कम उपज होती है। गहरी खेती मे हम एक ही खेत पर अधिक श्रम व पूंजी लगाते हैं। इस दशा मे प्रारम्भ मे लगी हुई श्रम व पूंजी की इकाइयो पर पीछे लगी हुई श्रम व पूंजी की इकाइयो की अपेक्षा अधिक उपज मिलती है। इस प्रकार यह नियम पीछे लगी हुई श्रम व पूंजी की इकाइयो पर लागू होता है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि खेती के ऊपर यह नियम क्यो लागू होता है। इसका कारण यह है कि कृषि-उत्पादन इस बात पर निर्भर होता है कि भूमि मे पौधे को जीवन प्रदान करने के लिए कुछ लवणो, सजीव तत्वो आदि की आवश्यकता होती है जिनकी मात्रा भूमि मे सीमित होती है। जब भूमि पर कोई फसल उगाई जाती है तो वह इन तत्वो का कुछ भाग अपने अन्दर ग्रहण कर लेती है। किसान दूसरी फसल उगाने से पूर्व इस बात का प्रयत्न करता है कि वह इन, पहली फसल

द्वारा ग्रहण किये गये तत्वों को फिर से भूमि में लाकर भर दें। इस हेतु वह भूमि में खाद, पानी आदि देता है, परन्तु फिर भी ये खोये गये पदार्थ पूर्व मात्रा में लौट नहीं पाते क्योंकि किसान अपने अनुमान से इस बात का ठीक पता नहीं लगा सकता कि भूमि का कौनसा पदार्थ कितनी मात्रा में नष्ट हो गया है तथा कितनी खाद देकर उसे फिर से भूमि को लौटाया जा सकता है। इस कारण वह खाद की मात्रा का ठीक अनुमान नहीं लगा सकता। यदि खाद कम दी जायगी तो खाये हुए तत्व कम मात्रा में लौट पायेंगे परन्तु यदि वह अधिक खाद देता है तो अतिरिक्त तत्व कोई विशेष लाभ न पहुँचायेंगे, खर्च अवश्य बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त एक प्रकार की खाद में वे सब तत्व नहीं हो सकते जो कि भूमि में से नष्ट हो चुके हैं। इसलिये उन सब तत्वों को भूमि में पहुँचाने के लिये कई प्रकार की खाद देने की आवश्यकता पड़ेगी। हो सकता है कि इनमें से कोई खाद इतनी महंगी हो कि किसान के लिये उसको भूमि में देना लाभप्रद न हो। यही कारण है कि भूमि की खोई हुई शक्ति बहुधा पूर्ण रूप में लौट नहीं पाती। फिर यह बात भी है कि कृत्रिम खादों की मात्रा सीमित होती है। इसके अतिरिक्त कृषि उत्पादन का एक निश्चित समय होता है। किसान चाहे तो उस समय को कम नहीं कर सकता। फसल बोकर शान्ति से वह उस समय की बाट देखता है कि फसल कब तैयार होती है। इस बीच में बाढ़, आँधी, ओले, भूचाल आदि के प्रकोप से फसल नष्ट हो सकती है। इसके अतिरिक्त हर एक पौधे को अपनी जड़ें फैलाने व साँस लेने के लिये कुछ स्थान की आवश्यकता पड़ती है जो कि घटाया नहीं जा सकता। इन्हीं सब कारणों से भूमि पर क्रमागत उत्पादन ह्रास-नियम लागू होता है। औद्योगिक उत्पादन में ये सब कठिनाइयाँ नहीं होतीं। इस कारण वहाँ पर बहुधा यह नियम लागू नहीं होता और यदि होता भी है तो बहुत विलम्ब से।

प्रो० मार्शल की परिभाषा को देखने से पता चलता है कि उसमें इस नियम का एक अपवाद दिया गया है, वह यह है कि यदि कृषि कला में उन्नति हो जाय तो इस नियम के क्रियाशीलता को रोका जा सकता है। प्रो० बेनहम ने कहा है कि निश्चित इतिहास में भूमि से प्राप्त होने वाली प्रति व्यक्ति उपज घटने के बदले बढ़ी है तथा पिछले एक सौ वर्षों में तो इस दृष्टि से बहुत अधिक उन्नति हुई है। इसका कारण यह है कि इस काल में बहुत से नये-नये आविष्कार व खोजें हुई हैं जिनसे कि कृषि उद्योग की बड़ी उन्नति हुई है। इन चीजों में फसलों का हेर-फेर करना, कृषि मशीनों का आविष्कार होना, भूमि में उचित प्रकार से खाद देना, नई-नई फसलों की खोज होना जो कि पहले से अधिक उत्तम प्रकार की हैं तथा जिनमें रोग नहीं लगते आदि बातें शामिल हैं। इन आविष्कारों व खोजों के कारण खेती पर प्रति एकड़ मजदूरों की संख्या घटती जा रही है। इस प्रकार उत्पादन ह्रास की प्रवृत्ति रुक गई है। प्रो० बेनहम का मत है कि इन सब प्रकार की उन्नतियों के होते हुए भी उत्पादन ह्रास की प्रवृत्ति सदा बनी रहती है। वे कहते हैं कि यह नियम न केवल

कृषि पर ही लागू होता है वरन् सब प्रकार के उत्पादन की शाखाओं में भी लागू होता हैं। उनके अनुसार–उत्पादन ह्रास नियम बताता है कि यदि किसी दिये हुए समय पर साधनों के पारस्परिक अनुपात को बदल दिया जाय तो किस प्रकार उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन हो जायगा तथा यह विज्ञान में किसी प्रकार के भी परिवर्तन पर ध्यान नहीं देता। यह उन विकल्पों (alternatives) को दिखाता है जो कि किसी समय अपने आप को पेश करते है तथा " यह न केवल कृषि पर लागू होता है वरन् उत्पादन की सब शाखाओं पर लागू होता है।*

वास्तव में बात यह है कि यह नियम केवल कृषि के ऊपर ही लागू नहीं होता वरन् सब प्रकार के उत्पादनों पर लागू होता है। जब कभी भी एक स्थिर पूर्ति वाले साधन का संयोग दूसरे घटने-बढने वाले साधनों से होगा वहीं पर यह नियम लागू होना आवश्यक सा हो जाता है। उदाहरण के लिए, यदि हम श्रम को स्थिर रख कर भूमि को बढायें तो भी यह नियम लागू होगा क्योंकि अधिक भूमि को कम श्रम ठीक प्रकार से न जोत सकेगा। इसलिये उत्पादन कम होगा। इसी प्रकार यदि हम पूंजी को (अर्थात् पूंजी उपकरणों को) स्थिर रख कर श्रम या भूमि की मात्रा को बढाये तो कम मशीन अधिक भूमि पर ठीक काम न कर सकेंगी अथवा कम मशीन [पर अधिक आदमी समुचित रूप से न लगाये जा सकेगे। इसी लिये प्रा० बेनहम् ने कहा है कि कृषि अथवा भूमि के साथ कोई विशेषता नहीं होती। यह नियम हर साधन तथा हर उद्योग के साथ लागू होता है।

श्रीमती जॉन राबिन्सन ने भी इस नियम की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'उत्पादन ह्रास नियम, जैसा कि यह साधारणत बयान किया जाता है, बताता है कि उत्पादन के किसी एक साधन की निश्चित मात्रा के साथ दूसरे साधनों की उत्तरोत्तर वृद्धि एक बिन्दु के पश्चात उत्पादन म ह्रासोन्मुख वृद्धि प्रदान करेगी। इसके पश्चात व कहती हैं कि यदि हम इस नियम का विचार उत्पादन की लागत की दृष्टि स करे तथा यदि एक साधन की मात्रा को निश्चित रग तथा इसके साथ दूसर साधनो की मात्राओं म वृद्धि करें और बढी हुई मात्रा के उपयोग के फलस्वरूप यदि इन दूसरे साधनो की कार्यकुशलता मे उन्नति न हो अथवा इनकी कीमतो में कोई कमी न हो तो एक बिन्दु के पश्चात उत्पादन की प्रति इकाई लागत बढ जायगी।** वे आगे बताती है कि उत्पादन ह्रास नियम वास्तव म जो बात बताता है वह यह है कि उत्पादन क एक साधन का दूसरे स प्रतिस्थापन केवल एक सीमा तक ही किया जा सकता है। दूसरे शब्दो म, उत्पादन के साधनों की प्रतिस्थापना की लोच अनन्त नहीं है। यदि यह बात सत्य न होती तो जब एक साधन मात्रा म

* *Benham*—Economics, P 122—23.

** *Joan Robinson*—The Economics of Imperfect Competition P. 330

स्थिर होता है तथा अन्यों की पूर्ति की लोच पूर्ण होती तो इस स्थिर साधन की सहायता से हम उत्पादन का कुछ अंश प्राप्त कर सकते तथा जब इस साधन तथा दूसरे साधनों का इष्टतम अनुपात में संयोग हो जाता [जिससे कि अधिकतम उत्पादन हो सकता] तो इस स्थिर साधन के स्थान पर दूसरा कोई साधन लगा कर समान लागत पर उत्पादन बढा सकते।

इस प्रकार उत्पादन ह्रास नियम का अर्थ यह है कि किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिये जिन तत्वों की आवश्यकता होती है उनको ऐसे समूहों में बाँटा जाना चाहिये कि प्रत्येक समूह एक उत्पादन का साधन इस ढंग से हो कि प्रत्येक साधन की स्थानापनता की लोच अनन्त से कम हो।

जब एक साधन की पूर्ति सीमित होती है तथा उस के साथ दूसरे साधनों की मात्राओं को बढा कर कोई चीज उत्पन्न की जाती है तो लागत खर्च बढ़ता चला जायगा तथा यदि इस साधन का प्रतिस्थापन किसी दूसरे साधन से न किया जा सके तो इस स्वल्प साधन की पूर्ति कीमत जितनी ही अधिक बढगी उतनी ही अधिक वस्तु की लागत भी बढेगी। परन्तु साधारणत किसी साधन की पूर्ति पूर्ण रूप से बेलोच नहीं होती। इस कारण इस साधन का दूसरे साधनों से प्रतिस्थापन किसी न किसी सीमा तक सम्भव होता ही है। इस कारण उत्पादन बढाने पर यदि स्वल्प साधन की पूर्ति बेलोच भी हुई, तो भी लागत उस अनुपात मे नही बढती जिस अनुपात मे स्वल्प साधन की कीमत बढती है।

चूं कि जब कोई साधन स्वल्प होता है तब साधनों के अनुपात में परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उत्पादन-ह्रास नियम का सम्बन्ध साधनों के अनुपात मे परिवर्तन से होता है। परन्तु यह नियम मुख्यत इसलिये लागू नहीं होता कि साधनों के अनुपात में परिवर्तन किया जा सकता है बल्कि इसलिये लागू होता है कि साधनों के अनुपात मे एक सीमा तक ही परिवर्तन किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन ह्रास नियम तब लागू होता है जबकि एक स्थिर उत्पादन के साधन के साथ दूसरे परिवर्तनशील साधन काम करते हैं। ऐसी स्थिति मे उन परिवर्तनशील साधनों से प्राप्त सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन घटता चला जाता है। इस कारण प्रो० चैपमैन ने कहा है कि यदि अन्य बातें समान हों तो किसी उद्योग के बढाने पर या तो प्रारम्भ ही से या अन्त में क्रमगत-उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है यदि उत्पादन के उस स्थिर साधन की जो उत्पादन के लिये आवश्यक है पूर्ति न बढाई जा सके।* यह नियम न केवल खेती पर लागू होता है वरन् अन्य कुछ उद्योगों पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिये, यह खानों, इमारतों, मछलियों और यहां तक कि माल तैयार करने वाले उद्योगों पर भी लागू होता है। जब हम अधिक धातु प्राप्त करने के लिये या तो पहली खान को

* *Chapman—Outlines of Political Economy, P. 110.*

अधिक गहरा खोदते है या कुछ घटिया खानो को खोदते हैं तब लागत खर्च बढ जाता है। इसी प्रकार इमारतो मे पहली मजिल बनाने मे जितना खर्च होता है दूसरी मे उससे कम होता है परन्तु तीसरी, चौथी, पाचवी मजिलो के बनाने का खर्च क्रमश बढता जाता है। परन्तु चू कि अधिक ऊँचाई पर लोग कम रहना पसद करते है, इसलिये इन मजिलो का किराया कम होता चला जाता है। इस प्रकार तीसरी, चौथी तथा अधिक ऊँची मजिलो पर यह नियम लागू होने लगता है। मछलियो को भी यदि हम पास वाली नदी से पकडते है तो खर्च कम होता है परन्तु दूर वाली नदी मे पकडने पर खर्च बढ जाता है। समुद्री मछलियो का स्टॉक अपार बताया जाता है। इसलिये उनके लिये यह नियम देर मे लागू होगा, किन्तु होगा अवश्य क्योकि जब किनारे के पास की मछलिया समाप्त हो जायेंगी तब दूर से मछलिया पकडनी पडेंगी। इसलिये लागत बढना स्वाभाविक है। कारखाना मे पर्याप्त समय तक यह नियम लागू नही होता क्योकि कारखानो मे प्रकृति का प्रभाव उतना प्रबल नही होता, उत्पादन के समय को मनुष्य अपनी इच्छानुसार घटा बढा सकता है। वह थोडी भूमि पर ही ऊपर नीचे मशीनें लगा कर भूमि की माग को कम कर सकता है। परन्तु कारखानो मे भी उत्पादन, व्यवस्थापक की योग्यता तथा उसकी देख भाल करने की शक्ति द्वारा सीमित होगा। जब कारखाने का इतना विस्तार हो जायगा कि वह व्यवस्थापक की देख भाल करने की शक्ति के बाहर हो जायगा तब उत्पादन कार्य मे बर्बादी होने लगेगी तथा यह नियम लागू होने लगेगा।

इस नियम को हम दी हुई तालिका द्वारा समझा सकते है—

श्रम व पू जी अर्थात् घटने, बढने वाले साधनो की इकाइया	कुल उपज	सीमात उपज	औसत उपज
१	१० मन	१० मन	१० मन
२	२१ मन	११ मन	१०.५ मन
३	३३ मन	१२ मन	११ मन
४	४४ मन	११ मन	११ मन
५	५४ मन	१० मन	१०.८ मन
६	६० मन	६ मन	१० मन
७	६३ मन	३ मन	९ मन

पृष्ठ २३५ पर दिये गये चित्र मे हमने OX पर श्रम व पू जी अर्थात् परिवर्तनशील साधनो की इकाइया दिखाई हैं तथा Y पर इनसे प्राप्त होने वाली उपज। इस प्रकार हमने औसत उपज वक्र तथा सीमान्त उपज वक्र प्राप्त किया। इन वक्रो को देखने से पता चलता है कि पहले औसत तथा सीमान्त उपज दोनो बढती है तथा

श्रम व पूँजी की इकाइयां
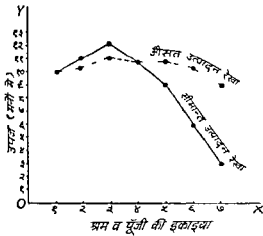
धीरे धीरे वे गिरने लगती हैं। इस चित्र से यह भी पता चलता है कि जब चार इकाइयां लगाई जाती हैं तो औसत और सीमान्त उपज बराबर हो जाती है। उसके पूर्व सीमान्त उपज औसत उपज से अधिक है परन्तु उसके पश्चात् सीमान्त उपज औसत उपज से कम होती जाती है। इसी प्रकार हम सीमान्त तथा औसत लागत वक्र प्राप्त कर सकते हैं। पृष्ठ २३४ पर दी हुई तालिका में हम कुल उपज के स्थान पर कुल लागत तथा सीमान्त व औसत उपज के स्थान पर क्रमश सीमान्त लागत व औसत लागत दिखा सकते हैं।

क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम के सम्बन्ध में यह बात बतानी आवश्यक है कि जैसे जैसे उपज कम होती जाती है वैसे वैसे लागत खर्च बढती जाती है। कोई उत्पादक तभी तक उपज बढाने का प्रयत्न करेगा जब तक कि उसको उत्पादित माल बेचकर अपनी लागत वसूल हो जाती है। वह अन्तिम इकाई, जिसमें उत्पादन पर लगायी गयी अतिरिक्त लागत उसके विक्रय से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय के बराबर हो सीमान्त इकाई कहलाती है। वह भूमि जिस पर वह उपज प्राप्त की जाती है सीमान्त भूमि (Marginal land) कहलाती है। परन्तु यहा यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि जो भूमि या इकाई एक बार सीमान्त हो जाती है वह सदा के लिये सीमान्त नहीं बनी रहती। यदि वस्तु की माग बहुत अधिक बढ जाने के कारण उसकी बजाय कीमत बहुत बढ जाती है तो किसान लागत बढाने की परवाह न करेगा तथा अधिक रुपइया लगाकर अधिक उपज प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार जो भूमि अथवा इकाई पहले सीमान्त थी वह सीमान्त न रहेगी। इसी लिये यह कहा जा सकता है कि सीमान्त इकाई आवश्यक रूप से अन्तिम इकाई नहीं होती वरन् इसका स्थान दूसरी इकाई ले सकती है। पर शर्त यह है कि बाजारी कीमत में कुछ परिवर्तन हो।

इस नियम का महत्व—क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण नियम है। इसके ऊपर अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों ने अपने बहुत से नियम बनाये थे, विशेषत माल्थस और रिकार्डो ने। माल्थस ने अपना जनसंख्या का सिद्धान्त इस धारणा पर बनाया था कि खेती के ऊपर क्रमगत उत्पादन-ह्रास नियम लागू होता है। रिकार्डो का लगान का नियम भी इस नियम पर आधारित था। व्यापार का उच्चतम् आकार (Optimum size) भी इसी नियम के द्वारा बताया जाता है। सीमान्त उत्पादन नियम भी इस नियम के द्वारा समझाया जा सकता है।

क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम

अभी तक हमने बताया है कि उत्पादन के एक साधन को स्थिर रख कर यदि उसके ऊपर किसी दूसरे साधन को बढाया जाय तो साधारणत प्रति इकाई उपज कम होती चली जाती है। परन्तु आधुनिक कल-कारखानो मे जहा पर कि बडी बडी मशीनो से काम लेना पडता है यदि श्रम व पूजी आदि की मात्रा को बढाया जाय तो व्यवस्था उन्नत हो जाती है, जिसके फलस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा बढती जाती है। इस प्रवृत्ति को क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम की सज्ञा दी गई है। चू कि इस दशा मे प्रति इकाई लागत घटती जाती है इसलिये इस नियम को क्रमगत मूल्य ह्रास नियम भी कहा गया है। प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है—

"श्रम और पूजी की मात्रा मे वृद्धि करने से सामान्यत उन्नत व्यवस्था हो जाती है जिसके फलस्वरूप श्रम और पूजी की कार्य कुशलता बढ जाती है।

मार्शल का मत है कि ऐसे उद्योगो मे जो कच्चे माल को उत्पन्न करने मे नही लगे हुए है यदि श्रम व पूजी की मात्रा बढाई जाय तो अनुपात से अधिक उपज प्राप्त होती है। इस प्रकार मार्शल के अनुसार यह नियम कारखाने वाले उद्योगो से ही सम्बन्ध रखता है। इसका कारण यह है कि कारखानो मे अधिक श्रम व पूजी लगाने से दो प्रकार की बचत प्राप्त होती है —(i) बाह्य बचत (External economies) तथा (ii) आभ्यान्तरिक बचत (Internal economies)

आभ्यंतरिक बचत—ये बचत वे होती हैं जो कि कारखाने के निज आकार बढने के कारण प्राप्त होती है ये बचत किसी दूसरे कारखाने को उपलब्ध नही हो सकती। जब कारखाने का आकार बढाया जाता है तब अन्यान्य प्रकार की लागतें भी बढानी पडती है। उदाहरण के लिये, यदि एक कपास का कारखाना है तो उसके लिये एक पूरी मशीन खरीदनी पडेगी। उस बडी मशीन को लगाने के लिये एक बडी इमारत की आवश्यकता पडेगी। कारखाने की देख भाल करने के लिये अच्छे-अच्छे मैनेजर, इन्जीनियर आदि रखने पडेगे। यदि कारखाना चलाना है तो ये सब खर्चे करने ही पडेगें। ये सब खर्चे करके यदि उत्पादन की मात्रा अधिक होती है तो प्रति इकाई लागत कम आती है, यदि उत्पादन की मात्रा कम होती है तो प्रति इकाई लागत अधिक हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, जैसे-जैसे कारखाने का विस्तार बढता जाता है वैसे-वैसे उसमे विशिष्ट कार्य करने के लिये विशिष्ट मशीन लगाई जा सकती है। इसलिये बडे-बडे कारखानो मे श्रम-विभाजन (Division of Labour) के लिये काफी अवसर मिलता है। श्रम-विभाजन से उत्पादन की मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि लाई जा सकती है।

यही नहीं, बड़े-बड़े कारखाने अपने यहा बड़े-बड़े इन्जीनियरों को नौकर रख कर *उत्पादन के ऐसे ढंगों की खोज करने का प्रयत्न करते रहते हैं, जिनके द्वारा कम* से कम लागत पर अधिक से अधिक चीज उत्पन्न की जा सकती है।

बड़े-बड़े कारखानों में कोई भी चीज बेकार नहीं जाने पाती। कहते हैं कि शिकागो (अमेरिका) के मास के कारखानों में एक बाल भी बेकार नहीं जाने पाता। इस कारण लाभ की मात्रा बहुत बढ जाती है।

बड़े कारखानों का विज्ञापन का खर्च भी कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि उत्पादन की मात्रा चाहे कम हो अथवा अधिक विज्ञापन के खर्च में कोई परिवर्तन न होगा। इसलिये यदि उत्पादन की मात्रा अधिक होती है तो वह खर्च बहुत अधिक इकाइयों पर बट जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है। *इसके विपरीत, उत्पादन की मात्रा कम होने पर प्रति इकाई लागत बढ जाती है।* फिर माल विपणन में भी सुविधा होती है।

इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारखाने बड़े पैमाने पर कच्चे माल खरीदते हैं। इस कार्य को करने के लिये वे योग्य व्यक्तियों को रख सकते हैं जो कि अच्छे से अच्छा माल कम से कम कीमत पर खरीद सकते हैं। अधिक माल का ठेला भाड़ा, रेल भाड़ा आदि भी औसतन कम होता है। इस प्रकार जब कच्चे माल की लागत कम हो जाती है तो स्वाभाविक है कि तैयार माल की प्रति इकाई लागत कम हो जायगी। बड़ी फर्मों को अपेक्षाकृत कम ब्याज-दर पर ऋण भी आसानी से मिल जाता है।

बाह्य बचत—बाह्य बचत किसी विशिष्ट कारखाने के प्रसार के फलस्वरूप प्राप्त नहीं होती वरन् सम्पूर्ण उद्योग के विस्तार के कारण प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये, कलकत्ते के आस-पास सैकड़ो जूट की मिलें है अथवा बम्बई, अहमदाबाद में सैकड़ो रुई की मिलें हैं। जब किसी स्थान पर एक ही प्रकार के बहुत से कारखाने खड़े हो जाते हैं, तब इन कारखानों को कई प्रकार की बाह्य बचत होने लगती है। उदाहरण के लिये, इस उद्योग में काम आने वाली मशीनों की मरम्मत करने के लिये उस क्षेत्र के पास बहुत से कारखाने खड़े हो सकते हैं, जिससे कि मरम्मत का खर्च कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त, उस क्षेत्र में बहुत से बैंक चालू हो जाते हैं जो कारखानों को कम ब्याज पर ऋण दे सकते हैं। उस क्षेत्र में बहुत से ट्रेनिंग स्कूल चालू हो सकते हैं, जिनमें कि इस उद्योग में काम करने वाले मजदूर प्रशिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षित मजदूरों से उद्योग को बहुत लाभ हो सकता है। इसके अतिरिक्त उस उद्योग से सम्बन्धित बहुत सी पत्र-पत्रिकायें छप सकती हैं जो कि इस उद्योग सम्बन्धी तमाम आवश्यक सूचनायें प्रकाशित कर सकती हैं। जिससे किसी एक फर्म को ही नहीं उद्योग के सभी फर्मों को लाभ होगा। उदाहरण के लिये, वे उस उद्योग सम्बन्धी नये-नये बाजारों की सूचनायें छाप सकती हैं। वे विदेशों में

तो इसको एक से अधिक इकाइयों को उत्पन्न करने के लिये प्रबन्ध करना पड़ता है। इसलिये किसी साधन की एक अविभाज्य इकाई को दूसरे साधनों के संयोग में उत्पादन कार्य में लगाये जाने पर हमारी औसत लागत तब तक निम्नतम् नहीं होगी जब तक कि इस अविभाज्य
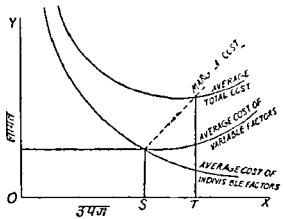
इकाई का उपयोग पूर्ण रूप से नहीं हो जाता। श्रीमती जॉन राबिन्सन ने विभिन्न साधनों की प्रति-इकाई औसत लागत को ऊपर दिये गये चित्र में दिखाया है —

ऊपर के चित्र में अविभाज्य साधन से प्राप्त उत्पादन की प्रति-इकाई औसत लागत का वक्र एक आयताकार परावृत (Rectangular hyperbola) है। यह वक्र अपने नीचे एक आयत बनाता है, जिसका क्षेत्रफल अविभाज्य साधन की लागत के बराबर है। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता जाता है, यह वक्र गिरती जाती है। दूसरे साधनों की औसत लागत OS उत्पादन तक स्थिर है तथा उसके पश्चात् यह बढ़ती जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस बिन्दु से आगे उत्पादन ह्रास नियम लागू हो जाता है। इन दोनों वक्रों के ऊपर कुल औसत लागत का वक्र भी है। यह दोनों प्रकार की लागतों के योग को दिखाता है। यह वक्र OT उत्पादन तक तो गिरता जाता है, परन्तु उसके पश्चात् यह ऊपर को उठने लगता है। सीमान्त लागत का वक्र OS उत्पादन तक तो स्थिर है, परन्तु उसके पश्चात् यह ऊपर को उठने लगता है तथा यह कुल औसत लागत वक्र को उसके निम्नतम् बिन्दु पर काटता है, जहा पर कि उत्पादन OT के बराबर है। जब उत्पादन एक निश्चित बिन्दु पर पहुंच जायगा त विभाज्य साधन की दूसरी इकाई का प्रयोग लाभप्रद होगा तथा उपर्युक्त क्रम पुन दुहराया जायगा।

क्रमगत उत्पादन वृद्धि-नियम की सम्भावना इस बात मे बढ जाती है कि उत्पादन के साधनों की भिन्न-भिन्न इकाइयां भिन्न भिन्न कार्यों के सम्पादन के उपयुक्त होती हैं। मजदूर में कुछ तो प्राकृतिक योग्यता होती है, तथा कुछ योग्यता वह प्राप्त भी कर सकता है। इसी प्रकार भूमि भी बहुत से कामों में लाई जा सकती है। पूंजी को भी विभिन्न प्रकार की मशीनें बना कर विशिष्ट प्रकार के कामों में लाया जा सकता है। किसी भी प्रकार की चीज उत्पन्न करने में उत्पादन क्रिया को जितने ही अधिक भागों में विभाजित करके प्रत्येक कार्य के लिये एक विशिष्ट प्रकार की मशीन बनाई जा सके, उत्पादन उतना ही अधिक होगा। परन्तु, चूंकि प्रत्येक मशीन

अविभाज्य होती है, इसलिये उत्पादन मे अधिकतम् विशिष्टीकरण करने का अर्थ होता है अधिकतम् व्यय। इसलिये ऐसी हालत मे यदि उत्पादन की मात्रा कम होगी तो प्रति इकाई लागत अधिक होगी, उत्पादन की मात्रा जितनी अधिक बढती जायगी प्रति-इकाई लागत उतनी ही कम होती जायगी।

विभिन्न प्रकार की उत्पादन क्रियाओ के विशिष्टीकरण से लागत इसलिये कम हो जाती है कि प्रत्येक साधन निरन्तर अपना कार्य करता रहता है। उसको अपना काम छोडकर दूसरा काम करने के लिये नही जाना पडता। इस लाभ का जिक्र आदम स्मिथ ने भी किया है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि उत्पादन क्रियाओ के विशिष्टीकरण करने से वे सरल बन जाती है तथा इनको एक मामूली बुद्धि का व्यक्ति भी कर सकता है। मामूली बुद्धि के व्यक्ति की मजदूरी कम होती है। इस प्रकार लागत कम हो जायगी। मार्शल ने इस लाभ का जिक्र अपनी पुस्तक मे किया है। इस प्रकार निम्नतम् प्रति इाई लागत उस समय प्राप्त होगी जबकि उत्पादन की प्रत्येक प्रक्रिया का विशिष्टीकरण हो जायगा।

क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम तथा पूर्ण प्रतियोगिता—

क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम तभी तक लागू होता है जब तक कि उत्पादन करने वाली फर्म इष्टतम् आकार (optimum size) से छोटी होती है। फर्म इष्टतम् आकार से कम तभी तक होती है जब तक कि प्रतियोगिता पूर्ण नही होती। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे प्रत्येक फर्म का आकार इष्टतम् होता है। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक फर्म को पूर्ण रूप से उत्पादन वृद्धि नियम का लाभ प्राप्त होता है। यदि कोई फर्म एक पूर्ण प्रतियोगी बाजार मे प्रवेश करता है तो उस समय यह उपधारणा की जाती है कि इस फर्म को प्रारम्भ से ही बडे पैमाने के उत्पादन के सब लाभ प्राप्त होंगे। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे प्राप्त क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम के कार्य को और आगे बढाना कठिन है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि और अधिक बचत प्राप्त हो ही नही सकती। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में भी बाह्य बचत (External economies) के कारण लागत और भी कम की जा सकती है। बाह्य बचत मे हम उस सम्भावना को ले सकते है, जबकि उत्पादन करने वाली मशीनें पहले से सस्ती आने लगें।* इसका लाभ मशीन से उत्पादित होने वाली वस्तु को होगा तथा उसकी लागत तथा कीमत कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त बाह्य बचत तब भी प्राप्त हो सकती है, जबकि मजदूर कुछ समय तक उस उद्योग मे रह कर एक विशेष प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लें। ऐसी स्थिति मे मजदूर

---

* जब अधिक मशीनो की आवश्यकता पडेगी तो मशीन उत्पादन करने वाले उद्योग मे भी प्रसार आयेगा, जिसके फलस्वरूप उसकी लागत गिरेगी और मशीनें सस्ती होने लगेंगी।

छोटे कारखाने के बदले बड़े कारखानों में अधिक उत्पादन कर सकेगा। परन्तु यह बचत तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि उद्योग छोटे आकार से बढ़कर बड़े आकार की ओर जा रहा है।

क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम को हम एक तालिका द्वारा इस प्रकार दिखा सकते हैं, जिसके आलेखन द्वारा हम सीमान्त उपज वक्र तथा औसत उपज वक्र पा सकते हैं।

श्रम व पूंजी की इकाइयां	कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादन	औसत उत्पादन
१	५००० गज	५००० गज	५००० गज
२	१२००० गज	७००० गज	६००० गज
३	२१००० गज	९००० गज	७००० गज
४	३२००० गज	११००० गज	८००० गज
५	४५००० गज	१३००० गज	९००० गज

बराबर के चित्र में OX पर श्रम पूंजी की इकाइयां तथा OY पर उपज दिखाई गई है। इसके ऊपर हमने श्रम व पूंजी की प्रत्येक इकाई से जो सीमान्त उपज व औसत उपज प्राप्त होती है उसको दिखाया है। इस प्रकार हमको सीमान्त उपज रेखा तथा औसत उपज रेखा प्राप्त हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम व पूंजी की इकाइयों में जितनी वृद्धि हो रही है, सीमान्त उपज व औसत उपज में उससे अधिक अनुपात में वृद्धि हो रही है।
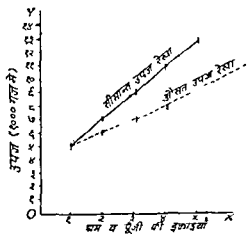
क्रमगत उत्पादन समानता नियम

वे उद्योग जो कच्चे माल के उत्पादन में नहीं लगे होते हैं साधारणतः क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम के अनुसार उत्पादन करते हैं। परन्तु यह हो सकता है कि इन उद्योगों को कच्चा माल खेती आदि ऐसे श्रोतों से प्राप्त होता हो जिनमें प्रकृति उत्पादन वृद्धि नियम के अनुसार उत्पादन करने में बाधा डालती है। इस

कारण ऐसे उद्योगो मे एक ओर उन्नत व्यवस्था के कारण क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम कार्य करेगा तथा दूसरी ओर प्रकृति के प्रकोप के कारण क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम कार्य करेगा। यदि इस खींचातानी मे दोनो प्रकार के नियमों के कार्यों का सन्तुलन हो जाता है तो हमको क्रमगत उत्पादन समानता नियम प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये, चीनी, आटा, कम्बल आदि उद्योगो के लिये आवश्यक कच्चे माल, गन्ना, गेहू तथा ऊन, क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पादित होते हैं। यदि इन उद्योगो मे इस प्रकार की उन्नत व्यवस्था हो जाय अथवा नये ढग की मशीनो का आविष्कार हो जाय कि इनसे उत्प्रेरित वृष्टि ह्रास के समान हो तो हमको क्रमगत उत्पादन समानता नियम प्राप्त हो सकता है। इस लिये क्रमगत उत्पादन समानता नियम की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—

क्रमगत उत्पादन समानता नियम उस समय लागू होना कहा जाता है जब श्रम व पूजी की इकाइयो मे वृद्धि करने से उसी अनुपात मे उत्पादन वृद्धि प्राप्त होती है जिस अनुपात मे कि श्रम व पूजी की इकाइयो मे वृद्धि की गई है। इस नियम को हम एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं—

श्रम व पूजी की इकाइयां	कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादन	औसत उत्पादन
१	१० मन	१० मन	१० मन
२	२० मन	१० मन	१० मन
३	३० मन	१० मन	१० मन
४	४० मन	१० मन	१० मन
५	५० मन	१० मन	१० मन

निम्न चित्र मे इस तालिका की सीमान्त उपज तथा औसत उपज के वक्र भी प्राप्त किये जा सकते है।

Y
उपज
सीमान्त उपज रेखा
औसत उपज रेखा
O
श्रम व पूँजी की इकाइयाँ
X
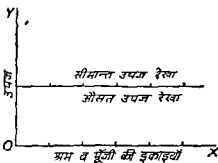
ऊपर के चित्र मे OX पर श्रम व पूजी की इकाइया तथा OY पर उपज दिखाई गई हैं। इसके पश्चात श्रम व पूजी की इकाइयो तथा सीमान्त व औसत उपज को लेकर हमने पाच बिन्दु प्राप्त किये। चूकि सीमान्त और औसत उपज प्रत्येक दशा मे समान है अत सीमान्त और औसत बिन्दु प्रत्येक दशा म एक दूसरे के ऊपर आकर पडेंगे। इस लिये हमको सीमान्त और औसत उपज

का एक ही वक्र प्राप्त होगा। यह वक्र OX के समानान्तर है जो इस बात का द्योतक है कि श्रम व पूंजी की मात्रा चाहे जितनी बढ़ाई जाय उत्पादन मे प्रत्येक वृद्धि हर अवस्था मे समान ही रहेगी।

क्रमगत उत्पादन समानता नियम एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जिसमे कि उत्पादन कार्य म लगे हुए सब साधन उचित अनुपात म सयुक्त हैं। ऐसी स्थिति मे उत्पादक इस ओर उदासीन होता है कि वह अधिक उत्पादन करे या कम। इसका कारण यह है कि उसको उत्पादन उसी अनुपात म प्राप्त होता है जिस अनुपात मे कि लागत लगाई जाती है। परन्तु इस दशा मे कुल उपज का अनुमान लगाना सरल है। सीमान्त उपज को श्रम व पूंजी की इकाइयो की सख्या से गुणा करके हम कुल उपज प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु यह याद रहे कि उत्पादन समानता नियम बहुत थोडे समय के लिये ही कार्य करता है क्योकि किसी न किसी चरण (Stage) पर उत्पादन के साधनो का उत्पादन क्रिया मे सतुलन बिगड ही जाता है जिसके कारण क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है।

समान उत्पादन वक्र

(Iso-product curves)

उत्पादन के नियमो को हम समान उत्पादन वक्रो द्वारा भी समझा सकते हैं। परन्तु तटस्थ वक्रो के समान हम अपना ध्यान केवल उत्पादन के दो साधनो पर ही केन्द्रित करेंगे तथा यह देखेंगे कि यदि उत्पादन के साधनो मे कोई परिवर्तन करते हैं तो उसका उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है।

हम जानते हैं कि यदि टैकनीकल अवस्था मे कोई परिवर्तन न हो तो हम श्रम व भूमि की मात्राओ मे हेर-फेर करके समान उपज प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार एक-सी उपज प्राप्त करने के लिये श्रम व भूमि के बहुत से जोडे हो सकते हैं। उदाहरण के लिये ५० मन चावल, १० मजदूर तथा ५ एकड भूमि मे उत्पन्न किया जा सकता है तथा उतनाही चावल ८ मजदूर तथा ६ एकड भूमि द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार उतना ही चावल १२ मजदूर तथा ४ एकड भूमि से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार ५० मन चावल उत्पन्न करने के लिए हम श्रम व भूमि के बहुत से जोडे प्राप्त कर सकते हैं। इन सब जोडो के आधार पर यदि हम एक वक्र बनाये तो हमको एक समान-उत्पादन प्रदान वक्र
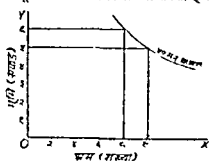
(Iso-product or Iso-quant curve) प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार, समान उत्पादन वक्र हम उस मार्ग को कह सकते हैं जिस पर कि समान उत्पादन प्रदान करने वाले श्रम व भूमि के विभिन्न जोडो को दिखाया गया हो। इसका रूप इस प्रकार होता है—

पृष्ठ २४३ पर दिये गये चित्र मे OX पर मजदूरो की सख्या तथा OY पर भूमि दिखाई गई है। इस चित्र देखने से पता चलता है कि यदि हम १० मजदूर व ५ एकड भूमि काम मे लाते हैं तो हमको ५० मन चावल मिलता है। परन्तु यदि हम मजदूरो की सख्या को घटाते है तो उतना ही चावल प्राप्त करने के लिये भूमि की मात्रा ५ एकड से ६ एकड करनी पडती है।

इस प्रकार तटस्थ वक्रो के समान ही समान-उत्पादन वक्र होते है। अन्तर केवल इतना है कि जहा तटस्थ वक्र विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त समान तुष्टि को दिखाते है वहा समान-उत्पादन वक्र उन विभिन्न साधनो के जोडो को दिखाते हैं जो कि समान उत्पादन प्रदान करते हैं। परन्तु तटस्थ वक्रो तथा समान-उत्पादन वक्रो मे महत्वपूर्ण अन्तर है। तटस्थ वक्र को हम किसी इकाई के रूप मे नही दिखा सकते परन्तु समान उत्पादन वक्र को हम इकाई के रूप मे (उत्पादन की मात्रा के रूप मे) दिखा सकते हैं, क्योकि तटस्थ वक्र तुष्टि को दिखाते है जिसको हम नाप नही सकते किन्तु समान-उत्पादन वक्र उत्पादन को दिखाते है जिसको हम मन-सेर आदि मे नाप सकते हैं।
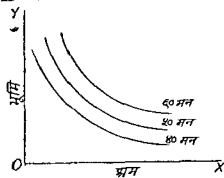
यदि हम किसी चित्र मे कई समान-उत्पादन वक्रो को दिखाये तो हमको समान उत्पादन मानचित्र (Iso-product map) प्राप्त हो जायगा। इस मानचित्र मे विभिन्न उत्पादन मात्राओ को दिखाने वाले समान- उत्पादन वक्र होंगे। यह मानचित्र दिए गये चित्रानुसार होगा—

समान उत्पादन वक्रों की विशेषतायें (Properties of Iso quants)—इन वक्रो की पहली विशेषता यह है कि ये दायें हाथ की ओर नीचे को झुकते हैं। इसका कारण यह है कि यदि कोई उत्पादन मात्रा प्राप्त करने के लिये हम एक *साधन की मात्रा को बढाते हैं तो हमको दूसरे साधन की मात्रा को घटाना पडेगा।* यह शायद ही कभी होता हो कि समान उत्पादत को प्राप्त करने के लिये हम श्रम की मात्र भी बढाये तथा भूमि मात्रा को भी। ऐसी स्थिति असम्भव नही है परन्तु साधारणत यदि हम एक साधन की मात्रा को बढाते हैं तो दूसरे साधन की मात्रा को घटाना पडता है। यदि दोनो साधनो को बढाने पर भी पहले के समान उपज

रेखा होगी। इस रेखा पर यदि हम कोई भी विन्दु लें तो वह श्रम व पूंजी के उस जोड़े को दिखायगा जो कि दी हुई मुद्रा-राशि द्वारा, दी हुई (श्रम तथा भूमि) की कीमतों पर प्राप्त किया जा सकता है।
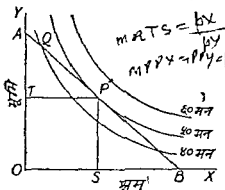
उत्पादन के लिये श्रम व भूमि का सबसे अच्छा जोड़ा उस विन्दु पर प्राप्त होगा जहां पर कि समान-उत्पादन वक्र समान-लागत रेखा को स्पर्श करेगा जैसा कि बराबर के चित्र में दिखाया गया है—

इस चित्र में ५० मन वाला समान-उत्पादन वक्र AB समान-लागत रेखा को P पर स्पर्श करता है। इसका अर्थ हुआ कि दी हुई मुद्रा राशि द्वारा, मौजूदा कीमतों पर, उत्पादन के लिये OS श्रम व OT भूमि के संयोग से ५० मन चावल पैदा करना लाभप्रद होगा। यदि वह ४० मन उत्पादन करने का निश्चय करे तो उसकी सब मुद्रा-राशि काम में न आयेगी तथा उसको उपज भी कम मिलेगी यदि वह ६० मन उत्पन्न करने का निश्चय करे तो वह ऐसा कर नहीं सकता क्योंकि उसके पास मुद्रा-साधन आवश्यकता से कम है। इस कारण वह P विन्दु पर ही रह कर ५० मन उत्पन्न करेगा।

परिमाण-रेखा (Scale-line)—ऊपर हमने बताया है कि यदि हमको समान लागत रेखा तथा समान-उत्पादन वक्र मालूम हो तो हमको वह बिन्दु ज्ञात हो जाता है जिस पर कि उत्पादक कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकता है। यदि हमको विभिन्न समान लागत रेखायें तथा समान-उत्पादन वक्र ज्ञात हों तो हमको वे सब विन्दु ज्ञात हो सकते हैं जो उपज की भिन्न-भिन्न मात्राओं को निम्नतम लागत पर उत्पादित करने की स्थिति प्रकट करते हैं
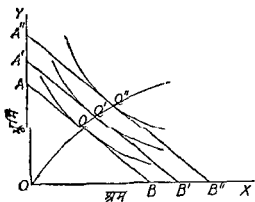
(भूमि तथा श्रम की सापेक्ष कीमतें प्रत्येक दशा में दी हुई मानी गई हैं)। यदि इन सब विन्दुओं को मिला दिया जाय तो हमको परिमाण रेखा प्राप्त हो जायगी। इसको बराबर के चित्र में दिखाया गया है।

बराबर के चित्र में AB, A′B′ तथा A″B″ समान

है। OL पूंजी तथा ११ मजदूर लगाने से उत्पादन ५५ मन हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ११वा मजदूर ५ मन उत्पन्न करता है। इसी प्रकार १२वा मजदूर ४ मन तथा १३वा मजदूर केवल १ मन ही उत्पन करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूंजी को स्थिर रख कर यदि हम श्रम की मात्रा को बढायें तो हमको उत्पादन मे वृद्धि अपेक्षत कम दर पर मिलती जायगी। यही क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम है। इनको हम दूसरे ढग से भी कह सकते हैं कि एकसी उत्पादन की मात्रा को प्राप्त करने के लिये मजदूरो को पहले से अधिक अनुपात मे लगाना पडेगा। इसको नीचे दिये गये चित्र मे दिखाया गया है—
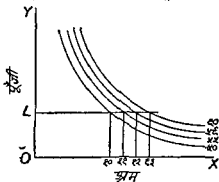
नीचे के चित्र म यदि हम ४० मन उत्पन्न करना चाहते हैं तो हमको OM पूंजी तथा OA श्रम लगाना पडेगा। यदि हम ५० मन उत्पन्न करना चाहे तो हमको OA+AB श्रम लगाना पडेगा। यदि हम ६० मन उत्पन्न करना चाहे तो हमको OA+AB+BC श्रम लगाना पडेगा। इसी प्रकार ७० मन उत्पन्न करने के लिये हमको OA+AB+BC+CD श्रम लगाना पडेगा। इस प्रकार पहले १० मन को प्राप्त करने के लिये हमको AB श्रम बढाना पडता है। दूसरे १० मन को प्राप्त करने के लिये हमको BC श्रम बढाना पडता है तथा तीसरे १० मन को प्राप्त करने के लिये CD चित्र को देखने से पता चलता है कि CD बडा है BC से तथा BC बडा है AB से। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक १० मन अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने के लिये हमको श्रम की अतिरिक्त मात्रा को क्रमश निरन्तर बढाना पडता है अर्थात प्रति मजदूर उत्पादन की मात्रा गिरती जाती है।
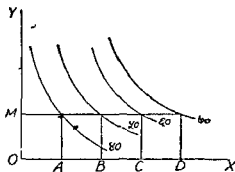
कभी-कभी उत्पादन की मात्रा पहले तो बढती है परन्तु आगे चलकर वह घटने लगती है जैसाकि आगे के चित्र में दिखाया गया है—

आगे के चित्र मे १२ मजदूरो तक तो उत्पादन की मात्रा बढती जाती है। परन्तु उसके पश्चात जब मजदूरो की सख्या और बढाई जाती है तब हमको उत्पादन

कम दर पर प्राप्त होने लगता है। इसका पता नीचे की ओर झुकते हुये वक्र से चलता है।

इस प्रकार निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि उत्पादन के साधनो मे जिस अनुपात मे वृद्धि की जायगी उत्पादन मे उसी अथवा उससे कम या अधिक अनुपात मे वद्धि होगी। यह बात बहुत कुछ टॅक्नीकल परिस्थितियो पर निर्भर होती है।
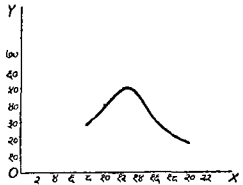
उत्पादन सस्थिति—जिस प्रकार उपभोक्ता पक्ष के विश्लेषण मे माग तथा उपभोक्ता-सस्थिति के प्रश्न प्रमुख हैं, उसी प्रकार उत्पादक-पक्ष के विश्लेषण मे पूर्ति तथा उत्पादन सस्थिति के प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दोनो प्रकार के विश्लेषणों म बहुत कुछ साहश्य है। उपभोक्ता अपने निश्चित साधनो (अपनी आय) को इस प्रकार व्यय करना चाहता है कि उसे अधिकतम तुष्टि मिले, उत्पादक भी उसी प्रकार अपने निश्चित ससाधनो के स्टॉक को (उत्पादन के साधनो आदि के खरीदने मे) इस प्रकार व्यय करने की चेष्टा करता है कि उसे उच्चतम प्रत्याय (कुल उत्पादन) प्राप्त हो। उत्पादक के सामने प्रमुख प्रश्न यह होता है कि वह अपने मुद्रा-ससाधन को विभिन उत्पादन के साधनो के क्रय करने मे किस प्रकार लगाये कि उसे उन साधना का वह सयोग प्राप्त हो सके जो उच्चतम उत्पादन कर सकेगा। उत्पादन के साधनो का ऐसे अनुपात म सयोग जिससे कि अधिकतम उत्पादन किया जा सके 'साधनो का इष्टतम सयोग' कहलाता है। साधनो का इष्टतम सयोग उसी अवस्था मे प्राप्त होगा जब प्रत्यक साधन की अन्तिम इकाई से प्राप्त सीमान्त प्रत्याय समान हो अर्थात् अधिकतम उत्पादन के लिये स्वल्प साधनो का सयोग ऐसे अनुपात मे किया जाना चाहिए कि सब साधनो की अन्तिम इकाइया से प्राप्त होने वाली (सीमान्त) प्रत्याय एक दूसरे के बराबर हो (अथवा प्रत्येक साधन पर व्यय की गई अन्तिम मुद्रा इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगितायें परस्पर समान हो)। उपभोक्ता सस्थिति मे इसी सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। वहा हमने यह कहा है कि उपभोक्ता द्वारा अभीष्ट कुल उपयोगिता उच्चतम तभी होगी जब उसके द्वारा क्रय की गई सब वस्तुओ की अन्तिम इकाइयो की सीमान्त उपयोगिताए समान होगी, अथवा जब प्रत्येक वस्तु पर खर्च की गई अन्तिम मुद्रा इकाई से उसे समान सीमान्त उपयोगिताए प्राप्त होंगी। हमने यह भी देखा है कि इस कथन का अर्थ यह भी है कि उपभोक्ता-सस्थिति वह बिन्दु है जहा सीमान्त उपयोगिताए कीमतो की समानुपाती

होती है, अथवा उपभोक्ता सस्थिति वह बिन्दु है जहा दो वस्तुओ मे बीच स्थानापनता की सीमान्त दर उन वस्तुओ की कीमतो की निष्पत्ति के बराबर होती है। उपर्युक्त दोनो बातो को हमने सूत्र के रूप मे व्यक्त किया है, अर्थात—

$$\frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}}=\frac{\text{सीउ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} \quad \text{अथवा} \quad \frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{सीउ}_{\text{स}}}=\frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{स}}}$$

यहाँ पर—

$\text{सीउ}_{\text{म}}$ = 'म' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता

$\text{सीउ}_{\text{स}}$ = 'स' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता

$\text{की}_{\text{म}}$ = 'म' वस्तु की कीमत

$\text{की}_{\text{स}}$ = 'स' वस्तु की कीमत

इसी प्रकार इष्टतम उत्पादन तब प्राप्त होता है जब उत्पादन के प्रत्येक साधन पर खर्च की गई मुद्रा की अन्तिम इकाई से समान सीमान्त उत्पादनीयता प्राप्त हो। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि उत्पादन सस्थिति वह बिन्दु है जिस पर साधनो की सीमान्त उत्पादनीयताये उनकी कीमतो की समानुपाती हो, या जिस पर दो साधनो के बीच स्थानापनता की सीमान्त दर [प्राय इसे उत्पादन के सदर्भ मे रूपान्तरण (Transformation) की सीमान्त दर कहते है] उन वस्तुओ की कीमतों की निष्पत्ति के बराबर होती है। सूत्र के रूप में हम इसे निम्नलिखित प्रकार व्यक्त कर सकते है।

$$\frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}}=\frac{\text{सीउ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}}$$

अथवा

$$\frac{\text{सीउ}_{\text{म}}}{\text{सीउ}_{\text{स}}}=\frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{स}}}$$

$\text{सीउ}_{\text{म}}$ = 'म' साधन की सीमान्त उत्पादनीयता

$\text{सीउ}_{\text{स}}$ = 'स' साधन की सीमान्त उत्पादनीयता

$\text{की}_{\text{म}}$ = 'म' साधन की कीमत

$\text{की}_{\text{स}}$ = 'स' साधन की कीमत

यह एक साधारण बात है कि यदि 'स' साधन पर अपनी मुद्रा खर्च करने से उत्पादक को अपेक्षाकृत अधिक उत्पादनीयता प्राप्त हो सकेगी तो वह उस मुद्रा को 'म' साधन पर व्यय नही करेगा। जब 'म' तथा 'स' दोनों साधनों से प्राप्त होने वाली सीमान्त उत्पादनीयतायें बराबर हो जायेगी तब उत्पादक सस्थिति पर पहुच

जायगा, वही उसके लिये अभीष्ट स्थिति होगी, क्योंकि इसी हालत में अपने धन से उसको इष्टतम प्रत्याय प्राप्त हो सकेगी। साधनों का यह इष्टतम संयोग वह विन्दु है जहा एक निश्चित रकम के व्यय से अधिकतम उत्पादन होता है, या यो कहे कि लागत निम्नतम होती है। अर्थात साधनो का इष्टतम संयोग किसी दी हुई उत्पादन राशि की (दीर्घकालीन) कुल लागत का निम्नतम विन्दु होता है। दीर्घकालीन औसत लागत तथा सीमान्त लागत वक्र, दीर्घकालीन कुल लागत वक्र से निकाले जाते हैं। यदि उत्पादन राशि को हम शून्य से आगे बढाये तो दीर्घकालीन औसत-लागत वक्र प्रत्येक उत्पादन-राशि को न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने की निधि (Locus) होगा।

इसी सम्बन्ध मे हमें कुछ अन्य बात भी मिलती हैं। उत्पादन-राशि के प्रति परिवर्तन से कुल लागत मे जो परिवर्तन आता है उसी को सीमान्त लागत कहते हैं। यदि हम उत्पादन के किसी एक साधन 'म' को ले तो इस साधन के कारण हुई सीमान्त लागत बराबर होगी उस अतिरिक्त लागत के जो इस साधन के प्रयोग द्वारा उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने के लिये आवश्यक हो।

$$\text{सी ला}_{\text{म}} = \frac{\Delta \text{कु ला}_{\text{म}}}{\Delta \text{ क्ष}_{\text{म}}}$$

सी ला$_{\text{म}}$ = 'म' के कारण सीमान्त लागत
कु ला$_{\text{म}}$ = कुल लागत 'म' के प्रयोग के कारण

$$= \frac{\text{की}_{\text{म}} \Delta \text{म}}{\Delta \text{क्ष}_{\text{म}}}$$

$$= \frac{\text{की}_{\text{म}}}{\dfrac{\Delta \text{म}}{\Delta \text{क्ष}}}$$

Δक्ष$_{\text{म}}$ = अतिरिक्त उत्पादित वस्तु (म के प्रयोग से)
Δ = वृद्धि

$$= \frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{सी उ}_{\text{म}}}$$

म = साधन
की$_{\text{म}}$ = 'म' की कीमत

अथवा

$$\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{1}{\text{सी ला}_{\text{म}}}$$

संक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि किसी साधन के सीमान्त उत्पादन को उसकी (साधन की) कीमत से विभाजित करने पर हमें उस साधन के कारण हुई

सीमान्त लागत का व्युतक्रम (Reciprocal) प्राप्त होगा। यह बात प्रत्येक साधन के लिये सही होगी, अर्थात्—

$$\frac{\text{सी उ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} = \frac{१}{\text{सी ला}_{\text{स}}}$$

किन्तु इष्टतम सयोग के सम्बन्ध मे हमारा सूत्र है

$$\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} \left(= \frac{१}{\text{सी ला}_{\text{स}}} = \frac{१}{\text{सी ला}_{\text{म}}} \cdots\cdots \right)$$

$$\therefore \quad \text{सी ला}_{\text{म}} = \text{सी ला}_{\text{स}}$$

इस प्रकार सीमान्त लागत के सदर्भ मे हम साधनो के इष्टतम सयोग को निम्नलिखित रूप से दिखा सकते हैं —

$$\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} = \frac{१}{\text{सी ला}_{\text{म}}} = \frac{१}{\text{सी ला}_{\text{स}}} = \frac{१}{\text{सी ला}}$$

अथवा

$$\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{स}}}{\text{की}_{\text{स}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{ल}}}{\text{की}_{\text{ल}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{ज}}}{\text{की}_{\text{ज}}} \cdot \cdots\cdots = \frac{१}{\text{सी ला}}$$

अब

$$\because \quad \frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{म}}} = \frac{१}{\text{सी ला}}$$

$$\therefore \quad \text{की}_{\text{म}} = \text{सी ला} \times \text{सी उ}_{\text{म}}$$

अर्थात् किसी साधन की कीमत बराबर होती है
उस साधन की नई इकाई के प्रयोग द्वारा किये गये सीमान्त उत्पादन तथा उत्पादित वस्तु की सीमान्त लागत के गुणनफल के।

इस प्रकार दीर्घकालीन लागत वक्र दो बातें प्रकट करता है, एक तो प्रत्येक उत्पादन राशि के लिये उत्पादन के साधनो या इष्टतम सयोग तथा दूसरे (और यह बात पहली बात के फलस्वरूप है) निम्नतम लागत यहा इस बात का ख्याल रखना आवश्यक है कि प्रत्येक उत्पादन राशि की निम्नतम लागत (जो इस वक्र के प्रत्येक विन्दु पर सही है) तथा वक्र के निम्नतम विन्दु मे अन्तर होता है, दोनो एक ही प्रत्यय नही।

'सम-सीमान्त' सम्बन्धी सिद्धांत तथा उदासीन वक्र—

'सम-सीमान्त' की सिद्धि—यदि उपयोगिता को हम पूर्ण संख्या मे नाप सकें, तो हम यह दिखा सकते हैं कि स्थानापन्नता की सीमान्त दरो की समता का सिद्धान्त 'सम सीमान्त सिद्धान्त' के बिल्कुल अनुरूप है। ऊपर हमने यह देखा कि इष्टतम अवस्था पर पहुचने की 'सीमान्त शर्त' यह है कि 'उदासीन स्थानापन्नता की सीमान्त दर' वैकल्पिक लागत की सीमान्त दर के बराबर हो। लेकिन 'उदासीन स्थानापन्नता की सीमान्त दर' है क्या ? यह दर दोनो वस्तुओ, अर्थात स्थानापन्न तथा स्थानापन्नित*, की सीमान्त उपयोगिताओ की अनुपात है। एक वस्तु का किसी दूसरी वस्तु *का स्थानापन्न होना उन दोनो वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता* पर निर्भर करता है।

उदाहरण के लिये हम दो वस्तुए 'क' तथा 'ख' लेते है। तो इन दो वस्तुओ के लिये 'उदासीन स्थानापन्नता की सीमान्त दर' बराबर होगी इनकी सीमान्त उपयोगिताओ के अनुपात के अर्थात्

(इन दोनो के लिये)

उदासीन स्थानापन्नता की सीमान्त दर

$$=\frac{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}} \quad \dots \dots (१)$$

अब हम इसका दूसरा पहलू लेते हैं।

इनकी वैकल्पिक लागत की सीमान्त दर क्या होगी ?

पूर्ण बाजार मे, वैकल्पिक लागत की सीमान्त दर बराबर होगी उनकी कीमतो** के अनुपात के, अर्थात्

(इनकी) वैकल्पिक लागत की सीमान्त दर

$$=\frac{\text{ख की कीमत}}{\text{क की कीमत}} \quad \dots \quad \dots \quad \dots (२)$$

उदाहरण के लिये यदि 'क' की कीमत १ रुपया है तथा 'ख' की कीमत १० रुपया है तो ख की एक इकाई का यदि हम बलिदान कर दें और उससे जो रुपया बचे उसे 'क' के खरीदने मे लगाये तो हम 'क' की १० इकाइया प्राप्त कर सकते हैं। हा, बाजार पूर्ण होना आवश्यक है जिससे कि हम दोनो वस्तुओ पर दी गई कुल व्यय को स्थिर मान सकें।

---

* स्थानापन्नित=(Substituted for)
स्थानापन्न=(ubsutute)

** पूर्ण बाजार मे किसी वस्तु की कीमत बराबर होती है उसकी सीमान्त उपयोगिता के।

उपर्युक्त समीकरण (१) तथा (२) के अनुसार —

$$\frac{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'ख' की कीमत}}{\text{'क' की कीमत}}$$

(क्योंकि, उ० स्था० सी० दर=वै० ला० सी० दर)

स्थानातरण द्वारा :—

$$\frac{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'क' की कीमत}} \quad ..(३)$$

अब हम स्थानापन्नता के सिद्धान्त तथा 'सम सीमान्त' के नियम को लेते हैं। कम-उपयोगिता वाली वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगिता की वस्तु ले आना, अथवा यो कहे कि, अधिक लागत के ससाधन के स्थान पर कम लागत का ससाधन ले आना ही स्थानापन करना कहलाता है। हम एक वस्तु की दूसरी वस्तु द्वारा प्रति स्थापना तब तक करते जाते हैं जब तक कि हमारी कुल उपयोगिता मे वृद्धि होती जाती है अर्थात हमारी लागत कम होती जाती है, जब उपयोगिता मे वृद्धि होना अथवा लागत म कमी होना रुक जाती है तो हम स्थानापन्न की प्रक्रिया को वन्द कर देते है। जाहिर है कि जहा हम स्थानापन की प्रक्रिया को वन्द करते हैं वहा पर दोनो वस्तुओ से प्राप्त होने वाली उपयोगिताएँ बराबर हैं। मार्शल ने सम-सीमान्त प्रत्याय की परिभाषा इस प्रकार की है कि "यदि किसी व्यक्ति के पास कोई ऐसी वस्तु है जिसको वह कई प्रयोगो मे ला सकता है तो वह इस वस्तु को इन भिन्न भिन्न कामों मे इस प्रकार वितरित करेगा कि इसकी सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक दशा मे समान हो। अब हम उदाहरण म ऊपर कही हुई दोनो वस्तुएँ 'क' तथा 'ख' लेते हैं। यदि मेरे पास क' वस्तु की ३ इकाइया है और इस स्थान पर 'क' की सीमान्त उपयोगिता* ५ रुपया के बराबर है तो यदि 'क' का भाव ५) स कम होगा तो मैं क' की एक और इकाई खरीद कर लाभ उठाऊँगा, क्योकि ५) से कम कीमत देकर मैं ५) से अधिक की उपयोगिता प्राप्त करूगा। 'क' को खरीदने म मुझे तब तक लाभ होता रहेगा जब तक कि उसकी सीमान्त उपयोगिता उसके भाव के बराबर नही हो जाती। इसका तात्पर्य यह होता है कि पूर्ण बाजार म किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत का अनुपात इकाई होना चाहिये।

$$\text{इसलिये} \quad \frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'क' की कीमत}} = १$$

---

* स्मरण रहे कि हमने उपयोगिता को एक मापी जाने वाली पूर्ण सख्या माना है।

इसी प्रकार $\frac{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की कीमत}} = १ = \frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'क' की कीमत}}$

इसलिये यदि कोई व्यक्ति बुद्धिमतापूर्वक अपना व्यय 'क' तथा 'ख' के बीच इस प्रकार वितरित करता है कि उसे सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है तो

$$\frac{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की कीमत}} = \frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'क' की कीमत}} \ldots\ldots(४)$$

हम देखते हैं कि उपर्युक्त समीकरण न० (३) तथा (४) एक दूसरे के अनुरूप है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुचे कि स्थानापन्नता की सीमान्त दरों का सिद्धान्त 'सम सीमान्त' के सिद्धान्त के समरूप है।

९

जनसंख्या सम्बन्धी समस्यायें

(Problems of Population)

लगभग पिछली तीन शताब्दियो मे कदाचित ही किसी समस्या पर इतना वादविवाद हुआ हो जितना कि जनसख्या की समस्या पर। अभी हाल ही मे जनसख्या की समस्या ने बडा उग्र रूप धारण कर लिया है जिसके कारण इगलैण्ड, अमेरिका, भारत तथा अन्य देशो के बडे-बडे विचारको का ध्यान भी इस समस्या की ओर आकर्षित हुए बिना न रह सका। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि किसी देश की जनसख्या तथा उसके प्रकार पर उस देश के लोगो का सुख-दु ख निर्भर होता है। किसी देश की उत्पादन व्यवस्था एक निश्चित सख्या से अधिक लोगो को ठीक प्रकार से नही पाल सकता। इसीलिये देश उत्पादन-कला मे चाहे जितना बढा-चढा हो परन्तु उस देश के लोगो का जीवन-स्तर इस बात पर निर्भर होगा कि उस देश की जनसख्या कम है या अधिक। यदि जनसख्या अधिक है तो साधारणत जीवन-स्तर नीचा होगा, यदि जनसख्या कम है तो जीवन-स्तर ऊँचा होगा। इसके अतिरिक्त, जनसख्या पर ही यह बात निर्भर होगी कि श्रमिको को कम मजदूरी मिलेगी या अधिक। यदि जनसख्या कम है तो प्रति मजदूर अधिक मजदूरी मिलेगी। इसके विपरीत, यदि जनसख्या अधिक है तो मजदूरी कम मिलेगी। जनसख्या के कम या अधिक होने से ही खेती का प्रकार निश्चित होता है। जो देश घने बसे होते हैं उनमे गहन खेती (Intensive cultivation) की जाती है। इसके विपरीत, कम बसे देशो मे विस्तृत खेती (Extensive cultivation) की जाती है। कम सख्या तथा अधिक भूमि वाले देशो मे इस बात का पालन किया जायगा कि श्रम की बचत की जाय। इसलिये इस प्रकर के देश खेती पर मशीनो का अधिक प्रयोग करेंगे। इसके विपरीत, अधिक सख्या तथा कम भूमि वाले देश कम से कम भूमि म अधिक स अधिक उत्पादन प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। अधिक जनसख्या के कारण बडे-बडे शहर उत्पन्न हो जाते हैं जिनमे अत्यधिक जनसख्या के कारण यातायात की समस्या, शिक्षा की समस्या आदि-समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। यही नही, यदि देश म भिन्न-भिन्न जातियो के लोग बसते हैं तो बहुत सी सामाजिक समस्यायें भी उत्पन्न हो जाती है जैसे कि हमारे देश मे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि जातियो

के कारण आये दिन बहुत सी समस्यायें खडी रहती है। इस प्रकार जनसख्या की समस्या हमारे लिये एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या है।

व्यापारी सदृश विचार रखने वाले (Mercantilists) तथा उनके पश्चात् आने वाले विचारको का मत था कि अधिक जनसख्या देश के लिये बहुत अच्छी होती है। जर्मनी व फ्रास के कुछ विचारको का भी यही मत था। परन्तु इगलैण्ड मे गॉडविन (Godwin) ने अपनी पुस्तक 'राजनीतिक न्याय (Political Justice) मे जनसख्या के भविष्य को इतना उज्ज्वल बताया कि उसकी इगलैण्ड म ही बडी प्रतिक्रिया हुई। गॉडविन ने कहा कि एक समय ऐसा आयेगा कि हमारा जीवन इतना पूर्ण हो जायगा कि हमको न सोने की भी आवश्यकता रहेगी, न मरने की, न शादी करने की। सक्षेप मे, मनुष्य देवता के तुल्य हो जायगा। कोई युद्ध न होगा। कोई आदमी पाप न करेगा। पुलिस की व्यवस्था की कोई आवश्यकता न रहगी। शासन की भी आवश्यकता न रहेगी। इसके अतिरिक्त, न तो कोई रोग होगा, न शोक और न चिन्ता। गॉडविन को समाज के भविष्य व विज्ञान की उन्नति पर इतना भरोसा था कि वह समझता था कि यदि मनुष्य केवल आधे दिन भी कार्य करेगा तो उसकी सब आवश्यकताय पूरी हो जायेंगी। इसके अतिरिक्त वह मनुष्य की तर्क-बुद्धि पर इतना विश्वास करता था कि वह कहता था कि मनुष्य अपने स्वार्थ को तिलाजली देकर लाभ की परवाह न करेगा। यही नही, उसका यह भी मत था कि मनुष्य अपनी तर्क बुद्धि के कारण अपनी काम वासना पर भी विजय प्राप्त कर लेगा। गॉडविन ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमे तर्क-बुद्धि का इतना प्रभाव होगा कि मनुष्य पूर्ण रूप से ही बच्चे पैदा करने छोड देगा तथा आदमी अमर हो ज यगा। गॉडविन का यह भी मत था कि मानव समाज मे एक ऐसा सिद्धान्त अन्तर्निहित है जिसके कारण जनसख्या निरन्तर खाद्य-सामग्री के तल तक घट कर आ जाती है। इस प्रकार अमेरिका व एशिया की घूमने-फिरने वाली जातियो मे हमने युगो के बीतने पर यह बात नही देखी है कि उनको भूमि को जोतने की आवश्यकता पडी हो।

लगभग उसी समय फ्रास मे कान्डरसेट (Condorcet) की एक पुस्तक छपी जिसम विज्ञान के द्वारा सब प्रकार के सुख प्राप्त करने पर विश्वास प्रकट किया गया था। इसमे कहा गया था कि विज्ञान के द्वारा यदि हम मृत्यु को पूर्ण रूप से न भी जीत सके तो कम से कम उसको अनिश्चित काल तक के लिये स्थगित करने मे तो अवश्य ही सफल हो जायगे। इस प्रश्न के उत्तर मे कि क्या पृथ्वी पर पर्याप्त मात्रा मे खाद्य पदार्थ प्रदान के लिये भरोसा किया जा सकता है। वह प्राय गॉडविन के समान ही उत्तर देता है कि या तो विज्ञान खाद्य सामग्री को बढायेगा या तर्क बुद्धि जनसख्या को अधिक बढने से रोकेगी।

माल्थस ने इन विचारो को पढा तथा उन पर विचार किया। परन्तु वह इन विचारो से सहमत न हुआ। उसको ससार का भविष्य अन्धकारमय दिखाई पडता था। इसका कारण यह था कि वह समझता था कि मनुष्य के अन्दर एक ऐसी

अन्तर्जात प्रवृत्ति (Instinct) है जिसके कारण भुखमरी, मृत्यु बुराइया आदि होगी। इसी प्रवृत्ति के कारण समय-समय पर ससार के मनुष्यो को वर्णनातीत कष्ट सहन करने पडे है। यह प्रवृत्ति है मनुष्य के अन्दर छिपी उसकी अन्धी काम वासना। इस काम वासना को सन्तुष्ट करने के लिये जब मनुष्य विषय-भोग करता है तब सन्तानोत्पत्ति होती है। यदि मनुष्य अपनी कामवासना को बेरोक सन्तुष्ट करता चला जाता है तो जनसख्या बडी तेजी से बढती चली जाती है यहा तक कि हर २५ वर्ष मे वह दुगनी हो जाती है। परन्तु खाद्य सामग्री इतनी तेजी से नहीं बढती। इसका कारण यह है कि पृथ्वी पर क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है। ध्यान रहे कि माल्थस ने क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम के विषय मे कोई बात विस्तारपूर्वक नही कही थी। इस कार्य को रिकार्डो ने किया। परन्तु माल्थस जब यह कहता था कि खाद्य सामग्री इतनी तेजी से नही बढती जितनी तेजी से कि जन-सख्या तब उसका सकेत पृथ्वी पर लागू होने वाले क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम की ओर ही था। माल्थस के अनुसार जनसख्या गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical progression) से बढती है तथा खाद्य सामग्री समान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) से। दूसरे शब्दो मे जनसख्या हर २५ वर्ष मे १ से २, २ से ४, ४ से ८, ८ से १६, १६ से ३२ आदि होती चली जाती है। इसके विपरीत, खाद्य सामग्री उसी बीच १ से २, २ से ३, ३ से ४, ४ से ५, ५ से ६ आदि क्रम से बढेगी। इतना बताने के पश्चात् माल्थस जनसख्या तथा खाद्य सामग्री की इस असमान वृद्धि से एक परिणाम पर पहुँचता है कि कुछ समय पश्चात् जनसख्या खाद्य सामग्री से बहुत अधिक बढ जायगी। ऊपर के उदाहरण मे जब जनसख्या एक थी तब खाद्य सामग्री भी १ थी। जब जनसख्या २ हो गई तब खाद्य सामग्री भी २ हो गई। परन्तु जब जनसख्या ४ हो जाती है तब खाद्य सामग्री केवल ३ रह जाती है। इसके पश्चात् जनसख्या ८ हो जाती है परन्तु खाद्य सामग्री केवल ४ रह जाती है। इस प्रकार जनसख्या खाद्य सामग्री से बहुत अधिक बढ जाती है तब क्या होता है। इसका उत्तर माल्थस ने यह दिया है कि जनसख्या जब अत्यधिक बढ जाती है तो प्रकृति-चक्र किसी न किसी भांति पुन घटाता है। माल्थस के अनुसार जन-सख्या दो प्रकार से खाद्य-सामग्री के तल पर लाई जा सकती है। पहला ढग वह है जहा मनुष्य स्वय अपनी दूरदर्शिता के कारण उसको कम करके खाद्य-सामग्री के तल पर ले आता है। पहली प्रकार की रोक को माल्थस ने नैसर्गिक रोक (Positive Checks) कहा है तथा दूसरी प्रकार की रोक को उसने निरोधात्मक रोक (Preventive Check) कहा है।

नैसर्गिक रोक—माल्थस बताता है कि जब लोगो को आवश्यकता से कम भोजन मिलता है तब वे न केवल भूखे ही मरते है वरन् वे बहुत रोगों के शिकार हो जाते है। क्षुधा-पीडित व्यक्ति नर-हत्या, बाल-हत्या, वृद्ध-हत्या आदि बहुत से बुरे कार्य करने लगते है।* यही नहीं, इसी के कारण युद्ध भी होने लगते है जिनमे

* हमारे यहा भी कहा है बुभुक्षय किं न करोति पाप।

कि विजेता अपने शत्रु की खाद्य-सामग्री तथा उसके उत्पादन के साधनो को छीन लेता है। इस प्रकार नैसर्गिक रोक मे मृत्यु-दर (Death rate) बढती है। इस लिए नैसर्गिक रोक मानव समाज के कष्टो को बढाने वाली होती है।

निरोधात्मक रोक—समार को इस भीषण परिस्थिति से बचाने के लिये माल्थस लोगो को सलाह देता है कि वे समझदारी से काम ल। यह काय केवल मानव समाज के लिय ही सभव हो सकता है, दूसरे प्राणी इसका नही कर सकत। माल्थस कहता है कि उनको चाहिए कि वे देर मे शादी करें। शादी करने के पश्चात् वे उस समय तक बच्चे जनन न करें जब तक कि वे उनके भार को सहन करन योग्य न हो जायें। ऐसा करन से कम बच्चे उत्पन्न होग तथा जन-सख्या स्वय ही कम हो जायेगी। वास्तव मे जन-सख्या को कम करन का यह ढग पहले ढग से अच्छा है क्योकि नैसर्गिक रोक स जन-सख्या का बढने का प्रोत्साहन उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार कि घास का काटने से वह और अधिक बढती है।

निरोधात्मक रोक माल्थस उसी का मानता है जहा मनुष्य नैतिक दृष्टि से सयम से काम लेता हो। वह नैतिक सयम उसी को मानता है जबकि शादी से परहेज करके मनुष्य अपनी कामवासना को व्यभिचार करके तुष्ट न करता हो। इस प्रकार माल्थस जन-सख्या की रोक मे उन सब ढगो को घृणा की दृष्टि से देखता है जिनमे मनुष्य अपन आप को कृत्रिम ढग से बध्या बनाकर या अन्य अनैतिक ढगो को अपनाकर जन-सख्या को कम करने का प्रयत्न करता है। वह स्वय कहता है कि जिन सयमो को मैं काम म लाने की सलाह देता हू वे दूसरे ढग के हैं, वे न केवल तर्कसगत हैं वरन् धार्मिक दृष्टि से भी उपयुक्त हैं तथा मनुष्य के अन्दर कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार माल्थस वेश्या-गमन की बुरी तरह से निन्दा करता है। वह गर्भपात को भी घृणा की दृष्टि से देखता था। वह ईसाइयो से अपील करता है कि उनकी धार्मिक पुस्तकें उनको साफ तौर पर बताती हैं कि उनको अपनी काम वासना पर काबू पाने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्य लोगो से वह कहता है कि प्रकृति के प्रकोपो से बचन के लिये ब्रह्मचर्य का गुण अत्यावश्यक है। परन्तु यहा यह बताना आवश्यक है कि माल्थस को स्वय यह विश्वास नही था कि उसकी आत्म-सयम की बात को कोई ग्रहण करेगा। वह अनुभव करता था कि ब्रह्मचर्य न केवल निष्फल रहेगा वरन यह भयकर सिद्ध होगा क्योकि यह उन बुराइयो को जन्म देगा जिनको वह (माल्थस) रोकना चाहता था। उसका मन था कि बहुत दिनो तक ब्रह्मचर्य का पालन करन का नैसर्गिक प्रभाव अच्छा न होगा। इस प्रकार माल्थस एक ओर तो यह शिक्षा देता है कि लोगो को नैतिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, दूसरी ओर वह इस को कठिन तथा दुसाध्य समझता है। इसी कारण वह उन कार्यों के करने की छूट देता है जिनके द्वारा मनुष्य की कामवासना तुष्ट भी हो जाय और बच्चे भी पैदा हो। वह कहता है

कि हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपनी वासना को इस प्रकार तुष्ट कर कि कोई बुराई पैदा न हो। माल्थस की इस छूट देने के कारण नये माल्थसवादियो (Neo-Mathusians) का जन्म हुआ।

जीड और रिस्ट का मत है कि इस प्रकार माल्थस हमारे सम्मुख ऐसे व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करता है जो एक चौराहे पर खडा है। उसके सामने कष्टो की सडक है। उसके दाये हाथ पर भलाई का रास्ता है तथा बाये हाथ पर बुराई का। पहले रास्ते की ओर मनुष्य अपनी अन्धी कामवासना के कारण जाता है। ऐसे व्यक्ति को माल्थस अपनी वासना पर काबू पाने की सलाह देता है तथा उसको दाये हाथ की सडक पर जाने को कहता है, यद्यपि उसको भय है कि उसकी बात मानकर उस सडक पर चलने वालो की सख्या बहुत कम होगी। पर उसको यह भी विश्वास नही होता था कि अधिकतर व्यक्ति बुराई के मार्ग का ही अनुसरण करेंगे।

इस प्रकार माल्थस को विश्वास था कि मानव समाज अपनी निरन्तर दूरदर्शिता, बुद्धिमानी तथा नैतिक परहेज के द्वारा सब प्रकार की सामाजिक गरीबी को दूर कर सकेगा अथवा उसको केवल उन्ही लोगो तक सीमित रख सकेगा जो कि इतने 'भाग्यहीन' है कि उनको बुद्धिमानी व दूरदर्शिता भी नही बचा सकती।

आलोचनायें—माल्थस के जनसख्या के सिद्धान्त की बडी कडी आलोचनायें की गई है। आलोचको का कहना है कि जन-सख्या २५ वर्ष मे अपने से दुगनी नही होती वरन् ३३ वर्ष मे दुगनी होती है। परन्तु इस आलोचना से माल्थस का मूल सिद्धात अचल रहता है। यहा यह बात तो मानी ही गई है कि जन सख्या अपने से दुगनी हो जाती है। पर कितने वर्षों मे ? माल्थस कहता है कि वह २५ वर्ष मे होती है, आलोचक कहते हैं कि वह ३३ वर्ष मे होती है। इस प्रकार समय के बढने से जन-सख्या के बढने की गति कुछ मन्द अवश्य हो सकती है परन्तु यह बात अवश्य है कि वह गुणोत्तर श्रेणी मे बढती है। इस प्रकार चाहे जन-सख्या प्रारम्भ मे कितनी भी धीरे-धीरे बढे अन्त मे वह बडी द्रुत गति से बढती है। इस प्रकार यह आलोचना माल्थस के सिद्धान्त का खण्डन न करके उसका समर्थन करती है।

आलोचको ने माल्थस के खाद्य सामग्री विषयक विचारो की भी आलोचना की है। व कहते हैं कि माल्थस ने खाद्य सामग्री के बढने की जो गति बताई है, वह पुनरोत्पादन के किसी भी नियम के अनुसार नही है। आलोचक कहते हैं कि खाद्य सामग्री पशु तथा वनस्पति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु इन दोनो का पुनरोत्पादन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि मानव समाज का। वनस्पति से गल्ला, आलू आदि तथा पशुओ मे मुर्गिया, मछलिया, पशु, भेडे आदि मानव समाज से भी तीव्रतर गति से बढते है, परन्तु इस आलोचना के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि वनस्पति तथा पशुओ की बढने की यह गति भूमण्डल के केवल एक छोटे क्षेत्र तक ही सीमित है। यहा भी उसके स्वतन्त्र रूप से बढने मे बडी बाधाये आती हैं। हम

सभी सुनते है कि बडी मछलिया छोटी मछलियो को खा जाती हैं। दूसरे शब्दो मे, पशुश्रो तथा वनस्पतियो मे शक्तिशाली निर्बलो को खा जाते हैं। इस कारण उनके बढने की गति मन्द पड जाती है। परन्तु यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि जो बात वनस्पति व पशु-जीवो की वृद्धि गति को रोकने के लिय लागू होती है, क्या वही मानव समाज पर भी लागू होती है। इसके उत्तर मे कुछ लोग हा कहते है, कुछ लोग नही। यहा हमको इस समस्या पर प्राणीशास्त्र की दृष्टि से विचार न करके अर्थशास्त्र की दृष्टि से विचार करना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर हमको तत्कालीन अग्रेजी अर्थशास्त्रियो के विचारो को ध्यान मे रखना पडेगा। उस समय के अर्थशास्त्री खाद्य सामग्री के अन्दर कवल गल्ले को ही सम्मिलित करते थे। गल्ला भूमि से उत्पन्न होता है। भूमि पर क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है। इसी कारण हम श्रम व पूजी मे दूनी या तीन गुनी वृद्धि द्वारा उसी भूमि से पहले से दुगनी अथवा तीगुनी मात्रा मे गल्ला उत्पन्न नही कर सकते। (इस बात को हम पहले बता आये हैं)। इस कारण गल्ले का उत्पादन मन्द गति से बढता है। मॉल्थस ने इस गति को अको मे रखकर केवल इसके अधिक स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। वह कहता है कि जो लोग कृषि कला से जानकारी रखते है वे जानते है कि यदि कृषि को बढाया जाय तो उससे औसत उपज धीरे धीरे निरन्तर कम होती चली जाती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि खाद्य सामग्री के बढने की गति जन-सख्या की गति से कम होती है।

आलोचको का यह भी कहना है कि मॉल्थस के समाज ने भविष्य के विषय मे जो चिन्ता प्रकट की थी, वह व्यवहार मे ठीक नही उतरी। इतिहास बताता है कि किसी भी देश म जन-सख्या अत्यधिक नही है। फ्रास जैसे देशो मे तो वह कम होती जा रही है। बहुत से देशो मे वह बढी तो बहुत है परन्तु देश की कुल सम्पत्ति की दृष्टि से अधिक नही हुई है। उदाहरण के लिये, अमेरिका मे १८५०–१६०५ ई० के बीच जन-सख्या व प्रति व्यक्ति आय दोनो पहले की चार गुनी हो गई। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन की जन-सख्या व सम्पत्ति दोनो ही, १८०० ई० व १६२५ ई० के बीच चार गुनी बढ गई है। इसका कारण यह है कि इगलेड व अमेरिका आदि देशो मे इस बीच मे विज्ञान के क्षेत्र मे आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इसके कारण क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम का लागू होना भी रुक गया है तथा कल कारखानो के उत्पादन मे भी बडी उन्नति हुई है। इसी बीच इन देशो ने अपने बहुत से उपनिवेश भी बसाये हैं। इसलिए यही नही कि इन देशो के बहुत से व्यक्ति इन उपनिवेशो मे जाकर बस गए हैं, बल्कि इन देशो मे लोगो को इन उपनिवेशो से बहुत सा गल्ला व कच्चा माल भी प्राप्त हो जाने लगा। इसलिये इन देशो म अत्यधिक जन-सख्या की समस्या कभी उत्पन्न नही हुई। दूसरे देशो मे भी जहा जन-सख्या मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई भी है, वहा यातायात के साधनो की उन्नति के कारण गल्ले की कभी इतनी कमी नही हुई है कि देश के लोग भूखो मर जायें।

पर इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि जहा पाश्चात्य देशो मे अत्यधिक जन-सख्या की कोई समस्या उत्पन्न नही होने पाई, वहा एशिया के देशो मे इस समस्या ने बडा भयकर रूप धारण किया है। आजकल एशिया के देशो म जन-सख्या के बढने की गति उससे अधिक नही है, जितनी की वह सयुक्त राज्य अमेरिका अथवा कनाडा मे है, तो भी एशिया के देश गरीब हैं। इसका कारण यह है कि ये देश अभी तक अविकसित दशा मे है। इन देशो ने टैक्नोलोजी म कोई विशेष उन्नति नही की। ये खेतो मे मशीनो का अधिक प्रयोग नही करते। इनके खनिज पदार्थ अभी तक भूमि के नीचे दबे पडे हैं। इन देशो के लोगो का एक मात्र आधार खेती है। उद्योग धन्धे अधिक उन्नत नही है। बैंको की भी उन्नति नही हो पाई है। पू जी की कमी है। अत गरीबो का साम्राज्य है तथा लोगो का जीवन स्तर बडा नीचा है। लोगो को दो समय भरपेट खाना नही मिलता। लोगो के लिये रोजगार के अवसर मानो एक दम बन्द से है। गरीबी के कारण वे आए दिन रोगो के शिकार होते रहते है। इस कारण उनकी औसत आयु भी बहुत कम है। बच्चे अधिक मरते हैं।

यही नही, यदि हम सारे ससार की जन-सख्या की वृद्धि पर विचार करें तो हमको पता चलेगा कि वह बडी तेजी के साथ बढती चली जा रही है। इसका अनुमान हम नीचे की तालिका से लगा सकते हैं*—

महाद्वीप	जन-सख्या (दस लाख मे)					
	१६५०	१७५०	१८००	१८५०	१९००	१९५०
यूरोप	१००	१४०	१८७	२६६	४०१	५४१
उत्तरी अमेरिका (कनाडा व सयुक्त राष्ट्र)	१	१३	५७	२६	८१	१६६
ओसनिया (O-cania)	२	२	२	२	६	१३
मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका	१२	११ १	१८ ९	३३ ०	६३	१६२
अफ्रीका	१००	९५	९०	९५	१२०	१९८
एशिया	३३०	४७९	६०२	७४९	९३७	१३२०
योग (कुल ससार)	५४५	७२८	९०६	११७१	१६०८	२४००

ऐसी आशा की जाती है कि १९६१ तक ससार की जन-सख्या ३ अरब हो जायगी। इस प्रकार पिछले ३०० वर्षो म ससार की जन सख्या लगभग ५ गुनी हो गई है। १८०० ई० से पूर्व ससार की जन-सख्या की वृद्धि बहुत धीरे-धीरे हुई। परन्तु उसके पश्चात् जब विज्ञान की उन्नति के कारण कृषि, उद्योग धन्धा, यातायात

*From Landio—Population Problems and Cultural Interpretation—2nd Ed p 21

जन-सख्या को कम करने के प्रयत्न जारी हैं। इन सब प्रयत्नों का फल यह होगा कि जन-सख्या के बढने की गति मन्द अवश्य पडेगी। परन्तु जन-सख्या बढेगी अवश्य, क्योंकि प्राय प्रत्येक विवाहिता स्त्री अपनी गोद म एक-दो बच्चे खेलना देखना चाहती है। भारत मे लडको का होना धार्मिक दृष्टि से शुभ तथा आवश्यक समझा जाता रहा है। अपनी जायी सन्तान न होने पर लोग गोद लेकर इस कमी को पूरा करने की चेष्टा करते हैं। इसका कारण यह है कि भारत के लोग समझते हैं कि उनका लडका बुढापे मे उनका पालन-पोषण करेगा मरने के पश्चात् उनका दाह-सस्कार करेगा। यदि लडका दाह-सस्कार नही करता तो यह समझा जाता है कि उस व्यक्ति की आत्मा को मरने के पश्चात् शान्ति नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त, श्रमिक वर्ग भी इसलिये अधिक बच्चे पैदा करना चाहता है कि वे बच्चे बडे होकर पारिवारिक आय को बढाने म योगदान दें। इस प्रकार जहा एक ओर ससार के कुछ लोग जन्म-नियन्त्रण पर जोर देते हैं वहा दूसरी ओर, बहुत से लोग बच्चो को पैदा करना चाहते हैं। परन्तु जो लोग सतानोत्पत्ति चाहते भी हैं वे दो-तीन से अधिक नही चाहते। यह बात विशेषत पढे लिखे तथा खुशहाल लोगो के लिए लागू होती है। इसके विपरीत, गरीब लोग बच्चो के विषय मे अधिक परवाह नहीं करते। इसका फल यह होगा कि भविष्य में जन-सख्या की वृद्धि उस सिरे पर नही बढेगी जहा उसको बढना चाहिये (अर्थात् अमीर आदमियों म), परन्तु वह वहाँ बढेगी जहा उसकी अधिक आवश्यकता नहीं है (अर्थात् गरीबो म)। इस प्रकार कृत्रिम रूप से जन-सख्या को कम करने का परिणाम भविष्य मे बडा खराब हो सकता है। इन ढगो को काम म लाने का प्रभाव यह भी हो सकता है कि जन-सख्या बढने के बदले घटने लगे जैसा कि फ्रास आदि देशो म हो रहा है।* इसका परिणाम सामाजिक दृष्टि म भी खराब हो सकता है क्योकि ये ढग नवयुवको म व्यभिचार को प्रोत्साहन दे सकते हैं। इस प्रकार इस समय यह कठिन होगा कि माल्थस की निरोधात्मक रोक की शिक्षा का भविष्य पर क्या प्रभाव पडेगा। परन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि जन-सख्या की समस्या वर्तमान मे बडी गम्भीर है।

इस घटती हुई जन-सख्या के विषय म भी बहुत से लोग बडी गम्भीरता से विचार कर रहे हैं। लगभग १९२८ ई० के समीप आर० आर० कुजिन्स्की (R R. Kuczynski) ने इस विषय का अध्ययन किया था। उसने बताया कि हम जन सख्या के बढने के विषय म जन्म तथा मृत्यु-दर की तुलना करके कोई अनुमान नहीं लगा सकते। जन-सख्या तभी पूर्ववत बनी रह सकती है जबकि स्त्रिया अपनी बच्चा पैदा करने वाली आयु म अपनी सख्या के बराबर ऐसी लडकियों का जन्म दे सके जो कि बच्चा पैदा करने की आयु तक पहुँच जाय। यदि १००० स्त्रिया १००० ऐसी

* "France is the classic country of the preventive check. Her population has been practically stationary for several decade"—Taussig Principles of Economics—Vol II, 4th Edn. P. 266

लड़कियों को जन्म देती हैं तब जन-संख्या न बढ़ेगी और न घटेगी। परन्तु यदि ऐसी लड़कियों की संख्या जो बच्चा पैदा करने वाली आयु तक पहुंचती है तथा बच्चे पैदा करती हैं १००० से कम रह जाती है तो जनसंख्या घट जायगी। इसके विपरीत, यदि ऐसी लड़कियों की संख्या १००० से बढ़ जायगी तो जन-संख्या बढ़ने लगेगी इस प्रकार हिसाब लगाने से कुजिन्स्की को पता लगा कि पश्चिमी तथा उत्तरी यूरोप में जन-संख्या घटती जा रही है। यहां पर १९२६ ई० में १०० माताओं ने भविष्य में होने वाली केवल ९३ माताओं को जन्म दिया। यदि जन-संख्या की यह प्रवृत्ति कायम रही तो जन-संख्या घटती चली जायगी। उसने आगे बताया कि कुछ छोटे देशों में जन-संख्या के वास्तविक रूप से बढ़ने के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं परन्तु फ्रांस, इंगलैंड, जर्मनी आदि की जन-संख्या ह्रासोन्मुख है।

बहुत से व्यक्ति कहते हैं कि जन-संख्या जैवकीय सिद्धान्त के अनुसार घट रही है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादित करने वाले अमेरिका के प्राणीशास्त्र के प्रो० रेमाण्ड पर्ल (Raymond Pearl) थे उन्होंने अपने सिद्धान्त को लौगिस्टिक वक्र (Logistic curve) के द्वारा समझाया था। इस वक्र का रूप अंग्रेजी के अक्षर 'एस' (S) के समान होता है। पर्ल ने अपनी शोध फल वाली मक्खियों पर की थी। उसने देखा कि फल वाली मक्खियां पहले बड़ी तेजी से बढ़ती हैं। उसके पश्चात् उनके बढ़ने की दर घट जाती है। परन्तु बढ़ने की दर के घटने पर भी उनकी संख्या पहले से अधिक हो जाती है। इसके पश्चात् उनकी संख्या एक बार फिर बढ़ती और तब घटती है। पर्ल का मत है कि यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। पर्ल का यह भी मत है कि जो बात फल की मक्खियों पर लागू होती है। वह मानव जन-संख्या पर भी लागू होती है। जनसंख्या पहले तेजी से बढ़ती है, फिर उसके बढ़ने की गति मन्द हो जाती है। उसके पश्चात वह फिर तेजी से बढ़ती है। ऐसा निरन्तर होता रहता है। माल्थस के अनुयायी पर्ल के इस सिद्धान्त को अपने सिद्धात की पुष्टि मानते हैं। परन्तु यहां इतना कहना आवश्यक होगा कि जन-संख्या का जैवकीय सिद्धान्त आर्थिक सिद्धान्त से भिन्न होता है। जो बात निम्न श्रेणी के जीवों की वृद्धि पर लागू होती है वह सर्वदा मानव समाज पर लागू नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त में यह बात स्वीकार नहीं की गई है कि मनुष्य के ऊपर उसकी परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है जिसके कारण उसके आचार-विचार बदलते रहते हैं।
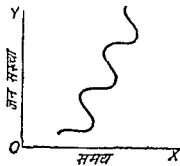
यहां पर हम पर्ल के सिद्धान्त के महत्व को स्वीकार करते हुये कह सकते हैं कि वर्तमान में मनुष्यों की बच्चे उत्पन्न करने की शक्ति जैवकीय विकास के अनुसार कार्यशील नहीं दिखाई दे रही है।

बहुत से लोगो का यह मत है कि जन-सख्या इसलिये घट रही है कि आजकल लोग काफी उम्र बीत जाने पर शादी करते है जिससे उनके कम बच्चे पैदा होते हैं। परन्तु इस तर्क के समर्थन मे पर्याप्त आकडे नही मिलते। यदि हम विचार करके देखे तो हमको पता चलेगा कि कुछ देशो मे जन-सख्या इसलिये घट रही है कि लोग प्रजनन स्वतन्त्र रूप से नही होने देते, उसको नियन्त्रित तथा नियोजित रखने की चेष्टा मे सलग्न है। वास्तव मे, बात यह है कि यदि परिवार बडा होता है तो उसके सदस्यो का जीवन-स्तर गिर जाता है तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा का भी कोई उचित प्रबन्ध नही हो पाता। इसी लिये आजकल लोग कम बच्चे पैदा करने का प्रयत्न करते है जिससे कि उनका जीवन-स्तर न गिरे और बच्चो की भी उचित शिक्षा-दीक्षा हो सके।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आजकल छोटे परिवारो की प्रवृत्ति इसलिये है कि लोगो को पर्याप्त मात्रा मे खाने-पीने तथा बच्चो को पालने-पोसने का सामान नही मिलता। यदि लोगो को बिना कठिनाई के यह सब सामान मिल सकता तो वे परिवार को घटाने का शायद प्रयत्न न करते। इस प्रकार जन-सख्या के घटने की प्रवृत्ति मॉल्थस के सिद्धान्त की पुष्टि करती है। वास्तव मे, यह जन-सख्या के ऊपर निरोधात्मक रोक है, यद्यपि यह उससे भिन्न है जिसको कि मॉल्थस ने अपने जन-सख्या के लेख मे बताया था।

जनसख्या की दर के घटने के विषय मे बहुत से लोगो ने बडी चिन्ता प्रकट की है। केन्ज, हेन्सन आदि अर्थशास्त्रियो का मत है कि जनसख्या के घटन के कारण आर्थिक स्थिरता तथा साधनो के न्यून-उपयोगीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इन लोगो का मत है कि जनसख्या के बढने के कारण चीजो की माग बढती है जिसके कारण अधिक विनियोग किया जाता है तथा उसके फलस्वरूप उपयोगीकरण तथा आय मे वृद्धि आती है। यदि जनसख्या नही बढेगी तो विनियोग के अवसर कम हो जायेंगे तथा इसका आर्थिक व्यवस्था पर बडा खराब प्रभाव पडेगा। जनसख्या के घटने का दूसरा प्रभाव यह हो सकता है कि समाज म नव-युवको का अनुपात घट जाय तथा वृद्धो का अनुपात बढ जाय। ऐसा होने पर नवयुवको पर वृद्धो के पालन-पोषण का भार पडेगा। इसका एक यह भी प्रभाव पड सकता है कि इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ जाय, क्योकि वे देश जिनमे जनसख्या अधिक है उन देशो की ओर लुब्ध-दृष्टि उठाने लगेंगे जिनमे जनसख्या कम है। इस प्रकार देशो के बीच झगडा बढ सकता है।

माल्थस के सिद्धान्त की एक और भी आलोचना की गई है और वह यह कि माल्थस ने जनसख्या आधिक्य को घटाकर समुचित स्तर पर लाने वाले तत्वो का मूल आधार गल्ले की कमी को बताया है। परन्तु बात ऐसी नही है। यह सत्य है कि कुछ रोग गल्ले की कमी के कारण होते हैं परन्तु बहुत से ऐसे रोग भी है जिनका

गल्ले की कमी से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त युद्ध भी बहुधा गल्ले की कमी के कारण नहीं वरन् राजनैतिक कारणों से होते हैं। आजकल संसार में जो तनाव दिखाई देता है उसका कारण यह है कि साम्यवादी शक्तियां सारे संसार पर छा जाना चाहती हैं, 'स्वतन्त्र संसार' उनको ऐसा करने से रोक रहा है। इसके अतिरिक्त बहुत से समाजों में जनसंख्या को धार्मिक विचारों के कारण रोका जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जनसंख्या को रोकने वाली एकमात्र शक्ति खाद्य सामग्री की कमी नहीं है वरन् और दूसरे कारणों से भी जनसंख्या कम हो सकती हैं। इन 'दूसरे कारणों' का माल्थस ने कोई जिक्र नहीं किया।

यद्यपि माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त में बहुत से दोष हैं तो भी हमको यह अवश्य मानना पड़ेगा कि माल्थस ही पहला व्यक्ति था जिसने जनसंख्या की समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। माल्थस के विचारों का प्रभाव न केवल अर्थशास्त्र पर ही पड़ा है वरन् डार्विन ने अपना 'प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) का सिद्धान्त भी माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त से ही लिया था। इसके अतिरिक्त, माल्थस ने अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये बहुत से आंकड़े एकत्रित किये थे जो कि जनसंख्या की रोक-थाम पर कार्य करने वाले प्रभावों को दिखाते थे। इनमें देश-त्याग, गरीबी सम्बन्धी कानून, बहुत से रीति रिवाज आदि सम्मिलित थे। इन सब आंकड़ों का उस समय में बहुत से कानूनों पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। माल्थस ने अर्थशास्त्र में प्रवैगिक (Dynamic) विचार का समावेश किया क्योंकि अब जनसंख्या को स्थिर मान कर आर्थिक नियम बनाने कठिन हो गये। इस प्रकार माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त अर्थशास्त्र को उसकी एक बड़ी देन है।

माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता—

यद्यपि माल्थस के सिद्धान्त की इतनी कड़ी आलोचनायें की गई है तो भी हम को यह तो मानना पड़ेगा कि उसके सिद्धान्त में सत्यता अवश्य है। इस बात को हम तब समझ सकते हैं जबकि हम माल्थस के सिद्धान्त के आधार को समझें। माल्थस के सिद्धान्त में कहा गया है कि जनसंख्या खाद्य सामग्री पर निर्भर होती है तथा खाद्य सामग्री उस गति से नहीं बढ़ती जिस गति से कि जनसंख्या। इस कारण खाद्य-सामग्री बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये पर्याप्त नहीं होती और वह घटने लगती है। माल्थस ने बताया कि यह जनसंख्या या तो नैसर्गिक रोक से कम होगी या निरोधात्मक रोक से। इतिहास हमको बताता है कि माल्थस की यह बात ठीक है। जब जब भी किसी स्थान पर जनसंख्या आवश्यकता से अधिक हुई तब-तब उन लोगों को अपने देश छोड़ कर विदेशों में जाना पड़ा जिनको अपने देश में भोजन की पर्याप्त सामग्री प्राप्त नहीं होती थी। पुराने समय में भूमि अधिक थी तथा जनसंख्या कम। इस कारण यह बात सम्भव थी। परन्तु आजकल संसार में प्रायः सभी देश जनसंख्या के विषय में बहुत सतर्क हैं तथा एक देश दूसरे देश वालों को अपने देश में बसने की अनुमति नहीं देता। इस कारण दूसरे देश में जाकर बसने की बात ठीक दिखाई

नही देती। प्रत्येक देश को अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का पालन स्वय ही करना पडेगा। इसलिये भविष्य मे प्रत्येक देश के सामने यह समस्या अवश्य आयेगी कि वह अपनी बढती हुई जनसंख्या को कैसे पाले-पोसे।

माल्थस की नैसर्गिक रोक की बात भी इतिहास से सिद्ध होती है। इतिहास हमको बताता है कि भूतकाल मे जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण गल्ले की कमी, महामारी, अकाल, अन्तर्जातीय युद्ध, बाल हत्या, गर्भपात आदि होते रहे है। दूसरे शब्दो में, जनसख्या इसलिये कम नही हुई कि लोगो ने निरोधात्मक साधनों का प्रयोग किया वरन् इसलिये कम हुई कि मृत्यु-दर बढ गई। माल्थस के सिद्धान्त मे यही बात कही गई है।'

माल्थस ने ठीक ही कहा था कि लोगों को जनसंख्या कम करने के लिये निरोधात्मक रोको का सहारा लेना चाहिए। आजकल जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के इस ढग पर बडा जोर दिया जा रहा है। भारत में तो यह सरकारी नीति का एक अङ्ग है।

माल्थस का इस बात से इतना सरोकार न था कि भविष्य में भूमि कितने लोगों को पाल-पोस सकती है वरन् इस बात से था कि वह वर्तमान मे कितने लोगों को खिला सकती है। उसका इस बात से भी सरोकार न था कि ससार के देश व अपने वर्तमान अथवा भविष्य के साधनों का अधिकतम उपयोग कर रहे हैं या नही। उसका इस बात से भी सरोकार न था कि पिछले १८० वर्षों मे बहुत से देशों ने पहले से अधिक जनसंख्या को पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचे जीवन-स्तर पर सफलता-पूर्वक लाने की योग्यता दिखाई है। यह बात ठीक है कि विज्ञान व कृषि-कला की उन्नति के कारण भूमि पर क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम लागू होता है। यह बात भी ठीक है कि पिछले सैंकडो वर्षों मे भूमि से अधिक मात्रा मे खनिज पदार्थ व दूसरी चीजें प्राप्त हुई हैं तथा यातायात के साधनो की बडी उन्नति हुई है जिसके कारण हमको बडी अच्छी अच्छी नई भूमियां प्राप्त हुई हैं। जैसा डार्विन ने बताया है, यह भी सम्भव है कि ससार की खाद्य सामग्री वर्तमान की हजारों गुनी बढ जाय। यह बात कृत्रिम गल्ला उत्पन्न करके अथवा समुद्र के नीचे से खाने योग्य चीजें प्राप्त करके सम्भव बताई जा सकती है। परन्तु इन सबके होते हुए भी माल्थस की यह बात ठीक है कि किसी दिये हुए समय पर किसी देश के लोगो का जो जीवन-स्तर है तथा उनकी जो उत्पादन-योग्यता है उसके अनुसार जनसंख्या सदा ही इस बात की संभावना रखती है कि वह खाद्य-सामग्री से बढ जाय। हम सभी जानते है कि गल्ले के उत्पादन तथा वितरण को समायोजित करने मे कुछ समय की अपेक्षा होती है तथा उसमें कुछ लागत भी लगती है। लागत लगाने से गल्ला तो अवश्य अधिक उत्पन्न हो जाता है परन्तु प्रति इकाई लागत खर्च पहले से अधिक हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, गल्ला उत्पन्न करने म अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन अवधि मे क्रमगत उत्पादन-ह्रास नियम लागू होता है। यह ठीक है कि मानव इतिहास मे गल्ले की

पूर्ति तथा खाने वालो के बीच एक होड लगी रही है* हमारे लिये मरस वष्टकारी बात यह है कि हम माल्यस द्वारा बताई गई विकट परिस्थिति का तभी मुकाबला कर सकते है जबकि या तो हम अधिक तेजी से गल्ला उत्पन्न कर या मृत्यु दर को बढाये या जन्म-दर को कम करें। मनुष्य का निरन्तर यह प्रयत्न रहा है कि वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करे। वह करता भी जा रहा है। परन्तु प्रकृति निरन्तर इस बात की ताक म खडी रहती है कि कब अवसर मिले और कब वह मनुष्य के ऊपर अपना अधिकार जमाये। जब तक प्रकृति का यह प्रयत्न जारी रहेगा तब तक माल्यस द्वारा बताया गया अत्यधिक जनसख्या का भूत हमारी आँखो के सामने नाचता रहेगा।

यद्यपि यह बात ठीक है कि माल्थस ने अपना जन-सख्या का सिद्धान्त एक निश्चित देश के लिये प्रतिपादित किया था। किन्तु आजकल ससार के देश एक दूसरे के इतने समीप आ गये है कि वे एक दूसरे स अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कडी म जुडे हुए है तथा एक दूसरे से शैल्पिक ज्ञान पूजी तथा अन्य चीजो के सम्बन्ध मे सहयोग से काम ले रहे हैं। परन्तु इसके होते हुए भी हम जगन्नाथ के रथ के पहियो मे फस हुये है जहा से निकलना सम्भव दिखाई नही पडता। हम बढती हुई जन सख्या के लिये अधिक गल्ला खोजते है परन्तु जब तक कि हमारी गल्ले की पूर्ति म वृद्धि आये तब तक जन-सख्या और अधिक बढ जाती है। एलिस (Alice) की कहानी मे दी हुई 'लाल रानी (Red Queen) के समान हमको रुकने के लिये अधिक दौडना पडता है तथा आगे बढने के लिये हमे और अधिक परिश्रम करना पडता है। आजकल हमारे सामने यह प्रश्न है कि क्या जन-सख्या को बढने देना उचित होगा। इसका उत्तर यही है कि हम ऐसा नही कर सकते क्योकि बढती हुई जन-सख्या के लिये आवश्यक अधिक भूमि हमारे पास नही है।

सर्वोत्तम जन-सख्या का सिद्धान्त
(Optimum Theory of Population)

अर्थशास्त्रियो ने माल्थस के जन सख्या सिद्धान्त म एक महत्वपूर्ण सशोधन किया है। उनके विचार मे जन सख्या का बढना सदैव बुरा नही होता है। कभी-कभी उसका बढना भी आवश्यक होता है। जन सख्या का बढना या घटना अच्छा है या बुरा, यह देश की आर्थिक अवस्था पर निर्भर होता है। देश की जन सख्या मे वृद्धि उस समय तक तो लाभप्रद होती है जब तक कि देश का आर्थिक विकास इतनी सीमा तक नही हो जाता कि उस देश के प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग हो जाय। उसके पश्चात यदि जनसख्या बढती है तो नवागन्तुको द्वारा उत्पादन मे क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम कार्यशील हो जाता है। इसलिये लोगो का जीवन-स्तर गिर जाता है। इसके विपरीत, यदि जन-सख्या आवश्यकता से कम होती है तो

* F A. Pearson & F A Harper—"The world's Hunger"

तथा आर्थिक हालतो मे प्रति व्यक्ति अधिकतम उपज प्रदान करती है। जब किसी देश की जन-संख्या का उस देश के वर्तमान साधनो, टैक्नोलोजी आदि के साथ सबसे अच्छा अथवा वाछनीय अथवा आदर्श सम्बन्ध होता है तो साधारणत उस देश की जन-संख्या सर्वोत्तम कहलाती है। यदि किसी समाज मे इतनी जन-संख्या होती है कि वे अपने साधनो व टैक्नोलोजी तथा व्यवस्था-सम्बन्धी सुविधाओ का उचित उपयोग कर सकते हैं तो देश एक मोटर के समान आसानी से दौड़ता रहेगा।*

सर्वोत्तम जन-संख्या के विचार पर अर्थशास्त्री इस बात पर अभी तक एकमत नही हो पाय कि इसके अन्दर किन किन चीजो को कितनी मात्रा मे सम्मिलित किया जाय तथा इन चीजो का क्या गुण होना चाहिये। कुछ लोग कहते है कि इसमे सामाजिक आर्थिक विचारो के अतिरिक्त उन विचारो का भी सम्मिलित किया जाना चाहिये। जो ऐतिहासिक रूप से इस विश्लेषण म आ गय है जैसे सैनिक दृष्टिकोण से जन-संख्या कितनी होनी चाहिये जिससे कि वह राष्ट्रीय सम्मान आदि की उचित रक्षा कर सके।

सर्वोत्तम जन-संख्या को निश्चित करने के लिय हमको उत्पादन के साधनो तथा अन्य चीजो को जन-संख्या के साथ एक निश्चित अनुपात मे रखना पड़ेगा। इन चीजो मे बहुत सी चीज ऐसी है जो कि व्यावहारिक जीवन मे परिवर्तनशील होती हैं। इन चीजो मे हम नीचे लिखी चीजो को सम्मिलित करते है—(१) जन संख्या, (२) साधन, (३) टैक्नोलोजी (४) उत्पादन की व्यवस्था, (५) आय का वितरण।

(१) जन संख्या—सर्वोत्तम जन संख्या को निश्चित करते समय हम न केवल लोगो की कुल संख्या को ही ध्यान मे रखगे वरन् हम यह भी देखेंगे कि यह जन-संख्या श्रम के दृष्टिकोण से, आयु तथा सैक्स के बटवारे तथा शिक्षा तथा टैक्नीकल योग्यता की दृष्टि से किस प्रकार की है। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखेंगे कि लोगो की आर्थिक प्रवृत्ति, उनकी आदत आदि किस प्रकार की हैं तथा उनके कारण किसी सीमा तक अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने मे कहा तक बाधा उपस्थित होती अथवा कहा तक सहायता मिलती है।

(२) साधन—इसमे हम भूमि तथा उन सब चीजो को सम्मिलित करते हैं जो कि भूमि प्रदान करती है। इसमे वे चीजें भी सम्मिलित की जायेंगी जो कि विदेशो से विनिमय करके प्राप्त होती हैं।

(३) टैक्नोलोजी—सर्वोत्तम जन-संख्या की दृष्टि से टैक्नोलोजी के अन्दर टैक्नीक की कुल व्यवस्था, उत्पादन के यन्त्र, वर्तमान साधनो का नियन्त्रण तथा उपयोग, उत्पादन कला की स्थिति आदि सम्मिलित किये जायगे। प्रति व्यक्ति

* "On the criterian of Optimum Population"—Wolfe in American Journal Sec-29 (March 1934)—585—599.

अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए हमको यह भी देखना पड़ेगा कि पूंजी कितनी मात्रा में है, उसमें से कितनी काम में आने लायक है अथवा कितनी पूंजी पूंजी-वस्तुओं के रूप में है। कभी-कभी इसके अन्दर हम उपभोग कला तथा लोगों द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं को काम में लाने की टैक्नीकल क्षमता को भी सम्मिलित करते हैं।

(४) **उत्पादन की व्यवस्था**—इसके अन्तर्गत हम बहुत से विचारों को सम्मिलित करते हैं जैसे उत्पादन के साधन किस अनुपात में मिलाये जायें अर्थात् उन में भूमि की मात्रा अधिक हो या श्रम की, उत्पादन के साधनों में वितरण किस प्रकार किया जाय आर्थिक विशिष्टीकरण की क्या स्थिति हो, व्यवस्था किस प्रकार की हो, मजदूरी देने का क्या ढंग हो, यातायात के साधनों की क्या पद्धति हो, आर्थिक पद्धति क्या हो बिक्री का क्या ढंग हो, आय-कर, सम्पत्ति आदि की क्या व्यवस्था की जाय, वर्तमान उत्पादन पद्धति में अन्तराष्ट्रीय व्यापार कहां तक उचित होगा, तथा उसको किस सीमा तक बढ़ाया जाय आदि। कभी-कभी इस सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी सामाजिक संस्थायें भी सम्मिलित की जाती हैं। इन संस्थाओं में सरकार, कानून, शिक्षा, विज्ञान आदि सभी की ओर संकेत किया जाता है।

(५) **आयु का वितरण**—प्रायः सभी अर्थशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि सर्वोत्तम जन संख्या का निर्धारण करने के लिए हमको सामाजिक आर्थिक कल्याण तथा मानव सुख के ऊपर ध्यान रखना चाहिये। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि हमारा मुख्य ध्येय प्रति व्यक्ति अधिकतम वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन होना चाहिए। कुछ का मत है कि हमारा ध्येय प्रति व्यक्ति अधिकतम वास्तविक आय (Real income) उपार्जन होना चाहिए, वे कहते हैं कि सर्वोत्तम जन संख्या वह होगी जो कि सबसे अधिक कुशलता के साथ प्रति व्यक्ति सबसे उत्तम आर्थिक जीवन-स्तर प्रदान कर सके।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि सर्वोत्तम जन-संख्या का अनुमान लगाते समय हमको कुछ ऐसे प्रश्नों पर भी विचार करना चाहिये जो कि पूर्ण रूप से आर्थिक नहीं हैं। उदाहरण के लिये, वस्तुओं को उत्पन्न करने में जो वास्तविक-लागत (Real cost) खर्च होती है उसको ध्यान में रखा जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में, हमको देखना चाहिए कि उत्पादन करने का ढंग साधारण है या कष्टकारी, रोजगार निरन्तर है या नहीं, कार्य कितनी जन-संख्या के लिए कष्टकारी है तथा कितनों के लिये नहीं।

बहुत से सामाजिक वैज्ञानिक तथा विचारक आर्थिक कल्याण के अतिरिक्त बहुत सी दूसरी चीजों को भी इस विचार में सम्मिलित करना चाहते हैं जैसे स्वास्थ्य तथा अन्य भौतिक कल्याण, स्वतन्त्रता, प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द, पर्याप्त मात्रा में व्यक्तिगत अवसर तथा सुरक्षा, बुद्धिजीवी के लिये अवकाश, आध्यात्मिक कार्य की स्वतन्त्रता, मनुष्य की आत्मा को उन्नत करने वाले अन्य अवसर आदि। परन्तु इन सब चीजों पर लोग एक मत नहीं हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वोत्तम जन-संख्या का निश्चित करने का कार्य बड़ा कठिन है। इसमें हमको बहुत सी बातों पर ध्यान देना पड़ेगा। इसको निश्चित करते समय हमको न केवल इस बात पर ध्यान देना पड़ता। कि देश के अन्दर कितने व्यक्ति हैं वरन् साथ में यह भी देखना पड़ेगा कि इन व्यक्तियों के द्वारा वर्तमान टैक्नोलोजी तथा साधनों के आधार पर क्या हम अधिकतम उत्पादन अथवा उच्चतम प्रति व्यक्ति आय प्राप्त कर सकते हैं। यह बात निश्चित करते समय हमको देश की आर्थिक ही नहीं, अपितु सामाजिक तथा राजनैतिक स्थितियों पर भी ध्यान देना पड़ेगा।

सर्वोत्तम बिन्दु बदलता रहता है—

सर्वोत्तम बिन्दु सदा के लिये स्थिर नहीं होता। यह हो सकता है कि जो जन-संख्या आज सर्वोत्तम है, वह कल सर्वोत्तम न रहे। हम ऊपर बता चुके हैं कि सर्वोत्तम जन-संख्या को निश्चित करने में हमको कई ऐसी बातों का ध्यान में रखना पड़ता है जो कि परिवर्तनशील हैं। यदि इनमें से किसी में भी परिवर्तन हो जायगा तो सर्वोत्तम बिन्दु हटकर दूसरे स्थान पर चला जायगा। उदाहरण के लिए जो जनसंख्या वर्तमान टैक्नोलोजी तथा साधनों के विकास के अनुसार सर्वोत्तम समझी जाती है वह टैक्नोलोजी में उन्नति होने तथा साधनों का अधिक विकास होने पर सर्वोत्तम न रहेगी। वह सर्वोत्तम से कम हो जायगी। इस कारण ऐसी स्थिति में जन-संख्या में वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ेगी।

हम जानते हैं कि देश की जन्म-दर तथा मृत्यु-दर में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। देश की जन-संख्या की रचना (Composition) में देश-परित्याग, शिक्षा व प्रशिक्षा की उन्नति आदि के कारण परिवर्तन हो सकता है, उत्पादन की व्यवस्था में परिवर्तन हो सकता है, प्राकृतिक साधनों को उन्नत किया जा सकता है, जैसे कि हमारे देश में लोहा, कोयला, मिट्टी के तेल आदि साधनों को उन्नत किया जा रहा है, लोगों की आदतों में परिवर्तन हो सकता है तथा देश की आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक हालतों में परिवर्तन हो सकता है। देश तथा विदेशों के आपसी सम्बन्धों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ सकता है और इससे हमारी आर्थिक स्थिति पर भी प्रभाव पड़ सकता है। इन सब बातों के कारण सर्वोत्तम बिन्दु का समय-समय पर स्थानान्तरण होता रहता है।

इष्टतम जन-संख्या को हम सर्वोत्तम कहते हैं। यदि जन-संख्या इष्टतम बिन्दु से कम होती है तो वह न्यून जन-संख्या (Under population) कही जायगी। इसके विपरीत, इष्टतम बिन्दु से अधिक जन-संख्या होने से उसको अधिक जन-संख्या (Over-population) कहा जायगा, न्यून व अधिक जन-संख्या दोनों ही अहितकर हैं।

कम या अधिक जन-सख्या का पता लगाने के लिये डॉल्टन (Dalton) के सूत्र को काम मे लाया जा सकता है जो कि इस प्रकार है—

$$M=\frac{A-O}{O}$$

जहा M का प्रयोग जन-सख्या के कु सयोजन (Ma-ladjustment) के लिए किया गया है, A का वास्तविक जन-सख्या (Actual population) के लिये तथा O का सर्वोत्तम जन सख्या के लिय। यदि वास्तविक जन-सख्या तथा सर्वोत्तम जन-सख्या के अन्तर को हम सर्वोत्तम जन-सख्या से भाग दें तो हमको M का पता चल जायगा। यदि M शून्य होता है तो जन-सख्या सर्वोत्तम होगी तथा उसको बढाने-घटाने की कोई आवश्यकता नही। यदि M ऋणात्मक (Negative) है तो जन-सख्या सर्वोत्तम से कम है तथा उसको बढाने की आवश्यकता है। इसके विपरीत, यदि M धनात्मक (Positive) है तो जन-सख्या सर्वोत्तम जन-सख्या से अधिक है तथा उसको कम करने की आवश्यकता है। इसको एक चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है—
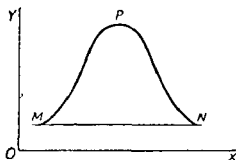
बराबर के चित्र म P बिन्दु सर्वोत्तम जन-सख्या बिन्दु है। M स P तक कम जन-सख्या की स्थिति है तथा P से N की ओर चलन मे जन-सख्या आवश्यकता म अधिक होने लगती है।

सर्वोत्तम जन-सख्या सिद्धांत तथा मॉल्थस सिद्धा त—

ऊपर हमने मॉल्थस के जन-सख्या के सिद्धान्त का अध्ययन किया। उसके पश्चात् सर्वोत्तम जन-सख्या के सिद्धान्त का अध्ययन किया। सर्वोत्तम जन-सख्या का अध्ययन करते समय हमे अन्धेरे मे उजाले की चमक दिखाई पडी। निराशा मे आशा की झलक मिली। मॉल्थस का अध्ययन करते समय हमको ऐसा लगा मानो हमारा जी घुटते घुटते रह गया हो। इसका कारण यह कि माल्थस का जन-सख्या का सिद्धान्त निराशा से भरा हुआ है। उसको पढने से ऐसा लगता है कि ससार का भविष्य अन्धकारमय है तथा उसमे सुधार होने की कोई आशा नही है। उसको पढने से ऐसा आभास होता है मानो आदमी अपनी काम वासना को तृप्त करने मे कोई बडा पाप कर रहा है। परन्तु जब हम सर्वोत्तम जन-सख्या सिद्धान्त को पढते हैं तब हमको ऐसा लगता है कि ससार का भविष्य सदा ही अन्धकारमय नही। वह तभी अन्धकार की ओर जाता कहा जा सकता है जब कि जन-सख्या सर्वोत्तम बिन्दु को पार करने लगी है। उससे पूर्व जन-सख्या को बढने देने मे कोई हानि नहीं होगी।

इस प्रकार सर्वोत्तम जन-संख्या तक पहुंचने तक मनुष्य को अपनी काम-वासना तुष्ट करने तथा स्वतन्त्र रूप से बच्चे पैदा करने में कोई हानि नहीं है। इसीलिये मनुष्य इस सिद्धान्त को पढ़कर इस नतीजे पर पहुंचेगा कि काम-वासना को तुष्ट करना कोई पाप नहीं है। इसलिये हम यह सकते हैं कि जहां माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी है, जन-संख्या का सिद्धान्त आशावादी है।

माल्थस के सिद्धान्त को पढ़ने से पता चलता है कि उसने जन-संख्या को केवल संख्या तक ही अपने आपको सीमित रखा था। उसने इसके गुणों पर ध्यान नहीं दिया। यह जन-संख्या पढ़ी लिखी है या नहीं, कार्य-कुशल है या नहीं आदि बातों के ऊपर माल्थस ने कोई विचार नहीं किया। परन्तु सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त इस बात पर विचार करता है कि देश की जन-संख्या में भिन्न-भिन्न गुणों के व्यक्ति पाये जाते हैं तथा उन्हें और वर्तमान में विकसित प्राकृतिक साधनों को हम किस प्रकार काम में लायें कि हमको अधिकतम प्रति व्यक्ति आय प्राप्त हो जाय। इस प्रकार सर्वोत्तम जन-संख्या के अनुसार जन-संख्या की समस्या का सम्बन्ध संख्या से ही नहीं है वरन् जन-संख्या के गुणों में भी है।

माल्थस के उत्पादन के अन्दर केवल खाद्य-सामग्री के उत्पादन पर ही ध्यान दिया था। इसके विपरीत, सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त न केवल खाद्य-सामग्री पर ही ध्यान देता है वरन् अन्य कृषि उपज, कारखानों में प्राप्त उपज, आदि सभी पर ध्यान देता है। इस प्रकार सिद्धान्त ने हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत कर दिया है। इस दृष्टि से विचार करने पर वह उस जन-संख्या के अधिक होने की शिकायत नहीं कर सकता जिसमें खाद्य पदार्थ तो कम उत्पन्न होते हैं परन्तु औद्योगिक उपज अधिक मात्रा में होती है।

माल्थस का सिद्धान्त एक ऐसे समाज की कल्पना करके चलता है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। यहाँ तक कि कृषि कला में भी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत, सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त जन-संख्या, साधनों, टैक्नोलोजी, आय आदि सम्बन्धी सभी प्रकार के परिवर्तनों पर ध्यान देता है। इस प्रकार यह अधिक व्यवहारिक कहा जा सकता है।

माल्थस के सिद्धान्त में बताया गया है कि जब देश में युद्ध, रोग, भुखमरी आदि होते हैं तब जन-संख्या आवश्यकता से अधिक होती है। यह जन-संख्या आधिक्य मृत्यु-दर के बढ़ने से पुनः उचित स्तर पर आ जाती है। इसके विपरीत, सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त के अनुसार जन-संख्या तब अधिक होती कही जाती है जबकि यह सर्वोत्तम बिन्दु को पार कर जाय। इसको सर्वोत्तम बिन्दु पर फिर से लाने के लिये हमको टैक्नोलोजीकल उन्नति करनी पड़ेगी तथा देश के प्राकृतिक साधनों का विकास करना पड़ेगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त में माल्थस के कष्टों आदि का स्थान मनुष्य की बुद्धि ने ले लिया है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर अधिक जन-संख्या को भी सर्वोत्तम बना सकता है।

अत हम कह सकते हैं कि सर्वोत्तम जन-संख्या का सिद्धान्त माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त से बहुत अच्छा है।

सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त की आलोचना—

सर्वोत्तम जन-संख्या का विचार यद्यपि कुछ बातों में श्रेष्ठ है, फिर भी कुछ दोष हैं। वास्तव में, इसको जन-संख्या का वास्तविक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्त यह बात नहीं बताता कि जन-संख्या किस प्रकार बढ़ती है।

सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त जन-संख्या की समस्या को सर्वोत्तम बिन्दु के आधार पर अध्ययन करता है। पर यहा यह प्रश्न उठता है कि सर्वोत्तम बिन्दु है क्या तथा वह किस प्रकार निश्चित किया जाय। यह एक समस्या है। सर्वोत्तम बिन्दु को मालूम करने के लिये हमको सारे आर्थिक ढाचे को स्थिर मानकर चलना पड़ेगा। परन्तु इस परिवर्तनशील जगत मे न केवल जन-संख्या ही बढ़ती है वरन पूंजी, उत्पादन के ढगो, आवश्यकताओं आदि मे भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यदि हम इन सब चीजो को स्थिर मान कर एक बिन्दु मालूम भी करते हैं तो वह वास्तविकता से दूर होगा। फिर यह बात भी है कि सर्वोत्तम बिन्दु तक पहुँचने के लिये हमको जन-संख्या को बढ़ाना-घटाना पड़ेगा। यदि जन-संख्या उस बिन्दु से कम है तो प्रति-व्यक्ति बढ़ती हुई आय से उसका पता लग जायगा तथा हम जन-संख्या को बढ़ा सकते हैं। परन्तु हो सकता है कि बढ़ते-बढ़ते जन-संख्या उस बिन्दु को पार कर जाय। बिन्दु को पार करने पर हम उसको घटा नही सकते। इस प्रकार व्यवहार मे कभी जन-संख्या उस बिन्दु से अधिक होगी तो कभी कम तथा सर्वोत्तम बिन्दु इस सिद्धान्त का आधार है। जब आधार ही अनिश्चित तथा शकापूर्ण ही है तो सिद्धान्त किस प्रकार ठीक हो सकता है। इसके अतिरिक्त, हमने ऊपर बताया है कि सर्वोत्तम बिन्दु मे टैक्नीलोजी तथा लोगो की पूंजी बचाने की आदतो मे परिवर्तन होता रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमको सर्वोत्तम बिन्दु परिवर्तित करते रहना पड़ेगा। परन्तु ऐसा करना व्यवहार मे सभव नही।

सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त केवल भौतिक दृष्टिकोण पर ध्यान देता है। इसके अन्तर्गत हम यह देखना चाहते हैं कि वह कौनसा बिन्दु है जिस तक जन-संख्या को लाने से प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होगी। परन्तु यह प्रति व्यक्ति आय किस प्रकार प्राप्त की गई है यह एक महत्वपूर्ण बात है। यदि अधिकतम प्रति व्यक्ति आय श्रम का शोषण करके उत्पन्न की गई है तो हम जन-संख्या को इष्टतम नहीं कह सकते क्योंकि देश की सम्पत्ति का उस समय कोई अर्थ नहीं जबकि लोगो का स्वास्थ्य तथा चरित्र अच्छा न हो, अथवा कुछ लोगो के शोषण द्वारा आय अर्जित की जाय।

सर्वोत्तम जन-संख्या सिद्धान्त जन-संख्या का अध्ययन आर्थिक दृष्टि से करता है। परन्तु जन-संख्या की समस्या का केवल एक आर्थिक पहलू ही नहीं है वरन नैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि पहलू भी हैं। हो सकता है कि आर्थिक दृष्टिकोण से लोगों की एक निश्चित संख्या इष्टतम समझी जाय परन्तु नैतिक दृष्टि से वह ऐसी न समझी जाय। इसी प्रकार जो संख्या आर्थिक दृष्टि से इष्टतम है वह सामाजिक दृष्टि से अधिक या कम हो सकती है (जैसे यदि लोगों का स्वास्थ्य तथा चरित्र अच्छा न हो तथा उनको एक पूर्ण जीवन बिताने के अवसर प्राप्त न हों।)

इन सब बातों के कारण हम कह सकते हैं कि यद्यपि सर्वोत्तम जन-संख्या माल्थस के सिद्धान्त से अच्छा है किन्तु यह व्यवहारिकता से दूर है।

भारतीय जन-संख्या
(Indian Population)

भारत के लिये आजकल कदाचित् ही कोई समस्या इतनी गम्भीर हो जितनी कि जन-संख्या की समस्या। इसका कारण यह है कि एक तो जन-संख्या अधिक है दूसरे उसके बढ़ने की गति भी तेज है। कोलम्बो कान्फ्रेंस में बताया गया था कि भारत की जन-संख्या प्रतिवर्ष १.९ प्रतिशत अथवा लगभग ६० लाख बढ़ जाती है। इस बढ़ती हुई जन-संख्या के साथ-साथ देश में कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन उसी गति से नहीं रहे हैं। इस कारण दूसरी योजना पर इतना धन खर्च करने पर भी केवल इतनी आशा की जाती है कि और ८० लाख आदमियों को रोजगार मिल सकेगा। तीसरी योजना के अन्त तक लगभग १४० लाख लोगों को रोजगार मिल सकेगा, परन्तु इस बीच श्रम-संख्या में १५० लाख वृद्धि होने की आशा है। इस प्रकार तीसरी योजना पर ११६०० करोड़ रु० खर्च करके भी हम सब लोगों को रोजगार न दिला सकेंगे। वास्तव में, यह चिन्ता का विषय है।

देश की जन-संख्या के विषय में कुछ बातें ज्ञातव्य हैं—

(१) हमारे देश की जन-संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। नीचे की तालिका से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है—

जन गणना का वर्ष	जन संख्या (लाख में)	वृद्धि (+) अथवा कमी (–)—पहले दशक की अपेक्षा	प्रतिशत वृद्धि (+) अथवा कमी (–)
१८९१	२३५९	—	—
१९०१	२३५५	–४	–१ ३
१९११	२४९०	+१३५	+५ ८
१९२१	२४८१	–९	–० ३५
१९३१	२७५५	+२७५	+११ ०
१९४१	३१२८	+३७३	+१४ ३
१९५१	३५६९	+४४१	+१३ ३
१९६१	४३६४	+७९५	+२१ ४९

इस तालिका को देखने से पता जलता है कि जन्म-दर व मृत्यु-दर का अन्तर निरन्तर बढता जा रहा है। इसीलिये जन-सख्या के बढने की गति भी बढती जा रही है। देश के विभाजन से तो जन-सँख्या की समस्या और भी गम्भीर हो गई है, क्योकि भारत मे पाकिस्तान से लगभग १ करोड हिन्दू आये तथा भारत से पाकिस्तान केवल ७५ लाख के लगभग मुसलमान गये। इसके पश्चात् भी भारत को अधिक हिन्दू व मुसलमान शरणार्थी आ रहे है। इस प्रकार हमारे देश मे जन-सख्या बढती जा रही है। यही कारण है कि हमारे देश मे जन-सख्या का घनत्व बहुत अधिक है। जहा हमारे देश मे जन-सख्या का घनत्व ३१३ के लगभग है,* वहा आस्ट्रेलिया, कनाडा मे ३, सयुक्त राज्य अमेरिका मे ५४, रूस मे २३ तथा फ्रास मे यह घनत्व २५० है। यह बात ठीक है कि सयुक्त राज्य (U K) की जन-सख्या का घनत्व ५३५ है, परन्तु यह देश औद्योगिक क्षेत्र मे हमारे देश से बहुत बढा-ढा है, जिसके कारण यह अपना पक्का माल बेचकर दूसरे देशो से गल्ला आदि खरीद लेता है। इस कारण वहा जन-सख्या अधिक की समस्या नही है।

जहा एक ओर जन-सख्या बढती जा रही है, वहा उत्पादन की गति बडी मन्द है। १९२१–१९५१ के बीच हमारी जन-सख्या मे ४४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु जोते गये क्षेत्र मे केवल ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९३१–४१ के बीच जबकि जन-सख्या १५ प्रतिशत बढी खाद-सामग्री मे ४ प्रतिशत की कमी हो गई। १९४१-५१ के बीच जन-सख्या १३ ४ प्रतिशत बढी, परन्तु खाद्य-सामग्री की उपज मे कोई वृद्धि नही हुई।** यही कारण है कि यहा के लोगो को कम मात्रा मे भोजन व कपडा मिलता है। ऐसा अनुमान है कि आजकल हमारे देश मे प्रति व्यक्ति १६ औंस गल्ले का उपभोग किया जाता है, जो कि आवश्यकता से बहुत कम है। इसी प्रकार कपडे का उपभोग भी लगभग १५ ५ गज प्रति व्यक्ति है। जो भोजन हमारे देश मे लोगो को मिलता है, उसमे दूध, फल, तरकारी आदि की कमी होती है, वह अधिक पौष्टिक नही होता। यही कारण है कि लोग कमजोर होते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारत मे ९४० लाख टन से अधिक गल्ला पैदा नही किया जा सकता, जो कि ४५ करोड लोगो के लिये पर्याप्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमको अपनी जन-सख्या के ऊपर पूरी रोक-थाम लगानी चाहिये, अन्यथा हमको बडी कठिनाई का सामना करना पडेगा।

हमारे देश मे लोगो के पास रहने के लिये अच्छे घर नही है। गाव के घर तो कच्चे होते हैं, जिनमे हवा, रोशनी जाने का कोई विशेष प्रबन्ध नही होता। इसके अतिरिक्त गावो मे सफाई का कोई प्रबन्ध नही होता। गावो के अन्दर ही कूडे-करकट के ढेर जहा-तहा पडे सडते रहते हैं, जिनसे हर समय बदबू निकलती रहती है। गाव

*According to 1961 Census density of population in India 5384—India p. 543.

**Source Indian Economics Year Book 1959-60 (Kitab Mahal) p 11

देश	जन्म-दर प्रति हजार	मृत्यु दर प्रति हजार	बाल मृत्यु दर प्रति हजार
भारत	३० ५	११ ७	१११
लका	३६ २	१० ४	७२
मिश्र	४४ ८	१६ ३	१२७
जापान	२० १	८ २	४८ ६
कनाडा	२८ ७	८ २	३१ ८
न्यूजीलेंड	२५ ८	६ ०	२४ १
सयुक्त राष्ट्र अमेरिका	२४ ६	६ २	२६ ६
स्वीजरलेंड	१७ ०	१० ०	२७ २
यूनाइटट किंगडम	१५ ६	११ ४	२६ ३
फ्रास	१८ ८	१२	४१ ६
इटली	१७ ६	६ २	५२ ६

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि भारतवर्ष म लोगो को वच्चा से वडा मोह है। जिस घर मे एक भी वच्चा नही होता, उसको लोग अभागा घर समझते हैं तथा वहुत से लोग तो उस स्त्री का मु ह तक नही देखना चाहते, जिसके कोई बच्चा नही होता। अब भी बहुधा वच्चो को लोग ईश्वर की देन समझते है। वह घर भाग्यशाली समझा जाता है जिसमे अधिक वच्चे होते हो परन्तु धीरे-धीरे इस रवैय मे परिवर्तन हो रहा है। अब लोग उतने अधिक वच्च पसन्द नहीं करते परन्तु अब भी वे दो-तीन वच्चे अवश्य चाहते। इन वच्चा म यदि लडके हो ता और अच्छा समझा जाता है, क्योकि लडको का लोग वुढाप का सहारा समझते है तथा यदि मरने पर किसी आदमी का दाह सस्कार उसके लडके के हाथ स हो जाय तो और भी अच्छा समझा जाता है।

क्या भारत मे अत्यधिक जन सख्या है ?
(Is India over populated)

इससे पूर्व कि हम इस प्रश्न के ऊपर विचार कर हम यह बता देना चाहते हैं कि अत्यधिक जन सख्या की दो अवस्थाए हो सकती है—एक तो अत्यधिक जन-सख्या की स्थिति' (State) होती है तथा दूसरी अत्यधिक जन-सख्या की प्रवृत्ति' (Tendency) होती है। अत्यधिक जन-सख्या की स्थिति का अर्थ यह है कि वतमान मे इतनी जन-सख्या है कि वह देश के वर्तमान विकसित साधनो तथा टैक्नोलोजी की उन्नति की सहायता से पोषित नही की जा सकती अर्थात देश मे जितना गल्ला अथवा अन्य चीज उत्पन्न होती है, वे वतमान जन सख्या की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये पर्याप्त नही हैं। अत्यधिक जन-सख्या की प्रवृत्ति'

का अर्थ यह है कि जन-सख्या के बढने की गति उत्पादन-वृद्धि की गति से अधिक है अर्थात् यदि खाद्य सामग्री प्रतिवर्ष पाच प्रतिशत बढती है, तो जन-सख्या पाच प्रतिशत से अधिक बढती है।

अब हमको यह देखना है कि भारतवर्ष मे इन दोनो मे से कौनसी परिस्थिति कार्य कर रही है।

आकडो को देखने से पता चलता है कि भारत का क्षेत्रफल लगभग १२,६६,००० वर्ग मील है जो कि ससार के कुल क्षेत्रफल का केवल १/४ है। इसके विपरीत, १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारतवर्ष की जन-सख्या ३६ करोड थी, जो कि ससार की २ अरब ५० करोड जन-सख्या की १/६ थी। इस प्रकार भारत में प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्र बहुत कम है। यह केवल २ ३ एकड है। इसके विपरीत, रूस मे यह ३० ५ एकड, सयुक्त राज्य अमेरिका मे १२ ६ एकड, इडोनेशिया मे ६ ४ एकड, चीन मे ५ एकड है तथा सारे ससार की प्रति व्यक्ति औसत १३ ५ एकड है। यह सत्य है कि जापान तथा यूनाइटड किंगडम के प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल १ १ तथा १ ६ एकड के बीच मे है, परन्तु हम यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये दोनो देश उद्योग-धन्धो मे बहुत बढे चढे हैं, जिसके कारण ये अपना पक्का माल विदेशो में निर्यात करके उसके बदले गल्ला खरीद लेते हैं।

एक ओर तो भारतवर्ष मे प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्रफल कम है। दूसरी ओर प्रति एकड उपज भी बहुत कम है। उदाहरण के लिए, हमारे देश मे प्रति एकड ६१० पौंड गेहूँ उत्पन्न होता है, जबकि फ्रास मे १३०० पौंड, अर्जेनटाइना मे ९८० पौंड तथा सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे ९७० पौंड उत्पन्न होता है। इसी प्रकार धान की उपज हमारे देश मे १०५० पौंड प्रति एकड है। इसके विपरीत, इटली में यह ४३०० पौंड, जापान मे ३६०० पौंड, चीन मे २३०० पौंड, इडोनेशिया मे १५०० पौंड तथा ब्रह्मा मे १३०० पौंड है।

यहा यह बात बतानी आवश्यक है कि पिछले ३० वर्षो मे हमारे देश मे खेती पर निर्भर रहने वाली जन-सख्या कुल जन-सख्या की ७०–७२ प्रतिशत के बीच मे रही है। यह सत्य है कि प्रथम तथा द्वितीय योजनाओ मे सिचाई के अन्तर्गत अधिक भूमि लायी गई है तथा इससे दो फसलो वाली भूमि का क्षेत्रफल भी काफी बढा है, परन्तु यह वृद्धि भारत की बढती हुई जन सख्या की वृद्धि की तुलना मे कम है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के खाद्य-पदार्थों की वृद्धि भी भारत मे कम है। भारत में दूध की पूर्ति प्रति व्यक्ति ५ औस है, जबकि फ्रास मे ३९ औस, सयुक्त राज्य अमेरिका व यूनाइटेड किंगडम मे ३५ औस, डेनमार्क मे ४० औस तथा आस्ट्रेलिया मे ४५ औस है। यही नही, मछली व अडा का उत्पादन भी हमारे देश मे विदेशो की अपेक्षा बहुत कम है। हमारे देश मे इस समय लगभग ७३४ लाख मुर्गिया व बत्तखें हैं, जो कि घटिया प्रकार के तथा सख्या मे कम अडे देती हैं। भारत की एक मुर्गी प्रति वर्ष

५३ से भी कम अडे देती है, जबकि कुछ विकसित देशो की मुर्गियां २०० से ३०० अडे देती है। भारत मे मछलियां भी दूसरे देशो की अपेक्षा कम मिलती हैं। भारत मे प्रति व्यक्ति ३ ४ पौड मछली मिलती है, जबकि ब्रह्मा मे ७० पौड तथा जापान मे ६० पौड मिलती है। साग-भाजी, मास आदि का उत्पादन भी हमारे देश मे कम है, जिसके कारण भारत मे प्रति व्यक्ति गल्ले का उपभोग बहुत अधिक होता है। हमारे भोजन मे गल्ले की मात्रा अधिक और अन्य पौष्टिक पदार्थों की कमी रहती है, इसलिये भारतवर्ष मे भोजन से प्राप्त होने वाली औसत पौष्टिकता १६०० केलॉरी है, परन्तु हमको आवश्यकता है २३०० केलॉरी की।* तीसरी योजना को देखने से पता चलता है कि १९६५-६६ मे प्रति व्यक्ति गल्ले का उपभोग १७ ५ औंस हो जायगा। यह मात्रा भी अपर्याप्त है। गल्ले की कमी के कारण हमको प्रति वर्ष बहुत सा गल्ला विदेशो से आयात करना पड रहा है। आजकल हम यह गल्ला अमेरिका से पी० एल० ४८० के समझौते के अन्तर्गत आयात कर रहे है। फिर भी समय-समय पर गल्ले की कमी की खबरें समाचार पत्रो मे निरन्तर पढने को मिलती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे देश मे जितना गल्ला उत्पन्न होता है, वह वर्तमान जन-सख्या के लिये पर्याप्त नही है।

यह बात सत्य है कि हम बहुत सी नयी भूमि खेती योग्य बना सकते है। अब भी बहुत सी भूमि इधर-उधर गावो मे बजर भूमि के रूप मे पडी है। इसमे से बहुत सी भूमि को खेती के काम मे लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हम कृषि उत्पादन को सिचाई की सुविधायें प्रदान करके, खेती करने के ढगो को उन्नत करके, अच्छे बीज, खाद आदि देकर उन्नत कर सकते है। परीक्षण करके देखा जा चुका है कि हमारे देश मे प्रति एकड गेहूँ, चावल, आलू तथा अन्य चीजो की उपज कई गुनी बढाई जा सकती है। योजनाओ मे जो धन सिचाई के साधनो आदि को उन्नत बनाने मे खर्च किया गया है, उसमे अभी तक पूरा-पूरा लाभ नही उठाया जा सका है। इसका कारण यह है कि बहुत सा धन तो खर्च करते समय ही बर्बाद हो जाता है, उसके पश्चात् भी किसानो को शेष धन का पूरा लाभ नहीं पहुँच पाता। हम देखते हैं कि हमारे देश मे बडी-बडी सिचाई की योजनायें बनी, परन्तु अभी तक सीचे गये क्षेत्र मे केवल १६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। किसानो को जो उन्नत बीज या खाद मिलती है, वह भी बहुधा उन लोगो को मिलती है जिनको उसकी कम आवश्यकता है। हमारी सरकार के कृषि विभाग जो अनुसधान करते हैं, उनका लाभ बहुधा किसानो को नही पहुँचता। यदि हमारे देश के लोग राष्ट्रीय-भावना से प्रेरित होकर कार्य करे तो हम आशा करते है कि गल्ले की कमी बहुत कुछ दूर हो जायगी। जब तक इस दृष्टि से उन्नति नही होती तब तक हम देश की जन सख्या को अत्यधिक

*Economic Review—Nagpur Congress-Special Number-January 9, 1959—Population and Planning by Sri Adam Adil, p. 51.

ही कह सकते हैं। आजकल भारतवर्ष में जितनी जन-संख्या पाई जाती है, वह देश के वर्तमान खाद्य-पदार्थों के उत्पादन द्वारा पोषित नहीं की जा सकती। अतः हम कह सकते हैं कि हमारे देश में जन-संख्या अधिक है। इसके अतिरिक्त जन-संख्या जिस गति से बढ़ रही है, उस गति में खाद्य-पदार्थों का उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। अतः यह भी कहना अनुचित न होगा कि हमारे देश में अत्यधिक जन-संख्या की 'प्रवृत्ति' भी है।

कुछ लोगों का मत है कि भारत में अत्यधिक जन-संख्या की स्थिति पाई जाती है, क्योंकि यहां पर आये वर्ष तरह-तरह के रोग होते रहते हैं, जिनसे जन-संख्या कम होती रहती है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अकाल पड़ते रहते हैं, जिनमें कि देश के लाखों आदमी मर जाते हैं, परन्तु रोगों का होना तथा अकाल का पड़ना, हमारे विचार से अत्यधिक जन-संख्या का सूचक नहीं हो सकता, यद्यपि माल्थस के अनुसार यह अत्यधिक जन-संख्या का चिन्ह है। हमारे विचार का आधार यह है कि सब रोग खान की कमी से नहीं होते। क्या उन देशों में लोग रोगों से नहीं मरते, जिनमें कि खूब उत्पादन होता है? तो फिर रोगों से लोगों का मरना अत्यधिक जन-संख्या का चिन्ह कैसे हो सकता है? अकाल का पड़ना भी हमारे विचार से जन-संख्या की अधिकता का चिन्ह नहीं हो सकता। इतिहास हमको बताता है कि भारत में प्राचीन समय से अकाल पड़ते आए हैं। कभी-कभी ये अकाल कई-कई वर्षों तक रहे हैं, तो क्या कोई थोड़ी बुद्धि वाला व्यक्ति भी यह कह सकता है कि उस समय हमारे देश में अत्यधिक जन-संख्या थी? हमारे विचार में प्रकृति कभी यह नहीं देखती कि आजकल अमुक देश में जन-संख्या अधिक है, तो उसमें अकाल डाल दिया जाय तथा अमुक देश में जन-संख्या कम है तो अकाल न डाला जाय। पर वास्तव में प्रकृति अंधी अवश्य होती है। चूं कि कृषि वर्षा पर निर्भर होती है, इस कारण जब वर्षा पर्याप्त होती है तब फसलें अच्छी हो जाती हैं, जब वर्षा कम होती है तब फसलें खराब हो जाती हैं। इसलिये हम यह नहीं मानते कि रोगों का होना अथवा अकालों का पड़ना अत्यधिक जन-संख्या का चिन्ह है। वास्तव में हम देखते हैं कि जब से हमारे देश में नहरें बन गई हैं, तब से यहां अकाल बहुत कम पड़ने लगे हैं। आशा है कि जब हमारे देश में बड़ी-छोटी सिंचाई की योजनायें पूर्ण रूप से कार्य करने लगेंगी, तब हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में गल्ला उत्पन्न होने लगेगा। रही रोगों की बात, हमारे मन्तव्य में हमारे देश में रोग इसलिये अधिक होते हैं, कि अंग्रेजों ने हमारे देश में सार्वजनिक स्वास्थ्य की ओर कभी ध्यान नहीं दिया तथा लोगों को भगवान के भरोसे छोड़ दिया था। इस कारण लोग रोगों से मरते रहे। जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तथा इस ओर थोड़ा ध्यान दिया जाने लगा है, तब से न केवल मृत्यु-दर कम हो गई है वरन् हमारे देश के लोगों की जीवन-आशा भी बढ़ गई है। पर माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार तो यह होना नहीं चाहिये था। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि

कुछ लोगो का मत है कि जब हमारे देश मे जन-सख्या का घनत्व यूनाइटेड किंगडम, इटली आदि से कम है और इन देशो मे जन-सख्या अत्यधिक नही है तो फिर हमारे देश मे जन सख्या किस प्रकार अत्यधिक कही जा सकती है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जब हमारे देश मे कृषि के व्यस्त मौसम मे श्रम की कमी हो जाती है तो फिर जन-सख्या के अधिक होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु हम इन लोगो के मत से सम्मत नही हैं। इसका कारण यह है कि यद्यपि हमारे देश मे कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन बढने के कारण हमारी राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय निरन्तर बढ रही है, फिर भी हमारा देखना यह है कि क्या यह आय देश के लोगो की भौतिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त है। १९४८—४९ की कीमतो के आधार पर हमारी प्रति व्यक्ति आय केवल २६३ ६ रुपये है। अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम २६३ रुपये मे अपनी सब आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकते हैं। आजकल की कीमतो पर एक आदमी को केवल सूखी रोटी खाने के लिये लगभग ३० रु० महीना खर्च करना पडेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति व्यक्ति आय मे हमारा पेट भी नही भर सकता। परन्तु मनुष्य के लिए खाना ही सब कुछ नही है। खाने के अतिरिक्त उसको कपडा, घर, शिक्षा, यातायात, स्वास्थ्य आदि चीजो पर भी खर्च करना पडता है। वर्तमान आय पर जब खाना ही पूरा नही मिल सकता तो ये सब चीजे कहा से मिलेंगी। इसलिए बढती हुई आय का तर्क भारत की जन-सख्या की अधिकता की समस्या को किसी प्रकार भी हल नही करता।

उन लोगों का विचार भी गलत है जो ये कहते हैं कि चूकि हमारी जन-सख्या का घनत्व यूरोप के देशों के घनत्व से कम है इस कारण हमारे देश म जन-सख्या अत्यधिक नही हो सकती। ये देश औद्योगिक दृष्टि से भारत से बहुत आगे हैं। इस कारण ये अपना उत्पादित पक्का माल या कृषि प्रधान देशो के गल्ले से विनिमय कर लेते हैं।

हम ऊपर बता चुके हैं कि हमारे देश मे औद्योगिक उत्पादन भी इतना नहीं है कि हम उसको निर्यात करके उसके बदले गल्ला खरीद सकें। चूकि हमारे देश मे पक्के माल की कीमत दूसरे देशों के माल की कीमत से अधिक है। इस कारण अन्य देश हमारे देश से माल बहुत कम खरीदते है। इस प्रकार जन-सख्या के घनत्व का तर्क भी कुछ अधिक प्रबल नही दिखाई पडता।

व्यस्त मौसम मे श्रम की कमी का तर्क तो और भी कमजोर है। यह हो सकता है कि गावो मे फसलो के समय श्रम की कमी हो। परन्तु क्या यह इस लिये है कि देश मे वास्तव मे श्रम की कमी है? हमारे विचार से श्रम की कमी का

कारण यह है कि गावों में लोगों का गुजारा न हो सकने के कारण वे आस-पास के शहरों में काम करने चले जाते हैं तथा बहुधा फसल के समय भी गांवों में लौट कर नहीं जाते। शहरों में हमको श्रम की अधिकता मिलती है। वास्तव में हम दूसरी योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में ४६०० करोड रुपए खर्च करके भी सब को रोजगार प्रदान न कर सके। तीसरी योजना काल में भी सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में ११६०० करोड रुपए खर्च होंगे परन्तु इस पर भी तीसरी योजना के अन्त में हमारे देश के लाखों आदमी बरोजगार रहेंगे। तो फिर हम श्रम की कमी का तर्क जन-सख्या की कमी को दिखाने के लिये कैसे दे सकते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि हमारे देश में, जो जन-सख्या है वह हमारे विकसित साधनों तथा टैक्नोलोजी की उन्नति की दृष्टि से अधिक है।

समस्या का हल—

भारतवर्ष के सामने कोई भी समस्या इतनी गम्भीर नहीं है कि जितनी कि जन-सख्या की समस्या। हमारे देश की जितनी भी आर्थिक योजनायें हैं वे समुचित जन-सख्या की नीति के अभाव में पूर्णत सफल नहीं हो पा रही हैं। इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि हम सबसे पहले एक उचित जन-सख्या सम्बन्धी नीति बनायें। इस नीति को बनाते समय हमको न केवल वर्तमान की जनसख्या को ध्यान में रखना पडेगा वरन जनसख्या बढने की दर पर भी ध्यान देना पडेगा। दूसरे शब्दों में, हमको एक ऐसी नीति बनानी पडेगी जो कि हमारी जन-सख्या को तल पर रखे जो कि हमारे आर्थिक विकास के साथ समायोजित हो। बिना यह किये हमारे देश का भविष्य अन्धकारमय है।

जन-सख्या की समस्या का वर्तमान हल न केवल बढती हुई जन-सख्या की गति को कम कर देना है वरन् देश के अन्दर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करना भी है जिससे कि जन-सख्या एक उचित जीवन-स्तर पर रह सके।

जन सख्या को कम करने तथा उसको अपने साधनों के अनुसार एक निश्चित तल पर लाने का प्रयत्न बहुत पुराने समय से होता आया है। ऐसा अनुमान है कि लगभग ३५०० वर्ष पूर्व से ही विभिन्न देशों में विभिन्न जातियों ने ऐसे प्रयत्न शुरू किये थे। परन्तु उस समय जन-सख्या को कम करने के ढग कुछ अधिक अच्छे न थे। आधुनिक ढगों का प्रयोग एक सौ वर्ष से पुराना नहीं है।

जन-सख्या को कम करने के कई ढग हो सकते हैं। एक ढग तो यह है कि मृत्यु-दर को बढाया जाय। परन्तु मृत्यु-दर को बढाना उचित नहीं है क्योंकि इसके कारण लोगों के सकट बढते हैं तथा जैसा कि हम पहले बता चुके हैं इससे जन-सख्या घटती नहीं वरन् उसका उसी प्रकार बढने का प्रोत्साहन मिलता है जिस प्रकार कि घास को काटने से वह और अधिक बढती है।

नियोजन की इच्छा पाई जाती है परन्तु बिना पढ़े लिखे व गरीब लोग   गत की जरा भी परवाह नहीं करते। इस कारण देश की जनसख्या की वृद्धि गल्त ढग से तथा गलत दिशा मे हो रही है।

हमारे देश मे प्राय सभी विद्वानो ने परिवार नियोजन का समर्थन किया है। इनमे महात्मा गाधी, प० जवाहर लाल नेहरू, डा० राधा कृष्णनन आदि मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय नियोजन समिति, अकाल जाँच आयोग तथा योजना आयोग ने भी इस नीति का समर्थन किया है। योजना आयोग ने कहा है कि वर्तमान स्थिति मे जन-शक्ति के साधनो की वृद्धि अर्थ-व्यवस्था को शक्तिशाली न बना इसे कमजोर बना रही है। यह आर्थिक उन्नति मे बाधा डालती है तथा इसके कारण सभ्य जीवन के लिये परमावश्यक सामाजिक सेवाओ म पर्याप्त उन्नति नही की जा सकती। उच्च जीवन-स्तर तथा राष्ट्र के स्वास्थ्य की योजना के लिये परिवार नियोजन एक महत्व-पूर्ण आवश्यकता है। इस मत को भारत सरकार ने माना है तथा उसने परिवार नियोजन को सरकारी नीति का एक अङ्ग बनाया है इसीलिये प्रथम योजना मे इस कार्य के लिये ६५ लाख रुपये रखे गय थे तथा दूसरी योजना मे ४६७ करोड रुपये। इस धन से प्रथम योजना काल मे १४७ परिवार नियोजन केन्द्र खोले गये जिनमे २१ गावो मे थे तथा १२६ शहरो मे। इसी काल मे राज्यो द्वारा भी २०५ ऐसे केन्द्र चलाये जा रह थे। दूसरी योजना काल मे २५०० ऐसे केन्द्र खोलने की योजना थी जिनमे से २००० देहातो म तथा ५०० नगरो मे खोले जाने वाले थे। दिसम्बर १६६० तक १४६२ ऐसे केन्द्र खोले जा सके जिनमे से ६६३ देहातो मे थे तथा ५२६ शहरो मे। केन्द्र मे एक उच्च-शक्ति वाला परिवार नियोजन बोर्ड (**High-power Family Planning Board**) भी स्थापित किया गया है, जो कि परिवार नियोजन की योजनाये व प्रोग्राम बनायेगा। राज्यो मे भी परिवार नियोजन बोर्ड कार्य कर रहे है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि लोगो को विज्ञापनो, नुमायशो, फिल्मो आदि के माध्यम स शिक्षित किया जाय। बम्बई म ट्रेनिंग तथा अनुसधान के लिये तथा सामाजिक स्थिति की व्याख्या करने वाला एक केन्द्र खोल दिया गया है। गर्भावरोध की समस्या पर अनेक स्थानो म बडी खोज की जा रही है। सरकार का यह प्रयत्न है कि वह यह मालूम करे कि जनसख्या की तीव्र गति से वृद्धि मे कौन से कारण सहायक है। सरकार परिवार नियोजन की टैक्नीक की जानकारी के लिये प्रयत्नशील है तथा वह उन ढगो की खोज कर रही है जिनके द्वारा परिवार नियोजन के ज्ञान को अधिक फैलाया जा सके। सरकार चाहती है कि सरकारी अस्पतालो मे डाक्टरो का यह भी कर्तव्य हो कि वे परिवार नियोजन पर लोगो को सलाह दें   स प्रकार हम देखते है कि सरकार परिवार नियोजन की योजना को बडी गम्भीरता से चलाना चाहती है।

यहा हम यह बता देना आवश्यक समझते है कि परिवार नियोजन की योजना तभी सफल हो सकती है जबकि लोग शिक्षित हो तथा उनको व सब यत्र

इसके अतिरिक्त हमे सार्वजनिक स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान देना होगा। इस हेतु देश मे छोटे-बडे बहुत से अस्पताल खोले जाने चाहिये तथा लोगो को स्वस्थ रहने के ढग बताया जाना चाहिये। इससे हमारे देश की जन्म-दर तो अधिक नही घटेगी परन्तु मृत्यु-दर अवश्य कम हो जायगी। इसका अर्थ यह होगा कि हमारी जनसख्या अधिक तेजी से बढेगी। परन्तु हमारा विश्वास है कि लोगो मे शिक्षा तथा परिवार नियोजन की भावना के फैलने से देश की जन्म-दर अवश्य कम हो जायगी तथा साथ-साथ देश के आदमी अधिक स्वस्थ तथा सुखी दिखलाई पडगे, और किसी राष्ट्र के लिये यह एक गौरव की बात होती है।

....११

फर्म की आय पूर्ति तथा लागतें

विनिमय में दो शक्तियाँ कार्य करती हैं, क्रेता (माँग) तथा विक्रेता (पूर्ति)। क्रेताओं के पक्ष, माँग का विश्लेषण तो पहले हो चुका है, अब हम फर्मों के पक्ष की बात—उसका विश्लेषण हम अब करेंगे। विनिमय में मस्थिति विश्लेषण, फर्म तथा उद्योग के उत्पादन आदि पर विचार हम आगे करेंगे।

प्रत्येक फर्म अथवा उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तु के लिये एक माँग वक्र होता है जो यह प्रकट करता है कि अमुक कीमत पर क्रेता कितनी वस्तु खरीदना चाहेगा। क्रेताओं द्वारा दी गई कीमत ही फर्म के लिये 'आय' है। फर्म *'आय' पर ध्यान रखकर ही अपना उत्पादन निर्धारित तथा नियोजित करेगा।* लेकिन आय स्वयं में कोई अधिक महत्वपूर्ण चीज नहीं है। आय के अधिक होते हुए भी यदि लागतें ऊँची हैं तो फर्म का 'शुद्ध लाभ' कम हो जायेगा। यहाँ 'लागत' आय *तथा 'शुद्ध लाभ' पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित न होगा।* पूँजीवादी व्यवस्था में फर्म एक अत्यन्त महत्वपूर्ण इकाई है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन, कीमतें, उपयोगीकरण, वितरण आदि की समस्याएँ फर्मों को ही न्यूनाधिक सुलझानी पड़ती हैं। यह सही है कि राज्य भी अब इन बातों में दिलचस्पी लेने लगा है, किन्तु आर्थिक व्यवस्था के प्रत्येक कोने को छूना तथा नियन्त्रण करना राज्य के लिये (पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत) सम्भव नहीं हो सकता है। पूर्ण समाजवादी (रूस आदि) देशों की बात और है। जो काम समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत योजना परिषद्, सरकार, करती है वह कार्य पूँजीवादी व्यवस्था में मूलत फर्म करते हैं। प्रश्न उठता *है कि उत्पादन, कीमत निर्धारण, वितरण अथवा उपभोगीकरण आदि प्रश्नों पर* निर्णय करते समय फर्मों का लक्ष्य क्या होता है? उनको प्रेरणा कहाँ से मिलती है? फर्म के समस्त कार्यों के पीछे स्वार्थ होता है। इन समस्त कार्यों पर निर्णय करते *समय उनके समक्ष केवल एक ही लक्ष्य प्रधान होता है, और वह है अधिकतम लाभ* कमाना। अपने साधनों का फर्म परिस्थिति के अनुसार ऐसा उपयोग करना चाहता है कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। लाभ का प्रश्न दो भागों में बँट जाता है—(i) आय तथा (ii) लागत। लागत पर आय का आधिक्य ही लाभ कहलाता है।

फर्म की लागत क्या है? यह उत्पादन का नियोजन करता है। स्वयं उसे भूमि, इमारत, मशीनें, उत्पादन के भिन्न भिन्न उपकरण कच्चे माल, श्रम, भिन्न भिन्न

प्रकार के सेवाओं का सगठन करना पडता है, इन ससाधनो को पारिश्रमिक देना पडता है। फर्म द्वारा चुकाई जाने वाली सब भौतिक आदाओं (Inputs) अर्थात् वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत ही उसकी व्यय है। लेकिन फर्म को स्वय क्या प्रतिफल मिलता है ? वह तमाम जाखिम उठा कर उत्पादन केवल इसी लिये तो नही करेगा, अपने साहस, सवाओं के लिये वह कुछ प्रतिफल लेगा। अर्थशास्त्र मे इस प्रतिफल को 'सामान्य लाभ' कहते है। साधारण बोल चाल म उत्पादन मे प्रयुक्त होने वाली भौतिक आदाओं की कीमत ही 'लागत' कहलायेगी। लेकिन अर्थशास्त्र मे 'लागत' का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे होता है। भौतिक आदाओं के प्रयोग के बदल चुकाई जाने वाली रकम के अतिरिक्त वह 'सामान्य लाभ' जो फर्म को उसके जाखिम उठाने तथा साहस के लिये प्रतिफल स्वरूप दी जानी आवश्यक है वह भी 'कुल लागत' के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र म 'लागत' का विशिष्ट अर्थ म प्रयोग होता है, उसम फर्म का सामान्य लाभ (जिसे हम उसका पारिश्रमिक कह सकते है) शामिल होता है। अर्थात् फर्म के लिये :

कुल व्यय + सामान्य लाभ = कुल लागत

अब हम आते हैं आय पर। फर्म की आय क्या है ? अपनी उत्पादित वस्तु का विक्रय-कीमत ही उसकी आय है, जो क्रेताओं के दृष्टिकोण से व्यय है वही फर्म के दृष्टिकोण स आय है।

जब हम कहते हैं कि फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है तो हमारा तात्पर्य क्या है ? 'सामान्य लाभ' तो उसे मिलता ही है फिर किस लाभ' को वह अधिकतम करना चाहता है ? उत्तर है 'सामान्य लाभ' के अतिरिक्त लाभ वह लेना चाहता है, 'सामान्य लाभ' को तो वह अपना पारिश्रमिक मात्र समझता है। वह अपना वास्तविक लाभ उस रकम को मानता है जो उसे सामान्य लाभ के अतिरिक्त प्राप्त होती है। इस प्रकार के लाभ को हम सुविधा के लिये (तथा सामान्य लाभ से भिन्नता प्रकट करने के लिये) 'शुद्ध' अथवा 'वास्तविक लाभ' (अथवा शुद्ध या वास्तविक आय) कहते हैं। सक्षेप मे

कुल व्यय + सामान्य लाभ = कुल लागत

कुल लागत—कुल आय　　= वास्तविक लाभ (Net Revenue)

अथवा

(वास्तविक आय)

या दूसरी भाति :

कुल आय — कुल व्यय = लाभ

लाभ — सामान्य लाभ = वास्तविक आय

या लाभ — वास्तविक आय = सामान्य लाभ

स्पष्ट है कि यदि 'वास्तविक आय' शून्य हो तो लाभ, सामान्य लाभ के बराबर होगा।

फर्म के समस्त कार्यों के पीछे यही 'शुद्ध लाभ' काम करता है। फर्म इसी को अधिकतम करना चाहता है।

अधिकतम लाभ की अवस्था वक्रों द्वारा—आय तथा लागत के वक्रों की सहायता से हम किसी फर्म के अधिकतम लाभ की अवस्था का पता लगा सकते हैं। कुल लागत तथा कुल आय का अन्तर ही कुल लाभ के बराबर होता है। कुल आय वक्र तथा कुल लागत वक्रों की सहायता से हम इसका पता निम्न प्रकार लगाते हैं—
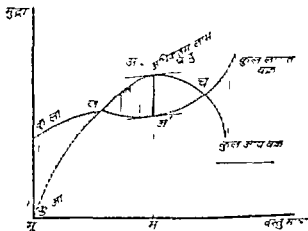
कुल आय का कुल लागत पर आधिक्य ही अधिकतम लाभ की अवस्था है। ऊपर के चित्र में यह आधिक्य किसी बिन्दु पर उच्चतम है, जहाँ इन दोनों वक्रों के बीच की दूरी अधिकतम होगी। ख बिन्दु तक तो कुल लागत, कुल आय से अधिक है तथा फर्म को घाटा हो रहा है। उसके बाद आय आधिक्य शुरू होता है। घ बिन्दु पर जा यह आधिक्य शून्य हो जाता है। अत: अधिकतम लाभ की अवस्था इन्हीं दो बिन्दुओं ख तथा घ के बीच स्थित है। अधिकतम लाभ की अवस्था वहीं होगी जहाँ इन दोनों वक्रों के बीच की दूरी अधिकतम होगी। या इसे हम इस प्रकार कह कि चित्र में अधिकतम लाभ को वह रेखा व्यक्त करेगी जो कुल आय के उच्चतम बिन्दु को लागत के निम्नतम बिन्दु से मिलायेगी। वक्रों के दृष्टिकोण से ये बिन्दु ऐसे होंगे जहाँ वक्रों की ढाल समान हो अर्थात् इन बिन्दुओं से गुजरते हुए यदि दोनों वक्रों पर क्रमश: स्पर्श रेखा खींचे जायें तो वे परस्पर समानान्तर हों।

स्पष्ट है कि यह अवस्था अ अ' सरल रेखा व्यक्त करती है। अ बिन्दु पर कुल आय के वक्र का ढाल अ' बिन्दु पर कुल लागत के वक्र के ढाल के समान है। दोनों बिन्दुओं से खींचे गये स्पर्श रेखा परस्पर समानान्तर हैं। फर्म का इष्टतम उत्पादन मू म है।

अधिकतम लाभ की अवस्था को आगे चलकर हम अपने फर्म विश्लेषण मे एक दूसरी तरह भी व्यक्त करेंगे। वहाँ हम यह देखगे कि फर्म को अधिकतम लाभ तभी प्राप्त होगा जब उसकी 'सीमान्त आय' तथा 'सीमान्त लागत' समान हो जायेंगी। लेकिन इससे पहले 'सीमान्त आय' तथा 'सीमान्त लागत' है क्या—यह बताना आवश्यक है।

अब हम आय तथा लागत के विभिन्न पहलुओ पर विचार करेंगे। पहले हम आय का विश्लेपण सक्षप मे करके फिर पूर्ति तथा लागतो पर विचार करग। अन्त मे सीमान्त तथा औसत वक्रो के पारस्परिक सम्बन्ध को बतायगे।

फर्म के उत्पादन के लिये माग तथा आय—

माँग के विभिन्न पहलुओ पर पहले (उपभोग के सम्बन्ध म) विचार किया जा चुका है। यहा यह कहना पर्याप्त होगा कि फर्म किस प्रकार के बाजार म कार्य कर रहा है—यही बात यह निश्चय करेगी कि उसका माँग वक्र कैसा होगा। एक बात हमे स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि जो क्रेताओ के लिय माग वक्र होना है वही विक्रताओ के लिये औसत आय वक्र होगा—क्योकि फर्म की औसत आय कुछ नही, केवल क्रेता द्वारा दी गई वस्तु की कीमत होनी है। फर्म के लिये माँग वक्र की महत्ता यही स्पष्ट हो जाती है। माग क्रेताओ पर निभर होती है। कुछ हालतो मे जैसा हम आगे चलकर देखग, विक्रेता उसे विज्ञापन आदि द्वारा प्रभावित करने की चेष्टा करता है। लेकिन अपने विश्लेपण के दौरान मे प्राय हम यह मानेंग कि फर्म को एक दिये हुये माँग वक्र का सामना करना पडता है। उसी के आधार पर वह अपना उत्पादन नियोजित करता है।

फर्म के समक्ष किस आकार का माग वक्र होगा ? (माँग वक्र का आकार उसकी लोच पर निर्भर होगा। पूर्ण लोच होने पर माग वक्र क्षैतिज अक्ष के समानान्तर होगा।) जहाँ लोच पूर्ण से कम है वहा वह ऋणात्मक रूप से ढालू होगा। लोच जितनी ही कम होती चली जायगी माग वक्र उतना ही अधिक ढालू होगा। यदि माँग लोच शून्य हो जाय तो वह ऊर्ध्व अक्ष के समानान्तर हो जायगा।

मुद्रा (कीमत)
म ---------------- म'
म म वक्र = औसत आय वक्र
वस्तु मात्रा
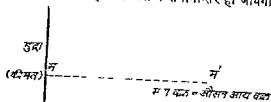
शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता वाले फर्म की माँग की लोच पूर्ण होती है। इसलिये इसके माँग वक्र का आकार बराबर मे दिये गये चित्र के अनुसार होगा।

पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे जैसा आगे चलकर हम विस्तारपूर्वक देखेंगे, यही म म' सीमान्त आय वक्र भी होता है।

विक्रयाधिकारी के वस्तु का मांग वक्र कम लोचदार होता है। उसका आकार बरावर म दिए गए चित्र के अनुसार होगा —
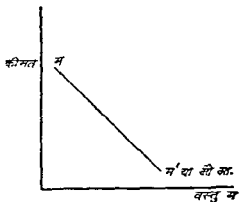
विक्रयाल्पाधिकार मे मांग वक्र म प्राय ख म (Kink) होता है। कीमत के कुछ स्तर तक मांग अधिक लोचदार होती है। उसके बाद उसकी लोच एकाएक कम हो जाती है।

दूसरी तरह से हम यह कह सकते हैं कि प्रचलित कीमत से अधिक कीमत होने पर मांग अधिक लोचदार हो जाती है। जहा ख म होता है। वह स्तर प्रचलित कीमत का है, उसमे ऊपर वक्र अधिक तथा उससे नीचे कम लोचदार होगा।
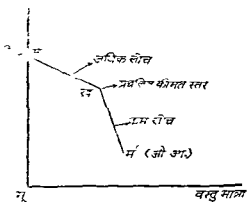
विक्रयाधिकारिक प्रतियोगिता की अवस्था मे मांग वक्र प्राय. पूर्ण प्रतियोगिता के फर्म के मांग वक्र की लोच से कम किन्तु शुद्ध विक्रयाधिकारी के मांग की लोच से अधिक लोचदार होता है। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे प्राय. यह
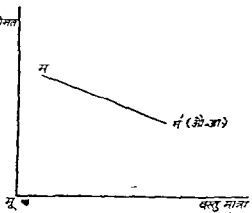
सम्भव है कि विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम करने वाले फर्म का माँग वक्र भी खमदार हो।
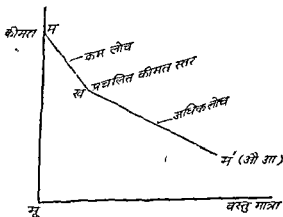
चित्र (ख)

ऊपर के चित्र (ख) में माँग वक्र में ख बिन्दु पर ख म है। यही विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के फर्म की 'वस्तु' की प्रचलित कीमत है। स्पष्ट है कि यदि कीमत वह घटाता है तो उसकी माग समानुपात से अधिक बढ जायगी क्योंकि कम कीमत पर माग काफी लोचदार हो जाती है, फर्म की बिक्री बहुत बढ जायगी। उसके खिलाफ यदि वह अपनी कीमत ख से ऊपर ले जाता है तो उसकी वस्तु की माग कम लोचदार हो जाती है, अर्थात् ख कीमत से कीमत कम करने से जितनी उसकी माँग बढेगी उतनी ख कीमत से कीमत अधिक करने से घटेगी नही।

आय का जिक्र हमने ऊपर किया है। कुल आय का अर्थ होता है कुल वस्तु के विक्रय से प्राप्त कुल रकम। यदि इस कुल रकम को हम कुल विक्रय-मात्रा से भाग दें तो हमे औसत आय प्राप्त हो जाती है। आय के सम्बन्ध मे भी हम सीमांत का प्रत्यय प्रयोग मे ले आते हैं। एक अतिरिक्त इकाई के विक्रय के फलस्वरूप कुल आय मे होने वाली वृद्धि सीमान्त आय कहलाती है। अर्थात्

कुल आय = प्रति इकाई कीमत × बेची हुई वस्तु इकाइया
(कु आ)

$$\text{औसत आय} = \frac{\text{कुल आय}}{\text{बेची हुई वस्तु इकाइया}} = \text{कीमत}$$

(औ आ)

उत्पादन की ८वीं इकाई की सीमान्त आय

= ७ से ८ इकाई उत्पादन होने पर कुल लागत मे आय वृद्धि के।

सीमान्त आय आर्थिक विश्लेषण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण है। जॉन राबिन्स ने सीमान्त आय के विचार को अपने विश्लेषण का प्रमुख यन्त्र बनाया*। सीमान्त आय जब सीमान्त लागत (जिसका विवरण आगे दिया हुआ है) के समान हो जाती है तो फर्म को अधिकतम 'शुद्ध' लाभ प्राप्त होगा।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम करने वाले फर्म में —

कीमत = औसत लागत = सीमान्त आय = औसत आय। क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में शुद्ध लाभ शून्य होता है। सर्वत्र एक ही कीमत रहती है। सीमान्त आय कीमत के बराबर होती है।

विक्रयेकाधिकारिक प्रवृत्ति वाले फर्मों में सीमान्त आय कीमत से सदैव कम रहती है। क्योंकि माग वक्र पूर्ण लोचदार नहीं होता। सीमान्त आय के प्रत्यय का आविष्कार अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था के विश्लेषण हेतु किया गया है।

आगे हम इनका वक्र खींचेंगे तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध बनायेंगे। यह स्मरण रहे कि बाजार की प्रत्येक परिस्थितियों में (चाहे पूर्ण प्रतियोगिता हो अथवा विक्रयेकाधिकारिक अवस्था) यह विश्लेषण लागू होगा। जहां सामान्य अवस्था से कुछ हटाव होगा वहां वह व्यक्त कर दिया जायेगा।

औसत आय तथा कुल आय वक्र—

माग-लोच के मूल्य तथा उपभोक्ताओं के व्यय (अर्थात् विक्रेताओं की आय) में परिवर्तन के बीच के सम्बन्ध को हम निम्नांकित चित्र की सहायता से समझ सकते हैं।
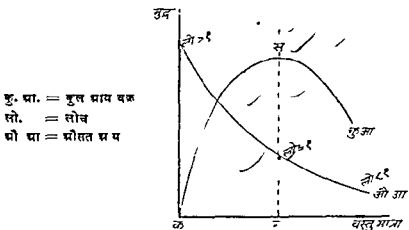
उपर्युक्त चित्र में हम देखते हैं कि जब तक कुल आय वक्र (कु आ) ऊपर उठ रहा है, तब तक औसत आय वक्र (औ आ) लोचदार है, पर लोच का मूल्य इस

*Eco of Imperfect Comp

स्थान पर गिरकर १ के बराबर हो जाता है जहा कुल आय वक्र क्षण भर को स्थिर हो जाती है, (बिन्दु स पर जहा विक्रय की हुई वस्तु मात्रा कम के बराबर है)। इसके बाद जैसे जैसे अधिक वस्तु मात्रा बेची जाती है वैसे-वैसे आय गिरती जाती है तथा लोच एक से कम हो जाती है।

प्रतियोगिता पूर्ण बाजार मे यही औसत आय वक्र बाजार माँग-वक्र होता है, क्योंकि प्रतियोगिता पूर्ण बाजार मे सवत्र एक ही कीमत होगी। लेकिन बाजार की अपूर्णता की हालत मे ये दोनो वक्र भिन्न होंगे।

सीमान्त आय—

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य की समस्या की व्याख्या के हेतु सीमान्त आय के प्रत्यय का आविष्कार किया गया। एक अतिरिक्त वस्तु इकाई के बेचने से जो आय प्राप्त हो उसे हम सीमान्त आय कहते है। या इसको इस प्रकार कह विक्रय मात्रा मे एक इकाई की कमी करने से कुल आय मे जो अन्तर पड जाता है उस अन्तर को सीमान्त आय कहते हैं। यह आवश्यक है कि हम यहा कीमत, सीमान्त आय तथा माग की लोच के बीच पारस्परिक सम्बन्ध को समझ लें।

सीमान्त आय, कीमत तथा माँग लोच—

इस सम्बन्ध पर निम्नाकित चित्र की सहायता द्वारा हम विचार करेंगे।
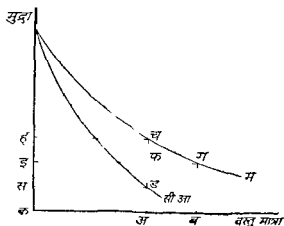
म एक माग वक्र है। सी आ इसका सीमान्त आय वक्र है। पहले कीमत क ह के बराबर थी, अब गिर कर क इ हो गई। इसके फलस्वरूप वस्तु विक्रय भी क अ से बढकर क ब के बराबर हो गया।

सीमान्त आय

$$= \frac{\text{आय मे वृद्धि}}{\text{मात्रा म वृद्धि}}$$

$$= \frac{\square \text{अ व ग फ} - \square \text{इ फ च ह}}{\text{अ व}}$$

$$= \frac{\text{अ व क ह} - \text{क अ इ ह}}{\text{अ व}}$$

$$= \frac{\text{अ व (क ह} - \text{इ ह)} - \text{क अ इ ह}}{\text{अ व}}$$

$$= \frac{\text{अ व क ह} - \text{अ व इ ह} - \text{क अ इ ह}}{\text{अ व}}$$

{ □ अ व ग फ का क्षेत्रफल = अ व × ग व = अ व × क इ

वसे □ इ फ च ह = क अ × इ ह }

यदि हम च तथा ग बिन्दुओ को अत्यन्त निकट ले ल तो अ व तथा इ ह दोनो अत्यन्त छोटे होगे तथा इनके गुणनफल अव इह की हम उपेक्षा कर इसको छोड सकते हैं तब,

$$\text{सी आ} = \frac{\text{अ व क ह} - \text{क अ इ ह}}{\text{अ व}}$$

इस समीकरण के दायी ओर के भाग को यदि हम 'क ह से गुणा भा कर और भाग भी द तो इसके मूल्य म कोई परिवतन न आयेगा।

$$\text{सी आ} = \text{क ह} \; \frac{\text{अ व क ह} - \text{क अ इ ह}}{\text{अ व क ह}}$$

$$= \text{क ह} \left(1 - \frac{\text{क अ इ ह}}{\text{अ व क ह}} \right) \qquad (1)$$

लेकिन हम जानते हैं कि माग की लोच

$$= \frac{\dfrac{\text{माग म वृद्धि या कमी}}{\text{प्रारम्भिक माग}}}{\dfrac{\text{कीमत म वृद्धि या कमी}}{\text{प्रारम्भिक कीमत}}}$$

इसलिये उपयुक्त चित्र क अनुसार

$$\text{लो} = \frac{\dfrac{\text{अ व}}{\text{क अ}}}{\dfrac{\text{इ ह}}{\text{क ह}}} = \frac{\text{अ व}}{\text{क अ}} \times \frac{\text{क ह}}{\text{इ ह}}$$

$$= \frac{\text{अ ब} \quad \text{क ह}}{\text{क अ} \quad \text{इ ह}}$$

$$\frac{\text{क अ} \cdot \text{इ ह}}{\text{अ ब} \cdot \text{क ह}} = \frac{१}{\text{लो}}$$ [उलट देने से]

और हम जानते हैं कि क ह=कीमत=की

इस प्रकार समीकरण (१) मे,

$$\frac{\text{क अ} \quad \text{इ ह}}{\text{अ ब} \quad \text{क ह}}$$ मूल्य के स्थानापन्न द्वारा

$$\text{सी आ} = \text{क ह} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

$$= \text{की} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$ (की=कीमत – क ह)

उपर्युक्त चित्र मे,

प्रारम्भ मे कीमत =क ह

=अ च

तथा प्रारम्भ मे सी आ =क स

=अ ड

$$\text{अब, सी आ} = \text{की} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

$$\text{या} \quad \text{अ ड} = \text{अ च} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

$$= \text{अ च} - \frac{\text{अ च}}{\text{लो}}$$

$$\text{अथवा} \quad \text{अ ड} + \frac{\text{अ च}}{\text{लो}} = \text{अ च}$$

$$\text{,,} \quad \frac{\text{अ च}}{\text{लो}} = \overline{\text{अ च}} - \overline{\text{अ ड}}$$

=च ड

अब यदि लो =१

तो अ च =च ड

अर्थात ड तथा अ दोनो बिन्दु समपात (coincide) हो जाते हैं, ड बिन्दु तथा अ बिन्दु एक पर आ जाते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि सीमान्त आय वक्र क्षैतिज अक्ष को काटता है।

यदि लो १ तो च ड > अ च तथा ड बिन्दु क्षैतिज अक्ष के नीचे स्थित है जिससे कि अ ड ऋणात्मक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सीमान्त आय दो बातो पर निर्भर होती है। प्रथम, कीमत तथा दूसरे माग की लोच।

इस सम्बन्ध को हम बीजगणित की सरल रीति द्वारा भी पा सकते हैं —

मान लिया कि किसी वस्तु की 'क्ष' इकाइया 'की' कीमत पर बेची जा सकती हैं तथा (क्ष+क्ष') इकाइया (की—की') कीमत पर (क्योकि अधिक बेचने के लिये कीमत घटानी पडेगी)। क्ष' तथा की' बहुत सूक्ष्म राशिया हैं।

$$\text{तो, सीमान्त आय (सी आ)} = \frac{\text{कुल आय मे वृद्धि}}{\text{विक्रय मे वृद्धि}}$$

$$= \frac{(\text{क्ष}+\text{क्ष}')\ \text{की}-\text{की}')-\text{क्ष की}}{\text{क्ष}'}$$

$$= \frac{\text{क्ष की}-\text{क्ष की}'+\text{क्ष}'\ \text{की}-\text{क्ष}'\ \text{की}'-\text{क्ष की}}{\text{क्ष}'}$$

$$= \frac{\text{क्ष}'\ \text{की}}{\text{क्ष}'} - \frac{\text{क्ष की}'}{\text{क्ष}'} - \frac{\text{क्ष}'\ \text{की}'}{\text{क्ष}'}$$

$$= \text{की} - \frac{\text{क्ष.की}'}{\text{क्ष}'} - \text{की}'$$

उभय पक्षो को की से भाग देने पर

$$\frac{\text{सी आ}}{\text{की}} = \frac{\text{की}}{\text{की}} - \frac{\text{क्ष की}'}{\text{की.क्ष}'} - \frac{\text{की}'}{\text{की}}$$

$$= 1 - \frac{\text{क्ष}}{\text{की}} \cdot \frac{\text{की}'}{\text{क्ष}'}$$

[की' स्वय एक अत्यन्त सूक्ष्म राशि थी; उसे 'की' से भाग दिये जाने पर और भी छोटी हो गई। इसलिये $\frac{\text{की}'}{\text{की}}$ को उपेक्षा कर दी गई है]

$$= 1 - \frac{\frac{\text{क्ष}}{\text{क्ष}'}}{\frac{\text{की}}{\text{की}'}}$$

$$= १ - \frac{१}{लो} \quad \left(क्योंकि\ लो = \frac{\frac{क्ष}{क्ष}}{\frac{की}{की}} \right)$$

$$सी\ आ\ = की\left(१ - \frac{१}{लो}\right) \quad (उभय\ पक्षो\ को\ की\ से\ गुणा\ करने\ से)$$

उत्पादन, लागत तथा पूर्ति

पूर्ति वक्र—

अर्थशास्त्री प्रमुख समाज मे होने वाले क्रय-विक्रय के सव्यवहारो से दिलचस्पी रखता है। जिस प्रकार क्रय करने की आर्थिक इकाई गृहस्थ माना गया है उसी प्रकार विक्रय की आर्थिक इकाई फर्म है। विक्रय की आर्थिक इकाई चाहे खेतिहर हो या औद्योगिक अथवा व्यापारिक, चाहे किसी एक व्यक्ति के अधिकार तथा प्रबन्ध मे हो या साझेदारी, कम्पनी अथवा सहकारी समितियो के हाथ मे हो, अर्थशास्त्र मे उसे फर्म ही की सज्ञा दी जाती है। यहा हमारा अभिप्राय है अमूर्त विश्लेषण, हम यह मान कर चलते हैं कि फर्म किसी खैराती या परोपकारी भावना से उत्प्रेरित हो अपने उत्पादन तथा विक्रय सम्बन्धी निर्णय नही करता। फर्म भी उपभोक्ता की भांति अधिकाधिक प्रत्याय चाहता है, उपभोक्ता अपने व्यय द्वारा अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त करने की चेष्टा करता है तथा फर्म अधिकाधिक लाभ। 'लाभ' शब्द स्वय भ्रामक है। इसका विचार हम पहले कर चुके हैं। अधिकतम वास्तविक लाभ प्राप्त करने (या न्यूनतम हानि उठाने) की चेष्टा, कतिपय अपवादो को छोड विक्रय जगत मे सर्वत्र पाई जाती है, चाहे फर्म पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे कार्य कर रहे हो अथवा विक्रये काधिकारिक अवस्थाओ मे। जिसको जितना अवसर मिलता है वह उतना ही अपने लाभ मे वृद्धि करने की चेष्टा करता है। अब प्रश्न उठता है कि कोई फर्म अधिकतम लाभ पाने के लिये अपने उत्पादन तथा कीमतो का समायोजन किस प्रकार करता है। यहा यह कह देना भी उचित है कि अधिकतम वास्तविक लाभ की अवस्था पर कोई फर्म एकाएक नही पहुच जाता—इसका कोई उपाय नही है। हा उचित हिसाब किताब रखकर, गलतियाँ करते करते वह इस स्थिति मे पहुँचेगा जहाँ से कि आगे बढने या पीछे हटने, दोनो मे उसे कुछ हानि उठानी पडेगी। यदि हम फर्म के विवेकपूर्ण ढग से अधिकतम लाभ उठाने की क्रिया को समझ ले तो हम वस्तु की 'पूर्ति' के पक्ष को समझ सकते हैं।

पूर्ति को हम एक अनुसूची अथवा वक्र के रूप मे देख सकते है। वास्तव मे, 'पूर्ति' किसी वस्तु मात्राओ की वह अनुसूची है जो किसी निश्चित समय पर या अवधि मे भिन्न भिन्न सम्भव कीमतो पर विक्रय के लिये प्रस्तुत की जाती है। इसी

अनुसूची को ग्राफ के रूप में प्रालेखित कर हम पूर्ति वक्र पा सकते हैं। 'पूर्ति' का सर्व साधारण नियम यह है कि पूर्ति 'अनुसूची बढ़ती है अर्थात् पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता है। यह बात किसी फर्म की पूर्ति के लिए उतनी ही सत्य है जितनी किसी उद्योग के लिये। पूर्ति वक्र हमें यह बताता है कि यदि अमुक मात्रा में वस्तु उत्पादित की जायगी तो उसकी कीमत इतनी होगी, यदि माग की अवस्था अमुक है (अमुक कीमत पर इतनी वस्तु मात्रा की माग है) तो इतनी ही वस्तु मात्रा का उत्पादन किया जायगा। माग की मात्रा जैसे जैसे बढ़ती जाती है पूर्ति कीमत में वृद्धि हो सकती है या ह्रास हो सकता है अथवा यह स्थिर रह सकती है, किन्तु प्रत्येक अलग मात्रा की एक निश्चित कीमत होती है। पूर्ति अनुसूची को वास्तविक नहीं मान लेना चाहिये, यह एक सम्भावना प्रकट करती है, अथवा यो कहें कि यह फर्म या उद्योग के प्रादायो की एक सूची प्रस्तुत करती है।

पूर्ति वक्र का स्थान-परिवर्तन—यदि प्रत्येक कीमत पर पूर्ति मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक है तो हम कहेंगे कि पूर्ति में वृद्धि हुई है। वृद्धि होने पर पूर्ति-वक्र दाहिनी ओर खिसक जायगा। उसी प्रकार प्रति वक्र के बाई ओर खिसकने का अभिप्राय होगा पूर्ति में ह्रास। लेकिन पूर्ति वक्र के दायें खिसकने का अर्थ है अधोन्मुख स्थान-परिवर्तन जबकि माग वक्र के दायें खिसकने का अर्थ होता है ऊपर की ओर को स्थान-परिवर्तन। यह अन्तर इस लिये है कि जहा माग के वक्र का ढाल ऋणात्मक होता है वहाँ पूर्ति के वक्र का ढाल धनात्मक होता है। माग वक्र के दायें जाने में यह भाव अन्तर्हित है कि वस्तु किसी दी हुई वस्तु मात्रा के लिये पहले की अपेक्षा अधिक कीमत दी जा रही है, लेकिन पूर्ति-वक्र के दाहिने ओर जाने का अर्थ है कि किसी दी हुई वस्तु मात्रा के लिये पहले की अपेक्षा कम कीमत स्वीकार की जायगी। उद्योग के सब फर्मों द्वारा पूर्ति को जोड़कर हम उद्योग का पूर्ति वक्र बना सकते हैं। वास्तव में पूर्ति-वक्र का उपयोग प्राय सम्पूर्ण उद्योग अथवा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के लिये किया जाता है, एक फर्म के विवेचन में इसका प्रयोग बहुत कम होता है। यहाँ उद्योग के पूर्ति-वक्र के आधार पर भी कुछ कह देना आवश्यक है। फर्म की पूर्ति का बहुत कुछ दारोमदार उसके सीमान्त-लागत वक्र के आकार पर निर्भर होता है। सीमान्त लागत का विस्तार पूर्वक विवरण हम आगे देंगे, यहा यह कह देना पर्याप्त है कि वस्तु की एक और इकाई उत्पादित करने में कुल लागत में जो परिवर्तन होगा वही सीमान्त लागत कहलाता है। कोई फर्म तब तक अपना उत्पादन बढ़ायेगा जब तक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन में विक्रय से प्राप्त होने वाली आय सीमान्त लागत के बराबर नहीं हो जाती, जिस स्थान पर यह अतिरिक्त आय (जिसे सीमान्त आय कहते हैं) सीमान्त लागत के बराबर हो जाती है, वही फर्म की इष्टतम उत्पादन राशि होगी। इस प्रकार फर्मों के पूर्ति वक्र सीमान्त लागत वक्र द्वारा पर्याप्त रूपेण प्रभावित होते हैं। फर्मों के सीमान्त लागत वक्र उत्पादन तथा कीमत के निम्न स्तर

पर क्षैतिज-प्राय होगे, जैसे-जैसे फर्म अपने उत्पादन की क्षमता के सिरो बिन्दु की ओर बढता है वैसे-वैसे उसकी सीमान्त लागत बढती जाती है, अर्थात् वक्र ऊर्ध्वगामी होता जाता है। उद्योग का पूर्ति वक्र फर्मों के पूर्ति वक्र पर निर्भर होता है और फर्मों का पूर्ति वक्र उनके सीमान्त लागत वक्रो का प्रतिबिम्ब होता है, इस प्रकार उद्योग का पूर्ति वक्र भी इस उद्योग के निर्माता फर्मों के सीमान्त-लागत वक्रो के यौगिक रूप को प्रतिबिम्बित करता है। अत उद्योग का पूर्ति वक्र भी प्रारम्भ मे क्षैतिज प्राय होता है किन्तु जैसे-जैसे उत्पादन तथा कीमत बढती जाती है पूर्ति वक्र भी ऊपर की ओर बढता है और अन्त मे जब सब फर्म अपनी-अपनी पूरी क्षमता भर उत्पादन करने लगते हैं तथा कीमत मे और वृद्धि उत्पादन की मात्रा मे और वृद्धि लाने मे असमर्थ हो जाती है तो उद्योग का पूर्ति वक्र उर्ध्वग, पूर्णतया बेलोच होता है। ऊपर दिए गए ग्राफ मे उद्योग के पूर्ति वक्र का आकार दिखाया गया है—
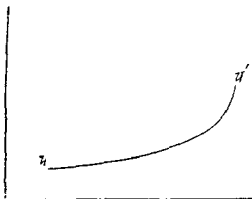
उद्योग का पूर्ति वक्र मुख्यत दो बातो पर निर्भर करता है, एक तो, फर्मों की लागत की दशाओ पर दूसरे, फर्मों की संख्या पर। उद्योग-धन्धे मे यदि फर्मों की संख्या मे कोई परिवर्तन होगा तो पूर्ति वक्र का स्थान परिवर्तन हो जायगा—यदि और बातें पूर्ववत रही तो। इसी प्रकार यदि उद्योग मे लगे हुये फर्मों की लागतो मे कोई परिवर्तन आता है तो भी पूर्ति वक्र मे स्थान परिवर्तन आयगा। इन दोनों बातो को दिया हुआ मानकर पूर्ति वक्र की रचना की जाती है। दीर्घकाल मे उत्पादन की विधि तथा फर्मों के उद्देश्य मे परिवर्तन भी पूर्ति वक्र को प्रभावित करते हैं।

पूर्ति वक्र के आलेखन मे कठिनाइया—पूर्ति वक्र के विश्लेषण का सम्बन्ध परम्परा से पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था से रहा है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे सीमान्त लागत, सीमान्त आय तथा कीमत परस्पर बराबर होते हैं। सब फर्मों के लागत वक्र समान होते है, तथा फर्मों के समक्ष पूर्णतया लोचदार माग होती है। ऐसी हालत मे हम पूर्ति वक्र के सम्बन्ध मे लोच के प्रश्न को छोड सकते हैं। पूर्ति वक्र की लोच पर निर्भरतापूर्ण उपयोगितायुक्त उद्योग मे उपेक्षित की जा सकती है, लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे हम ऐसा नही कर सकते। अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे सबसे पहली कठिनाई तो यह

होती है कि उद्योग के भिन्न भिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित माल समावयव नहीं होते। प्रत्येक फर्म का उत्पादन किसी न किसी बात में अन्यों से भिन्न होता है, इस लिये सब फर्मों के उत्पादन को हम एक साथ नहीं जोड़ सकते। किन फर्मों के उत्पादन को जोड़कर 'वस्तु' की संज्ञा दें—यह प्रश्न बड़ा जटिल होता है। स्थूल रूप से 'वस्तु' की कोई परिभाषा देने पर ही यह कठिनाई हल हो सकती है। दूसरी कठिनाई यह है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में एक ही वस्तु विभेदित कीमतों पर बेची जा सकती है। यही नहीं कि भिन्न-भिन्न फर्म अपनी 'वस्तुओं' की भिन्न कीमत लेते हैं, बल्कि वही फर्म भिन्न-भिन्न क्रेताओं या क्रेता-वर्गों से भिन्न-भिन्न कीमतें लेता है।

अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में प्रत्येक उत्पादक की वस्तु का माग वक्र पूर्णतया लोचदार नहीं होता, प्रत्येक विक्रेता उतनी वस्तु मात्रा बेचता है जितने पर कि उसकी सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर हों, उसकी सीमान्त आय कीमत के बराबर नहीं होती। वास्तव में प्रतियोगिता के पूर्ण न होने पर उत्पादन मात्रा की निर्धारक, कीमत न होकर सीमान्त आय होती है और एक ही सीमान्त आय के लिये कई कीमतें उपयुक्त हो सकती हैं। उत्पादन, सीमान्त आय (या सीमान्त लागत) तथा वस्तु की माग के लोच पर निर्भर करता है।

फिर बाजार यदि अपूर्ण है तो माग में वृद्धि का प्रभाव सब फर्मों पर समान रूप से नहीं पड़ता। ऐसी दशा में हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि पूर्ति में एक निश्चित वृद्धि लाने के लिये कीमत में कितनी वृद्धि होने की आवश्यकता है, जब तक हमें यह न ज्ञात हो कि बढ़ी हुई कीमत अलग अलग माग-वक्रों को किस प्रकार प्रभावित करती है, और यह ज्ञात करना कठिन काम है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि माग वक्र एक निश्चित दिशा में गतिशील है तो भी समस्याओं का अन्त नहीं होता। कुल माग वक्र के ऊपर उठने मात्र से तत्काल पूर्ति में वृद्धि नहीं होगी पूर्ति-वृद्धि का तत्काल कारण है फर्मों के व्यक्तिगत सीमांत-आय वक्र का ऊंचे उठना। कुल माग में वृद्धि का उत्पादन मात्रा पर प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्तिगत सीमान्त आय वक्र को किस प्रकार प्रभावित करती है। "यह भी सम्भव है कि, यदि ऊपर उठने के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्तिगत माग-वक्र की लोच कम हो गई तो कुल माग में वृद्धि उत्पादन मात्रा में (वृद्धि के बजाय) ह्रास ले आवे।" [1]

"सीमान्त आय तथा उत्पादन-मात्रा के बीच का सम्बन्ध मौलिक है, न कि कीमत तथा उत्पादन-मात्रा के बीच का।" [2]

---

1. Economics of Imp Comp by J Robinson p 88.

२ वही –

जैसा कहा जा चुका है, पूर्ति वक्र का प्रयोग पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे उपयोगी होता है। लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था वास्तविक ससार मे कठिनाई से मिलेगी। इस पर हम पहले बहुत कुछ कह चुके हैं।

पूर्ति वक्र के खींचे जाने मे समय भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवधान उपस्थित करता है। किसी समय-विशेष पर, हो सकता है कि, सम्पूर्ण उद्योग सस्थिति मे हो, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि उसमे के सब फर्म भी सस्थिति मे हो। हो सकता है कि कुछ फर्म वृद्धि पा रहे हो, कुछ अवनति के पथ पर हो तथा कुछ थोडे ही फर्म सस्थिति की हालत मे हो। इस प्रकार यद्यपि औपचारिक रूप से उद्योग का पूर्ति वक्र खीचा जा सकता है, तो भी यह मान लेना गलत होगा कि उद्योग के सभी फर्म सस्थिति मे है। फिर ऐसा औपचारिक वक्र खीचने मे भी बडी कठिनाइया सामने उपस्थित होगी। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिये समय-समय पर चेष्टाए की गई हैं, जिनमे सबसे प्रख्यात प्रयास मार्शल का था जिन्होंने 'प्रतिनिधि फर्म' की कल्पना द्वारा इन कठिनाइयो को विश्लेषण के रास्ते से दूर करने का प्रयत्न किया। पीगू ने 'सस्थिति फर्म' की कल्पना भी इसी उद्देश्य स की। फिर भी इन कठिनाइयो का पूर्ण समाधान अभी तक निकल नहीं पाया। इन सब कठिनाइयों को ध्यान मे रखकर ही हम पूर्ति वक्र पर विचार करना होगा, यद्यपि इस प्रकार के विश्लेषण मे कल्पनात्मक पहलू इसकी तथ्यात्मकता को बहुत निर्बल बना देता है।

प्रतिगामी पूर्ति वक्र (Regressive supply Curve)

साधारणतया हम यह मानकर चलते है कि यदि अन्य बातें पूर्ववत् रह तो कीमत मे वृद्धि से पूर्ति म वृद्धि होगी तथा कीमत ह्रास से पूर्ति मे ह्रास होगा। लेकिन इसके कुछ अपवाद है, अर्थात् कीमत मे वृद्धि आने से पूर्ति मात्रा घट सकती है, तथा कीमत-ह्रास से पूर्ति मात्रा बढ सकती है। या यो कह कि, कुछ वस्तुओ के पूर्ति वक्र का ढाल धनात्मक न हो ऋणात्मक होता है। खेती मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ मे प्राय यह प्रवृत्ति देखी जाती है। खेती की उपज मे श्रम की प्रधानता होती है। किसान अपना स्वामी स्वय होता है, उस किसी की डाट फटकार तो सुननी नही, यदि वह अपने खेत पर काम कम करेगा। फिर किसान की आकाक्षाए सीमित तथा आवश्यकताए अल्प होती है, जिनके पूरा होने पर वह सन्तुष्ट हो जाता है। जब खेती की उपज की कीमतें गिरती हैं तो किसान सोचता है कि अब अपनी जरूरतो को पूरा करन के लिये उसे अधिक उपज करनी पडेगी क्योंकि जो मुद्रा उस थोडा ही अनाज बेचकर पहले प्राप्त हो जाती थी, अब कीमतो मे गिरावट आ जाने पर, उतनी रकम पाने के लिये उसे अधिक अनाज बेचने की जरूरत पडेगी, इसीलिये वह अधिक परिश्रम से काम करेगा और यथाशक्ति अपनी उपज बढायगा, जिससे कि अनाज या खेती मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ की पूर्ति बढेगी। अर्थात् कीमत घटने पर पूर्ति बढ गई। जब अनाज का भाव बढ जाता है तो किसान म कुछ तन्द्रा आ जाती है, वह समझता है कि थोडा अनाज बेचने से भी

इतनी रकम प्राप्त हो जायेगी कि काम चल जायगा, इसलिये अपनी कोशिशें वह कम कर देता है, जिससे पैदावार कम हो जाती है, अर्थात् कीमत बढने पर जहां साधारणतया पूर्ति बढनी चाहिए, वहा यह कम होती है। खेती ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी यह बात हो सकती है। उदाहरण के लिये श्रम को हम लेते हैं। यदि मजदूरी बढ जाती है तो श्रमिक, जो प्राय कामाधिक्य से परेशान रहता है अपने विश्राम के समय में वृद्धि करेगा तथा पहले की अपेक्षा अधिक विश्राम तथा कम काम करेगा। इसलिये अविकसित देशो मे कभी-कभी मजदूरी म वृद्धि श्रम-पूर्ति म ह्रास ले आती है। इसी प्रकार यदि मजदूरी कम है तो घर का काम काज चलाने के लिये स्त्रियों और बच्चों को भी काम करना पडता है। अब अगर मजदूरी बढ गई तथा पुरुष की कमाई से ही परिवार का गुजारा सम्भव हो गया तो स्त्री-बच्चे या वृद्ध मजदूरी करना छोड देंगे और इस प्रकार श्रम पूर्ति मे सकुचन होगा।

इसी प्रकार यदि ब्याज की दर बढ गई तो जो लोग ब्याज की आय पर निर्भर होते है तथा एक निश्चित आय पाना चाहते हैं, वे पहले की अपेक्षा कम बचत कर सकते हैं, क्योंकि अब कम बचत करने से भी उन्हें ब्याज की रकम पहले जैसी ही मिल जाती है।

किन्तु ये बातें सभव होते हुए भी अधिक महत्व की नही। ये पूर्ति के व्यापक नियम के अपवाद स्वरूप हैं तथा मनुष्य की आलस्य, अदूरदर्शिता तथा आर्थिक क्षेत्र म अविवेकता के दुष्परिणाम हैं।

उत्पादन तथा अल्पकाल—

हम कह चुके हैं कि उत्पादन का अभिप्राय अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने से है। किसी वस्तु के उत्पादन के लिये फर्म को उत्पादन के कतिपय साधनो का उपयोगीकरण करना पडता है। इन साधनो को उपयोग के लिये फर्म को इनके स्वामियो को कुछ प्रतिफल देना पडता है, जिसे हम लागत कहते हैं। फर्म अधिकाधिक वास्तविक लाभ प्राप्त करना चाहता है, इसका अर्थ यह भी हुआ कि अपनी दी हुई लागत से वह अधिकाधिक वस्तुमात्रा उत्पादित करना चाहेगा। अर्थात् वह अपनी लागत न्यूनतम करने की चेष्टा करता रहता है। इस प्रकार अधिकतम वास्तविक लाभ की प्राप्ति करना या लागत को न्यूनतम करना दोनो एक ही भाव हैं। उत्पादन तथा लागत का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है और इन दोनो का सम्बन्ध उत्पादन सस्थिति तथा पूर्ति वक्र से है।

बाजार की संस्थिति के पूर्ति पक्ष को समझने के लिए हमें तीन प्रकार के फलनो (फलनो) अनुसूचियो अथवा वक्रो को समझना आवश्यक है। पहली तो उत्पादन अनुसूचिया हैं। ये अनुसूचिया उपभोग विश्लेषण में आने वाली उपयोगिता सूचिया के समान ही हैं। दूसरे लागत वक्र हैं जो इन्ही उत्पादन अनुसूचियो से प्राप्त किये जाते हैं फिर जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, कुछ दशाओ म, कुछ लागत

वक्र फर्म के पूर्ति-वक्र के रूप मे काम करते हैं। हमे पहले उत्पादन के विश्लेषण पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

पूर्ति-पक्ष मे कुल उत्पादन का वही स्थान है जो माग पक्ष मे कुल उपयोगिता का है। उपभोक्ता उपयोगिता प्राप्त करने के उद्देश्य से कोई वस्तु खरीदता है, उत्पादक उत्पादनीयता प्राप्त करने के लिये कोई उत्पादन का साधन खरीदता है। जिस प्रकार वस्तुओ की व्यापक माप उपयोगिता है, उसी प्रकार उत्पादनीयता उत्पादन के साधनो की माप है। यह वास्तविकता है कि कोई साधन उत्पादन मे कितना सहायक होगा—यह बहुत कुछ शैल्पिक (Technological) बातो पर निर्भर होता है। लेकिन एक बात जो सभी साधनो मे पाई जाती है, वह है उत्पादनीयता। साधनो का किन अनुपातो मे सयोग सबसे अधिक उत्पादनीय होगा यह बात शैल्पिक (Technological) अवस्था पर निर्भर है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि क्रय-विक्रय के सव्यवहारो मे 'समय' एक परमावश्यक तत्व है। समय के दैर्घ्य या अल्पता पर फर्म अपना निर्णय करता है। जितनी ही अल्पकालीन अवधि हम लेंगे उतना ही कम चुनाव का अवसर फर्म को मिलेगा। समय तथा फर्मों के वैकल्पिक निर्णयो का सम्बन्ध अनवरत (Continuous), अनन्तर होना है, किन्तु अर्थशास्त्र म सुविधा के लिये समय को तीन पृथक् पृथक् अवधियो मे बाँट लिया जाता है। हम पहले ही कह आये हैं कि अर्थशास्त्र मे (तथा अन्य शास्त्रो मे भी) कुछ निरन्तरता का गुण रखने वाले तत्वो को स्वेच्छा से हम पृथक्त्व का गुण दे देते हैं और कुछ हालतो म इसका विलोम करते है। हा, तो अर्थशास्त्र मे समय को तीन कालो या अवधियो मे विभाजित किया जाता है (१) तत्कालिक या बाजार अवधि या क्षणिक अवधि, (२) अल्पकालीन तथा (३) दीर्घकालीन अवधि। तत्कालिक या बाजार अवधि मे केवल उस माल का क्रय-विक्रय होना सम्भव है जिसका उत्पादन हो चुका है। इस समय मे फर्म के सामने अपने उत्पादन को समायोजित करने का कोई रास्ता नही होता, जो माल उत्पादित किया जा चुका है उसे ही बेचना है। या यो कहे बाजार कालीन अवधि में क्रय तथा विक्रय की योजनायें दी हुई होती हैं। अल्पकालीन अवधि मे फर्म द्वारा उपयोगिता आदाओ (Inputs) मे से कुछ की मात्राओ [या परिमाणो] को घटाया बढाया जा सकता है तथा अन्य सभी चीजे स्थिर मान ली जाती हैं। इस अवधि मे श्रम तथा कच्चे मालो को ही प्राय परिवर्तनशील माना जाता है तथा मशीनो तथा अन्य उत्पादन उपकरणो और प्रबन्धक श्रम आदि को पूर्ववत् या स्थिर मान लिया जाता है।

दीर्घकालीन अवधि मे फर्म द्वारा उपयोगिता समस्त आदाओ की मात्राओ तथा गुणो को परिवर्तनशील मान लिया जाता है। इस अवधि मे मशीनो तथा उपकरणो की सख्या भी घटाई बढाई जा सकती है। यह कहना अनावश्यक है कि

समय का यह विभाजन केवल सुविधा के लिये किया जाता है। उद्योग-उद्योग मे इन कालो की अवधि घटती बढ़ती रहती है।

उत्पादन तथा पूर्ति के विश्लेषण मे हम केवल अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन अवधियो पर ही विचार करते है।

सीमान्त उत्पादनीयता मे ह्रास का नियम—

अल्पकालीन अवधि पर विचार करते समय हम कुल-उत्पादन अनुसूची बना सकते हैं। यदि हम एक सीमान्त उत्पादनीयता अनुसूची या वक्र बनायें तो हम देखेंगे कि यह वक्र अन्त मे अधोन्मुख हो जाता है, अर्थात् सीमान्त उत्पादनीयता मे, सीमान्त उपयोगिता की भांति, क्रमगत ह्रास आने लगता है। यह नियम ऐतिहासिक है तथा इसका अधिक प्रचलित नाम है प्रत्याय का क्रमगत सिद्धान्त। यदि भूमि को एक साधन माना जाय तथा श्रम को दूसरा तो इस सिद्धान्त का सम्बन्ध जनसख्या वृद्धि से स्थापित किया जा सकता है। भूमि की मात्रा किसी देश अथवा विश्व म निश्चित मानी जा सकती है। यदि श्रम को परिवर्तनशील मानकर इसका सयोग हम भूमि के साथ करें तो हम देखेंगे कि साधारणतया कुछ समय तक जितना ही अधिक श्रम हम एक निश्चित भू-क्षेत्र पर लगाते हैं उत्पादन उतना ही अधिक बढ़ता है। लेकिन साधारणतया यह उत्पादन-वृद्धि श्रम-वृद्धि की समानुपाती नहीं होती। हो सकता है कि, यदि भूमि पहले भली प्रकार कमाई नहीं जा रही थी तथा श्रमिको की कमी थी, तो प्रारम्भ में उत्पादन मे वृद्धि श्रम-वृद्धि की अपेक्षा अधिक हो। अर्थात् यदि पहले एक श्रमिक काम कर रहा था और १० मन गेहूँ किसी भू-क्षेत्र मे पैदा हो रहा था तो हो सकता है कि एक दूसरा श्रमिक और लगा देने से उसी क्षेत्र से २५ मन गेहूँ पैदा होने लगे और इस प्रकार सीमान्त उत्पादनीयता घटने के बजाय बढ जाय। लेकिन कोई समय ऐसा अवश्य आयेगा जब यह सीमान्त उत्पादनीयता कम दर पर वृद्धि पायेगी। जैसे जैसे श्रम की अधिकाधिक इकाइयाँ काम मे लाई जायेंगी वैसे वैसे पहले तो, कदाचित कुल उत्पादन मे बढती हुई दर से वृद्धि होगी, फिर गिरती हुई दर से तथा उसके बाद कुल उत्पादन मे ह्रास शुरू हो जायगा। या हम इसको ऐसे भी कह सकते हैं कि सीमान्त उत्पादन पहले बढ़ेगा, तब घटेगा और कुछ समय पश्चात् ऋणात्मक हो जायगा। इस सिद्धान्त के अनुसार बढती हुई जनसख्या कुछ समय के बाद ह्रासोन्मुख दर से प्रति व्यक्ति प्रदा (Per Capita output) उत्पन्न करेगी।

कुल-सीमान्त तथा माध्य-उत्पादन वक्र—

इन वक्रो का आकार सम्बन्धित वस्तु तथा उद्योग मे शैल्पिक (टेक्नॉलोजिक) अवस्था पर निर्भर होता है। लेकिन इनका आकार साधारणतया उपर्युक्त (वृद्धि-ह्रास) गुणो वाला होगा। यह इस बात पर निर्भर होगा कि किस साधन को निश्चित तथा किसको परिवर्तनशील माना गया है। यदि हम भूमि तथा श्रम, केवल दो, साधनो को लेते हैं तो हम इस प्रकार से एक कल्पित अनुसूची तैयार कर सकते हैं।

इसमे भूमि को निश्चित तथा श्रम को परिवर्तनशील माना गया है। इस तालिका के लिये हमने ६ एकड भूमि निश्चित माना है .—

श्रमिक-इकाइयाँ (६ एकड भूमि पर)	कुल उत्पादन (गेहूँ टनो मे)	सीमान्त उत्पादन (टनो मे)	माध्य (औसत) उत्पादन (टनो मे)
१	५ ००	५ ०	५ ००
२	११ ००	६·०	५ ५०
३	१६ ५०	५ ५	५ ५०
४	२१ ५०	५ ०	५ ३८
५	२५ ५०	४ ०	५ १०
६	२८ ५०	३ ०	४ ७५
७	३० ५०	२ ०	४ ३६
८	३१ ५०	१ ०	३ ९४
९	३२ ००	० ५	३ ५६
१०	३१ ७५	० २५	३ १८
११	३१ ००	१ २५	२ ८९

ऊपर दी गई अनुसूची को आरेखन कर हम कुल-उत्पादन, सीमान्त उत्पादन तथा माध्य-उत्पादन के वक्रो को पा सकते है। ये वक्र नीचे दिखाए गये हैं। लेकिन इन वक्रो के पूर्व हमे उपर्युक्त अनुसूची का विवरण दे देना आवश्यक है। कुल-उत्पादन को श्रमिक इकाइयो से भाग देने पर अन्तिम खाने का माध्य-उत्पादन प्राप्त होता है। अर्थात् माध्य उत्पादन का अर्थ होता है परिवर्तनशील प्रदा की प्रति इकाई की औसत। यह देखा जा सकता है कि माध्य उत्पादन पहले शिरो विन्दु पर पहुच जाता है, उसके बाद घटना शुरू होता है। लेकिन माध्य उत्पादन मे ह्रास आने के पहले सीमान्त उत्पादन मे ह्रास आता है। यदि हम अग्र ग्राफ को देखे तो पता चलेगा कि सीमान्त उत्पादन वक्र, माध्य उत्पादन वक्र के ऊपर तब तक रहता है जब तक कि माध्य उत्पादन वक्र ऊपर उठ रहा है, जब यह नीचे की ओर झुकती है, सीमान्त उत्पादन वक्र उसके नीचे आ जाता है। दोनो वक्र एक दूसरे को काटते हैं, अनुसूची से हमे ज्ञान होता है कि इस कटान के बिन्दु पर सीमान्त-उत्पादन, औसत उत्पादन के बराबर है। पुन यह कटान सीमान्त-उत्पादन वक्र के शीर्ष विन्दु पर (या, यो कहे कि उस बिन्दु पर जहाँ सीमान्त उत्पादन वक्र अधोन्मुख होता है) होता है। इस बिन्दु पर कुल उत्पादन १६ ५० टन है। ग्राफ अग्रांकित है। इसमे जैसा हम पहले कह चुके हैं, कुल-उत्पादन वक्र अ प जी अ र य स (S) से मिलता है।
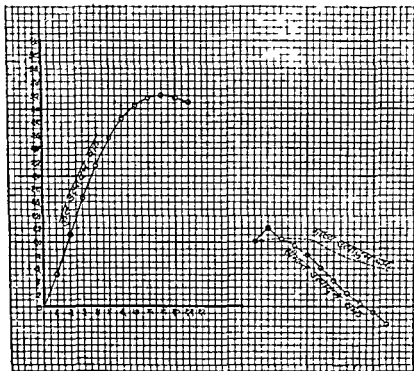
लागत तथा पूर्ति (अल्पकालीन अवधि मे)

उत्पादन-लागत सम्बन्ध—यदि कोई फर्म कुछ उत्पादन करना चाहता है तो प्रारम्भ मे उसे कुछ व्यय करना पड़ेगा। पहले एक प्रबन्धकारी संगठन की आवश्यकता पड़ेगी, फिर इसे आवश्यक मशीनो तथा उपकरणो की जरूरत होगी। भूमि तथा पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी, फिर कच्चे माल तथा श्रम की बारी आयगी। व्यापार तथा उत्पादन की अभीष्ट मात्रा के अनुसार ही इन वस्तुओ की आवश्यकता पड़ेगी। किसी वस्तु इकाई की उत्पादन-लागत बराबर होती है, उसके उत्पादन मे उपयोगित संसाधनो के मूल्य के। प्रश्न उठता है कि इन संसाधनों का मूल्य निर्धारित कैसे किया जाता है। प्रत्येक संसाधन प्राय कई उपयोग मे लाया जा सकता है। यदि संसाधनो को एक फर्म या उद्योग से दूसरे फर्मों तथा उद्योगो में जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो तो किसी संसाधन का स्वामी अपने संसाधन को उसी फर्म या उद्योग के हाथ बेचेगा जो उसे अधिकतम कीमत तथा मूल्य (प्रतिफल रूप में) दे सकेगा। वही फर्म या उद्योग साधारणतया अधिकतम प्रतिफल दे सकेगा जो इस संसाधन का इष्टतम या श्रेष्ठतम उपयोग कर सकेगा। यदि एक उपयोग से दूसरे उपयोग मे जाने से किसी संसाधन को अधिक प्रतिफल या कीमत मिलेगी तो किसी

बाधा की अनुपस्थिति मे वह अधिक प्रतिफल देने वाले उपयोग मे जायेगा। इस प्रकार किसी ससाधन का मूल्य उसके श्रेष्ठतम वैकल्पिक उपयोग द्वारा नापा जाता है, तो हम यह कह सकते हैं कि किसी वस्तु-इकाई की उत्पादन-लागत बराबर होती है उसके उत्पादन मे प्रयुक्त ससाधनों के मूल्य के, जिसकी माप हम उन ससाधनों के उस श्रेष्ठतम वैकल्पिक उपयोग द्वारा निर्धारित कर सकते हैं, जिसमें (यदि इन ससाधनो का उपयोग इस वस्तु-इकाई के उत्पादन में न हुआ होता तो) इनको हम लगा सकते थे। यदि किसी क्षेत्र में एक निश्चित श्रम से किसी अवधि म हम १००) की कीमत का बाजरा पैदा कर सके तथा उसी क्षेत्र में उतने ही श्रम से उसी अवधि मे १५०) का (अर्थात् १००) से अधिक का) धान पैदा कर सके तो इस श्रम तथा क्षेत्र का मूल्य १५०) होगा।

इस प्रकार उद्योग 'क' की किसी ससाधन पर लागत वह रकम है जो यह उद्योग इस ससाधन के प्रयोग के बदले देता है। इसे इतनी रकम देनी पडती है जो कि ससाधन को अन्य उपयोगो से हटा कर अपने उपयोग में ले आने के लिये आवश्यक हो, क्योंकि ससाधन वहीं जायगा जहाँ उसे उच्चतम प्रतिफल मिलेगा। किसी ससाधन के लिये चुकाया जाने वाला उच्चतम 'मूल्य' प्राय वह होगा जिसका उत्पादन इस ससाधन से किया जा सकता है। उद्योग 'क' को इस ससाधन के प्रयोग के लिये साधारण अवस्था में यही उच्चतम 'मूल्य' चुकाना पडेगा। इस मूल्य को जब हम मौद्रिक आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा-परिमाण में व्यक्त करते हैं तो इसे वैकल्पिक अथवा उपयोग-सुअवसर लागत (Alternative या Opportunity Cost) कहते हैं। वास्तव मे हमारी आर्थिक-व्यवस्था मुद्रा तथा विनिमय प्रधान है। हमारा अभिप्राय यहाँ यह पता लगाने से है कि लागतें आर्थिक-व्यवस्था मे उत्पादन को किस प्रकार नियन्त्रितकरती हैं। ऐसी आर्थिक-व्यवस्था में, इसीलिये हम मौद्रिक उत्पादन-लागत पर ध्यान देना चाहिये। यदि किसी ससाधन को वैकल्पिक लागत से अधिक रकम उसके विक्रय से प्राप्त होती है तो आधिक्य को 'आर्थिक लगान' (Economic Rent) या 'विशुद्ध लाभ' कहते हैं। मान लिया कि इस ससाधन की वैकल्पिक लागत 'ल' है तथा इसके विक्रय से प्राप्त रकम 'अ' है तो 'आर्थिक लगान' या विशुद्ध लाभ अ—ल।

हम यह ऊपर कह चुके हैं कि उत्पादन के लिये माल तथा सेवाओं की आवश्यकता होती है। पहले प्रबन्धकारी सगठन, फिर भूमि तथा पूजी, फिर पूजी उपकरण, मशीने आदि, तत्पश्चात् श्रमिको की आवश्यकता होती है। इन ससाधनों के उपयोग के लिये इनकी कीमत चुकानी पडती है। इसके अतिरिक्त तमाम और प्रकार के व्यय की आवश्यकता होती है, जैसे शक्ति (कोयला, तेल अथवा विद्युत), प्रकाश, परिवहन, टैक्स तथा अन्य अतिरिक्त मदो के लिये खर्चे। इनमे से कुछ आवश्यकतायें वर्तमान मे व्यय चाहती हैं, जैसे मजदूरीतथा वेतन, कच्चे माल की कीमतें, मकान का भाडा, ऋणदाताओं को ब्याज, टैक्स, प्रकाश, शक्ति आदि। लेकिन केवल

यही मदें कुल उत्पादन-व्यय में शामिल नहीं, और मदें भी हैं। कुछ मदें ऐसी भी हैं जिनके लिये वर्तमान में व्यय नहीं करना पड़ता, जैसे मशीनरी। हो सकता है कि मशीनरी ७-८ वर्ष पहले खरीदी गई हो। इस प्रकार टिकाऊ उपकरणों तथा मालों के लिये प्रति मास या प्रति सप्ताह (यहाँ तक कि प्रति वर्ष भी) प्राय खर्च नहीं करना पड़ता। ऐसे सामानों, उपकरणों तथा मालों को एक बार खरीदने से ये कुछ समय तक काम देते हैं, इसलिए जिस वर्ष यह खरीदे जाते हैं, उसी वर्ष इन पर किया हुआ पूरा व्यय उत्पादन-लागत में नहीं जोड़ा जाता, बल्कि इनकी सम्भावित कार्य-अवधि (या सम्भाव्य 'जीवन') का अलग-अलग अनुमान लगाकर, प्रत्येक पर किये गये व्यय को इस प्रकार अनुमानित कार्यावधि पर वितरित कर दिया जाता है, कि अवधि में की गई लागतों के भोग में केवल अदा रूप ही में ऐसे टिकाऊ उपकरणों, सामानों तथा मालों पर की गई लागतें शामिल होती हैं।

इस प्रकार लागतों के दो वर्ग हमें मिले। एक तो वे लागत जो, जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है, बढ़ती हैं। उदाहरणार्थ, साधारण मजदूर, कच्चा माल, शक्ति आदि मदों पर व्यय-उत्पादन के साथ-साथ बढ़ता है। जितनी ही अधिक वस्तु-मात्रा उत्पादित की जायगी उतना ही अधिक कच्चा माल लगेगा, उतनी ही अधिक शक्ति (विद्युत या कोयले अथवा तेल) की आवश्यकता होगी तथा साधारणतया अधिक श्रमिकों की भी आवश्यकता होगी। इस प्रकार लागतों को परिवर्तनशील (या चर) लागत (Variable Cost)* कहते हैं। लागतों का दूसरा वर्ग वह है जो वस्तु का समानुपाती नहीं होता। उत्पादन की कतिपय सीमा तक इस प्रकार की लागतें स्थाई होती हैं। कुछ लागतें इस वर्ग में ऐसी होती हैं जो वर्षों तक स्थाई रहती हैं, जैसे विभिन्न प्रकार के दीर्घकालीन ऋणों पर ब्याज, जमीन का लगान तथा मकानों का भाड़ा, कुछ प्रबन्धक आफीसरों के वेतन, कुछ प्रकार की मशीनों की घिसाई। इस प्रकार की लागतों को स्थाई लागत (Fixed Cost)** कहते हैं। लागतों का यह विभाजन अल्पकालीन अवधि सम्बन्धी विश्लेषण के लिये अधिक महत्वपूर्ण है।

---

*Marsall ने Variable Costs को Prime Costs (प्रमुख लागत) अथवा प्रत्यक्ष लागत कहा है, क्योंकि उत्पादन-राशि प्रत्यक्ष रूप से इन्हीं लागतों पर निर्भर होती है। ये लागतें उत्पादन-मात्रा के साथ ही घटती-बढ़ती हैं।

**Fixed Cost is also known as Supplementary Cost or overhead or Indirect Cost अर्थात् स्थाई लागत को हम पूरक, अप्रत्यक्ष आदि नामों से भी पुकार सकते हैं। स्थाई तो वे इसलिये कहलाती हैं कि अल्पकालीन अवधि में वे स्थिर रहती हैं, अल्पकालीन अवधि में उत्पादन में वृद्धि होने के साथ वे बढ़ती नहीं। अप्रत्यक्ष आदि नाम उन्हें इसलिये दिये गये हैं कि प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन मात्रा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।

लागतो का पूर्वोक्त विभाजन वैज्ञानिक नही। यह केवल सुविधा के लिये किया जाता है। 'परिवर्तनशील' तथा 'स्थाई' सापेक्षिक शब्द तथा प्रत्यय हैं। यह विभाजन कतिपय मान्यताओ के आधार पर किया जाता है। प्रथम तो एक अल्प-कालीन अवधि मे ही यह विभाजन सम्भव है, दीर्घकाल मे सब कुछ परिवर्तनशील है। फिर वह 'अल्प' तथा 'दीर्घ' विश्लेषण भी बड़े द्विविधापूर्ण है, 'अल्प काल' से क्या अभिप्राय है तथा 'दीर्घकाल' से कितने समय का प्रयोजन है—इन प्रश्नो का उत्तर विभिन्न परिस्थितियों मे भिन्न-भिन्न होता है। दूसरे, लागतो के उपयुक्त विभाजन मे टैक्नीकल प्रगति को स्थिर मान लिया गया है तथा यह उपधारणा कर ली गई है कि सम्बन्धित अवधि मे कोई नये आविष्कार अथवा उत्पादन की नवीन प्रणालियो के प्रादुर्भाव नही होते, क्योकि इन बातो के बीच मे आ जाने से लागत तथा उत्पादन आदि के सतुलन तथा अनुपातो मे आमूल परिवर्तन आ जाता है। इन कल्पनाओ तथा उपधारणाओ की अनुपस्थिति मे लागतों का उपयुक्त विभाजन निरर्थक होगा।

लागत से हमे मुद्रा की इकाइयो मे व्यक्त की गई उत्पादक सेवाओ की उन मात्राओ का बोध होता है जो उत्पादन-कार्य मे लगाई जाती हैं। जिस प्रकार हमने पीछे 'कुल उत्पादन' औसत या मध्य उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन का जिक्र पहले कर आये हैं उसी प्रकार हम कुल, माध्य तथा सीमान्त लागतो का भी अर्थ लगा सकते हैं। **कुल लागत** दो भागो मे विभक्त की जाती है—**कुल स्थिर लागत** तथा **कुल परिवर्तनशील लागत**। अथवा

कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्तनशील लागत

औसत कुल लागत = कुल लागत को कुल उत्पादन—मात्रा से भाग देने पर हमे औसत कुल लागत मिलती है।

अर्थात्

$$\frac{\text{कुल लागत}}{\text{कुल उत्पादन}}$$

इसी प्रकार **कुल स्थिर लागत** को कुल उत्पादन से भाग देकर हम **औसत स्थिर लागत** पा सकते हैं तथा **कुल परिवर्तनशील लागत** को कुल उत्पादन से भाग देने पर **औसत परिवर्तनशील लागत** को पाया जा सकता है।

इससे हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि—

कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्तनशील लागत।

दोनों ओर कुल उत्पादन से भाग देने पर—

$$\frac{\text{कुल लागत}}{\text{कुल उत्पादन}} = \frac{\text{कुल स्थिर लागत}}{\text{कुल उत्पादन}} + \frac{\text{कुल परिवर्तनशील लागत}}{\text{कुल उत्पादन}}$$

अथवा

औसत कुल लागत = औसत कुल स्थिर लागत + औसत कुल परिवर्तनशील लागत

सीमान्त लागत वह रकम है जो यदि हम उत्पादन में एक इकाई की वृद्धि करें तो कुल लागत में जुड़ जाती है। उत्पादन में एक इकाई वृद्धि करने के फलस्वरूप, कुल लागत में आई वृद्धि ही सीमान्त लागत कहलाती है। कुल लागत में स्थिर तथा परिवर्तनशील दोनों प्रकार की लागतें शामिल हैं। उत्पादन की एक इकाई बढ़ने से स्थिर लागतों में तो कोई परिवर्तन आयेगा नहीं– केवल परिवर्तनशील लागतें बढ़ेंगी। इसलिए हम सीमान्त लागत की परिभाषा इस प्रकार भी दे सकते हैं कि उत्पादन की एक इकाई की सीमान्त लागत परिवर्तनशील लागतों में वह वृद्धि है जो इस इकाई के उत्पादन के कारण होती है। इस प्रकार यदि २० इकाई उत्पादन के लिए ४०) की आवश्यकता है तथा २१ इकाई के उत्पादन के लिए ४१) तो इक्कीसवीं इकाई के उत्पादन की सीमान्त लागत १) है।

अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका द्वारा उपर्युक्त प्रकार की लागतों को और स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं—

आगे की तालिका में हमें विदित होता है कि जैसे-जैसे उत्पादन मात्रा बढ़ती है स्थिर लागत की औसत घटती जाती है, यद्यपि कुल स्थिर लागत में उत्पादन वृद्धि से कोई अन्तर नहीं आता। शून्य उत्पादन पर स्थिर लागत ही केवल होती है (यह कहना कुछ असंगत सा है क्योंकि बिना उत्पादन के लागत का वैसे ही कोई अर्थ नहीं जैसे बिना पति के पत्नी शब्द कोई अर्थ नहीं देता, क्योंकि ये शब्द परस्पर सापेक्ष रूप से प्रयुक्त होते हैं जब हम पति के साथ स्त्री को नाम देते हैं तो वह पत्नी हो जाती है, उसी प्रकार बिना सन्तान के कोई पिता नहीं कहलाता, फिर भी सुविधा के लिए हम लागत शब्द का प्रयोग यहां करते हैं और फिर उत्पादन भी तो 'शून्य' है ही)

सीमान्त लागत तथा औसत लागत दोनों कुछ समय तक घटती जाती हैं, चौथी तथा पांचवीं इकाई उत्पादन के लिये सीमान्त लागत निम्नतम (२६) हो जाती है। उसके बाद वह बढ़ने लगती है। औसत लागत नवीं इकाई पर निम्नतम हो जाती है, *इसके बाद वह बढ़ने लगेगी।* ● *यहां एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि औसत* स्थिर लागत तो बराबर गिरती जा रही है, लेकिन औसत परिवर्तनशील लागत छठवीं इकाई पर निम्नतम होने के बाद बढ़नी शुरू हो जाती है। औसत परिवर्तनशील लागत में वृद्धि का कारण है घट-अनुपातिक प्रत्याय नियम का लागू होना। यदि वक्रों द्वारा इन लागतों को प्रकट करना चाहें तो स्पष्ट है कि—

(क) सीमान्त लागत वक्र पहले गिरेगा, फिर चौथी तथा पांचवीं इकाइयों पर स्थिर रहेगा तथा उसके बाद ऊपर उठना शुरू होगा। दूसरे शब्दों में इसका

● हमने उत्पादन को नवीं इकाई ही तक दिखाया है, यदि दसवीं इकाई का उत्पादन भी दिखाया गया होता तो औसत लागत १७७.११ से अधिक हो जाती।

उत्पादन मात्रा म इकाइयाँ	स्थिर लागत अ ला रु०	परिवर्तनशील लागत प ला रु०	कुल लागत कु ला=अ ला+प ला रु०	सीमान्त लागत सील रु०	औसत रु०		
					अ ला / म	प ला / म	कु ला / म
०	१०००	०	१०००	१२८	१०००/०	०	अनन्त
१	१०००	१२८	११२८	४०	१०००	१२८	११२८
२	१०००	१६८	११६८	३०	५००	८४	५८४
३	१०००	१९८	११९८	२६	३३३ ३३	६६	३९९ ३३
४	१०००	२२४	१२२४	२६	२५०	५६	३०६
५	१०००	२५०	१२५०	३८	२००	५०	२५०
६	१०००	२८८	१२८८	६२	१६६ ६६	४८	२१४ ६६
७	१०००	३५०	१३५०	९८	१४२ ८५	५०	१९२ ८५
८	१०००	४४८	१४४८	११	१२५	५६	१८१
९	१०००	५९४	१५९४	१४६	१११ ११	६७	१७७ ११

आकार स्थूल रूप से (लगभग) अंग्रेजी वर्ण माला के यू (U) अक्षर की भांति होगा।

(ख) औसत लागत वक्र भी उसी प्रकार यू (U) आकार का होगा क्योंकि पहले वह गिरेगा, फिर निम्नतम बिंदु पर पहुच वहाँ से ऊपर उठेगा यद्यपि यह भी सभावना है कि यह निम्नतम बिन्दु पर अधिक समय स्थिर हो जाय जिससे 'U' का पेंदा अधिक फैल जायगा, और यह भी हो सकता है कि निम्नतम बिंदु से यह एकाएक तेजी से ऊपर उठ जाय, ऐसी हालत मे वक्र का आकार अग्रेजी वर्णमाला के 'V' अक्षर के समान होगा।

(ख) औसत स्थिर लागत का वक्र ऋणात्मक ढाल वाला, नीचे को गिरता होगा।

(ग) औसत परिवर्तनशील लागत पहले गिरती है, निम्नतम तल पर पहुच फिर उठनी शुरू होती है, इसलिए इसका आकार भी लगभग 'U' के समान होगा।

अब हम वक्र द्वारा इन लागतो को बतायेंगे—

पहले हम कुल लागत तथा परिवर्तनशील लागत वक्र आलेखित करते हैं।
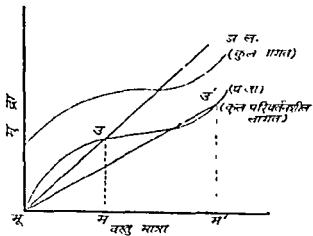
परिवर्तनशील लागत वक्र के इस आकार के बारे मे भी यहा कुछ विवरण दे देना आवश्यक है। उपर्युक्त परिवर्तनशील लागत वक्र की सहायता से किसी उत्पादन-मात्रा पर हम यह पता लगा सकते हैं कि यदि उसमे कुछ थोडी सी वृद्धि की जाय तो परिवर्तनशील लागत मे अधिक समानुपातिक वृद्धि होगी या उतनी ही अथवा कम। वक्र पर उस उत्पादन मात्रा से सम्बन्धित बिन्दु को यदि हम मूल बिन्दु से एक सरल रेखा द्वारा मिला दें तो यदि यह सरल रेखा प ला वक्र को उस बिन्दु पर नीचे से काटती है तो उत्पादन मे भी थोडी वृद्धि परिवर्तनशील लागतो मे समानुपात से कम वृद्धि लायेगी, और यदि यह सरल रेखा ऊपर से काटती है तो

परिवर्तनशील लागतो मे समानुपात से अधिक वृद्धि आयेगी। ऊपर के चित्र में मू म उत्पादन मात्रा मे यदि थोडी वृद्धि की जाय तो स्पष्ट है कि (चू कि मूड सरल रेखा प ला वक्र को उ बिन्दु पर नीचे से काटती है) परिवर्तनशील लागत मे समानुपात से कम वृद्धि होगी। लेकिन मू म उत्पादन मात्रा मे यदि थोडी वृद्धि की जाय तो परिवर्तनशील लागतो मे अधिक वृद्धि होगी।

उपर्युक्त दोनो वक्रो से हम अब औसत लागत वक्र और परिवर्तनशील लागत वक्र तथा सीमान्त वक्र आलेखित कर सकते है। लेकिन इससे पूर्व हम औसत स्थिर लागत वक्र खींचेंगे। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि स्थिर लागत की औसत उत्पादन बढने के साथ-साथ गिरती जाती है।
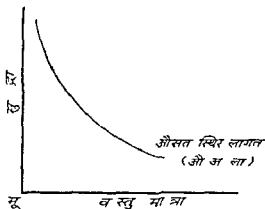
कुल स्थिर लागत अल्पकालीन अवधि मे बदलती नही, चाहे उत्पादन कितना ही क्यो न बढाया जाय। लेकिन इसकी औसत शून्य उत्पादन पर अनन्त होगी। उत्पादन के बढने के साथ साथ यह घटती जायेगी क्योंकि उत्पादन मात्रा की अधिकाधिक इकाइयो पर यह वितरित होती चली जाती है। प्रारम्भ मे यह तेजी से गिरेगी। अल्पकालीन अवधि मे यदि स्थिर लागत नही भी वसूल होती तो भी फर्म अपना उत्पादन बन्द नही करता, बशर्ते कि परिवर्तनशील लागत कम से कम वसूल हो जाय तथा भविष्य मे अधिक लाभ होने की आशा हो। इसका कारण यह है कि यदि फर्म उत्पादन बन्द कर देता है तो उसके उपकरण बेकार पडे रहेगे और पूरी स्थिर लागत का घाटा होगा। फिर ग्राहक छूट कर अन्यत्र चले जायेंगे और उन्हे फिर वापस बुलाना सरल न होगा।

औसत परिवर्तनशील लागत—कुल परिवर्तनशील लागत को कुल उत्पादन मात्रा से भाग देने पर हमे औसत परिवर्तनशील लागत प्राप्त होती है। चित्र न० १ मे मू म उत्पादन-मात्रा की औसत परिवर्तन लागत बराबर है $\frac{\text{कुल परिवर्तनशील लागत}}{\text{कुल उत्पादन-मात्रा}} = \frac{\text{उ म}}{\text{मू म}}$ अर्थात् मू उ रेखा का ढाल। यदि प्रत्येक उत्पादन राशि के लिये औसत परिवर्तनशील लागत हम निकालें तथा नतीजे को ग्राफ मे आलेखित करें तो हमे औसत परिवर्तनशील लागत वक्र मिल जायगा। जैसा हम पहले कह चुके है इसका वक्र अग्रेजी अक्षर **U** की भाति होगा।

मौजूदा शताब्दी के तीसरे दशक में अर्थशास्त्रियों के बीच यह सामान्य विश्वास था कि अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र तथा औसत परिवर्तनशील लागत वक्र अंग्रेजी अक्षर U के आकार के होते हैं। यह सही है कि स्थूल रूप से यह बात प्राय पाई जा सकती है। अल्पकालीन अवधि में उत्पादन उपकरण दिये हुए होते हैं, U अक्षर का बाया भाग बनता है गिरती हुई औसत परिवर्तनशील लागत से। जब तक दिये हुए उत्पादन उपकरणों से उत्पादन उनकी क्षमता से कम होगा तब तक परिवर्तनशील की वृद्धि से उत्पादन मात्रा में अनुपात से अधिक वृद्धि होगी अथवा हम यह कह सकते हैं कि दिये हुए उत्पादन-उपकरण में कुछ समय तक (जब तक कि उत्पादन
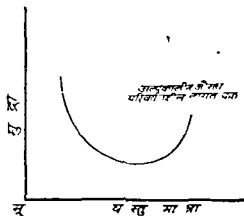
इन उपकरणों की क्षमता से कम हो रहा है) क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम लागू होगा, इसलिये यह उत्तरोत्तर घटती हुई औसत परिवर्तनशील लागत U का बाया भाग बनाती है।

एक बार उपकरणों की क्षमता भर उत्पादन के पहुँच जाने पर, फिर जब अधिक परिवर्तनशील लागतों के उपयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि करने की चेष्टा की जाती है तो औसत परिवर्तनशील लागत की प्राय तीन दशा हो सकती हैं —
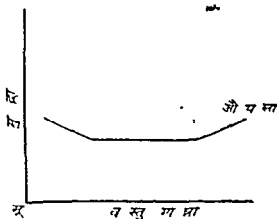
(क) कुछ समय तक निम्नतम स्तर पर स्थिर रह कर फिर ऊपर उठे, यह साधारण U अक्षर का निर्माण करेगी।

(ख) उत्पादन वृद्धि के होने के बावजूद भी यह निम्नतम स्तर पर पहुच पर्याप्त वृद्धि होने तक स्थिर रहे। ऐसी दशा मे इसका पेंदा प्राय विस्तृत क्षैतिज रेखा के समान हो जायेगा। वास्तविक केसो के अध्ययन से पता चला है कि इस प्रकार की चपटी (Flat) वक्रो का आज के उद्योग धन्धो मे बाहुल्य है। एक बार उपकरणो की क्षमता भर जब कुशल उत्पादन होने लगता है तो अधिक उत्पादन के लिये परिवर्तनशील लागतें (औसतन) स्थिर प्राय हो जाती हैं। इसका आकार हम निम्न भाँति दिखा सकते हैं।

(ग) तीसरी सूरत यह हो सकती है कि क्रमगत उत्पादन वृद्धि अथवा ह्रास की दर अति तीव्र है जिससे कि औसत परिवर्तनशील लागत तेजी के साथ पहले गिरती है किन्तु निम्नतम विन्दु पर पहुच कर तुरन्त वही तेजी के साथ ऊपर उठने लगती है। इस तेजी से गिरने और उठने के कारण इस प्रकार का जो वक्र बनता है वह अंग्रेजी अक्षर वी० (V) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसका चित्र बराबर मे दिया है अल्पकालीन अवधि मे उत्पादन की वस्तु की कीमत यदि इतनी भी हुई कि उसकी परिवर्तनशील लागत वसूल हो जा रही है तो स्थिर लागत के बराबर हानि होने पर भी वह उत्पादन करता रहेगा यद्यपि दीर्घकाल म ऐसा सम्भव नही है।
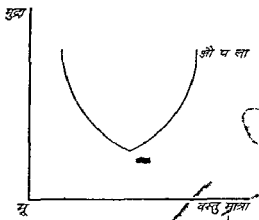
औसत (कुल) लागत—ऊपर हम देख चुके हैं कि कुल लागत को कुल उत्पादन-मात्रा से विभाजित करने से हमे औसत लागत प्राप्त हो जाती है, अथवा औसत परिवर्तनशील लागत तथा औसत स्थिर लागत का योग हम औसत लागत दे सकता है। ऊपर की तालिका मे हम स्पष्ट देख चुके हैं कि कुछ समय तक तो औसत लागत गिरती रहती है फिर निम्नतम बिन्दु पर पहुँच थोडी स्थिरता के बाद बढने लगती है। यह हम जानते हैं कि औसत लागत की एक तत्व औसत स्थिर लागत तो बराबर गिरती ही जाती है, फिर यह औसत लागत कुछ समय के बाद बढने कैसे लगती है? कारण यह है कि पहले जब तक उत्पादन मे क्रमगत वृद्धि का नियम लागू होता है तब तक तो औसत परिवर्तनशील लागत तथा औसत

स्थिर लागत, दोनों गिरती हैं। जब उत्पादन, उपकरणों की क्षमता भर होने लगता है तो या तो उत्पादन स्थिरता नियम लागू होगा या ह्रास नियम। यदि उत्पादन स्थिरता नियम भी लागू हुआ तो भी अन्त में, उत्पादन के एक सीमा पर पहुँच जाने के बाद उत्पादन ह्रास
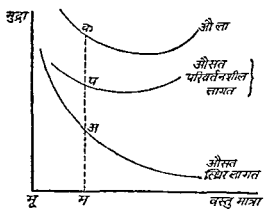
नियम लागू होगा ही। यदि उत्पादन स्थिरता नियम अधिक टिकाऊ हुआ तो इस वक्र का आकार भी चित्र न० ४ की भाँति होगा, वर्ना प्रायः इसका आकार भी 'U' की भाँति होगा।

औसत परिवर्तनशील लागत वक्र, औसत स्थिर लागत वक्र तथा औसत वक्र को हम एक ही चित्र में दिखा सकते हैं। स्पष्ट है कि औसत वक्र सबसे ऊपर होगा।

ऊपर के चित्र में मू म उत्पादन की औसत लागत म क है, औसत परिवर्तनशील लागत प म है तथा औसत स्थिर लागत म अ है। स्मरण रहे कि म अ=प क।

सीमान्त लागत—

उत्पादन में एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिये आवश्यक कुल लागत में वृद्धि अथवा उत्पादन में एक इकाई की कमी से होने वाली लागत में कमी फर्म की सीमान्त लागत कहलाती है। यदि हम एक ऐसे फर्म के होने की कल्पना कर लें जो उद्योग के बिल्कुल किनारे पर है, जिससे केवल इतना लाभ मिल रहा है कि वह उद्योग के अन्दर टिका हुआ है तथा उसके लाभ में जरा भी कमी उसे उद्योग से बाहर जाने पर विवश कर देगी—तो ऐसे सीमान्त फर्म की औसत लागत ही उस उद्योग की सीमान्त लागत कहलायेगी। हम पहले कह चुके हैं कि अल्पकालीन अवधि में स्थिर लागत दी हुई होती है, केवल परिवर्तनशील लागतों में ही हेर फेर होता है। अर्थात् अल्पकालीन अवधि में कुल लागत में वृद्धि या ह्रास परिवर्तनशील लागत में वृद्धि या ह्रास के कारण होती है। इस प्रकार सीमान्त लागत को एक अन्य प्रकार हम परिभाषित कर सकते हैं :—उत्पादन मात्रा में एक इकाई के परिवर्तन के फलस्वरूप परिवर्तनशील लागतों में आने वाला परिवर्तन सीमान्त लागत कहलाता है। इस प्रकार अल्पकालीन अवधि में सीमान्त लागत का स्थिर लागत से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि सीमान्त लागत का औसत

लागत (चाहे वह परिवर्तनशील हो अथवा स्थिर) मे परिवर्तनो से सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध 'कुल' लागत से होना है।

अन्यत्र हमने औसत तथा सीमान्त वक्रो के सम्बन्धों को बताते हुये कहा है कि जब औसत वक्र ऊपर उठता होगा तो सम्बन्धित सीमान्त वक्र सर्वदा उस औसत वक्र के ऊपर होगा तथा वह भी ऊपर उठता होगा, जब औसत वक्र नीचे गिरता होगा तो सम्बन्धित सीमान्त वक्र सर्वदा उसके नीचे होगा तथा नीचे गिरता होगा, तथा जब औसत वक्र स्थिर होगा तब सीमान्त वक्र सर्वदा इसी के बराबर अर्थात् इसके समरूप होगा*।

जब तक सीमान्त वक्र औसत परिवर्तनशील वक्र से नीचे रहता है तब तक औसत परिवर्तनशील लागत मे ह्रास होता जायगा। सीमान्त लागत वक्र, औसत परिवर्तनशील लागत वक्र को इसके निम्न बिन्दु पर अथवा निम्नतम लागत की इकाई तथा इसके तुरन्त पश्चात वाली ऊंची लागत की इकाई के बीच मे काटेगा। औसत कुल लागत वक्र से भी सीमान्त लागत वक्र का यही सम्बन्ध है।

सीमान्त प्रत्यय का महत्व—'सीमान्त' का आर्थिक विश्लेषण म अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। दो वस्तुओ मे विनिमय सीमान्त पर होना हुआ कहा जा सकता है। माग तथा पूर्ति मे परिवर्तनो का उत्तर दायित्व 'सीमान्त' परिवर्तन पर है। विनिमय मे ही नही वितरण मे भी समाधनो की कीमत का निर्धारण तथा उनक

---

* औसत तथा सीमान्त लागत के इस सम्बन्ध का हम निम्न प्रकार भी व्यक्त कर करते हैं—

मान लिया कि 'क' इकाइयो के उत्पादन के लिये औसत लागत 'ल' है तथा (क+१) इकाइयो के लिए $ल_१$ है।

∴ सीमान्त लागत $= ल_१ (ल+१) - ल क$

$= ल_१क + ल_१ - ल क$

$= क (ल_१ - ल) + ल_१ \ldots \quad (१)$

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि औसत लागत स्थिर है (जिसका अर्थ होगा $ल_१ = ल$ तथा $क (ल_१ - ल)$ का अर्थ होगा $क \times ० = ०$) तो

सीमान्त लागत $= ल_१ =$ औसत लागत

यदि औसत लागत गिर रही है तो '$ल_१$', 'ल' से छोटा होगा और $(ल_१ - ल)$ होगा ऋणात्मक, ऐसी हालत मे $क (ल_१ - ल)$ ऋणात्मक होगा। इसलिये सीमान्त लागत $= ल_१$ ऋण कुछ

अर्थात् सीमान्त लागत औसत लागत म कम होगी।

यदि औसत लागत बढ़ रही है तो $ल_१$, ल मे बडा होगा तथा सीमान्त लागत बडी होगी औसत लागत $ल_१$ से।
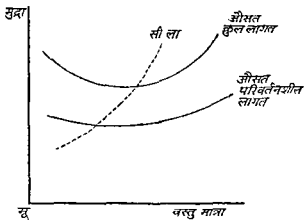
एव उद्योग या फर्म मे जाना 'सीमान्त' द्वारा सम्पादित होता है। उपभोग मे भी सीमान्त उपयोगिता के रूप मे इसका महत्व अधिक है।

उत्पादन-मात्रा के निर्धारण मे सीमान्त (सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत) का महत्व बहुत अधिक है। उत्पादन मे, सस्थिति के प्रत्यय मे सर्वत्र सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय के साम्य का विधान किया जाता है। जहाँ सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर हो जाती हैं वही सस्थिति उत्पादन तथा उसी की सगति कीमत से सस्थिति कीमत कहलाती है। यहा यह स्मरण रहे कि कीमत माँग तथा पूर्ति की शक्तियो द्वारा निर्धारित होती है, 'सीमान्त' केवल इसकी ओर इशारा भर करती है। 'सीमान्त' कीमत पर नियन्त्रण नही करती। सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय पूर्ति पक्ष को नियन्त्रित करते हैं। सीमान्त आय कीमत से नियन्त्रित होती है, क्योकि कीमत के स्तर पर ही सीमान्त आय मे घट-बढ़ होने का दारोमदार होता है, और कीमत निर्धारित होती हैं माग तथा पूर्ति के कार्यों द्वारा। यही कीमत ही उत्पादक की आय है, इसी के अनुसार वह अपना उत्पादन इस प्रकार समायोजित करता है कि उसे अधिकतम लाभ हो। वह उत्पादन तब तक करता जायेगा जब तक कि उत्पादन की आखिरी इकाई के कारण होने वाली कुल लागत मे वृद्धि उस आखिरी इकाई के बेचने से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय (सीमान्त आय) के बराबर नही हो जाती। यहा हम मार्शल के साथ यह कह सकते हैं, कि "सीमान्त प्रयोग तथा लागतें मूल्य को नियन्त्रित नही करती, बल्कि मूल्य के सहित (ये सीमान्त प्रयोग तथा लागते) माग तथा पूर्ति के सामान्य सम्बन्धो द्वारा नियन्त्रित होती हैं। सीमान्त प्रयोग मूल्य की ओर इशारा करते हैं, उसको नियन्त्रित नही"*।

---

* Principles : p 592 (मार्शल ने यह बात ससाधनो की कीमत आदि के सदर्भ मे यह कहा है पर अन्यत्र भी यह बात लागू होती है।)

पूर्ति वक्र–

यदि यह उपधारणा करली जाय कि वस्तु-उत्पादन या विक्रय में फर्म का उद्देश्य अपनी वास्तविक आय को अधिकतम करना है तो फर्म के पूर्ति वक्र के आकार को हम आसानी से निर्धारित कर सकते हैं। यद्यपि फर्म की पूर्ति कीमत बराबर होती है उसकी सीमांत लागत के, किन्तु सम्पूर्ण सीमान्त-लागत वक्र को हम फर्म का पूर्ति वक्र नहीं कह सकते। सीमान्त-लागत इतनी होनी चाहिये कि वास्तविक आय (Net Revenue) धनात्मक हो।
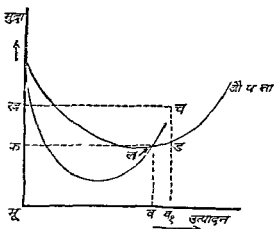
ऊपर के चित्र में—

सी ला = सीमान्त लागत वक्र

औ प ला = औसत परिवर्तनशील लागत वक्र

हम देखते हैं कि ल बिन्दु पर औसत परिवर्तनशील लागत निम्नतम् है। इस बिन्दु पर सीमान्त लागत = औसत परिवर्तनशील लागत के।

लेकिन इस बिन्दु से पूर्व सीमांत लागत, औसत परिवर्तनशील लागत से कम है। कोई उत्पादक वस्तु उत्पादन से यदि उस वस्तु के उत्पादन में लगने वाले परिवर्तनशील समाधनों का व्यय (अर्थात औसत परिवर्तनशील लागत) भी वस्तु को बेच कर निकाल सकेगा तो वह उस वस्तु को उत्पादित करने की हिम्मत कर सकता है, लेकिन यदि उत्पादित वस्तु की कीमत इससे भी कम हुई तो उसे उत्पादन न करने में ही लाभ है।

इस लिये पूर्ति कीमत सदैव औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर या उससे ऊपर होगी, उससे नीचे नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ति कीमत सीमान्त लागत

के बराबर उसी बिन्दु तक रखी जायगी जहा तक सीमात लागत, औसत परिवर्तन-शील लागत के या तो बराबर है या उससे अधिक।

अब हम पृष्ठ ३२६ पर दिये गए चित्र पर विचार करते हैं। यदि फर्म मू व से कम वस्तु मात्रा उत्पादित करता है तो उसकी सीमान्त लागत, औसत परिवर्तनशील लागत से नीचे रहती है, इसलिये यदि वह अपनी पूर्ति कीमत को सीमान्त लागत के बराबर रखता है तो वस्तु उत्पादन से कोई लाभ नही, उसे न उत्पादित करने ही मे भलाई है। मू व के बराबर उत्पादन होने से उत्पादक उदासीन है। इसके पूर्व तो वास्तविक आय ऋणात्मक थी अब वह शून्य हो गई। लेकिन मू व से अधिक मात्रा (जैसे मू $व_1$) के उत्पादन करने पर तथा अपनी पूर्ति कीमत को सीमान्त आय के बराबर रखने से उसे वास्तविक आय धनात्मक रूप मे प्राप्त होती है। मू $व_1$ के उत्पादन से उसे क ख च ड के बराबर वास्तविक आय प्राप्त होगी इसलिये सीमान्त लागत वक्र का वह भाग पूर्ति वक्र है जो औसत परिवर्तनशील लागत वक्र से ऊपर स्थित है। इस प्रकार अपनी वास्तविक आय को फर्म उच्चतम तभी कर सकता है जब उसकी पूर्ति कीमत सीमान्त आय के बराबर हो तथा सीमान्त लागत और औसत परिवर्तनशील लागत—दोनो क्रमगत वृद्धि पा रही हो।

दीर्घकालीन अवधि मे लागतें —

फर्म की लागतें चार बातो द्वारा नियन्त्रित होती है—

(१) इसकी उत्पादन-राशि—

(२) ससाधनो के लिये फर्म द्वारा दी जाने वाली कीमतें।

(३) इसके उत्पादन उपकरणो के आकार (अर्थात वे छोटे हैं अथवा बडे) तथा।

(४) इसके उत्पादन की रीति अर्थात उत्पादन-टैक्नीक।

अल्पकालीन अवधि मे फर्म अपने भूत को परिस्थितियो, अनुबन्धो, करारो तथा सविदाओ द्वारा बधा होता है। भूतकाल मे किसी समय उसने फैक्टरी के लिये एक निश्चित आकार डिजाइन की इमारत बनवाई अथवा खरीदी। आकार की कुछ मशीनें कुछ प्रबन्धको तथा मजदूरो की नियुक्ति की तथा उत्पादन की टैक्नीक निश्चित की। इतना करने के बाद वह कच्चा माल खरीद उत्पादन शुरू करेगा। उसकी उत्पादन-राशि की सीमा उपर्युक्त भूतकाल मे किये गये निर्णयो द्वारा निर्धारित है, उससे आगे अल्पकालीन अवधि में वह नही जा सकता। इन 'स्थिर' साधनो के साथ कुछ अ दाओ के प्रयोग से फर्म वह उत्पादन राशि चुनेगा जो उसे अधिकतम लाभ अथवा न्यूनतम हानि दे सके। यदि कीमत बढती है तो फर्म अपना उत्पादन उतना ही बढा सकता है जितनी उसके उत्पादन यन्त्रो तथा उपकरणों की क्षमता है, उससे अधिक नही। इस प्रकार अल्पकालीन अवधि मे उपर्युक्त चार बातो में से केवल उत्पादन-राशि पर उसका सीमित नियन्त्रण होता है, अन्य बातों पर नही।

लेकिन दीर्घकालीन अवधि मे उत्पादन के सभी साधन तथा टैक्नीक परिवर्तन शील होते हैं। फर्म के समक्ष उत्पादन की विविध सम्भावनायें उपस्थित होती हैं। वह अपनी मशीनो का आकार बदल सकता है। उत्पादन के अन्य उपकरणो की क्षमता घटाई बढाई जा सकती है। प्रबन्धको तथा मजदूरो की बर्खास्तगी तथा नियुक्ति की जा सकती है। उत्पादन टैक्नीक मे यथा इच्छा हेर-फेर लाया जा सकता है।

दीर्घकालीन अवधि के सम्बन्ध मे निर्णय करने का अर्थ यह होता है कि फर्म आने वाली अल्पकालीन अवधियो के लिये अपने उत्पादन का ढाचा निश्चित कर रहा है। एक बार इस ढाचे के निश्चित हो जाने के पश्चात फर्म के उत्पादन की सीमा कुछ समय के लिए निर्धारित हो जाती है। यह चुनाव करते समय फर्म को निर्णय करना पडेगा कि जिस वस्तु को वह उत्पादित करना चाहता है उसके उत्पादन की कितनी रीतिया है। इन रीतियो मे फर्म अपनी नीति के अनुसार वह रीति चुनेगा जो अभीष्ट उत्पादन को (फर्म के दृष्टिकोण से) इष्टतम तथा कुशल रूप से करने के लिये सबसे उपयुक्त होगा। प्रत्येक उत्पादन-विधि, पैमाने तथा यन्त्र-उपकरण के आकार और परिवर्तनशील लागतो के सदर्भ मे एक औसत लागत वक्र होता है। उत्पादन की भिन्न-भिन्न कोटि के लिये इस प्रकार भिन्न-भिन्न औसत लागत वक्र होते हैं। इसको हम निम्नाकित चित्र की सहायता से देख सकते हैं—
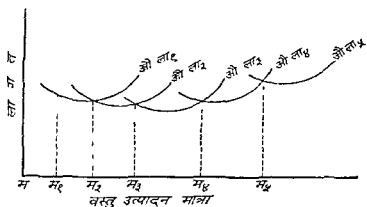
ऊपर के चित्र मे पाच औसत कुल लागत वक्र दिखाये गये हैं। ये पाच भिन्न-भिन्न आकार अथवा पैमाने वाले उत्पादन-उपकरणो से अलग-अलग सम्बन्धित हैं। इस प्रकार ओ ला१ वक्र यह बताता है कि यदि उपकरण न० १ प्रयुक्त किया जायगा तो उत्पादन की औसत लागत भिन्न-भिन्न राशियो के लिये क्या होगी। ओ ला२ वह औसत लागत वक्र है जो उपकरण न० २ के प्रयोग का परिणाम है।

इसको हम चित्र द्वारा निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं —(यहा हम केवल चार ही अल्पकालीन औ ला वक्र ले रहे हैं) :—
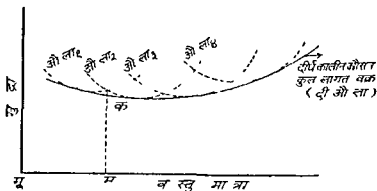
दी औ ला वक्र के आकार के सम्बन्ध मे वादविवाद है। साधारणत. इसे एक ऐसा वक्र (Continuous Curve) समझा जाता है जो पहले गिरता है, निम्नतम स्तर पर पहुच यहा कुछ स्थिर हो जाता है और फिर ऊपर उठने लगता है।

लेकिन क्या इस वक्र को अनवरत माना जा सकता है ? कुछ अर्थशास्त्रियो के मतानुसार, यह वक्र-विरत (Discontinuous) है तथा कभी अनवरत हो ही नही सकता।* इस बात की पुष्टि हम निम्न दिये गये चित्रानुसार कर सकते है —

मान लिया कि ऊपर दिये गये चित्र मे फर्म मू म उत्पादन करना चाहता है। इस उत्पादन मात्रा पर दीर्घकालीन औसत लागत म क होनी चाहिये। लेकिन वास्तव मे ऐसा सम्भव नही। वास्तविक औसत लागत म क द्वारा तभी व्यक्त हो सकती है, जब क ऐसे बिन्दु पर स्थित हो जो दीर्घकालीन वक्र तथा किसी अल्पकालीन वक्र मे उभयनिष्ट हो। अत दी औला वक्र ऐसे एक उभयनिष्ट बिन्दु से दूसरे पर उछलता हुआ होगा। इस आपत्ति को
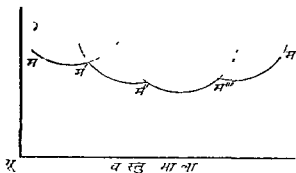
*See Prof J K Mehta Advanced Economic Theory 3rd. Edition, Pp 167-173.

दृष्टिगत रख हम दी श्रोला को पृष्ठ ३३० पर दिये गये चित्र मे अल्पकालीन श्रोला वक्रो के निम्न भागो (जो एक दूसरे से मिलते हुये हैं) के रूप मे दिखा सकते हैं।

पृष्ठ ३३० पर दिय गय अन्तिम चित्र म म म म म'' म दी श्रोला वक्र है। इनके सगति सीमान्त लागत-वक्र भिन्न-भिन्न होगे।

हमे यह स्मरण रखना चाहिय कि सीमान्त लागत दीर्घकालीन अवधि मे कीमत निर्धारण के लिये उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती जितनी कि वह अल्पकालीन अवधि मे होती है। दीर्घकालीन अवधि मे तो सब कुछ परिवर्तनशील होता है। विक्रेता के लिय सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह होती है कि कीमत कम से कम उसकी औसत कुल लागत के बराबर हो। अल्पकालीन अवधि मे तो यदि परिवर्तनशील लागत भी कीमत से वसूल हो गई तथा यह आशा हुई कि भविष्य उज्जवल है तो उत्पादक उत्पादन करता रहेगा। कोई विक्रेता (उत्पादक) अल्पकालीन अवधि म तो ऐसा कर सकता है, किन्तु दीर्घकालीन अवधि में ऐसा सम्भव नहीं। दीर्घकालीन अवधि म उत्पादक की कीमत औसत कुल लागत से कम होने पर वह इस उद्योग को छोड़ अन्यत्र कही लाभ वाले उद्योग मे चला जायगा। यदि कीमत औसत कुल लागत से कम न होकर अधिक हुई तो लाभ अधिक होगा तथा न केवल नये फर्मों के ही उद्योग मे प्रवेश करने की सम्भावना है, अपितु पुराने फर्मों के विस्तार करने की भी पूर्ण सम्भावना होगी।

दीर्घकालीन अवधि मे पूर्ति वक्र—

पूर्ति वक्र पूर्ण प्रतियोगिता की हालत म ही महत्व रखता है। भिन्न भिन्न विक्रयाधिकारिक अवस्थाओ म सही अर्थ मे कोई पूर्ति वक्र नहीं होता, क्योकि विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियो म विक्रेता द्वारा ली जाने वाली कीमत तथा पूर्ति वस्तु-मात्रा मे कोई सीधा सम्बन्ध नही होता। विक्रयेकाधिकारी कीमतों के चढाव उतार द्वारा नियन्त्रित नहीं होता, वह स्वय कीमत निर्धारक होता है। वह अपनी वस्तु की कीमत स्वय निर्धारित करता है, क्योकि उसे इस बात का डर नहीं होता कि उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी उसके ग्राहकों को छीन लेगा। बाजार मे सही अर्थ म उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही होता। जो अन्य विक्रेता होते भी हैं वे 'भिन्न' वस्तुओ के विक्रेता होते हैं, जो वस्तुए एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न नहीं बन सकती। जहा कीमत का निर्धारण माग-पूर्ति की स्वाभाविक क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा न होकर विक्रेता की इच्छा का (कमोबेश) परिणाम होता है वहा पूर्ति-वक्र का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिये जब हम पूर्ति-वक्र की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय पूर्ण प्रतियोगिता के उद्योग से होता है। पूर्ण प्रतियोगिता ही मे परम्परागत यह नियम लागू होता है कि कीमत जैसे जैसे

बढती है, पूर्ति भी बढती जाती है तथा कीमत मे ह्रास पूर्ति मे भी ह्रास लाता है।' इसलिये दीर्घकालीन लागतो तथा उत्पादन मात्राओ मे जब हम सम्बन्ध होने की बात करते हैं तो हम मुख्यत. निम्नलिखित उपधारणाओ के आधार पर ऐसा करते हैं—

१ पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है,

२. स्थैतिक (Static) स्थित है अर्थात मशीन की क्षमता को छोडकर अन्य सभी साधन तथा उत्पादन पर स्थिर रहते हैं, उत्पादन टेक्नीक पूर्ववत् रहती है आदि।

इसके बाद हम उद्योगो पर विचार करेंगे। 'उद्योग' शब्द का प्रयोग भी पूर्ण प्रतियोगिता ही की हालत मे उपयुक्त है। पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे ही उद्योग मे तमाम फर्म समावयव वस्तु का उत्पादन करते हैं। विक्रयेकाधिकार, विक्रयद्वयाधिकार विक्रयाल्पाधिकार तथा विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की परिस्थितियो मे 'उद्योग' का प्रयोग अधिक सगत नही होता क्योकि इन परिस्थितियो मे प्रत्येक फर्म स्वय मे एक उद्योग होता है, क्योकि उसकी वस्तु के समान वस्तु और कोई नही बेचता कतिपय अपवादो को छोड कर)।

जब हम उद्योगो की दीर्घकालीन लागतो तथा उत्पादन मे सम्बन्ध की खोज प्रारम्भ करते हैं तो उद्योगो मे हमे बडी विभिन्नताएं दिखाई पडती हैं। कुछ उद्योगों म उत्पादन जैसे-जैसे बढाया जाता है औसत उत्पादन लागत वैसे-वैसे घटती है (ऐसे उद्योगो को 'क्रमगत उत्पादन-वृद्धि' अथवा 'क्रमगत लागत-ह्रास' नियम के अन्तर्गत कार्य करते हुए कहा जाता है) कुछ अन्य उद्योगो मे उत्पादन वृद्धि से औसत-लागत मे भी वृद्धि होती जाती है (ऐसे उद्योगो को 'क्रमगत उत्पादन-ह्रास' अथवा 'क्रमगत लागत-वृद्धि नियम के अन्तर्गत कार्य करते हुये कहा जाता है) तथा कुछ उद्योग ऐसे होते है जिनकी औसत लागत पर उत्पादन मे ह्रास या वृद्धि का कोई प्रभाव नही पडता (ऐसे उद्योग स्थिर लागत वाले उद्योग कहलाते है)।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे यदि फर्म को भिन्न-भिन्न अल्पकालीन अवधियोंके औसत लागत वक्रो के निम्नतम बिन्दुओ को मिलाया जाय तो हमे उस फर्म का दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र प्राप्त हो जायगा।

इस प्रकार प्राप्त उद्योग के सब फर्मों के पूर्ति वक्रो का योग ही उद्योग का दीर्घकालीन वक्र होगा। हम इन वक्रो को भिन्न भिन्न स्थितियो मे चित्रो द्वारा प्रकट करते हैं—

बढती हुई लागत वाले उद्योग मे फर्म तथा उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र

(क) (ख)

कीमत तथा लागत

दी पू

औ ला४ औ ला३ औ ला२ औ ला१

की ४ की ३ की २ की १

मू म१ म२ म३ ४ वस्तु मात्रा

फर्म का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (दीपू)

की म त

दी पू

व स्तु मा त्रा

उद्योग

घटती हुई लागत वाले उद्योग मे फर्म तथा उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र

कीमत तथा लागत

औ ला१ औ ला२ औ ला३ औ ला४

की १ की २ की ३ की ४

दी पू

म१ म२ म म३ म४ वस्तु मात्रा

(ग) फर्म

की म त

दी पू

व स्तु मा त्रा

(घ) उद्योग
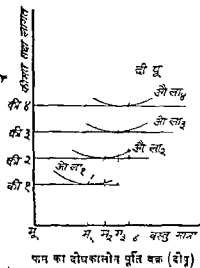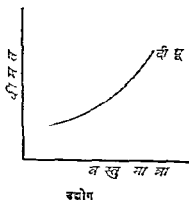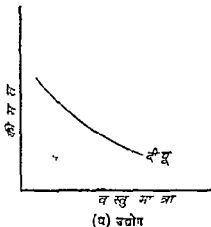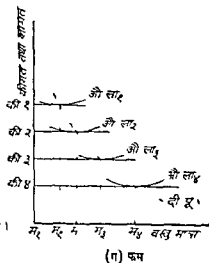
स्थिर लागत उद्योग मे फर्म तथा उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र

(ङ) फर्म

(च) उद्योग

पिछले पृष्ठ पर दिए चित्रो में औ ला वक्र फर्म के अल्पकालीन औसत लागत वक्र हैं तथा दीपू दीर्घकालीन पूर्तिउद्योग की भिन-भिन्न लागत अवस्थाओ के अन्तर्गत काम करने वक्र। वाले फर्मो के पूर्ति वक्र तथा सगति उद्योग वक्र ऊपर दिखाये गये हैं। चित्र क मे फर्म की औसत लागत, उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ बढ रही है इसलिये पूर्ति वक्र ऊपर उठता हुआ वक्र है। (ग) मे औसत लागत ह्रासोन्मुख है अत पूर्ति वक्र भी नीचे की ओर ढालू होकर गिर रहा है। (ङ) मे औसत लागत स्थिर है अत पूर्ति वक्र भी स्थिर है। एक बात यह याद रहे कि गिरती हुई लागत तथा पूर्ति प्रतियोगिता की अवस्था मे सस्थिति परस्पर विरोधी हैं। लागत की यह अवस्था अधिकतर विक्रयेकाधिकारिक अवस्थाओ ही मे पाई जाती है। हमे यही यह बता देना आवश्यक है कि वास्तविक आर्थिक जगत प्रवैगिक (Dynamic) है तथा जिन चीजो के 'पूर्ववत्' रहने की कल्पना हम करते हैं वे वास्तव मे निरन्तर बदलती रहती हैं। फिर भी विश्लेषण की सुविधा के लिये हमे ये काल्पनिक धारणाए करनी ही पडती हैं।

अब आगे हम सक्षेप में सीमान्त तथा औसत वक्रो के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करके यह अध्याय समाप्त करेंगे। सीमान्त तथा औसत का यह सम्बन्ध लागत, उत्पादनीयता तथा आय सभी दशाओ पर समान रूप से लागू होता है।

प्रत्याय के नियम (Laws of Return)—

इस सम्बन्ध मे हमारे सामने दो मसले हैं—एक तो यह कि किसी खास वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक ससाधनो के पारस्परिक सयोग के अनुपात। इस मसले को उत्पादन मे क्रमगत ह्रास के नियम से पुकारा जाता है, लेकिन अच्छा हो कि हम इसे 'अननुपातिक प्रत्याय का नियम' (Law of non proportional Returns) कहे। सक्षिप्त मे यह नियम इस प्रकार है। किसी वस्तु के उत्पादन के लिये कई ससाधनो के सयोग की आवश्यकता होती है। यदि एक को छोड शेष सब ससाधनों की मात्राओ को स्थिर मान लिया जाय, तथा हम एक ससाधन की मात्रा मे वृद्धि की

जाय तो उत्पादन मात्रा में भी वृद्धि होगी। लेकिन एक अवस्था ऐसी आयगी उससे आगे जैसे-जैसे हम मसाधन की इकाइयो की संख्या बढाते जायेंगे वैसे-वैसे (प्रत्येक नई इकाई के बढने पर) उत्पादन में होने वाली वृद्धि का अनुपात कम होता जायगा। या यों कहें कि इस समाधन की प्रत्येक नई इकाई उत्पादन में अपने से पूर्व वाली इकाई से कम वृद्धि ला सकेगी। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि इस ससाधन की सीमान्त तथा औसत उत्पादनीयता घटने लगती है। दूसरा प्रश्न इससे भिन्न है, उत्पादन के पैमाने तथा प्रति इकाई पर लागत के बीच क्या सम्बन्ध है? यह प्रवैगिक नियम के अन्तर्गत आता है। अनानुपातिक प्रत्याय का नियम' स्थैतिक है।

इस पैमाने के अनुसार प्रत्याय के नियम को हम तीन भागो मे विभाजित करेंगे।

(१) स्थिर लागत।
(२) ह्रासोन्मुख लागत।
(३) वृद्धोन्मुख लागत।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज अर्थशास्त्री उपर्युक्त तीनो नियमो का अर्थ निम्न लिखित चित्र के अनुसार लगाते थे —
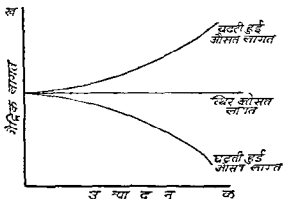
प्रत्याय के नियम जैसा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इन्हें देखा था

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इन्ही औसत वक्रो को दीर्घकालीन में पूर्ति वक्र समझा। लेकिन इन वक्रो मे पूर्ति वक्र के सारे गुण विद्यमान नही हैं। पूर्ति वक्र उत्क्रमणीय (reversible) होता है, पूर्ति-मात्रा को परिवर्तित करने से सम्बन्धित कीमत मे भी परिवर्तन लाया जा सकता है। यदि पूर्ति को हम कम कर दें तो कीमत बढ जायगी तथा उसी प्रकार कीमत परिवर्तन से पूर्ति मात्रा मे परिवर्तन आ जायगा। पूर्ति वक्र प्रत्येक बिन्दु पर यह बात प्रकट करता है। लेकिन इन औसत वक्रो के सम्बन्ध मे हम ऐसा नहीं कह सकते। केवल उत्पादन मात्रा मे वृद्धि मात्र के परिणाम-स्वरूप ही औसत लागत मे परिवर्तन होना कोई आवश्यक नही। और इसका विलोम तो और भी संदिग्ध है। औसत लागत मे कमी ही उत्पादन वृद्धि की प्रेरक नहीं।

उत्पादन मे वृद्धि के कारण बहुत से हो सकते है, जैसे, उत्पादन टेकनीक मे प्रगति, नये अन्वेषण तथा ज्ञान, नई सस्थायें आदि वातें स्वतन्त्र रूप से उत्पादन मे वृद्धि ला सकती हैं और इस प्रकार औसत लागत मे कमी आ जायगी। लेकिन यह कहना गलत होगा कि औसत लागत मे कमी के कारण उत्पादन वृद्धि है। यदि उत्पादन मात्रा कम भी कर दी जाय तो उपर्युक्त कारणो से आई हुई लागत म मितव्ययता लुप्त नही हो जायगी। अर्थात् उत्पादन मे ह्रास आने पर यह आवश्यक नहीं कि औसत लागत मे वृद्धि हो जाय (जैसा कि प्राय पूर्ति मे कमी होने से कीमत बढ जाती है)। तथैव यदि उत्पादन के लिये आवश्यक प्रकृति-प्रदत्त ससाधन समाप्त अथवा अत्यन्त ही न्यून मात्रा मे प्राप्त होने लगे तो उत्पादन मे वृद्धि करने से औसत लागत अवश्य ही बढेगी। किन्तु यदि हम उत्पादन को कम भी करदे तो औसत लागत अपने पूर्व स्तर पर नही लौट सकगी। इसलिये इन औसत वक्रो को हम दीर्घ कालीन पूर्ति वक्र नही मान सकते। पूर्ति वक्र कीमत वस्तु मात्रा के सम्बन्ध मे एक निरन्तरता का सृजन करता है, उपर्युक्त औसत लागत वक्र यह शर्त पूरी नही कर सकते।
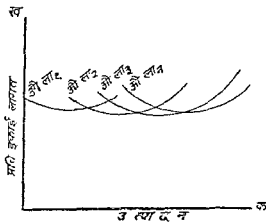
(चित्र क) स्थिर लागत
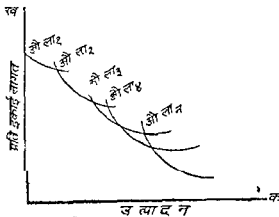
(चित्र ख) ह्रासोन्मुख लागत

इस विश्लेषण मे एक विशेष त्रुटि यह भी है कि समय को यह अपनी प्रक्रिया के अन्तर्गत शामिल नहीं करता, जैसे समय का कोई महत्व ही न हो। अवधि की न्यूनता दीर्घता भी लागत के लिये

अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। उत्पादन में परिवर्तन किसी अवधि विशेष में, हो सकता है कि लागत में वृद्धि ला दे, लेकिन यह सम्भव है कि यदि उस अवधि से लम्बी कोई अवधि ली जाय तो यह उत्पादन परिवर्तन वृद्धि के बदले लागत में ह्रास लेआये। मार्शल ने इस कठिनाई से छुटकारा पाने के लिये यह
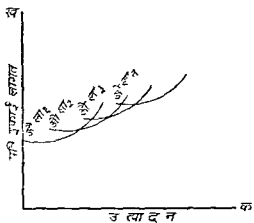
(चित्र ग) वृद्धोन्मुख लागत

उपधारणा कर ली कि हम ऐसी अवधि को सामने रखकर इस प्रश्न पर विचार करते हैं जो पर्याप्त रूप से लम्बी है जिससे कि उत्पादन का सस्ते से सस्ता तरीका अपनाया जा सके, अर्थात यह इतनी लम्बी होगी कि आवश्यकता अनुसार उत्पादन परिवर्तन के फलस्वरूप, नयी संस्थायें स्थापित की जा सकती हैं तथा पुरानी बन्द की जा सकती हैं। लेकिन यह उपधारणा भ्रामक तथा अनिश्चय से पूर्ण है, व्यवहार में इसका उपयोग नहीं के बराबर है। मांग की वृद्धि-दर पर ही पूर्ति की वृद्धि दर निर्भर करती है। पूर्ति परिवर्तन-दर के आधार पर माग-परिवर्तन-दर समायोजित करके जो कीमत हम निर्धारित करेंगे वह बेकार होगी। ऐसा करने का प्रयत्न अंग्रेजी की इस वक्रोक्ति को चरितार्थ करेगी कि दुम कुत्ते को हिलाती है। (The tail wags the dog) वास्तविकता यह है कि लागत सम्बन्धी स्थितियों को हम किसी एक वक्र द्वारा प्रदर्शित ही नहीं कर सकते। लागत तथा उत्पादन पैमाने का सम्बन्ध विरतता (Discontinuity) पर आधारित है।

पीछे दिये हुये तीन चित्रों में लागत तथा उत्पादन के सम्बन्ध को औसत लागत की वक्र शृंखलाओं द्वारा दिखाया गया है—

उपर्युक्त दिये गये चित्रों में लागत तथा उत्पादन मात्रा के सम्बन्ध को यह मान कर दिखाया गया है कि उत्पादन का कोई एक साधन केवल एक निश्चित परिणाम वाले अविभाज्य आकारों में प्राप्त है। इस साधन की इकाइयाँ निश्चित तथा अविभाज्य हैं, जिनको तोड़ कर छोटा कर उपयोग में नहीं लाया जा सकता। (मशीनें ऐसे साधन की सबसे अच्छी उदाहरण हैं)। चित्रों में औसत लागत अंग्रेजी के यू (U) आकार के हैं। इस अविभाज्य इकाइयों वाले साधन की एक इकाई का प्रयोग जो फर्म (उत्पादक) करता है, उसकी औसत उत्पादन लागत को हमने

औ ला, वक्र द्वारा दिखाया है। अब हम मान लें कि एक दूसरा फर्म है जो उपर्युक्त साधन की दो इकाइयो का उपयोग करता है। पहले फर्म से इस दूसरे फर्म के उत्पादन के पैमाने मे जो वृद्धि हुई, इसके औ ला$_1$ की स्थिति मे परिवर्तन आता है तथा हम दूसरा वक्र औ ला$_2$ पाते हैं। इसी प्रकार उत्पादन का पैमाना (उपर्युक्त अविभाज्य साधन-इकाइयो की भिन्न सख्या के प्रयोग द्वारा) ज्यो-ज्यो बढेगा हमे औ ला$_3$ ·········औ ला न आदि वक्र प्राप्त होगे। अब यदि इन वक्रो मे से प्रत्येक के निम्नतम बिन्दु समान ऊंचाई पर स्थित हैं अर्थात् प्रत्येक हालत मे निम्नतम औसत लागत परस्पर समान है तो स्थिर-लागत की दशा मे उत्पादन-वृद्धि हो रही है (चित्र क)। यदि इन वक्रो के निम्नतम बिन्दु समान ऊंचाई पर एक क्षैनिज सरल रेखा पर स्थित न होकर नीचे की ओर जा रहे हैं, अर्थात् उत्पादन के पैमाने मे वृद्धि होने से प्रत्येक पग पर निम्नतम औसत लागत घटती जा रही है तो उत्पादन मे वृद्धि ह्रासोन्मुख लागत की अवस्था मे हो रहा है (चित्र ख)। यदि इन वक्रो के निम्नतम बिन्दु ऊपर की ओर उठ रहे हैं, अर्थात् उत्पादन के पैमाने मे वृद्धि होने से प्रत्येक पग पर निम्नतम औसत लागत अपने से पूर्ववर्ती निम्नतम औसत लागत से अधिक है तो उत्पादन के पैमाने मे वृद्धि वृद्धोन्मुख लागत की दशा के अन्तर्गत हो रही है (चित्र ग)। यह स्पष्ट है कि इस दशा मे समय का तत्व कहीं छिपा हुआ नही है क्योंकि फर्म की विभिन्न अवस्थायें एक समय-बिन्दु पर बनाई गई हैं। यह अवश्य है कि इन उपधारणाओ के कारण यह प्रश्न स्थैतिक ही रह जाता है।

सीमान्त तथा औसत वक्रों का सम्बन्ध—

सीमान्त तथा औसत वक्र मे घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सीमान्त वक्र लागत*, उत्पादन अथवा आय किसी के सम्बन्ध हो सकता है। वही हाल है औसत वक्र का।

यह दिखाया जा सकता है कि —

(१) जब औसत वक्र ऊपर उठ रहा है तो सम्बन्धित सीमान्त वक्र सर्वदा उस औसत वक्र के ऊपर होगा तथा वह भी ऊपर उठता होगा। चित्र (क)

(२) जब औसत वक्र नीचे गिर रहा है तो सम्बन्धित सीमान्त वक्र सर्वदा उसके नीचे होगा तथा नीचे गिरता होगा। चित्र (ख)

(३) जब औसत वक्र स्थिर होगा तो सम्बन्धित सीमान्त वक्र सर्वदा इसी के बराबर होगा अर्थात् दानो एक ही वक्र होगे। चित्र (ग)

---

* सीमान्त लागत पर आगे विचार किया जायगा। वक्रो का यह सम्बन्ध तथा विश्लेषण, आय लागत, तथा उत्पादन सम्बन्धी औसत तथा सीमान्त वक्रो पर समान रूप से लागू।

(ग)
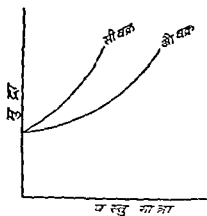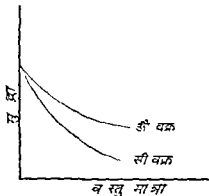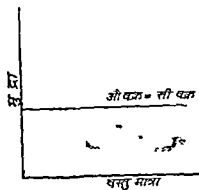
यदि औसत तथा सीमान्त वक्रों को सरल रेखा के रूप में दिखाया जाय तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि औसत वक्र के किसी बिन्दु से यदि ग्राफ के ऊर्ध्व अक्ष पर लम्ब डाला जाय तो सम्बन्धित सीमान्त वक्र इसका समद्विभाग करेगा।

पृष्ठ ३४० पर दिये गये चित्र में औसत वक्र के किसी बिन्दु र से ऊर्ध्व अक्ष मू स पर र प लम्ब डाला गया है। औसत वक्र का संगति सीमान्त वक्र सीधा, जो लम्ब को स बिन्दु पर काटता है। र से मू क (क्षैतिज) अक्ष पर र म लम्ब डाला गया है, जिसे सीमान्त वक्र ट बिन्दु पर काटता है।

सीमान्त लागतों का कुल जोड हमें किसी वस्तु की कुल लागत देता है। इसी प्रकार उत्पादित वस्तु को यदि हम औसत आय (कीमत) से गुणा कर दें तो हमें कुल लागत ज्ञात हो जायगी।
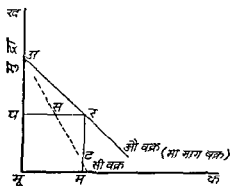
अत:

क्षेत्रफल प र म मू = क्षेत्रफल अ ट म मू = { मू म वस्तु के उत्पादन की कुल लागत

या प स ट म मू + △ स र ट = प स ट म मू + △ अ प स

दोनों ओर से बरावर क्षेत्रफल प स ट म मू को घटा लेने से

△ स र ट का क्षेत्रफल = △ अ प स के क्षेत्रफल के।

△ स र ट तथा △ अ प स मे

∠ अ प स = ∠ स र ट (क्योंकि दोनो समकोण हैं)

∠ अ स प = ∠ ट स र (सम्मुख कोण बरावर होते है)

ये दोनो त्रिभुज समरूप* हो गये

यदि दो समरूप त्रिभुजो के क्षेत्रफल परस्पर बराबर हो तो दोनो त्रिभुज हर हालत मे बराबर होगे।

∴ △ स र ट = △ अ प स

स र = प स

अर्थात् सीमान्त वक्र को दो समान भागो म विभाजित करता है।

यदि सी वक्र मूल बिन्दु के सदर्भ मे नतोदर हो तो स र > प स

यदि सी वक्र मूल बिन्दु के सदर्भ मे उन्नतोदर हो तो सर ∠ पस

---

* समरूप त्रिभुजो की भुजायें परस्पर समानुपाती होती है।

....१२

उपभोग-वस्तुओं का बाजार

गृहस्थ वस्तु-माँग की इकाई है तथा फर्म वस्तु पूर्ति की। किसी गृहस्थ द्वारा किसी वस्तु की माँग एक अनुसूचि है। यह अनुसूचि दो प्रकार की हो सकती है—सैद्धान्तिक तथा अनुभव जन्य। माँग की सैद्धान्तिक अनुसूचि किसी वस्तु की उन भिन्न-भिन्न मात्राओं की अनुसूचि है जिनको, अन्य बातों के पूर्ववत् रहते से भिन्न भिन्न कीमतों पर खरीदने के लिए उपभोक्ता तैयार है। यह अनुसूची यह प्रकट करती कि यदि अन्य बातों में कोई परिवर्तन न हो तो वस्तु की कीमत में परिवर्तित होने की सम्भावनाओं पर उपभोक्ता किस प्रकार अपने क्रय-नियोजन में परिवर्तन करेगा। प्रत्येक गृहस्थ अपनी योजना बना लेता है। वह अपनी सम्भाव्य आय तथा अन्य परिस्थितियों को दृष्टिगत रख कर यह निश्चित करता है कि किसी निश्चित अवधि में वह अपनी आवश्यकता की भिन्न वस्तुओं को किन मात्राओं में तथा अनुपातों में खरीदेगा। मान लिया कि उसे कपड़े की आवश्यकता पर विचार करना है तो वह योजना बनायेगा कि यदि कपड़े की कीमतों में परिवर्तन हुआ तो किस कीमत पर वह कपड़े की कितनी मात्रा खरीदेगा, बशर्ते कि अन्य बातें वैसी ही रहें, अर्थात् उनकी रुचि, अधिमानता, आय-व्यय, अन्य वस्तुओं की कीमतें तथा उसका उद्देश्य (अधिकतम तुष्टि प्राप्त करने का उद्देश्य) वैसे ही बने रहें जैसे बने रहने की आशा उनके सम्बन्ध में करके क्रय-योजना बनाई गई है। सब उपभोक्ताओं की सम्भाव्य माँगों के योग से समस्त आर्थिक व्यवस्था की माँग निर्धारित होती है। माँग की अनुभव-जन्य अनुसूचि कल्पना तथा सम्भावनाओं पर निर्भर न हो, वास्तविकता को प्रकट करती है। यह बताती है कि भिन्न-भिन्न कीमतों पर किसी वस्तु की कितनी मात्राओं की माँग भूत की किसी अवधि में की गई है। अन्य बातों को यहाँ भी समान मान लेते हैं।

उसी प्रकार किसी फर्म की पूर्ति अनुसूचि भी दो प्रकार की होती है (i) एक वास्तविक या अनुभव-जन्य, (ii) सैद्धान्तिक। सैद्धान्तिक अनुसूचि अनुमान के आधार पर बनाई जाती है। उत्पादक यह अनुमान लगाता है कि किसी विशिष्ट वस्तु के उत्पादन में किस हिसाब से उसे लागत पड़ेगी। फिर वह यह निश्चय करता है कि किसी कीमत पर वह वस्तु की कितनी मात्रा उत्पादित करेगा। इसमें भी शर्त है कि अन्य बातें यथानुकूल ही रहें। इस प्रकार भिन्न भिन्न सम्भाव्य कीमतों

होगी। माग अधिक होगी, पूर्ति कम। फल यह होगा कि कीमत बढ़ेगी तथा जब तक क ख के बराबर नहीं हो जाती माग आधिक्य बना ही रहेगा। क ख के तल पर पहुंच वह पुन अस्थिति में आ जायेगी। इसी प्रकार यदि कीमत अस्थिति के ऊपर उठकर क ब स्तर पर पहुंच जाती है तो माग तो घट कर क ल के बराबर हो जायेगी और फर्म क छ के बराबर विक्रय करने का प्रयत्न करेंगे। पूर्ति माग में अधिक होगी। अर्थात् फर्मों के पास ल छ के बराबर माल बिना बिके पड़ा ही रहेगा। इस आधिक्य को समाप्त करने के लिये फर्मों को कीमत कम करनी पड़ेगी, अर्थात् कीमत स्तर लौट कर पुन क ख स्तर पर आ जायेगा।

विकस्टीड का मत (Wicksteed s Case)—

मार्शल ने बाजार को दो बिल्कुल भिन्न भिन्न भागों में बाटकर अपने माग-पूर्ति के विश्लेषण को सम्पादित किया। बाजार म एक श्रेणी के व्यक्तियों को क्रेता—केवल क्रेता—मान लिया तथा दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों को विक्रेता—केवल विक्रेता। लेकिन हम अनुभव के आधार पर जानते हैं कि न कोई केवल क्रेता होता है और न केवल विक्रेता। यह दोनो गुण प्रत्येक व्यक्ति म पाये जाते हैं। विकस्टीड ने इस युगल कार्य पर जोर दिया। उन्होंने पूर्ति पर विचार करते समय उन परिस्थितियों को ध्यान में रखा, जिनके अन्तर्गत विक्रेता अपने स्टॉक के कुछ भाग को स्वयं रख लेना पसद करेगा। किसी खास स्तर से ऊपर कीमत होगी तो पूरा स्टाक विक्रय के लिये प्रस्तुत किया जायेगा, उससे नीचे की कीमतों पर केवल अ श ही विक्रय-बाजार में आयेगा, शेष को विक्रेता अपने पास रखेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त चित्र में ओ ख मौजूदा स्टॉक है। यदि कीमत ओ क से अधिक हुई तो सम्पूर्ण स्टॉक बिक्री के लिये प्रस्तुत किया जायगा। इससे कम कीमत होने से विक्रेता स्टॉक का कुछ भाग अपने उपयोग के लिये रख छोड़ेंगे। विक्रेताओं की अपनी ही वस्तु की इस प्रकार माग को चित्र में क $म_{वि}$ वक्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। प प सामान्य पूर्ति वक्र है जो बिन्दु 'अ' पर पहुँच कर ऊर्ध्वगं हो जाता है, क्योंकि इस बिन्दु से ऊपर समस्त स्टॉक विक्रेता बाजार में बेच देने के

लिये प्रस्तुत करते हैं, और उनकी निजी माग शून्य हो जाती है। वास्तविक पूर्ति, अर्थात् वह वस्तु मात्रा जो विक्रेता स्वयं अपने उपयोग के लिये नहीं रखते, कम वि
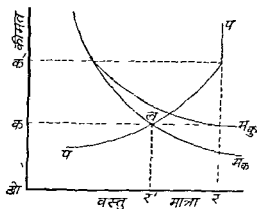
चित्र (१)
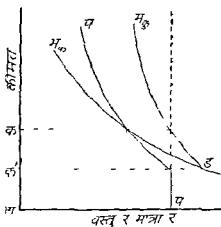
वक्र तथा ऊर्ध्वगं घ प के बीच की क्षैतिज दूरी द्वारा प्रकट होती है।

अब हम विक्स्टीड की कुल-माग विश्लेपरा पर आते हैं।

बराबर मे दिये गये चित्र नं० १ मे विक्स्टीड का कुल-माग विश्लेपरा दिखाया गया है। इसमे $म_{कु}$ कुल माग वक्र है। वक्र $म_{क}$ यह प्रदर्शित करता है कि भिन्न भिन्न कीमतो पर क्रेता वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेंगे। $म_{कु}$ तथा $म_{क}$ वक्रो के बीच की क्षैतिज दूरी उन वस्तु मात्राओ की परिचायक है जो भिन्न-भिन्न कीमतो पर विक्रेता बेचने के बजाय अपने पास रख लेंगे। बिन्दु 'ल' पर $म_{क}$ को पूर्ति वक्र प प* काटता है। इस बिन्दु पर वस्तु की कीमत ओ क होगी। कुल स्टॉक, ओ र, मे से ओ र' तो क्रेता ले लेंगे तथा शेप वस्तु-मात्रा, र' र विक्रेता अपने पास ही रहने देंगे।

चित्र (२)

यहा यह पुन कह देना समीचीन होगा कि विक्स्टीड के विश्लेपरा मे केवल ऐसी ही परिस्थितियो पर ध्यान दिया गया है जिनमे विक्रेता किसी वस्तु को कम कीमतो पर तो अपने पास रखे रहता है तथा ऊँची कीमतो पर सब बेच देता है। इसीलिये ओ क' से ऊँची कीमत होने से पूर्ति वक्र ऊर्ध्वगं हो गया है।

* इसके आधार के सम्बन्ध मे हम ऊपर कह चुके हैं।

लेकिन विकस्टीड के उपर्युक्त विश्लेषण के अलावा एक और दशा का उल्लेख कर देना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब वस्तु की कीमत एक विशेष स्तर से ऊपर होती है तो विक्रेता स्वयं उस वस्तु के स्टॉक का कुछ भाग अपने उपभोग के लिये रख लेता है, लेकिन यदि कीमत उस स्तर से नीची हुई तो वह सम्पूर्ण स्टॉक विक्रय के लिये प्रस्तुत करता है, जैसे—देहातों को हम लेते हैं। किसान गेहूँ पैदा करता है। मान लें कि इस किसान के पास आमदनी का और कोई माध्यम नहीं है। तो गेहूँ बेचकर वह लगान देगा, कपड़ा लेगा तथा अन्य ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। यदि उसे इस प्रकार १०००) की आवश्यकता है तो केवल गेहूँ ही बेचकर वह इतनी रकम इकट्ठा करने का प्रयत्न करेगा। अब मान लें कि उसके यहाँ सब मिला कर ५० मन गेहूँ पैदा होता है और गेहूँ का बाजार भाव २५) प्रति मन है तो ४० मन गेहूँ बेच देने से उसे १०००) मिल जायगा। अब उसके पास बचा १० मन गेहूँ, यदि वह इसे अपने उपभोग में ले आता है तो जल्दी ही १० मन गेहूँ उसके परिवार का भाग बन जायगा और हो सकता है कि फिर फाकेकशी की नौबत आ जाने। इसलिये किसान इसे भी बेच देगा। जो रुपया पायेगा उससे चना आदि सस्ते अनाज ले लेगा। इससे अपेक्षाकृत अधिक समय के निर्वाह का साधन उसे प्राप्त हो जायगा। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि २५) प्रति मन का भाव होने से हमारा यह किसान अपना सब स्टॉक ५० मन बेचने को प्रस्तुत करेगा। लेकिन यदि गेहूँ का भाव ऊपर चढ़ जाय, मान लिया ३५) प्रति मन हो जाय तो लगभग २६ मन गेहूँ बेचने से किसान की अपनी आवश्यकता के १०००) मिल जायेंगे। बाकी बचेगा २१ मन गेहूँ। अब किसान इसमें से कुछ स्वयं अपने परिवार के उपभोग में भी ला सकता है। इसमें से कुछ बेचकर चना आदि सस्ते अनाज ले लेगा और कुछ के उपभोग का सुख स्वयं उठाने की हिम्मत कर सकेगा। भारत के देहातों में इस तरह की बातें अक्सर देखी जा सकती हैं। अन्यत्र हमने ऐसी परिस्थितियों के सदर्भ में प्रतिगामी पूर्ति वक्र का जिक्र भी किया है। पृष्ठ ३४४ पर चित्र न० २ में हमने ऐसी ही हालत को ध्यान में रखा है।

$म_क$ वक्र क्रेताओं की माग को द्योतक है, $म_कु$ वक्र कुल माग वक्र है। $म_क$ तथा $म_कु$ के बीच की क्षैतिज दूरी विक्रेताओं की, अपनी ही वस्तु के लिये, माग को परिचायक है। यह दूरी ट बिन्दु पर अर्थात् ओ क' कीमत स्तर पर शून्य हो जाती है, इसके नीचे, ओ क' से कम कीमत होने से कुल माग तथा विक्रेताओं की स्वय की माग एक हो जाती हैं। भिन्न भिन्न कीमतों पर पूरे स्टॉक, ओ र, तथा विक्रेताओं की स्वय की माग के बीच के अन्तर के आलेखन द्वारा हम पूर्ति वक्र प प पा सकते हैं। यदि कीमत ओ क' से उठकर ओ क हो जायगी तो ओ र' वस्तु-मात्रा क्रेता खरीदेंगे तथा र' र मात्रा विक्रेता स्वय के लिये रखेंगे। इस दशा में साराशतोन्मुख कोई पैमाना नहीं है, दोनों प्रकार के पैमाने

अवरोहणोन्मुख हैं। फिर भी यदि एक की अपेक्षा दूसरा अधिक द्रुत गति से गिरता है तो वे अवश्य एक दूसरे पर अवरोहित होंगे तथा हमे कोई उभयनिष्ट बिन्दु अवश्य मिलेगा।

माग तथा पूर्ति मे परिवर्तनो का कीमत तथा वस्तु विनिमय पर प्रभाव—

हम पहले यह देखेंगे कि केवल माग मे परिवर्तन आने से क्या होगा— पूर्ति पूर्ववत् मानकर। "शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत यह बात सम्भव है "[1]। माग म इस परिवर्तन के प्रभाव को हम निम्न चित्र की सहायता स पाने का प्रयत्न करगे।

(१ अ)
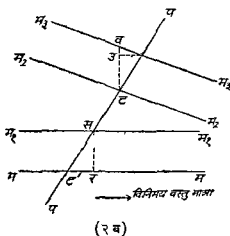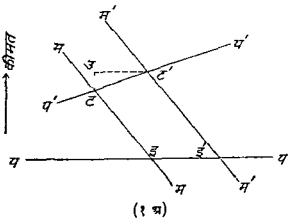
नोट—इन दोनो चित्रो म ग्राफ के अक्ष नही दिखाये गय है लेकिन उर्ध्व अक्ष कीमत तथा क्षैतिज वस्तु मात्रा प्रकट करता हुआ माना गया है।

(२ ब)

माग तथा पूर्ति म परिवर्तनो के फलस्वरूप उत्पन्न परिणामो का हम वक्रो की गति द्वारा अध्ययन करेंगे।

---

1 Elements of Economics by Meyers, A L. 4th Edn, P 85 (n)

पृष्ठ ३४६ पर दिये चित्र न० (१ ब) की सहायता मे देखेगे। इस चित्र मे म म प्रारम्भिक माग वक्र है जो पूर्ण लोचदार है। $म_1$ $म_1$, $म_2$ $म_2$ आदि माँग वक्र की विभिन्न अवस्थायें हैं। प प पूर्ति वक्र है। ऊर्ध्व अक्ष पर कीमत तथा क्षैतिज अक्ष पर विनिमय में आने वाली वस्तु मात्रा दिखाई गई है।

अब यदि माग पूर्ण लोचदार है तो उसका वक्र क्षैतिज प्राय (म न की भाति) होगा। माग यदि परिवर्तित होकर $म_1$ $म_1$ स्थिति पर पहुचती है तो हम देखते हैं कीमत मे काफी परिवर्तन आ जाता है। बढी हुई कीमत, म म तथा $म_1$ $म_1$ वक्रो के बीच की ऊर्ध्वग दूरी, र स के बराबर है। लेकिन यदि माग कम लोचदार होती, जैसा $म_2$ $म_2$ द्वारा दिखाई गई है, तो कीमत मे वृद्धि पहले की अपेक्षा कम होती। इस प्रकार जब $म_2$ $म_2$ से माग वक्र $म_3$ $म_3$ की स्थिति म चला गया है तो माँग मे वृद्धि के फलस्वरूप कीमत मे ट ड के बराबर वृद्धि हुई है। ट ड, र स मे कम है अर्थात यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहे तो माग मे वृद्धि कीमत मे वृद्धि लायेगी। किन्तु कीमत मे वृद्धि की मात्रा माग की लोच पर निर्भर होगी,जितनी ही माग लोचदार होगी माग मे वृद्धि उतनी ही अधिक वृद्धि कीमत मे ले आयेगी और माँग जितनी ही कम लोचदार होगी उतनी ही कीमत मे कम वृद्धि आयगी। माग म ह्रास इसकी विपरीत प्रतिक्रिया पैदा करेगी अर्थात माग जितनी ही लाचदार होगी, माग मे ह्रास उतना ही अधिक कीमत मे ह्रास ले आयेगा। इसके विपरीत, माँग के कम लोचदार होने पर, माग मे ह्रास कीमत मे अपेक्षाकृत कम ह्रास लायगी।

अब हम पूर्ति मे परिवर्तनो का कीमत पर तथा विनिमय की जाने वाली वस्तु मात्रा पर प्रभाव देखेगे। यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहे तो पूर्ति म वृद्धि कीमत मे ह्रास तथा विनिमय की जाने वाली वस्तु-मात्रा मे वृद्धि ले आने की प्रवृत्ति रखती है, पूर्ति मे ह्रास कीमत मे वृद्धि तथा विनिमय की जाने वाली वस्तु-मात्रा मे ह्रास ले आने की प्रवृत्ति रखता है। कीमत तथा वस्तु मात्रा मे य परिवर्तन कितने कम या अधिक होंगे—यह बात मगन माँग की लोच पर निर्भर होती है। यदि पूर्ति मे परिवर्तन हम दिया हुआ मान लें तो माग जितनी ही अधिक लोचदार होगी, कीमत मे समानुपाती परिवर्तन उतना ही कम तथा विनिमय की जाने वाली वस्तु मात्रा मे समानुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा। माग जितनी ही कम लोचदार होगी कीमत मे समानुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक तथा विनिमय की जाने वाली वस्तु मात्रा म समानुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा। चित्र द्वारा भी हम यह समझ सकते हैं।

पृष्ठ ३४६ पर दिए गए चित्र मे म म पूर्ण लोचदार माग वक्र है। प प पूर्ति वक्र है पूर्ति मे वृद्धि होने से पूर्ति वक्र का स्थान $प_1$$प_1$ हो जाता है। इस वृद्धि के फलस्वरूप कीमत मे कोई परिवर्तन नहीं आता। हा वस्तु मात्रा म उ' स' के बराबर वृद्धि आती है। अब हम माग बिन्दु को कम लोचदार $म_1$ $म_1$, लेते है तब हम देखते हैं कि उपर्युक्त पूर्ति म वृद्धि के परिणाम-स्वरूप कीमत म उ ट के बराबर कमी तथा

चित्र (२ अ) में माँग में थोडी वृद्धि से पूर्ति में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती दिखाई गई है, अर्थात् म म बढकर म१ म१ पर पहुचती है तो पूर्ति वक्र प प हटकर प१ प१ पर चली जाती हैं। यदि पूर्ति वक्र में परिवर्तन न हुआ होता तो माग के

बढने पर कीमत भी बढ गई होती, अर्थात् क व से बढ कर क ल हो गई होती, लेकिन चूकि पूर्ति भी बढती है तथा पूर्ति में यह वृद्धि माग में आई वृद्धि से अधिक है, इसलिये यह माँग में वृद्धि के कीमत पर पडते प्रभाव को नष्ट ही नहीं कर देती बल्कि कीमत के पहले स्तर को भी नीचे ढकेल कर क ह कर देती है। हा वस्तु-मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक अर्थात् क घ हो जाती है।

चित्र (२ ब) में माँग वृद्धि होने से पूर्ति में परिवर्तन होता अवश्य है किन्तु अपेक्षाकृत कम—म म, म१ म१ हो जाता है तथा प प, प१ प१। कीमत का प्रारम्भिक स्तर क व है। अब माँग पूर्ति दोनों में परिवर्तन के फलस्वरूप कीमत क ह हो जाती है। यदि पूर्ति वक्र पूर्ववत् रहता तथा पूर्ति म कोई परिवर्तन न होता तो कीमत-स्तर क ल होता। विनिमय वस्तु मात्रा में भी वृद्धि होती है और वह क घ हो जाती है। यदि पूर्ति वक्र में परिवर्तन न होता तो माग में वृद्धि के प्रति-उत्तर स्वरूप विनिमय-वस्तु म त द के बराबर वृद्धि होती।

इसी सदर्भ मे हमे काल-तत्व पर भी कुछ कह देना समीचीन होगा । माग-पूर्ति के सम्बन्ध मे मार्शल ने कम से कम तीन प्रकार की अवधियो का विचार किया है

(१) क्षणिक । (२) अल्पकालीन तथा (३) दीर्घकालीन ।

क्षणिक अवधि मे पूर्ति तत्वो को माँग-परिवर्तन के फलस्वरूप कोई समायोजन करने का अवसर नही मिलता । वस्तु का स्टॉक तैयार होता है, उससे अधिक कुछ पूर्ति को काम नही लाया जा सकता अर्थात् पूर्ति वक्र बिल्कुल अलोचदार होना है । इसलिये इसमे यदि माँग बढ जाय तो केवल कीमतें ही ऊँची हो जायेगी, जैसा कि निम्नांकित चित्र (३ अ) मे देखा जा सकता है । अल्पकालीन अवधि स्थूल रूप से वह अवधि है जिसमे पूर्ति मे, मौजूदा मशीनो तथा पू जी उपकरणो (निश्चित या स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील तत्वो) के पूर्ण उपयोग द्वारा, कुछ वृद्धि की जा सकती है । मजदूर तथा अन्य परिवर्तनशील ससाधनो मे परिवर्तन किया जा सकता है तथा दिये हुये पू जी उपकरणो पूर्ण प्रयोग से पूर्ति का सीमित रूप मे समायोजन किया जा सकता है । अर्थात इसमे पूर्ति वक्र कुछ लोच रखती है इसलिए माग मे वृद्धि आने पर पूर्ति कुछ तो बढाई जायगी, शेष का दबाव कीमत पर पडेगा जो ऊपर उठेगी, लेकिन उतना ऊपर नही जितना वह पहली अवस्था, क्षणिक अवधि, मे चढी थी । यह अवस्था चित्र (३ ब) मे दिखाई गई है । दीर्घकाल मे सब कुछ परिवर्तनशील है । पूर्ति पूर्णतया घटाई बढाई जा सकती है, अर्थात् यह पूर्णतया लोचदार होती है इस लिये माग वृद्धि का कीमत पर बहुत प्रभाव नही पडेगा । उपर्युक्त अन्य दो अवधियो से कही कम कीमत वृद्धि दीर्घकालीन अवधि मे आ पायेगी चित्र (३ स) मे यह दिखाया गया है ।

(३ अ) (३ ब) (३ स)

(३ अ)	(३ ब)	(३ ग)
क्षणिक माग-पूर्ति सतुलन प प पूर्ति वक्र पूर्णतया अलोचदार इसलिये माँग में वृद्धि से कीमत में ह ट के बराबर वृद्धि।	अल्पकालीन माग-पूर्ति सतुलन, प प कुछ लोचदार इसलिए माग मे वृद्धि से कीमत मे पहले से कम ह र के बराबर वृद्धि।	दीर्घकालीन माँग पूर्ति सतुलन, प प पूर्ण तया लोचदार इसलिये माग मे वृद्धि से कीमत मे नही के बराबर वृद्धि

माँग मे ह्रास इसका उल्टा परिणाम पैदा करेगा।

वस्तु कर लगने अथवा सरकारी सहायता (अनुपूर्ति) मिलने का प्रभाव

यदि किसी वस्तु पर कर लगा दिया जाता है तो पूर्ति कीमत (Supply price) स्वभावत. बढ जायगी। इसका फल यह होगा कि पूर्ति वक्र ऊर्ध्वग रूप मे ऊपर उठ जाता है। कर के आकार तथा, उसके फलस्वरूप, कीमत मे वृद्धि के बीच का अनुपात पूर्ति लोच पर निर्भर करता है। यदि पूर्ति पूर्णतया लोचदार है तो कीमत मे वृद्धि लगाए हुये कर के बराबर होगी।

(४ अ) पूर्ति वक्र कम लोचदार

बराबर मे दिये हुये दोनो चित्र एक से हैं, अन्तर इतना है कि चित्र (४ अ) पूर्ति वक्र कम लोचदार दिखाया गया है। (४ अ') मे पूर्ति लगभग पूर्णतया लोचदार है।

अब यदि हम मान ले कि न म के बराबर कर लगाया गया है तो पूर्ति वक्र स्थानान्तरित होकर $क_1$ $प_1$ के स्थान पर चला जाता है। चित्र (४ अ) मे पूर्ति वक्र की लोच कम है इस लिये क र, न म का केवल कुछ ही अश कीमत वृद्धि की ओर लगता है। पहले कीमत क फ के बराबर थी, अब वह बढ कर क र के बराबर हो गई है। अर्थात् कीमत मे ट म के बराबर वृद्धि हुई है। ट म, न क का एक अश है। चित्र (४ अ) मे ट म लगभग न म के बराबर है अर्थात्

(४ अ) पूर्ति वक्र पर्याप्त लोचदार

वृद्धि लगे हुये कर के करीब बराबर है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तु कर लगने से कीमत में वृद्धि पूर्ति की लोच की सीधी समानुपाती है। लोच जितना ही अधिक होगा कर का उतना ही बड़ा हिस्सा कीमत में शामिल होकर उसको ऊपर उठायेगा।

पहले विक्रेता क च मात्रा क फ कीमत पर बेचता था। अब, कर लग जाने पर क स मात्रा क र कीमत पर बेचेगा। क्रेता की अब कुल व्यय बराबर है, □ क स म र के। इसमें से □ व न म र के बराबर आय तो विक्रेता राज्य को कर के रूप में दे देते हैं, शेष अपने पास रखते हैं। यहां हम एक बात और देखते हैं कि ट न के बराबर का अंश तो विक्रेता को सहना पड़ता है तथा ट म, वस्तु के क्रेताओं को चुकाना पड़ता है।

यदि कर वस्तु कीमत का एक सूक्ष्म अंश हो, तो निम्नलिखित ढंग से हम यह दिखा सकते हैं कि विक्रेता द्वारा दिये जाने वाले कारांश, म ट, तथा क्रेताओं द्वारा दिये जाने वाले करांश, ट न, के बीच का अनुपात बराबर है, पूर्ति की लोच (पूर्ति वक्र के ल न भाग में) तथा मांग की लोच (मांग वक्र के ल म भाग में) के बीच के अनुपात के

चित्र (४ अ) में :

$$\text{पूर्ति-लोच } (प_ल) = \frac{\frac{स\,च}{क\,च}}{\frac{व\,फ}{क\,फ}} = \frac{स\,च \times क\,फ}{क\,च \times व\,फ}$$

$$\text{तथा मांग-लोच } (म_ल) = \frac{\frac{स\,च}{क\,च}}{\frac{फ\,र}{क\,फ}} = \frac{स\,च \times क\,फ}{क\,च \times फ\,र}$$

$$\therefore \quad \frac{प_ल}{म_ल} = \frac{\frac{स\,च \times क\,फ}{क\,च \times व\,फ}}{\frac{स\,च \times क\,फ}{क\,च \times फ\,र}}$$

$$= \frac{स\,च \times क\,फ}{क\,च \times व\,फ} \times \frac{क\,च \times फ\,र}{स\,च \times क\,फ}$$

$$= \frac{फ\,र}{व\,फ}$$

$$= \frac{म\,ट}{ट\,न} \quad \dots \quad \dots \quad \dots (१)$$

इस प्रकार यदि हमे माग तथा पूर्ति की लोचें ज्ञात हो तो हम यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि कर का कीमत तथा उत्पादन पर क्या प्रभाव पडेगा।

मांग तथा पूर्ति मे जितनी ही कम लोच होगी, कर लगने से उत्पादन उतना ही कम घटेगा तथा कीमत उतनी ही अधिक बढेगी। चित्र (४ अ) का म ट चित्र (४ ब) के म ट से कम होगा तथा यदि एक ही पैमाने पर दोनो चित्र बनाये जाये तो पहले चित्र का स च दूसरे के स च से बडा होगा। मांग वक्र के सम्बन्ध मे हम निम्नांकित चित्र द्वारा यह बात सिद्ध कर सकते हैं। पिछले दो चित्रो की भाँति दो चित्र न बना कर एक ही चित्र मे माग की लोचदार तथा अलोचदार स्थितियां दिखाई गई हैं।

इस चित्र मे हमने माग वक्र के प्रभाव को बताने की चेष्टा की है। म म, माग वक्र अपेक्षाकृत अलोचदार है तथा $म_1$ $म_1$ लोचदार। म म की हालत मे हम देखते हैं कि कर, न म लग जाने के बाद जब प प की स्थिति $प_1$ $प_1$ बन जाती है तो कीमत बढती है तथा विनिमय वस्तु मात्रा कम होती है। कीमत मे वृद्धि म ट के बराबर है तथा वस्तु मात्रा में कमी सच के बराबर है। स्पष्ट है कि माँग वक्र जितना ही कम लोचदार होगा म ट उतना ही बडा तथा स च उतना ही छोटा होगा।*

---

* नोट —इस बात को बीजगणित की सहायता से भी हम सिद्ध कर सकते हैं।

मान लिया कि वस्तु की प्रति इकाई पर 'क' कर लगाया जाता है तो ऊपर के चित्र (४ अ), (४ ब) तथा (५) के अनुसार :—

(शेष अगले पृष्ठ पर

पृष्ठ ३५४ के फुटनोट का शेष —

$$क = म\,ट + ट\,न \quad \cdots \quad \cdots \quad \cdots (२)$$

ऊपर के समीकरण (१) मे हमने देखा है कि $\frac{प_ल}{म_ल} = \frac{म\,ट}{ट\,न}$

$$\text{अथवा} \quad म\,ट = \frac{प_ल}{म_ल} \times ट\,न$$

$$\text{तथा} \quad ट\,न = \frac{म_ल}{प} \times म\,ट$$

म ट के मूल्य का समीकरण न० (२) मे स्थानापन्न करने से—

$$क = \frac{प_ल}{म_ल} \times ट\,न + ट\,न$$

$$= ट\,न \left(\frac{प_ल}{म_ल} + १ \right)$$

$$= ट\,न \left(\frac{प_ल + म_ल}{म_ल} \right)$$

$$\text{अथवा} \quad ट\,न = क \left(\frac{म_ल}{प_ल + म_ल} \right)$$

इसी प्रकार हम दिखा सकते हैं कि—

$$म\,ट = क \left(\frac{प_ल}{प_ल + म_ल} \right)$$

यदि मांग की लोच, $(म_ल) = ०$, तो ट न = ० तथा म ट = क

यदि „ „ „ $= \infty$ (अनन्त); तो ट न = क तथा म ट = ०

इसी प्रकार यदि पूर्ति की लोच, $(प_ल) = ०$ तो ट न = ० तथा म ट = क

तथा यदि „ „ „ $= \infty$ (अनन्त), तो ट न = क तथा म ट = ०

यदि वस्तु के उत्पादन पर अनुपूर्ति दी जाती है तो वस्तु की पूर्ति-कीमत मे गिरावट आयेगी तथा पूर्ति-वक्र मे स्थिति परिवर्तन ऊपर वर्णित स्थिति परिवर्तन से, उल्टी दिशा मे होगा। कीमत मे गिरावट और विनिमय वस्तु मात्रा मे वृद्धि आयेगी। कीमत मे गिरावट मे क्रेता तथा विक्रेता, माग-लोच तथा पूर्ति-लोच के अनुसार दोनो हिस्सा लेंगे, जिस प्रकार कि कर का भार दोनो सहते हैं।

पूरकता तथा स्थानापन्नता—

Edgeworth तथा Pareto ने पूरकता तथा *स्थानापन्नता* (Complementarity and Substitution) को सीमान्त उपयोगिता की सहायता से समझाने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार —

यदि उपभोक्ता के बजट मे क वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि (ख वस्तु के पूर्ववत रहने पर) ख वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को बढा देती है तो ख वस्तु क की पूरक है। यदि क वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि (ख वस्तु के पूर्ववत रहने पर) ख की सीमान्त उपयोगिता मे ह्रास ले आती है तो ख, क की स्थानापन्न होगी। जैसा हिक्स ने कहा है, इससे यह स्पष्ट है कि पूरकता तथा स्थानापन्नता के सम्बन्ध उत्क्रमणीय (reversible) भी होते हैं, अर्थात् यदि ख, क का पूरक है तो क, ख का पूरक होगा, तथैव यदि क, ख का स्थानापन्न है तो ख, क का स्थानापन्न होगा। इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर मान ली जाय तो क की कीमत मे ह्रास आने से उसकी माग बढेगी, इससे यदि क तथा ख परस्पर पूरक है तो, ख की सीमान्त उपयोगिता मे वृद्धि होगी और ख की माग भी बढ़ेगी। लेकिन यदि क तथा ख एक दूसरे के स्थानापन्न है तो क की कीमत मे ह्रास से तथैव ख की मांग घटेगी।

Pareto को इस परिभाषा मे कठिनाइया तब दिखाई पडी, जब उसने पूरकता तथा स्थानापन्नता के अन्तर को तटस्थ वक्रो (Indifference Curves) द्वारा प्रदर्शित करने की कोशिश की। यह बताना असम्भव हो गया कि तटस्थ वक्रो की कितनी वक्रता इन दो प्रकार के सम्बन्धो के बीच भेद बताने के लिये आवश्यक है। Pareto का अपना सिद्धान्त था कि उपयोगिता मापी नही जा सकती, उपर्युक्त परिभाषा इस सिद्धान्त के भी प्रतिकूल है।

हिक्स के अनुसार उपर्युक्त परिभाषा मे 'सीमान्त उपयोगिता' के स्थान पर 'मुद्रा के लिये स्थानापन्न की सीमान्त दर' कर देने से Edgeworth Pareto की उपर्युक्त परिभाषा की कठिनाइया दूर हो जाती हैं। 'मुद्रा के लिये स्थानापन्न की सीमान्त दर' वस्तु विशेष की मुद्रा की इकाइयो मे बताई *गई सीमान्त उपयोगिता* है। इस रूप मे इस माग वक्र को किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों तथा मुद्रा के बीच स्थानापन्न की सीमान्त-दर की एक अनुसूची के रूप मे पाते है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे किसी वस्तु की कीमत बराबर होती है, इसी स्थानापन्न की सीमान्त दर के।

अब, हम यह देखें कि किसी वस्तु, क, की कीमत मे परिवर्तन होने से उपभोक्ता के व्यय पर क्या प्रभाव पडता है। यदि क वस्तु की कीमत मे ह्रास आया और अन्य वस्तुओ की कीमतें पूर्ववत् रही तो क तथा उपभोक्ता द्वारा खरीदी जाने वाली अन्य वस्तुओ की मांगो पर दो ओर से प्रभाव पडेगा-एक तो आय प्रभाव, दूसरा स्थानापन्नता-प्रभाव।

हम पहले बता चुके है कि 'आय प्रभाव' तथा 'स्थानापन्नता-प्रभाव' क्या है। आय-प्रभाव का साधारण अर्थ यह होता है कि जब किसी वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उपभोक्ता को पहले ही की मात्रा खरीदने के लिये अब कम मुद्रा देना पडेगा। इसलिये उस वस्तु के ऊपर व्यय मे 'बचत' हुई। यह 'बचत' व्यय करने वाली आय मे वृद्धि के समतुल्य है। यह 'नई आय' कुछ तो उस वस्तु की और अधिक मात्रा क्रय करने मे लगेगी तथा कुछ अन्य वस्तुओ के क्रय करने मे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि स्थानापन्न की सीमान्त दर वस्तु की कीमत के बराबर होती है। यदि किसी वस्तु की कीमत गिरती है तो इसका अर्थ होगा कि वस्तु की स्थानापन्न की सीमान्त दर इस नई कीमत से ऊपर होगी, जिससे स्थानापन्न प्रभाव उत्पन्न होगा अर्थात् जिस वस्तु की सीमान्त दर ऊंची होगी वह स्थानापन्न की नीची सीमान्त दर वाली वस्तु के स्थान पर आयेगी।

अब हम यह देखेंगे कि क वस्तु की कीमत मे ह्रास आने पर आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न-प्रभाव ने अन्य वस्तुओ को किस प्रकार प्रभावित किया। यदि वस्तु क की कीमत गिरी तो स्थानापन्न प्रभाव इसकी माग मे वृद्धि लायेगा तथा यदि क निम्न कोटि की वस्तु नही है तो आय प्रभाव भी ऐसा ही करेगा। जहा तक अन्य वस्तुओ की मांग का प्रश्न है) हम इन वस्तुओ को एक सामूहिक रूप में लेते हैं) तो स्थानापन्न-प्रभाव इनकी माग को कम करेगा तथा आय-प्रभाव लगभग हमेशा ही इसमे वृद्धि करेगा। मान लिया कि इन वस्तुओ मे 'ख' कोई वस्तु है तो यदि यह क की पूरक नही है तो स्थानापन्न प्रभाव इसकी माग मे ह्रास ले आयेगा तथा यदि यह निम्नकोटि की वस्तु नही है तो आय-प्रभाव इसकी माग मे वृद्धि लायेगा।

हिक्स ने क तथा ख वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धो के चार प्रकार की परिस्थितियो का जिक्र किया हैं —

(१) ख, क की अत्यधिक पूरक है ऐसी हालत मे स्थानापन्न-प्रभाव इतना बडा हो सकता है कि किसी आय-प्रभाव को समाप्त कर ख की माग मे अवश्यमेव वृद्धि ले आये।

(२) ख, क की साधारण पूरक है ऐसी हालत मे आय प्रभाव अधिक महत्व का होता है। प्राय यह स्थानापन्न-प्रभाव की दिशा ही मे काम करता है जिससे ख की माग मे कुछ वृद्धि आयेगी, लेकिन यदि ख निम्नकोटि की वस्तु है तो हो सकता है कि ये दोनो प्रकार के प्रभाव एक दूसरे को खतम कर दें, अथवा कभी-कभी यह भी

सम्भव हो सकता है कि आय प्रभाव का ऋणात्मक प्रभाव काफी जोरदार हो तथा ख की माग कुछ कम हो जाय।

(३) ख, क की साधारण स्थानापन्न है यह एक अत्यन्त सामान्य परिस्थिति है। इसमे आय प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव अक्सर विपरीत दिशा मे काम करते हैं, इसलिये एक दूसरे को नष्ट कर देते है अथवा ख की माग पर थोडा सा प्रभाव पड सकता है। यह प्रभाव उपर्युक्त दोनो प्रभावो के क्रमिक प्राबल्य पर निभर करता है। लेकिन यदि ख निम्न कोटि की वस्तु है तो इसकी मांग मे अवश्य कमी आयेगी। यद्यपि वह सूक्ष्म होगी।

(४) ख, क की अत्यधिक स्थानापन्न है इस अवस्था म स्थानापन्न प्रभाव निश्चय रूप मे हावी रहेगा तथा ख की माग मे ह्रास आयेगा। यदि ये परस्पर पूर्ण-रूपेण स्थानापन्न हैं तथा क की कीमत गिरती है तो यदि ख की कीमत मे भी गिरावट न आई तो ख की माग शून्य हो जायेगी।

इस प्रकार यदि ख वस्तु की माग पर स्थानापन्न प्रभाव तथा आय प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म हैं अथवा ये दोनो प्रभाव एक दूसरे से विपरीत दिशामे काय कर रहे हैं तथा इनका पारस्परिक अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है तो क की कीमत मे ह्रास आने से ख की माग पर कोई प्रभाव न पडेगा।

इन सम्बन्धो को अब हम चित्रो के सहारे समझाने की चेष्टा करेंगे —

चित्र (ल) स्थानापन्नता।

चित्र (म) पूरकता।

चित्र ल मे $म_क$ वक्र क वस्तु का माग वक्र है।

$म_ख$ वक्र ख वस्तु का माग वक्र है। $प_क$, क वस्तु का प्रारम्भिक पूर्ति वक्र है, तथा $प_ख$, ख वस्तु का पूर्ति वक्र है। अब हम मान लें कि पूर्ति की परिस्थितियों

के बदलने के कारण क वस्तु की कीमत (जो प्रारम्भ मे क की के बराबर थी) गिर कर क की$_1$ के बराबर हो गई। क मुद्रा की स्थानापन्न हुई। इसका फल यह हुआ कि ख की मुद्रा के स्थान पर स्थानापन्नता की सीमान्त दर मे कमी आगई तथा ख का माग वक्र म$_{ख}$, बायी ओर स्थानान्तरित होकर म'$_{ख}$ के स्थान पर आगया। अब यदि ख की पूर्ति मे कोई परिवर्तन नही आता तो यह स्पष्ट है कि ख की कीमत भी घटेगी—क र से क र$_1$ हो जायगी।

हम ऊपर कह आये है कि पूरकता की दशा मे इसका उल्टा होता है। क वस्तु की कीमत मे कमी आ जाने से न केवल क की माग बढ जाती है अपितु ख की माग मे वृद्धि होती है तथा चित्र (न) मे हम देखते हैं कि ख का माग वक्र दाहिनी ओर स्थानान्तरित हो गया—म$_{ख}$ से म$_{ख}$' की स्थिति मे चला गया। इस चित्र म हम देखते हैं कि यदि माग पूर्ववत् रहे तो क वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने से कीमत मे ह्रास आ जाता है। कीमत क की से क की$_1$ हो जाती है। इसका प्रभाव ख वस्तु की माग पर पडता है। पहले ख वस्तु की कीमत क र थी अब यदि पूर्ति पूर्ववत रहे तो क्यू कि म$_{ख}$ वक्र म$_{ख}$ के स्थान पर चला गया है ख वस्तु की कीमत म वृद्धि हो जायगी—कीमत बढकर क र$_1$ के बराबर हो जायगी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक वस्तु का उत्पादन स्वत अन्य वस्तु का उत्पादन बढा देता है चाहे इसकी कीमत मे वृद्धि हुई हो अथवा नही। जैसे गेहूँ के उत्पादन मे वृद्धि होने से भूसा का उत्पादन स्वत बढ जायगा। ऐसी परिस्थिति को सयुक्त पूर्ति (Joint supply) की स्थिति कहते हैं। इसके विपरीत यह भी होता है कि एक वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि लाने के लिये अन्य किसी वस्तु या वस्तुओ के उत्पादन अथवा पूर्ति को कम करना पडता है। उदाहरण के लिये गन्ने से गुड तथा

(ह)　　　　(य)

चीनी दोनों बनते हैं। यदि गन्ने की मात्रा दी हुई हो तो गुड़ के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये चीनी के उत्पादन को कम करना पड़ेगा।

यदि उपभोक्ताओं की इच्छा ही के अनुसार उत्पादन हो तो जो वस्तुए उपभोग में एक दूसरे की पूरक हैं वे पूर्ति में भी परस्पर पूरक होंगी।

चित्र (ह) में ऐसी स्थिति देखते हैं जहा क तथा ख सयुक्त रूपेण उत्पादित की जाती हैं। यदि ये दोनों परस्पर पूरक हैं तो उपर्युक्त चित्र (ह) सम्बन्धित कीमत तथा वस्तु मात्रा की गति विधि बताता है। चित्र (य) में उनके उत्पादन में आपसी स्थानापन्न होने की अवस्था दिखाई गई है अर्थात यदि एक का उत्पादन बढ़ता है तो दूसरे का घटता है। चित्र (ह) में माग में वृद्धि के फलस्वरूप क वस्तु की पूर्ति भी बढ़ती है। $प_क$ पूर्ति वक्र तथा $म_क$ माग वक्र है। कीमत बढ कर क की, के बराबर हो जाती है। विक्रेताओं द्वारा, मुद्रा के बदले ख वस्तु की स्थानापन्नता की सीमान्त-दर में ह्रास आता है। इससे प्रत्येक कीमत-स्तर पर ख की अधिक मात्रा मुद्रा की स्थानापन्न की जायगी अर्थात ख की पूर्ति वक्र दाहिनी ओर खिसक कर $प_ख$ स्थान ग्रहण कर लेता है। इसकी कीमत, जो पहले क र के बराबर थी, गिर कर क र, के बराबर हो जाती है।

अब हम चित्र (य) को लेते हैं। $प_क$ क वस्तु का पूर्ति वक्र है। $म_क$ उसका माग वक्र है। पहले कीमत क की है। अब माग बढ़ती है तो $म'_क$ माग का नया वक्र है। इससे स्पष्ट है कि कीमत बढ कर क की, के बराबर हो जाती है। ख, क की स्थानापन्न होने वाली वस्तु है। क की कीमत में यह वृद्धि आने से क की अधिक मात्रा उत्पादित की जा रही है। अब ख को हमने उत्पादन में क की स्थानापन्न माना है। तो ख की अपेक्षाकृत कम मात्रा उत्पादित की जायेगी। अर्थात $प_ख$ बाईं ओर को खिसक जायेगा तथा $प_ख'$ का स्थान ग्रहण करेगा। नतीजा यह होगा कि ख की कीमत जो पहले क र थी अब बढकर क ख हो जायेगी।

स्थानापन्नता तथा पूरकता : एक दूसरे दृष्टिकोण से—

स्थानापन्न तथा पूरकता के सम्बन्धों को हम भेदक लोच (Cross elasticity) के सदर्भ में भी बता सकते हैं। स्टिगलर के अनुसार यदि क वस्तु की कीमत में वृद्धि होने (और इस प्रकार माग घट जाने) के फलस्वरूप ख वस्तु की माग बढ़ जाय तो ये दोनों परस्पर स्थानापन्न हैं। यदि क वस्तु की कीमत बढ जाने से (और इस प्रकार माग कम हो जाने से) ख वस्तु की माग भी कम हो जाय तो ये दोनों वस्तुएं परस्पर पूरक हैं।

भेदक लोच (अथवा पार करने वाली लोच) का सविस्तार वर्णन अन्यत्र हो चुका है। यदि अन्य वस्तुओं की कीमत तथा लोगों की रुचिया पूर्ववत रहे तो

क तथा ख के बीच भेदक लोच

$$= \frac{\text{ख की क्रय की जाने वाली राशि मे समानुपातिक परिवर्तन}}{\text{क की कीमत मे समानुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\dfrac{\Delta म_{ख}}{म_{ख}}}{\dfrac{\Delta की_{क}}{की_{क}}} \quad \left\{ \begin{array}{l} \Delta म_{ख} = \text{ख की मात्रा मे वृद्धि} \\ म_{ख} = \text{ख की क्रय की जाने वाली प्रारम्भिक मात्रा} \\ \Delta की_{क} = \text{क की कीमत मे वृद्धि} \\ की_{क} = \text{क की प्रारम्भिक कीमत} \end{array} \right.$$

यह भेदक लोच जितनी ही बडी तथा धनात्मक होगी क तथा ख परस्पर उतनी ही अच्छी एक दूसरी की स्थानापन्न होगी। अर्थात क की कीमत मे मे ह्रास ख की विक्रय मात्रा मे अवश्य ह्रास लायेगा। क्योकि जब क की कीमत घटेगी तथा ख की पूर्ववत रहेगी तो लोग ख के बदले क की अधिक मात्रा खरीदने लगेगे। यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थानापन्नता की यह परिभाषा तथा माप क के कीमत परिवर्तन के सम्पूर्ण प्रभावो (आय-प्रभाव तथा स्थानापन्नता प्रभाव) को व्यक्त करती है—अर्थात क के कीमत-परिवर्तन का ख की माग पर सम्पूर्ण रूप से क्या प्रभाव पडेगा।

इसके विपरीत कोई दो वस्तुएं (हमारे उदाहरण की क तथा ख) एक दूसरे की पूरक तब होगी जब उन दोनो के बीच माग की भेदक लोच ऋणात्मक हो। अर्थात एक की कीमत मे ह्रास आने से (और इस प्रकार उसकी माग मे वृद्धि होने से) दूसरी की माग मे भी कुछ वृद्धि आयेगी।

मकड़ी जाल का सिद्धान्त (The Cobweb Theorem)—

माग तथा पूर्ति वक्र के सहारे कुछ अर्थशास्त्रियो ने* व्यापार चक्र के एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसका नाम निकोलस काल्डोर ने मकडी जाल सिद्धान्त रक्खा है।[1] इस सिद्धान्त को जब चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तो इस चित्र का आकार मकडी के जाले से मिलता जुलता है। इसी लिये इसका यह नाम रक्खा गया है। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि आने वाली उत्पादन-अवधि मे जो उत्पादन होगा वह मौजूदा कीमत की प्रतिक्रिया-स्वरूप होगा। समय को अवधियो मे बटा हुआ मान लिया जाता है, और होता भी ऐसा ही है—गेहूँ की फसल वर्ष मे एक बार, एक निश्चित अवधि मे पैदा की जाती है तथा उसके बाद की अवधि मे बेची जाती है। यदि गेहू की कीमत अधिक हुई तो किसान अगली

---

* Umberto Rici in Italy, Tinbergen in the U S. A. and Schultz in Holland

1—Review of Eco omic studies (Feb 1934), article by Nicholas Kaldor.

फसल मे गेहू की खेती अधिक करने का प्रयत्न करेगा। एक बार जब गेहूँ की निश्चित राशि उत्पन्न कर ली गई तो अगली फसल तैयार होने के पहले किसान उसे ऊचे नीचे भाव पर बेच देने का प्रयत्न करेगा। गेहू के बदले यदि हम सब्जी लें तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है, सब्जी यदि तैयार होने पर एक निश्चित अवधि में बेच न दी गई तो वह नष्ट हो जायगी। अब यदि सब्जी की मौजूदा पूर्ति उसकी माग से अधिक है तो कुल पूर्ति की खपत के लिये उत्पादकों को कीमत इतनी कम करनी पडेगी कि माग बढकर मौजूदा पूर्ति के बराबर हो जाय। इसका फल यह होगा कि उत्पादक अगली फसल मे सब्जी की खेती कम कर दगे। अत माग पूर्ति से बढ जायगी और कीमत भी बढ जायगी, क्योंकि वस्तु कम है और खरीदने वाले अधिक। इस प्रकार यह चक्र चलता रहेगा।

यद्यपि कतिपय व्यापार चक्र जिनका निरीक्षण किया जा सका है इस सिद्धान्त की पुष्टि करते नही दिखाई देते, फिर भी यह सिद्धान्त अवधि विश्लेषण का एक अत्यन्त सरल उपकरण प्रस्तुत करता है। इस लिये यह प्रवैगिक विश्लेषण की एक उपयोगी भूमिका है। यह स्पष्ट कर देना भी समीचीन है कि यह सिद्धान्त प्रमुखत ऐसे उद्योगो पर लागू होता है जो शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुओ का उत्पादन करते है। खाद्य सामग्रिया इनमें प्रमुख हैं।

इस सिद्धान्त की आधारभूत उपधारणाएँ—

(१) माग तथा पूर्ति फलन (Functions) परिवर्तित नही होते। साधारणत इन फलनो को हम स्थैतिक (Static) मान लेते है। इनमे से अनिश्चय तथा सट्टेबाजी में तत्व बिल्कुल अलग कर दिये जाते हैं।

(२) दूसरी उपधारणा यह कर ली जाती है कि कीमत परिवर्तन तथा पूर्ति अथवा माग पर उसकी प्रतिक्रिया के बीच कालान्तर (time lag) होता है। सबसे सरल यह है कि हम यह उपधारणा कर लें कि पूर्ति पर कीमत परिवर्तन की प्रतिक्रिया एक अवधि कालान्तर होती है तथा मौजूदा कीमत इतनी होती है कि मौजूदा पूर्ति पूर्ण रूप से खप जाय।

(३) शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था व्याप्त है।

(४) वस्तु शीघ्र नष्ट हो जाने वाली हो।

मकडी का जाला कीमत तथा उत्पादन की क्रमिक क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम होता है। यहा हम माग तथा पूर्ति के वक्रो पर भी विचार कर लें। इन दोनो वक्रो की तीन अवस्थाए हो सकती हैं, जब

(क) पूर्ति वक्र, माग-वक्र से अधिक ढालू है जैसा अग्रांकित चित्र (क) मे है,

(ख) माँग-वक्र पूर्ति वक्र से अधिक ढालू है, तथा जैसा चित्र (ख) मे है, तथा

(ग) दोनो वक्रो का ढाल समान है जैसा चित्र (ग) मे है।
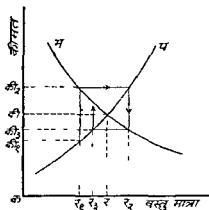
संसृत मकड़ी-जाल
(Convergent Cobweb)

अपसृत मकड़ी-जाल
(Divergent Cobweb)

अनवरत मकड़ी-जाल
(Continuous Cobweb)

उपर्युक्त चित्रो मे म तथा प क्रमश माग तथा पूर्ति के वक्र हैं। यह एक दूसरे को जिस बिन्दु पर काटते है, अर्थात् जिस बिन्दु पर माग तथा पूर्ति मे साम्य आ जाता है उस बिन्दु का निर्देशाक उपर्युक्त तीनो चित्रों मे (की, र) है। अर्थात क की सस्थिति की कीमत है तथा क र सस्थिति की वस्तु-मात्रा। अब हम मान लें कि पूर्ति मे कुछ न्यूनता आ गई तथा केवल क $र_1$ वस्तु मात्रा ही क $की_1$ कीमत पर बिकने के लिये प्रस्तुत की गई। शुद्ध प्रतियोगिता पूर्ण बाजार मे इस सीमित मात्रा के खरीदने मे प्रतियोगिता होगी और इसकी कीमत क $की_1$ न होकर क $की_2$

हो जायगी। इस बढ़ी हुई कीमत की प्रतिक्रिया उत्पादन पर एक अवधि के कालान्तर पड़ेगी तथा उत्पादक इस कीमत की आशा से क $र_2$ वस्तु मात्रा उत्पादित कर बाजार में विक्रय हेतु उपस्थित करते हैं। इस अवस्था में हम देखते हैं कि पूर्ति के बढ़ जाने के कारण शुद्ध प्रतियोगितापूर्ण अवस्था में यह वस्तु मात्रा तभी खप सकती है जब कीमत घटा कर क $की_3$ कर दी जाय। इसके बाद अगली अवधि में उत्पादकों को यदि आशा है कि कीमत क $की_3$ ही रहेगी तो वे केवल क $र_3$ (चित्र क में) वस्तु मात्रा पैदा तथा पूर्ति करेंगे, जिसके परिणामस्वरूप कीमत फिर बढ़ जायगी। यह गति विधि ऐसे चलती रहेगी। यहा हम देखते हैं कि कीमत तथा वस्तु-मात्रा सस्थिति पर पहुचने की कोशिश कर रही हैं। लेकिन यह स्मरण रहना चाहिये कि कीमत सस्थिति बिन्दु पर सीधी उठकर नहीं पहुँच जाती, वह इसकी ओर आरोहण-अवरोहण गति से अग्रसर होती है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में कीमत की गति-विधि अत्यन्त सरल रीति से इन दिए हुए तीनों चित्रों द्वारा बताई जा सकती है।
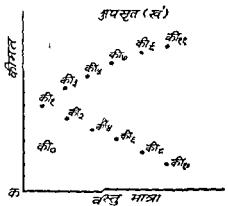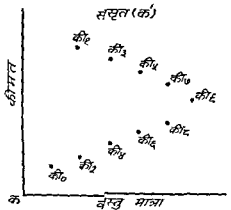
इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जब हम अपना तर्क ज्योमेट्री की रेखाओं द्वारा प्रस्तुत करते हैं तो वक्रों की ढाल पर हमारा तर्क आधारित

होता है। लेकिन सैद्धान्तिक तर्क उपस्थित करने पर हमे माग तथा पूर्ति की लोच पर भरोसा करना पडता है। इस प्रकार मकडी-जाल की सतत अवस्था की हालत मे पूर्ति, माग की अपेक्षा कम लोचदार होती है, अपसृत की अवस्था मे पूर्ति, माग से अधिक लोचदार होती है तथा अनवरत की अवस्था मे दोनो की लोच समान होती है।

आलोचना--

इस सिद्धान्त की आधार भूत उपधारणाएँ काल्पनिक हैं। माग तथा पूर्ति के फलन कभी स्थिर नही रहते। अनिश्चय तथा सट्टेबाजी किसी भी बाजार की कमोबेश अनिवार्य सहचरी हैं। जब वस्तु कीमत साधारण स्तर से ऊपर होती है तो क्रेता यह आशा करके अपना क्रय करते है कि कीमत गिरेगी। विक्रेता भी तरह तरह की अटकलो पर उत्पादन करते हैं। वास्तव मे, व्यवसाय मे अधिक लाभ कमाने का साधन ही यही है कि भविष्य के बारे मे ठीक अन्दाजा लगाया जाय। मकडी-जाल के सिद्धान्त मे क्रेताओ तथा विक्रेताओ के जितने ज्ञान-शून्य होने की कल्पना की गई है वे वैसे नही होते। प्रत्येक अवधि मे इतने निश्चय के साथ कीमत तथा उत्पादन की क्रिया-प्रतिक्रिया नही होती। सट्टेबाजी माग तथा पूर्ति की स्वाभाविक लोच के विपरीत मे काम करके कीमत की गति-विधि को जटिल बना देती है। फिर यदि और बातें सही भी निकल जायें तो बाजार मे शुद्ध प्रतियोगिता की कठिनतम अवस्था कहा से लाई जाय। उत्पादन वेला को निश्चित अवधि मे विभाजित करना भी अत्यन्त कठिन कार्य है। इस सिद्धान्त मे यह कल्पना कर ली गई है कि कीमत मौजूदा वस्तु पूर्ति पर निर्भर करती है तथा एक अवधि कालान्तर ही पूर्ति मे परिवर्तन लाया जा सकता है। यह उपधारणा कोरी कल्पना है। प्रवैगिक जगत मे प्रत्याशा कीमत निर्धारण तथा उत्पादन मे अत्यन्त आवश्यक पार्ट अदा करती है। कुल उत्पादन का बढना घटना इतना आसान नही। कीमतें केवल पूर्ति ही पर निर्भर नही होती—अन्य वस्तुओ की कीमतें, फैशन, रुचि परिवर्तन, मौसम, राज्य के विविध प्रकार के हस्तक्षेप तथा परिवहन की अवस्था प्रभृति भी किसी कीमत पर पर्याप्त प्रभाव डालती हैं। इन्ही सब कारणो से व्यापार चक्र के सम्बन्ध मे इस सिद्धान्त की धारणा सही नही मानी जाती। फिर भी यह कहना गलत होगा कि यह सिद्धान्त पूर्णत बेकार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह सिद्धान्त प्रवैगिक विश्लेषण की सरल भूमिका के रूप मे कार्य करता है, इसके द्वारा इस अवधि विश्लेषण का एक सरल उपकरण मिल जाता है—यही क्या कम है? निश्चय नही, प्रवृत्ति का भान तो हमे इससे मिलता है।

....१३

बाजार की विभिन्न अवस्थायें

आधुनिक युग मे पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे 'प्रतियोगिता' का प्रश्न काफी विवादग्रस्त रहा है। प्रतियोगिता की भावना तो वैसे मनुष्य की (तथा थोडी बहुत अन्य प्राणियो की भी) स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो में जब मनुष्य निरन्तर विज्ञान के बढते हुये प्रकाश म तमाम सामाजिक तथा राजनैतिक पेचीदगियो को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा था, उसे प्रकृत मे अनन्त गूढ रहस्य दिखाई पडे। योरुप का यह प्रकृतवाद वास्तव मे पोप के एकेश्वरवाद तथा उससे पोषित स्वेच्छाचारी, नृशस, राजतन्त्र का प्रत्युत्तर था। लेकिन धीरे-धीरे एक अन्ध-विश्वास के खण्डन के लिये प्रयुक्त अस्त्र स्वय अन्धविश्वास का पात्र बन गया, प्रकृत-वाद द्वारा ही समाज की तमाम जटिलताओ को हल करने का प्रयत्न किया जाने लगा। प्रकृतवाद मे यह अन्धविश्वास भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे प्रतिपादित न जाने कितने भ्रामक सिद्धान्तो के लिये उत्तरदायी है। आधुनिक अर्थशास्त्र का जनक एडम स्मिथ जिस समय अर्थशास्त्र की पिण्ड रचना कर रहा था उस समय प्रकृतवाद अन्धी श्रद्धा का पात्र बन चुका था। अत उसने अर्थशास्त्र के पिण्ड मे इसी प्रकृत भूत को प्रतिष्ठित किया। अर्थशास्त्र मे आधुनिक अर्थ मे प्रतियोगिता इसी का परिणाम है। अब बिल्कुल सक्षेप मे यह बता देना आवश्यक है कि स्थूल रूप से, अर्थशास्त्र मे, प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था का अर्थ क्या होता है।

प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था प्रकृत के 'अदृश्य' हाथो द्वारा शासित तथा सचालित होती है। आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को किसी व्यवसाय को शुरू करने या किसी रोजगार या पेशे मे प्रवेश करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बाजार मे क्रेताओ तथा विक्रेताओ की काफी सख्या काम करती है।

क्रेता किसी वस्तु के क्रय करने के लिये एक दूसरे से होड लगाते है। विक्रेता समानवयव वस्तुओ को बेचने के लिये एक दूसरे मे प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, या ऐसी वस्तुओ को बेचने मे प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, जो एक दूसरे की स्थानापन्न के रूप मे प्रयुक्त हो सकें, जैसे, चाय तथा कॉफी, रेशम तथा कृत्रिम रेशम। क्रेताओ तथा विक्रेताओ ही मे नही, उत्पादन के भिन्न भिन्न साधनो के बीच भी होड लगी रहती

है। प्रत्येक साधन अन्यों की अपेक्षा अपना अधिकाधिक उपयोगीकरण चाहता है। पूंजी, श्रम का स्थान लेने की चेष्टा करती है, श्रम पूंजी का। श्रम के पारिश्रमिक (Wages) में वृद्धि होने पर पूंजी यह प्रयत्न करती है कि अधिकाधिक मजदूरों को हटाकर उनके स्थान पर पूंजी-उपकरणों का प्रयोग किया जाय। इनके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वियों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग और है—आवश्यकतायें। मनुष्य की भिन्न-भिन्न असंख्य आवश्यकतायें तुष्टि हेतु, उसके सीमित ससाधनों को अधिकाधिक प्राप्त करने की चेष्टा किया करती हैं। इन आवश्यकताओं में निरन्तर प्रतियोगिता लगी रहती है। भोजन की आवश्यकता यह चाहेगी कि हमारी आय का अधिकाधिक भाग उसी की तुष्टि पर खर्च हो, कपड़े की आवश्यकता सारी आय को अकेले ही हड़प जाना चाहेगी।

प्रतियोगिता का परम मूल तत्व है स्वार्थपरिता। व्यक्ति का सबसे बड़ा प्रेरक स्वार्थ होता है। स्वार्थ-सिद्धि उसके इहलौकिक जीवन का चरम ध्येय है। ऍडम स्मिथ का मत था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता रहे तो लोक-कल्याण स्वयं सध जायगा। व्यक्ति के स्वार्थ तथा लोक-कल्याण में कोई विरोध नहीं, स्वार्थ, लोक-कल्याण का पोषक है। इसी स्वार्थपरिता से उत्प्रेरित हो, प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था में, पूंजीपति हर प्रकार अधिकाधिक लाभ कमाने की चेष्टा करता है, मजदूर उच्चतम मजदूरी-दर चाहता है तथा भूमि का स्वामी अधिकतम लगान ऐंठने का सतत् प्रयत्न करता रहता है। स्वार्थों का यह स्वच्छन्द संघर्ष आर्थिक जगत में प्रतियोगिता की शर्त है।

उत्पादन, कीमतें, लाभ, मजदूरी आदि बातें स्वयं पर छोड़ दी जाती हैं। इनका निर्धारण आपसी संघर्ष तथा प्रतियोगिता में निहित शक्तियाँ करती हैं। इन्हीं शक्तियों तथा प्रकृतनियमन में 'अदृश्य हाथ' द्वारा माग पूर्ति में साम्य स्थापित होता है, फिर इसकी सहायता से कीमतें तथा ससाधनों के पारिश्रमिक निर्धारित होते हैं। कीमत का प्रचूक यंत्र ससाधनों का समुचित वितरण करता रहता है।

'प्रतियोगिता' के उपर्युक्त विवरण में यह उपधारणायें निहित हैं कि आर्थिक व्यवस्था सदा पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था में काम करती है, अर्थात इसके समस्त ससाधनों का उपयोगीकरण हो गया है और कोई भी बेकार नहीं, तथा प्रत्येक व्यक्ति-बुद्धि जीवी है और अपने हित अनहित को भलीभांति जानते हुये तथा अपनी चतुर्दिक परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान रखते हुए सदा बुद्धि-सम्मत कार्य कर अपने स्वार्थों की तुष्टि किया करता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काफी समय तक प्रतियोगिता को लोग आर्थिक व्यवस्था के कल्याण की सबसे बड़ी शर्त समझते रहे। लेकिन जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, न तो पूर्ण प्रतियोगिता का यह रूप कहीं तथा कभी पाया ही गया और न वह उतना कल्याणकारी ही है जितना आडम स्मिथ जैसे लोगों ने उसे समझा था।

यह सही है कि प्रतियोगिता ने आर्थिक क्षेत्र को कुछ हद तक लाभ पहुंचाया है। उपभोक्ता तथा समाज, दोनों को इससे लाभ पहुंचता है। उपभोक्ता के समक्ष भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएं आती हैं, उन्हें चुनाव का अच्छा मौका मिलता है। उत्पादक, उपभोक्ताओं को प्रसन्न करने के लिये अच्छी से अच्छी वस्तु को कम से कम कीमत पर बेचने की चेष्टा करते हैं। वास्तव में प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था में उपभोक्ता को 'बादशाह' कहा गया है। पूंजीवादी व्यवस्था में उपभोक्ता की पसन्दगी-नापसन्दगी पर बाजार चलता है। आर्थिक जगत का समस्त ढांचा उपभोक्ताओं के इशारे पर चलता है। किसी वस्तु को जब उपभोक्ता खरीदता है तो वास्तव में वह अपना वोट उस वस्तु को दे देता है, जिससे उसका उत्पादन बढ़े। उत्पादक, उपभोक्ता की इच्छाओं की तुष्टि करना चाहता है। चीजों का उत्पादन उपभोक्ताओं की इच्छा पर निर्भर होता है। वही वस्तुएं उत्पादित की जाती हैं, जिनको उपभोक्ता चाहता है। यद्यपि यहां यह बता देना आवश्यक है कि जिस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था एक कल्पना है, उसी प्रकार उपभोक्ताओं की 'बादशाही' भी ख्याली पुलाव है। उपभोक्ता की 'बादशाही' की पहली सीमा है उसकी सीमित आय। सीमित आय के कारण वह आर्थिक व्यवस्था को यथा इच्छा प्रभावित नहीं कर सकता। आज के युग में कुशल विक्रेता तथा विज्ञापन के अपार साधन उपभोक्ता की आंखों में बड़ी ही पटुता से धूल झोंक कर उसकी 'सार्वभौमिक सत्ता' से खिलवाड़ किया करते हैं। फिर उत्पादन टैक्नीकल बातों द्वारा भी नियंत्रित होता है। उपभोक्ता की अपनी स्वयं की आदतें, प्रकृति, उसके रस्म-रिवाज, वातावरण, राग-द्वेष, उसकी अभेद्य अज्ञानता प्रभृति बातें ऐसी हैं जो उसकी 'सार्वभौमिकता' के रास्ते में बड़ी रुकावटें डालती हैं तथा उसे स्वतन्त्र रूप से वस्तु-क्रय का चुनाव नहीं करने देतीं। किन्तु इन रुकावटों के होते हुये भी उपभोक्ता सामूहिक रूप से कम से कम दीर्घकालीन अवधि में वस्तुओं के उत्पादन के प्रतियोगिता व्यवस्था के अन्तर्गत नियन्त्रित करते माने जा सकते हैं।

हमने ऊपर यह भी कहा है कि प्रतियोगिता की हालत में समाज को भी कुछ लाभ होते हैं। वास्तव में पाश्चात्य देशों में गत शताब्दी में होते हुये आश्चर्य-जनक कलाकौशल के विकास का श्रेय कमोबेश प्रतियोगिता को दिया जा सकता है। प्रतियोगिता की हालत में कलाकौशल तथा शिल्प-विज्ञान की उन्नति होती है तथा अनुसंधान को बल मिलता है। उद्योग-धन्धों में कार्य-क्षमता अधिकाधिक आगे बढ़ती है। निम्न कोटि के फर्म जो अन्यथा समाज के रक्त पर जीते, प्रतियोगिता की अवस्था में समाप्त हो जाते हैं। व्यक्तिगत साहस, उपक्रम तथा बुद्धि को आगे बढ़ने का मौका मिलता है। सस्ते से सस्ते दाम पर बहुतायत में चीजें प्राप्त होती हैं। संसाधनों का समुचित वितरण भी कीमत-यन्त्र के प्राकृतिक नियम द्वारा हो जाता है क्योंकि मनुष्य गलती कर सकता है प्रकृति नहीं।

लेकिन इन गुणो के होते हुये भी प्रतियोगिता आर्थिक जगत मे पूर्णरूपेण अपना पैर जमा नही पाई। प्रतियोगिता स्वय विक्रयेकाधिकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती हैं। आज के जगत की वास्तविकतायें हैं विक्रयेकाधिकार, अपूर्ण प्रतियोगिता तथा विक्रयाल्पाधिकार। अपनी अज्ञानता, आलस्य तथा आदतो का गुलाम होने के कारण उपभोक्ता प्रतियोगिता की हालत से लाभान्वित न हो, किंकर्तव्य विमूढता का शिकार बन जाता है। उसे प्रतियोगिता के अन्तर्गत होने वाली तमाम अतिरिक्त-लागत तथा फजूल-खर्चियो (जैसे उत्पादक द्वारा किये जाने वाले विज्ञापन आदि) का व्यय वहन करना पडता है। फिर पू जी उपकरण पर अनावश्यक रूप मे खर्चे बढ जाते हैं। प्रत्येक फर्म को मशीन बिठानी पडती है, चाहे उन मशीनो का उपयोग हो पावे या नहीं। इससे समाज के ऊपर, और प्रत्येक उपभोक्ता के ऊपर, बेकार मशीनो के खर्चे का भार पडता है।

समाज को भी पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे हानियाँ उठानी पडती है। पूर्ण प्रतियोगिता मे उत्पादक अपनी स्वार्थ-सिद्धि मे पड कर हानिकारक वस्तुओ के उत्पादन तथा उपभोग को प्रोत्साहन देते है। प्रतियोगिता आर्थिक जगत की महा व्याधि, तेजी-मन्दी तथा व्यापार चक्र का कारण बनती है। इस व्यवस्था मे हानिकारक विज्ञापन तथा समाज विरोधी अन्य तत्वो को बल मिलता है। इसके अन्तर्गत सबसे अच्छे तथा कार्य कुशल फर्मो के बजाय वे फर्म फलने-फूलते हैं जिनके व्यवस्थापक काफी चालाक तथा बेइमान होते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की व्यवस्था एक प्रकार की अराजकता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यक व्यक्ति दूसरे को ठगने की कोशिश मे लगा रहता हैं, जहाँ व्यवसायी बाल-श्रम तथा स्त्री-श्रम से उत्पादक लाभ उठाने का प्रयत्न करते रहते हैं।

अर्थशास्त्रियो ने शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिया की कल्पना की है। प्रतियोगिता की वास्तव मे कई श्रेणिया होती हैं। चेम्बरलेन ने शुद्ध प्रतियोगिता उसे कहा है जिसमे किसी प्रकार के (क्रय या विक्रय) एकाधिकार का तत्व न पाया जाय। इस प्रकार प्रतियोगिता का वर्गीकरण हम दो प्रकार कर सकते है, पूर्ण या अपूर्ण तथा शुद्ध या एकाधिकारिक। बाजार म कीमत, माग पूर्ति आदि का विश्लेषण हमे इन सब अवस्थाओ को ध्यान मे रखकर करना हाना है। क्रम से इन अवस्थाओ को हम यो लिख सकते हैं—

शुद्ध या पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता, विक्रयाल्पाधिकार, विक्रयद्वयाधिकार तथा विक्रयेकाधिकार।

क्रेताओ के दृष्टिकोण से हम इसको इसको इस प्रकार कह सकते हैं—

शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता, क्रयाल्पाधिकार, क्रय-द्वयाधिकार तथा क्रयेकाधिकार।

किसी बाजार की अवस्था का ज्ञान हमें उसमें प्रचलित विशिष्ट कीमतों के पक्ष से ज्ञात होता है। वे परिवर्तनशील तत्व जिनके मान किन्ही विशिष्ट कीमतों के निर्धारक होते हैं, निम्नलिखित हैं—

(१) विक्रेताओं की संख्या।

(२) क्रेताओं की संख्या।

(३) प्रत्येक क्रेता अथवा विक्रेता बाजार का कितना ज्ञान रखता है।

(४) क्रेताओं तथा विक्रेताओं के उद्देश्य।

(५) क्रय-विक्रय होने वाली वस्तु की समावयवता।

(६) नये क्रेताओं तथा विक्रेताओं के प्रवेश पर सामाजिक, कानूनी, भौगोलिक अथवा संस्थात्मक अड़चनों की अनुपस्थिति।

(७) ससाधनों की गतिशीलता।

(८) विभाजनीयता।

(९) ससाधनों के स्वामियों में ज्ञान, तथा

(१०) दूरदर्शिता की मात्रा।

उपर्युक्त परिवर्तनशील तत्वों में प्रत्येक का मूल्य कम से कम सिद्धान्त के दृष्टिकोण से, शून्य से लेकर अनन्तता तक कुछ भी हो सकता है। इनके मूल्य विशिष्ट-विशिष्ट अनुपातों में मिलकर बाजार की भिन्न भिन्न स्थिति बताते तथा निर्धारित करते हैं।

इन तत्वों के भिन्न-भिन्न मूल्य के आधार पर हम बाजार का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से कर सकते हैं—

[क] प्रतियोगिता—

(i) शुद्ध प्रतियोगिता [Pure Competition]।

(ii) पूर्ण प्रतियोगिता [Perfect Competition]।

(iii) विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता [Monopolistic Competition]

[ख] विक्रयाल्पाधिकार [Oligopoly]।

[ग] विक्रयद्वयाधिकार [Duopoly]।

[घ] विक्रयेकाधिकार [Monopoly]।

उपर्युक्त में उपवर्ग 'क' [iii] तथा वर्ग 'ख' तथा 'ग' को हम सामूहिक रूप से अपूर्ण प्रतियोगिता [Imperfect Competition] भी कह सकते हैं।

[क] (i) शुद्ध प्रतियोगिता—शुद्ध प्रतियोगिता में उपर्युक्त १ से लेकर ५ तक के परिवर्तनशील तत्वों का मूल्य अधिक होता क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या पर्याप्त रूप में बड़ी होती है, प्रत्येक क्रेता तथा विक्रेता बाजार का पूर्ण ज्ञान रखता है। प्रत्येक क्रेता तथा विक्रेता का उद्देश्य होता है अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार क्रमशः अधिकतम तुष्टि तथा लाभ प्राप्त करना। क्रय विक्रय होने वाली वस्तु पूर्णतया

समावयव होती है । इसमे ६ से लेकर १० तक के उपर्युक्त परिवर्तनशील तत्वो का मूल्य शून्य होता है अर्थात ये तत्व शुद्ध प्रतियोगिता के लिए किसी भी महत्व के नही है और इस पर अपना जरा भी प्रभाव नही डालते ।

(ii) पूर्ण प्रतियोगिता—पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे परिवर्तनशील तत्व न० १, २, ३, ४ तथा ५ के मूल्य तो वही होते है जो शुद्ध प्रतियोगिता की हालत मे पाये जाते हैं, तथा अन्य (६ से १० तक के) तत्वो के मूल्य अनन्त होते है* [नोट जहा पूर्ण प्रतियोगिता होगी वहाँ शुद्ध प्रतियोगिता भी प्राय पाई जायगी]। शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे कोई एक या कुछ विक्रेता बाजार भाव पर प्रभाव नही डाल सकते ।

(iii) विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगित्ता—इस प्रकार के बाजार की साफ-साफ व्याख्या करने का सर्वप्रथम श्रेय प्रोफेसर ई० एच० चेम्बरलिन को है। १९३२-३३ मे अपनी पुस्तक 'दि थ्योरी ऑफ मोनोपोलिस्टिक कम्पटीशन' मे उन्होने विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता को सैद्धान्तिक रूप दिया । बाजार की इस स्थिति मे उपर्युक्त परिवर्तनशील तत्वो मे न० ५ तथा ६ को छोडकर शेष सबका वही मूल्य होता है जो शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे पाया जाता है । इस स्थिति के अन्तर्गत तमाम फर्मो द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तुयें एक दूसरे से बहुत अधिक मिलती जुलती है किन्तु वे पूर्ण रूपेण एक दूसरे के समावयव नही होती । फर्मों पर कुछ ऐसे कानूनी प्रतिबन्ध होते हैं कि उनमे से कोई भी ऐसी वस्तु उत्पादित नही कर सकता जो दूसरो द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तुओ मे से किसी के भी पूर्णरूपेण समावयव हो । उत्पादित- वस्तु विभेद (Product differentiation) इस प्रकार के बाजार का मुख्य लक्षण है । क्रेताओ विक्रेताओ की सख्या इसमे, शुद्ध प्रतियोगिता की भाति, पर्याप्त रूप से बडी होती है, लेकिन प्रत्येक विक्रेता द्वारा बेची जाने वाली वस्तु मे कुछ वास्तविक या काल्पनिक ऐसी निजी विशेषता होती है जो उसे अन्य विक्रेताओ द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओ से भिन्न बना देती है, यद्यपि यह सही है कि ये सारी वस्तुयें कतिपय हालतो मे एक दूसरे की स्थान पूर्ति कर सकती है । वस्तु विभेद ही के कारण इसमे विक्रयेकाधिकार के तत्व निहित होते हैं, वर्ना और दृष्टि-कोणो से विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता के समान ही होती है ।

---

* इसका अर्थ यह है कि बाजार मे क्रेताओ तथा विक्रेताओ के प्रवेश पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का सर्वथा तथा पूर्ण अभाव होता है, मसाधन एक उद्योग अथवा फर्म से अन्य उद्योगो अथवा फर्मों मे जाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं उनकी गति पर कभी किसी प्रकार की रोक नही होती, साधनो को अनन्त इकाइयो मे विभाजित किया जा सकता है, इन साधनो के स्वामियो का ज्ञान अनन्त होता है तथा लोग खूब दूरदर्शी होते हैं ।

[ख] विक्रयाल्पाधिकार—बाजार की यह अवस्था एक प्रकार से अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा कही जा सकती है। इस प्रकार के बाजार में विक्रेताओं की संख्या अल्प होती है। इसमें उपर्युक्त परिवर्तनशील तत्वों का मूल्य वही होता है जो विक्रयेकाधिकार (जिसका वर्णन आगे किया गया है) की दशा में पाया जाता है, केवल विक्रेताओं की संख्या में अन्तर होता है। विक्रयेकाधिकार की दशा में विक्रेता की संख्या केवल एक होती है, विक्रयाल्पाधिकार की हालत में विक्रेताओं की संख्या प्राय दो से अधिक लेकिन बीस से कम होती है। विक्रेताओं की संख्या अल्प होने के कारण प्रत्येक विक्रेता अपनी क्रियाओं द्वारा बाजार पर प्रभाव डाल सकता है। उपर्युक्त न० ३ से लेकर ५ तक के परिवर्तनशील तत्व विक्रयाल्पाधिकार की अवस्था में भी वैसे ही, उसी मान के होते हैं जैसे शुद्ध प्रतियोगिता की हालत में तथा न० ६ से लेकर १० तक के तत्वों का मूल्य शून्य होता है अर्थात् उनका विक्रयाल्पाधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्रेताओं की संख्या बड़ी होती है। वास्तव में विक्रयाल्पाधिकार भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है। विक्रयाल्पाधिकार को स्थूल रूप से हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वह जिसमें कि सब फर्म समावयव वस्तु का विक्रय करते हैं, दूसरे वह जिसमें कि प्रत्येक फर्म की वस्तु औरों की वस्तुओं से कुछ भिन्नता रखती है। पुन वस्तु समावयवता की हालत में भी बाजार की कई सूरतें हो सकती हैं सब फर्मों के लागत वक्र समरूप हो सकते हैं या भिन्न-भिन्न, हो सकता है कि बाजार का बटवारा फर्मों के बीच में बराबर हो या प्रत्येक फर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न हो। इस प्रकार के बाजार में विक्रयेकाधिकार की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। इसकी विपरीत अवस्था क्रयाल्पाधिकार (Oligopsony) कहलाती है, जिसमें विक्रेताओं की संख्या तो बहुत बड़ी, लेकिन क्रेताओं की संख्या अल्प होती है, और परिवर्तनशील तत्वों का मूल्य पूर्ववत् ही होता है। इस अवस्था में एक फर्म वस्तु के बाजार-भाव को अपनी क्रियाओं द्वारा प्रभावित अवश्य कर सकता है लेकिन अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर ध्यान रख कर ही वह ऐसा कोई कदम उठायेगा।

[ग] विक्रयद्वयाधिकार—इसमें उपर्युक्त परिवर्तनशील तत्वों के मूल्य वही होते हैं जो विक्रयाल्पाधिकार की दशा में पाये जाते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि विक्रयाल्पाधिकार की हालत में विक्रेताओं की संख्या दो से अधिक होती है और विक्रयद्वयाधिकार में केवल दो। इसमें दोनों फर्म या तो समावयव स्टैन्डर्ड वस्तु बेचते हैं या कुछ विभेदित वस्तुयें। वास्तव में विक्रयाल्पाधिकार की अवस्था के विश्लेषण करने के लिये हम विक्रयद्वयाधिकार की अवस्था का सहारा लेते हैं। इसकी विपरीत अवस्था क्रयद्वयाधिकार कहलाती है जिसमें क्रेता दो होते हैं तथा विक्रेता बहुत। और सब परिवर्तनशील तत्व पूर्ववत् ही रहते हैं। दोनों प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे की क्रियाविधि का ध्यान रख कर ही कुछ करेंगे यद्यपि उनमें से प्रत्येक, वस्तु के बाजार-भाव को कम व बेश करने की सामर्थ्य रखता है।

[घ] **विक्रयेकाधिकार**—इसको हम पूर्ण प्रतियोगिता का विपरीत ध्रुव कह सकते हैं। इसमे विक्रेता एक होता है तथा क्रेता अत्यधिक सख्या मे। उपर्युक्त परिवर्तनशील तत्वो मे ३ से लेकर ८ तक के तत्वो का मूल्य तो वही होता है जो शुद्ध प्रतियोगिता की हालत मे पाया जाता है, तथा ६ से लेकर १० तक के तत्वो का मान शून्य होता है। विक्रेता अकेले ही अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करता है। विक्रयेकाधिकार से यह अभिप्राय नही होता कि विक्रेता फर्म का आकार बहुत बडा होता है। यह आवश्यक नही। शर्त केवल यह है कि जिस वस्तु या सेवा का उत्पादन या विक्रय वह करता हो, उसका कोई निकट स्थानापन्न न हो। इसके विपरीत जहा बहुत से विक्रेता हो, किन्तु क्रेता एक हो तो वह अवस्था क्रयेकाधिकार (Monopsony) कहलाती है। क्रयकाधिकार की हालत मे अन्य परिवर्तनशील तत्वो का मूल्य वही रहता है जो विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे पाया जाता है। जहा केवल एक विक्रेता तथा एक ही क्रेता हो तथा अन्य परिवर्तनशील तत्वो का मूल्य विक्रयेकाधिकार की भांति ही रहे तो इस अवस्था को *द्विपार्श्वेकाधिकार (Bilateral Monopoly)* कहते है। ऐसे बाजार मे एकाधिकारी क्रेता तथा विक्रेता दोनो वस्तु के कीमत निर्धारक होते हैं।

अब हम इन अवस्थाओ का अलग अलग विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

—:o—

शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता

शुद्ध-प्रतियोगिता—

किसी बाजार मे शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था पाई जाती है कि नही—इस बात का पता लगाने के लिये हमे उस बाजार म बिकने वाली वस्तु की किस्म, प्रकृति तथा मात्रा, वहा के क्रेताओ तथा विक्रेताओ की सख्या आदि विषयो पर विचार करना होगा। किसी वस्तु के बाजार म शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था तभी मानी जायगी जब निम्नलिखित दशायें उसम विद्यमान हो

(१) उस वस्तु क विक्रेताओ की सख्या पर्याप्त रूप से बडी है,

(२) उस वस्तु के क्रेताओं की सख्या पर्याप्त रूप से बडी है,

(३) उस वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइया समावयव हैं,

(४) अपने धन तथा आय के अनुसार प्रत्येक क्रेता स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छाओ की अधिकतम तुष्टि करने के लिये प्रयत्नशील है, उसी प्रकार प्रत्येक विक्रेता अपनी वास्तविक आय या आमद* (net revenue) को अधिक से अधिक बढाना चाहता है।

(५) क्रेताओ तथा विक्रेताओ को बाजार की अवस्था का समुचित ज्ञान है।

(१) शुद्ध प्रतियोगिता के लिये प्रथम आवश्यक शर्त यह है कि सम्बन्धित वस्तु को बेचने वालो की सख्या काफी बडी होनी चाहिये। यहा सख्या तो ठीक-ठीक नही बताई जा सकती, हा, यह सख्या इतनी बडी होनी चाहिये कि कोई एक विक्रेता उस वस्तु की कीमत तथा उसके उत्पादन पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाल सके। प्रत्येक विक्रेता एक अणु मात्र होता है, अपनी क्रिया द्वारा वह बाजार-पूर्ति वक्र की स्थिति को इतना नही बदल सकता जिससे कि वस्तु के भाव में कोई फर्क पड सके। फल यह होता है कि प्रत्येक विक्रेता बाजार भाव को दृष्टिगत रखकर अपने विक्रय का नियोजन करता है, वह जानता है कि बाजार भाव को वह घटा बढा नही सकेगा, अत उसी, दिये हुये, भाव पर वह वस्तु विक्रय का ऐसा नियोजन करता है कि उसे

* Revenue के लिये आगे आय 'आय' शब्द ही प्रयोग मे लाया गया है।

उच्चतम वास्तविक आमद हो। बाजार-भाव उस वस्तु के विक्रय मे लगे हुये तमाम फर्मों के सामूहिक प्रभाव द्वारा निर्धारित होता है। कोई एक फर्म इस भाव पर जितनी वस्तु मात्रा चाहे बेच सकता है। वस्तु समावयव होती है, अर्थात् इस धंधे मे लगे हुये सभी फर्म समान तथा समावयव वस्तु-बाजार भाव पर बेचते है, तथा कोई एक फर्म बाजार-भाव से तनिक भी अधिक दाम मागे तो क्रेता उस फर्म को छोडकर दूसरे फर्मों के पास चले जायेंगे। इसी प्रकार यदि वह बाजार दर से अपनी कीमत कम करेगा तो इतनी तेजी से उसका स्टॉक बिक जायगा कि उसे नये स्टाक को फिर बनाना कठिन हो जायेगा।

ऐसे प्रतियोगिता वाले बाजार मे किसी भी एक फर्म द्वारा बेचने के लिये प्रस्तुत वस्तु-मात्रा की माग बहुत अधिक लोचदार होगी, क्योकि यदि यह फर्म की कीमत मे तनिक भी वृद्धि करता है तो उसके ग्राहक अन्यत्र चले जायेंगे।* इसलिये हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण उद्योग धन्धे के लिये माग वक्र नीचे की ओर ढालू होता है किन्तु उद्योग धन्धे की एक इकाई, एक फर्म के लिये माग वक्र बिल्कुल क्षैतिज होगा। दूसरे शब्दो मे, एक फर्म के लिये मागवक्र की लोच अनन्त होगी। बाजार माग वक्र (Market demandcurve) की लोच कभी भी अनन्त नही हो सकती। प्रतियोगी फर्म बाजार दर पर जितनी वस्तु मात्रा चाहे बेच सकता है।
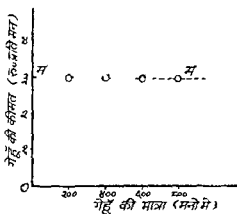
शुद्ध प्रतियोगिता की हालत मे किसी एक फर्म की मांग की अनन्त लोच।

इस सम्बन्ध मे हम यह कह सकते हैं कि जो बात एक फर्म के बारे मे सही है वह सामूहिक रूप से सबके लिये सही नही।

---

* यहा यह स्मरण रहे कि ग्राहक इस फर्म को छोड कर तभी जायेंगे जब उन्हे इस बात का ज्ञान होगा कि वैसी ही वस्तु अन्यत्र सस्ती मिल सकती है।

(२) शुद्ध प्रतियोगिता के लिये दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि उस वस्तु के क्रेताओं की संख्या इतनी अधिक हो कि किसी एक क्रेता द्वारा बाजार भाव पर खरीदी जाने वाली वस्तु मात्रा कुल खरीद का परम छोटा अंश हो, जिससे कि किसी एक क्रेता की क्रियाओं का बाजार भाव पर कोई प्रभाव न पड़े। प्रत्येक क्रेता बाजार भाव को दिया हुआ मान कर अपनी उच्चतम तुष्टि के लिये आवश्यक वस्तु मात्रा के क्रय करने का विधान करे। इस प्रकार बाजार भाव पर, कोई व्यक्ति उस वस्तु की जितनी मात्रा चाहे खरीद सकता है।

क्रेताओं के बीच भी प्रतियोगिता आवश्यक है। साधारणतया यह प्रतियोगिता उतनी दृष्टिगोचर नहीं होती, जितनी कि विक्रेताओं के बीच की होती है। लेकिन कभी-कभी यह उग्र तथा प्रभावोत्पादक हो जाती है। उदाहरण के लिये कच्चे माल के खरीदने में कभी-कभी प्रतिद्वन्द्वी फर्मों में काफी होड़ लग जाती है। ग्राहकों का मोल-तोल करना तथा उन्हें प्रचार से प्रतियोगियों द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचना प्रतियोगिता के आवश्यक पहलू हैं। वास्तव में मोल तोल करना तथा सक्रिय रूप से बाजार में भाग लेना क्रेताओं का प्रतियोगिता प्रणाली के अन्तर्गत एक फर्ज सा है—"ग्राहकों की यह क्रिया प्रतियोगिता की प्रक्रिया की एक आवश्यक पूरक है," तथा "इसके अभाव में प्रतियोगिता में उदासीनता आ जायगी।"*

प्रतिद्वन्द्विता केवल क्रेताओं तथा विक्रेताओं तक ही सीमित नहीं रहती, उत्पादन के साधन भी एक दूसरे के साथ होड़ लेते रहते हैं। प्रतियोगिता के लिये यह आवश्यक है कि भूमि, श्रम तथा पूंजी अपने अपने उपयोगीकरण के लिये एक दूसरे के साथ होड़ लगाते रहें जैसे यदि मजदूरी की दर बढ़ जाय तो पूंजी श्रम के स्थान को लेने के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करें, मजदूरी बढ़ने पर अधिक पूंजी लगा कर विकसित तथा कुशल यन्त्रोपकरण बैठाये जा सकते हैं, जो श्रम की आवश्यकता कम कर देंगे।

(३) शुद्ध प्रतियोगिता की तीसरी आवश्यक शर्त है सामग्री की समावयवता। सब क्रेताओं तथा विक्रेताओं द्वारा खरीदी तथा बेची जाने वाली सामग्री की तमाम इकाइयां अभिन्न रूप से समरूप हों। इसका परिणाम यह निकलेगा कि विक्रेता को इस बात की बिल्कुल फिक्र न होगी कि कोई ग्राहक उस सामग्री की कौन इकाइयां खरीदता है, न क्रेता ही इस बात की चिन्ता करेगा कि वह किस स्थान से वह वस्तु खरीद रहा है, क्योंकि सामग्री की हर इकाई समरूप है।

उस वस्तु की प्रत्येक इकाई का दूसरी इकाइयों के पूर्णतया समावयव होना ही आवश्यक नहीं, बल्कि यह भी आवश्यक है कि उस वस्तु के क्रय-विक्रय की परिस्थितियां सर्वत्र समान हों, किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में क्रेताओं तथा विक्रेताओं का ऐसा वितरण हो जिससे कि दूरी के कारण किसी खास विक्रेता

* the American Economic Review vol XLV. May 1955. No. 2. p. 461.

को कोई अधिमानता प्राप्त न हो सके। समावयव होने के लिये वस्तु की प्रत्येक इकाई की भौतिक तथा रासायनिक बनावट समरूप होनी चाहिये, जिससे कि केवल कीमत ही इस वस्तु के क्रय-विक्रय पर प्रभाव डाल सके, कोई अन्य परिस्थिति नही।

(४) शुद्ध प्रतियोगिता की दशा में प्रत्येक क्रेता (तथा विक्रेता) अपने लिए अधिकतम तुष्टि (लाभ) प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। प्रतियोगिता के साम्राज्य मे प्रत्येक क्रेता-विक्रेता अधिकाधिक अपने स्वार्थ की सिद्धि चाहता है। इस हेतुक (स्वार्थ-सिद्धि) की पूर्ति के लिये वह कठिन परिश्रम करता है। इस प्रकार बाजार में सर्वत्र स्वार्थ परिता पाई जाती हैं। वस्तु की माग पूर्ति की दशाएं इन्ही स्वार्थों की आपसी क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होती है। इस लिये इस दशाओं को कोई एक व्यक्ति, चाहे क्रेता हो या विक्रेता, प्रभावित नही कर सकता।

(५) बाजार मे किसी समावयव वस्तु के क्रेताओं तथा विक्रेताओं की भारी सख्या म उपस्थित जहा कि प्रत्यक क्रेता अधिकतम तुष्टि तथा प्रत्येक विक्रेता उच्चतम वास्तविक लाभ प्राप्त करने की कोशिश कर रहा है—स्वय इस बात की गारन्टी नही है कि बाजार मे उसका क्रय-विक्रय सर्वत्र एक ही कीमत पर होगा। उपर्युक्त शर्तों मे १ से ३ तक की शर्तें शुद्ध प्रतियोगिता के लिये परमावश्यक होते हुए भी पर्याप्त नही हैं। सर्वत्र एक ही भाव होने के लिये यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक क्रेता तथा विक्रेता को बाजार की परिस्थितियो की जानकारी हो।

प्राय यह उपधारणा कर ली जाती है कि क्रेता विक्रेता बाजार की सम्पूर्ण परिस्थितियो की जानकारी रखते हैं, लेकिन ऐसा होने से तो बाजार सदा ही सस्थिति की परिस्थिति मे रहेगा। वास्तव मे आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक क्रेता को अपनी पसदगी-नापसदगी ज्ञात हो, उस यह ज्ञात हो कि जो वस्तु वह खरीद रहा है उसकी स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ तथा उसकी पूरकों का क्या भाव है, तथा उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि स्थानापन्न होने वाली अन्य वस्तुओ से वह कितनी तुष्टि प्राप्त कर सकेगा। विक्रेता को ग्राहको की पसदगी, वस्तु की पूरक तथा स्थानापन्न होन वाली वस्तुओं के भाव तथा अपने लिये उत्पादन के खुले मार्ग के अतिरिक्त यह भी ज्ञान होनी चाहिए कि किन भिन्न भिन्न मात्राओ मे उत्पादक सेवाओ के सयोग से वह इस वस्तु की कितनी मात्रा तैयार कर सकेगा तथा इन सेवाओ की अलग अलग क्या कीमते होगी। इन्ही बातो से बाजार का वातावरण निर्मित होता है और इन बातो से क्रेताओ तथा विक्रेताओ को पूर्णतया अवगत होना चाहिए। वास्तव म इन्ही बातो के ज्ञान पर बाजार की सस्थिति निर्भर करती है। इनके ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्तर पर भिन्न भिन्न सस्थिति की अवस्थाए पैदा होंगी।

यदि उपर्युक्त शर्तें किसी वस्तु के बाजार म पाई जाती हैं तो हम यह कह सकते हैं कि बाजार म शुद्ध प्रतियोगिता है। उसमे विक्रय-एकाधिकार आदि

बातें नही हैं। प्रत्येक क्रय विक्रय वहाँ सस्थिति की अवस्था मे हो रहा है। लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि शुद्ध प्रतियोगिता हमे केवल यह बताती है कि यदि उपर्युक्त शर्तें पूरी होंगी तो किसी निश्चित समय पर प्रचलित बाजार भाव पर कथित वस्तु की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होगी। यह हमे केवल किसी क्षण विशेष का दिग्दर्शन कराती है। उदाहरण के लिये यदि हम कोई वस्तु 'य' लेते हैं जो एक समावयव वस्तु है तथा जिसके क्रेता-विक्रेता काफी सख्या मे, पूर्ण ज्ञान के साथ इस वस्तु को ऐसी बाजार मे खरीद-बेच रहे हैं जहा उपर्युक्त शर्तें उपस्थित हैं तो प्रचलित भाव पर इस वस्तु की, एक निश्चित समय पर, क्रेताओं द्वारा माग इस वस्तु की, उत्पादकों द्वारा, पूर्ति के बराबर होगी। लेकिन यदि बाजार स्थिति मे परिवर्तन आ जाय—जैसे मान लिया कि लोगो की इस वस्तु के उपभोग करने की प्रवृत्ति मे फर्क पड गया—तो शुद्ध प्रतियोगिता हमे यह नही बता सकती कि इस वस्तु 'य' के भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न कीमतो के बीच क्या सम्बन्ध है। कीमतो की समय के दृष्टिकोण मे क्या गति विधि होती है, जो कीमत इस क्षण बाजार मे है वह मौजूदा स्तर पर कैसे पहुँची—जैसे, यदि इस क्षण, सस्थिति की हालत मे गेहू ४०) प्रतिमन के भाव से बाजार मे बिक रहा है और इससे पूर्व उसका भाव, सस्थिति की हालत में ३५) प्रतिमन था तो यह भाव ३५) से ४०) प्रति मन पर कैसे चला गया—इन प्रश्नो का उत्तर हम शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था नही देती। कीमत का यह समय-पथ फर्मों के विक्रय नियोजन मे की जा सकने वाली समायोजनाओ (adjustments) पर मुख्यत निर्भर करता है। इन समायोजनाओं को दो भागो मे बाटा जा सकता है एक तो, अल्पकालीन समायोजनायें, दूसरी, दीर्घकालीन समायोजनायें। अल्पकालीन अवधि मे कोई फर्म पूर्ति की मात्रा को वही तक घटा बढ़ा सकता है जहा तक कि उसकी मौजूदा परिस्थितिया अर्थात पूंजी-उपकरण, प्रबन्धकर्ता आदि की मौजूदा क्षमता इसके अनुकूल हैं। अल्पकालीन अवधि मे कोई फर्म नई मशीनें नही बिठा सकता, न बाजार मे नये फर्म ही प्रवेश कर सकते हैं, इनके लिय समय की जरूरत होगी। मौजूदा फर्म यही कर सकते हैं कि अपने मौजूदा उपकरणो का उत्पादन के लिये अधिकतम उपयोग करें। इसलिये अपनी मौजूदा योग्यता को ध्यान में रखते हुए ही अल्पकालीन अवधि मे फर्म अपना विक्रय तथा पूर्ति का नियोजन करेंगे। ऐसी अवधि में पूर्ति-वक्र अपेक्षातया कम लोच रखता है।

लेकिन दीर्घकाल मे यह अवस्थाए बदल जाती हैं, फर्म न केवल नई मशीनें बिठा कर अपनी क्षमता ही बढ़ा सकते हैं, वरन् नये फर्म भी बाजार मे प्रवेश कर सकते हैं। इसका विपरीत भी हो सकता है। फर्म पुरानी बेकार मशीनो के बदले नई मशीनें न बिठाए तथा अपनी क्षमता में कमी कर दें अथवा कुछ फर्म बिल्कुल काम ही बन्द कर दें। दीर्घकालीन अवधि मे य समायोजन जितनी ही आसानी से किये जा सकें उतनी ही दीर्घकालीन पूर्ति वक्र की कीमत-लोच अधिक होगी। यदि

दीर्घकालीन अवधि मे भी पूर्ति मे कोई कमी या वेशी समायोजन न लाया जा सका तो अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन-दोनो पूर्ति वक्र सम्पात (Coincicent) होगे अर्थात माग बढने पर दोनो प्रकार की पूर्ति कुछ सीमित रूप ही से बढाई जा सकती है। लेकिन यदि पूर्ति का समायोजन दीर्घकालीन अवधि मे सम्भव हुआ तो माग मे परिवर्तन के प्रत्युत्तर मे पूर्ति मे परिवर्तन आसानी से किया जा सकेगा जिससे कि वस्तु का बाजार भाव पूर्ववत अवस्था पर आ जायेगा। जैसे, मान लिया कि गेहू की सस्थिति की कीमत या बाजार भाव ४०) प्रति मन है। यदि किसी कारण से इसकी माग बढ जाय तो अल्पकालीन अवधि मे—चार, छ दस महीने मे इसकी पूर्ति नही बढाई जा सकती, जिससे कि बढी हुई माग की पूर्ति की जाय, (इस अवधि मे गेहू पूर्ति का वक्र आलोचप्राय' होगा) तो बाजार भाव पर माग का प्रभाव अधिक होगा और कीमत स्तर बढ जायगा। मान लिया अब भाव ४५) प्रति मन हो गया लेकिन बढी हुई माग तथा ऊची दर के फलस्वरूप दीर्घकाल मे किसान अधिक भूमि गेहू उत्पादन के कार्य मे लगायेगे या कुछ किसान जो पहले गेहू का उत्पादन नही करते थे, बढा हुआ भाव देख कर गेहूँ उत्पादन करना प्रारम्भ कर देंगे। फल यह होगा कि पूर्ति भी बढ जायगी और माग-पूर्ति के बीच पुन साम्य पैदा हो जायगा जिससे सस्थिति की अवस्था आ जायगी और गेहूँ फिर ४०) प्रति मन बिकने लगेगा।

इस उदाहरण मे हमने देखा कि गेहू का अल्पकालीन पूर्ति-वक्र तो बेलोच है, लेकिन इसका दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र पूर्णतया लोचदार। यदि किसी वस्तु का दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र पूर्णतया लोचदार है तो उसके बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, या हम यो कह सकते हैं कि इस वस्तु के व्यवसाय मे लगे हुये फर्म पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे कार्य कर रहे हैं। अर्थात् जब किसी उद्योग-धन्धे मे दीर्घकालीन अवधि मे नये फर्मों के प्रवेश अथवा पुराने फर्मों के बन्द होने पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, जिससे कि उस वस्तु की प्रति इकाई की कुल उत्पादन-लागत मे औसतन* कोई वृद्धि किये बिना दीर्घकाल मे उसकी उत्पादन मात्रा मे यथावाछित वृद्धि की जा सके तो उस उद्योग-धन्धे म पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था पाई जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत यदि दीर्घकालीन सस्थिति मे माग मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप कोई विघ्न पड जाता है तो पूर्ति मे ऐसा समायोजन हो सकता है जिससे कि सस्थिति की दशा मे जो बाजार भाव था वही पुन लौट आता है।

---

* पूर्ण प्रतियोगिता मे उत्पादन की प्रति इकाई पर औसत कुल-उत्पादन लागत बराबर होती है बाजार मे उस वस्तु की कीमत दर के, इसलिये यह कहना कि वस्तु की प्रति इकाई की कुल उत्पादन लागत की औसत मे वृद्धि न होगी यह कहने के बराबर है कि बाजार भाव मे कोई वृद्धि न होगी।

पूर्ण प्रतियोगिता—

किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता के लिये उपर्युक्त शुद्ध प्रतियोगिता की पांच शर्तों के अतिरिक्त कुछ शर्तों का होना आवश्यक है। ये हैं —

(क) इस वस्तु के उत्पादन में लगे हुये उद्योग धन्धे में नये फर्मों के प्रवेश अथवा पुराने फर्मों के बन्द किये जाने पर कानूनी, सामाजिक तथा संस्थात्मक प्रतिबन्ध या बाधा नहीं होनी चाहिये,

(ख) उद्योग धन्धे में प्रवेश करने वाले नये फर्म या व्यक्ति उसमें लगे पुराने फर्मों या व्यक्तियों के परिस्थिति तथा गुण में समान हों तथा समाधनों को समान रूप से तथा उसी दर पर प्राप्त कर सकें,

अर्थात् उस वस्तु के उत्पादन के काम में आने वाले समस्त ससाधनों के पूर्ति-वक्र पूर्णतया लोचदार हों। यह तभी होगा जब —

(१) सब ससाधन भौगोलिक तथा पेशे के दृष्टिकोण से पूर्णतया गतिशील हों*

(२) इनमें से प्रत्येक समाधन** को अपनी वैकल्पिक उपयोगिताओं का पूर्ण ज्ञान हो,

(३) प्रत्येक समाधन को वर्तमान ही का ज्ञान न हो बल्कि उसे भविष्य में भी अपने उपयोग होने की सम्भावनाओं तथा अवसरों का अन्दाजा होना चाहिये, तथा

(४) प्रत्येक उत्पादक समाधन पूर्णतया विभाज्य हो।

अब हम संक्षेप में इन शर्तों पर भी विचार करलें —

(क) दीर्घकालीन अवधि में किसी वस्तु के पूर्ति वक्र के पूर्णरूपेण लोचदार होने के लिये पहली आवश्यक शर्त यह है कि इस वस्तु के उद्योग-धन्धे में नये फर्मों के प्रवेश पर किसी प्रकार प्रतिबन्ध न हो (न पुराने फर्मों के निकलने, बन्द होने ही पर कोई प्रतिबन्ध हो) नये प्रवेश पर सरकार प्रतिबन्ध लगा सकती है, या यह हो सकता है कि मौजूदा फर्मों ने उस वस्तु को पेटेन्ट करा लिया हो, जिससे कि अन्य कोई नया फर्म उसका उत्पादन न कर सके, यहां ऐसा भी हो सकता है कि मौजूदा फर्म नये फर्मों के प्रवेश में बाधा उपस्थित करें—जैसे वस्तु को बहुत ही कम कीमत पर बेचने की धमकी देकर, या उस वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक किसी

*" Perfect Competition implies an absence of friction in the sense of an ideal fluidity or mobility of factors. Such that adjustment to changing conditions which actully involve time are accomplished instantaneously."
—Monopolistic Competition Chamberlain

** ससाधनों का व्यक्ति के रूप में देखा गया है। इसका अर्थ ससाधन, जो एक सेवा की भांति है, के स्वामी जैसे श्रम का स्वामी, मजदूर, भूमि का जमीदार तथा पूंजी का पूंजीपति होता है।

ससाधन के श्रोत पर अधिकार जमा कर ऐसा कर दे कि नये फर्म को वह ससाधन मिल ही न पाये।

जहां तक उस उद्योग धन्धे मे से पुराने फर्मों के निकलने की बात है उसमे प्राय कोई बाधा उपस्थित नही होती, लेकिन फिर भी सद्धान्तिक रूप से पुराने फर्मों के कारोबार बन्द करने मे कोई अडचन न आनी चाहिए। बाहर निकलने मे बाधा उत्पन्न होने का भय प्राय प्रवेश मे भी हिचकिचाहट पैदा कर सकता है। यही नही कि नये फर्मों के प्रवेश पर कोई बाधा न डाली जाय बल्कि यह भी आवश्यक है कि प्रवेश करने के बाद उन्हे भी उत्पादन की वे सारी सुविधायें प्राप्त हो जो पुराने, मौजूदा फर्मों को प्राप्त हैं। ससाधनो की, परिवहन की तथा अन्य ऐसी सेवाओ की उन्हे पूर्णरूपेण सुविधा उपलब्ध हो। इन नये फर्मों के पास आने वाले ग्राहको पर भी कोई अनुचित प्रभाव न डाला जा सके। जब ये शर्तें पूरी हो जाती हैं तभी उद्योग-धन्धे मे पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था की आशा की जा सकती है।

(ख) इस वस्तु के उत्पादन मे लगने वाले ससाधनो को अपनी भिन्न-भिन्न उपयोगिताओ तथा उनसे प्राप्त होने वाले पारितोषिक के बारे मे पूरा ज्ञान होना भी आवश्यक है। नये फर्मों के प्रवेश से इस उद्योग-धन्धे मे विस्तार होगा, ससाधनो की माग मे वृद्धि होगी, इसलिये यदि इन ससाधनो का पूर्ति-वक्र काफी लोचदार नही है तो इनकी कीमतें भी बढ जायगी, ससाधनो के बाजार भाव मे वृद्धि होने से उन ससाधनो के सयोग से निर्मित होने वाली वस्तु की उत्पादन-लागत भी बढ जायगी, जो बात हमारी उपर्युक्त शर्त के बिल्कुल विपरीत है। अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता के लिये यह आवश्यक है कि उद्योग-धन्धे मे प्रवेश करने वाले नये फर्म पहले ही जितनी उत्पादन-लागत पर उत्पादन कर सके और यदि उत्पादन-लागत मे वृद्धि हो गई तो हमारी उपर्युक्त शर्त (क) पूरी नही होती। इसलिये इन ससाधनो के पूर्ति-वक्र को दीर्घकालीन अवधि मे काफी लोचदार होना आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि इन ससाधनो की पूर्ति करने वाले फर्म में भी पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था पाई जानी चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी वस्तु 'य' के व्यवसाय में लगे हुये फर्मों के बीच पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था तभी पाई जायगी जब उस वस्तु के उत्पादन मे काम आने वाले ससाधनो तथा सेवाओ में भी पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था पाई जाती हो तथा इन ससाधनो तथा सेवाओ के पूर्ति-वक्र पूर्णरूपेण लोचदार हो।

किसी उत्पादक ससाधन या सेवा का पूर्ति-वक्र, 'य' वस्तु के उत्पादन में लगे उद्योग-धन्धे के लिये पूर्णरूपेण लोचदार तभी होगा जब निम्नलिखित शर्ते पूरी होगी।

(१) जब इस ससाधन या सेवा की प्रत्येक इकाई की गतिशीलता पर कोई रोक न हो, वह देश (या ससार) के एक भाग से दूसरे भाग मे यथा आवश्यकता

(३) भविष्य के प्रति मनुष्य सदा अटकलें लगाया करता है। आर्थिक जगत मे भविष्य का जो जितना ही सही अन्दाजा लगा सकेगा वह उतना ही अधिक लाभ कमा सकेगा। अन्दाजा सही हो या गलत, बुद्धिजीवी प्राणी होने के नाते मनुष्य भविष्य के प्रति कुछ दृष्टिकोण जाने अनजाने सदैव रखता है। उद्योग-धन्धे मे लगे लोगो के लिये भी यह इतना ही सही है। यदि किसी उद्योग धन्धे का भविष्य उज्ज्वल है लेकिन वर्तमान मे यदि वह उतना लाभ नही भी दे रहा है तो भी उद्योगपति तथा व्यवसायी उसे नही छोडेंगे। इसी लिये किसी सेवा या ससाधन के पूर्ति वक्र के पूर्णतया लोचदार होने के लिये यह आवश्यक है कि उसे इस बात का (अद्भुत) ज्ञान हो कि भविष्य उसके लिये क्या-क्या सुअवसर अपने गर्भ मे छिपाये हुए हैं तथा प्रत्येक उद्योग धन्धे मे वह भविष्य मे कितना कमा सकेगा। मान लिया कि एकाएक सूत का बाजार गर्म हो जाता है जिससे कि सूत उत्पादन मे लगे हुए लोगो की वास्तविक आम पर्याप्त रूप से बढ जाती है। स्वभावत नये फर्म सूत के व्यवसाय की ओर झुकगे, किन्तु यदि यह माग मे वृद्धि अस्थाई हुई तो उनके इस व्यवसाय मे प्रवेश से कोई लाभ न होगा और माग-पूर्ति के सतुलन मे एक दीर्घकालीन विघ्न उपस्थित हो सकता है जिसका परिणाम अन्य उद्योग धन्धो के सतुलन पर पड सकता है और भविष्य यदि अन्यत्र भी इसी प्रकार अनिश्चयपूर्ण हुआ तो पूर्ण प्रतियोगिता तथा कीमत-यन्त्र काम न कर सकेंगे। इस लिये यह आवश्यक है कि उत्पादक सेवाओ तथा समाधनो को भविष्य के बारे मे ठीक-ठीक ज्ञान हो, प्रत्येक सेवा तथा ससाधन का भविष्य क्या है। या हालत इसके बिल्कुल विपरीत हो अर्थात किसी को भी भविष्य के बारे मे तनिक भी ज्ञान या अन्दाजा न हो और सभी पूर्ण अदूरदर्शिता के शिकार हो।

(४) सेवाओ तथा ससाधनो के पूर्ति वक्रो को पूर्णरूपेण लोचदार होने के लिए वह बात भी आवश्यक है कि इनमे से प्रत्येक पूर्णतया विभाज्य हो। यदि सेवाएं तथा ससाधन पूर्णरूपेण विभाजित होने योग्य नही हैं तो उनके पूर्ति-वक्र मे कुछ न कुछ अलोच रहेगा। उदाहरण के लिये हम पूजी को लेते हैं। पूजी द्वारा हम मशीनें खरीद सकते हैं। अब मान लिया कि 'य' नामक वस्तु की माग बढ गई। माग बढने से कीमतो मे वृद्धि हो जायगी और यदि यह दीर्घकालीन प्रवृति हुई तो 'य' वस्तु के उत्पादन करने वाले फर्म नई मशीनें बैठाना चाहेगे। मान लिया कि उत्पादन मे लगे हुए फर्मो मे एक फर्म, 'य' वस्तु का उत्पादन १०० इकाई बढाना चाहता है, और १०० नई इकाइयो के उत्पादन के लिये उसे १० हॉर्सपावर की मशीन काफी होगी। अब यदि इस तरह की कोई मशीन १०० हॉर्सपावर से कम होती ही नही तो इस फर्म के सामने बडी कठिनाई उपस्थित होगी। यह कठिनाई इसलिय है कि मशीन विभाज्य होती तो १०० हॉर्स पावर वाली मशीन के दस भाग कर दिये जाते, जिससे कि यह फर्म एक भाग खरीद कर अपना काम चलाता। लकिन अब तो फर्म के सामने दो ही रास्ते हैं—या तो वह नई मशीन बैठाये ही नही

और यदि बैठाये तो १०० हॉर्स पावर की जो उसकी आवश्यकता है अधिक है। यहाँ हम देख रहे हैं मशीन का पूर्ति-वक्र पूर्णतया लोचदार नहीं है, कम से कम एक निश्चित सीमा तक। हाँ, यदि माँग इतनी बढ़ जाती है कि १०० हार्स पावर की मशीन बैठाना आवश्यक हो तो मशीन का पूर्ति-वक्र भले ही लोचदार हो जाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि अविभाज्यता पूर्ति वक्र के लोच में बाधा उत्पन्न करती है। *अविभाज्यता यदि किसी भी सेवा या समाधन में हुई तो उद्योग धन्धे में मौलिक असंतुलन पैदा हो सकता है,* माँग-वृद्धि के अनुपात में पूर्ति नहीं चल पायेगी। उपर्युक्त उदाहरण में यदि उद्योगपति १० के बदले १०० हॉर्स पावर की मशीन बिठायेगा तो पूर्ति की मात्रा आवश्यकता से अधिक होगी और असंतुलन की अवस्था का आना मुश्किल हो जायगा। इसलिये सैद्धांतिक रूप से सेवाओं तथा समाधनों की *विभाज्यता उनके पूर्ति-वक्र की आलोचना की एक आवश्यक शर्त है।*

संक्षेप में, जब किसी वस्तु के उद्योग-धन्धे में नये फर्मों के प्रवेश अथवा पुराने फर्मों के बन्द होने में सरकारी, सामाजिक अथवा संस्थात्मक बाधायें नहीं होतीं तथा जब उस वस्तु के उत्पादन में काम आने वाली सेवायें तथा समाधन पूर्णरूपेण गति-शील तथा विभाज्य होते हैं, और उन सेवाओं तथा समाधनों के स्वामियों से बाजार परिचित है तथा ये लोग पर्याप्त रूप से दूरदर्शी हैं तो उस उद्योग धन्धे में लगे हुये फर्मों के आकार समान होंगे, फर्मों को समान रूप से लाभ होगा तथा उन्हें समान रूप से उत्पादन सम्बन्धी या अन्य प्रकार की सुविधायें उपलब्ध होंगी, सब फर्म समान रूप से, बराबर बराबर मात्राओं में उत्पादक सेवाओं तथा समाधनों का उपयोग करते होंगे, उनके उत्पादन तथा विक्रय भी समान मात्रा में होंगे। कीमतें सर्वत्र समान होंगी*। "प्रत्येक उत्पादक दूसरों की कीमतें तथा लाभ और इस प्रकार लागत भी जानता"** होगा।

शुद्ध प्रतियोगिता तथा पूर्ण प्रतियोगिता—

ऊपर बताई हुई शुद्ध प्रतियोगिता की शर्तें किसी वस्तु या सेवा के लिए माँग-वक्र का आकार निर्धारित करती हैं। मौजूदा बाजार भाव पर यह माँग-वक्र पूर्णतया लोचदार होती है। पूर्ण प्रतियोगिता की उपर्युक्त शर्तें किसी फर्म के माँग तथा वक्रों के बीच के सम्बन्ध को बताती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में काम करते हुये फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु के माँग तथा पूर्ति लागत वक्र एक दूसरे के स्पर्शक*** होते हैं। इसका अर्थ यह होता है

---

* "The more nearly perfect a market is, the stronger is the tendency for the same price to be paid for the same thing at the same time in all parts of the market"—*Marshall, 'Principles'* 8th. Edn. pp. 325 (Mac. London).

** The American Economic Review, Vol. XLV May 1955, No. 2, p

*** स्पर्शक (Tangent) वह सरल रेखा है जो किसी वृत्त को किसी बिन्दु पर स्पर्श करती है तथा उस बिन्दु और वृत्त के केन्द्र को मिलाने वाले व्यास पर लम्ब होता है।

फर्म की कुल आय (revenue) उसके उत्पादन की कुल लागत के बराबर होती है।

शुद्ध प्रतियोगिता तथा पूर्ण प्रतियोगिता, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं, यह आवश्यक नहीं कि शुद्ध प्रतियोगिता तथा पूर्ण प्रतियोगिता साथ साथ पाई जायें। यदि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति कहीं पाई जाती है तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि शुद्ध प्रतियोगिता भी वहीं पाई जाती हो किन्तु इसका विलोम सही नहीं। अर्थात जहा शुद्ध प्रतियोगिता की स्थिति पाई जाती है वहा पूर्ण उपयोगिता का भी पाया जाना आवश्यक नहीं। शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता के प्रत्यय एक दूसरे से भिन्न हैं। शुद्ध प्रतियोगिता किसी उद्योग धंधे के फर्म विशेष की सस्थिति की शर्तें बताती हैं, पूर्ण प्रतियोगिता सम्पूर्ण उद्योग धंधे की एक विशिष्ट सस्थिति का निरूपण करती है।

हमें आर्थिक व्यवस्था में ऐसे उदाहरण देखने को मिलते है जहा पूर्ण प्रतियोगिता तो पाई जाती है किन्तु शुद्ध प्रतियोगिता नहीं, जैसे, वस्तु विभेदीकरण (Product differentiation) की स्थिति मे, हो सकता है, कि पूर्ण प्रतियोगिता की शर्तें तो पूर्ण हो जायें किन्तु शुद्ध प्रतियोगिता की शर्तें इसमे पूरी नहीं होती क्योंकि वस्तु सर्वत्र समावयव नहीं है। ऐसी हालत मे प्रतियोगिता पूर्ण किन्तु विक्रयेकाधिकार युक्त है।

इसी प्रकार हो सकता है कि किसी उद्योग-धंधे मे शुद्ध प्रतियोगिता तो पाई जाती हो, लेकिन वह पूर्ण न होकर, अपूर्ण हो। जैसे, यदि उस उद्योग धंधे मे नए फर्मों के प्रवेश पर राज्य द्वारा कोई प्रतिबन्ध हो तो शुद्ध प्रतियोगिता होने पर भी प्रतियोगिता अपूर्ण है।

शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थाए हमारे वास्तविक आर्थिक जगत मे नहीं पाई जाती। प्रतियोगिता के आदर्श रूप की रचना करते समय अर्थशास्त्रियों ने शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता के काल्पनिक कलेवर की सृष्टि कर डाली। आदर्श अप्राप्य अवस्था होती है, जो प्राप्य हो वह आदर्श नहीं। प्रतियोगिता का स्थूल रूप सृष्टि मे हमे प्राय देखने को मिलता है। यह प्रतियोगिता मूर्त ही नहीं अमूर्त जगत मे भी पाई जाती है। हमारी इच्छाए, आवश्यकतायें, एक दूसरे से अपनी अपनी तुष्टि के लिये होड लगाया करती हैं। आर्थिक जगत में भी यही स्थिति होती है। किन्तु जिस 'शुद्ध तथा पूर्ण' प्रतियोगिता की कल्पना की गई है, उसका हमारे जगत में कोई अस्तित्व नहीं। शुद्धता तथा पूर्णता, प्रतियोगिता (तथा अन्य वस्तुओ के भी) विकास की चरम अवस्था है।

शुद्ध प्रतियोगिता के लिए यह आवश्यक है कि बाजार मे क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या इतनी अधिक हो कि उनमें से कोई अकेला अपनी क्रिया द्वारा वस्तु की माग-पूर्ति तथा बाजार भाव को प्रभावित न कर सके। किसी भी वस्तु के बाजार मे यह अवस्था नहीं पाई जाती। गल्ले का बाजार सबसे अधिक प्रतियोगितापूर्ण

होता है लेकिन उसमें भी 'शुद्धता' की यह शर्त पूरी नहीं होती। प्राय: बाजार में विक्रेताओं की संख्या आदर्श से कम होती है जिससे कि एक या अधिक विक्रेता अपनी क्रिया द्वारा पूर्ति तथा कीमत बाजार भाव को प्रभावित कर सकते हैं। इसी लिये बाजारों में प्राय: अपूर्ण प्रतियोगिता या विक्रयेकाधिकार की अवस्थायें पाई जाती हैं। किन्हीं दशाओं में तो उत्पादित वस्तु ही ऐसी होती है जिसमें विक्रेताओं की संख्या स्वभाव से ही सीमित होती है।

शुद्ध प्रतियोगिता के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा होता है वस्तु का सर्वत्र समावयव न होना। वस्तु-भेद करण आज के जग की विशेषता है। यह भेद-करण चाहे काल्पनिक ही हो किन्तु इसका प्रभाव बड़ा व्यापक होता है।

लिपटन चाय तथा ब्रुक-बांड की चाय में चाहे गुण की दृष्टि से कोई भेद न हो, किन्तु अलग अलग ब्रांड द्वारा उनमें भेद कर दिया गया है जिससे कि उनकी समावयवता नष्ट हो गई है। फिर आज के युग में वस्तु के साथ विक्रेता कुछ अतिरिक्त सेवायें देते हैं जैसे प्लास्टिक बैग, कमीजों वगैरह के टांगने के लिये हैंगर तथा अन्यान्य ऐसी चीजें। वैसे वस्तु की विभिन्न इकाइयों में यदि समावयवता हो भी तो भी यह अतिरिक्त सेवायें वस्तु विभेद पैदा कर देती हैं। फिर वस्तु की भिन्न भिन्न इकाइयों में आकार, रूप, रंग में कुछ न कुछ भेद अवश्य पाया जाता है, और आकार, रूप, रंग आदि किसी बात में भी यदि वस्तु की एक इकाई दूसरी से भिन्न हुई तो विज्ञापन द्वारा उनके गुणों में भी काल्पनिक भेद किया जायगा। एक ही कपड़े से तैयार की गई दो कमीजें आकार-वैभिन्य से एक दूसरी से भिन्न गुण रखती हुई बताई जायेंगी। नकद के बदले उधार माल बेचने तथा कुशल व्यवहार का भी प्रभाव क्रेता पर पड़ता है।

उपभोक्ता सदा बुद्धिसंगत काम नहीं करता, सच तो यह है कि वह अपने दैनिक जीवन में प्राय मनोवेग से प्रभावित होता है। उसके रस्म व रिवाज, विद्वेष, आलस्य तथा भावुक अभिमानताएँ उसे अपनी इच्छाओं की इष्टतम पूर्ति नहीं करने देती। विक्रेता के व्यक्तित्व, उसकी योग्यता आदि बातों का प्रभाव भी व्यापक होता है।

शुद्ध प्रतियोगिता की एक परमावश्यक शर्त यह भी है कि क्रेताओं व विक्रेताओं को बाजार की अवस्था का समुचित ज्ञान हो। किन्तु यह बात कहीं भी नहीं पाई जाती। क्रेता को अपनी पसंदगी-नापसंदगी या उद्देश्य का ज्ञान नहीं होता, न उसे पूर्णतया यह ज्ञान रहता है कि जो वस्तु वह खरीद रहा उसके सब पूरकों तथा स्थानापन्न होने वाली सामग्रियों का बाजार भाव क्या है। विक्रेताओं में भी जानकारी का अभाव होता है। साधनों के वैकल्पिक प्रयोग का, उपभोक्ताओं की अधिमानता का तथा बाजार की अन्य आवश्यक बातों की जानकारी वास्तविक जगत में किसी भी विक्रेता को नहीं होती।

यदि शुद्ध प्रतियोगिता की उपर्युक्त शर्तें पूरी नही होती तो पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था आना अत्यन्त कठिन है। यदि वे पूरी भी हो जायें तो पूर्ण प्रतियोगिता के लिये अन्य आवश्यक शर्तें पूरी नहीं होती।

किसी वस्तु के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता होने के लिये यह आवश्यक है कि उस वस्तु के उत्पादन मे लगे हुए उद्योग-धन्धो मे नये फर्मों के प्रवेश अथवा पुराने फर्मों के बन्द किये जाने पर कोई कानूनी, सामाजिक या सस्थात्मक प्रतिबन्ध या रुकावट न हो। नये फर्मों के प्रवेश मे सदैव कुछ न कुछ रुकावटें रहती है। यदि सरकार की ओर से कोई बाधा न भी हुई तो उस उद्योग धन्धे मे लगे पुराने फर्म तो अडचन पैदा ही कर देते है। फिर, राज्य आज के युग मे आर्थिक व्यवस्था मे सक्रिय रूप मे भाग लेता है, प्रत्येक उद्योग धन्धे मे जाने के पूर्व प्राय राज्य से किसी न किसी प्रकार की अनुमति लेनी आवश्यक हो गया है। राज्य इसी अनुमति, लाइसेंस देने की शक्ति द्वारा किसी नये फर्मों के प्रवेश को नियन्त्रित करता है। उद्योग-धन्धो मे लगे पुराने फर्म भी घातक प्रतियोगिता (Cut throat Competition) द्वारा किसी नये प्रतिद्वन्दी को अपने क्षेत्र मे प्रवेश करने से रोकते है। नये फर्मों के प्रवेश मे आर्थिक पूंजी आदि की भी रुकावटे आ पडती है। इस प्रकार की अन्यान्य कठिनाइया उपस्थित हो जाती है। किसी उद्योग-धन्धे मे नये फर्मों का प्रवेश इस तरह वास्तविक जगत मे बडी कठिनाई से हो पाता है। पुराने फर्मों के निकलने मे शायद उतनी कठिनाइया नहीं आती, फिर भी उनका पूर्ण अभाव नही होता। स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ की ओर से प्रतियोगिता भी किसी बाजार की 'शुद्ध तथा पूर्ण' प्रतियोगिता की अवस्था को असम्भव बना देती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दूसरी मान्यता यह है कि उस उद्योग-धन्धे मे लगे तमाम फर्मों की सुविधाएँ, परिस्थितिया, उनके गुण, रूप तथा आकार समान हो। यह शर्त भी एक असम्भव शर्त है। फर्म अलग अलग परिस्थितियो मे पनपते है। ऐतिहासिक, भौगोलिक विषमताओ के अतिरिक्त उनमे प्रबन्ध, पूंजी आदि बातो का वैषम्य भी होता है। फर्म व्यक्तियो से बना होता है, यह कहना कि सभी फर्म दूसरो के अनुरूप होगे, गलत है। किसी फर्म के पास पूंजी की पृष्ठभूमि औरो से सबल होती है। कुछ के पास अन्यो की अपेक्षा अधिक कुशल कारीगर तथा अधिक कार्यक्षमता वाले प्रबन्धक होते हैं। इसलिये सब फर्मों की परिस्थितिया, उनके गुण तथा आकार एकसे नहीं होते। किसी फर्म को यातायात, कच्चे माल, श्रम सम्बन्धी सुविधाएँ अधिक होती हैं, किसी को कम।

पूर्ण प्रतियोगिता की एक यह भी शर्त है कि यातायात, विज्ञापन तथा परिवहन आदि पर अतिरिक्त व्यय किये बिना ही प्रत्येक उत्पादक जितना चाहे माल बेच सकता है। नये प्रवेशक फर्मों के सम्बन्ध मे यह उपधारणा कर ली जाती है कि उनकी उत्पादन-लागत औरो की लागत के बिल्कुल समान होनी चाहिए। यह असम्भव है। वास्तविक जगत मे फर्म एक दूसरे से अधिक विज्ञापन करने की चेष्टा करते

प्रत्येक ससाधन तथा सेवा के स्वामी को अपने ससाधन के वैकल्पिक उपयोगों का पूर्ण ज्ञान भी नही होता। मजदूर को यह जानकारी पूर्णरूपेण नही हो पाती कि वह किस पेशे मे अधिकतम मजदूरी पा सकेगा। वह अपने सामर्थ्य की भी पूरी जानकारी नहीं रखता। अन्य ससाधन के स्वामियो की भी यही हाल है। जब वर्तमान अवस्था का ही पूरा ज्ञान नही हो पाता तो पूर्ण प्रतियोगिता की यह उपधारणा कि, प्रत्येक सेवा तथा ससाधन के स्वामी को भविष्य का भी ज्ञान होता है, बिल्कुल असम्भव तथा काल्पनिक है।

पूर्ण प्रतियोगिता की अन्तिम उपधारणा यह है कि सब ससाधन तथा सेवायें पूर्णतया विभाज्य होते हैं। यह कल्पना मात्र है। एक मजदूर की सेवा को हम पूर्णतया विभाजित नही कर सकते, न हम किसी मशीन को ही बराबर-बराबर टुकडो मे विभाजित कर उसका प्रयोग कर सकते हैं। मशीनें प्राय या तो बहुत छोटी या बहुत बडी होती हैं।

इन बातो को देखते हुए हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था एक कल्पना मात्र, आदर्श रूप है जो अर्थशास्त्र मे विनिमय-विश्लेषण की सुविधा के लिए मान ली गई है। अपूर्ण मानव के किसी भी क्षेत्र मे पूर्णतया नहीं। मृत्यु को छोडकर और उसे कुछ भी पूर्णरूपेण नहीं मिल पाता। किन्तु अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये वह तमाम अनुमान लगाया करता है, अनेक प्रकार के निगमन-आगमन का सहारा लेता रहता है और इन तमाम कार्यों के लिए उसे तरह-तरह की कल्पनाएँ तथा उपधारणाएँ करनी पडती है। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे भी हमने विक्रेताओ के दृष्टिकोण से बाजार के दो छोर मान लिये हैं, एक शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता, दूसरे विक्रयेकाधिकार। इन दोनो के बीच और कई मिश्रित अवस्थाएँ मिलकर बाजार का वर्णपट (Spectrum) बनाती है *। ये अवस्थायें अपनी पूर्णता के साथ कही पाई नही जाती, किन्तु ये बाजार की अवस्थाओ के विश्लेषण-यन्त्र के रूप मे काम कर सकती और करती हैं।

शुद्ध प्रतियोगिता (तथा पूर्ण प्रतियोगिता) का विश्लेषण हमारे लिये उपयोगी इसलिये है कि यह हमे यह बताता है कि वस्तुओ की कीमतो मे सामान्यत किस दिशा मे परिवर्तन होता है, कीमत यन्त्र किस प्रकार यह निर्धारित करता है कि क्या वस्तु और कैसे, कब, कहा, तथा किस मात्रा मे उत्पादित की जायगी और फिर इस वस्तु का वितरण किस प्रकार किया जायगा।

....१५

प्रतियोगितापूर्ण बाजार में संस्थिति

बाजार विनिमय का क्रीडा-स्थल है। विनिमय मे दो वस्तुओ की उपस्थिति का भाव निहित है। आज की आर्थिक-व्यवस्याएँ मुद्रा प्रधान हैं, इसलिये विनिमय-सव्यवहार की एक पक्ष प्राय मुद्रा तथा दूसरी कोई अन्य वस्तु होती है तथा विनिमय-कर्त्ताओ मे मुद्रा के बदले वस्तु देने वाला विक्रेता और वस्तु के बदले मुद्रा देने वाला क्रेता कहलाता है। मुद्रा के बदले वस्तु का आदान प्रदान क्रय-विक्रय कहलाता है। विक्रेता की विक्रय करने के लिये वस्तु को प्रस्तुत करने की क्रिया को पूर्ति कहते हैं, क्रेता की इस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा की बाजार मे अभिव्यक्ति माँग कहलाती है। यह स्पष्ट है कि क्रेता की कोरी इच्छा माग नही बन सकती, वह इच्छा माँग तभी बनेगी जब क्रेता के पास उस इच्छा की तृप्ति के लिये आवश्यक शक्ति-क्रय शक्ति मौजूद होगी। इच्छा की अभिव्यक्ति बाजार मे क्रय-शक्ति के अनुपात ही मे माँग बनती है। इच्छा की तृप्ति उसी सीमा तक सम्भव है जितनी कि क्रेता मे क्रय-शक्ति है। यह क्रय-शक्ति मुद्रा के माध्यम से व्यक्त होती है। लेकिन यह न समझ लेना चाहिये कि मुद्रा मे यह शक्ति स्थिर रूप मे पाई जाती है। उसी मुद्रा-परिमाण से हम किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न समय पर दो भिन्न भिन्न मात्राएँ खरीद सकते है। किसी दिये हुये मुद्रा-परिमाण मे निहित क्रय-शक्ति वस्तु के मूल्य (मुद्रा मे व्यक्त करने से कीमत) पर निर्भर करता है। यह मूल्य घटता-बढता रहता है। मूल्य क्यो घटता-बढता रहता है? विनिमय करने वाले दोनो पक्षो की क्रियाओ का यह परिणाम होता है। वास्तव मे माँग तथा पूर्ति शब्दो मे निहित क्रेता तथा विक्रेता की तमाम इच्छाओ तथा सामर्थ्य मे जटिल वैपम्पना ही किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन की उत्तरदायी है। लेकिन इस सदर्भ मे मूल्य का क्या अर्थ है? किसी वस्तु का मूल्य अन्य वस्तुओं की वह भिन्न भिन्न मात्राएँ हैं जो उस वस्तु की एक इकाई के बदले क्रमश प्राप्त की जा सकती हैं। इस प्रकार एक पुस्तक का मूल्य २० सेर चावल, १० गज कपडा, ३० मील रेल-यात्रा और क्या-क्या हो सकता है। लेकिन जब इस मूल्य को हम मुद्रा मे व्यक्त करते हैं तो यह कीमत कहलाता है।

जाने वाली वस्तु मात्रा निर्धारित होती है। जिस बिन्दु पर ये दोनो वक्र एक दूसरे को काटते हैं, उसके निर्देशाक द्वारा ग्राफ के ऊर्ध्वग अक्ष पर कीमत तथा क्षैतिज अक्ष पर विनिमय की जाने वाली वस्तु मात्रा प्रकट होती है। ऐसी कीमत तथा वस्तु मात्रा वस्तु की माग तथा पूर्ति का साम्य प्रकट करती है, इस कीमत पर अभियाचित वस्तु मात्रा पूर्ति के बराबर हो जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह कीमत (माग तथा पूर्ति के साम्य की कीमत) किन तत्वो की बनी होती है। यह कीमत इतनी क्यो है तथा क्या यह इस स्तर पर स्थिर रहने की प्रवृत्ति रखती है। अर्थात् क्या यह सस्थिति की कीमत है। इन प्रश्नो का उत्तर हमे माग तथा पूर्ति के साम्य से नही मिल सकता। इसके लिये हमे पूर्ति तथा माग के पीछे जाना पडेगा। पूर्ति पर विचार करते समय सबसे पहले जो बात हमारे सामने आती है वह है लागत। किसी वस्तु के उत्पादन में जो लागत लगती है वह उस वस्तु की कीमत निर्धारण की पहली कु जी है। लागत को स्थिर रूप से चार भागो म बाटा जा सकता है। कच्चे माल के लिये दी गई कीमत, लगाई गई पू जी पर पारिश्रमिक अर्थात ब्याज, भूमि के लिये दिया जाने वाला लगान, श्रमिको की मजदूरी तथा उत्पादक का अपने साहस तथा जोखिम उठाने के लिये पुरस्कार—लाभ।

यह स्पष्ट है कि कोई वस्तु साधारणत तभी उत्पादित की जायगी जब उसको बेचने से, कम से कम, उसकी लागत निकल आवे। वस्तु को बेचकर जो रकम उत्पादक पाता उसे आय (Revenue) कहते हैं। जो रकम उत्पादक-विक्रेता के लिये आय होती है वही क्रेता के लिये व्यय होती है। क्रेता किसी वस्तु को इसलिये खरीदता है कि उससे उसे तुष्टि प्राप्त होती है। अत विक्रेता की आय क्रेताओं द्वारा अपनी तुष्टि के लिये खर्च की गई रकम की द्योतक है। विक्रेता की आय मे क्रेता की तुष्टि अन्तर्निहित है। हम कह चुके हैं कि विक्रेता अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है तथा यह लाभ बराबर होता है। वस्तु विक्रय से प्राप्त रकम तथा उसकी लागत के अन्तर के [अर्थात् आय [उपभोक्ता की व्यय] तथा लागत के अन्तर के] । क्रेता अपनी कुल तुष्टि को अधिकतम करना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माँग तथा पूर्ति के पीछे लागत तथा आय के तत्व बाजार की स्थिति तथा कीमत और फर्म की सस्थिति के निर्धारण के प्रमुख तत्व हैं।

फर्म को हमने पूर्ति [उत्पादन] की इकाई माना है। ऊपर के विवेचन से हमने देखा कि फर्म अधिकतम लाभ चाहता है, प्रमुखत वह पूर्ति मात्रा मे दिलचस्पी नही रखता। इसलिये यह कहना कि फर्म, की सस्थिति की दशा तब आती है जब उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की पूर्ति तथा उसके लिये माग परस्पर बराबर हो जाते हैं, सर्वदा सही नही। इसके बदले हम यह कहेंगे कि फर्म की सस्थिति की दशा तब आती है जब उसे मौजूदा परिस्थितियो म सम्भव अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। और यह

दोनो बातें एक नही हैं अर्थात् माग-पूर्ति के साम्य की अवस्था ही फर्म के लिए सम्भव अधिकतम लाभ की अवस्था होती—यह आवश्यक नही। ऐसा केवल पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे ही सही होता है। उदाहरण के लिये विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु की पूर्ति को माँग से सदा कम बनाये रखता है जिससे कि उसे विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त हो सके। वह माग पूर्ति की साम्य की अवस्था में अधिकतम लाभ कमा नही सकता और इस लिये उसकी वस्तु की माग-पूर्ति मे साम्य होने पर भी वह सम्स्थिति मे नही आयेगा।

इस प्रकार यदि हम फर्म की सस्थिति की दशाओ को पाना चाहते है तो हमे माग-पूर्ति के पीछे के तत्वो का विवेचन करना आवश्यक होगा। ये तत्व, जैसा हम कह चुके है, लागत तथा आय हैं। हमे इन्ही के पारस्परिक सम्बन्ध से फर्म की सम्स्थिति की अवस्था का पता लगाना होगा। सबसे पहले हम उस फर्म की [तथा उद्योग] सस्थिति का विवेचन करेंगे जो पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य कर रहे हो। हम पहले बता आये हैं कि शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था तब होती है जब—

१ बाजार मे क्रेताओ तथा विक्रेताओ की सख्या इतनी अधिक होती है कि उनमे से किसी एक या कुछ के समूह की क्रियाओ का वस्तु की कीमत पर कोई प्रभाव नही पड सकता।

२. प्रत्येक क्रेता तथा विक्रेता बाजार का पूर्ण ज्ञान रखता है।

३. प्रत्येक क्रेता अपनी क्षमता के अनुसार दी हुई आय से अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना चाहता है तथा प्रत्येक विक्रेता अधिकतम लाभ।

४ विनिमय की जाने वाली वस्तु बाजार मे सर्वत्र पूर्णतया सयावयव होती है जिससे कि उपभोक्ता के लिये किसी भी विक्रेता से दी हुई कीमत पर वस्तु खरीदने से समान तुष्टि प्राप्त हो।

५ नये क्रेताओ तथा विक्रेताओ के उद्योग-धन्धे मे प्रवेश पर सामाजिक, कानूनी, भौगोलिक अथवा सस्थात्मक रुकावटे बिल्कुल नही हैं।

६ वस्तु के उत्पादन मे काम आने वाले ससाधन पूर्णरूपेण गतिशील हैं अर्थात् जहा कही भी उन्हे उच्चतम पारितोषिक प्राप्त होता है वही जा सकते हैं उनकी गति-विधि पर कोई रोक नही।

७ ये ससाधन पूर्ण-रूपेण छोटे-छोटे भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं अर्थात् पूर्णरूपेण विभाजनीय है।

८ इन ससाधनो के स्वामियो को बाजार का पूर्ण ज्ञान है तथा वे दूरदर्शिता से काम लेते हैं।

यह सही है कि उपर्युक्त शर्तें व्यवहार मे कभी पूरी नहीं होती, फिर भी अपने विश्लेषण की सुविधा के लिये इनके सही होने की उपधारणा कर लेना ही उचित है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मस्थिति पर विचार करते समय हमे इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि माग तथा पूर्ति की शक्तिया अपने-अपने प्रभाव के लिये समय की अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूपेण रखती हैं। इस लिये विश्लेषण करते समय यह आवश्यक है कि अवधिया निर्धारित करली जाय। इस मस्थिति के विश्लेषण के लिए हम तीन प्रकार की अवधि लेंगे —

१ बाजार कालीन-अवधि।
२ दीर्घकालीन अवधि तथा
३ दीर्घकालीन अवधि।

बाजार-कालीन अवधि इतनी छोटी होती है कि इसमे पूर्ति मे कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। वस्तु का उत्पादन हो चुका होता है, उसमें परिवर्तन करने का समय बिल्कुल नही होता। इस प्रकार पूर्ति को इसमें स्थिर माना जा सकता है। केवल माग में परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार की अवधि के अन्तर्गत आने वाली मस्थिति को क्षणिक मस्थिति कहते हैं। अल्पकालीन अवधि में पूर्ति मे कुछ समायोजना की जा सकती है—अर्थात् उसे घटाया बढ़ाया जा सकता है लेकिन उसमें वृद्धि वस्तु उत्पादन मे लगी हुई मशीनो की क्षमता के अन्दर ही सीमित है क्योंकि मजदूर तथा अन्य परिवर्तनशील मसाधनों की मात्राओं तथा परिणामो मे परिवर्तन करने के लिये यह अवधि पर्याप्त होती है, लेकिन नई मशीनें अथवा अन्य अपरिवर्तनशील (स्थिर) मसाधनो म परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इस प्रकार मौजूदा मशीनो के पूर्ण उपयोगीकरण द्वारा ही पूर्ति मे जो वृद्धि ले आना सम्भव है, पूर्ति को उसी हद तक बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार अल्पकालीन अवधि में भी मस्थिति तथा कीमत पर माँग का प्रभाव पूर्ति की अपेक्षा अधिक होता है।

दीर्घकालीन अवधि मे पूर्ति को माग के साथ समायोजित होने का पूरा समय मिलता है। इसलिये इस अवधि मे पूर्ति माग की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है।

यहा पर ध्यान रहे कि बाजार का समय के अनुसार यह वर्गीकरण किसी स्पष्ट रेखा द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। यह केवल अध्ययन की सुविधा के लिये किया गया है।*

अब हम इन्हीं अवधियो के अनुसार पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों तथा उद्योग की मस्थितियो पर अलग-अलग विचार करेंगे।

---

* Marshall—Law-Priced Text book P. 314.

बाजारकालीन अवधि मे सस्थिति—

बाजारकालीन अवधि अत्यन्त छोटी होती है। इसमे वस्तु की पूर्ति दी हुई होती है। वस्तु का उत्पादन हो चुका होता है तथा उसका एक निश्चित स्टॉक विक्रय के लिये बाजार मे उपस्थित होता है।* यह कोई आवश्यक नही कि यह स्टॉक मौजूदा कीमत पर बेच ही दिया जाय। यदि वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली नही है, जैसे साग-सब्जियां हो जाती है, तो कीमत के बहुत कम होने पर विक्रेता अपने स्टॉक को बिल्कुल नही बेचेगा बशर्ते कि उसे यह विश्वास हो कि भविष्य मे वस्तु की कीमत ऊपर चढेगी। तो या तो मौजूदा कीमत पर इस स्टॉक को विक्रेता बेचेगा या उसको जमा करके भविष्य के लिये रखेगा। इसलिये बाजार-कालीन अवधि मे एक प्रकार की सट्टेबाजी की प्रवृत्ति पाई जाती है। यद्यपि पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होता है फिर भी कीमत का एक स्तर ऐसा होता है जिससे नीचे विक्रेता वस्तु को बिल्कुल नही बेचेगा। वह निम्नतम कीमत जिससे कम कीमत पर विक्रेता अपनी स्टॉक बिल्कुल नही बेचेगा, सुरक्षित कीमत (Reserved Price) कहलाती है। 'सुरक्षित कीमत' के निर्धारित करते समय विक्रेता जिन बातो का ध्यान रखेगा वे हैं विक्रय की जाने वाली वस्तु शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है अथवा जमा करके रखी जा सकती है, भविष्य मे कीमत बढने की आशा है या घटने की (अथवा स्थिर रहने की), वस्तु को जमा कर भविष्य मे बेचने के हेतु रखने का व्यय क्या पडेगा, वस्तु के उत्पादन की लागत क्या है आदि। यदि वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली है तो उसकी पूर्ति बिल्कुल अलोचदार होगी अर्थात पूर्ति वक्र ऊर्ध्वग अक्ष के समानान्तरप्राय होगा। वर्ना यह वक्र ऊर्ध्वगामी झुकाव लिये होगा। किसी वस्तु का बाजार पूर्ति वक्र उस वस्तु के उत्पादन मे लगे सम्पूर्ण उद्योग का पूर्ति वक्र है जिसे उद्योग के तमाम फर्मो के पूर्ति वक्रो के योग से प्राप्त किया जाता है। यहा पर एक बात और कह देना आवश्यक है। माग जिन बातो, जैसे आय, रुचि आदि, पर निर्भर होती है वे बाजार कालीन अवधि मे परिवर्तित नही होती। माग मे जो परिवर्तन आता है वह सट्टेबाजी की प्रवृत्ति की ओर से। क्रेता यदि यह अन्दाजा लगाते है कि वस्तु की कीमत भविष्य मे बढेगी तो वे वस्तु को अधिकाधिक खरीद कर भविष्य के लिये एकत्रित कर लेने की कोशिश करते हैं।

अब हम बाजारकालीन अवधि मे सस्थिति पाने के लिय अग्रलिखित तालिका लेते हैं—

* .."As regards the market prices "Supply" is taken to mean the stock of the commodity in question which is on hand or at all events in sight' —Marshall principles Mac N Y. 4th edn, P. 451.

पूर्ति		माग	
कीमत (रु०)	मात्रा	कीमत (रु०)	मात्रा
१	२५	१०	१
२	३०	९	२
३	३५	८	३
४	४०	७	४
५	४५	६	५
६	५०	५	६
७	५५	४	७
८	६०	३	८
९	६५	२	९
१०	७०	१	१०

ऊपर की तालिका मे हम देखते है कि कीमत जैसे-जैसे बढती जाती है पूर्ति वैसे-वैसे बढती जाती है। मांग की दशा उससे भिन्न है, कीमत जैसे-जैसे घटती जाती है माग वैसे-वसे बढती जाती है। इस तालिका मे माग तथा पूर्ति की दशाए एक बिन्दु पर समान मिलती है, जब वस्तु की कीमत ६ रु० है तो मात्रा-माग तथा पूर्ति-दोनो की ५ है। इस लिये यही बिन्दु, जहा कीमत ६ रु० है तथा माग तथा पूर्ति की मात्राएं समान अर्थात ५ हैं, बाजार का सस्थिति बिन्दु हुआ। इस तालिका को हम अगले पेज पर दिये हुए ग्राफ पर भी दिखा सकते है।

आगे दिये चित्र से स्पष्ट है कि स सस्थिति बिन्दु है। यही ऐसा बिन्दु है जहा उपभोक्ताओ की इच्छाए—जिसे माग वक्र व्यक्त करता है—विक्रेताओ की इच्छाओ जिसे पूर्ति वक्र व्यक्त करता है—वे समरूप हैं। इस लिये यही सस्थिति बिन्दु है। ६ रु० सस्थिति कीमत तथा ५ इकाई सस्थिति वस्तु मात्रा कहलाती है।

इस सस्थिति के बिन्दु को बीजगणित के युगपत समीकरण की सहायता से भी हम प्राप्त कर सकते है। यदि हम पूर्ति वक्र के दृष्टिकोण से देखें तो कीमत (क) तथा मात्रा (म) के सदर्भ मे पूर्ति का समीकरण निम्नलिखित होगा ['आर्थिक विश्लेषण के उपकरण' को पीछे देखिये]

बाजार कालीन अवधि की संस्थिति

$$क = २\,म_{पू} - ४ \qquad [म_{पू} = पूर्ति\ की\ मात्रा]$$

तथा उपर्युक्त माँग वक्र का फार्मूला होगा।

$$क = ११ - म_{मा} \qquad [म_{मा} = माँग\ की\ मात्रा]$$

लेकिन संस्थितियों में $म_{पू} = म_{मा} = म$

अब हम उपर्युक्त समीकरणों को निम्न भाँति लिख सकते है —

$$क = २\,म - ४ \quad \cdots\cdots\cdots (१)$$

$$क = ११ - म \quad \cdots\cdots\cdots (२)$$

अथवा

$$क - २\,म = -४ \quad \cdots\cdots\cdots (३)$$

$$क + म = -११ \quad \cdots\cdots\cdots (४)$$

समीकरण (४) को २ से गुणा करने पर

$$२क + २म = २२ \cdots\cdots (५)$$

तथा $$क - २म = -४ \cdots\cdots (३)$$

जोडने से $$३क = १८$$

$$\therefore क = ६$$

समीकरण (१) मे क का मूल्य लिखने से,

$$६ = २म - ४$$

अर्थात् $$२म = ६ + ४$$

$$= १०$$

$$\therefore म = ५$$

इस प्रकार कीमत ६ इकाई के बराबर है तथा मात्रा ५ इकाई के।

यह कीमत सस्थिति बाजार कीमत कहलाती है। पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में समस्त क्रेताओ पर यही कीमत लागू होती है। एक या अधिक क्रेताओ अथवा विक्रेताओ की क्रिया का कोई प्रभाव इस कीमत पर नही पड सकता। इसलिये हम कह सकते हैं कि इस अवस्था म प्रत्येक फर्म तथा क्रेता कीमत को दी हुई मानकर चलता है। यदि कोई फर्म यह सोचता है कि इस कीमत पर बेचने से उसे हानि होगी अर्थात् यह कीमत उसकी लागत से भी कम है तो वह चाहे बिल्कुल बेचे ही नही, किन्तु यदि वह कुछ भी बचता है तो उसे इसी कीमत पर बेचना पडेगा। इस कीमत पर वह जितनी वस्तु-मात्रा चाहे बेच सकता है।

यदि किसी कारण बाजार की इस सस्थिति बिन्दु से ऊपर अथवा नीचे हुई भी तो वह लौट कर यही आने की प्रवृत्ति रखेगी। यदि कीमत इससे अधिक है तो वस्तु की माग कम होगी इसलिये वस्तु-मात्रा भी कम बिकेगी। इसलिय अधिक मात्रा बेचने के लिये विक्रेताओ को तब तक कीमत कम करनी पडेगी जब तक कि वह इस सस्थिति बिन्दु पर पहुच नही जाती। इसी प्रकार यदि कीमत इस सस्थिति कीमत से कम हुई तो पूर्ति की अपेक्षा माग अधिक होगी, विक्रेता सब क्रेताओ की मागो को तुष्ट न कर पायेंगे, इसलिये क्रेताओ को विवश होकर कीमत बढानी पडेगी। यह कीमत तब तक बढती जायगी जब तक कि क्रेताओ की माग विक्रेताओ की पूर्ति के बराबर नही हो जाती अर्थात् सस्थिति बिन्दु नही आ जाता।

इस बात को हम पृष्ठ ३६७-६८ पर दिये चित्र तथा तालिका द्वारा भी सिद्ध कर सकते हैं। मान लिया कि बाजार में कीमत सस्थिति कीमत से ऊपर, ८ रु० है तो तालिका तथा चित्र दोनो से स्पष्ट है कि वस्तु की केवल ३ इकाइयो की माग होगी किन्तु पूर्ति होगी ६ इकाइयो की। अर्थात माग से पूर्ति अधिक है। माग तथा पूर्ति वक्र पर य बिन्दु क्रमश क तथा म हैं। स्पष्ट है कि माग तथा पूर्ति के बीच की यह

खाई तभी घट सकती है जब क तथा ख नीचे की ओर सरकें तथा स बिन्दु पर आ जायें और यह तभी सभव होगा जब कीमत कम की जायगी। इस प्रकार यदि कीमत ४ रु० है तो माग तो ७ वस्तु इकाइयो की होगी किन्तु पूर्ति के लिये प्रस्तुत होगी केवल ४ इकाई। इन ४ इकाइयो को खरीदने के लिये क्रेताओ मे होड लगेगी। स्पष्ट है कि सब क्रेताओ की माग पूरी नही हो सकेगी। इसलिये क्रेता ऊची कीमत देने के लिय भी तैयार हो जायेंगे। क' तथा ख' बिन्दु ऊपर उठेंगे और अन्त मे स बिन्दु पर पहुच जायेंगे। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सस्थिति का बिन्दु बडा अस्थाई होता है क्योंकि सट्टेबाजी की प्रवृत्ति इस उद्वेलित करती रहती है।

बाजारकालीन अवधि का विश्लेषण उन वस्तुओ के सदर्भ मे अधिक महत्व का है, जिनको इसी अवधि मे बेच दिया जाना आवश्यक है अन्यथा उनके नष्ट या खराब हो जाने का डर है, जैसे साग सब्जी, मास-मछली, अडे आदि। हम पहले ही कह चुके हैं कि इनका पूर्ति वक्र इस अवधि मे ग्राफ के ऊर्ध्व अक्ष के समानान्तर-प्राय होता है।

यह स्पष्ट है कि इस अवधि की कीमत पर लागत का प्रभाव इतना अधिक नही होता। वस्तु का उत्पादन पहले ही हो चुका होता है, इसलिये लागत के कम-अधिक होने का कोई प्रश्न ही नही उठता। लागत दी हुई, स्थिर होती है और स्थिर लागत कीमत को नियंत्रित नही किया करती। शायद इसी प्रकार की कीमत को ध्यान म रखकर जेवन्स ने कहा था कि 'निरन्तर मनन तथा गवषणा ने मुझे इस बहुत कुछ नय निष्कर्ष पर पहुँचा दिया है कि मूल्य पूर्णत उपयोगिता पर निर्भर होना है।"[1] मार्शल न ठीक ही कहा है कि यह कीमत उत्पादन लागत पर निर्भर नही होती। विक्रेता एक ओर तो मौजूदा माग को दृष्टिगत रखेंगे तथा दूसरी ओर वस्तु की पहले ही मे उत्पादित वस्तु के स्टॉक को। यह सही है कि उत्पादन की भावी सम्भावनाओ पर व कुछ ध्यान देंगे, किन्तु शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु की हालत मे तत्कालिक वर्तमान से बहुत थोडा आगे व देखेंगे।[2]

1. "Repeated reflection and enquiry have led me to somewhat novel opinion that value depends entirely upon utility" —*Jevons Quoted by Marshall in Principles* p 566

2 But the action of dealers in offering one price or refusing another would depend little if at all on calculations with regard to cost of production They would look chiefly at present demand on the one hand, and on the other at the stocks of the commodity already available. It is true that they would pay some attention to such movement of production in the near future as might throw their shadow before, but in the case of perishable goods they would look only a very little way beyond the immediate present—*Marshall Principles* pp 554—555

अल्पकालीन अवधि मे सस्थिति—

अल्पकालीन अवधि मे हम सस्थिति की समस्या पर दो प्रकार से विचार करेंगे —एक तो उद्योग (Industry) के दृष्टिकोण से दूसरे उस उद्योग के प्रत्यन के दृष्टिकोण से।

उद्योग-सस्थिति - अल्पकालीन अवधि मे भी सस्थिति का उपर्युक्त विश्लेषण (बाजार कालीन अवधि का विश्लेषण) लागू होता है, जैसे माग तथा पूर्ति के साम्य से ही सस्थिति आती है। माग वक्र पूर्ववत् रहता है, क्योंकि किसी वस्तु की माग निर्भर होती है जनसख्या, आय, अभिरुचि तथा अविमानताय पूरक तथा स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ की कीमत आदि पर। ये बात न तो बाजार कालीन अवधि मे परिवर्तित होती हैं न अल्पकालीन अवधि मे। इसलिय इन दोनो अवधियो मे विश्लेषण की सुविधा के लिये हम माग वक्र को स्थिर मान सकते हैं। तो जहा तक माग वक्र का सवाल है, वह अल्पकालीन अवधि म भी वैसे ही रहता है जैसे बाजार-कालीन अवधि म। अन्तर पडता है पूर्ति वक्र मे। अल्पकालीन अवधि म पूर्ति की परिभाषा अन्य प्रकार की जाती है। उद्योग का पूर्ति वक्र उसके अवयव फर्मों के पूर्ति वक्र का योग है। अल्पकालीन अवधि मे फर्मों के उत्पादन तथा पूर्ति मे लागत एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय होती है। जैसा हम पहले बता चुके हैं कि इस अवधि का पूर्ति वक्र फर्म के अल्पकालीन सीमान्त वक्र का वह भाग होता है जो फर्म के औसत परिवर्तनशील लागत वक्र से ऊपर होता है।

बाजारकालीन अवधि मे सस्थिति की कीमत बाजार-कीमत कहलाती है। यह कीमत स्थाई होती है अथवा मार्शल के साथ हम यह कह कि यह ऐसी मध्यमान स्थिति होती है जिसके सन्निकट बाजारकालीन अवधि मे सौदेबाजी दोलित होती है तथा जिसको एक प्रकार से सस्थिति कीमत कहलाने का अधिकार सा है।[1] प्रत्येक बाजार मे कोई एक कीमत ऐसी होगी जिस पर पहुँचे बिना बाजार मे विक्रय हेतु प्रस्तुत वस्तु मात्रा या तो पूरी खपेगी नही या कम पड जायगी।

बाजारकालीन अवधियो के अनुभव पर ही उत्पादक-विक्रेता अपने उत्पादन एव पूर्ति की योजना बनाते हैं। यदि इन योजनाओ को कार्यान्वित करने का समय मिला तो पूर्ति भी नियोजन के अनुसार ही होगी। अल्पकालीन अवधि मे उत्पादन के उपकरण स्थिर प्राय होते हैं, केवल उनको अधिक या कम तीव्रता के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है।[2] उद्योग मे फर्मों की सख्या मे अल्पकालीन अवधि मे न कोई

---

1. '*In a Market of very short period .. the "biggling and bargaining"* might probably oscillate about a mean position which would have same sort of a right to be called the equilibrium price"—*Marshall*—Principles p 554'

2. "For such periods the stock of material and personal appliances of production has to be taken in a great measure for granted, and the marginal increment of supply is determined by estimates of producers as to those appliances" *Ibid*, p 556

ह्रास आता है न वृद्धि। इस प्रकार हम देखते हैं कि अल्पकालीन अवधि मे माँग पक्ष प्राय वैसे रहता है जैसे वह बाजारकालीन अवधि में था, केवल पूर्ति पक्ष में कुछ परिवर्तन आता है, अल्पकालीन अवधि मे पूर्ति वक्र बाजारकालीन अवधि वाल पूर्ति वक्र से कम ढालू होगा।

अत बाजारकालीन अवधि के माग वक्र तथा उपर्युक्त रूपेण प्राप्त उद्योग के अल्पकालीन अवधि के पूर्ति वक्र एक दूसरे को जहा काटेंग वही बिन्दु अल्पकालीन अवधि का सस्थिति बिन्दु होगा। इस अवधि की सस्थिति की कीमत अल्पकालीन सामान्य कीमत कहलाती है। यह कीमत उद्याग निर्धारित करता है, फर्मों का योग इसमे केवल उसी हद तक होता है जिस हद तक कि व अपने सीमान्त लागत वक्र द्वारा समूचे उद्योग के पूर्ति वक्र का निर्धारण करते हैं।
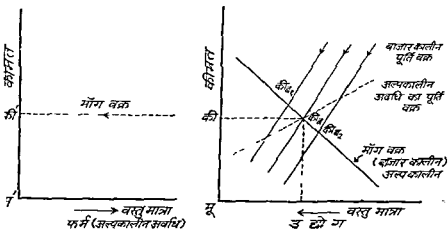
उपर्युक्त चित्र म निम्नलिखित बातें दिखाई गई हैं —

(१) बाजारकालीन अवधि तथा अल्पकालीन अवधि मे पूर्ति वक्रो का आकार, स्पष्ट है कि अल्पकालीन अवधि के पूर्ति वक्र का ढाल बाजारकालीन अवधि मे पूर्ति वक्र ० ढाल से कम है।

(२) बाजारकालीन अवधि के माग वक्र का हम अल्पकालीन अवधि का माग वक्र मान सकते हैं।

(३) इस प्रकार अल्पकालीन अवधि के माग तथा पूर्ति वक्र जहा एक दूसरे का काटते हैं, वही बिन्दु सस्थिति का द्यातक है। हमारे उपर्युक्त चित्र में की अ ऐसा बिन्दु है, मू की अल्पकालीन अवधि की सामान्य कीमत है। यदि बाजार पूर्ति वक्र अल्पकालीन अवधि के वक्र स ऊपर हुआ तो बाजार की कीमत सामान्य कीमत स अधिक होगी। पूर्ति मे स्वभावत वृद्धि होगी (माग पूर्ववत् है) जिसका फल यह होगा कि कीमत गिरेगी, क्योंकि पूर्ति, माग से अधिक है। यदि बाजार

पूर्ति वक्र अल्पकालीन पूर्ति वक्र से नीचे है तो इसकी उल्टी प्रतिक्रिया द्वारा कीमत सामान्य कीमत की ओर जाने का प्रयत्न करेगी। इससे यह बात स्पष्ट है कि बाजार कीमतें अस्थाई हुआ करती हैं। उद्योग तथा फर्मों का अन्तर्सम्बन्ध भी यहां स्पष्ट है।

(४) उद्योग के फर्मों के लिये कीमत निर्धारित होती है। इस अवधि में फर्म की कीमत वही होगी जो अल्पकालीन अवधि में उद्योग की सामान्य कीमत होगी, अर्थात् फर्म के लिये मांग वक्र क्षैतिज और दिया हुआ है। फर्म को इसी कीमत पर अपनी वस्तु बेचनी पड़ेगी, इस कीमत पर वह जितनी वस्तु मात्रा चाहे बेच सकता है। कीमत का इससे ऊँची करने से फर्म कुछ भी न बेच पायेगा, क्योंकि उपभोक्ता समस्त फर्मों में से किसी के यहां से भी वस्तु को सामान्य कीमत पर पा जायगा, वह अधिक कीमत क्यों देगा? इसी प्रकार यदि फर्म अपनी कीमत को इससे कम करता है तो तत्काल उसका सब स्टॉक बिक कर समाप्त हो जायगा। सस्थिति की हालत में फर्म की सीमान्त आय बराबर होगी सीमान्त लागत के। पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की हालत में, जैसा हमने कहा है, फर्म दी हुई कीमत पर अपनी वस्तु बेचता है। इसलिये यही सामान्य कीमत उसकी किसी बिन्दु पर भी उसकी सीमान्त आय है। फर्म इसी आय को सीमान्त लागत के बराबर करने की चेष्टा करेगा।

यदि यह सीमान्त आय (अथवा उद्योग की सामान्य कीमत) फर्मों की सीमान्त लागत से अधिक है तो फर्मों को असामान्य (abnormal) लाभ प्राप्त हो रहा है०। इसके दो नतीजे होंगे—एक तो, फर्म अधिक उत्पादन करने (और इस प्रकार स्व-विस्तार) की योजना बनायेंगे, दूसरे, नये फर्म भी उद्योग में प्रवेश करने का प्रयत्न करेंगे। यदि फर्मों की सीमान्त आय उनकी लागत से कम हुई तो उद्योग ऐसी अवस्था में सस्थिति में नहीं रह सकता। उद्योग की सस्थिति के लिये यह आवश्यक है कि न तो नये फर्मों के उद्योग में प्रवेश करने की प्रेरणा हो, न पुराने फर्मों को इसमें से बाहर निकलने की, तथा न मौजूदा फर्मों को अपने उत्पादन को कम या अधिक करने की ही प्रेरणा हो। यह तभी सम्भव है जब, एक ओर तो, इस उद्योग में अर्जित किया जाने वाला लाभ इसी प्रकार के जोखिम वाले अन्य उद्योग धन्धों द्वारा अर्जित लाभ के समान हो, और दूसरी ओर, यह लाभ फर्मों के सामान्य लाभ के बराबर हो (अर्थात् फर्मों की सीमान्त आय बराबर हो उसकी सीमान्त लागत के, या यों कहें कि उसकी सीमान्त आय=कीमत=सीमान्त लागत)। इसका निष्कर्ष यह निकला कि

० स्मरण रहे कि लागत में फर्म का सामान्य लाभ सम्मिलित है, इसलिये यदि सीमान्त आय अधिक है तो इसका अर्थ हुआ कि फर्म को सामान्य लाभ तो प्राप्त हो ही रहा है लेकिन उससे अधिक भी उसे कुछ लाभ मिल रहा है, अर्थात् उसको सामान्य से अधिक (असामान्य) लाभ प्राप्त हो रहा है।

सस्थिति मे उद्योग की सामान्य कीमत बराबर होती है फर्म की सीमान्त लागत के। स्मरण रहे कि हमने प्रारम्भ ही मे यह उपधारणा कर ली है कि उद्योग के सभी फर्म प्रत्येक हालत मे समान हैं, सब इष्टतम आकार के हैं।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य सम्भावना पर भी दृष्टिपात कर लेना समी-चीन होगा। अल्पकालीन अवधि के विषय मे दो मुख्य शर्तों का पूरा होना आवश्यक है— १ उत्पादन उपकरण दिय हुए है तथा २ उद्योग मे फर्मों की सख्या निश्चित है। लेकिन इन दोनो शर्तों के पूरी होने पर भी सम्भव है कि इस अवधि मे माँग अथवा पूर्ति या दोनो मे परिवर्तन आ जाय, एक या दोनो वक्र अपनी पूर्व स्थिति छोड नई स्थिति मे आ जायें।

जहा तक माग का प्रश्न है, उससे इन दोनो शर्तों से कोई प्रयोजन ही नही, उसमे वृद्धि अथवा ह्रास स्वतन्त्र रूप से बिना इन शर्तों का अतिक्रमण किये ही आ सकता है। रही पूर्ति की बात, तो परिवर्तनशील ससाधनों की कीमतों मे परिवर्तन आने के फलस्वरूप पूर्ति मे और इस प्रकार पूर्तिवक्र मे परिवर्तन आ सकता है। इन वक्रो के स्थानान्तरण की समस्या पर हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं। माग वक्र की स्थिति म परिवतन का कीमत पर प्रभाव माग तथा पूर्ति के लाच पर तथा माग वक्र के स्थिति परिवर्तन की दिशा पर (यदि यह दायी ओर हटेगा तो साधारणत सस्थिति कीमत बढेगी तथा यदि बायी ओर हटेगा तो सस्थिति कीमत घटेगी) निर्भर है। वही हाल पूर्ति वक्र का है। इस स्थिति परिवर्तन का प्रभाव भी माँग तथा पूर्ति के लोच तथा परिवर्तन की दिशा पर निर्भर होता है। यदि पूर्ति वक्र अपने स्थान से दायें ओर हटेगा तो सस्थिति कीमत घटेगी तथा यदि बायी ओर जायगा तो कीमत बढेगी। यदि दोनो वक्रो मे एक साथ ही परिवर्तन आता है तो कीमत पर प्रभाव निर्भर होगा उनके सापेक्ष स्थानान्तरण तथा उनकी लोच पर।

अल्पकालीन अवधि मे फर्म सस्थिति

ऊपर हमने अल्पकालीन अवधि मे उद्योग-सस्थिति पर विचार किया है, अब इस अवधि मे फर्म सस्थिति पर विचार करेंगे।

अल्पकालीन अवधि मे फर्म की सस्थिति पर विचार करते समय जो बात सर्वप्रथम हमे स्मरण रहनी चाहिये वह यह है कि उद्योग की सस्थिति द्वारा ही फर्म की कीमत निर्धारित होती है। उद्योग की सस्थिति-कीमत फर्म की प्रचलित कीमत होती है। इस प्रकार फर्म को कीमत दी हुई मिलती है। उस दी हुई कीमत पर वह अपनी वस्तु मात्रा बेचता है। प्रत्येक फर्म इस दी हुई कीमत पर इतनी वस्तु-मात्रा उत्पादित करता (बेचता) है जितनी कि उसे अधिकतम लाभ दे सके।

यह स्पष्ट है कि, पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था मे फर्म की कीमत उसके द्वारा निर्धारित न की जाकर किसी बाह्य शक्ति (उद्योग की सस्थिति) द्वारा निर्धारित होती है, जिस पर कि फर्म का कोई भी प्रभाव अथवा वश नहीं। पहले

चित्र में हमने फर्म के माग वक्र को क्षैतिज रूप में इसी प्रकार पाया है। यह माग वक्र यह बताता है कि फर्म के लिये वस्तु-कीमत निश्चित है तथा माग की लोच, इस कीमत पर, अनन्त है। यह माग वक्र यदि अपनी स्थिति बदलेगा भी तो क्षैतिज रहेगा। पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था मे वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त होने वाली आय (कीमत के रूप में) समान होती है, दूसरे शब्दो में औसत आय कीमत के बराबर होती है। वस्तु की अन्तिम इकाई के विक्रय से प्राप्त सीमान्त आय भी कीमत ही के बराबर होगी। इस प्रकार कीमत = सीमान्त आय = औसत आय। अतः उपर्युक्त क्षैतिज माग वक्र ही, पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की स्थिति मे, औसत आय वक्र तथा सीमान्त आय वक्र का भी काम करेगी।

हम प्रारम्भ ही म यह उपधारणा करके चल है कि प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ कमाने की चेष्टा करता है। कुल लाभ बराबर होता है कुल लागत तथा कुल आय के बीच के अन्तर के० तथा औसत लाभ बराबर होता है औसत लागत तथा औसत आय के बीच के अन्तर क। अत फर्म कुल लाभ को (या दूसरे शब्दो मे औसत लाभ को) अधिकतम करना चाहता है।

यह अधिकतम लाभ उसे तभी प्राप्त होगा जब उसकी सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर हो जायेंगी। अर्थात् वह इतनी वस्तु-मात्रा का उत्पादन (विक्रय) करेगा कि वस्तु मात्रा की अन्तिम इकाई के विक्रय से प्राप्त की हुई आय उसके उत्पादन की अतिरिक्त लागत के बराबर हो जाय। यदि यह आय (अर्थात् सीमान्त आय) सीमान्त लागत से अधिक है तो फर्म को अपने बलिदान से अधिक आमद हो रही है, इसलिये उत्पादन और आगे बढाने से उसके लाभ में वृद्धि होगी। यदि सीमान्त आय, सीमान्त लागत से कम है तो उसे घाटा हो रहा है तथा उसे उत्पादन इतना कम कर देना चाहिये कि सीमान्त लागत, सीमान्त आय के समान हो जाय। अर्थात् फर्म को अधिकतम लाभ तभी प्राप्त होगा जब सीमान्त आय = सीमान्त लागत। यह नियम व्यापक है, चाहे फर्म प्रतियोगिता की अवस्था में कार्य कर रहा हो अथवा विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियो म—यह समान रूप से लागू होता है। जहाँ सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत परस्पर बराबर हो जाती हैं, वही मस्थिति बिन्दु होता है।

शुद्धता पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सीमान्त आय कीमत के बराबर होती है। इसलिये सी आ = सी ला = की। फर्म की यही स्थिति मस्थिति कहलायेगी। जहा फर्म की सी आ = सी ला उस बिन्दु पर उत्पादन मात्रा फर्म की सस्थिति उत्पादन मात्रा कहलाती है। शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में जहा सीमान्त लागत, कीमत के बराबर हो जाती है, फर्म का वही मस्थिति बिन्दु होगा।

---

० इस लाभ का अर्थ अतिरिक्त लाभ से है, फर्म का सामान्य लाभ तो लागत में शामिल है।

अल्पकालीन अवधि मे फर्म की लागत, आय लाभ तथा संस्थिति पर कुछ विचार

हम ऊपर बता चुके हैं कि फर्म की संस्थिति की शर्ते हैं सी आ, तथा सी ला का बराबर होना। यद्यपि हमने मान लिया है कि शुद्ध तथा पूर्णप्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्योग के सब फर्म समान होते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि फर्म सर्वथा एक दूसरे के बिल्कुल समरूप नही होते। हम यह कह चुके हैं कि जहा तक वस्तु की कीमत का प्रश्न है, फर्म के लिये यह उद्योग द्वारा निश्चित की जाती है, फर्म का इस पर कोई नियन्त्रण नही होता। इस कीमत पर कोई फर्म जितनी चाहे उतनी वस्तु मात्रा बच सकता है। यह स्मरण रहे कि यह कीमत उद्योग की संस्थिति द्वारा निर्धारित हुई है, फर्म विशेष इस कीमत पर बच कर विक्रयेकाधिकारिक-प्राय लाभ अर्जित कर सकता है, या शून्य अथवा ऋणात्मक। या हो सकता है कि उसे इस कीमत पर वस्तु उत्पादन तथा विक्रय मे इतना घाटा लगे कि वह अपना कारबार बन्द करने पर विवश हो जाय। ये समस्त सम्भावनाय कीमत के सदर्भ मे उसकी लागत की अवस्था पर निर्भर हाती हैं। ऐसा इसलिय कि उसकी आय की अवस्थाय कीमत के रूप मे दी हुई होती हैं। शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत म माग वक्र ही फर्म का औसत आय तथा सीमान्त आय वक्र होता है। उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत पर आधारित होने के कारण यह क्षैतिज होता है।

इतना कहने के बाद हम कीमत तथा लागतो मे सदर्भ मे फर्म की चार अवस्थाओ की सम्भावना प्रकट करत हैं।

१ कीमत निम्नतम औसत लागत से अधिक है। ग्राफ मे, जैसा हम दिखायेंगे, इसका अर्थ होगा कि औसत आय (औ आ) वक्र, (अर्थात् सीमान्त आय वक्र) औसत लागत वक्र को दो बिन्दुओ पर काटता है। इस दशा म फर्म को विक्रयकाधिकारिक लाभ प्राप्त होगा। चित्र १ म यह स्थिति दिखाई गई है।

२ कीमत निम्नतम औसत लागत के बराबर है। इसका ग्राफ मे यह अर्थ होगा कि औसत आय वक्र, औसत लागत वक्र का स्पर्श होगा, तथा लाभ शून्य होगा। (चित्र २) देखिय ।

३. कीमत निम्नतम औसत लागत तथा निम्नतम औसत परिवर्तन लागत के बीच म है, अर्थात औसत आय वक्र, औसत लागत वक्र से नीचे है। इसलिय यहा फर्म को हानि हो रही है (चित्र ३)।

४ कीमत निम्नतम औसत लागत ही म नही, निम्नतम औसत परिवर्तनशील लागत म भी कम है। इस अवस्था म फर्म अपना काम बन्द कर देगा। (चित्र ४) म स्थिति दिखाई गई है।

उपर्युक्त चारो अवस्थाओ का हम ग्राफ की सहायता स नीचे दिखा रहे हैं। स्मरण रहे कि फर्म के लिय कीमत दी (माग-औआ-सी आ (वक्र हुई है।

इन चित्रों में—
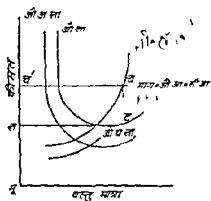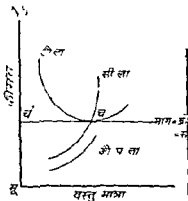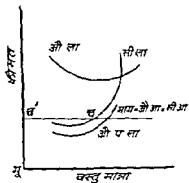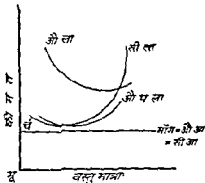
औ ला=औसत लागत वक्र

औ अ ला=औसत अपरिवर्तनशील लागत वक्र

सी ला=सीमान्त लागत वक्र

औ प ला=औसत परिवर्तनशील लागत वक्र

औ आ=औसत आय वक्र

सी आ=सीमान्त आय का वक्र

हम यह जानते हैं कि शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में औसत परिवर्तनशील-लागत-वक्र के ऊपर सी ला वक्र फर्म का पूर्ति वक्र बन जाता है। चित्र १

मे माग तथा पूर्ति वक्र (अर्थात् सी आ तथा सी ला) च बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं। यही सस्थिति बिन्दु है। कीमत मू च' है तथा न्यूनतम औसत लागत मू ल। ल च' सीमान्त लाभ है। विनिमय की जाने वाली वस्तु मात्रा च च' के बराबर है। यदि वस्तु मात्रा इससे कम होगी तो सीमान्त आय, सीमान्त लागत से अधिक होगी जिससे कि वस्तु उत्पादन (पूर्ति) मे वृद्धि लाभ मे वृद्धि लायेगा क्योंकि प्रत्येक अतिरिक्त इकाई पर लागत से, उससे प्राप्त होने वाली आय से कम होगी। फर्म इस प्रकार अपने उत्पादन मे तब तक वृद्धि करता जायगा जब तक कि उसे शुद्ध सीमांत लाभ प्राप्त होता है (अर्थात् जब तक कि उसकी सी आ < सी ला)। जहा सी आ = सी ला हो जाती है, सीमान्त लाभ शून्य हो जाता है। यदि उत्पादन इसमे आगे बढाया जायगा तो लाभ ऋणात्मक होगा, क्योंकि अतिरिक्त वस्तु-इकाई पर की जाने वाली लागत उसमे प्राप्त होने वाली आय से अधिक होगी [अर्थात् सी आ ∠ सी ला]। अत यही बिन्दु च सस्थिति बिन्दु होगा। पर ध्यान रहे कि इस बिन्दु पर फर्म को विक्रयकाधिकारिक लाभ प्राप्त होगा (चित्र १) मे यह लाभ ल च च ट आयत द्वारा व्यक्त किया गया है।

ऊपर हमने उस अवस्था को देखा जिसमे कीमत निम्नतम औसत लागत से अधिक है। अब हम उस अवस्था पर विचार करें जिसमे कि कीमत निम्नतम औसत लागत के बराबर है। (चित्र २) मे ऐसी ही अवस्था दिखाई गई है। जहा सीमान्त लागत वक्र, औसत लागत वक्र को पार कर रहा है, वहीं माँग वक्र भी आकर मिलता है। स्पष्ट है कि यहा सीमान्त लाभ शून्य हो जाता है। उत्पादक (विक्रेता) को साधारण लाभ (जो लागत मे शामिल है) प्राप्त होता है। च च' सस्थिति वस्तु मात्रा है तथा मू च' सस्थिति कीमत। च च' से कम वस्तु मात्रा होने से उत्पादक (विक्रेता) उतना अधिक लाभ नही प्राप्त कर रहा है जितना उसके लिये सम्भव है। अर्थात् इससे कम उत्पादन से उसका अधिकतम लाभार्जन का उद्देश्य पूरा नही हो रहा है। उसी प्रकार च च' से अधिक उत्पादन होने से घाटा होना शुरू हो जायगा।

अब हम तीसरी अवस्था पर विचार करते हैं उपर्युक्त दोनो अवस्थाओ मे हमने फर्म को लाभ पाते देखा—एक मे विक्रयेकाधिकारिक लाभ, दूसरे मे साधारण लाभ। अब यदि हम यह मानलें कि कीमत फर्म की निम्नतम औसत लागत से भी कम है तो वह क्या करेगा ? हम पहले कह चुके हैं फर्म के लिये कीमत निर्धारित होती है उद्योग द्वारा अपनी लागतो पर ही उसका वश होता है इसलिये फर्म अपनी लागत तथा प्रचलित कीमत के सम्बन्ध के अनुसार ही उत्पादन करता है। लागतें दो प्रकार की होती है, एक तो जिसे हम निश्चित अथवा स्थिर (Fixed or Supplementary) लागत कहते हैं, दूसरे परिवर्तनशील (Prime or Variable) लागत।

वक्र (औ प ला) माग=औ आ=सी आ वक्र को नीचे से काटता है ।* अर्थात् कीमत, औसत परिवर्तनशील लागत से अब भी अधिक है । इसलिये फर्म अब भी उत्पादन जारी रक्खेगा । कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत पर इसी प्रकार के आधिक्य को मार्शल ने 'आभास लगान' (quasi-rent) कहा है । यहा एक और बात का उल्लेख आवश्यक है । यदि कीमत से वस्तु की औसत परिवर्तनशील लागत मात्र (या उससे थोडा अधिक) वसूल हो पाता है तथा फर्म अपना उत्पादन जारी रखता है तो एक खतरा यह है कि बाजार मे माग की अपेक्षा अधिक इतना माल जमा हो जाय कि कीमत उठने की आशा बहुत दिनो के लिये समाप्त हो जाय। इस सम्भावना पर विचार करके ही फर्म माल का उत्पादन करेगा । यदि यह खतरा है तो फर्म औसत परिवर्तनशील लागत के वसूल होने पर भी उत्पादन बन्द कर देगा । यह बात ऐसे व्यापार के लिये और महत्वपूर्ण होती है जिसमे स्थिर लागत परिवर्तनशील लागत की अपेक्षा कही अधिक होती है । यदि ऐसी हालत मे कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर होने पर भी उत्पादन हुआ तो कुल लागत का एक बहुत बडा भाग (स्थिर लागत) हानि के रूप म जायगा, तथा माल बाजार मे भर जायगा जिससे फलस्वरूप निकट भविष्य मे कीमत ऊँची होन की भी कोई सम्भावना न रहगी । इसलिए फर्म यही श्रेयस्कर समझेगा कि उत्पादन बन्द कर दिया जाय ।

अब हम चौथी सभावना पर आते है, जहाँ कीमत न केवल औसत लागत से कम है अपितु वह औसत परिवर्तनशील लागत से भी कम है । अर्थात् ऐसी हालत मे माग अथवा औसत आय (औ आ) वक्र औसत लागत (औ ला) वक्र के ही नही औसत परिवर्तनशील लागत (औ प ला) वक्र से भी नीचे होता है । ऐसी हालत मे फर्म के लिय उत्पादन बद कर देना ही श्रेयस्कर होगा अन्यथा उसे स्थिर लागत से भी अधिक हानि उठानी होगी । चित्र न० ४ मे यही अवस्था दिखाई गई है । इस

* यहा यह कह देना आवश्यक है कि किसी फर्म का सस्थिति मे आना तभी सम्भव है जब कि सीमात लागत वक्र, सीमान्त आय वक्र को नीचे से काट । क्योकि इसी हालत मे फर्म इष्टतम अवस्था में हो सकता है । यदि सी ला वक्र सी आ को नीचे से नही काटता तो वह या तो ऊपर से काटगा या सर्वदा इसके सम्पात (Coincident) रहेगा । यदि सीमान्त लागत वक्र सी आ तथा सी आ वक्र का ऊपर स काटता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि सी आ तथा सी ला की समानता फर्म की इष्टतम स्थिति नही होगी सी ला गिर रही है इसलिए फर्म जितना अधिक उत्पादन करेगा उतना ही अधिक लाभ होगा क्योकि कीमत (सी आ) तो दी हुई है । यह असम्भव अवस्था है । अब यदि हम यह मानले कि सी ला सी आ सर्वथा बराबर है तो दोनो वक्र समाप्त होंगे, इसलिये हम कोई ऐसी उत्पादन मात्रा निर्धारित न कर सकेंगे जिस पर कि फर्म को अधिकतम लाभ हो (अथवा निम्नतम हानि हो) । अत सस्थिति उत्पादन-मात्रा का निर्धारण केवल तभी सभव है जब सी ला वक्र को नीचे की ओर से काटती हो ।

दीर्घकालीन माग तथा दीर्घकालीन पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। अब प्रश्न उठता है कि मागपूर्ति का साम्य क्या उद्योग मे सस्थिति की अवस्था अनिवार्यत उत्पन्न करता माना जा सकता है। किन्तु उसके भी पूर्व यह जानना आवश्यक है कि दीर्घकालीन सस्थिति से तात्पर्य क्या है। उद्योग की सस्थिति वह अवस्था है जिसम कि उद्योग को न तो प्रसार की प्रेरणा मिलती है न सकुचन की। सम्पूर्ण उद्योग के कुल उत्पादन मे ह्रास अथवा वृद्धि लाने की प्रवृत्तियो का सर्वथा अभाव होता है। जान रॉबिन्सन के अनुसार कोई उद्योगपूर्ण सस्थिति मे हुआ तब कहा जाता है जब (इसके) फर्मों की सख्या मे परिवर्तन की प्रवृत्ति पाई जाती हो। तब इसके फर्मों द्वारा अर्जित लाभ सामान्य होता है।* यह ऐसी स्थिति है जिसमे पहुचकर न केवल फर्मों की सख्या म परिवर्तन की प्रवृत्ति नही पाई जाती बल्कि मौजूदा फर्मों को अपन आकार का परिवर्तित करने की प्रवृत्ति का भी अभाव होता है कोई फर्म अथवा प्रसार अथवा सकुचन करने स किसी लाभ की आशा नही रखता। प्रत्येक फर्म की दीर्घकालीन निम्नतम औसतन लागत समान होती है। प्रत्येक फर्म इष्टतम लाभ अर्जित करता है और सबसे आवश्यक बात यह है कि प्रत्येक प्रतिष्ठान इष्टतम पमान पर उत्पादन करता है।**

दीर्घकालीन अवधि मे पूर्ति माग म परिवर्तन के अनुसार अपने का समायोजित कर लेती है। वास्तव म माग परिवर्तन के सदर्भ मे पूर्ति म परिवर्तन की सम्भावनाओ के अनुसार ही अवधियो का विभाजन किया गया है। ये भिन्न भिन्न अवधियो के हिसाब से नही बनाई जाती—इनका आधार कार्यशीलता समय (Operational time†) है। बाजारकालीन अवधि वह अवधि है जिसम पूर्ति निश्चित (Fixed) होती है अल्पकालीन अवधि मे मौजूदा उत्पादन उपकरणो की क्षमता के अनुसार अधिक परिवर्तनशील साधनो के प्रयोग द्वारा किसी हद तक पूर्ति मे परिवर्तन लाया जा सकता है किन्तु दीर्घकालीन अवधि वह अवधि है जिसम उत्पादन उपकरण भी परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् पूर्ति को माग का उत्तर देन को पूरा अवसर मिलता है इससे स्पष्ट है कि बाजार कालीन अवधि म यदि माग मे परिवर्तन हुआ तो कीमत पर उसका सीधा प्रभाव पडेगा अल्पकालीन अवधि म परिवर्तन कुछ कीमत पर प्रभाव डाल सकता है तथा कुछ पूर्ति पर। लेकिन दीर्घकालीन अवधि म माग म परिवर्तन का प्रभाव पूर्ति ही पर पडेगा। हम यह भी कह सकते हैं कि जैसे जैसे अवधि बढती जाती है वैसे वैसे कीमत पर पूर्ति (जो लागत पर निर्भर होती है) का प्रभाव बढता जाता है और दीर्घकालीन अवधि म तो

---

* *Joan Robinson—Imperfect Competition* p 93

** The final equilibrium adjustment under pure competition involves not only (1) the equation of supply and demand and (2) maximum profits for each competitor but also (3) realisation of the most efficient scale of production in each establishment

† Stigler—*Theory of Monopolistic Comp by Chamberlin 7 | edn* p 25

सामान्य कीमत फर्म की निम्नतम औसत लागत के बराबर होगी, और ह
है कि दीर्घकालीन अवधि में सभी फर्मों की निम्नतम औसत लागत समा
इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक फर्म का उत्पादन भी समान है।
भिन्न-भिन्न फर्म अपने सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न मात्रायें इस लागत पर
प्रस्तुत करेंगे।

इतना समझ लेने के बाद अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि उद्योग की दीर्घकालीन सामान्य कीमत अल्पकालीन अवधि की कीमत से अधिक होती है या कम या उतनी ही रहती है। यहां यह बात अन्तर्निहित है कि माग में परिवर्तन होता है। इसका उत्तर उद्योग में मौजूदा लागत की अवस्था देगी।

मान लिया दीर्घकाल में माग बढती है। उद्योग के फर्म अपने उत्पादन उपकरणों का नवीनीकरण करेंगे तथा नये उपकरण बिठाकर अधिक उत्पादन करेंगे। यही नही, नये फर्मों का भी प्रवेश होगा। पुराने फर्मों के प्रसार अथवा नये फर्मों के प्रवेश—दोनों का अर्थ होगा उत्पादन के सब साधनों की माग में वृद्धि। यदि उत्पादन के साधनों की कीमत अधिक मांग के फलस्वरूप न बढी तथा सर्वत्र समावयव साधन उपलब्ध हैं तो उत्पादन बढने पर भी औसत लागत पूर्ववत् रहेगी। इस हालत में, अर्थात् यदि लागत स्थिर रहती है तो, यदि उद्योग अपना उत्पादन बढ़ाना चाहे तो पुरानी ही लागत पर जितना चाहे उतना अधिक उत्पादन कर सकता है। यह समान अथवा स्थिर लागत की अवस्था है। स्पष्ट है कि स्थिर लागत के अन्तर्गत उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र क्षैतिज होगा। वास्तव में यह पूर्ति वक्र, अल्पकालीन पूर्ति वक्र के किसी बिन्दु का निधि (Locus) होगा। उद्योग स्थिर लागत-उद्योग कहलायेगा। इस अवस्था को चित्र २ (क) में आगे दिखाया गया है। Cost. Stam. | Cos

लेकिन यह सम्भव है कि उद्योग के विस्तार के साथ साथ उत्पादन के साधनों की कीमतें बढ जाये, जिससे कि अधिक उत्पादन का अर्थ होता है लागतों में वृद्धि। दूसरे शब्दों में, उद्योग क्रम गत उत्पादन ह्रास के अन्तर्गत कार्य कर रहा है। इसका अर्थ यह होगा कि उद्योग के प्रत्येक फर्म के लागत-वक्र ऊपर की ओर स्थानान्तरित हो जायेंगे। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु भी जिनके बराबर सामान्य कीमत होती है) ऊपर चलते जायेंगे। सब फर्मों द्वारा प्रस्तुत पूर्ति को जोड कर उद्योग की पूर्ति पाई जा सकती है। जैसे जैसे उद्योग का विस्तार होता है तथा लागतें बढ़ती जाती हैं, दीर्घकालीन औसत-लागत वक्रों का निधि ही दीर्घकालीन पूर्ति वक्र का निर्माण करता है; यह वक्र ऊपर उठता हुआ होता है। स्पष्ट है कि इस हालत में उद्योग वृद्धि-उन्मुख लागत-उद्योग कहलायेगा तथा दीर्घकालीन सामान्य कीमत अल्पकालीन कीमत से ऊपर होगी। चित्र २ (ख) में आगे इस अवस्था को दिखाया गया है।

अब हम तीसरी संभावना पर विचार करते है। मान लिया कि उद्योग के विस्तार के साथ साथ लागतें घटती है अर्थात् उद्योग ह्रासोन्मुख लागतों (अथवा

क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम) के अन्तर्गत काम कर रहा है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि पूर्ण प्रतियोगिता तथा दीर्घकालीन ह्रासोन्मुख लागतें परस्पर विरोधी हैं। हम यह देख चुके है कि यदि एक और इकाई उत्पन्न करके फर्म इसे बेचकर अपने कुल आय मे कुल लागत की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर सकगा तो उसे उत्पादन मे वृद्धि करने म लाभ होगा। यदि लागत उत्तरोत्तर गिरती जाती है तो फर्म अपना उत्पादन निरन्तर बढाता जायगा क्योंकि कीमत इसकी सीमान्त लागत से सदैव अधिक है, या हम या कह कि सीमान्त आय (पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सी आ=कीमत) सीमान्त लागत स अधिक है। जब तक फर्म की सी आ उसकी सी ला के बराबर नही हो जाती तब तक उसे अधिकतम् कुल लाभ प्राप्त न होगा, जिसे प्राप्त करना प्रत्येक फर्म को अभीष्ट होना है। ऐसी अवस्था म फर्म का विस्तार होता जायगा तथा यह विक्रयवाधिकारिक अवस्था पर पहुच जायगा, तथा प्रतियोगिता गायब हो जायगी। इसलिय पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के लिये यह आवश्यक है कि लागतें ह्रासोन्मुख न हो (दीर्घकालीन अवधि म) और यह निश्चित है कि किसी न किसी चरण पर लागतो का ह्रासोन्मुख होना बन्द अवश्य हो जायगा। किन्तु फिर भी हम ऐसी सभावना पर विचार करगे।

यदि लागत निरन्तर गिर रही है तो फर्मों की औसत लागत का निम्नतम विन्दु (तथा उसकी निधि) भी निरन्तर ह्रासोन्मुख होगा इसलिये उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र भी ह्रासोन्मुख होगा तथा दीर्घकालीन सामान्य कीमत, बाजारकालीन तथा अल्पकालीन कीमत से कम होगी। उद्योग ह्रासोन्मुख-लागत उद्योग कहलायेगा। आगे चित्र २ (ग) मे यह अवस्था दिखाई गई है।

२ (क) २ (ख)

नोट—पहले की$_1$ बिन्दु पर माग-पूर्ति संतुलित थे। यह माग बढ कर म$_1$ म$_1$ से माग वक्र को म$_2$ म$_2$ पर ला देती है। दीर्घकाल में पूर्ति इस माग के अनुकूल समायोजित हो जाती है तथा की$_2$ बिन्दु पर माग पूर्ति नयी स्थिति में संतुलित हो जाते हैं। की$_1$ की$_2$ का मिलान वाला वक्र दीर्घकालीन पूर्ति वक्र है। चित्र २ (क) में की$_1$=की$_2$, चित्र २ (ख) में की$_2$ > की$_1$ तथा चित्र २ (ग) में की$_2$ ∠ की$_1$

[की$_1$=अल्पकालीन कीमत
की$_2$=दीर्घकालीन कीमत]

ह्रासोन्मुख लागत उद्योग

२ (ग)
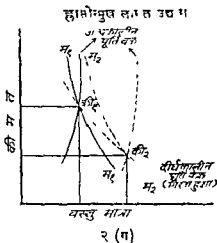
दीर्घकालीन अवधि में फर्म संस्थिति हम पहले कह चुके हैं कि दीर्घकालीन अवधि में कोई फर्म तभी उद्योग में रहेगा जब उसकी औसत लागत कम से कम उसकी औसत आय के बराबर हो, ऐसी दशा में उसको सामान्य लाभ (जो लागत में शामिल है) प्राप्त होगा। सामान्य लाभ से कम लाभ मिलने पर दीर्घकालीन अवधि में फर्म उद्योग से बाहर चला जायगा। दीर्घकालीन अवधि में कोई फर्म सामान्य लाभ से अधिक लाभ भी नहीं कमा सकता क्योंकि ऐसी दशा में नये फर्म उद्योग में प्रवेश करेंगे, उत्पादन बढ़ेगा तथा कीमत गिरेगी, जिससे कि लाभ पुन: सामान्य हो जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि दीर्घकालीन अवधि में फर्म की औसत लागत औसत आय (कीमत) के बराबर होने ही से संस्थिति की अवस्था उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त फर्म की संस्थिति का एक व्यापक नियम हम और देख चुके हैं। संस्थिति में होने के लिये फर्म की सीमान्त लागत बराबर होनी चाहिये सीमान्त आय के। अत दीर्घकालीन अवधि में फर्म संस्थिति में तभी आयेगा जब न केवल उसकी औसत आय बराबर उसकी औसत लागत के है बल्कि उसकी दीर्घकालीन सीमान्त आय (यहां सामान्य कीमत) दीर्घकालीन सीमान्त लागत के बराबर होगी। ये शर्तें किस बिन्दु पर पूरी होंगी ? आय के दृष्टिकोण से ये शर्तें दीर्घकालीन औसत आय

पर्थ नहीं कि सब फर्मों की कुल लागतें परस्पर समान होंगी, उत्पादन उपकरणों तथा उत्पादन राशि के पैमाने भिन्न भिन्न फर्मों के लिये भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इस सम्बन्ध मे यह भी बता देना आवश्यक है कि उपर्युक्त निम्नतम औसत लागत किस फर्म द्वारा निर्धारित होती है। जो फर्म इस निम्नतम औसत लागत को निर्धारित करता है उसका उत्पादन-उपकरण (Plant) इष्टतम आकार (Optimum size) का माना जाता है तथा इसका उत्पादन इष्टतम कहा जाता है। अब हम इस इष्टतम आकार के उत्पादन-उपकरण वाले फर्म पर सक्षेप मे विचार करलें।

दीर्घकालीन अवधि मे किसी फर्म को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह जिस पैमाने पर उत्पादन करना चाहे कर सकता है। उसी हिसाब से उसके उत्पादन उपकरण का भी आकार होगा। उत्पादन-उपकरण अविभाज्य इकाइयो मे आते हैं। यह स्पष्ट है कि उत्पादन उपकरण की एक अविभाज्य इकाई रख कर कोई फर्म जब अपना उत्पादन बढायेगा तो लागतें एक निश्चित बिन्दु (उपकरण की पूर्ण क्षमता के बिन्दु) तक गिरेगी, तत्पश्चात् वे बढने लगगी। यह इस लिये होता है कि किसी उत्पादन-उपकरण को दी हुई इकाई की उत्पादन क्षमता सीमित होती है दीर्घकालीन अवधि में धीरे-धीरे फर्म अपनी पूजी तथा ससाधनो के अनुसार सस्थिति पर पहुचाना चाहता है। इसके लिये उसे अपने उत्पादन उपकरण के आकार को परिवर्तित करना पड़ता है। यदि फर्म के ससाधन पर्याप्त न हुये तो वह इष्टतम आकार से छोटा ही रह कर सस्थिति म आ जायगा। उपकरण के निश्चित आकार से फर्म की अल्पकालीन औसत लागत तथा सीमान्त लागत निर्धारित होती है। निम्नांकित चित्र की सहायता स हम इन बातो को और स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं—
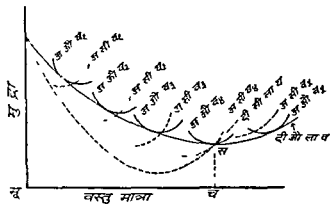
उपर के चित्र म अ औ व$_1$ से लेकर अ औ व$_2$ वक्र तक भिन्न भिन्न अल्पकालीन अवधियों के औसत वक्र हैं तथा अ सी व$_1$ से अ सी व$_2$ तक अल्पकालीन

(३) उत्पादन के साधनो मे स्थानापन्नता की सीमान्त दर तथा कीमत निष्पत्ति के बीच समानता ।

इसका अर्थ यह हुआ कि मौजूदा सस्थिति की अवस्था मे जिस क्रम तथा अनुपात मे उत्पादन के साधन भिन्न-भिन्न उत्पादन कार्यों मे लगाये गये हैं वही इष्टतम क्रम तथा अनुपात हैं । एक वस्तु के उत्पादन से निकाल कर किसी साधन को अन्य उत्पादन कार्य मे लगाने से उत्पादन मे वृद्धि नही लाई जा सकती ।

यदि किसी समाज मे आय का वितरण टैक्नीकल ज्ञान तथा उत्पादन के साधनो की पूर्ति दी हुई हो तो स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता की सस्थिति यह व्यक्त करती है कि उस समाज मे ससाधनो का सर्वोचित तथा इष्टतम उपयोग इष्टतम ढग से हो रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के साधनो का भिन्न-भिन्न उत्पादनो मे वितरण आदर्श होता है । आर्थिक विश्लेषण मे पूर्ण प्रतियोगिता के अध्ययन के महत्व का यही रहस्य है ।

— :०: —

....१६

प्रतिनिधि तथा संस्थिति फर्म

प्रतिनिधि फर्म—नाम से प्रकट है कि प्रतिनिधि फर्म कुछ फर्मों अथवा उद्योग का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन किस बात में? मार्शल ने इसका उत्तर दिया है। प्रतिनिधि फर्म मार्शल के उर्वरा मस्तिष्क की उपज है। हम पहले जैसा कह चुके हैं, कि फर्म की सस्थिति तब आती है जब उसकी सीमान्त आय बराबर हो जाती है उसकी सीमान्त लागत के। जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होगी तब तक फर्म को अपने उत्पादन में वृद्धि करने से लाभ होगा। अब यदि उत्पादन क्रमगत वद्धमान प्रत्याय अर्थात् क्रमगत ह्रासोन्मुख लागत के नियम के अन्तर्गत हो रहा है, तब क्या स्थिति होगी? इस हालत में सीमान्त लागत में उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है तथा सीमान्त आय से वह सर्वदा कम होने की प्रवृत्ति रखती है अत ऐसी स्थिति में फर्म को सस्थिति पर पहुचना अत्यन्त कठिन है। अब प्रश्न उठता है उद्योग की सस्थिति का। लागत तथा आय के सदर्भ मे, उद्योग तब सस्थिति में 'होता है जब कीमत तथा औसत लागत समान हो। वर्द्धमान प्रत्याय वाले उद्योग मे औसत लागत' क्या होगी? ऐसी हालत मे भिन्न-भिन्न फर्मों की औसत लागत प्राय. भिन्न-भिन्न होगी। कीमत किस औसत लागत के बराबर होगी? उद्योग की सस्थिति की प्रमुख शर्त यह है कि इसमे न नए फर्मों के प्रवेश की प्रवृत्ति पाई जाय और न पुराने फर्मों के बहिर्गमन की, न फर्मों मे उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा हो न उत्पादन मे कमी करने की। या स्थूल रूप मे हम यह कहे कि उद्योग का कुल-उत्पादन न बढने की प्रवृत्ति रखता हो न घटने की। यह स्पष्ट है कि यदि उत्पादन क्रमगत लागत ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो उद्योग मे उत्पादन-मात्रा के बढने की प्रवृत्ति मौजूद होगी, क्योकि फर्मों को (और उद्योग का उत्पादन बराबर होता है इसमे काम करने वाले सभी फर्मों के उत्पादन के योग के) और अधिक उत्पादन से लाभ होने की आशा है। ऐसी हालत मे उनकी उत्पादन-मात्रा के अनुसार भिन्न-भिन्न फर्मों की औसत लागतें तथा सीमान्त लागतें भिन्न-भिन्न होगी। यह सम्भव है कि उद्योग इस अन्तर-फर्म वैभिन्न्य के होते हुए भी सस्थिति मे हो। उद्योग मे फर्मों के सस्थिति मे न होने पर भी यह सम्भव है कि उद्योग सस्थिति मे हो अर्थात् इसके कुल उत्पादन मे कोई परिवर्तन न आये। यह भी सम्भव है कि उद्योग मे नये फर्मों का प्रवेश हो, लेकिन यह प्रवेश पुराने फर्मों के

बहिर्गमन के कारण प्रभाव शून्य हो जाता हो। इसी प्रकार कुछ फर्म उत्पादन में वृद्धि कर सकते है किन्तु कुछ अन्य फर्म अपने उत्पादन को कम कर रहे हों तथा ये वृद्धि तथा ह्रास एक दूसरे को प्रभावशून्य बना रहे हो जिससे कि कुल मिला कर उद्योग का कुल उत्पादन पूर्ववत् रहे। उद्योग की सस्थिति के इस प्रत्यय के अनुसार ही प्रतिनिधि फर्म की प्रतिष्ठा अर्थशास्त्र म की गई।

जब उद्योग म ऊपर बताई हुई स्थिति पाई जाती हो तो प्रश्न यह उठता है कि फिर यदि उद्योग सस्थिति म हो भी तो सस्थिति की कीमत कितनी होगी? क्या उसके निर्धारण की कोई विधि है? मार्शल ने बताया कि यह कीमत दीर्घकाल म बराबर होगी प्रतिनिधि फम की औसत लागत के। यह प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत है जिस पर कि हम अपना ध्यान केन्द्रित करते है।*

अब हम यह बताने की चेष्टा करते है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म से क्या तात्पर्य था। किसी उत्पादन मात्रा के सदर्भ मे जब हम सामान्य लागत का विश्लेषण करना चाहेगे तो एक प्रतिनिधि फर्म के व्ययों का अध्ययन करना पडेगा।[1] अपने अध्ययन के लिए न तो हम ऐसा नया फर्म चुनगे जो उद्योग म प्रवेश करने तथा स्थान पाने के लिये सघर्ष कर रहा है। ऐसा फर्म कुछ समय तक बिना लाभ के भी इस आशा से कार्य रत रह सकता है कि एक बार उद्योग के अन्दर अपना स्थान बना लेने के बाद फिर तो अच्छे दिन आयेंगे ही। ऐसे फर्म की लागतो के अध्ययन म हम कोई सामान्य नियम प्रतिपादित कर ही नही सकते। न हम ऐसे ही फर्म को लेगे जो अपने दीर्घकालीन कार्य-कौशल तथा सौभाग्य से अन्य फर्मों से अत्यधिक श्रेष्ठ हो तथा जिसकी लागत अन्य फर्मों की अपेक्षा काफी कम हो। ऐसे फर्म को भी हम अपने अध्ययन का विषय बना उसे प्रतिनिधि फर्म नही कह सकते। 'बल्कि हमारा प्रतिनिधि फर्म ऐसा होना चाहिये जो पर्याप्तरूपेण दीर्घ आयु तथा पर्याप्त सफलता प्राप्त कर चुका हो, जिसका प्रबन्ध सामान्य योग्यता से सपादित हो रहा हो और उत्पादित वस्तु की किस्म, उसके वितरण की दशाएँ तथा साधारण आर्थिक वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए उस उत्पादन-राशि को प्राप्त सभी बाह्य तथा आन्तरिक मितव्ययिताएँ सामान्य रूप स उसे उपलब्ध हो।'[2]

मार्शल ने अन्यत्र* कहा है कि किसी एक फर्म का इतिहास उसी प्रकार पूरे उद्योग का इतिहास नही बन सकता जिस प्रकार कि किसी एक व्यक्ति का इतिहास सम्पूर्ण मानव जाति का इतिहास नही बन सकता। लेकिन फिर भी मानव जाति का इतिहास व्यक्तियो के इतिहास का फल होता है। तथा किसी

---

* Ibid P 514

1 Principles of Economics by Marshall Bk. iv Ch. xiii P 397, Edn 4th Mac N Y,

2 Ibid

* Ibid P 514

नही कि उद्योग मे काम करने वाले सभी फर्मे विस्तारोन्मुख हैं—कुछ फर्मे विस्तार करते हो सकते हैं, अन्य सकुचन तथा अन्य कुछ बिल्कुल स्थिर हो सकते हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि उद्योग एक इकाई के रूप मे विस्तार तथा समृद्धि की प्रवृत्ति रखता है। उसी प्रकार प्रतिनिधि फर्म का सकुचन इस बात का द्योतक नही कि उद्योग मे लगे सभी फर्मों मे सकुचन आ गया है। इससे केवल सम्पूर्ण उद्योग में साधारण सकुचन की प्रवृति का भान होता है। प्रतिनिधि फर्म का पूर्ति वक्र सम्पूर्ण उद्योग के पूर्ति वक्र का एक छोटा सा प्रतीक होता है तथा उद्योग के पूर्ति वक्र की प्रवृतियो को प्रतिबिंबित करता है।

यह हम पहले कह चुके हैं कि दीर्घकालीन अवधि मे कीमत कम से कम फर्म की औसत लागत के बराबर होनी चाहिये। मार्शल ने अपने विश्लेषण में बाजार के पूर्ण प्रतियोगिता युक्त होने की उपधारणा की है। पूर्ण प्रतियोगिता के होने पर यदि उद्योग क्रमगत प्रत्याय-ह्रास अथवा स्थिर प्रत्याय के नियमो के अन्तर्गत कार्य कर रहा है तो स्थैतिक दशा (Static State) मे सभी फर्मों की औसत लागतें समान होगी तथा दीर्घकालीन अवधि मे कीमत को इसी औसत लागत के बराबर होना चाहिये। किन्तु यदि उद्योग क्रमगत प्रत्याय-वृद्धि (Increasing return) के अन्तर्गत कार्य कर रहा है तो सब फर्मों की औसत लागतें समान न होगी। मार्शल ने प्रत्याय-वृद्धि का कारण उत्पादन कार्य मे मानव-तत्व को बताया है। "...... ...स्थूल रूप से हम यह कहते कि जबकि उत्पादन मे प्रकृति द्वारा अदा किया जाने वाला पार्ट प्रत्याय-ह्रास की ओर प्रवृत्त होना है, मनुष्य द्वारा अदा किया हुआ पार्ट प्रत्याय-वृद्धि की प्रवृति रखता है।"[5] इसलिये यह मानना तो सम्भव है कि प्रकृति सब फर्मों के उत्पादन कार्य मे समान रूप से कार्य कर रही है, लेकिन यह मानना सम्भव नही कि सभी फर्मों में पूंजी, प्रबन्धक तथा श्रमिक तत्व समान रूप से काम कर रहे हैं। प्रकृति तत्व के ऊपर इन्ही तत्वों की प्रधानता प्रत्याय-वृद्धि को जन्म देती है। प्रकृति तत्व यदि प्रबल हुए तो ये तत्व दब जाते हैं, प्रकृति तत्व की यही प्रधानता प्रत्येक फर्म को प्रत्याय-ह्रास की स्थिति पैदाकर उन्हे लागत के विचार से समान स्तर पर ला देती है, सभी फर्म अपने उत्पादन को उस स्तर पर ले जाते हैं जहा कि उनकी सीमान्त प्राय उनकी सीमान्त लागत के बराबर तथा औसत लागत कीमत के बराबर हो जाती है। स्थिर प्रत्याय की दशा मे भी यही होता है। लेकिन प्रत्याय-वृद्धि की दशा में फर्मों मे उत्पादन तथा लागतों में समानता नही हो सकती। अत फर्मों की औसत लागतें भी भिन्न भिन्न होंगी। कीमत पूरे उद्योग मे माग-पूर्ति की दशा से निर्धारित होती है। इसलिये प्रश्न यह उठता है कि प्रत्याय-वृद्धि के अन्तर्गत कार्य-रत उद्योग मे परिस्थिति कैसे आ सकती है, इसमे दीर्घकालीन सस्थिति की शर्त यह है, कि कीमत औसत लागत के बराबर हो जाय—लेकिन जब

5 Marshall: Principles P. 397

फर्मों की औसत लागतो मे भिन्नता हो तो कीमत किस औसत लागत के बराबर हो। इसलिय ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्याय-वृद्धि की हालत मे उद्योग सस्थिति मे आ ही नही सकता। लेकिन मार्शल ने इसका खण्डन किया, उन्होने कहा कि प्रत्याय-वृद्धि की हालत मे भी उद्योग मे सस्थिति आनी सम्भव है। कैसे ? यही उन्होन प्रतिनिधि फर्म की रचना की और बताया कि दीर्घकालीन अवधि मे उद्योग मे सस्थिति आने की शत है कि कीमत 'प्रतिनिधि फर्म' की औसत लागत के बराबर हो। मार्शल प्रतिनिधि फर्म के वास्तविक अस्तित्व मे विश्वास करते थे। यहाँ एक बात पर और ध्यान रखना होगा। यदि उद्योग मे सस्थिति न भी आये तो उसकी कीमत क्या होगी ? इसके लिये भी हम प्रतिनिधि फर्म का सहारा लेना ही पडेगा।

आलोचना—अब हम 'प्रतिनिधि फर्म' के प्रत्यय पर किय गये आक्षेपो की चर्चा करगे। जैसा स्वाभाविक है, प्रतिनिधि फम की भी समय-समय पर कटु आलोचनाये की गई है। अर्थशास्त्र मे किसी भी 'नियम', 'सिद्धात', 'प्रतिष्ठापन' तथा 'प्रत्यय' की आलोचना का क्षेत्र स्वभावत बहुत विस्तृत होता है। 'प्रतिनिधि फर्म' के प्रत्यय को भी कोई अव्यवहारिक कहता है, कोई अवैज्ञानिक, अनावश्यक तथा बेकार बताता है। इन आलोचको मे राबर्टसन, राबिन्स तथा काल्डोर उल्लेखनीय हैं।

राबिन्स द्वारा की गई प्रतिनिधि फर्म की आलोचना सक्षेप मे इस प्रकार है।[6] वास्तविक जगत मे प्रतिनिधि फर्म कही पाया नही जाता। आर्थिक विश्लेषण के लिये भी इसकी कोई प्रयोजनीयता नही है। मार्शल ने स्वय प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय का अपने विश्लेषण तथा विवेचन मे कोई उपयोग नही किया। फिर प्रतिनिधि फर्म मार्शल का बाद का विचार है, बिना प्रयोजन के जिसका समावेश उन्होंने अपनी विवेचना मे बाद मे किया, इसका प्रमाण यह है कि उनकी पुस्तक (Principles) के प्रथम सस्करण मे प्रतिनिधि फर्म का जिक्र नही है। यह भी स्पष्ट नही है कि प्रतिनिधि फर्म का प्रयोग मार्शल ने किस अर्थ मे किया, प्रतिनिधि व्यवसायिक सगठन प्रतिनिधि लागत या प्रतिनिधि आकार के अर्थ मे अथवा प्रतिनिधि टैक्नीकल उत्पादन इकाई अथवा प्रतिनिधि उत्पादन उपकरण के रूप मे। फिर मार्शल ने अपने सिद्धांत म विरोधाभास को प्रश्रय दिया है, प्रत्याय-वृद्धि तथा पूर्ण प्रतियोगिता (जिसकी मार्शल ने उपधारणा की है) परस्पर असगत हैं, जहा प्रत्याय वृद्धि है वहा पूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व सम्भव नही, वहा विक्रयकाधिकारिक प्रवृत्ति का उदय किसी न किसी रूप मे अवश्य हो जायगा। इसी सम्बन्ध मे यह भी द्रष्टव्य है कि मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म को एक औसत फर्म माना है। औसत का अर्थ यह है कि कुछ फर्म

---

6 'Economic Journal' An Article by Robbins, V. 3, "The Representative Firm" Sept 1928.

इसमें अधिक कुशल होंगे तथा कुछ कम। लेकिन दीर्घकालीन अवधि में (जिसके सदर्भ में प्रतिनिधि फर्म की कल्पना की गई है) कोई भी उत्पादक तब तक उत्पादन नहीं करेगा जब तक कि कीमत कम से कम, उसकी औसत लागत के बराबर नहीं होगी। किन्तु औसत फर्म के प्रत्यय में यह विश्वास अन्तर्निहित है कि कुछ फर्म उससे कम कार्य-कुशल हैं, इसका अर्थ हुआ कि ऐसे फर्मों की औसत लागतें प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत से अधिक होंगी और चूंकि दीर्घकाल में कीमत प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर होगी इसलिए इन कम कुशल फर्मों को घाटा उठाना पड़ेगा, क्योंकि उनकी औसत लागतें कीमत से कम होंगी। दीर्घकाल में ऐसे फर्मों का अस्तित्व मानना जो घाटे पर व्यवसाय चला रहे हों, असम्भव को सम्भव मानना है। मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय में इसी असम्भव को सम्भव मानने के भाव हैं।

उपर्युक्त आपत्तियों के कारण ही रॉबिन्स प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय को बेकार तथा निरर्थक बताते हैं। उनके अनुसार, जिस प्रकार भूमि की प्रतिनिधि कीमत, प्रतिनिधि मशीन अथवा प्रतिनिधि श्रमिक आदि से कोई अर्थ नहीं निकलता तथा जिस प्रकार ये अनर्गल प्रत्यय हैं उसी प्रकार प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय की भी हमें कोई आवश्यकता नहीं। अर्थशास्त्र में कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं, जो प्रतिनिधि फर्म की अनुपस्थिति में अधिक सन्तोषप्रद ढंग से न सुलझाया जा सके। रॉबिन्स के अनुसार प्रतिनिधि फर्म का प्रत्यय "अनावश्यक ही नहीं, भ्रामक भी है।"

कुछ अन्य अग्रगामी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय की आलोचना की है। रॉबर्टसन भी इसे सम्पूर्ण उद्योग के पूर्तिवक्र के लघु आकार-प्रतिरूप से अधिक कुछ भी मानने को तैयार नहीं।[7] निकोलस काल्डोर के विचार में प्रतिनिधि फर्म यथार्थ का विश्लेषण होने के बजाय एक मानसिक प्रक्रिया है। कुछ आलोचकों ने यह भी शिकायत की है कि मार्शल ने इस सम्बन्ध में यह तो स्पष्ट बताया ही नहीं कि प्रतिनिधि फर्म का विश्लेषण अर्थव्यवस्था की स्थैतिक अथवा प्रावैगिक या दोनों अवस्थाओं में लागू होता है। आलोचकों का यह भी कहना है कि चूंकि पूर्ण-प्रतियोगिता की हालत में हमारी अवधारणा ही यह होती है कि उद्योग के सभी फर्म समान हैं—इसलिए यह प्रश्न ही नहीं उठता कि पूर्णप्रतियोगिता में कोई प्रतिनिधि फर्म होगा। अपूर्ण प्रतियोगिता की हालत में सभी फर्म विभेदित होते हैं, इसलिये वहाँ कोई फर्म अन्यों का प्रतिनिधि हो ही नहीं सकता। अतः दोनों दशाओं में

7 " It is not necessary ... . to regard it as any thing other than a small scale replica of the supply curve of the industry as a whole "—Robertson 'Increasing Returns and Representative Firm' Economic Journal, March 1930

प्रतिनिधि फर्म का प्रत्यय बेकार है। निःशेषाधिकार की हालत में एक ही फर्म उद्योग होता है।

इन तमाम आलोचनाओं में कुछ ही महत्वपूर्ण हैं। जहां ऐसे फर्म के वास्तविक अस्तित्व का प्रश्न है, उस पर अनुभव तथा अनुसंधान के आधार पर चेपमैन तथा ऐशटन ने यह कहा है कि उद्योग में ऐसे प्रतिनिधि फर्म का अस्तित्व में होना प्रतीत होता है।[8] टॉसी ने भी इस बात का अनुमोदन किया है। प्रथम महायुद्ध के दौरान में अमरिका की कोमन निर्धारण समिति के सदस्य की हैसियत से टॉसी को अमरिकन आर्थिक-व्यवस्था को अत्यन्त निकट से देखने का अवसर मिला तथा अपने स्वयं के अनुसंधान के आधार पर उन्होंने प्रतिनिधि फर्म के अस्तित्व को सम्भव तथा व्यावहारिक बताया। जो कुछ भी हो, अस्तित्व के विषय में वाद-विवाद अनावश्यक सा है। यदि प्रतिनिधि फर्म विश्लेषण में सहायक है, यदि अर्थशास्त्र की कुछ ग्रन्थियों को सुलझाने में वह हमारा सहायक हो सकता है तो उसका प्रत्यय सर्वथा ग्राह्य होना चाहिये। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आर्थिक सिद्धान्तों में (गणित की भांति ही) निगमन पद्धति के सहारे कतिपय उपधारणाओं तथा स्वयं सिद्धियों के आधार पर हम नीचे दिए हुए साध्यों तथा पक्षों से कुछ अनुमान (Inference) निकालते हैं। हम 'आर्थिक विश्लेषण' के अध्याय में यह कह आये हैं कि निगमन पद्धति में जो अनुमान हम प्राप्त होते हैं, वे औपचारिक सत्य होते हैं अर्थात् यदि वे स्वयं सिद्धियां, साध्य तथा उपधारणायें जिनके आधार पर इन सत्यों का प्रतिपादन होता है वास्तविक हैं तथा निगमन प्रणाली में कोई त्रुटि नहीं है जो अनुमानित (Inferred) नतीजा है, औपचारिक सत्य होगा। यदि वास्तविक जगत में उस औपचारिक सत्य का प्रतिरूप पाया गया तो यह औपचारिक सत्य वास्तविक सत्य हो जाते हैं। गणित में हम इन्हीं औपचारिक सत्यों का विवेचन करते हैं, इन्हीं के आधार पर बिन्दु, रेखा आदि ज्योमेट्री के प्रत्यय निकाले जाते हैं। संसार में बहुत से ऐसे प्रत्यय हैं जिनके अस्तित्व का दावा करना परिहास का पात्र बनना है। संसार के सब प्रत्यय सापेक्ष होते हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व को पाना असम्भव प्रायः है। दिशाओं का अस्तित्व कहां है? पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण क्या मनुष्य की उर्वरा बुद्धि की उपज मात्र नहीं? कहां है पूर्व? कहां हैं अन्य दिशायें? इनका भी तो कोई अस्तित्व नहीं, फिर आज हमारे लिये ये सत्य क्या बनी हुई हैं। सच यह है कि कितने प्रत्यय ऐसे हैं जिनका अस्तित्व हमारे मानसिक जगत में होता है, किन्तु उनके इस अस्तित्व का उपयोग हम यथार्थ निरूपण में करते हैं। ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे प्रत्यय पाये जाते हैं। कानून में व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में 'सामान्य विवेक' वाले व्यक्ति का आचरण मापदण्ड के फलस्वरूप प्रयुक्त होता है।

8 See 'Economics of Welfare' by A. C. Pigou P. 790 (note) 4th edn.

इसी सम्बन्ध म यह कह दना समीचीन होगा कि उद्योग के प्रत्यय को वेकार तथा काल्पनिक बनाने वाले अर्थशास्त्रियो का मत है कि चू कि उद्योग का प्रत्यय वास्तविक नही है, इसलिए प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय की कोई आवश्यकता नहीं। यह वाद-विवाद उद्योग की परिभाषा के चतुर्दिक केन्द्रित है। उद्योग है क्या? जब से *अर्थशास्त्र के जगत मे यह बात स्वीकार कर ली गई कि वास्तविक जगत के बाजारों* म पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता नही बल्कि अपूर्ण तथा विक्रयक्राधिकारिक प्रवृत्तियो का साम्राज्य होता है, तब से लोग उद्योग क प्रत्यय पर भी आक्षेप करने लगे हैं, क्योंकि परम्परा स उद्योग ऐसे फर्मों का सामूहिक नाम समझा जाता रहा जो समावयव वस्तु का उत्पादन करते हो। पर वास्तविक जगत म जहा वस्तु विभेदन *इतना व्यापक है, 'उद्योग' का प्रत्यय कुछ अर्थ नही रखता। लेकिन उद्योग की* परिभाषा नये-नये ढगो से करन का प्रयत्न किया जा रहा है। सच यह है कि उद्योग का प्रत्यय अर्थशास्त्र का आवश्यक अग बन गया है, उसके अर्थ मे कुछ सशोधन लाया जा सकता है (हम आगे विक्रयकाधिकारिक प्रतियोगिता के सदर्भ म इसका जिक्र फिर और कुछ अधिक विस्तार से करेंगे) लेकिन उद्योग के प्रत्यय का पूर्ण बहिष्कार उनके लिये भी दुष्कर होगा जो इस शब्द की निरर्थकता का उद्घोष करते नही अघाते। आर्थिक जगत म उद्योग की कोई ऐसी सगत परिभाषा, जो प्रतियोगिता की अपूर्णता को स्वीकार करती है, प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय मे उपयोगिता के प्राण फूक देती है।

रॉबिन्स इस बात म भी असन्तुष्ट हैं कि मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के अर्थ को *स्पष्ट नही किया जिससे कि उसका समुचित प्रयोग सम्भव होता। यह सर्वविदित है* कि जहा लेखक स्वय अपने द्वारा प्रयुक्त किसी शब्द अथवा प्रत्यय के अर्थ को स्पष्ट नही करता, वहा हम उसके अभिप्राय का अनुमान उस शब्द अथवा प्रत्यय के किये गये विभिन्न प्रयोगो के सदर्भ मे लगाते हैं। 'प्रतिनिधि फर्म' के प्रत्यय का जो विभिन्न प्रयोग मार्शल ने किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इसका प्रयोग उत्पादन लागत (जिससे कि पूर्ति प्रभावित तथा नियन्त्रित होती है) के सदर्भ म किया।

यह आलोचना भी कुछ अधिक जोरदार नही कि चू कि प्रतिनिधि फर्म 'औसत' फर्म होता है इसलिये इसम कम कुशल फर्मों को घाटा उठाना पड़ेगा तथा दीर्घकालीन अवधि म ऐसे फर्मों का अस्तित्व असम्भव होगा। वास्तव मे इस आलोचना का उत्तर मार्शल की प्रतिनिधि फर्म की व्याख्या का अन्तर्निहित है। मार्शल के अनुसार प्रतिनिधि फर्म एक अर्थ मे औसत फर्म है।" 'एक अर्थ में' ध्यातव्य है। हमारे मतानुसार प्रतिनिधि फर्म कई बातो म उद्योग क औसत फर्म (सही अर्थ म) से श्रेष्ठ होगा। इसलिये प्रतिनिधि फर्म से निम्नतर कोटि के फर्म उद्योग मे अवश्य विद्यमान पाए जा सकते हैं। फिर हमारी व्याख्या के लिये यह आवश्यक भी

नहीं कि हम प्रतिनिधि फर्म को दीर्घकालीन अवधि में औसत फर्म मानें। प्रतिनिधि फर्म के प्रतिनिधित्व का क्रम एक दिये हुये समय पर लें तो इस आलोचना में कुछ दम नहीं रह जाता—और प्रतिनिधि फर्म की चर्चा हमें किसी समय विशेष के सदर्भ में करनी भी चाहिये।

कुछ आलोचकों ने मार्शल की यह शिकायत की है कि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया कि प्रतिनिधि फर्म स्थैतिक प्रत्यय है अथवा प्रावैगिक। मार्शल ने 'स्थैतिक स्थिति' की उपधारणा अवश्य की थी किन्तु प्रावैगिक विश्लेषण में भी प्रतिनिधि फर्म उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रो० मेहता ने प्रतिनिधि फर्म को प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण का अंग सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। लेकिन यदि प्रतिनिधि फर्म प्रावैगिक अर्थशास्त्र का अंग न भी हो तो भी स्थैतिक विश्लेषण में उसका उद्योग क्या उसे बेकार बना देता है ? महत्ता की डिग्री में अन्तर पड़ सकता है, लेकिन प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण में उपयोगी न होने पर भी प्रतिनिधि फर्म का प्रत्यय बेकार तो नहीं। 'शान्त चित्रों' (जिन्हें हम स्थैतिक हालत में चित्रित करते हैं) की आवश्यकता अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से समाप्त नहीं हुई। लेकिन प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय में तो प्रावैगिक विचारों का समावेश भी है। हमारे विचार से उद्योग में औसत लागतों का वैषम्य, कुछ फर्मों का बहिर्गमन कुछ का प्रवेश आदि बातों का इस सदर्भ में मार्शल ने जो जिक्र किया है उसमें प्रतिनिधि फर्म को प्रावैगिक जगत में स्थान दिलाने की पर्याप्त क्षमता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि तमाम आलोचनाओं के बावजूद भी प्रतिनिधि फर्म एक उपयोगी प्रत्यय है। आलोचनाएँ, वे तो की ही जाती है। किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन मनुष्य द्वारा होता है, मनुष्य अपूर्ण होता है, इसलिये उसकी उपज भी अपूर्ण होती है। अपूर्णता आलोचना की पात्र हो, इसमें अपूर्णता की भर्त्सना की नहीं, मनुष्य के मेधा की प्रशंसा के भाव अन्तर्निहित हैं। फिर यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रतिनिधि फर्म एक प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है और अर्थशास्त्र के सिद्धान्त यदि किसी प्रवृत्ति का परिचय दे दें तो उनका प्रतिपादन सफल हो गया। प्रतिनिधि फर्म का आर्थिक विश्लेषण जगत में प्रतिष्ठान इस अर्थ में सफल रहा है।

प्रतिनिधि फर्म तथा प्रावैगिक अर्थशास्त्र—

मार्शल ने सामान्य कीमत के निर्धारण करने का श्रेय सीमान्त लागत को दिया। सीमान्त लागत को उन्होंने दो प्रकार देखा —

[१] सीमान्त फर्म की औसत लागत के रूप में, तथा
[२] प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत के रूप में।

जहाँ उत्पादन ह्रासोन्मुख प्रत्याय (Increasing costs or Decreasing Return) के अन्तर्गत हो रहा है, वहाँ सामान्य कीमत बराबर होगी, सीमान्त फर्म

की औसत लागत के तथा जहाँ उत्पादन वर्द्धमान प्रत्याय के अन्तर्गत हो रहा है वहाँ सामान्य कीमत बराबर होगी प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत के।

प्रतिनिधि फर्म के प्रत्यय का जन्म मार्शल ने स्थैतिक आर्थिक व्यवस्था तथा स्थैतिक संस्थिति के संदर्भ में दिया था। किन्तु आज के प्रवैगिक अर्थशास्त्र में भी इसने स्थान पा लिया है। किसी उद्योग की संस्थिति को दो रूपों में हम बता सकते हैं, एक तो उसके कुल उत्पादन के संदर्भ में, दूसरा कीमत लागत सम्बन्ध द्वारा। संस्थिति की हालत में उद्योग के कुल उत्पादन में ह्रास अथवा वृद्धि की प्रवृत्ति नहीं होती। कीमत-लागत के सम्बन्ध द्वारा भी यह संस्थिति प्रकट की जा सकती है। फर्म की संस्थिति तब आती है जब उसकी लागत तथा कीमत समान हो जाती है। उद्योग की संस्थिति तब आती है जब कीमत तथा उत्पादन की औसत लागत समान हो।

हम पहले यह बता आये हैं कि उत्पादन स्थिरता के विचार से उद्योग में संस्थिति तब भी सम्भव है जब उद्योग में नये फर्मों का प्रवेश तथा पुराने फर्मों का बहिर्गमन हो रहा हो अथवा कुछ फर्म अपना विस्तार तथा कुछ अन्य संकुचन कर रहे हों, बशर्ते कि नये फर्मों के प्रवेश तथा पुरानों के बहिर्गमन प्रभाव परस्पर सतुलित हो जायें और कुछ फर्मों के विस्तार से आने वाली उत्पादन वृद्धि कुछ अन्य फर्मों के बहिर्गमन के कारण आने वाले उत्पादन ह्रास के बराबर हो जाय। ऐसी हालत में उद्योग की सामान्य कीमत क्या होगी? मार्शल के प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत। उद्योग जब संस्थिति में है तो उसकी कीमत, औसत लागत के बराबर होगी—लेकिन उद्योग में जब विस्तार संकुचन अथवा प्रवेश बहिर्गमन की उथल पुथल हो तो कुल उत्पादन में कोई फर्क न पड़ने से भी फर्मों की औसत लागतें असमान होंगी। फिर उद्योग की कीमत किस औसत लागत के बराबर होगी? उत्तर है प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग की गति-विधि का प्रतिबिम्ब होता है। उद्योग की कीमत प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के समान होने का प्रयत्न करती रहती है। प्रतिनिधि फर्म में विस्तार तथा संकुचन उद्योग की वृद्धि तथा संकुचन के क्रमशः द्योतक हैं। कीमत उद्योग के उत्पादन परिवर्तन पर निर्भर होती है, उद्योग का उत्पादन-परिवर्तन प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन परिवर्तन पर निर्भर होता है तथा प्रतिनिधि फर्म का उत्पादन परिवर्तन उसकी औसत लागत पर निर्भर होता है और इस प्रकार उद्योग की कीमत प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत पर निर्भर करती है। यद्यपि यह हमें नहीं भूलना चाहिये कि प्रतिनिधि फर्म कौन फर्म होगा यह बात सर्वप्रथम कीमत ही निश्चय करेगी, लेकिन फिर उनकी क्रिया प्रतिक्रिया उपर्युक्त रूपेण होगी।

प्रतिनिधि फर्म की अनुपस्थिति में हमने देखा कि जहां फर्मों के प्रवेश-बहिर्गमन तथा विस्तार-संकुचन के क्रम जारी हैं सब फर्मों की औसत लागतें भिन्न होंगी, उनका परस्पर कोई सम्बन्ध न होगा, इसलिये ऐसी दशा में उद्योग की औसत लागत का प्रत्यय निरर्थक तथा बेकार है। लेकिन हम यह कह चुके हैं कि सामान्य औसत उद्योग की औसत लागत के समान होती है। उद्योग की औसत लागत के समान होती है। उद्योग की औसत लागत परस्पर समरूप होती हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि-फर्म का अस्तित्व तथा महत्व स्पष्ट हो जाता है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनिधि फर्म का प्रयोग तथा उद्योग परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में किस प्रकार महत्वपूर्ण बन गया है।

पीगू का सस्थिति फर्म—प्रो० पीगू ने मार्शल के 'प्रतिनिधि फर्म' के अस्तित्व का समर्थन किया तथा व्याख्या द्वारा उसका नाम बदल कर सस्थिति फर्म रखना अधिक तर्कसंगत, स्पष्ट तथा उपर्युक्त बनाया। उनके अनुसार प्रतियोगिता पूर्ण उद्योग में किसी वस्तु की पूर्ति कीमत उस उद्योग के सस्थिति फर्म की सीमान्त लागत तथा औसत लागत के बराबर होगी।[12] पीगू के एतद्-सम्बन्धी विचार का संक्षिप्त इस प्रकार है।

प्राय एक उद्योग में बहुत से फर्म होते हैं। इनमें से किसी दिये हुए समय पर कुछ फर्म विस्तार पाते रहते हैं तथा कुछ अवनति तथा सकुचन के शिकार होते हैं। मार्शल ने इन फर्मों की तुलना जगल के वृक्षों से की है। इस प्रकार यदि वस्तु की माग तथा उद्योग द्वारा की जाने वाली पूर्ति की मात्राएँ स्थिर भी रहें तो भी बहुत से फर्मों में हेर-फेर होते ही रहते हैं। सम्पूर्ण उद्योग का उत्पादन स्थिर है, उसके कुल उत्पादन में न कोई कमी आ रही है न अधिकता—फिर भी उसमें काम करने वाले बहुत से फर्मों की उत्पादन-मात्राएँ स्थिर न होकर घटती-बढ़ती होंगी। यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। कुछ फर्मों का विस्तार तथा कुछ अन्य फर्मों का सकुचन परस्पर एक दूसरे के समान होकर एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार कुछ फर्मों के विस्तार से उत्पादन में जितनी वृद्धि हुई, उतनी ही कुछ अन्य फर्मों के सकुचन से उत्पादन में कमी आ गई—वृद्धि तथा कमी ने एक दूसरे को सतुलित कर दिया। इसी आधार पर पीगू की इस बात में यह भी जोड़ सकते हैं कि पुराने फर्मों के बहिर्गमन द्वारा भी उत्पादन में ह्रास हो सकता है, लेकिन यदि उसी समय नये फर्मों का उद्योग में प्रवेश हुआ तथा इन नये फर्मों ने अपने उत्पादन से बहिर्गत फर्मों द्वारा लाए गये उत्पादन-ह्रास को पूरा कर दिया तो भी उद्योग सस्थिति में ही रहेगा। जो कुछ भी हो, यह बात स्पष्ट है कि उद्योग के बहुत से फर्म यद्यपि सस्थिति में नहीं हैं, फिर भी उद्योग ऐसी परिस्थिति में सस्थिति में है। यदि माग में परिवर्तन के कारण उद्योग में सस्थिति की अवस्था

12 Pigou: Ec. of W. P. 216

उत्पन्न भी हो जाय तो यथेष्ट समय मिलने से उद्योग मे पूर्ति का पुन समायोजन हो जायगा तथा उद्योग मे सस्थिति पैदा हो सकती है। किन्तु उद्योग मे सस्थिति के बावजूद भी तमाम फर्म ऐसे होगे जो असस्थिति मे होगे। ऐसी स्थिति मे उद्योग तथा भिन्न भिन्न फर्मो का अध्ययन बडा ही पेचीदा हो जायगा। इस कठिनाई तथा पेचीदगी से छुटकारा पाने का सौभाग्यवश पीगू एक मार्ग देखते है। फर्मो मे विस्तार तथा सकुचन यदि परस्पर एक दूसरे को इस प्रकार सतुलित कर लें कि उद्योग के कुल उत्पादन मे कोई अन्तर न आवे—वह पूर्ववत् रहे तो ऐसे विस्तार अथवा सकुचन को हम अपने उद्योग की पूर्ति विश्लेषण के लिये अप्रासगिक तथा अनावश्यक मान नजर-अन्दाज (उपेक्षित) कर सकते हैं। ऐसी हालत मे सस्थिति-फर्म का विधान सहायक सिद्ध होगा। पीगू के अनुसार जब उपर्युक्त अर्थ मे सम्पूर्ण उद्योग सस्थिति मे है तब उस उद्योग मे कोई न कोई ऐसा फर्म हो सकता है जो स्वय सस्थिति मे हो। मान लिया कि उद्योग मे 'प' पूर्ति कीमत के होने पर 'व' वस्तु-मात्रा (स्थिर) का उत्पादन हो रहा है तो सस्थिति फर्म स्थिर वस्तु मात्रा, $क्ष_र$ उत्पादित करना होगा।[12] उद्योग की परिस्थितयाँ एसे सस्थिति फर्म की उपस्थिति के अनुकूल हैं। उद्योग की इन परिस्थितियो के अध्ययन के लिय 'सस्थिति फर्म' के अस्तित्व को निरापद स्वीकार किया जा सकता है।

अब, सस्थिति फर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने के बाद, पीगू के अनुसार, उद्योग की किसी दी हुई उत्पादन-राशि की पूर्ति कीमत इतनी होनी चाहिये जितनी कि सस्थिति फर्म को सस्थिति मे रहने दे। यहाँ यह स्मरण रहे कि पीगू का तात्पर्य दीर्घकालीन अवधि से है।

हम पहले देख चुके है कि पूर्णप्रतियोगिता की अवस्था मे (और पीगू ने पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत वर्द्धमान प्रत्याय के प्रश्न को सुलझाने के लिये ही सस्थिति फर्म का सृजन किया। फर्म जब सस्थिति मे आता है तो उसकी सीमान्त लागत, औसत लागत तथा कीमत परस्पर समान हो जाती है। पीगू के अनुसार सस्थिति फर्म की लागतें ही दीर्घकालीन अवधि मे उद्योग की कीमत निर्धारित करती है। इस प्रकार के फर्म की सीमान्त लागत मे ह्रास की प्रवृत्ति नही होती, अर्थात्

---

12 "It implies that there can exist some one firm which, whenever the industry as a whole is in equilibrium, in the sense that it is producing a regular output y in response to a normnal supply price p, will itself also individually be in equilibrium with a regular output xr."

—Pigou op cit 790.g

फर्म को वाह्य* मितव्ययता या अमितव्ययता प्राप्त नही हो रही है। आतरिक मितव्ययता प्राप्त नही हो रही है आन्तरिक मितव्ययता भी उसे उपलब्ध नही और यदि उपलब्ध भी है तो उद्योग के उत्पादन के पैमाने का उस पर कोई प्रभाव नही।

सस्थिति फर्म की सीमान्त लागत दीर्घकालीन अवधि म उद्योग की पूर्ति कीमत होगी। यदि सस्थिति फर्म की सीमान्त लागत उद्योग की पूर्ति कीमत से कम हुई तो फर्म अपना विस्तार करेगा, क्योकि ऐसा करने मे उसे लाभ होगा। यदि फर्म की सीमान्त लागत उद्योग की पूर्ति कीमत से कम हुई तो उद्योग मे व्याप्त कीमत पर अपनी वस्तु बेचने से फर्म को हानि होगी। इसलिय वह अपना सकुचन तब तक करेगा जब तक कि उसकी सीमान्त लागत उद्योग मे प्रचलित कीमत के नही हो जाती। दोनो हालतो म, अर्थात् चाहे विस्तार करे चाहे सकुचन, सस्थिति फर्म, सस्थिति मे न होगा। अत फल यह निकला कि उद्योग की पूर्ति कीमत (उत्पादित वस्तु की कीमत) सस्थिति फर्म की सीमान्त लागत के बराबर अवश्य होगी।

हम पहले कह चुके है कि दीर्घकालीन अवधि मे कोई फर्म तभी उत्पादन करेगा जब उद्योग मे प्रचलित कीमत से कम स कम उसकी औसत लागत वसूल हो जायेगी। इस प्रकार यदि उद्योग की पूर्ति कीमत सस्थिति फर्म की औसत आय स कम हुई तो उसे घाटा होगा जिसके कारण वह अपना सकुचन करेगा। यदि उद्योग की पूर्ति कीमत सस्थिति फर्म की औसत लागत से अधिक हुई तो फर्म को अतिरिक्त लाभ होगा तथा वह अपना विस्तार करेगा, इन दोनो हालता म सस्थिति फर्म की सस्थिति नष्ट हो जायेगी। अत उद्योग की पूर्ति कीमत सस्थिति फर्म की सीमान्त लागत के बराबर अवश्य होगी।

इसलिय पीगू ने कहा कि—'बहु फर्म वाले उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु की सामान्य पूर्ति कीमत, उत्पादन की भिन्न भिन्न मात्राओं के लिये बराबर होगी सस्थिति

---

* प्रतियोगिता के अन्तर्गत काय करने वाले, किसी फर्म की लागतें दीर्घकालीन अवधि मे न केवल अपनी उत्पादन मात्रा से प्रभावित होती है, बल्कि सम्पूर्ण उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु मात्रा पर भी निभर होती हैं। फर्म के बडे पैमाने पर उत्पादन करने से उसे जो लाभ (औसत लागत म कमी के रूप मे) प्राप्त होता है उसे आन्तरिक मितव्ययता की संज्ञा दी जाती है, सम्पूर्ण उद्योग मे उत्पादन वृद्धि से जो सुविधा किसी फर्म को प्राप्त होती है (जैसे सडकें, यातायात के साधन, समाचार, अनुसधान आदि उद्योग म उन्नति आने मे, उन्नत बनाये जाते हैं और इनसे प्रत्येक फर्म लाभान्वित होता है) उस उस फम की वाह्य मितव्ययता कहते हैं। स्पष्ट है कि ये मितव्ययतायें जसे जैसे बढती जायगी सीमान्त लागत वैसे वैसे घटती जायेगी।

फर्म की औसत लागत, तथा उसकी सीमान्त लागत, दोनो के . .।' [13] पीगू का लागत' से तात्पर्य है 'मुद्रा-लागत' से।

आलोचना— पीगू ने अपने सस्थिति फर्म को मार्शल के प्रतिनिधि फर्म का सशोधित उन्नत रूप बताया लेकिन प्रो० जे० के० मेहता[14] ने ठीक कहा है कि ये दोनो प्रकार के प्रत्यय बहुत कुछ समान हैं क्योकि दोनो को सम्पूर्ण उद्योग के प्रतिनिधि के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जब उद्योग सस्थिति मे होता है तो पीगू के सस्थिति फर्म तथा मार्शल के प्रतिनिधि फर्म मे कोई भेद नही होता, दोनो एक हो जाते है। प्रो० मेहता के अनुसार प्रतिनिधि फर्म का प्रत्यय सस्थिति फर्म के प्रत्यय से अधिक व्यापक है क्योकि प्रतिनिधि फर्म का अस्तित्व उद्योग मे सर्वथा सम्भव है चाहे उद्योग सस्थिति में हो अथवा नही जबकि सस्थिति फर्म की सम्भावना केवल तभी होगी जब उद्योग सस्थिति मे हो।

इस विषय मे सबसे खटकने वाली बात यह उपधारणा है कि उद्योग मे फर्मों का सकुचन तथा विस्तार इस प्रकार एक दूसरे को सतुलित कर लेता है कि उद्योग के कुल उत्पादन मे कोई परिवर्तन नहीं आता। यह उपधारणा अत्यन्त कृत्रिम है। फर्म विस्तार की सामान्य प्रेरणाये प्राय सभी फर्मों के लिये न्यूनाधिक, उसी दिशा म काम करती हुई मानी जा सकती हैं। इसलिये कुछ फर्म जब अपना विस्तार करने को उत्प्रेरित होंगे तो यह हम चाहे मान लें कि अन्य फर्म पूर्ववत् रहेगे लेकिन यह मानना कि अन्य कुछ फर्म अपना सकुचन करेंगे और वह भी उसी अनुपात म जिस अनुपात मे कि अन्य कुछ फर्म अपना विस्तार करते हैं—अत्यन्त असम्भव कल्पना होगी।

सस्थिति की शर्त फर्म के साथ लगाकर समस्या जटिल बना दी गई है। यदि प्रतिनिधि फर्म को अस्तित्व कठिन माना जाय तो सस्थिति फर्म का अस्तित्व उससे भी कठिन अपितु असम्भव होगा। प्रतिनिधि फर्म मे हम कम से कम किसी प्रवृत्ति के मौजूद होने की बात तो कर सकते हैं लेकिन सस्थिति फर्म की हालत में ना किसी प्रवृत्ति के बताने का कोई प्रश्न ही नही उठता, वह तो गणित के समान निश्चय होने का भाव रखता है, सस्थिति एक बिन्दु है। उसके इर्द गिर्द किसी अनुमान की आवश्यकता नही। 'सस्थिति फर्म' जब हम कहते हैं तो हमारा भाव यह होता है कि फर्म किसी बिन्दु विशेष पर स्थित है, उससे तनिक भी इधर उधर जाने से उसका धर्म (सस्थिति) नष्ट हो जायगा। उस बिन्दु से हटने पर वह फर्म बिल्कुल पदच्युत हो जाता है। सस्थिति फर्म के सम्बन्ध म 'लगभग' शब्द का प्रयोग नही

---

13 " The normal supply price of the product of a many firm indus ry is in respect of all quantities of out put, equal both to the marginal cost and the equilibrium firm cost being understood, of course, in the sense of money cost "—*Pigou*.—op cit p 794

14 Op-cit p 183.

किया जा सकता। इसलिये सस्थिति फर्म का उपयोग अत्यन्त सीमित होता है। जबकि प्रतिनिधि फर्म एक क्षेत्र के समान है, उस क्षेत्र के भीतर 'अनुमानत' तथा 'लगभग' शब्दो का समावेश हो सकता है। वह किसी प्रवृत्ति का परिचय देता है और यही आर्थिक विश्लेषण के लिये काफी महत्व का है। अत इस अर्थ मे भी हम कह सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म का प्रत्यय अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है।

ऐसे उद्योग म जिसम फर्मों के विस्तार तथा सकुचन की अराजकता फैली हो किसी सस्थिति फर्म की अपने गणित के निश्चय से सुसज्जित तथा आबद्ध होकर उपस्थिति बडी असम्भव घटना होगी, जबकि किसी ऐसे फर्म की उपस्थिति की सर्वदा सम्भावना हो सकती है जो उद्योग की सामान्य प्रवृत्तियो के परिचायक होने की प्रवृत्ति रखता हो।

फिर ऐसे सस्थिति फर्म का उपयोग बहुत कम है, क्योकि विस्तार-सकोच का घटना-चक्र जहाँ चालू है वहाँ यह आशा करना व्यर्थ है कि इस चर्म के शिकार फर्मों का अथवा उनसे निर्मित उद्योग का प्रतिनिधित्व कोई सस्थिति फर्म कर सकेगा। उद्वेलन का प्रतिनिधित्व शांति कैसे करेगी। सस्थिति फर्म की लागतो से और फर्मों की लागतो का कोई निश्चित सम्बन्ध नही होगा।

...१७
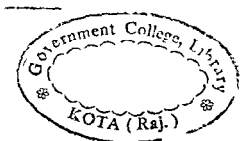
विक्रयेकाधिकार

विक्रयेकाधिकार प्राचीनकाल से ही एक विवाद ग्रस्त विषय रहा है। पूजीवाद की प्रारम्भिक अवस्था मे विक्रयेकाधिकार की भावना बहुत प्रबल थी। इस युग मे बडी बडी चार्टर्ड कम्पनियो की स्थापना हुई। इन चार्टर्ड कम्पनियो को अमेरिका, भारतवर्ष तथा पूर्व के अन्य देशो मे व्यापार का एकाधिकार प्राप्त था। अग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी जिसने भारतवर्ष मे अग्रेजी राज्य की बुनियाद डाली ऐसी ही एकाधिकार प्राप्त कम्पनी थी, इसे छोडकर अन्य किसी अग्रेजी सस्था या व्यक्ति को यहा व्यापार करने का अधिकार न था। वास्तविकता यह है कि ससार के कोने-कोने मे योरुपीय शक्तियों, विशेषत अग्रेजी शक्ति के उपनिवेषो तथा साम्राज्यो की स्थापना तथा उनके विस्तार का प्रारम्भिक श्रेय ऐसी ही एकाधिकार प्राप्त कम्पनियो को है।*

आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही एकाधिकार प्राप्त सस्थाएं अर्थशास्त्रियो के विचार की मुख्य विषय रही हैं। आडम स्मिथ ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि एकाधिकार तथा उससे उत्पन्न बुराइयो की जड थी मर्केन्टाइलिस्ट प्रणाली, जिसके सिद्धान्तो के खण्डन मे वह लगा था। उन्होने विक्रयेकाधिकारो के दुष्परिणामो को बताने की चेष्टा की तथा विश्लेषणात्मक ढग से यह बताया कि ससाधनो के समुचित वितरण तथा सामान्य कीमत पर विक्रयेकाधिकार का क्या प्रभाव पडता है। विक्रय द्वयाधिकार का गणित के दृष्टिकोण से विश्लेषण करने की चेष्टा लगभग सौ वर्ष पूर्व ही की जा चुकी है। कॉर्नू ने (Cournot) इस विषय पर काफी विचार किया है।

---

* और भी "Monopoly was the outstanding way in which the rising nation state sought to increase trade and to create sources of revenue for themselves ... The tradition of medieval (मध्य युगीन) thoughts was favourable to carefully defined privilege, and what was more important, monopoly itself was a necessary form of trading at a time when both lust of adventure and risk were great"—A History of Economic Thought by Eric Roll, p 56.

नियोक्लासिकल युग मे मार्शल ने विक्रयेकाधिकार पर नये सिरे से ध्यान दिया। यद्यपि मार्शल पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उसने बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था की उपधारणा करके अपने सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया, लेकिन वह प्रतियोगिता के काल्पनिक होने या विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियो की आर्थिक जगत मे वास्तविकता से अपरिचित नही था। "प्रतियोगिता" शब्द नव युग के औद्योगिक जीवन की विशेषताओ को प्रकट करने के लिये उपयुक्त नही है।"[1] अन्यत्र वह कहता है कि एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है जिसमे प्रतियोगिता ससार के प्रत्येक भाग से प्रत्यक्ष रूप से काम करती है, दूसरे छोर पर ऐसे एकान्त के बाजार है जिनमे प्रत्यक्ष प्रतियोगिता काम नही कर पाती, तथा इन दोनो छोरो के लगभग मध्य मे बाजार की अन्य बहुत सी अवस्थाए (अर्थात Monopoly तथा Competition की मिली जुली अवस्थाए) विद्यमान हैं जिनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है।[2] इन बीच की अवस्थाओ पर पियरा साफा, श्रीमती जॉन रॉबिन्सन तथा प्रो० चेम्बरलिन ने विस्तारपूर्वक विचार किया।[3] अब अर्थशास्त्र विश्लेपण की किसी ऐसी पद्धति पर विचार करने के लिये मजबूर हो गये जो केवल प्रतियोगितापूर्ण अवस्था में नहीं अपितु विक्रयेकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थाओ के लिये भी सही हो सके। इस प्रकार के विश्लेपण मे भी यह उपधारणा करली गई है कि आर्थिक व्यवस्था मे अधिकतम लाभ कमाने की चेष्टायें तथा भावनाए निहित है तथा इन्ही चेष्टाओ तथा भावनाओ द्वारा ससाधनो के वितरण की समस्या का स्वत हल होता है। अन्य उपधारणाओ का जिक्र हम आगे चल कर करेंगे।

अब हम पहले विक्रयकाधिकार पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

विक्रय एकाधिकार की परिभाषा—विक्रयेकाधिकार की ठीक ठीक परिभाषा देना कठिन है। हम इसका स्थूल रूप से वर्णन कर सकते हैं। विक्रयेकाधिकार बाजार की वह अवस्था है जिसमे एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो का एक समूह बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी की परवाह किये किसी सेवा या वस्तु की पूर्ति के नियन्त्रण द्वारा उसके भाव को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। विक्रयेकाधिकार की दशा मे विक्रेता एक तथा क्रेता अत्यधिक सख्या मे होते हैं। इसमे किसी वस्तु का उद्योग धन्धा केवल एक विक्रेता मे निहित होता है। यह वस्तु समावयव होती है। विक्रेता सम्पूर्ण बाजार का ज्ञान रखता है। यह भी उपधारणा

1—Principles of Economics, by A Marshall vol 1, 4th Edn. (Macmillan), P. 7

2—वही Book V. Ch 1 मे देखिये।

3—P Sraffa in Economic Journal (1926) Pp 535-50,
Mrs J Robinson in The Economics of Perfect Competition (1933) तथा
Prof E Chamberlin in The Theory of Monopolistic Competition (1933)

कर ली गई है कि प्रत्येक क्रेता को भी बाजार की अवस्था, अपनी पसन्दगी-नापसन्दगी तथा किन वस्तुओं से वह कितनी तुष्टि प्राप्त कर सकेगा—इन बातों का पूर्ण ज्ञान होता है। प्रत्येक विक्रेता का उद्देश्य होता है अधिकतम लाभ प्राप्त करना तथा प्रत्येक क्रेता का उद्देश्य अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना होता है।

पूर्ण तथा सापेक्षित विक्रयेकाधिकार—

विक्रयेकाधिकार में एक फर्म किसी समावयव वस्तु की पूर्ति का एकमात्र स्वामी होता है। नये प्रतिद्वन्द्वियों के उद्योग-धन्धे में प्रवेश पर किसी न किसी भांति की सख्त रुकावट होती है। विक्रयकाधिकारी स्व-उत्पादित वस्तु की कीमत को यथा इच्छा ऊंची कर सकता है — कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, और कीमत ऊंची करने पर भी उसे इस बात का डर नहीं होता कि उसके ग्राहक उसे छोड़ कर अन्यत्र चले जायेंगे। यदि विक्रयेकाधिकारी का उस वस्तु की पूर्ति पर एक मात्र अधिकार रहा, यदि नये फर्मों के उद्योग-धन्धे में प्रवेश पर पूर्ण प्रतिबन्ध हुआ, यदि उस वस्तु के क्रेताओं की संख्या पर्याप्त रूप से बड़ी हुई तथा वस्तु की इकाइयां पूर्णरूपेण समावयव हैं और यदि उस वस्तु का कोई स्थानापन्न न हुआ तो ऐसा विक्रयेकाधिकार शुद्ध या पूर्ण विक्रयकाधिकार कहलाता है। यदि विक्रयेकाधिकारी का उस वस्तु की पूर्ति के केवल अधिकांश भाग पर नियन्त्रण हुआ, सम्पूर्ण पर नहीं, तो ऐसा एकाधिकार सापेक्षित अथवा अपूर्ण एकाधिकार कहलाता है।

परिभाषा की कठिनाइयां—हमने ऊपर कहा है कि विक्रय-एकाधिकारी किसी समावयव वस्तु का अकेला विक्रेता होता है। कठिनाई तब होती है जब हम 'वस्तु' की परिभाषा करना चाहते हैं। क्या 'वस्तु' के अन्तर्गत हम तमाम उन चीजों को लें जो किसी एक ही मांग की तुष्टि करती हैं? लेकिन चूंकि कोई ऐसी सामग्री हमें नहीं मिलती जिसका कोई न कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो, तथा और कुछ नहीं तो मुद्रा प्रत्येक वस्तु की प्रतिद्वन्द्वी कही जा सकती है इसलिये 'वस्तु' का इतना व्यापक अर्थ लगाने से विक्रय एकाधिकार के अस्तित्व से ही इन्कार करना पड़ेगा।[४] वास्तविकता यह है कि 'वस्तु' की कोई ऐसी परिभाषा देना कठिन है जो विक्रय एकाधिकार की शर्तों को पूरा कर सके। हमारा परिभाषा की 'वस्तु' कल्पना है।

पुनः कोई वस्तु पूर्णतया समावयव हो नहीं सकती। 'वस्तु' का अर्थ यदि हम 'सेवाओं की गठरी'[५] से लगायें तो हम आसानी से देख सकते हैं कि 'समावयवता' एक कल्पना मात्र है। बाजार में कुछ न कुछ वस्तु-विभेद अवश्य मिलेगा। प्रत्येक फर्म की 'वस्तु' दूसरों से भिन्न होती है। यह भिन्नता कई प्रकार से आ सकती है और इस मायने में प्रत्येक फर्म किसी हद तक विक्रयकाधिकारी होता है। किन्तु

4—The Economics of Imp. Comp. by Robinson P. 4

5—Economic Analysis by K. Boulding, 4th edn. P. 18

कठिनाई तब आती है जब हम विक्रय एकाधिकार की अन्य शर्तों पर दृष्टि डालते हैं। हमने ऊपर यह कहा है कि विक्रयेकाधिकारी द्वारा बेची जाने वाली वस्तु का कोई निकट स्थानापन्न होने वाली वस्तु बाजार में नहीं पाई जाती जिससे कि कीमत बढ़ जाने पर भी उपभोक्ताओं को विवश होकर उसके पास आना पड़ेगा। किन्तु प्रत्येक वस्तु की स्थानापन्न पाई जाती हैं। स्थानापन्न, हो सकता है कि, पूर्ण न हो पाये, किन्तु हो अवश्य सकता है। इस प्रकार कागज के थैले जूट के थोरों के पूर्ण स्थानापन्न तो नहीं हो सकते लेकिन जूट के बोरों की अनुपस्थिति में या उनकी कीमत अत्यधिक बढ़ जाने पर उनके स्थान की आंशिक पूर्ति यह कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिनकी एक निश्चित कीमत के बाद कोई न कोई अन्य वस्तु स्थानापन्न न हो। हाँ इन स्थानापन्न होने वाली वस्तुओं में, कुछ निकट की स्थानापन्न होंगी, कुछ दूर की। जितनी ही निकट स्थानापन्न मौजूद होंगी उतनी ही किसी वस्तु की माँग-वक्र अधिक लोचदार होगी तथा उस वस्तु के भाव का बढ़ाने की उतनी ही कम क्षमता विक्रेकाधिकारी में होगी।

विक्रयेकाधिकार की परिभाषा में एक अन्य बड़ी कठिनाई 'अकेला विक्रेता' के अर्थ में है। जैसा मि० रॉबिन्सन ने लिखा है[5], यह मानना भ्रामक है कि जब तक को विक्रेता शत प्रतिशत वस्तु-विशेष की पूर्ति का शत-प्रतिशत नियंत्रित करने की क्षमता नहीं रखता वह विक्रयकाधिकारी है ही नहीं। कलकत्ता नगर में बिजली उत्पन्न करने वाली एक ही कम्पनी है—कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाई कार्पोरेशन। किन्तु इसे भी उपर्युक्त अर्थ में विक्रय एकाधिकार प्राप्त नहीं है। बहुत से लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपने प्रयोग के लिये 'बिजली' उत्पन्न करने का अलग यन्त्र लगा रक्खा है।

वास्तविकता यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की प्रत्यय की भाँति पूर्ण विक्रयेकाधिकार की अवस्था भी कल्पनात्मक है। पूर्ण प्रतियोगिता तथा पूर्ण विक्रयकाधिकार के ध्रुवों के बीच बाजार की अन्य कई अवस्थायें क्रमशः पाई जाती हैं। ये अवस्थायें हैं विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता, विक्रयाल्पाधिकार तथा विक्रय-द्वयाधिकार। इन अवस्थाओं का जिक्र हम आगे करेंगे। वैसे तो जहाँ किसी उद्योग-धन्धे में बड़े पैमाने पर नियन्त्रण का केन्द्रीकरण हुआ वहीं स्थूल रूप से विक्रयेकाधिकार की अवस्था आ जायगी लेकिन हमारा विवेचन कुछ कल्पनाओं तथा उपधारणाओं के आधार पर चलेगा जिनका उल्लेख हम बाद में करेंगे।

आभास विक्रयेकाधिकार (Quasi-Monopoly)—रॉबिन्सन ने अपनी पुस्तक मोनोपोली में आभास विक्रयेकाधिकार का उल्लेख किया है।[6] बाजार में कुछ अवस्थायें ऐसी पाई जाती हैं जो विक्रयेकाधिकार की अवस्था से मिलती-जुलती हैं,

5 Monopoly by E. A. G Robinson p. 7

6 Monopoly p 23—38

यद्यपि पूर्ण रूपेण वे विक्रयेकाधिकार की अवस्था के समान नहीं होतीं। इन अवस्थाओं के विश्लेषण से हमे पता चलेगा कि कतिपय हालतो मे विक्रेता का व्यवहार लगभग विक्रयेकाधिकारी के समान ही होता है तथा उसे वैसे ही लाभ प्राप्त होने की सभावना होती है। ये अवस्थायें 'आभास-विक्रयेकाधिकार' के नाम से उल्लेखित हुई है। रॉबिन्सन ने निम्नलिखित अवस्थाओं का जिक्र किया है —

(१) बिल्ली तथा चूहा विक्रयेकाधिकार,

(२) कीमत-नेतृत्व,

(३) अपूर्ण विक्रयेकाधिकार।

(१) बिल्ली तथा चूहा विक्रयेकाधिकार—हम यह कह आये है कि प्रत्येक वस्तु की स्थानापन्न होने वाली वस्तुये मौजूद हैं। कुछ तो निकट स्थानापन्न हो सकती हैं, दूसरी दूर-स्थानापन्न। निकट स्थानापन्न होने वाली वस्तुओं के विक्रेता आपस मे निकट के प्रतिद्वन्द्वी होते है। अब यदि हम यह मानले कि फर्म X एक ऐसा फर्म है, जिसके कुछ नजदीकी प्रतिद्वन्द्वी बाजार मे मौजूद है, जैसे विक्रय अल्पाधिकार की हालत मे होता है, तथा क्रेताओं को अपनी ओर खीचने के लिये इस फर्म को अपनी वस्तु के भाव को पर्याप्त रूप से कम करने की आवश्यकता है तो हम जानते हैं कि अपने भाव को कम करते समय इस फर्म को काफी तर्क-वितर्क करना पड़ेगा, क्योंकि इसके और प्रतिद्वन्द्वी भी घात लगाये बैठे हैं और इस फर्म के भाव के कम होने पर वे भी अपनी अपनी वस्तुओं के भाव गिरा देंगे। इस भाव-कसौटी मे कभी-कभी ऐसी होड लग जाती है कि परिणाम भयकर हो सकते हैं, क्योंकि इसका कोई अन्त नहीं। इसलिये यदि इस फर्म को यह निश्चय हुआ कि यदि यह अपनी वस्तु के विक्रय-भाव मे कटौती करता है तो दूसरे भी ऐसा ही करेंगे जिससे कि भाव कटौती से इसे कोई विशेष लाभ न हो पायेगा, तो यह भाव-कटौती नही करेगा।" यदि उत्पादको का एक समूह यह विश्वास कर लेता है कि उनमे से किसी एक द्वारा भाव-कटौती किए जाने पर दूसरे भी ऐसा करेंगे, जिससे कि वह फर्म दूसरो के मागा देश [माग + आदेश = Orders] को अपनी ओर नही खींच पायेगा तो ऐसी दशा मे उस उद्योग धन्धे मे प्रचलित कीमत-स्तर विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे पाए जाने वाले कीमत-स्तर से अधिक भिन्न न होगा।

लेकिन यदि फर्म X अपने भाव को बढाता है तो यह कोई आवश्यक नही कि अन्य फर्म भी अपने भावो मे वृद्धि करेंगे। बल्कि ऐसी हालत मे तो वे फर्म X के ग्राहको को अपनी ओर खींचने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार हम देखते है कि जहा कुछ थोडे से फर्म जो निकट प्रतिद्वन्द्वी हैं एक दूसरे को गौर से ताक लगाये देख रहे है तथा इस घात मे हैं कि तनिक अवसर पाने पर एक दूसरे के ग्राहकों को छीन लें, वहा एक प्रकार की 'बिल्ली चूहे की सस्थिति' स्थापित हो सकती है। इस हालत मे कोई फर्म अपने भाव को केवल उन्ही परिस्थितियो मे घटायेगा जिनमे कि कोई विक्रयेकाधिकारी अपने भाव को घटाता

है, लेकिन भ व-वृद्धि करने मे वह किसी विक्रयेकाधिकारी का अनुसरण नही कर सकता अर्थात् जिन परिस्थितियो की उपस्थिति मे कोई विक्रयेधिकारी अपनी वस्तु के विक्रय-दर म वृद्धि कर सकता है उन परिस्थितियो मे यह फर्म अपनी विक्रय-दर को नही बढा सकता, क्योकि उसे डर है कि उसके ग्राहक अन्यत्र चले जायेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर (कीमत-ह्रास करने की हालत मे) तो फर्म X एक विक्रयेकाधिकारी की भाति ही काम करता है, लेकिन दूसरी ओर (कीमत-वृद्धि करने की हालत मे) वह विक्रयेकाधिकारी जैसा व्यवहार नही कर सकता। उद्योग धन्धे की जब यह अवस्था हो तो उसमे 'बिल्ली और चूहा, घात, की सस्थिति होती है तथा उसमे आभास विक्रयेकाधिकार की स्थिति होनी कही जाती है।

(२) कीमत नेतृत्व—बहुत से उद्योग धन्धो मे कोई एक प्रधान फर्म ही कीमत मे हेर-फेर करता है, अन्य फम उसका अनुसरण करते हैं। ऐसा कीमत-नेतृत्व प्राय. उस उद्योग धन्धे म पाया जाता है जिसमे थोड से फर्म कोई समावयव वस्तु उत्पादित कर रहे हैं। यदि छोटे फर्म इस प्रधान फर्म की नीति का चुपचाप अनुसरण करते रहते हैं तथा भाव कटौती या विज्ञापन द्वारा प्रधान धर्म के ग्राहको को कम करने की चेष्टा नही करते तो वस्तु का भाव लगभग वही होगा जो विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे होना। फिर भी यह अवस्था पूर्ण विक्रयेकाधिकार से बहुत भिन्न है क्योकि प्रधान फर्म उतनी स्वतन्त्रता से कभी नीति निर्धारण नही कर सकता जितनी स्वतन्त्रता से विक्रयेकाधिकारी। इसीलिये इस अवस्था को आभास विक्रयेकाधिकार की अवस्था कहते हैं।

(३) अपूर्ण प्रतियोगिता—इस अवस्था मे प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकार दोनों के तत्व पाये जाते हैं। अपूर्ण प्रतियोगिता के कई रूप हो सकते है—विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता 'विक्रय अल्पाधिकार तथा विक्रय द्वयाधिकार। इन अवस्थाओ का सक्षिप्त परिचय हम पीछे दे आये हैं। इनमे विक्रयेकाधिकार के कुछ तत्व पाये जाते हैं। इसी लिए ऐसे उद्योग धन्धो मे लगे हुये फर्मों की नीति विक्रयेकाधिकारियो की जैसी होती है और यह अवस्थायें 'आभास विक्रयेकाधिकार' की अवस्थायें कही जाती हैं।

विक्रयेकाधिकार के स्रोत*—हमने यह देखा है कि किसी विक्रयेकाधिकारी की शक्ति मुख्या दो बातो पर निर्भर करती है–एक तो नये प्रतिद्वन्दियो के उद्योग-धन्धों मे प्रवेश निषेध पर, दूसरे, उसके द्वारा बेची जाने वाली वस्तु के निकट-स्थानापन्नो के अभाव पर। किसी वस्तु तथा उसके स्थानापन्नो के बीच की दूरी पर उस वस्तु के विक्रयेकाधिकारी की शक्ति बहुत कुछ आधारित होती है। प्राय: वह वस्तुयें जो हमारी अनिवार्य इच्छाओ की पूर्ति करती हैं, (जैसे खाद्य, स्वास्थ्य तथा निवासस्थान आदि)

---

* यह विषय उपर्युक्त (Monopoly) तीसरे परिच्छेद के आधार पर ही लिखा गया है।

अपने निकट-स्थानापन्न नही रखती। अन्य प्रकार की वस्तुयें प्राय बहुत सी निकट स्थानापन्न रखती हैं। इन बातो पर ध्यान रखकर हम विक्रयेकाधिकार के स्रोतो पर विचार करेगे। विक्रयकाधिकार के लिये आवश्यक शर्त यह है कि यदि उत्पादन (पूर्ति) को नियन्त्रित कर विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु की कीमत बढाना चाहे तो नये फर्म उसी वस्तु या उस वस्तु की निकट स्थानापन्नो को लेकर बाजार मे प्रवेश तथा उनकी पूर्ति न कर सकें।

हम ऐसी पाच अडचनो का जिक्र यहा करेंगे जो नये फर्मों के विक्रयेकाधिकारी के उद्योग धन्धे म प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं।

(१) कानून द्वारा निषेध,

(२) विक्रयेकाधिकारी द्वारा उत्पादन के किसी आवश्यक ससाधन पर पूर्ण नियन्त्रण।

(३) विक्रयेकाधिकारी के पास 'गुडविल'* का होना, जिसको तोडे बिना उसके उद्योग धन्धे मे प्रवेश करना मुश्किल हो,

(४) उद्योग धन्धे का ऐसा होना जिसमे छोटे पैमाने पर कोई प्रवेश करके टिक न सके और प्रवेश करने के लिय बडे पैमाने पर पूंजी आदि की आवश्यकना पडे।

(५) विक्रयकाधिकारी के पास कोई व्यापार भेद हो अर्थात् उसे अपनी वस्तु के उत्पादन की कोई ऐसी प्रक्रिया ज्ञात हो जो कोई अन्य न जानता हो।

(१) **कानूनी निषेध**—कभी कभी सरकारें विक्रयेकाधिकार की सृष्टि कानून द्वारा करती है। ब्रिटेन के इतिहास मे ट्यूडर तथा स्टुअर्ट शासको द्वारा कितन ही विक्रयेकाधिकारो को जन्म दिया गया। जैसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत मे अकेले व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था। आज के युग मे भी जनोपयागी वस्तुओ की पूर्ति का नियन्त्रण या तो सरकारो ने अपने हाथ म ले लिया है या बडे बडे कार्पोरेशनो को दे दिया है। ऐसी वस्तुओ मे नगरवासियो को पानी देने, ट्राम, रेलगाडियो अथवा अन्य प्रकार के जनोपयोगी परिवहन के साधनो को नियन्त्रित तथा सचालित करने, विद्युत आदि वस्तुएँ शामिल हैं। इन वस्तुओ का नियन्त्रण या तो राज्य स्वय अपने हाथ मे ले लेता है या किसी विक्रयेकाधिकारी को सौंप देता है। हमारे देश मे राज्य ने कितनी वस्तुओ का विक्रयेकाधिकार अपने हाथ मे ले लिया है। पोस्ट, टेलीग्राफ, अर्थशास्त्र या युद्ध आयुधो के निर्माण करने के कारखाने, टेलीफोन, रेडियो स्टेशन, रेलवे**, वायुयान परिवहन (कतिपय अपवादो को छोडकर), वायुयान

---

* Goodwill

** कतिपय अपवादो को छोडकर, क्योंकि कुछ छोटी छोटी लाइनें अब भी ऐसी हैं जो राज्य के हाथ मे न होकर निजी हाथों मे हैं, जैसे कलकत्ता के समीप तथा पश्चिमी बगाल मे मॉर्टिन एण्ड बर्न कम्पनी अब भी कुछ रेल परिवहन की मालिक है।

निर्माण, नदियो की घाटियो की योजनायें (जैसे दामोदर घाटी योजना, भाखरा तथा नङ्गल की योजना आदि) आदि कितने ऐसे उद्योग-धन्धे हैं जो पूर्णरूपेण राज्य के हाथ मे हैं। इन उद्योग-धन्धा मे नय फर्मों के प्रवेश पर पूर्ण निषेध है।

कुछ उद्योग-धन्धे ऐसे हैं जिनका विक्रयेकाधिकार कुछ निजी कम्पनियो के हाथ मे है जैसे कलकत्ता नगर मे ट्राम का सचालन कलकत्ता ट्रामवे कम्पनी के हाथ मे है, जो प्रधानत एक विदेशी कम्पनी है। इसी प्रकार सरकार ने देश मे पेट्रोलियम लाने तथा साफ करके वितरण करने का एकाधिकार वर्मा शैल तथा कालटैक्स ऐसी कम्पनियो को दे रक्खा है। जनोपयोगी उद्योग धन्धो को 'कल्याणकारी' राज्य अधिकाधिक अपने हाथो मे इसलिये ले रहे हैं कि प्रचलित विचारो के अनुसार ऐसे उद्योग-धन्धो का निजी व्यक्तियो के हाथ मे होना जनकल्याण के लिय घातक होगा तथा राज्य न कि उनका समुचित वितरण तथा सचालन ही करेगा बल्कि इन उद्योग-धन्धो से होने वाली आय से और भी जन-कल्याणकारी कार्य कर सकेगा। फिर जो काम राज्य आसानी से कर सकता है उसके करने मे निजी व्यक्तियो तथा कम्पनियो को अत्यन्त कठिनाई उठानी पड सकती है। जैसे यदि कोई असरकारी कम्पनी रेलमार्ग खोलना भी चाहे तो उसके लिये भूमि मिलने मे उसे बडी कठिनाई होगी, स्थान स्थान पर विरोध, झगडे-फसाद तथा मुकदमेबाजिया होगी। सरकार के समक्ष ये कठिनाइया उपस्थित नही होगी।

राज्य पेटेन्ट तथा कॉपीराइट आदि का एकाधिकार प्रदान कर कतिपय वस्तुओ के विक्रयेकाधिकार को जन्म देता है। पेटेन्ट प्राप्त वस्तु का निर्माण कोई दूसरा नही कर सकता।

(२) नये फर्मों के प्रवेश पर दूसरी प्रकार की अडचन यह हो सकती है कि विक्रयेकाधिकारी ने उस वस्तु के उत्पादन के लिय आवश्यक किसी ससाधन पर अपना पूर्ण अधिकार जमा रक्खा है, जिससे कि नई फर्मों को वह ससाधन प्राप्त ही न हो पायेगा तो वे उद्योग-धन्धे मे प्रवेश कैसे करेंगे ? ऐसे ससाधनो मे श्रम, पूंजी या उस वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चे माल शामिल हैं।

श्रम पर एकाधिकार नियन्त्रण कठिन होगा। यह हो सकता है कि विक्रयेकाधिकारी ने कुशल-श्रम को किन्ही ऐसे सविदाओ मे बाँध रक्खा हो कि वे अन्यत्र कही जा न सकें। किन्तु आज के युग मे राज्य ऐसे सविदाओं को अत्यन्त सदेहात्मक दृष्टि से देखता है। फिर श्रम को ट्रेनिंग देकर कुशल बनाया जा सकता है। इसलिये इस आधार पर टिका विक्रयेकाधिकार अल्पकालीन होगा।

पूंजी पर नियन्त्रण द्वारा भी नये फर्मों के प्रवेश को रोकना कठिन है। आज के युग मे बचत करने वाले और होते हैं तथा विनियोग करने वाले और लोग। कोई एक व्यक्ति समाज की बचत पर अकेला अधिकार नही कर सकता। हाँ यह हो

सकता है कि उस वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक मशीनें केवल एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ मे हो। लेकिन ऐसी हालत मे नये फर्मों के प्रवेश को उतने ही समय तक रोका जा सकता है जितना समय नई मशीनो के बनाने तथा बिठाने या आयात करने तथा बिठाने के लिये आवश्यक हो।

कच्चे माल पर पूर्ण अधिकार द्वारा विक्रयेकाधिकार को दीर्घकालीन बनाया जा सकता है। कभी कभी कुछ कच्चे माल ऐसे होते है जो भौगोलिक दृष्टिकोण से किन्ही खास भूभागो मे पाये जाते हैं। हीरे की खानें बडी मात्रा मे दक्षिणी अमीका मे पाई जाती है, जूट पूर्वी पाकिस्तान तथा भारतवर्ष मे ही पाया जाता है, राँगे की खानें विशेषत मलाया मे पाई जाती हैं, प्राकृतिक रबड का प्रधान उत्पादन मलाया मे होता है, थोरियम (जो अणु आयुधो की तैयारी म काम आता है) कुछ ही देशो मे पाया जाता है। इन कच्चे मालो पर या इनके अधिकाश भाग पर नियन्त्रण कर लेने से विक्रयेकाधिकार दीघजीवी बन सकता है। लेकिन हम यह नही भूलना चाहिये कि नये अनुसन्धान न केवल इन कच्चे मालो के निकट स्थानापन्न ही पैदा कर सकते हैं बल्कि इनके ही उत्पादन के नय क्षेत्र वजूद मे आ सकते हैं।

(३) कुछ विक्रयेकाधिकारियो के माल इतनी ख्याति प्राप्त कर लेते हैं तथा विक्रयेकाधिकारियो की स्थिति तमाम दृष्टिकोणो से इतनी विशिष्टता तथा महत्ता प्राप्त कर लती है कि ग्राहक उसकी ओर स्वभावतया झुक जाते हैं और नये फर्मों को विक्रयेकाधिकारी के इस 'गुडविल' को तोडना पडेगा तभी वह कुछ सफलता प्राप्त कर सकता है। वास्तव मे 'गुडविल के अस्तित्व को बाजार मे विक्रयेकाधिकार की या अपूर्णता की अवस्थाएँ पैदा करने का बहुत बडा श्रेय दिया जा सकता है। यदि यह 'गुडविल' वास्तविक गुण पर निर्भर है तब तो ठीक है किन्तु अधिक्तर इसका निर्माण किया जाता है विज्ञापन तथा अन्य अनुचित उपायो द्वारा जो समाज के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं।

(४) कभी-कभी किसी वस्तु के उत्पादन करने के लिए अनुकूलतम् मशीन इतनी बडी होती है कि एक मशीन ही इतनी मात्रा मे वस्तु का उत्पादन करती है कि उस वस्तु की खपत के लिय बाजार नही मिल पाता। फिर जहा किसी विक्रयेकाधिकारी के पास साधन पर्याप्त मात्रा मे है तथा उसका आकार काफी बडा है तो वह नये फर्मों के प्रवेश को उचितानुचित ढग स रोक सकता है। वह नये फर्मों को प्रवेश करते देख कुछ दिन घाटा उठाकर अपन माल को बहुत कम दर पर बेचेगा। यदि नये फर्म के पास उतनी अधिक पू जी तथा पर्याप्त मात्रा मे साधन न हुए तो वह कभी टिक नही सकता और विक्रयेकाधिकारी नये फर्म के प्रवेश का खतरा दूर हो जाने पर अपने माल की दर को काफी ऊँचा करके उठाये हुये नुकसान को पूरा कर लेगा। जब उद्योग धन्धा एक या कुछ बडे फर्मों के हाथ मे होता है जिन्हे बडे पैमाने पर उत्पादन के सारे लाभ उपलब्ध हैं तो इसमे नये फर्मों का प्रवेश अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(५) पाँचवीं प्रकार की कठिनाई जो नये फर्मों के प्रवेश को रोकती तथा विक्रयेकाधिकारी की स्थिति को सुदृढ बनाती है वह है विक्रयेकाधिकारी द्वारा वस्तु के उत्पादन की किसी गुप्त प्रक्रिया का ज्ञान रखना। कुछ दवाइयो के तैयार करने की विधि केवल एक ही व्यक्ति या फर्म को ज्ञात होती है इसलिये पेटेन्ट न होने पर भी कोई अन्य व्यक्ति या फर्म ऐसी दवा का उत्पादन नही कर सकते, या कोई दवा तैयार भी करते हैं तो वह पहली के सामने नहीं टिक पाती। यह बात दवाओ तथा अन्य रासायनिक पदार्थो की ही हालत मे नही, अन्य वस्तुओ के विषय मे सही हो सकती है। बनारसी साडियाँ बाजार मे अपना सानी नही रखती। जापान के पास खिलौने बनाने की इसी प्रकार की गुप्त प्रक्रिया है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जर्मनी के रग बनाने की क्रिया विधि भी गुप्त थी।

विक्रयेकाधिकार की किस्मों का वर्गीकरण—रॉबिन्सन ने इनके वर्गीकरण के दो आधार बताये हैं—एक तो, अवधि के आधार पर, दूसरे, अन्य ऐसी परिस्थितियो के आधार पर जो विक्रयेकाधिकार को नियन्त्रित करती हैं। पहले आधार पर विक्रयेकाधिकारो को हम दीर्घकालीन या अल्पकालीन कह सकते हैं, दूसरे आधार पर हम इनको शर्त युक्त अथवा शर्त रहित कह सकते हैं। शर्त युक्त विक्रयेकाधिकार भी दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन हो सकता है, शर्त रहित भी अल्पकालीन या दीर्घकालीन हो सकता है। इस प्रकार हमे विक्रयेकाधिकार की किस्मो के चार वर्ग मिलते हैं :—

(१) दीर्घकालीन शर्त रहित विक्रयेकाधिकार,
(२) दीर्घकालीन शर्त युक्त विक्रयेकाधिकार,
(३) अल्पकालील शर्त रहित विक्रयेकाधिकार, तथा
(४) अल्पकालीन शर्त युक्त विक्रयेकाधिकार।

(१) दीर्घकालीन शर्त रहित विक्रयेकाधिकार—इस प्रकार के विक्रयेकाधिकारी को यह भय बिल्कुल नहीं होता कि कुछ समय के बाद नये प्रतिद्वन्द्वी क्षेत्र मे आकर उसकी शक्ति कम कर देंगे, न उसे यही भय होता है कि यदि वह अपने माल की कीमत किसी निश्चित स्तर से ऊपर बढाता है तो उसे देशी या विदेशी किसी प्रकार की प्रतियोगिता का मुकाबिला करना पडेगा। बहुधा इस प्रकार के विक्रयेकाधिकारो को जन्म या तो राज्य देता है या वस्तु उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चे माल का पूर्णरूपेण एक ही हाथ मे केन्द्रीकरण हो जाता है।

राज्य द्वारा पोषित विक्रयेकाधिकार के उदाहरण हम ऊपर दे चुके है। पोस्ट आफिस, टेलीफोन, टेलीग्राफ, रेलवे, अस्त्र शस्त्र के कारखाने, अणु सम्बन्धी वेधशालायें आदि।

कच्चे माल के केन्द्रीकरण द्वारा भी दीर्घकालीन-शर्त रहित-विक्रयेकाधिकार का जन्म तथा पोषण हो सकता है। किम्बरले की खानें हीरा उत्पादन की सबसे

बडी श्रोत थी और इन पर अधिकार रखने वाली कम्पनी का (De Beers Consolidated Mines) विक्रयेकाधिकार दीर्घकालीन तथा शर्त रहित रहा। अविभाजित भारत ससार मे जूट का दीर्घकालीन शर्त रहित विक्रयेकाधिकारी था। लेकिन कच्चे माल के नियन्त्रण पर आधारित विक्रयेकाधिकार अत्यन्त अनिश्चयतापूर्ण होता है जब तक कि राज्य इसको सरक्षण नही देता। किसी समय भी प्रतियोगिता पैदा हो सकती है, क्योंकि जैसे ही विक्रयकाधिकारी कच्चे माल के नियन्त्रण द्वारा अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करने लगता है वैसे ही अन्यत्र इस कच्चे माल या इसके निकट स्थानापन्न की खोज शुरू हो जाती है। फिर ससार मे शायद ही ऐसा कोई कच्चा माल हो जो इतना कम हो कि कोई एक फर्म उस पर दीर्घकाल तक नियन्त्रण रख कर बड़ा लाभ उठा सके। इसीलिये आज की दुनियाँ मे कच्चे माल के नियन्त्रण पर आधारित विक्रयकाधिकार कम मिलते हैं। जूट के निकट स्थानापन्न भी कई निकल आये हैं, फिलीपाइन्स द्वीप समूह में एक प्रकार की अलसी पाई जाती है जिसके रेशो से जूट के रेशो का काम लिया जा सकता है। फिर मजबूत कागज के बोरे (विशेषत कनाडा मे) बनने लगे है। उसी प्रकार विज्ञान ने या तो कच्चे माल (हीरे, रेडियम, रबर आदि) के नये श्रोत पैदा कर दिये है या उनके स्थानापन्न (नकली हीरे, सेंथिटिक रबड आदि) पैदा करने की चेष्टा की है।]

(२) **दीर्घकालीन शर्तयुक्त विक्रयकाधिकार**—इस प्रकार के विक्रयेकाधिकार को यह भय तो नही होता कि नये उपकरणो के निर्माण या नये उत्पादन को बाजार मे ले आने के लिये आवश्यक समय के बाद उसकी शक्ति क्षीण हो जायगी किन्तु उसे यह डर अवश्य होता है कि यदि कीमत को एक निश्चित स्तर से ऊपर बढाया गया तो नये प्रतिद्वन्द्वी उद्योग धन्धे मे प्रवेश करने लगेंगे। ये नये फर्म यदि वही वस्तु न भी उत्पादित कर सकें तो उसकी कोई निकट स्थानापन्न बाजार मे ले आयेंगे। इस प्रकार का खतरा अधिकतर आयात की सुविधाओ के कारण पैदा होता है। यदि रुकावटें न हों तो भारतवर्ष म मोटरकार का दाम एक निश्चित स्तर से ऊपर बढ जाने से लोग विदेशो से मोटरकार मगाने लगगे। इस प्रकार के विक्रयेकाधिकार के मुख्यत तीन श्रोत हो सकते हैं—

(क) सरकार द्वारा नये फर्मों के प्रवेश पर सप्रतिबन्ध निषेध।

(ख) विक्रयेकाधिकारी द्वारा स्थानीय कच्चे माल के श्रोत पर पूर्ण अधिकार हो किन्तु दूर के कच्चे माल पर उसका अधिकार न हो।

(ग) विक्रयकाधिकारी को बडे पैमाने पर उत्पादन या विपणन से खूब अधिक लाभ होता हो जिससे कि नये फर्मों का प्रवेश करके विक्रयेकाधिकारी से होड लगाना कठिन हो जाय। इस प्रकार के विक्रयेकाधिकार के उदाहरण हैं 'इम्पीरियल टोबाको कम्पनी' तथा 'डनलप रबड कम्पनी'।

३ **अल्पकालीन शर्त रहित विक्रयेकाधिकार**—इस प्रकार का विक्रयेकाधिकार तभी तक जीवित रहता है जब तक कि उत्पादन के नये उपकरण न दिखाये जा सकें।

इसलिये दीर्घकाल तक यह नही जी सकते, किन्तु अल्पकाल मे इनको पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। वस्तु के विश्व उत्पादन की शक्ति—मशीन या कच्चे माल—के बडे भाग पर अधिकार द्वारा ऐसे एकाधिकार का जन्म तथा पालन होता है। रबड, तम्बाकू, चीनी, पैट्रोलियम, टिन आदि व्यवसायो मे व्यापारियो के आपसी समझौतो द्वारा बने विश्वव्यापी कार्टेल इस प्रकार के विक्रयेकाधिकार की उदाहरण हैं। इन किसी भी व्यवसायो मे काम करने वाली विक्रयेकाधिकार प्राप्त कम्पनिया दीर्घकाल तक प्रतियोगिता से नही बच सकी। अल्प काल मे एसे विक्रयेकाधिकारियो की शक्ति पर्याप्त रूप से बडी हो सकती है।

नये उत्पादन के लिये आवश्यक समय ही इस प्रकार के विक्रयेकाधिकार की अवधि को निर्धारित करता है।

(४) अल्पकालीन शर्तयुक्त विक्रयेकाधिकार—इस प्रकार के विक्रयेकाधिकारी को दोनो ओर से खतरे होते हैं—एक ओर तो इसके द्वारा वस्तु-कीमत के बढाये जाने पर नये फर्मों के उद्योग धन्धे मे प्रवेश पर कोई बाधा नही होती, दूसरी ओर, बाह्य—विदेशी या निकट स्थानापन्न उत्पादित करने वालो की ओर से—प्रतियोगिता का भय निरन्तर बना रहता है। इस प्रकार के विक्रयेकाधिकार सबसे कमजोर तो अवश्य होते हैं लेकिन हैं यह बहुत व्यापक। इसमे आभास विक्रयेकाधिकार की वह अवस्थायें भी शामिल हैं, जिनको सरकार द्वारा सरक्षण दिये गये हैं या जिनके बहुत थोडे से प्रतिद्वन्द्वी हैं। व्यापारियो के बीच 'शिष्ट मनुष्यो के समझौते' (Gentlemen's agreement)* हैं (जैसे किसी स्थान पर पान बेचने वाले यह समझौता कर लें कि वे एक बीडा पान का दाम चार नये पैसे से कम न लेंगे) या अन्य प्रकार के स्थानीय व्यापारिक मण्डल इस श्रेणी के विक्रयेकाधिकार की श्रेणी मे आते हैं। इनका सगठन देश-व्यापी भी हो सकता है, जैसे 'इण्डियन जूट मिल्स एसोशियेशन'। इनकी विशेषता यह है कि नये फर्मों के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नही होता। जर्मनी देश मे इस प्रकार की कार्टेल कम्पनियो का कुछ समय पूर्व बहुत प्रचलन था।

उपर्युक्त वर्गीकरण स्थूल तथा अपूर्ण है। इसमे विक्रयेकाधिकार की सब किस्मे नही आ पाती। न यही बात निश्चित है कि दीर्घकालीन विक्रयेकाधिकार अल्पकालीन नही हो सकते। अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन विक्रयेधिकारो के बीच कोई निश्चित स्पष्ट रेखा नही खीची जा सकती। न 'शर्त युक्त' तथा 'शर्त रहित' विक्रयेकाधिकारो

---

* Gentlemen's agreement : यह समझौते हैं जो कुछ व्यापारियों द्वारा व्यापार के नियन्त्रण या सचालन, कीमत या उत्पादन के सम्बन्ध मे किये जाते हैं। इन समझौतो के पीछे कोई कानूनी शक्ति नही होती जो सब लोगो को इसके पालन पर मजबूर करे केवल समझौता करने वाले व्यक्ति एक दूसरे की जबान पर विश्वास करके इसका पालन करते हैं।

का बटवारा ही बहुत तर्क-संगत या सुदृढ़ है। कभी-कभी विक्रयेकाधिकार के श्रोतों तथा उद्गमों के अनुसार इनका वर्गीकरण निम्नलिखित या अन्य प्रकार से किया जा सकता है :—

(क) कानूनी विक्रयेकाधिकार—जो सरकार द्वारा घोषित हो जैसे पेटेन्ट आदि।

(ख) सामाजिक विक्रयेकाधिकार—टैक्नीकल आधार पर कुछ व्यापारों में प्रतियोगिता अवाछनीय समझी जाती है। इस प्रकार के उद्योग-धंधे प्राय जनहित के लिये आवश्यक सेवाओं की पूर्ति करते हैं, जैसे विद्युत, जल, परिवहन आदि। इन जनहित के लिये आवश्यक सेवाओं में विक्रयेकाधिकार निहित होता है, क्योंकि इनमें प्रतियोगिता हानिप्रद सिद्ध होगी।

(ग) भौगोलिक या प्राकृतिक विक्रयेकाधिकार—इस प्रकार विक्रयेकाधिकार किसी प्राकृतिक विभूति के किसी निश्चित भूभाग में केन्द्रित होने से पैदा होता है। पीरू देश में नाइट्रेट का केन्द्रित होना, दक्षिणी अफ्रीका में हीरे का, मलाया में रबर आदि का केन्द्रित होना।

(घ) कृत्रिम, ऐच्छिक, औद्योगिक अथवा वाणिज्य सम्बन्धी विक्रयेकाधिकार—ये विक्रयेकाधिकार भिन्न भिन्न प्रकार के समझौतों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं जैसे 'शिष्ट मनुष्यों के समझौते' तथा अन्य प्रकार के स्थानीय, देशीय अन्तर्देशीय समझौते आदि। ये प्राय उपर्युक्त 'अल्पकालीन शर्तें युक्त विक्रयेकाधिकार' के वर्ग में आ गये हैं। लेकिन किसी सामाजिक शास्त्र के नियम, वर्गीकरण आदि केवल लगभग, औसतन, सही होते हैं। इसलिये कोई भी वर्गीकरण जो विक्रयेकाधिकार के विश्लेषण में हमें कुछ सहायता पहुंचा सके हम स्वीकार होगी। वर्गीकरण किसी समूह या सामूहिक क्रिया को समझने में हमारी सहायता करता है। इस दृष्टिकोण से हमारा पहले किया हुआ वर्गीकरण अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उससे हमें 'समय' के आवश्यक पहलू को भी समझने में सहायता मिलती है। संसार की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया समय' के अन्तर्गत घटित होती है इसलिये 'समय' किसी भी अध्ययन में एक परमावश्यक पहलू होता है।

विक्रयेकाधिकारों को स्थापित करने तथा दीर्घायु करने के उपाय —

विक्रयेकाधिकारों के सम्बन्ध में ऊपर हम यह देख चुके हैं कि उनमें से कुछ अन्यों की अपेक्षा अधिक स्थायी तथा दृढ़ होते हैं। हमने यह भी देखा कि विक्रयेकाधिकारी की वास्तविक शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने उद्योग धन्धे में उत्पादन को नियन्त्रित करने की कितनी सामर्थ्य रखता है। उसकी यह सामर्थ्य इस बात पर निर्भर करती है कि नये प्रतिद्वन्द्वियों के उस उद्योग-धन्धे में प्रवेश को वह कहाँ तक रोक सकता है। कहीं तो नये प्रतिद्वन्द्वियों के प्रवेश पर राज्य की ओर से या अन्य बाह्य कठिनाइयों के कारण स्वत नियन्त्रण या निषेध होता है, लेकिन कहीं, या यों कहें कि, अक्सर हालतों में, विक्रयेकाधिकारी को अपने

'एकाधिकार' की रक्षा स्वय करनी पडती है। एक बार विक्रयेकाधिकार के स्थापित हो जाने के बाद विक्रयेकाधिकारी अनेकानेक बंधाबंध उपायो से इस 'एकाधिकार' को दीर्घजीवी बनाने का सतत् प्रयत्न करता रहता है, जिससे कि वह निभय होकर अधिक से अधिक लाभ करता रहे।

लेकिन इन उपायो पर सक्षेप मे विचार करने के पहले हमे इस बात पर विचार कर लेना है कि विक्रयकाधिकारो की स्थापना किस प्रकार की जाती है।

राज्य द्वारा प्रदत्त विक्रयेकाधिकार--

विक्रयकाधिकार के प्राप्त करने के बहुत से तरीके हैं। मनुष्य की बुद्धि ने आर्थिक क्षत्र म अधिकतम लाभ कमाने के प्रयत्न म नाना प्रकार से विक्रयेकाधिकार की स्थिति पैदा करने का प्रयत्न किया है। हमने यह देखा है कि कई प्रकार के विक्रयेकाधिकार को राज्य प्रोत्साहित तथा पोपित करता है। राज्य के विक्रयेकाधिकार के प्रोत्साहन तथा पोपण के पीछे कई कारण हो सकते हैं। विज्ञान तथा कला के विकास के लिये यह आवश्यक है कि राज्य इन क्षेत्रो मे आविष्कार करने वालो या कोई नयी चीज पैदा करने वालो को उनके आविष्कार तथा परिश्रम का फल एकाधिकारी के रूप मे खाने का मौका दें। किसी व्यक्ति को जब सरकार उसके द्वारा आविष्कृत वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय का एकाधिकार दे देती है तो इस एकाधिकार को 'पेटेन्ट' कहते हैं। यह पेटेन्ट पाया हुआ विक्रयेकाधिकार प्राय कुछ ही समय के लिये होता है। इसी प्रकार नई पुस्तको या कलाकारो, सगीतज्ञो, चित्रकारो, नाटककारो आदि की कृतियो के लिये राज्य इन पुस्तको या कृतियो तथा अन्य रचनात्मक कला-कृतियो के लेखको या कलाकारो को 'कापी राइट' का अधिकार दे देती है जिससे कि वे अकेले ही अपनी पुस्तका या अन्य कृतिओ से लाभ उठा सकें। राज्य लाइसेंस द्वारा भी ऐसी वस्तुओ के उत्पादन तथा विक्रय का एकाधिकार प्रदान करता है जिसके उद्योग धन्धे मे प्रतियोगिता जन-हित का ठीक-ठीक पोपण नही कर सकती। जन-कल्याण की भावना से उत्प्रेरित हो राज्य कुछ उद्योग धन्धों को या तो अपने हाथ मे पूर्णरूपण ले लेता है या किसी कार्पोरेशन आदि अकेली सस्था के हाथ उन्हे छोडकर उनको नियन्त्रित करता रहता है। रेलमार्ग, वायु मार्ग तथा अन्य प्रकार की जनोपयोगी सेवाओ को विक्रयेकाधिकार राज्य की ओर से प्राप्त होते हैं। कभी कभी आय के दृष्टिकोण से भी राज्य कुछ वस्तुओ का विक्रयेकाधिकार अपने हाथ म ले लेते हैं। लेकिन राज्य द्वारा प्रदत्त विक्रयेकाधिकार चू कि राज्य के कमोबेश नियन्त्रण मे रहते हैं इसलिये जन शोपण का उतना अधिक मौका इन्हें नही मिल पाता। फिर इस प्रकार के विक्रयेकाधिकारों की सीमा अक्सर अपने देश के भीतर ही होती है।

विक्रयेकाधिकार की सबसे विकट समस्या तब उत्पन्न होती है जब इसका जन्म विलीनीकरण, सगठन, विलयन अथवा दुरभिसधि (Collusion) के परिणाम-स्वरूप होता है।

कोई बड़ा फर्म अपने प्रतिद्वन्द्वी छोटे फर्मों को खरीद कर अपने में विलीन कर सकता है या अनुचित तरीकों से उन पर दबाव डाल उन्हें अपने साथ मिलने, विलयन करने पर विवश कर सकता है। एक ही उद्योग धन्धे में पूरक अथवा स्थानापन्न होने वाली वस्तुओं के उद्योग-धन्धों में लगे हुए फर्मों के बीच समझौते के फलस्वरूप भी विक्रयेकाधिकार की परिस्थिति पैदा हो सकती है। भिन्न भिन्न फर्मों के एकीकरण अथवा सगठन द्वारा भी विक्रयेकाधिकार का जन्म हो सकता है। फर्मों के बीच समझौते कई प्रकार के हो सकते हैं। इनमें निम्नलिखित कुछ प्रधान किस्म के हैं —

(१) 'पूल' (Pool) समझौता यह ऐसा समझौता है जिसके द्वारा कई फर्म व्यापार को आपस में बाँट लेते हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

(२) उत्पादन, वितरण, कीमतों आदि के सम्बन्ध में समझौते।

(३) कम्पनियों के बीच में शेयरों की अदला-बदली।

(४) अन्तर्कम्पनी डाइरेक्टर . जब एक व्यक्ति कई कम्पनियों का डाइरेक्टर होता है।

(५) 'कार्टेल', 'ट्रस्ट', 'कोआपरेटिव', होल्डिङ्ग कम्पनियों का निर्माण।

इसी प्रकार फर्मों का एकीकरण भी तीन प्रकार का हो सकता है—

(१) क्षैतिज (Horizontal)

(२) ऊर्ध्वग (Vertical)

(३) पार्श्विक (Lateral)

(१) क्षैतिज एकीकरण— फर्मों के क्षैतिज एकीकरण या सगठन का अर्थ होता है एक ही व्यापार में लगे हुए फर्मों के बीच सगठन या समीकरण। ऐसे फर्म किसी एक ही प्रकार की वस्तु का या तो उत्पादन करते हैं, या विक्रय करते हैं, जैसे, मोटरकार उत्पादन या विक्रय करने वाले भिन्न भिन्न फर्मों के बीच सगठन। ऐसे सगठन का परिणाम यह होता है कि सगठन के हाथ में सम्बन्धित वस्तु का विक्रयेकाधिकार आ जाता है।

(२) ऊर्ध्वग एकीकरण या सगठन—एक ही वस्तु के उत्पादन के भिन्न-भिन्न स्तरों पर काम करने वाले या भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं में लगे हुए फर्मों का एकीकरण या सगठन ऊर्ध्वग एकीकरण या सगठन कहलाता है। जैसे, कपड़े के उत्पादन में कुछ फर्म कच्चे माल, रुई का उत्पादन करते हैं; कुछ बिनौले निकालने, धुनने तथा सूत के तैयारी के पूर्व के अन्य कामों को करते हैं, कुछ सूत तैयार करते हैं, कुछ बुनते हैं तथा कुछ वितरण-विक्रय के काम में लगे होते हैं। कपड़े उत्पादन की इन भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं में लगे हुए फर्मों का सगठन ऊर्ध्वग कहलाता है। इस सगठन या एकीकरण द्वारा एक ही सगठन के हाथ में कपड़े का उद्योग धन्धा आ जायगा और इसमें विक्रयेकाधिकार की स्थिति पैदा हो सकती है। यह आवश्यक

नही कि इन प्रक्रियाओं में लगे हुए सब फर्मों का एकीकरण हो जाय, लेकिन विक्रयेकाधिकार उतना ही दृढ़ होगा जितनी अधिक प्रक्रियाओं का एकीकरण होगा।

(३) पार्श्विक एकीकरण—इस प्रकार के एकीकरण मे कोई बडा फर्म कुछ अन्य फर्मों को अपने मे मिलाकर अपने मुख्य व्यवसाय के साथ-साथ उससे मिलता-जुलता और भी कारबार कर लेता है। उदाहरण के लिये, हम किसी मोटर-कार के उत्पादन मे लगी हुई कम्पनी को लेते हैं। ट्रैक्टर या अन्य प्रकार के यन्त्र बनाने वाले छोटे फर्मो को अपने मे मिलाकर यह कम्पनी मोटर कार के साथ-साथ ट्रैक्टर, स्टोव, बिजली के सामान या अन्य ऐसी वस्तुयें उत्पादित कर सकता है। कुछ हालतो मे यह भी आवश्यक नही कि ये नई क्रियायें उस कम्पनी के मुख्य व्यवसाय से सम्बन्धित हो। जब इनमे आपस मे निकट सम्बन्ध होगा तब तो क्षैतिज या ऊर्ध्वग अवस्थायें पैदा हो सकती है, लेकिन कभी-कभी कुछ फर्म ऐसे व्यवसाय भी शुरू कर देते हैं जिनका उसके प्रथम तथा मुख्य व्यवसाय से कोई सरोकार नही। उदाहरण के लिये, एक फर्म का जो पहले, प्रमुख रूप से जूट के कारोबार मे लगा हुआ था, परिवहन के काम मे भी लग जाना या कागज का उत्पादन करने लगना, या अन्य ऐसे काम मे लग जाना। वास्तव मे, ये भिन्न-भिन्न अप्रमुख व्यवसाय यद्यपि किसी विक्रयेकाधिकार को जन्म कठिनाई से दे सकते है, किन्तु स्थापित विक्रयेकाधिकार को सुदृढ तथा दीर्घकालीन बनाने मे सहायक अवश्य हो सकते हैं।

अब, हम सक्षेप मे, उन मुख्य-मुख्य उपायो पर प्रकाश डालेंगे जिनके सहारे विक्रयेकाधिकारी अपनी स्थिति को सुदृढ तथा स्थाई बनाने तथा नये फर्मों के अपने उद्योग-धन्धे मे प्रवेश करने से रोकने का प्रयत्न करता है। हमने ऊपर यह कहा है कि उसके लिये विक्रयेकाधिकारी अनेकानेक उपाय काम मे ले आता है। उन तमाम उपायो को बताना असम्भव सा है। हाँ, उन मुख्य-मुख्य उपायो का यहा जिक्र किया जाता है जिनका सहारा भूतकाल मे किसी न किसी प्रकार विक्रयेकाधिकार के पोषणार्थ लिया गया है।

ऊपर बताये हुये समझौतो तथा एकीकरणो या सगठनो द्वारा न केवल विक्रयेकाधिकार स्थापित किया जा सकता है बल्कि स्थापित विक्रयेकाधिकार को सुदृढ तथा दीर्घकालीन भी बनाया जा सकता है। ऐसे समझौतो तथा एकीकरणो का मुख्य उद्देश्य होता है आने वाले नये फर्मों से युद्ध के लिये अधिक से अधिक बल प्राप्त करना।

इनके अतिरिक्त विक्रयेकाधिकारी भिन्न भिन्न उपायो से अपने एकाधिकार का पोषण करते हैं —

(१) विलम्बित छूट या कमीशन द्वारा।

(२) कुछ खास करारो (promises) द्वारा।

(३) स्थानीय कीमत कटौती द्वारा तथा

(४) अनुचित उपायों द्वारा।

(१) विलम्बित छूट—इसमें विक्रयेकाधिकारी अपने स्थाई ग्राहकों को वस्तु कीमत पर कुछ छूट देता है। जैसे भाड़े पर ट्रक चलाने वाले मिलकर कोई एसोसिएशन स्थापित करके यह घोषणा कर दें कि जो व्यापारी उनकी ट्रकों का बराबर भाड़े पर लेता रहेगा कुछ समय बाद उसे भाड़े की दर में कुछ छूट दे दी जायगी। भारतवर्ष में काम करने वाला अंग्रेजी जहाजी कम्पनियों का गुट उन लोगों को भाड़े में छूट देता है जो कि इस गुट के सदस्यों के जहाजों ही पर पूरे वर्ष माल लादते हैं। इसके फलस्वरूप भारतीय जहाजी कम्पनियां नहीं पनप पातीं। कोई विक्रयेकाधिकारी इस प्रकार की और सुविधायें भी अपने ग्राहकों को दे सकता है। वास्तव में, यह बात एक प्रकार का वस्तु-वस्तु में विभेद पैदा कर देती है। इससे विक्रयेकाधिकार में अधिक सम्भावना होती है विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता या विक्रयाल्पाधिकार की स्थिति के उत्पन्न हो जाने की।

(२) कभी कभी ऐसा होता है कि जब किसी एक वस्तु का विक्रयेकाधिकार किसी एक फर्म के हाथ में है तो वह अन्य वस्तुयें भी उत्पादित करता है। मान लिया कि किसी फर्म के हाथ में कोई ऐसी मशीन बनाने का पेटेन्ट अधिकार है जिस मशीन के समान और कोई मशीन अन्यत्र नहीं बनती, इसके अतिरिक्त वह फर्म कुछ अन्य प्रकार की मशीनें भी बनाता है जिनके निकट स्थानापन्न मौजूद हैं। तो वह फर्म ऐसा कर सकता है कि जो लोग उसके पास पहली किस्म की मशीन खरीदने आवें उन्हें वह पहली मशीन तभी दे जब वे उसकी अन्य मशीनों को भी लें तथा इन मशीनों के स्थानापन्न को न खरीदें। यह बात तब लागू होती है जब दूसरी प्रकार की मशीनों का प्रयोग पहली किस्म की मशीन के साथ ही, पूरक के रूप में, किया जाता हो।

अंग्रेजी में इस विधि को Full Line Forcing कहा गया है। किसी मशीनरी के विक्रय या पट्टे पर देने के संविदाओं में यह प्रतिबन्ध कि क्रेता इस मशीन के साथ केवल उसी मशीन बेचने वाले विक्रयेकाधिकारी की और मशीनों ही का प्रयोग कर सकता है अन्य किसी द्वारा निर्मित मशीनों का नहीं—ब्रिटेन में वैध करार दिया गया है, लेकिन संयुक्त देश अमरिका में इसे क्लेटन एक्ट के अन्तर्गत अवैध करार घोषित किया गया है।

(३) स्थानीय कीमत में कटौती यह नीति विक्रयेकाधिकारी प्रायः ऐसे समय अपनाता है जब उसे किसी प्रतियोगी का सामना करना पड़ता है। यदि विक्रयेकाधिकारी किसी बहुत बड़े क्षेत्र में कार्य कर रहा है तथा उस क्षेत्र के किसी एक भाग में किसी नये प्रतियोगी का प्रादुर्भाव हुआ तो वह विक्रयेकाधिकारी उसी भाग में अपनी वस्तु के भाव को एकदम घटा देगा, जिससे कि नवागत फर्म को होड़ लेना असम्भव हो जाय। अपने क्षेत्र के अन्य भागों में विक्रयेकाधिकारी अब भी

पहले ही भाव, या बलिक उस भाग की अपनी हानि को पूरा करने के लिये अन्य भागो मे पहले की अपक्षा ऊँचे भाव मे अपनी वस्तु को बच रहा है।

भाव मे यह कटौती कई रूप धारण कर सकती है। विक्रयेकाधिकारी प्रतियोगिता वाले भाग म अपनी तमाम चीजो की कीमतों को घटा सकता है या केवल उन वस्तुओ की कीमतों को जिस पर कि प्रतिद्वन्द्वी नवागन्तुक फर्म सबसे अधिक लाभ कमा रहा हो। इसका फल यह होता है कि नये फर्म शीघ्र ही मैदान छोड कर भाग जाते हैं। 'दि स्टन्डर्ड ऑयल कम्पनी' ने इस उपाय का बहुत प्रयोग किया है। कभी-कभी जब ऐसी कीमत कटौती मे कोई कानूनी बाधा उपस्थित हो जाती है तो विक्रयकाधिकारी अन्य ऐसे उपाय अपनाते हैं जिससे कानून के प्रतिबन्ध मे आये बिना वही अभिप्राय सिद्ध हो जाय। जैसे, वह कोई ऐसा 'लडाकू ब्रॉण्ड' तैयार करता है जो उसकी मुख्य विक्रय-वस्तु से तो भिन्न है लेकिन प्रतियोगी द्वारा बच जाने वाली वस्तु का बिल्कुल निकट स्थानापन्न हो सकता है तथा इस ब्रॉण्ड को विक्रयेकाधिकारी बहुत कम भाव मे बचना शुरू करता है।

कभी-कभी जनता की आख म धूल झोंकने के लिये विक्रयेकाधिकारी झूठे नाम का कोई फर्म स्थापित करके उसका सचालन करता है और उसी झूठे नाम पर प्रतियोगी से होड लने के लिये वस्तु तैयार करके बहुत कम दाम पर बेच कर प्रतियोगी को परास्त करने की चेष्टा करता है।

यह कीमत प्रतियोगिता आपत्तिजनक तभी होती है जब कोई बड़ा फर्म किसी कमजोर फर्म को इसके द्वारा निकाल एकाधिकार पाने का प्रयत्न करता है। साधारणतया बाजार मे उचित प्रतियोगिता की आवश्यकता होती है। कीमतो मे कुछ विभेद सदा हानिकारक नही होता। जैसे बिजली का भाव घरेलू उपयोग के लिये अलग तथा बडी बडी फैक्टरियों के प्रयोग के लिये अलग होना अहितकर नहीं होता, बल्कि कई कारणो से आवश्यक है।

(४) अनुचित तथा प्रबंध तरीके—अब तक बताये हुए उपाय जैसे एकीकरण, तथा सगठन, बिलम्बित छूट, स्थानीय कीमत कटौती, सप्रतिबन्ध सविदा आदि तो कुछ सीमा तक, मर्यादा के भीतर, उचित भी हो सकते है लेकिन विक्रयेकाधिकारियों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट करने के लिये समय समय पर अन्य उपाय भी अपनाये हैं जो सर्वथा अनुचित हैं। कठिनाई यह है कि एग्लो-अमेरिकन कानूनो के अन्तर्गत न्यायालय इतना फूक-फूंक कर कदम उठाते है कि उनके समक्ष विक्रयेकाधिकारियों द्वारा अपनाये हुए प्रबंध तरीको या दुरभिसन्धियो को साबित करना कठिन हो जाता है। अग्रेजी-अमेरिकन कानूनो के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपराधी नही माना जा सकता जब तक कानून के दृष्टिकोण से उसको न्यायालय के समक्ष पूर्ण रूपेण, बिना किसी सदेह की गुजायश रक्खे अपराधी सिद्ध न कर दिया जाय। लेकिन इस प्रकार की सिद्धि करना अत्यन्त कठिन हो जाता है क्योंकि विक्रयेकाधिकारी अच्छे से अच्छे वकीलो से राय-मशविरा करके ही कोई कदम उठाते हैं, और व्यवस्थापिका

(सरकार का कानून बनाने वाला अंग) भविष्य की सम्पूर्ण सम्भावनाओं से तो अवगत हो नहीं सकती जिससे कि वह प्रत्येक स्थिति का सामना करने के लिये कानून बना सके। मनुष्य की बुद्धि तथा दूरदर्शिता असीम है तथा भविष्य में घटनीय सम्भावनाएँ असीम।

एक अमेरिकन लेखक ने, हाल ही मे, भिन्न भिन्न विक्रयेकाधिकारियों द्वारा अपनाये जाने वाले अनुचित तरीकों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है —

(१) मिथ्या तथा भ्रामक विज्ञापन।

(२) अनुचित उपायो से, जैसे घूस देकर या अन्य विधि विरुद्ध कार्यों द्वारा प्रतिद्वन्द्वी का भेद प्राप्त करना।

(३) दोष-पूर्ण ढंग से किसी दूसरे के व्यापार-नाम या चिन्ह का दुरुपयोग करना।

(४) ग्राहकों के कर्मचारियों को घूस देना तथा भ्रष्ट करना जिससे कि वे अन्यत्र माल न खरीदें।

(५) मिथ्या रूप से सनद (प्रमाण-पत्र) या सिफारिशों का दावा करना, कभी कभी विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु को श्रेष्ठ बताने के लिये यह दावा करते हैं कि उनकी वस्तु को अमुक व्यक्ति या संस्था ने प्रमाणित किया है, या उसके सेवन के लिये सिफारिश किया है।

(६) विधि विरुद्ध उपायों से प्रतिद्वन्द्वी को ग्राहकों के पास या बाजार में पहुचने से रोकना।

(७) प्रतियोगी के उन श्रोतों को काट देना जिनसे उसे कच्चे माल तथा अन्य ससाधन प्राप्त होते हैं।

(८) प्रतियोगी को दण्ड देने तथा परेशान करने के लिये स्वेच्छा से वस्तु के भाव मे अनुचित कटौती कर देना।

(९) प्रतियोगियों तथा उनकी वस्तुओं की निन्दा करना।

Government and Business by V A. Mund (Harper & Bros, N. Y 1950 P 319

1 Advertising falsely or misleadingly.
2 Acquiring Confidential information unfairly
3 Appropriating trade name or mark wrongfully.
4 Bribing Customers' Employees.
5 Claiming endorsements and testimonials falsely
6 Cutting off Competitor's access to customers or market.
7 Cutting off Competitor's Supplies
8. Cutting prices arbitrarily to discipline a competitor acting independently on price
9 Disparaging Competitors and their products

(१०) प्रतियोगियों द्वारा भिन्न-भिन्न लोगो के साथ किये गये संविदाओ को भंग कराने का षडयन्त्र रचना।

(११) वस्तुओं पर मिथ्या तथा भ्रामक चिन्ह देना या लेबिल चिपकाना।

(१२) गुप्त सहायक-कम्पनियों का सञ्चालन करना।

(१३) किसी वस्तु को प्रतियोगी की कहकर उसकी तरफ से उसे बेचने का झूठा बहाना करना।

(१४) विद्वेषपूर्ण ढग से प्रतियोगियो पर दावा करने की धमकी देकर प्रतियोगिता का गला घोटने की कोशिश करना। कभी-कभी देखा गया है कि विक्रयेकाधिकारियो ने मिथ्या दावे न्यायालय मे लाकर प्रतियोगियों की आर्थिक स्थिति को खराब करने की कोशिशें—अक्सर कामयाब कोशिशें की हैं।

(१५) अपनी वस्तु के विक्रय म लाटरी का प्रयोग करना, जिससे कि लाटरी पाने की लालच से क्रेता उसी चीज को खरीदें। इस प्रकार व्यापारी कभी-कभी 'किस्मत वाला कूपन' (Lucky coupon) भी जारी करते हैं, जो, उन्हें पा जाता है उसे या तो वस्तु-कीमत पर कुछ कमीशन मिल जाता है या कुछ नक्द या अन्य रूप से इनाम दिया जाता है।

(१६) वस्तु को लागत से कम दाम मे बेचना।

(१७) प्रतियोगी के सारे स्टाक को किसी प्रकार हथिया लेना।

(१८) बेचने मे कम तौल वाले बाटो का प्रयोग करना।

उपर्युक्त उपायो के अतिरिक्त पता नही कितने और उपाय काम मे लाये जाते हैं। सरकारी कर्मचारियो को भ्रष्ट उपायो से मिलाकर प्रतियोगी को नुक्सान पहुचाना, गुप्त समझौतों द्वारा परिवहन आदि के मामले मे कुछ विशेष सुविधा प्राप्त करना, प्रतियोगी के कुशल-कर्मचारियो को फोडकर या तो अपने यहा रख लेना या उनसे भेद लेना या उन्हें प्रतियोगी द्वारा उत्पादित वस्तु को खराब कर देने के लिये उत्प्रेरित करना आदि आदि पता नही कितने और ढग अपनी स्थिति को सुदृढ बनाने तथा प्रतिद्वन्द्वियों के विध्वंस करने के लिये विक्रयेधिकारी काम मे लाता है।

---

10. Inducing breach of Competitors' Contracts.
11. Misbranding or mislabeling
12. Operating Secret Subsidiaries.
13 Passing off a product as and for that of a Competitor.
14. Threatening infringement Suits, not in good faith, to stifle Competition.
15. Using or selling lottery devices in merchandising a product.
16. selling below cost to stifle competition
17. Acquiring Stock of Competitor]
18. Delivering Short measures.

विक्रयेकाधिकार तथा आर्थिक व्यवस्था—

अर्थशास्त्र में हमारा सम्बन्ध ऐसे व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समूहों से होता है जो, यदि वे उपभोक्ता हैं तो, अधिकतम पुष्टि प्राप्त करने के लिये, और यदि विक्रेता उत्पादक है तो, अधिकतम लाभ कमाने के लिये सतत् प्रयत्नशील हैं। आर्थिक विश्लेषण में मनुष्य सदैव 'अर्थ' से प्रेरणा पाता माना गया है। तप, दान, शील, दया अथवा धर्म आदि आदर्श मानव गुण अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं हैं। इस आधार पर हम मानते हैं कि किसी भी विक्रेता, चाहे वह प्रतियोगिता-पूर्ण व्यवस्था में कार्यशील हो अथवा अ-प्रतियोगिता वाली व्यवस्थाएं, का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। अन्तर यह है कि इस उद्देश्य की पूर्ति में भिन्न भिन्न श्रेणी के फर्मों या व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। ये कठिनाइयां कानूनी, सामाजिक, संस्थात्मक हो सकती हैं या अन्य किसी भी दिशा से आ सकती हैं। प्रतियोगिता की हालत में ये कठिनाइयाँ इतनी अधिक होती हैं कि फर्मों का लाभ बहुत कुछ बाजार की शक्तियों द्वारा ही निर्धारित होता है। फर्मों की शक्ति इस माने में काफी सीमित होती है। वे लाभ के श्रोत-कीमत पर कोई काबू नहीं पा सकते—कीमत उनके लिये बाजार की शक्तियां निर्धारित करती हैं—वे केवल इस दी हुई कीमत पर वस्तु की जो मात्रा चाहें बेच सकते हैं।

किन्तु विक्रयेकाधिकार की हालत में फर्म कीमत को स्वयं निर्धारित करता है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में जो अड़चनें फर्मों के मार्ग में आती हैं, वे प्रायः विक्रयेकाधिकार में गायब रहती हैं। इसलिए साधारणतया विक्रयेकाधिकारी फर्म, प्रतियोगिता वाले फर्मों की अपेक्षा, सदैव अधिक लाभ कमाता है। उसे अधिक लाभ कमाने की अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह हर प्रकार से प्रयत्न करता है, तथा बहुत कुछ सफल भी होता है। वह उत्पादन या विक्रय की उसी नीति का अनुसरण करता है जो उसके लाभ को बढ़ाये। और चूंकि उसे इस नीति निर्धारण में काफी 'अधिकार' प्राप्त होता है इसलिये जनहित का बलिदान करने में भी वह नहीं हिचकिचाता विक्रयेकाधिकारी अपने आदान प्रदान को इस प्रकार समायोजित करता है कि उसकी सीमान्त आय उसकी सामान्त लागत के बराबर हो जाय, लेकिन उसकी विक्रय कीमत हमेशा सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत से अधिक होती है इस लिये 'प्रतियोगिता' की अपेक्षा जहां ये सब बराबर होते हैं—विक्रयेकाधिकार में उत्पादन कम किया जाता है।

प्रारम्भ ही में यह कह देना आवश्यक है कि यहां हमारा अभिप्राय सरकारी या सरकार द्वारा नियन्त्रित विक्रयेकाधिकारों से नहीं है। हम केवल निजी व्यक्तियों के हाथ में जो विक्रयेकाधिकार है—उन्हीं के बारे में विचार कर रहे हैं।

आगे चलकर जैसा हम देखेंगे, आधुनिक अर्थशास्त्र, जिसके प्रमुख प्रतिपादक केन्ज हैं, उपयोगीकरण (Employment) को समृद्धशालिता की कुंजी मानता है। मसाधनों का उपयोगीकरण जितना ही अधिक होगा, उनके स्वामियों (श्रमिकों, पूंजी

लगाने वालों तथा भूमि के मालिकों) को उतना ही अधिक पारिश्रमिक (क्रमश: मजदूरी, ब्याज तथा लगान) मिलेगा।

लेकिन यह उपयोगीकरण निर्भर होता है विनियोग तथा उपभोग पर। लोग जितना ही अधिक विनियोग करेंगे, जितना ही अधिक उपभोग करेंगे, उतना ही अधिक माल पैदा करना पड़ेगा इसलिए उद्योग धन्धे तथा उपयोगीकरण मे भी वृद्धि आयगी, जो गृहस्थो की, ससाधनों के स्वामियो की आय बढा देगी। यह चक्र इसी प्रकार चलता रहेगा।

किन्तु विक्रयेकाधिकार मे विक्रयेकाधिकारी लाभ अधिक लेता है, इसलिए उत्पादन के अन्य साधनो—श्रम, भूमि तथा पूजी, के पारिश्रमिक कम हो जाते हैं। मजदूरी, लगान तथा ब्याज ही के रूप में गृहस्थो की आय होती है, जब इनका स्तर कम होगा तो गृहस्थो की आय कम हो जायगी। आय कम होने से वे उपभोग कम करेंगे विनियोग भी स्वय कम हो जायगा, इसके राष्ट्रीय उपयोगीकरण, उत्पादन तथा समृद्धि कम हो जायेंगे।

राजस्व नीति आज की सरकारों के हाथ मे अत्यन्त महत्वपूर्ण हथियार का काम कर सकती है। इसके उचित प्रयोग द्वारा राज्य उपयोगीकरण को बढाने की चेष्टा मे सर्वत्र सलग्न दिखाई देते हैं। राजस्व नीति के समुचित प्रयोग से प्रभावोत्पादक० मांग मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा सकता है, किन्तु यदि आर्थिक व्यवस्था में विक्रयेकाधिकार घर किये हुये हैं तो अधिक मांग होने पर विक्रयेकाधिकारी अपना उत्पादन तथा इस प्रकार सामान्य उपयोगीकरण को बढ़ाने के बजाय अपनी वस्तु की कीमत बढ़ायेगा। मांग बढने पर यदि वस्तु उत्पादन में वृद्धि की भी जायगी, तो वह प्रतियोगिता मे वैसी परिस्थितियो मे होने वाली वृद्धि से सदा कम होगी। यदि विक्रयेकाधिकार प्रबल है तो फर्म उत्पादन को घटायगा तथा कीमत मे वृद्धि करने का प्रयत्न करेगा। जब उत्पादन कम कर दिया जायगा तो मौजूदा उत्पादन-उपकरणों मे वृद्धि करने या उनमे विकास लाने के लिये कोई प्रेरणा ही नही होगी। यह हम पहले ही कह आये हैं कि फर्म अपने सब कार्यों मे स्वार्थ को सर्वोपरि रखते हैं। यदि कोई एकाधिकारी फर्म अपने वस्तु-उत्पादन मे अधिक दक्षता लाये बिना ही पर्याप्त रूप से लाभ कमा सकता है तो उसे अपने उपकरणो के नवीनीकरण, या नई खोज, गवेषणा आदि की आवश्यकता क्या है। इन्ही कारणो से विक्रयेकाधिकार 'नये विनियोग'—जो आर्थिक व्यवस्था की समृद्धि के लिये इतने अनिवार्य माने जाते है—को सदैव हतोत्साहित करेंगे। 'प्रतियोगिता' मे प्रत्येक फर्म नये-नये उपकरणो तथा

---

० प्रभावोत्पादक मांग तथा केनेसियन अर्थशास्त्र की दामशील माग में अन्तर है। यहां 'प्रभावोत्पादक' विशेषण केवल यह बताता है कि माग करने वालों मे उपभोग की इच्छा ही नहीं उसको पूरा करने का साधन-मुद्रा-या क्रय-क्षमता भी है।

भिन्न-भिन्न विधियो द्वारा अपनी लागत को कम करके तथा अपनी वस्तु को अधिकाधिक श्रेष्ठ बनाकर अपने प्रतिद्वन्दियो से बढ जाना चाहता है । 'प्रतियोगिता' में निरन्तर उन्नति करने की चेष्टा जीने की शर्त होती है, विक्रयेकाधिकार मे वह एक अलसाई उत्कठा से अधिक शायद ही कुछ ।

लेकिन इसका अर्थ यह नही कि विक्रयेकाधिकार की हालत मे उत्पादन के उपकरणो, उसकी प्रक्रियाओ आदि मे कोई उन्नति होती ही नही है। लेकिन यह सब प्राय या तो अपनी अवस्था को और सुदृढ बनाने के दृष्टिकोण से किया जाता है अथवा भविष्य मे प्रतियोगियो के प्रवेश पर रोक लगाने के लिये ।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी हम देख सकते हैं कि पूर्ण विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे सामान्य उपयोगीकरण तथा उत्पादन का स्तर कम होता है। यदि हम परम्परागत विनिमय के समीकरण को लें तो हम देखते हैं कि म व=प ट

जहा —

म=मुद्रा परिणाम ।
व=मुद्रा का चलन वेग
प=सामान्य कीमत-स्तर
ट=समाज म मौजूदा माल तथा सेवायें

जो कि विनिमय क्रिया मे भाग लेती हैं। यदि राष्ट्र की मुद्रा-आय, अथवा 'म व' दी हुई हो तो हम देखते हैं कि कीमत-स्तर तथा उपस्थित, विनिमय साध्य माल और सेवाओ का गुणनफल (प ट) स्थिर होना चाहिये। विक्रयेकाधिकारपूर्ण व्यवस्था म कीमत स्वभावत. ऊची होती है इसलिये समाज मे माल तथा सेवाओ अर्थात् कुल उत्पादन तथा उपयोगीकरण अवश्य निम्न स्तर पर होगे ।

इसके अतिरिक्त, जैसा हम पहले कह चुके हैं, विक्रयेकाधिकार व्यवस्था मे कुछ आय का अधिक भाग लाभ के रूप मे ऊची आय वाले वर्ग के हाथ मे जाता है, श्रमिको तथा साधारण अन्य उत्पादन ससाधनो को अपेक्षतया पारिश्रमिक कम मिलता है। मुट्ठी भर उच्च वर्ग के लोगो मे आय के बढन के साथ साथ उपभोग करने की प्रवृत्ति म ह्रास आता जाता है तथा बचाने की प्रवृत्ति बढती जाती है। दूसरी ओर आय का यह वैषम्य जन-साधारण की भी (आय की कमी के कारण) उपभोग करने की प्रवृत्ति को कम करता है। उपभोग मे कमी होने स उपभोग्य वस्तुओ की माग कम होगी । इससे प्रतियोगिता-पूर्ण अवस्था मे तो कीमतें घट जाती लेकिन विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे तो कीमते तो वैसी ही रहेगी, कमी कर दी जायगी उत्पादन म । इसका भी वही फल होगा नये विनियोग ठप हो जायेंगे और उपयोगीकरण और गिरेगा । यह प्रभाव वर्द्धमान रूप से क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा समस्त आर्थिक व्यवस्था को हानि पहुचाता है ।

तो हम यह कह सकते हैं शुद्ध विक्रयेकाधिकार की अवस्था ससाधनो के समुचित वितरण के मार्ग मे अडचनें डालती हैं, कार्यक्षमता, उन्नति तथा विकास का प्राय उद्योग धन्धो से लोप हो जाता है, समाज मे आर्थिक वैषम्य बढता है, उपयोगीकरण

उत्पादन तथा जन-कल्याण मे ह्रास आता है तथा सबसे बडी बात यह है कि विक्रयेकाधिकार स्वय अपने पर पलता तथा विकसित होता है, आर्थिक व्यवस्था के एक क्षेत्र मे विक्रयाधिकार अन्यत्र भी इस प्रवृत्ति को जन्म देता है और सीमित रूप मे, आर्थिक व्यवस्था मे अपने समस्त परिणामो को लिये हुये अधिनायकवाद को जन्म देता है। विक्रयेकाधिकार को एक प्रकार की सामन्तवादी व्यवस्था भी हम कह सकते है जहा बिना मुकुट वाले 'सम्राट' कभी-कभी विश्व की आर्थिक व्यवस्था का शासन-सूत्र अपने हाथ मे रखते हैं। विक्रयेकाधिकार का प्रभाव केवल आर्थिक जगत ही पर नहीं पडता, वरन् इसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है। राजनीति में इसका प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। तथाकथित 'मध्य पूर्व* के देशो की गतदशक की राजनैतिक उथल-पुथल मे बहुत कुछ हाथ अमेरिकन तथा अग्रजी पेट्रोलियम-विक्रयेकाधिकारियो का रहा है। अफ्रीका मे स्थान-स्थान पर लडाई झगडो मे भी अन्तर्राष्ट्रीय विक्रयेकाधिकारियो का योगदान कुछ कम नही। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि सयुक्त देश अमेरिका की सरकार की नीति बडे-बडे अमेरिकन विक्रयेकाधिकारियों से पर्याप्त रूप मे प्रभावित होती है।

एक बात पर और विचार कर लें। कुछ लोगों का अनुमान है कि विक्रयेकाधिकार कीमतो को स्थिर बनाए रखने की सामर्थ्य रखता है, इसलिये आर्थिक-व्यवस्था मे विक्रयेकाधिकार की उपस्थिति व्यापार चक्र के कुप्रभावो को उचित स्थिर-कीमत की नीति द्वारा कम कर सकती है। हाँ, किन्तु सिद्धान्त ही मे, वास्तव मे नही। वास्तविकता यह है कि व्यापार-चक्र से उत्पन्न परिस्थितियो का हल विक्रयेकाधिकारी अपने उत्पादन तथा उपयोगीकरण को कम करके करने का प्रयत्न करता है, न कि कीमत समायोजन द्वारा। रॉबिन्सन ने ठीक ही कहा है कि "बहुत हालतो मे ··· ··· और विशेषकर जहा तक विक्रयेकाधिकार की शक्तियो का प्रयोग (व्यापार-चक्र की) समृद्धि की अपेक्षा अवसाद मे किया जाता है, सम्भावना यह होती है कि विक्रयेकाधिकार की (आर्थिक-व्यवस्था मे) उपस्थिति उत्पादन मे उतार-चढाव को और प्रोत्साहित करती है। अवसाद काल मे विक्रयेकाधिकार की सृष्टि तो इस उतार-चढाव को और अधिक बढ़ा देती है'[8]। अधिक से अधिक स्थिरता के सम्बन्ध मे विक्रयेकाधिकार से यही आशा की जा सकती है कि वह अपनी आय मे स्थिरता लाने का प्रयत्न करेगा। किन्तु वह भी स्वभावत जन-कल्याण पर आघात द्वारा। विक्रयेकाधिकार पूंजीवाद की सबसे कुख्यात उपज है, जिसका अस्तित्व पूजीवाद के अस्तित्व को मिटाने के लिए सबसे अकाट्य-तर्क है।

* ईरान, इराक, सउदी अरब, कुवेत, मिश्र सीरिया का सयुक्त अरब गणराज्य, लेबनान, तुर्की आदि देश।

8 Monopoly by Robinson P 167.

पीछे हमने एक सामान्य अवस्था का परिचय दिया है। कतिपय हालतों में विक्रयेकाधिकार अनिवार्य से हो जाते हैं। फिर शुद्ध विक्रयेकाधिकार के जिन हानिप्रद तत्वों का जिक्र हमने ऊपर किया है, उन पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न समय-समय पर किया जाता रहा है। व्यापारिक गठबन्धन द्वारा स्थापित अस्थिर, अल्पकालीन तथा ढीले विक्रयेकाधिकार सबसे अधिक खतरनाक होते हैं। इसलिये इस प्रकार के गठबन्धनों को जनता अत्यन्त सन्देहात्मक ढग से देखती है। सुसगठित रूप में, जहाँ बाह्य आक्रमण (नये फर्मों के प्रवेश द्वारा) का उतना खतरा विक्रयेकाधिकार को कम से कम अल्पकाल मे नही होता वहाँ विक्रयकाधिकार ने भी अधिक क्षमता दिखाई है। बडे पैमाने मे उत्पादन के लाभ वास्तव मे किसी सुचालित विक्रयेकाधिकारी को अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हैं।

विक्रयेकाधिकार तथा वस्तु कीमत—

विक्रयेकाधिकार तथा पूर्णप्रतियोगिता मे विशेष अन्तर यह होता है कि विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे वस्तु उत्पादन की इष्टतम् राशि का निर्धारण विक्रयेकाधिकारी (उत्पादक) स्वय करता है, जबकि पूर्णप्रतियोगिता की अवस्था म इष्टतम् उत्पादन-राशि का निर्धारण उत्पादक नहीं, कीमत करती है।

विक्रयेकाधिकारी तथा पूर्णप्रतियोगिता वाले किसी फर्म में एक बात मे कोई भेद नही—और वह यह है कि दोनो अपनी आय तथा व्यय (Revenue तथा Cost) का इस प्रकार का समन्वयन करना चाहते हैं जिससे कि उनको अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो सके।* प्रतियोगी फर्म को अपनी पूर्ति, दी हुई बाजार की कीमत के अनुसार निर्धारित करनी पडती है, उसे यह डर नही होता कि यदि वह अपनी पूर्ति मे वृद्धि कर देगा तो बाजार-भाव पर उसकी इस क्रिया का कोई प्रभाव पडेगा। इसलिये वह अपनी पूर्ति को तब तक बढाता जायगा जब तक कि उसकी सीमान्त लागत (और इस प्रकार सीमान्त आय) प्रचलित बाजार भाव के बराबर नही हो जाती।

विक्रयेकाधिकारी को केवल एक फैसला नही करना होता। वह केवल पूर्ति ही को नहीं देखता, उसके लिये कोई निश्चित बाजार भाव नहीं होता जिस पर वह जितनी चाहे उतनी मात्रा मे अपनी वस्तु को बेच सके। वह कीमत निर्धारक स्वय होता है। पूर्ति जितनी ही बढेगी उतना ही उसे अधिक विक्रय के लिए अपनी कीमत घटानी पडेगी। वह प्रतियोगी फर्म की तरह ऐसा नही कर सकता कि अपनी पूर्ति को बिना यह सोचे बढाता जाय कि उसकी इस क्रिया का बाजार भाव पर कोई प्रभाव न पडेगा; क्योंकि बाजार भाव का निर्धारण वह स्वय करता है, उसके लिये बाजार भाव दिया हुआ नही होता। इसलिये विक्रयेकाधिकारी के उत्पादन या

* प्रत्येक फर्म के लिये इष्टतम् अवस्था वह है जहाँ उसकी सीमान्त आय उसकी सीमान्त लागत के बराबर हो जाय।

तथा विकसित तरीको के प्रयोग द्वारा उत्पादित माल की खपत करना उनके लिये कठिन होगा, क्योंकि बाजार तमाम प्रतियोगियो मे बटा हुआ है। दूसरे ऐसे फर्मों के पास इतनी पूंजी कहा से आयेगी ?

इन्ही कारणो से मार्शल इस नतीजे पर पहुचते हैं कि जहा विक्रयेकाधिकारी अपने उत्पादन को योग्यता तथा साहस के साथ करेगा और उसको पूंजी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होगी, वहा वस्तु की पूर्ति कीमत अपक्षाकृत नीची होगी।

जब लागत कम होगी तो विक्रयेकाधिकार की स्थिति के बावजूद भी कीमतें कम हो सकती हैं। वास्तव मे, कुछ प्रभावशाली अर्थशास्त्री* विक्रयेकाधिकार के प्रति उदार रहे हैं। इसी धारणा के कारण 'वेन' ने कहा है कि विक्रयेकाधिकारी अधिक प्रगतिशील हो सकता है क्योंकि उसके विनियोगो मे जोखिम कम होता है।[11]

मार्शल का यह भी विचार है कि विक्रयेकाधिकारी के लक्ष्य एकमात्र अधिकतम लाभ कमाने के अतिरिक्त और भी कुछ हो सकते हैं। उनके अनुसार, अतिरिक्त विक्रयेकाधिकारी, यदि मान भी लिया जाय कि विक्रयेकाधिकारी उपभोक्ताओ के स्वार्थ की परवाह न कर अपने ही स्वार्थ को देखता है तो भी यह आवश्यक नही कि उसकी वस्तु की कीमत ऊंची हो। यहा हमे यह स्मरण रखना होगा कि विक्रयेकाधिकारी को भी एक दिये हुए माग-वक्र का सामना करना पड़ता है। इस माग-वक्र को वह विज्ञापन तथा अन्यान्य साधनों से प्रभावित कर सकता है, लेकिन मुख्यत उसे इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि एक निश्चित कीमत पर वह अपनी वस्तु की एक निश्चित मात्रा बेच सकता है, यदि वह अपना विक्रय बढाना चाहता है तो उसे कीमत कम करनी होगी। तो वह चाहे वस्तु की अधिक मात्रा अपेक्षाकृत कम भाव पर बेचे, या वस्तु की कम मात्रा ऊचे भाव पर बेचे। यदि अपनी वस्तु की कीमत को कुछ कम कर देने से उसका विक्रय इतना बढ जाता है कि कीमत मे कमी करने से जो घाटा उसे हुआ उसकी पूर्ति वस्तु के अधिक विक्रय से हो जाती है तो उसे अपनी कीमत कम करने मे झिझक न होगी। फिर जैसा मार्शल ने कहा है कि हो सकता है कि विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु का प्रचार करना चाहता हो, तो ऐसी हालत मे वह अपनी वस्तु की कीमत इस प्रकार निर्धारित करेगा कि उसकी अधिकाधिक खपत हो चाहे उसको उच्चतम से कम ही लाभ क्यों न हो, क्योंकि वस्तु का विक्रय तथा प्रचार बढ जाने के बाद उसे कम कीमत पर भी अधिक विक्रय होने के कारण अधिक लाभ होगा। फिर मार्शल यह भी कहते हैं कि कभी-कभी विक्रयेकाधिकारी जनकल्याण का भी ख्याल रखकर अपनी कीमत को कम रखते हैं। यह बात सरकारी या अर्द्धसरकारी विक्रयेकाधिकारो की हालत मे तो सही हो सकती है लेकिन व्यक्तिगत, निजी विक्रयेकाधिकार की हालत मे हम विक्रयेकाधिकारी दानशीलता पर अधिक विश्वास नही कर सकते,

* Marshall, Von Wieser, Bain etc.

11 'Economic Synthesis' by Boris Ischboldin pp 220-21 etc

हम यह भी कह चुके है कि विक्रयेकाधिकारी कीमत तथा वस्तु-मात्रा दोनो निश्चित नही कर सकता, क्योकि माग अनुसूची पर उसका अधिकार नही होता। यदि वह कीमत बढाता है तो उसकी वस्तु की माग कम हो जायेगी। यह कमी कितनी होगी यह बात माग की लोच पर निर्भर है, यदि माग काफी लोचदार हुई तो कीमत मे थोडी भी वृद्धि माग को काफी कम कर देगी। मान लिया कि कोई विक्रयेकाधिकारी 'क' वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय करता है। कल्पना की कि १०५) प्रति वस्तु की दर से इस वक्त वह उस वस्तु की ५ हजार इकाइया बच लेता है। यदि उसे शुद्ध लाभ ५% का मिले तो उसका कुल

पृष्ठ ४६५ का शेष—

भी मनोवैज्ञानिक आधार रखती हैं। मानव सहज प्रवृतियो (instinct) का सामाजिक शास्त्रो (जिनमे अर्थशास्त्र भी शामिल है) मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सवेदना तथा आवेग हमारे दैनिक कार्यो को प्रभावित करते हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन म इन बातो पर ध्यान दिया जाना भी आवश्यक है। सामाजिक व्यवहारो तथा हतुवो सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का अर्थशास्त्र के अध्ययन मे समन्वयन होना आवश्यक है। हम यह देखते है कि उपर्युक्त हेतुको के अतिरिक्त अन्य हेतुक भी हैं जो विक्रयेकाधिकारी को भी उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जैसे औरो को, उदाहरण के लिये निम्नलिखित हेतुको को हम ले सकते है—

राष्ट्रोत्थान तथा राष्ट्र हित—जर्मनी देश के ही क्या और कितने देशो के विक्रयेकाधिकारियो ने इस हेतुक पर बल दिया और 'लाभ' के बलिदान पर भी राष्ट्रोन्नति को चाहा। यही नही कि राष्ट्रहित के लिये वे लाभ का बलिदान करते हैं, राष्ट्र की सस्थाओ, आचार विचार तथा सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक ढाचो तथा मान्यताओ के पोषण के लिये भी कतिपय हालतो मे वे कार्य करते है। आज के अमेरिकन विक्रयकाधिकारी, साम्यवाद से ससार को बचाने तथा अपने राष्ट्र के हित मे उत्प्रेरित हो बिना लाभ पर बल दिये कतिपय हालतो मे काम कर रहे हैं। अन्य देशो की विजय करने की भावनायें, अन्यो को दुख पहुचाने या बदला लेने की भावनाये आदि हेतुको से उत्प्रेरित हो कार्य करते हुये तमाम व्यापारियो के उदाहरण हमे इतिहास मे मिल सकते हैं।

(२) पर-राष्ट्रो या अन्य वर्ग या जाति के लोगो का पतन करना भी कतिपय विक्रयकाधिकारियो का हेतुक हो सकता है। इसी प्रकार सहानुभूति, ईर्षा, मद., क्रोध., घृणा., लघुता., आशा., निराशा. आदि कितनी मनोवेदनाएं (तथा कितने ही आवेग) चाहे वे व्यक्तिगत स्तर पर हो या राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापारियो तथा उत्पादको के उद्देश्यो को प्रभावित करती हैं, लेकिन यह इतनी जटिल समस्याएं हैं कि इनके अध्ययन का भार हम मनोवैज्ञानिको पर छोड देते हैं और अपने विक्रयेकाधिकारी के उद्देश्यो मे इन बातो को हम गौण स्थान देंगे।

शुद्ध लाभ २५०००) हुआ। अब मान लिया कि वह अपने लाभ को १०% करना चाहता है तो उसे प्रति वस्तु की कीमत ११०) कर देनी पडेगी। यदि वस्तु 'क' की माग लचीली हुई और अब ५००० के बजाय माग घट कर केवल २००० वस्तुओ की हो गई तो उसको कुल २००००) शुद्ध लाभ मिल पायेगा। इस लिये यह भाव वृद्धि विक्रयेकाधिकारी के लिये अहितकर होगी। अन्य हानियो को तो छोड ही दें स्वय उसका नुक्सान हो रहा है, इसलिय वह कीमत म वृद्धि नही करेगा। यदि माग अपेक्षाकृत अलोच हुई तो ऐसा न होगा, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य बातो का ध्यान उसे तब भी रखना पडेगा।* इसी प्रकार जन कल्याण या राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा जातीय हितो के ख्याल से भी विक्रयेकाधिकारी उत्प्रेरित हो सकता है, वैसी हालत म वह कीमत बेजा तौर पर न बढायगा।

लेकिन विक्रयेकाधिकारी के लोभ पर सबसे कठोर लगाम होती है भय जिसे हमने ऋणात्मक पहलू कहा है। उसे कीमत बढाते समय कई ओर से भय होता है सम्भाव्य प्रतियोगी जनता द्वारा बायकाट अथवा रोष, किसी स्थानापन्न वस्तु के वजूद म आ जाने की सम्भावना अथवा राज्य द्वारा हस्तक्षप।

विक्रयेकाधिकारी को हमेशा इस बात का भय रहता है कि कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी न आजाय। अधिक खतरा होता है स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ के उत्पादको की ओर से। निकट स्थानापन्न होने वाली वस्तु का उत्पादक अपनी वस्तु के प्रचार द्वारा विक्रयेकाधिकार को नष्ट करने की सदा कोशिश किया करता है। यदि एक बार विक्रयेकाधिकारी की वस्तु की ऊची कीमत से विवश होकर लोगो ने किसी निकट स्थानापन्न वस्तु का उपभोग शुरू किया तो डर इस बात का है कि, कतिपय हालतो म, वे इस स्थानापन्न के ऐसे आदी बन सकते हैं कि पुन. कीमत के घटने पर भी वे विक्रयेकाधिकारी की वस्तु को न खरीदें। यदि किसी चाय के विक्रयेकाधिकारी ने चाय का दाम बढा दिया और लोगो को काफी पीने पर विवश होना पडा तो हो सकता है कि कुछ समय के बाद लोगो की कॉफी पीने की आदत ऐसी हो जाय कि चाय का दाम घटने पर भी वे फिर उसे खरीदना तथा प्रयोग करना पसद न करें।

हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ससार मे शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो, जिसका किसी न किसी रूप मे कोई स्थानापन्न दुनिया मे मौजूद न हो। फिर मुद्रा तो सभी वस्तुओ की स्थानापन्न है।

इसके अतिरिक्त विक्रयेकाधिकारी को जनता के रुख का भी ख्याल रखना पडता है। कीमत अधिक बढाने पर यही नही कि जनता वस्तु का बायकॉट कर

---

* U. S A. की सरकार ने du Pont Company को अणुबम तैयार करने का ठेका दिया था। यह कम्पनी विक्रयेकाधिकारी के रूप मे भी दश-हित मे काम कर रही है।

सकती है*, बल्कि अन्य सम्भावनाए भी हैं। जनता अन्य विधियो से भी उसको हानि पहुँचा सकती है या सरकार को हस्तक्षेप करने पर मजबूर कर सकती है। विक्रयेकाधिकार इतना कुख्यात साधारणतया होना ही है कि उसके खिलाफ तनिक आवाज भी वृहद् रूप धारण कर सकती है। विक्रयेकाधिकारी मधुमक्खियो को छेडना पसद न करेगा।

विक्रयेकाधिकार पर नियन्त्रण—

किसी प्रकार की भी शक्ति का केन्द्रीयकरण नृशसता को जन्म देता है। आज के युग मे केन्द्रीकरण अत्यन्त सदिग्ध माना जाता है। आर्थिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को राजनैतिक सत्ता भी पसद नही करती, क्योकि इससे राजनैतिक सार्वभौमिकता अक्षुण्ण नही रह जाती। फिर, विक्रयेकाधिकार मे प्राय तमाम समाज विरोधी तत्वो को प्रोत्साहन मिलता है, ससाधनो का दुरुपयोग होता है, वितरण मे बडी ही वैषम्यता आ जाती है तथा आर्थिक क्षेत्र मे शोषक तथा शोषितो के भयकर वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विक्रयेकाधिकार सर्वथा वर्ज्य है। यदि विक्रयेकाधिकार सर्वथा अनुचित है तो न केवल मौजूदा विक्रयेकाधिकारो को तोडना तथा समाप्त करना होगा अपितु भविष्य मे उनके निर्माण पर पूर्णतया रोक लगानी होगी। पाश्चात्य देशो के इतिहास मे ऐसे प्रयत्न किये गये हैं। किन्तु वास्तविकता क्या है? विक्रयेकाधिकार के स्थान पर कौनसी व्यवस्था उपयुक्त होगी? क्या पूर्ण प्रतियोगिता? यदि सम्भव भी हो, तो आर्थिक कल्याण का तकाजा पूरा कर सकेगी? प्राय हम यह देखते हैं कि विक्रयकाधिकारिक प्रवृत्तिया न केवल आर्थिक व्यवस्था म स्वमेव उत्पन्न होती रहती हैं, बल्कि कतिपय हालतो मे आर्थिक व्यवस्था उनसे लाभान्वित भी हुई है। इसलिये विक्रयेकाधिकारिक प्रवृत्तियो को एक ओर व्यवहारिक दृष्टिकोण से बिल्कुल मिटा देना सम्भव नही, दूसरी ओर, वह हितकर भी नहीं। हा, अवसरवादी, स्वार्थ मे सने ढीले गठबन्धनो द्वारा जनित विक्रयेकाधिकारो को अवश्य रोका जाना चाहिए।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे ट्रस्टो (rusts), जो विक्रयेकाधिकार का एक प्रबल रूप होता है, का विकास सब देशो से अधिक हुआ है। इस देश मे कई कानून ** पास किये गये, इन कानूनो के द्वारा नये विक्रयेकाधिकारो को वजूद मे

* कलकता नगर मे १९६१ ई० मे जब मछली की कीमत बहुत बढ गई तब उपभोक्ताओ ने उस को खरीदना बन्द कर दिया तथा कई रोज तक बडी गडबड रही। अन्त मे मछली के विक्रेताओ को मछली की कीमत घटानी पडी।

** इनमें से प्रधान हैं Sherman Anti Trust Act, 1890

(1) The Federal Trade Commission Act of 1914
(2) Clayton Anti-Trust-Act, (1914)
(3) The Webb Pomerene Act (1918)
(4) Robinson-Patman Act (1936)

न आने देने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त प्रतियोगिता के पोषण के लिये सगठित विक्रयेकाधिकारो को छोटी छोटी प्रतियोगी इकाइयो मे तोडने का प्रयत्न किया गया। लेकिन सफलता अधिक नही मिल सकी। इन तोडी हुई इकाइयो से प्राय 'होल्डिंग कम्पनियो' का जन्म हुआ जो कुछ कम शक्तिशाली न थी। इसके अतिरिक्त इस देश मे विक्रयकाधिकार तथा राज्य मे काफी सघर्ष न्यायालयो म चला। प्रारम्भ ही से सयुक्त राज्य की नीति प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करना था। इसलिये अनुचित प्रतियोगिता, व्यापार के अवरोध के लिय कोई सविदा, अनुचित या अवैध उद्देश्यो के लिय विक्रेताओ या उत्पादको के बीच सविदा आदि को शून्य तथा अवैध करार दिया गया। लेकिन इस दिशा म सरकार को पर्याप्त सफलता नही मिली। पहली बात तो यह निश्चित् करना कठिन हो गया कि अनुचित तथा उचित प्रतियोगिता क्या है। फिर विक्रयकाधिकारी बडे-बडे वकीलो की सहायता से कानून के प्रतिबन्धो से निकलने का सदा प्रयत्न करते रहे। गुप्त समझौता द्वारा विक्रयकाधिकार सगठन स्थापित होते रहे। इससे यह साफ जाहिर है कि अपनी तमाम कोशिशो के बावजूद भी अमरिकन सरकार विक्रयेकाधिकारो के समाप्त करने के कार्य म बिल्कुल सफल न हो सकी। फिर जैसा हम पहले कह चुके हैं कि फर्मों के सगठन अथवा विनीनीकरण कभी-कभी हितकर ही नहीं कुशल तथा उचित लागत पर उत्पादन के लिये परमावश्यक होते हैं। विक्रयकाधिकारी सगठन को तोड कर छोटे छोटे प्रतियोगी फर्मों मे विभाजित करना भी आसान काम नही। प्रतियोगिता बाह्य दबाव से नही आ पाती, वह तो अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। जब विक्रयकाधिकारियो को कुछ टुकडो म कर दिया जाता है तो व किसी अन्य भाति सगठित होने का प्रयत्न करते हैं। यदि वे अलग अलग भी रहे तो उनसे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति न पैदा होकर विक्रयाधिकार अथवा विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की अवस्था आ जाती है।

अमेरिका मे क्या, ससार भर मे, तीसरी दशक की भीषण मन्दी ने विक्रयेकाधिकार के प्रति लोगो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाने की कोशिश की। विक्रयेकाधिकारी वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय पर अधिक काबू रखता है, वह कीमतो मे स्थिरता रख सकता है, इसके अतिरिक्त अपनी सुदृढ आर्थिक व्यवस्था के कारण वह लाभ हानि की परवाह किये बिना भी व्यापार-चक्र से सघर्ष कर पूरी आर्थिक व्यवस्था को लाभ पहुचा सकता है। फिर पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना सरकारो के हस्तक्षेप न करने की नीति तथा कीमत यन्त्र की अचूकता से लोगो का विश्वास उठ गया। व्यापार मे सरकारो का हस्तक्षेप आवश्यक सा हो गया। पाश्चात्य देशो मे एक ओर तो विक्रयेकाधिकार से प्राप्त होने वाले लाभो पर लोगो की दृष्टि गई, दूसरी ओर, ससार की वास्तविकताओ पर विचार करने से उन्हे पता चला कि पूर्ण प्रतियोगिता किसी भी आर्थिक व्यवस्था की एक अप्राप्य अवस्था है, वास्तव मे, विक्रयेकाधिकारिक प्रवृत्तिया स्वभावत आर्थिक व्यवस्था मे काम करती

रहती हैं। उनको मिटाने की कोशिश न तो व्यावहारिक ही है न उचित ही। बल्कि जहां कहीं आवश्यक हो राज्य को स्वयं एक नियमित विक्रयेकाधिकार का निर्माण करना चाहिए। आज तो हम यह देखते हैं कि राज्य स्वयं कितने ही क्षेत्रों में विक्रयेकाधिकारी बन गये हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि विक्रयेकाधिकारों का सर्वथा विनाश न कर उन्हें उचित नियन्त्रण द्वारा ऐसा बना दिया जाय कि वे उपभोक्ताओं का शोषण न कर सकें तथा मानव हित विरोधी अन्य तत्वों को आश्रय न दे सकें। नियन्त्रण इस प्रकार का होना चाहिए जिससे कि विनियोग करने वालों, उपभोक्ताओं तथा बाजार के अन्य छोटे व्यवसायों का हनन न किया जा सके। प्रत्येक उद्योग में फर्मों की संख्या ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक फर्म को बड़े पैमाने पर उत्पादन का सब लाभ प्राप्त हो सके अर्थात फर्मों का आकार इष्टतम होना चाहिए। जहां कहीं भी वैध विक्रयेकाधिकारिक संगठन या विलयन से उत्पादन लागत में मितव्ययता प्राप्त होने की संभावना है, वहां ऐसे संगठनों अथवा विलयन को नियन्त्रित रूप से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। हां, जहां ऐसे संगठन या विलयन का उद्देश्य केवल अपने लाभ में वृद्धि करना हो, वहां इनको अवश्य दबा दिया जाना चाहिए। सार्वजनिक हित के लिये आवश्यक सेवाओं तथा वस्तुओं का सरकार के या अर्द्धसरकारी संस्थाओं के हाथ में रहना हितकर होगा। आज की सरकारों ने इस ओर काफी ध्यान दिया है तथा सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं तथा वस्तुओं को अधिकाधिक अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया है। नव-स्वतन्त्र देशों में यह प्रवृत्ति और भी अधिक पाई जा रही है। कुछ अधिक बड़े पैमाने पर यही प्रवृत्ति 'मिश्रित' आर्थिक व्यवस्था की जन्मदाता है, जो साम्यवाद तथा पूंजीवाद के बीच एक समझौता की व्यवस्था कही जा सकती है।

विक्रयेकाधिकारों पर नियन्त्रण तो तो प्रायः राज्य ही कर सकते हैं, किन्तु नागरिक भी अपने ऐच्छिक संगठनों के द्वारा इस दिशा में कुछ काम कर सकते हैं। ऐसे संगठन उपभोक्ताओं की तथा उत्पादन के साधनों के स्वामियों की अज्ञानता को कम करके, उन्हें बाजार की अवस्था से पूर्णरूपेण अवगत रख करके, विक्रयेकाधिकारियों की स्वेच्छाचारिता को बहुत कुछ कम कर सकते हैं। विभेदित विक्रयेकाधिकार कभी-कभी उपभोक्ताओं की अज्ञानता का फल होता है, उपभोक्ता विक्रयेकाधिकारी द्वारा उत्पादित तथा विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के वास्तविक गुणों के सम्बन्ध में उसकी अन्य स्थानापन्न हो सकने वाली वस्तुओं के बारे में तथा अपनी तुष्टि के लिये सर्वोत्तम उपायों के सम्बन्ध में प्रायः अल्प ज्ञान रखते हैं। इस लिये विक्रयेकाधिकारी उनसे अनुचित लाभ उठाता है। इन सब बातों की जानकारी होने पर उपभोक्ता शायद विक्रयेकाधिकारी द्वारा उस हद तक शोषित न होगा। ऐसे संगठन विनियोग करने वालों का भी पथप्रदर्शन कर सकते हैं, अक्सर विक्रयेकाधिकारियों ने विनियोगियों के हितों की परवाह न कर उनके धन के साथ मन-माना खेलवाड़ कर अपनी शक्ति बढ़ाई है। नागरिकों के ऐच्छिक संगठन जनता

को इस दिशा में शिक्षित कर समाज का कल्याण कर सकते हैं। ऐसी सस्थाएं सरकारी या सरकार-जनता की मिली जुली भी हो सकती हैं। जनता को शिक्षित करने से प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकारो के अन्तगत होने वाले विज्ञापन का अपव्यय भी रुक सकता है।

इस प्रकार से विक्रयेकाधिकारी की स्वेच्छारिता पर कुछ नियन्त्रण किया जा सकता है, लेकिन जहा विक्रयेकाधिकार बहुत प्रबल है जहा विक्रयकाधिकारी की वस्तु या सेवा की माग बेलोच है तथा जहा उस वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न होने वाली वस्तुओं का अभाव है—वहा इस प्रकार के सगठनो के कार्य द्वारा बहुत कम प्रभाव डाला जा सकता है। यही हालत होगी कच्चे माल या सेवाओं के स्वामियो की। यदि उनके कच्चे माल का, या श्रमिकों की सेवा का एकमात्र केता यही विक्रयकाधिकारी होगा तो उन्हे अपने ससाधनो के वैकल्पिक उपयोगीकरण का मौका न मिलने पर, वे विवश होकर इसी एकाधिकारी के हाथ अपने ससाधन या सेवाए विक्रय करेगे।

सरकार के हाथ मे विक्रयेकाधिकार को नियन्त्रित करने के कई अस्त्र हैं। हम यह ऊपर कह चुके हैं कि कुछ समाज विरोधी विक्रयकाधिकारो को बिल्कुल जड से समाप्त किया जाना चाहिए। लेकिन अन्यो को नियन्त्रित रूप से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

यह भी हम ऊपर कह चुके हैं कि विक्रयेकाधिकार के उचित अनुचित को निश्चित करना बडा कठिन है। इस विषय मे एक अर्थ शास्त्री के सुझाव दिलचस्प है। उनके अनुसार किस विक्रयकाधिकारी को कब और कैसे दण्डित किया जाय, क्या कानून पास किये जाय तथा न्याय करते समय किन बातो का ध्यान रक्खा जाय आदि प्रश्नो के उत्तर के लिये निम्नलिखित पाच प्रश्नो पर विचार किया जाना आवश्यक है।

(१) क्या विक्रयेकाधिकारी फर्म या उद्योग कुशल है ?

(२) क्या यह प्रगतिशील है ?

(३) क्या उसके द्वारा लिया जाने वाला लाभ उसकी प्रगति तथा कौशल का परिणाम है या किसी कृत्रिम सुविधा तथा दाव पेच के फलस्वरूप है ?

(४) क्या यह उद्योग मे नये फर्मों के उचित तथा व्यवसाय सगत प्रवेश मे कोई बाधा तो नही डालता ?

(५) क्या यह सुरक्षा के दृष्टिकोण से समुचित है ?

जो कुछ भी हो, परिस्थितियो के अनुसार सरकारो को फैसला करना चाहिये।

Clare Griffin in his "An Economic Approach to Anti-Trust Problems" as quoted in Fortune (1957) p 104

विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में राज्य निम्नलिखित प्रकार के कदम उठा सकता है —

(१) विक्रयकाधिकार का निषेध,

(२) कीमत तथा उत्पादन मात्रा का निर्धारण या अन्य किसी प्रकार का नियन्त्रण,

(३) कर तथा अनुपूर्ति (Subsidies) तथा

(४) विक्रयेकाधिकारों पर सरकारी अधिकार।

जहां तक पहली बात का सवाल है उस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं और इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि कानून द्वारा विक्रयकाधिकार को रोकना या उसको छोटे छोटे हिस्सों में तोड़कर प्रतियोगिता की स्थिति लाने की कोशिश करना न तो सफल ही हो सकता है न ऐसा करना सार्वजनिक कल्याण के लिये आवश्यक ही है। हम यह भी कह चुके हैं कि प्रतियोगिता का वह मॉडल जो क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने बताया था वह उनके समय में भी एक आदर्श रूप था न कि वास्तविकता। आज वह समय आ गया है जब आर्थिक-व्यवस्था की पेचीदगी ने सरकारों को इस बात को सोचने पर मजबूर कर दिया है कि वे अधिकाधिक आर्थिक-व्यवस्था पर ध्यान दें। परम्परागत सरकारों की तटस्थता की नीति पता नहीं कहां भाग गई। आज तो सरकार स्वयं पूंजीपति बन गई है। इसलिये यद्यपि पूर्ण-प्रतियोगिता के परम्परागत मौलिक सिद्धान्त विश्लेषण के काम में अब भी लाये जाते है, लेकिन अब पूर्ण प्रतियोगिता केवल प्रतियोगिता के लिये श्रेयकर नहीं मानी जाती। न आज यही धारणा बाकी है कि छोटे-छोटे प्रतियोगी विक्रेता उपभोक्ताओं को सर्वोच्च सुख-सुविधा दे सकते हैं। इन सब कारणों से व्यवहारिकता के दृष्टिकोण से सरकारों में अन्य तीन तरीके (२, ३ तथा ४) ही आज के विचारणीय विषय हैं। इन पर हम क्रम पूर्वक संक्षेप में विचार करेंगे।

कीमत तथा उत्पादन पर नियन्त्रण—

विक्रयेकाधिकार के साथ सरकार का हस्तक्षेप कई रूप धारण कर सकता है। हस्तक्षेप का केवल यही अर्थ नहीं कि सरकार विक्रयकाधिकारियों के विक्रय की शर्तों को पूर्णरूपेण निर्धारित कर दे। हस्तक्षेप का सहज तरीका यह हो सकता है कि सरकार द्वारा नियुक्त कमेटियां बड़े-बड़े विक्रयकाधिकारियों के व्यापार से सञ्चालन तथा उनकी साधारण नीति तथा क्रियाविधियों की पूरी-पूरी जांच पड़ताल करती रहें तथा समय-समय पर इस प्रकार की जांच-पड़ताल से प्राप्त सूचनाओं को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित किया जाता रहे। ऐसे प्रकाशन के डर से विक्रयेकाधिकारी समाज विरोधी कार्यों से विरत रहने का प्रयत्न करेंगे। एक अन्य प्रसंग में प० नेहरू ने कुछ दिन पूर्व यह चर्चा की थी कि हमारे देश में लोग अपनी आय का गलत लेखा जोखा आय कर अधिकारियों को देते हैं, जिससे उन्हें आय-कर कम से कम देना पड़े। चूंकि

ये लेखे-जोखे गुप्त रक्खे जाते हैं, इसलिये लोगो को यह भय नही रहता कि कोई अन्य व्यक्ति जो उनके मामलो की जानकारी रखता है इनके द्वारा दिये गये निज आय सम्बन्धी हिसाब को गलत सिद्ध करके उनकी पोल खोल देगा। इसीलिये प० नेहरू ने यह सकेत किया कि इन हिसाबो को सरकार प्रकाशित करने की बात सोच रही है, इस दिशा मे आवश्यक कदम उठाया जा चुका है तथा अब आय-कर अधिनियम १९६१ ई० की धारा १३८ के अन्तर्गत कोई व्यक्ति एक निश्चित शुल्क देकर किसी व्यक्ति के विषय म यह मालूम कर सकता है कि उस पर किसी वर्ष मे कितना कर लगाया गया है। क्यो ? क्योकि प्रकाशन विज्ञप्ति स्वय अपराधो की बडी रोक-थाम है। यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि यदि सार्वजनिक प्रकाशन का भय हो तो विक्रयेकाधिकारी बहुत से ऐसे कार्य न कर सकेगे जो अन्यथा वे करते हैं। सयुक्त देश अमेरिका में 'फडरल ट्रेड कमीशन' को यह काम सौंपा गया था। यह तरीका अन्य नीतियो के पूरक के रूप मे सफलतापूर्वक अपनाया जा सकता है, स्वय मे यह बहुत सफल न हो पायेगा।

अब हम विक्रयेकाधिकारी द्वारा ली जाने वाली कीमत तथा उसके उत्पादन के नियन्त्रण पर विचार करें। इस सम्बन्ध मे राज्य स्थूल रूप से दो प्रकार काम कर सकता है। एक रास्ता तो यह है कि सरकार विक्रयेकाधिकारी की गतिविधियों पर निरन्तर ध्यान रखे तथा जैसे ही विक्रयेकाधिकारी अपनी कीमत को 'उचित दर' से ऊपर ले जाने की कोशिश करे, उसे रोक दे, जब तक विक्रयेकाधिकारी कीमत को अनुचित-स्तर पर ले जाने की कोशिश न करे, सरकार उसके कार्यो मे हस्तक्षेप न करे। दूसरी सूरत यह है कि सरकार विक्रयेकाधिकारी की वस्तु की कीमत की वह उच्चतम् दर निर्धारित कर दे जो वह (विक्रयेकाधिकारी) अधिक से अधिक ले सके।

इन दोनो सूरतो मे कठिनाइया उपस्थित हो जाती हैं। पहली सूरत मे प्रश्न उठता है कि किसी वस्तु की 'उचित' कीमत क्या होगी। दूसरी सूरत मे भी यह प्रश्न है कि उच्चतम् कीमत-स्तर कितना हो। अधिकारियो को दोनो हालतो मे यह फैसला करना पडेगा कि कौन सा कीमत-स्तर सामान्य तथा उपयुक्त होगा। यह कहा जा सकता है कि कीमत-स्तर वही निर्धारित किया जाना चाहिये जो उस समय होता जब उस उद्योग मे पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था होती और इसके लिये उस वस्तु के उत्पादन मे काम आने वाले साधनो की कीमतो का सहारा लिया जाना चाहिये। जहा तक उन ससाधनो का प्रश्न है जिन्हे हम कच्चा माल कहते हैं, उनको तो विक्रयेकाधिकारी प्राय क्रय करता है और उन पर व्यय की हुई लागत का हिसाब तो उसकी पुस्तको मे पाया जा सकता है, लेकिन यही यह आसानी समाप्त हो जाती है, कच्चे मालों ही स तो वस्तु उत्पादन हो नही सकता, उसके लिये मशीनो तथा विनियोग की जरूरत होती है। उत्पादक प्रारम्भ मे विनियोग करता है और मशीनें आदि खरीदता है, अपनी वस्तु को लोकप्रिय बनाने के लिये शुरू मे लोगो को

कमीशन देता है या और अन्य उपाय प्रयोग मे ले आता है। उसे 'भूमि' खरीदनी पडती है, उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना पडता है। इन सब कामो के लिये वह धन खर्च करता है, तब कही जाकर उत्पादन का कार्य शुरू हो सकता है। यदि इस विनियोग के बदले उसे पर्याप्त आय की आशा न हो तो वह यह सब झंझट क्यों करेगा ? इसलिये कीमत निर्धारण का मुख्य प्रश्न अब यह हो जाता है कि विक्रयेकाधिकारी के विनियोग पर उसे क्या आय मौजूदा परिस्थितियो मे होनी चाहिये। लेकिन यह गुत्थी तभी सुलझ सकती है जब पहले इस बात का निश्चय किया जा सके कि विक्रयेकाधिकारी का विनियोग कितना है। केवल विनियोग का निश्चय हो जाना ही काफी नही क्योकि हो सकता है कि विनियोग विक्रयेकाधिकारिक स्थिति पर पहुचने के लिये अनुचित मात्रा मे किया गया हो—सम्पूर्ण विनियोग पर (जो प्रारम्भ मे उत्पादक ने किया था) आय निर्धारित करना उचित नही, केवल 'उचित' विनियोग का ही विचार किया जाना चाहिये। यह याद दिला देना आवश्यक है कि यह समस्त क्रियाविधि कठिनाइयो से भरपूर है।[14] फिर भी सूक्ष्म-स्थूल रूप से यही मार्ग ग्रहण किया जा सकता है।

तो कीमत निर्धारित करते समय इस बात पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि कीमत ऐसी रहे जिससे कि उत्पादक को अपनी पूजी पर समुचित आय प्राप्त हो सके। ४½ से लेकर ७ प्रतिशत की आय प्राय पर्याप्त मानी जाती है, लेकिन व्यवसाय मे जोखिम आदि बातो को ध्यान मे रखकर यह दर निर्धारित की जाती है। इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता है कि सम्पूर्ण पूंजी का पूर्ण कुशल तथा योग्यता के साथ उपयोग हो रहा है।

अब प्रश्न आता है पूजी-मूल्य निर्धारण का (किस पूजी पर यह आय की दर निश्चित की जाय ?)

तमाम कठिनाइयो के बावजूद भी पूजी मूल्य के निर्धारण की निम्नलिखित तीन विधिया प्राय काम मे लाई जाती हैं।

(1) प्रारम्भिक लागत पहले निकाल ली जाती है। इस प्रारम्भिक लागत मे से उतनी लागत घटा दी जाती है जो विक्रयेकाधिकार या अन्य ऐसे अनुचित अधिकारो को प्राप्त करने के लिये व्यय की गई है तथा जो प्रतियोगिता की अवस्था मे बिल्कुल अनावश्यक होती। लेकिन यह निश्चय करने मे बडी ही सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। प्रारम्भिक आय में से उसका अनुचित अश घटाने के बाद तब मशीनों आदि पूंजी-सम्पत्तियों मे होने वाली घिसाई को अवशेष प्रारम्भिक लागत में से घटाया जाता है जो फल आता है, वही मौजूदा पूजी-मूल्य मान लिया जाता है तथा उसी पर आय निर्धारित की जाती है। प्रारम्भिक लागत से यहाँ

14 See Pigou's "Welfare Economics" Ch. XXI.

अभिप्राय उन समस्त विनियोगो से है जो शुरू से लेकर मौजूदा समय तक समय समय पर किये गये हैं।

(ii) मौजूदा पुनरुत्पादन-लागत इससे अभिप्रेत है वह लागत जिसके व्यय द्वारा हम विक्रयेकाधिकारी के पूजी-उपकरणो की प्रचलित कीमतो पर प्रतिस्थापना कर सकें। अर्थात् यदि विक्रयेकाधिकारी के मौजूदा पूजी-उपकरणो के बदले नये पूजी-उपकरण आज बिठाने पडें तो कितना खर्च बैठेगा, इस प्रकार, प्रतिस्थापना के लिये, जितनी रकम की जरूरत हो वही पुराने पूजी उपकरणो की पुनरुत्पादन लागत कहलाती है। इस प्रकार जो मान आय उसमे से निम्नलिखित घटा द —

(क) पुराने उपकरणो की घिसाई तथा

(ख) उनम से जो बिल्कुल बेकार हो गये हो उनकी कीमतें।

इसके लिय मशीनों का कार्य काल अर्थात् वे कितने दिन काम कर सकती हैं, उनमे कितना मूल्य ह्रास आ गया है, किसी नये आविष्कार आदि से वे बेकार तो नही हो गई। आदि बातो पर विचार करना पडेगा।

(iii) उपकरणो का पूजीकृत मान या बट्टा कटा हुआ मान। विक्रयेकाधिकारी के उपकरणो का बट्टा कटा हुआ मान निकाल लिया जाता है। बट्टा कटे हुए मान से अभिप्राय क्या है ? हम एक उदाहरण लेते हैं। यदि ब्याज की दर ५ प्रतिशत हो तो यदि आज हम १०० रु रख दें तो वर्ष के अन्त मे हमे १०५ रु. मिल जायगा। तो आज हम यह कह सकत हैं कि १०५ रु का पूंजीकृत या बट्टा कटा हुआ मान आज १०० र है। मशीनो का पूजीकरण इसी प्रकार हम करते हैं। मौजूदा ब्याज की दर पर इसका बट्टा कटा हुआ मान हम निकाल सकते हैं। यह तरीका बहुत व्यवहार सगत नहीं है।

प्रथम दो तरीके पाश्चात्य देशो मे प्राय अपनाये जाते हैं। यदि सामान्य कीमत स्तर मे अधिक घट बढ न हो तो प्रथम दो विधियो द्वारा निकाले गये मानो में अधिक अन्तर न होगा। लेकिन इन दोनो मे भी दूसरी विधि अपेक्षतया अधिक उपयुक्त है।

यदि हम यह मान भी लें कि वह पूजी निश्चित करली गई जिस पर कि विक्रयेकाधिकारी की आय निर्भर होनी है तो भी सारी कठिनाइया दूर नही होती। यह भी तो देखना है कि विक्रयेकाधिकारी के लिये इष्टतम् उत्पादन कितना होना चाहिये। क्या कीमत निर्धारित कर दिये जाने ही से विक्रयेकाधिकारी स्वय इष्टतम् उत्पादन करने लगेगा ? यह आवश्यक नही। यदि उद्योग ऐसा है जिसमे उत्पादन मे क्रमगत ह्रास का सिद्धान्त लागू होता है, या दूसरे शब्दो मे, जिसमे औसत लागत बढ रही है तो कीमत निर्धारित कर देने ही से विक्रयेकाधिकारी इष्टतम् राशि में उत्पादन नही करेगा।

अधोंकित चित्र द्वारा हम यह दिखा सकते हैं कि यदि उत्पादन की औसत लागत में वृद्धि हो रही है तथा अधिकारियो ने कीमत निर्धारित कर दी है तो

विक्रयेवाधिकारी इष्टतम् मात्रा मे उत्पादन नहीं करेगा जैसे कि पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में होता।

चित्र मे

सी ला = सीमान्त लागत

औ ला = औसत लागत

औ आ = औसत आय
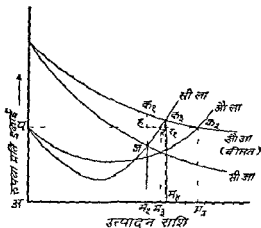
सी आ = सीमान्त आय

मान लिया कि अधिकारीगण $म_2$ $म_2$ के बराबर कीमत निर्धारित करते हैं। इस कीमत पर इष्टतम् उत्पादन राशि अ $म_2$ के बराबर होनी चाहिये, जहां कि औसत आय औसत लागत के बराबर है तथा शुद्ध आय (Net revenue) शून्य है।* अब यदि फर्म को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह जितना चाहे उतना उत्पादन करे तो साफ जाहिर है कि फर्म केवल उसी मात्रा तक उत्पादन करेगी जिस पर कि उसकी सीमान्त लागत बराबर हो जाती है निर्धारित कीमत के। चित्र मे हम देखेंगे कि सीमान्त लागत का वक्र निर्धारित कीमत के वक्र को 'र' बिन्दु पर काटता है अत फर्म केवल अ $म_3$ के बराबर ही उत्पादन करेगा। यदि फर्म पर प्रतिबन्ध न लगाया गया तो निर्धारित कीमत पर भी वह इष्टतम् मात्रा मे उत्पादन न करके उससे कम करेगा। यदि कीमत निर्धारित न की गई होती तो फर्म उतना उत्पादन

---

* कुल आय — कुल व्यय = वास्तविक लाभ .... (१)

कुल व्यय + सामान्य लाभ = कुल लागत .... (२)

दोनों समीकरणों को जोड़ने से :

कुल आय + सामान्य लाभ = वास्तविक लाभ + कुल लागत

अथवा कुल आय — कुल लागत = वास्तविक लाभ — सामान्य लाभ = शुद्ध आय

करता जिस पर कि उसकी सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर हो जाती। यही विन्दु लाभ तथा शुद्ध आय की दृष्टि से उसके लिये सर्वोत्तम होता। चित्र मे 'ज' बिन्दु पर वक्र सी ला तथा सी आ एक दूसरे को काटते हैं अत अनियन्त्रित रह कर विक्रयेकाधिकारी फर्म वस्तु की केवल अ म, राशि उत्पादित करता तथा म, क, के बराबर कीमत लेता।

यदि कीमत निर्धारित करके छोड दिया जाय तथा उत्पादन राशि के बारे मे कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय तो फर्म इष्टतम् राशि से कम उत्पादन करेगा। यदि 'र' बिन्दु 'ह' विन्दु से बाईं ओर हो (जैसा कि तब होगा जब औसत आय तथा लागतो के वक्र मूल बिन्दु अ की ओर उन्नतोदर (Convex) हो या यदि लागतो के वक्र नतोदर (Concave) भी हो तो औ आ काफी उन्नतोदर हो) तो निर्धारित कीमत की हालत मे विक्रयेकाधिकारिक मात्रा के बराबर भी उत्पादन न होगा अर्थात् अ म$_2$ कम होगा अ म$_1$ से।

यदि 'र' बिन्दु 'ह' बिन्दु पर ही हो (जैसा कि तब होगा जब सब वक्र सरल रेखाएँ हो) तो उत्पादन विक्रयेकाधिकारिक राशि के बराबर होगा अर्थात् अ म$_2$=अ म$_1$

यदि 'र' बिन्दु 'ह' बिन्दु के दाहिनी ओर स्थित होगा जैसा कि पीछे दिये चित्र मे है तो उत्पादन पूर्णप्रतियोगिता मे सम्भव (इष्टतम्) राशि से कम तथा विक्रयेकाधिकारिक राशि से अधिक होगा। इसलिये कीमत निर्धारित करते समय यह निश्चय कर देना भी आवश्यक है कि फर्म को उतनी मात्रा मे उत्पादन करना पडेगा जितनी मात्रा निर्धारित कीमत पर पूर्णतया बिक (खप) जाय।

यह प्रश्न उस हालत मे न उठेगा जब उत्पादन क्रमगत वृद्धि या स्थिर स्थिति मे हो रहा है अर्थात्, जहा औसत लागत उत्पादित राशि मे वृद्धि के साथ साथ या तो कम हो रही है या स्थिर है, क्योकि इन दशाओ मे फर्म निर्धारित कीमत पर स्वयमेव इष्टतम् उत्पादन करेगी, ऐसा ही करने से उसे उच्चतम लाभ होगा।

लरनर आदि कुछ अर्थशास्त्रियो ने कीमत निर्धारण का एक और सुझाव दिया है। उनके मन्तव्यानुसार निर्धारित कीमत बराबर होनी चाहिये सीमान्त लागत के। क्योंकि यदि यह मान लें कि सीमान्त लागत वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने के लिये आवश्यक ससाधनो के मूल्य की माप है तथा निर्धारित कीमत सीमान्त लागत से अधिक है तो यह साफ जाहिर है कि उत्पादन मे वृद्धि करना हितकर होगा, कारण यह है कि ऐसी दशा मे अतिरिक्त इकाइयो के उत्पादन मे प्रयुक्त होने वाले ससाधनो के मूल्य से अधिक सामाजिक मूल्य (कीमत के द्वारा नापा हुआ) की सृष्टि की जा सकती है, समाज को बलिदान से कही अधिक तुष्टि प्राप्त होगी। समाज को अतिरिक्त इकाइयों के उत्पादन के लिये आवश्यक ससाधनों

का बलिदान करना होगा। इस बलिदान को हम इन ससाधनो के मूल्य द्वारा माप सकते हैं, लेकिन समाज को इनसे तुष्टि अधिक मिलेगी। इस तुष्टि को हम कीमत द्वारा मापते हैं, जो समाज उन अतिरिक्त इकाइयो के लिये खर्च करने को तैयार है। इसलिए अतिरिक्त ससाधनो का मूल्य जब तक कीमत से कम होगा तब तक उत्पादन मे वृद्धि समाज के लिये हितकर होगी।

अब यदि यह मान लें कि सीमान्त लागत निर्धारित कीमत से अधिक है तो साफ जाहिर है कि ससाधनो का दुरुपयोग हो रहा है, उन्हे उत्पादन के किसी अन्य क्षेत्र मे लगाना समाज के लिये अधिक हितकर होगा।

अत निर्धारित कीमत सीमान्त लागत के बराबर होनी चाहिये। हमारे पृष्ठ ४७६ पर दिये गये चित्र मे यह कीमत क$_3$ म$_4$ द्वारा व्यक्त की गई है तथा इष्टतम् उत्पादन की मात्रा अ म$_4$ द्वारा।

उत्पादन-वृद्धि के साथ-साथ यदि औसत लागत भी बढ रही है, जैसा हमारे पृष्ठ ४७६ पर दिये गये चित्र म है तो यहा भी अधिकारियो को कीमत निर्धारण के समय यह निश्चय कर देना होगा कि फर्म इष्टतम् उत्पादन (अ म$_4$) से कम उत्पादन नही कर सकेगा, अन्यथा फर्म अ म$_3$ के बराबर ही उत्पादन करना पसन्द करेगी—क्योंकि 'र' बिन्दु पर भी यह शर्त पूरी हो जायगी।

लेकिन सबसे अधिक असगत बात तब होगी जब औसत लागत (तथा सीमात लागत) उत्पादन मे वृद्धि के साथ साथ कम होती जा रही हो। ऐसी हालत में सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र के नीचे होगा अर्थात् सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी और यदि कीमत सीमान्त लागत के बराबर निर्धारित की जाती है तो स्पष्ट है कि फर्म को सामान्य लाभ से भी कम लाभ मिलेगा अर्थात् उसे घाटा लगेगा। घाटा लगने पर फर्म अपना कारोबार बन्द होने पर विवश हो जायगी। इसलिये सरकार को अनुपूर्ति द्वारा उस घाटे को पूरा करना होगा अन्यथा फर्म बन्द हो जायगी। अत प्रथम तरीका अधिक उपयुक्त माना गया है।

कर तथा अनुपूर्ति द्वारा नियन्त्रण—

उचित कर नीति द्वारा विक्रयेकाधिकारी के लाभाधिक्य को कम किया जा सकता है, तथा समुचित अनुपूर्ति द्वारा उसको विक्रयेकाधिकारिक मात्रा से अधिक उत्पादन करने के लिये प्रेरणा दी जा सकती है। कर तथा अनुपूर्ति के प्रयोग द्वारा ससाधनो का भी विक्रयेकाधिकारियो द्वारा दुरुपयोग रोका जा सकता है तथा उनको अधिक हितकर उपयोगीकरण की ओर भेजा जा सकता है। वास्तव मे पूजीवादी व्यवस्था मे धन तथा आय वैषम्य को दूर करने का बहुत बडा काम कर द्वारा किये जाने का प्रयत्न हो रहा है। एक निश्चित दर पर कर तथा परिवर्तनशील दर पर अनुपूर्ति या छूट—इन दोनो के सयोग से विक्रयेकाधिकारी की शुद्ध आय को ही

बीच मतभेद पैदा हो जाता है। यह स्पष्ट है कि चलती तो राजनीतिज्ञों की है। इसलिए उत्पादन सर्वदा समुचित तथा न्याय-संगत नहीं होता। उत्पादन मे जनता की पसन्दगी-नापसन्दगी काम नहीं करती। उत्पादन उस वस्तु का किया जाता है जिसको कि प्राय अविशेषज्ञ, राजनीतिज्ञ पसन्द करते हैं न कि जिसको जनता पसन्द करती है।

कभी कभी ऐसी मशीन बिठा दी जाती हैं जिनका पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता। फिर सरकार उत्पादन मे हानि को अन्यत्र कहीं से पूरा करती है। कभी कभी सरकारी व्यवसायो के घाटे को जनता कर के रूप म सहती है।

इस प्रकार की तमाम बातें सरकारी स्वामित्व तथा अधिकार के बारे मे कही जा सकती हैं। लेकिन आज की वास्तविकताएँ इसके पक्ष मे है—सरकारें सदा के लिये इस क्षेत्र म पदार्पण कर चुकी हैं। बहुत सी भ्रान्तियां तो अब तक गलत साबित हो चुकी हैं लेकिन आलोचनाओ म अब भी बहुत कुछ सार है। प्रश्न यह नहीं कि सरकारी अधिकार तथा प्रबन्ध दोष युक्त है कि नहीं—इस ससार मे निर्दोष तथा पूर्ण वही है जो इसमे नहीं है। यदि दो प्रणालियो के बीच हमे चुनाव करना पडे तो हम उनम से वह चुनेंगे जो कम दोष वाली हो। सरकार द्वारा सचालित व्यवसायो तथा उत्पादन का प्रबन्ध कई भांति किया जा सकता है—इनमे सबसे अधिक उपयुक्त तथा लोक प्रिय तरीका है 'कॉर्पोरेशनो' द्वारा। सरकार कानून द्वारा इन 'कॉर्पोरेशनो' का निर्माण करती है तथा य कॉर्पोरेशन अपने दैनिक कार्यों मे बाह्य नियन्त्रण तथा प्रभाव से मुक्त होते है। हमारे देश मे 'लाइफ इन्श्योरंस कॉर्पोरेशन', दामोदर घाटी कॉर्पोरेशन आदि इसके उदाहरण हैं।

विभेदित विक्रयेकाधिकार या कीमत विभेदीकरण——

एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न इकाइयों को भिन्न भिन्न भाव पर बेचना कीमत विभेदीकरण (Price discrimination) कहलाता है। यदि कोई विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु की प्रत्येक इकाई को अलग अलग भाव मे बच सके तो इस पूर्ण विभेदित विक्रयेकाधिकार की अवस्था कहेंगे। व्यावहारिक जगत म कीमत विभेदीकरण वस्तु-इकाई पर नहीं अपितु व्यक्तियों के भिन्न भिन्न वर्गों के बीच किया जाता है। विक्रयेकाधिकारी एक वर्ग के व्यक्तियों से एक कीमत लेता है, दूसरे वर्ग के व्यक्तियों से दूसरी। जॉन रॉबिन्सन के अनुसार एक ही फर्म द्वारा उत्पादित उसी वस्तु को भिन्न भिन्न क्रेताओं के हाथ भिन्न भिन्न भाव पर बेचना कीमत विभेदीकरण करना कहलाता है।

उद्देश्य——

भिन्न भिन्न व्यक्तियों या व्यक्ति[15] वर्गों से भिन्न भिन्न कीमत लेने का उद्देश्य क्या होता है? निजी व्यवसाय मे कीमत विभेदीकरण के प्रमुख रूप से दो उद्देश्य होते हैं। सर्वप्रथम, विक्रयेकाधिकारी ऐसा करके अधिक से अधिक लाभ कमाना

15 Economics of Imperfect Competition P. 179

चाहता है, दूसरे, इस कीमत विभेदीकरण की नीति द्वारा वह अन्य क्षेत्रों में भी अपने विक्रयेकाधिकार की स्थिति को सुदृढ बनाना या उसे प्राप्त करना चाहता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कीमत विभेदीकरण [जो राशिपातन (Dumping) कहलाता है] में बाद वाला उद्देश्य अधिक महत्वपूर्ण होता है। देश मे, जहाँ फर्म को विक्रयेकाधिकार प्राप्त है, अधिक कीमत पर माल बेचना और विदेश मे कम कीमत पर—इस नीति के उदाहरण हमे बहुत मिलेंगे। अभिप्राय यह होता है कि विदेश मे कीमत-कटौती की होड लगाकर स्थानीय विक्रेताओ का दिवाला निकाल दें और विक्रयेकाधिकार प्राप्त कर लें।

सरकारी या अर्द्ध सरकारी विक्रयेकाधिकारो मे अधिक लाभ के साथ साथ सार्वजनिक कल्याण का भी ध्यान रक्खा जाता है। कीमत विभेदीकरण सर्वदा *अनुचित नही, बल्कि कहीं कही तो आवश्यक होता है।*

कीमत विभेदीकरण के कारण—

कीमत विभेदीकरण द्वारा विक्रयेकाधिकारी अपना लाभ उच्चतम् करना चाहता है, *लेकिन किन हालता म वह ऐसा कर पाता है ? यहाँ हम यदि उपभोक्ता* के दृष्टिकोण से देखें तो हम पता चलेगा कि कोई उपभोक्ता प्रसन्नता से यह पसन्द न करेगा कि वह विक्रयेकाधिकारियो द्वारा लूटा जाय। फिर उपभोक्ता का शोषण विक्रयेकाधिकारियों द्वारा सम्भव कैसे होता है ? यदि हम गौर करें तो देखेगें कि विक्रयेकाधिकारी के लिये कीमत विभेदीकरण इसलिये सम्भव होता है कि क्रेताओ में गतिशीलता का अभाव होता है। वे एक बाजार से दूसरी बाजार मे सरलतापूर्वक नहीं जा पाते। कारण ?

कारण बहुत हो सकते हैं। सर्व प्रथम, उपभोक्ताओ मे बाजार की स्थिति के प्रति उदासीनता होती है तथा सब बाजारो की स्थितिया ठीक ठीक उन्हे ज्ञात नही होती। कहाँ कौन वस्तु सस्ती मिलेगी—इस बात का पता प्राय ग्राहको को नही *होता। अज्ञान के कारण वे बाजार के एक भाग से दूसरे मे नही जाते। या यदि* बाजार की स्थितियो का ज्ञान भी हुआ तो या तो वे इतने आलसी होते हैं कि किसी दूसरी जगह जाना ही नही चाहते (यह बात तब अधिक सम्भव होती है जब भिन्न भिन्न स्थानो पर के भावो मे मामूली फर्क है) या वे विवेकहीनता के शिकार होते हैं तथा ऊँचे दाम पर बिकने वाली वस्तु को यदि सस्ते दाम पर कही बेचा जा रहा है तो वे सस्ते दाम मे उसे न खरीदकर महगे ही दाम मे खरीदना पसन्द करते हैं। यह भी एक प्रकार की अज्ञानता ही का परिणाम है। ऐसे लोग क्रय की जाने वाली वस्तु के वास्तविक गुणो को समझते ही नही। केवल झूठी प्रतिष्ठा अथवा काल्पनिक बडप्पन पाने के लिये वे महगे दाम पर उसे खरीदते हैं।

यदि उपभोक्ता एक बाजार से दूसरे मे जाना हितकर न समझे तब भी *कीमत विभेदीकरण की नीति मे सफलता मिल सकती है। यदि सस्ते दाम पर चीज* अन्यत्र कहीं मिल भी रही हो तथा क्रेता को इसका ज्ञान भी हो तो भी हो

सकता है कि दूरी के कारण वह उस स्थान पर न जा सके। मान लिया कि मैं लखनऊ का निवासी हूँ। अब यदि कोई साइकिल मुझे लखनऊ में १७५ रु मे मिल रही हो तथा दिल्ली म उसी का दाम १६० रु ही है तो भी मैं दिल्ली जाना पसन्द न करूंगा तथा लखनऊ ही मे साईकिल खरीदूंगा—क्योंकि जितनी मुझे वहाँ साईकिल सस्ती मिलेगी उतने से अधिक मेरा किराया तथा समय खर्च हो जायगा। फिर हो सकता है कि एक स्थान दूसरे से राज्य की सीमाओं द्वारा अलग किया गया हो—दोनो स्थानो के बीच मे यातायात तथा आवागमन सम्बन्धी प्रतिबन्ध हो। ढाके म चीनी यदि ४ रु सेर के हिसाब से बिक रही है तथा कलकत्ते मे चीनी का भाव १ रु प्रति सेर है, तो भी किसी पाकिस्तानी के लिये चीनी खरीदने भारत आना कठिन होगा, क्योंकि बीच मे उसे एक देश की सीमा पार कर दूसरे मे जाना होगा। वस्तु के एक बाजार से दूसरे मे ले जाने पर कानूनी प्रतिबन्ध ही नही, सामाजिक अड़चनें भी हो सकती है।

फिर सम्बन्धित वस्तु भी ऐसी हो सकती है कि उपभोक्ता को लाचार होकर ऊँची कीमत देनी होगी। जैसे यदि रेलवे कोयले का किराया १० रु प्रतिटन लेती है तथा उतनी ही दूर लोहा ले जाने के लिये १२ रु प्रतिटन का भाव मांगती है तो लोहे का भाडा अधिक पड अवश्य रहा है लेकिन भाडा कम कराने के लिये हम अपने लोहे का कोयला नही बनायेंगे।

कीमत विभेदीकरण के आधार तथा ढंग—

हम यह जानते हैं कि कीमत विभेदीकरण का उद्देश्य होता है अधिकतम लाभ अर्जित करना। इसलिये विक्रयेकाधिकारी अपने क्षेत्र का बटवारा उपभोक्ताओं की क्षमता का दृष्टिगत रख कर करता है जिस उपभोक्ता को जितनी ही अधिक आवश्यकता तथा क्षमता होगी उससे उतनी ही अधिक कीमत ली जायगी। जिन उपभोक्ताओं की उस वस्तु के लिये माग अपक्षत लोच है उनसे अपेक्षाकृत अधिक कीमत ली जायगी। कीमत विभेदीकरण के दृष्टिकोण से उपभोक्ताओं का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारो पर अग्रसर किया जाता है।

(क) क्रय मात्रा—थोक खरीदने वालो को खुदरा खरीदने वालो से कम कीमत मे वस्तु को बेचना इसका उदाहरण है।

(ख) क्रय स्थान—विक्रयेकाधिकारी की वस्तु की माग की लोच भिन्न भिन्न स्थानो पर भिन्न भिन्न हो सकती है। माग की लोच के अनुसार ही विक्रयेकाधिकारी बाजारो का बटवारा करेगा, जहाँ माग की लोच जितनी ही अधिक है वहाँ उतनी ही कम कीमत होगी।

(ग) क्रेता की आय—कभी कभी अधिक आय वाले क्रेताओं से अधिक कीमत ली जाती है अर्थात् कीमत का आधार क्रेता की आय होती है। डाक्टर तथा वकील अपनी फीस लेते समय इस बात का अक्सर ख्याल रखते हैं कि उस व्यक्ति की आय कितनी है। अक्सर अमीरो से वे अधिक फीस लेते हैं।

(घ) **वस्तु का उपयोग**—विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु के उपयाग के आधार पर भी कीमत विभेदीकरण कर सकते हैं। रेलवे भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओ के ढोने का भिन्न भिन्न किराया लेती है। बिजली कम्पनिया बिजली के भिन्न भिन्न भाव उपयोगानुसार निर्धारित करती हैं। अक्सर घरलू खर्चे के लिये बिजली का भाव अधिक तथा मशीनो आदि मे उपयोग के लिय कम होता है।

(ङ) **वस्तु क्रय का समय**—भिन्न भिन्न समय पर विक्रयकाधिकारी भिन्न भिन्न कीमत ले सकता है। डाक्टर को रात मे अपने घर बुलाने मे दिन की अपेक्षा अधिक फीस देनी पडेगी। हमारे देश म टलीफोन पर ट्रक काल करने के चार्ज समयानुसार घटते बढते रहते हैं। यदि हमे दिल्ली से कलकत्ता को ट्रक कॉल करना है तो १० बजे रात के बाद ट्रक कॉल करने से खर्च कम बैठगा, इस प्रकार समय के अनुसार ट्रक कॉल का भाव भी निश्चित होता है।

(च) क्रेता की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर भी भाव निर्भर हो सकता है। यदि विशेष ऑर्डर पर माल अनुपस्थित ग्राहक के हाथ बेचा गया तो प्राय कीमत अपेक्षाकृत अधिक होगी।

उपर्युक्त आधारो के अतिरिक्त और आधार भी हो सकत हैं। स्त्री-पुरुष, वयस्क तथा बच्चे, जाति तथा रग आदि और बहुत सी बातो पर भी कभी कभी कीमत विभेदीकरण किया होता है।

कीमत विभेदीकरण की सफलता की शर्तें —

कीमत विभेदीकरण की सफलता कतिपय शर्तों पर निर्भर है। प्रो० पीगू के अनुसार कीमत विभेदीकरण तभी सफल होगा जब वस्तु की किसी एक इकाई की माग-कीमत पर उसकी अन्य इकाइयो की विक्रय कीमत का कोई प्रभाव न पडे। यह तभी सम्भव होगा जब न तो एक बाजार मे बेची हुई वस्तु इकाइयाँ किसी अन्य बाजार मे स्थानातरित की जा सकेगी और न एक बाजार की माग किसी दूसरे को स्थानातरित की जा सकेगी। लेकिन यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि कीमत विभेदीकरण का सारा सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि भिन्न भिन्न बाजारो मे वस्तु की माग की भिन्न भिन्न लोच होगी। इस प्रकार स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि कीमत विभेदीकरण की शर्तें निम्नलिखित हैं।

(१) वस्तु का उत्पादन विक्रयेकाधिकार की स्थिति मे होना हो, यदि अपूर्ण प्रतियोगिता हो तो यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न फर्मों के बीच कीमत के विषय मे समझौता हो। पूर्ण प्रतियोगिता तथा कीमत विभेदीकरण एक दूसरे के विरोधाभास हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना कर लेने पर कीमत विभेदीकरण हम कर ही नही सकते। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे क्रेताओ तथा विक्रेताओ की सख्या पर्याप्त रूप से अधिक होती है, उन्हे बाजार की स्थिति का पूरा पूरा ज्ञान होता है, कीमत दी हुई होती है, क्रेताओ मे पूर्ण गतिशीलता होती है, माग अत्यधिक लोचदार होती है तथा प्रत्यक क्रेता उच्चतम तुष्टि प्राप्त करने के लिये विवेकपूर्ण

रूप से अपने धन को खर्च करता है। इन परिस्थितियों में कीमत में भेद भाव बिल्कुल सम्भव ही नही है। इसलिये कीमत विभेदीकरण की सफलता के लिये विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियों का पाया जाना परमावश्यक है।

(२) इसकी सफलता की दूसरी शर्त है भिन्न-भिन्न बाजारो या ग्राहक वर्गों के बीच उस वस्तु या सेवा की माग लोच। यदि हम दो बाजारो को लें तो इन दोनों मे भिन्न-भिन्न कीमत चार्ज करने के लिये यह आवश्यक है कि यदि वस्तु को एक ही कीमत पर दोनो बाजारो मे बेचा जाय तो इनमे खरीदी जाने वाली वस्तु मात्रायें एक दूसरे से भिन्न हो। अर्थात दोनो बाजारो मे माग तीव्रता भिन्न भिन्न डिग्री मे पाई जाती हो। यदि एक ही कीमत पर दोनो बाजारो मे माग लोच समान हुई तो कीमत विभेदी करण से विक्रयेकाधिकारी को कोई लाभ न होगा, क्योकि अपनी वस्तु को एक बाजार से दूसरे मे स्थानान्तरित करके वह कोई लाभ न उठायेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि दोनो बाजारो मे औसत आय तथा सीमान्त आय भिन्न भिन्न हो।

बीजगणित के द्वारा हम यह देख सकते हैं कि सीमान्त आय सी आ = कीमत $\left(१-\frac{१}{\text{लोच}}\right)$। अब यदि एक बाजार (क) मे —

$$\text{सी आ}_1 = \text{की}_1\left(१-\frac{१}{\text{लो}_1}\right)$$

की$_1$ = प्रथम बाजार म कीमत
लो$_1$ = प्रथम बाजार मे लोच

तथा दूसरी (ख) मे—

$$\text{सी आ}_{11} = \text{की}_{11}\left(१-\frac{१}{\text{लो}_{11}}\right)$$

की$_{11}$ = दूसरे बाजार मे कीमत
लो$_{11}$ = दूसरे बाजार मे लोच

यदि की$_1$ = की$_{11}$

$$\text{तो}\quad \frac{\text{सी आ}}{\text{सी आ}_{11}} = \frac{१-\frac{१}{\text{लो}_1}}{१-\frac{१}{\text{लो}_{11}}}$$

$$\text{या}\quad \text{सी आ}_1\left(१-\frac{१}{\text{लो}_{11}}\right) = \text{सी आ}_{11}\left(१-\frac{१}{\text{लो}_1}\right)$$

सी आ$_1$ तथा सी आ$_{11}$ का मूल्य $\left(१-\frac{१}{\text{लो}_{11}}\right)$ तथा $\left(१-\frac{१}{\text{लो}_1}\right)$ पर निर्भर करता है।

$$\text{यदि लो}_1 = \text{लो}_{11}\text{ तो}\quad १-\frac{१}{\text{लो}_{11}} = १-\frac{१}{\text{लो}_1}\text{ तथा}$$

सी आ$_{I}$ = सी आ$_{II}$ तो

लेकिन यदि $१ - \frac{१}{लो_{I}} > १ - \frac{१}{लो_{II}}$ से (> = बड़ा है)

तो सी आ$_{II}$ बड़ा होगा सी आ$_{I}$ से

$\left(१ - \frac{१}{लो_{I}}\right), \left(१ - \frac{१}{लो_{II}}\right)$ से तभी बड़ा होगा

जब लो$_{II}$ छोटा होगा लो$_{I}$ से

इसलिये यह सिद्ध हो गया कि अधिक लोच वाले बाजार मे सीमान्त आय अधिक होगी तथा विक्रयेकाधिकारी को कीमत विभेद से लाभ होगा। यदि लोच समान हुई तो सीमान्त आय बराबर होगी और दोनो बाजारो मे कोई भेद न होगा।

(३) कीमत विभेदीकरण की सफलता की तीसरी शर्त यह है कि बाजार एक दूसरे से इस प्रकार अलग हो कि कोई व्यक्ति सस्ते बाजार से वस्तु महगे बाजार मे न भेज सके। तथा न एक बाजार का क्रेता दूसरे बाजार मे जाकर वस्तु खरीद सके। विशिष्ट सेवाओ की हालत मे यह शर्तें अधिक पूरी होती हैं। जैसे बम्बई में सस्ते डाक्टर की सेवा को खरीदकर कोई अहमदाबाद, जहा यह सेवा महगी है, नहीं भेज सकता। इसी प्रकार यदि कोयले की भाड़ा-दर कम है तथा लोहे की अधिक तो भाड़ा कम देने के लिये कोई अपने लोहे को कोयला नही बना देगा या लोहे का कारबार छोड़ कर कोयले का कारबार नही कर लेगा।

—:०:—

...१८

विक्रयेकाधिकार-संस्थिति

पहले विस्तारपूर्वक हम विक्रयेकाधिकार की समस्या पर विचार कर चुके हैं। इस हालत मे विक्रयेकाधिकारी फर्म ही सम्पूर्ण उद्योग होता है, इसके उत्पादन का कोई निकट स्थानापन्न नही होता।

विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत लागतें तथा आय—

विक्रयेकाधिकारी फर्म के लागत वक्र आकार में वैसे ही होंगे जैसे कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम करने वाले फर्म के। लेकिन यह कहना कठिन है कि विक्रयेकाधिकार मे पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा लागत वक्र ऊचे होंगे अथवा नीचे। विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत कोई पूर्ति वक्र नही होता, क्योंकि इसमे कोई ऐसा वक्र नही होता जो कीमत तथा उत्पादन मे सम्बन्ध स्थापित करता हो। किसी सीमा तक सीमान्त लागत वक्र को हम पूर्ति वक्र मान सकते हैं किन्तु कठिनाई यह है कि इस हालत में सस्थिति माग तथा पूर्ति मे साम्य स्थापित करती नही दिखाई देती। विक्रयेकाधिकारी के विषय मे यह माना जा सकता है कि वह अपने उत्पादन के लिये मांग वक्र का पूर्ण ज्ञान रखता है। यदि माग वक्र दिया हुआ हो तो विक्रयेकाधिकारी या तो उत्पादन-मात्रा निश्चित करेगा तथा माग वक्र इस उत्पादन-मात्रा के सदर्भ मे कीमत निर्धारित करेगा अथवा विक्रयेकाधिकारी अपनी कीमत निश्चित करेगा जिसके सदर्भ मे माग वक्र उत्पादन मात्रा निर्धारित करेगा। कीमत अथवा उत्पादन-मात्रा निश्चित करते समय विक्रयेकाधिकारी इस बात का ध्यान रखता है कि उसे अधिकतम वास्तविक लाभ (Net Revenue) प्राप्त हो। उसे इस बात से प्रयोजन नही कि उत्पादन अधिकतम कुशलता के साथ किया जाना चाहिये अथवा इष्टतम मात्रा मे किया जाना चाहिये।

विक्रयेकाधिकारी की वस्तु का माग-वक्र ऋणात्मक दिशा मे (नीचे की ओर दाहिने) झुकता हुआ सम्पूर्ण उद्योग का वक्र होता है। चूकि उपभोक्ताओं की मांगो को पूरा करने वाला यह फर्म अकेला होता है, इसलिये माग वक्र का अन्दाजा यह लगा लेता है तथा तदनुसार ही अपनी विक्रय योजना बनाता है। इसलिये माग वक्र को यहा हम विक्रय वक्र, कीमत वक्र अथवा औसत आय वक्र भी कह सकते हैं।

इसी वक्र के संगति फर्म का सीमान्त आय वक्र होगा। सीमान्त आय वक्र औसत आय (मांग) वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे गिरता है।

आय वक्रों के सम्बन्ध में, पीछे, हम यह दिखा चुके हैं* कि,

$$\text{सीमान्त आय} = \text{औ}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$ [जहां औ = औसत, लो = माग की लोच

$$\text{अर्थात्} \quad \text{सी आ} = \text{औ}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right) \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots (१)$$

$$= \text{औ} - \frac{\text{औ}}{\text{लो}}$$

$$\therefore \quad \frac{\text{औ}}{\text{लो}} = \text{औ} - \text{सी आ} \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots (२)$$

अथवा, स्थानान्तरण द्वारा

$$\frac{\text{औ}}{\text{औ} - \text{सी आ}} = \text{लो} \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots (३)$$

उपर्युक्त तीनों सूत्र बड़े उपयोगी हैं।

औ औसत आय तथा लोच मालूम होने से हम सी आ निकाल सकते हैं। अर्थात् इन तीनों (औ अर्थात् औसत आय, सी आ तथा लोच) में से कोई दो ज्ञात होने से तीसरा हम निकाल सकते हैं।

यदि लो = १ के मान लें तो सूत्र न० १ के अनुसार

$$\text{सी आ} = \text{औ}\left(१ - \frac{१}{१}\right)$$

$$= \text{औ} \times ०$$

$$= ०$$

अर्थात् जब माग की लोच १ है तो सीमान्त आय शून्य होगी।

---

* आय वक्रों को पीछे देखिए। साधारणतः विक्रयेकाधिकार की हालत में माग की लोच अधिक होती है लेकिन यह लोच अनन्त से कम होती है। लोच के अधिक होने का कारण यह है कि परिभाषा के अनुसार विक्रयेकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु का कोई निकट स्थानापन्न नहीं होता।

यदि लोच १ से अधिक, मान लिया २ है तो

$$\text{सी आ} = \text{की}\left(१ - \frac{१}{२}\right)$$

$$= \text{की} \times \frac{१}{२}$$

∴ सी आ का मूल्य धनात्मक है।

यदि लोच १ से कम है तो

$\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$ का मूल्य ऋणात्मक होगा तथा

सी आ भी ऋणात्मक होगी।

यदि हम यह मानले कि विक्रयेकाधिकारी की उत्पादन लागत शून्य है तो वह अपना उत्पादन तब तक बढाता जायगा जब तक कि उत्पादन की प्रत्येक इकाई को बेचने से उनको कुल आय मे कुछ वृद्धि हो सकती है अर्थात जब तक सीमान्त आय शून्य से अधिक है। जब सीमान्त आय शून्य हो जायेगी तो वस्तु की अतिरिक्त इकाई के उत्पादन से विक्रयेकाधिकारी अपनी कुल आय मे कोई वृद्धि नही ला सकेगा। तत्पश्चात् सीमान्त आय ऋणात्मक हो जायगी तथा वृद्धि के बजाय कुल आय मे, आगे उत्पादन से ह्रास पैदा हो जायगा। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि विक्रयेकाधिकारी की कुल आय अधिकतम उस विन्दु पर होगी (यदि उत्पादन लागत शून्य है तो) जहा कि सीमात आय शून्य हो जायगी। स्पष्ट है कि यहा माग की लोच इकाई होगी।

यदि विक्रयेकाधिकारी को उत्पादन लागत देनी पडती है तो परिस्थिति वदल जायगी। ऐसी हालत मे हमारा यह व्यापक नियम लागू होता है कि फर्म को अधिकतम लाभ तभी प्राप्त होगा जब उसकी सीमान्त आय बराबर हो जाय उसकी सीमात लागत के। वह उत्पादन-मात्रा जिस पर कि सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर हो जाती है सस्थिति उत्पादन मात्रा होगी। यह मात्रा कितनी होगी—यह अन्य परिस्थितियो पर निर्भर है। यदि उत्पादन क्रमगत उत्पादन ह्रास के अन्तर्गत हो रहा है तथा माग काफी बेलोच है तो इस उत्पादन की मात्रा न्यूनतम होगी।

यदि उत्पादन क्रमगत उत्पादन-वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रहा है तथा माग पर्याप्त-रूपेण लोचदार है तो यह उत्पादन राशि (सस्थिति की) सर्वाधिक होगी। पहली हालत मे विक्रयेकाधिकारी वस्तु की अल्पमात्रा ऊची कीमत पर बेचकर अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा तथा दूसरी हालत मे अधिक वस्तु मात्रा अपेक्षाकृत कम कीमत पर बेचकर अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा।

इस प्रकार हम यह देखेंगे कि यदि वस्तु का उत्पादन क्रमगत उत्पादन-ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो विक्रयेकाधिकार का लाभ इसमे है कि वह पूर्ति को सीमित करदे तथा उसे ऊ ची कीमत पर बेचे। यदि वस्तु क्रमगत उत्पादन-वृद्धि नियम

के अन्तर्गत उत्पादित हो रही है तो विक्रयेकाधिकारी अधिक वस्तु मात्रा उत्पादित कर उसको कम कीमत पर बेचकर अधिकतम लाभ उठा सकता है। यदि वस्तु समान उत्पादन नियम के अन्तर्गत उत्पादित हो रही है तो चूंकि प्रति इकाई लागत स्थिर है इसलिये उत्पादन-मात्रा माग की लोच पर निर्भर होगी। यदि माग पूर्णतया लोचदार होगी तो स्थिर लागत की दशा मे विक्रयेकाधिकारी अपनी पूरी उत्पादन शक्ति से अधिकतम उत्पादन कर उसे कम कीमत पर बचेगा। लोच कम होने मे इसका उल्टा लाभ होगा।

अब हम विक्रयेकाधिकारी सस्थिति पर प्रकाश डालेंगे। हम दो तरह मे देखेंगे। एक हालत तो वह जबकि विक्रयेकाधिकारी सर्वशक्तिमान् है अर्थात उसे किसी भावी प्रतिभोगी पैदा होने का डर नही है तथा न डर है नियन्त्रण का। दूसरी स्थिति वह जब विक्रयेकाधिकारी को यह डर है कि लाभ अत्यधिक होने से प्रतिद्वन्द्वी उद्योग मे प्रवेश कर सकते हैं।

नये प्रतिद्वन्द्वी के प्रवेश का डर न होने पर सस्थिति—

विक्रयेकाधिकारी फर्म ही इस अवस्था मे पूरे उद्योग के बराबर होता है, अत फर्म का विश्लेषण ही सपूर्ण उद्योग का विश्लेषण होगा। बाजारकालीन अवधि मे विक्रयेकाधिकारी की कीमत पर माँग का प्रभाव ही साधारण अवस्था की भाँति अधिक प्रबल होता है इसलिए उसे इस बात का डर नही होता कि कीमत अधिक होने से क्रेता अन्यत्र चले जायेंगे। इसलिये बाजार कालीन अवधि मे भी साधारणत विक्रयेकाधिकारी का कीमत पर काफी नियन्त्रण रहेगा। माग के बढ़ने पर कीमत को वह बढ़ा देगा लेकिन माग के घटने पर यह आवश्यक नही कि वह कीमत घटायेगा। लेकिन यह बात और कई बातो पर निर्भर होगी। उदाहरण के लिये वस्तु शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है कि नही। यदि वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली होगी तथा स्टॉक करके अगली अवधि के लिये न रखी जा सकेगी तो माग का प्रभाव कीमत पर अधिक पड़ेगा।

अल्पकालीन अवधि मे प्रतियोगिता वाले फर्मों की भाति विक्रयेकाधिकारी फर्म भी तब तक उत्पादन करता जायगा जब तक कि वस्तु विक्रय से उसकी औसत परिवर्तनशील लागत भी वसूल हो जाती है बशर्ते कि उसे यह पूर्ण आशा है कि भविष्य मे वह कीमत बढ़ा सकेगा।

दीर्घकालीन अवधि की सस्थिति—दीर्घकालीन अवधि मे फर्म अपने उत्पादन को माग के अनुसार पूर्णतया समायोजित कर सकता है। दीर्घकालीन सस्थिति का विश्लेषण ग्राफ की सहायता से हम तीन भिन्न-भिन्न हालतों मे दिखायेंगे :—

१. जब क्रमगत उत्पादन-वृद्धि नियम (अथवा ह्रासोन्मुख लागत) के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है।

२. जब क्रमगत उत्पादन-ह्रास (अथवा वृद्धोन्मुख लागत) नियम के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है, तथा

३ जब समान उत्पादन (अथवा स्थिर लागत) नियम के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है।

१. ह्रासोन्मुख लागत अथवा क्रमगत उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अन्तर्गत
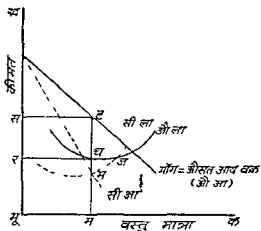
इस चित्र मे —

सी ला=सीमान्त लागत वक्र है,

सी आ=सीमात वक्र है,

औ ला=औसत लागत वक्र है ;

प बिन्दु पर सी आ तथा सी ला वक्र परस्पर एक दूसरे को काटते हैं। इस लिय विक्रयेकाधिकारी केवल मू म वस्तु मात्रा का उत्पादन करेगा। यह स्पष्ट है कि इस हालत मे औसत लागत वक्र गिर रहा है, उसका निम्नतम बिन्दु ज है जहां सी ला उसे काटता है। इसलिए उत्पादन ह्रासोन्मुख लागत के अन्तर्गत हो रहा है। लेकिन इसके बावजूद भी विक्रयेकाधिकारी का इष्टतम उत्पादन मू म है। इसको वह मू स कीमत पर बचेगा। उसकी औसत लागत मू र के बराबर है।

कुल आय=मू म ट स

कुल लागत=मू म च र

विक्रयेकाधिकारिक लाभ=कुल आय—कुल लागत

=मू म ट स—मू म च र

=र च ट स

मौजूदा लागत—दशाओं के अन्तर्गत विक्रयेकाधिकारी का अधिकतम लाभ यही हो सकता है।

२. वृद्धि-उन्मुख लागत अथवा क्रमगत उत्पादन ह्रास के नियम के अन्तर्गत
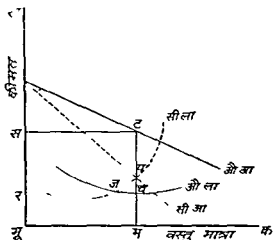
इस चित्र मे वक्रो का अर्थ वही है जो पहले चित्र मे है। केवल माग वक्र कुछ अधिक लोचदार है जिससे कि विक्रयेकाधिकारी निम्नतम औसत लागत ज विन्दु से आगे उत्पादन बढ़ाता है। प बिन्दु पर सी ला तथा सी आ वक्र एक दूसरे को काटते हैं इस लिये विक्रयेकाधिकारी की इष्टतम उत्पादन मात्रा मू म है, वह मू स कीमत पर बेचता है। स्पष्ट है कि उत्पादन इस चरण पर वृद्धि-उन्मुख लागत के अन्तर्गत हो रहा है। मू र औसत लागत है।

विक्रयेकाधिकारिक के लाभ=कुल आय—कुल लागत

=मू म ट स—मू म च र

=र च ट स

मौजूदा लागत—दशाओ के अन्तर्गत अधिकतम लाभ यही है।

३. स्थिर लागत अथवा समान उत्पादन के नियम के अन्तर्गत
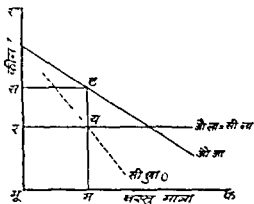
इस चित्र मे यह दिखाया गया है कि उत्पादन स्थिर लागत नियम के अन्तर्गत हो रहा है, इस लिए औ ला तथा सी ला वक्र सम्पात (Coincident) हैं। मू म इष्टतम उत्पादन-राशि है जिसे विक्रयेकाधिकारी मू स कीमत पर वेचता है स्पष्ट है कि उसका विक्रयेकाधिकारिक लाभ र प ट स के बराबर है।

उपर्युक्त वक्र दीर्घकालीन वक्र हैं, चाहे वे लागत वक्र हो अथवा आय वक्र

प्रतिद्वन्दी के प्रवेश करने का भय होने से संस्थिति तथा विक्रयेकाधिकारी की कीमत तथा उत्पादन

अब हम उस परिस्थिति पर विचार करेंगे जहा कि विक्रयेकाधिकारी को यह भय होता है कि अधिक कीमत पर वस्तु बचने तथा अधिक लाभ कमाने स नये प्रतिद्वन्द्वी फर्म उद्योग म प्रवेश करग। ये नये फर्म विक्रयेकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु ही उत्पादित कर सकते है या उसकी कोई निकट स्थानापन्न। यदि यह मान लिया जाय कि नये फर्मों के उद्योग मे प्रवेश करने पर कोई बाधा नही है तो अधिक वास्तविक आय प्राप्त करने की प्रत्याशा से उद्योग मे नये फर्म प्रवेश करगे। यह प्रत्याशा कई कारणो पर आधारित हो सकती है

(क) वस्तु की मौजूदा कीमत अधिक है,

(ख) विक्रयेकाधिकारी की वास्तविक आय बहुत ऊची है,

(ग) नये फर्म यह सोचते है कि विक्रयेकाधिकारी भली प्रकार ग्राहको की आवश्यकता की पूर्ति नही कर पा रहा है।

(घ) अथवा नये फर्म यह सोचते है कि वे वस्तु को विक्रयेकाधिकारी की अपेक्षा सस्ती लागत मे उत्पादित कर सकते है।

यदि विक्रयेकाधिकारी को इन बातो का ज्ञान होगा तो उसके समक्ष दो मार्ग होगे—पहला तो यह कि अल्पकालीन अवधि मे वह अधिकतम लाभ कमायेगा तथा अपनी बाजार प्रतियोगियो के साथ बटाने को दीर्घकालीन अवधि मे तैयार होगा। दूसरे, यह कि वह सदा के लिये विक्रयेकाधिकारी बना रहना चाहता है तथा अपनी कीमत, विज्ञापन तथा उत्पादन की टैकनीक को इस प्रकार अनुयोजित करेगा कि अन्य फर्म उद्योग मे प्रवेश करने का प्रयत्न न कर सके। यह कहना कठिन है कि विक्रयेकाधिकारी ऐसी हालत में कितनी कीमत लेगा या कितना वास्तविक लाभ कमाने का प्रयत्न करेगा अथवा विज्ञापन पर क्या व्यय करेगा आदि। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जहा नये फर्मो के प्रतियोगिता मे आने की सम्भावना होगी, वहा विक्रयेकाधिकारी अधिक उच्छृङ्खल न हो सकेगा। वह अपनी वस्तु की श्रेष्ठता तथा अपने व्यवहारो को न्यायपूर्ण बनाने के लिये अधिकाधिक विज्ञापन का सहारा लेगा तथा उत्पादन के नये-नए उपायो तथा टैकनीक द्वारा लागत को घटाने की चेष्टा करेगा। फिर भी यदि नये फर्मों के प्रवेश का भय रहा तो वह कीमत

को इतना घटा देगा कि वास्तविक ग्राय का स्तर इष्टतम से गिर जायगा। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। यदि नये फर्मों के प्रतियोगिता में आने का भय न भी रहा लेकिन विक्रयेकाधिकारी को जनता द्वारा विरोध या सरकार द्वारा हस्तक्षेप का भय है तो भी वह अपनी कीमत तथा वास्तविक आय सम्भव इष्टतम से कम रखेगा। वह अपनी कीमत कितनी रखेगा यह बताना आसान नहीं, यह बात कई परिस्थितियों पर निर्भर करती है। फिर भी हम उसकी उच्चतम तथा निम्नतम सीमा निर्धारित कर सकते हैं जिनके बीच में यह कीमत परिस्थिति अनुसार निर्धारित की जायगी।
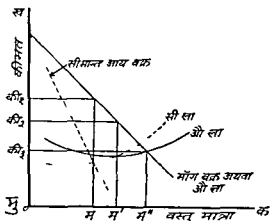
उपर्युक्त चित्र में पूर्ण विक्रयेकाधिकार की अवस्था में विक्रयेकाधिकारी उच्चतम वास्तविक आय अर्जित करने के उद्देश्य से मु क₁ के बराबर कीमत लेगा तथा इष्टतम उत्पादन मु म होगा, जबकि यदि औ ला वक्र को हम पूर्ति वक्र मान लें तो पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में कीमत मु क₃ होगी तथा उत्पादन मु म" के बराबर होगा। इसलिये प्रतिद्वन्द्विता अथवा राज्य नियन्त्रण से भयभीत विक्रयेकाधिकारी अपनी कीमत क₁ तथा क₃ के बीच किसी बिन्दु पर निर्धारित करेगा। तथा उत्पादन मात्रा म तथा म' के बीच में रखेगा। निम्नतम बिन्दु क₃ है जिससे कीमत बिन्दु सदैव ऊपर रहेगा तथा क₁ से वह सदैव नीचे रहेगा। कीमत इस बात को ध्यान में रखकर निर्धारित की जायगी कि आगन्तुक फर्म की लागत क्या पड़ेगी तथा वह कितने वास्तविक आय पाने के प्रलोभन से उद्योग में प्रवेश करने की चेष्टा करेगा।

माग परिवर्तन का विक्रयेकाधिकारी पर प्रभाव--

यह पेचीदा प्रश्न है फिर भी संक्षेप में हम इसका विवेचन करेंगे। मान लिया कि विक्रयेकाधिकारी समान उत्पादन (स्थिर लागत) नियम के अन्तर्गत कार्य कर रहा है। यदि माग में परिवर्तन हुआ तो सबसे महत्वपूर्ण चीज होगी पुरानी कीमत

पर नई माग वक्र की लोच। यदि नयी लाच पुरानी के समान है तो सीमान्त आय पूर्ववत (सीमान्त लागत के बराबर) बनी रहगी। ऐसी हालत में माग वृद्धि के फलस्वरूप कीमत में वृद्धि करने की प्ररणा विक्रयेकाधिकारी को न होगी।
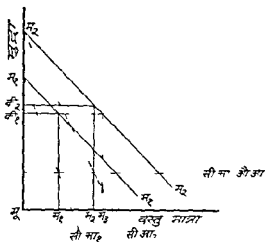
इस चित्र म स्थिर लागत को सी आ वक्र द्वारा दिखाया गया है। इस हालत मे कीमत मू की₁ की तथा उत्पादन मात्रा मू म₁। माग म₁ म₁ से स्थानान्तरित होकर म₂ म₂ पर चली जाती है। यदि म₂ म₂, म₁ म₁ की अपेक्षा कम लोचदार है तथा विक्रयेकाधिकारी कीमत को मू की₁ के बराबर ही रखना चाहता है तो उसका उत्पादन (तथा विक्रय) मू म₃ वस्तु मात्रा के बराबर होना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इतने उत्पादन पर सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम है। ऐसी हालत म वह इतना उत्पादन नही करेगा अन्यथा उसे घाटा उठाना पडेगा इसलिये वह अपनी कीमत तब तक बढायगा जब तक कि उसकी सीमान्त आय पुन उसकी सीमान्त लागत के बराबर न हो जाय। अर्थात् वह अब मू म₂ उत्पादन करेगा तथा उसे मू की₂ पर बेचेगा, अर्थात कीमत बढगी।

अब यदि नयी माग वक्र पहल से अधिक लोचदार होगी तो विक्रयेकाधिकारी को कीमत कम करने म लाभ होगा। यदि सीमान्त लागत गिर रही है तो कीमत भी गिरेगी बशर्ते कि नयी माग वक्र पुराने से कम लोचदार न हो। यदि सीमान्त लागत बढ रही है तथा नया माग-वक्र पुराने की अपेक्षा अधिक लोचदार नहीं है तो कीमत म भी वृद्धि होगी। यदि सीमान्त लागत तेजी से बढ रही है तथा नया माग-वक्र पुराने की अपेक्षा काफी कम लोचदार है तो सभव है कि कीमत इतनी बढ जाय कि माग बढने के फलस्वरूप उत्पादन म वृद्धि होने के बजाय उसमे ह्रास आ जाय। ऐसी सभावना प्रतियोगितापूर्ण उद्योग मे कभी नही हो सकती।

हमने देखा कि विक्रयेकाधिकारी तथा पूर्ण प्रतियोगिता के किसी फर्म के उद्देश्य मे कोई भिन्नता नही होती—दोनो उच्चतम वास्तविक लाभ अर्जित करना चाहते हैं। अन्तर होता है केवल परिस्थितियो का। दोनो प्रकार के फर्म की समान रूप से सस्थिति की अवस्था तभी आती है जब उनकी सीमान्त लागत बराबर हो जाय सीमान्त आय के। अब पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे हम देख चुके है कि फर्म की माग पूर्णतया लोचदार होती है। कीमत (आय) पर उसका कोई वश नही होता। कीमत उद्योग द्वारा निर्धारित होती है, उसी कीमत पर वह जितनी वस्तु-मात्रा चाहे बेच सकता है। इस प्रकार वह तब तक उत्पादन करेगा (तथा बेचेगा) जब तक कि उसकी सीमान्त आय उसकी लागत क बराबर नही हो जाती। यह सीमान्त आय कीमत के बराबर है। कीमत ही फर्म की औसत आय वक्र की निर्धारक है तथा सीमान्त लागत और औसत लागत समान हो जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे फर्म की सस्थिति मे —

सीमान्त आय=सीमान्त लागत=कीमत=औसत आय=औसत लागत। विक्रयेकाधिकारी अपनी कीमत का स्वय निर्धारक होता है। इसलिए वह अपनी कीमत को घटा-बढा सकता है। अत उसकी कीमत (औसत आय) उसकी सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत से अधिक होती है तथा उसे विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त होता है।

अत पूर्ण प्रतियोगी फर्म को दीर्घकालीन अवधि मे केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो पाता है तथा वास्तविक लाभ (अर्थात् लागत मे शामिल किये हुए लाभ से अधिक लाभ) शून्य के बराबर होता है, जबकि विक्रयेकाधिकारिक अवस्था मे यह वास्तविक लाभ धनात्मक राशि होती है। मार्शल का कथन है कि किसी विक्रयेकाधिकारी का मुख्य लक्ष्य यह नहीं होता कि वह अपने उत्पादन को इस प्रकार समायोजित करे कि उसे बेचने से उसकी लागत वसूल हो जाय, बल्कि उसका मुख्य लक्ष्य होता है वस्तु विक्रय से अधिकतम वास्तविक आय प्राप्त करना।* लेकिन स्पष्ट है कि यह बात समान रूप से सभी प्रकार के फर्मों के ऊपर लागू होती है।

अब एक दूसरा प्रश्न उठता है कि विक्रयेकाधिकारी की उत्पादन राशि कितनी होगी। वह इतना उत्पादन करेगा कि उसे अधिकतम वास्तविक लाभ प्राप्त हो सके और यह तभी होगा जबकि सीमान्त आय बराबर हो जाती है उसकी लागत के। यह उत्पादन राशि उस उत्पादन राशि से सर्वदा कम होगी जो यह फर्म उस

"The prime facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demannd, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production, but in such a way as to afford him the greatest possible net revenue".

Principles of Eco nomics Pp. 537—538

समय उत्पादित करता जब यह पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में कार्य करता होता। उत्पादन वृद्धि करते समय फर्म के समक्ष दो प्रमुख प्रश्न ये होते हैं कि माग वक्र का लोच क्या है तथा उत्पादन किस नियम (स्थिर लागत, ह्रासोन्मुख लागत अथवा वृद्धि-उन्मूलन लागत) के अन्तर्गत हो रहा है। यही दो बातें यह निर्धारित करेंगी कि अधिकतम लाभ की स्थिति में विक्रयेकाधिकारी कितना उत्पादन करेगा। यदि उत्पादन स्थिर लागत के अन्तर्गत हो रहा है तो उत्पादन राशि का निर्धारण माग की लोच द्वारा होगा, चूंकि प्रति इकाई लागत सर्वदा समान है, इसलिये उत्पादन वृद्धि पर इसका कोई प्रभाव न पड़ेगा। यदि माग खूब लोचदार है तो विक्रयेकाधिकारी को इस बात से लाभ होगा कि वह अपने उत्पादन को बढ़ाये तथा कीमत को कम करे। इससे उसकी वास्तविक आय बढ़ेगी, लेकिन माग के अलोचदार होने पर उसके लिये उत्पादन में ह्रास तथा ऊची कीमत श्रेयस्कर होगी।

इसको हम निम्न चित्र से भी देख सकते हैं —

(१)
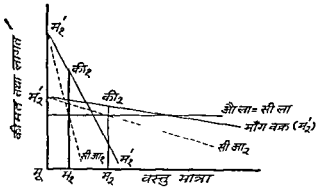
इस चित्र मे :—

औ ला = औसत लागत

सी ला = सीमान्त लागत

सी आ₁ तथा सी आ₂ = प्रथम तथा द्वितीय सीमान्त आय;

चित्र मे माग वक्र म'₁ म'₁ माग वक्र म'₂ म₂ की अपेक्षा कम लोचदार है। स्पष्ट है कि जब माग वक्र अधिक लोचदार है तो विक्रयेकाधिकारी को मू म₂ वस्तु मात्रा उत्पादित कर म₂ की₂ कीमत पर बेचने से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है, किन्तु जब माग वक्र कम लोचदार अर्थात् म'₁ म'₁ है तो विक्रयेकाधिकारी को मू म₁ वस्तु-मात्रा (जो मू म₂ से कम है) को म₁ की₁ कीमत (जो म₂ की₂ से अधिक है) पर बेच कर अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार यदि उत्पादन स्थिर-लागत नियम के अन्तर्गत होगा तो विक्रयेकाधिकारी की उत्पादन राशि तथा

कीमत माग की लोच पर निर्भर होगा। माग की लोच जितनी ही अधिक होगी उत्पादन उतना ही अधिक तथा कीमत उतनी ही कम होगी।

अब यदि उत्पादन ह्रासोन्मुख लागत नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो उत्पादन जैसे-जैसे बढ़ेगा, सीमान्त लागत वैसे-वैसे गिरती जायगी, इसलिये विक्रेताधिकारी के लिए साधारणतया लाभ-प्रद होगा कि वह उत्पादन अधिक करे तथा उसे कम कीमत पर बेचे, यह वह तब तक करता जाय जब तक कि उसकी सीमान्त आय उसकी सीमान्त लागत के समान नहीं हो जाती।

लेकिन यह निष्कर्ष तो हमने लागत के दृष्टिकोण से निकाला, आयपक्ष पर भी हमे विचार करना होगा। अब यदि माग बिल्कुल अलोचदार है तो कीमत घटाने से भी माग तो बढ़ेगी नहीं, इसलिए अधिक उत्पादन से कोई लाभ नहीं, यहा माग की लोच तथा गिरती हुई सीमान्त लागत की क्रियाएँ एक दूसरे के विपरीत दिशा में जा रही हैं, ह्रासोन्मुख लागत तो अधिक उत्पादन तथा कम कीमत की प्रेरणा देती है, लेकिन अलोचदार माग अपेक्षाकृत कम उत्पादन तथा ऊची कम कीमत की प्रेरक है। अत जो शक्ति जितनी अधिक प्रबल होगी उसका प्रभाव उतना ही अधिक वस्तु-उत्पादन तथा कीमत पर पड़ेगा। यदि ह्रासोन्मुख लागत के साथ-साथ माग की लोच भी पर्याप्त रूप से ऊँची है तो स्पष्ट है कि वे परस्पर एक दूसरे के प्रभाव को तीव्रतर बनायेंगी तथा उत्पादन और बढ़ेगा, विक्रेताधिकारी अपनी कीमत में थोड़ी सी कमी करके विक्रय को पर्याप्त रूप से बढ़ा सकता है तथा जितना ही अधिक उत्पादन करता जायगा उतना ही कम उसकी लागतें होती जायेंगी। अत उसको अधिक उत्पादन तथा कम कीमत दोनो से लाभ होगा। इस बात को हम निम्नांकित चित्र द्वारा दिखा सकते हैं :—
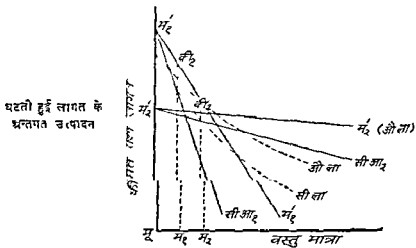
पृष्ट ४६८ पर दिये गये चित्र मे यह स्पष्ट है कि उत्पादन ह्रासोन्मुख लागत नियम के अन्तर्गत हो रहा है। औ ला औसत लागत वक्र है तथा सी ला सीमान्त लागत वक्र। म'₁म₁ कम लोचवाला माग वक्र है तथा सी आ₁ उसका सगति सीमान्त आय वक्र। इस हालत मे हम देखते हैं कि विक्रयेकाधिकारी मू म₁ वस्तु मात्रा उत्पादित कर उसे म₁ की₁ कीमत पर बेचकर अधिकतम लाभ अर्जित करेगा। लेकिन यदि माग वक्र काफी लोचदार है तथा उसकी अवस्था म'₂ म'₂ है (और सगति सीमात आय वक्र सी आ₂ है) तो स्पष्ट है कि विक्रयेकाधिकारी अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिय मू म₂ वस्तु-मात्रा उत्पादित कर उसे म₂ की₂ कीमत पर बेचेगा और मू म₂ मू म₁ से अधिक है तथा म₂ की₂, म₁ की₁ से कम। इसका अर्थ यह हुआ कि विक्रयेकाधिकारी को माँग के लोचदार होने पर अधिक मात्रा कम कीमत पर तथा उसके बेलोच होने पर कम मात्रा अधिक कीमत पर बेचने से लाभ होगा।

यदि उत्पादन उत्तरोत्तर बढती हुई लागत नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो ऊपर बताये हुये परिणाम का उल्टा होगा। बढती हुई सीमान्त लागत विक्रयेकाधिकारी को इस बात पर विवश करेगी कि वह अपने उत्पादन को कम रखे। यदि माग की लोच को हम अलग रख तो हमे पता चलेगा कि इस परिस्थिति मे विक्रयेकाधिकारी की प्रवृत्ति उत्पादन को कम करके तथा कीमत को बढाने की ओर होगी। लेकिन माग की लोच के दृश्य पर आने से परिस्थिति कुछ बदल जायगी। यदि माग काफी बेलोचदार है तो इससे उत्पादन कम तथा कीमत अधिक करने की प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिलेगा, लेकिन माग की लोच जैसे-जैसे बढती जायगी वैसे-वैसे इस वृत्ति का विनाश होता जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि माग की लोच इतनी अधिक हुई कि उसका प्रभाव बढती हुई लागत के प्रभाव से अधिक है तो विक्रयेकाधिकारी उत्पादन मात्रा बढायेगा तथा उसे कम कीमत पर बेचेगा। यदि ये दोनो प्रभाव बराबर हुये तो वह तटस्थ रहकर ही लाभ उठायेगा, लेकिन यदि माग की लोच इतनी अधिक न हुई तथा बढती हुई लागत का प्रभाव अपेक्षतया अधिक हुआ तो विक्रयेकाधिकारी की प्रवृत्ति उत्पादन कम तथा कीमत अधिक करने की ओर होगी।

इसको हम पृष्ठ ५०० पर दिये गये चित्र से समझ सकते हैं :—

पृष्ट ५०० पर दिये गये चित्र से स्पष्ट है कि जब माग वक्र काफी बेलोच म'₁ म'₁ होता है तो वस्तु उत्पादन मू म₁ तथा कीमत म₁ की₁ होती है: किन्तु यदि माग वक्र काफी लोचदार म'₂ म₂ होता है तो वस्तु उत्पादन मू म₂ (जो मू म₁ से अधिक है) तथा कीमत म₂ की₂ (जो कि म₁ की से कम है) होती है।

विक्रयेकाधिकारिक अवस्था मे कीमत-निर्धारणीयता पर वाद-विवाद—

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि विक्रयेकाधिकारिक अवस्थाएँ (चाहे वह शुद्ध विक्रयेकाधिकार हो, या विक्रयद्वयाधिकार हो अथवा विक्रयअल्पाधिकार हो

या विक्रयेताधिकारिक प्रतियोगिता हो) इतनी जटिल तथा वैविध्यपूर्ण होती है कि इनके सम्बन्ध में कीमत निर्धारण का कोई नियम प्रतिपादित करना असम्भव है। इसलिए विक्रयकाधिकारिक अवस्था में कीमत निर्धारण के किसी सामान्य नियम का प्रतिपादन असम्भव सा है। जब पूर्ति सीमित करने का अधिकार उत्पादकों के हाथ में हो तथा उसी प्रकार उनके हाथ में कीमत निश्चय करना हो तो कीमत निर्धारण
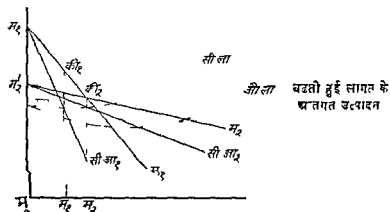
का कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना असम्भव होगा किसी दी हुई कीमत निर्धारण में इतने विविध प्रकार के तत्वों का समावेश होता है कि अत्यधिक सीमित प्रयोजनीयता वाले सिद्धान्त को छोड़ किसी निश्चित सिद्धान्त का निर्माण करना कठिन होगा। पूर्ण अथवा आंशिक विक्रयेताधिकार की अवस्थाओं के अन्तर्गत कीमत के सम्बन्ध में हाल ही में परम्परावादी आर्थिक सिद्धान्त द्वारा वास्तविक कीमत के नियमों के प्रतिपादन करने के प्रयत्न से उपयुक्त बात सिद्ध हो जाती है। कुछ खोखले कथनों जैसे कीमत उसी बिन्दु पर निर्धारित होगी जहां लाभ उच्चतम होगा के अतिरिक्त विक्रयेताधिकारिक कीमत सिद्धान्त विशिष्ट परिस्थितियों का जिनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट हल है जल्दी से एक सूची पत्र बन जाता है। विक्रयेताधिकारिक कीमत के सम्बन्ध में (अब तक) कोई सामान्य नियम नहीं पाये जा सके क्योंकि कोई है ही नहीं[9]

अन्यत्र हम इस पर और विचार करेंगे। यह यहीं कह देना पर्याप्त है कि कुछ नहीं से थोड़ा होना ही अच्छा है। यदि हम विशिष्ट अवस्थाओं का ही विश्लेषण करते हैं तो भी हम कुछ न कुछ मार्ग प्रदर्शन मिल जाता है। फिर ये विशेष व्यापक होती है। और विश्लेषण चाहे किसी भी अवस्था का क्यों न हो कुछ न कुछ ज्ञान तो देती ही है। अर्थशास्त्र के नियम प्रवृत्यात्मक होते हैं विक्रयेताधिकारिक कीमत

9 The Theory of Cap tal st c development by D P Sweezy (N Y 1942) Pp 270 1

के सम्बन्ध मे भी यदि ऐसे नियम प्रतिपादित किये जा सकें जो सामान्य न होते हुये भी सामान्य होने की ओर प्रवृत्ति रखते हो तो उनके प्रतिपादन मे किया जाने वाला परिश्रम निरर्थक न होगा।

कीमत विभेदीकरण के अन्तर्गत कीमत तथा उत्पादन निर्धारण—

उपधारणायें—हमने विश्लेषणार्थ निम्नलिखित उपधारणायें करली हैं–

१ केवल (क) तथा (ख) दो ही बाजारें हैं,

२ विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु की मांग को जानता है और यह जानता है कि इन दोना बाजारो म लोच आदि की स्थिति क्या है,

३ विक्रयकाधिकारी उत्पादन की हालतो से पूर्ण रूपेण अवगत है,

४ विक्रयकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्थात उच्चतम शुद्ध आय कमाना है, तथा

५ इन दोनो बाजारो के बीच माल ले आने तथा ले जाने मे परिवहन पर कुछ लागत नही लगानी पडती।

इन उपधारणाओ के आधार पर किसी भी फर्म को उच्चतम लाभ तभी होता है जब उसकी वस्तु के विक्रयसे प्राप्त सीमान्त आय वरावर हो जाती है उस वस्तु की सीमान्त लागत के। यदि सीमान्त आय, सीमान्त लागत से अधिक है तो उत्पादन बढाने मे लाभ होगा क्योकि एक इकाई और उत्पादित करने से जितना बलिदान करना पडेगा उससे अधिक आय होने की आशा है। यदि सीमान्त आय, सीमान्त लागत से कम है तो उत्पादन कम करना लाभदायक होगा। इस प्रकार यह घट बढ तब तक करते रहना होगा जब तक कि सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर न हो जाय। कीमत विभेदीकरण वाला फर्म भी ऐसा ही करेगा। उसका कुल उत्पादन, जो दोनो बाजारो मे बेचा जायगा, इतना होगा कि कुल वस्तु के विक्रय से सीमान्त आय बराबर होगी वस्तु की सीमान्त उत्पादन लागत के। इसी हालत मे फर्म सस्थिति मे होगा। तो अन्य फर्म की भाति यह भी सी आ=सी ला के करेगा।

कीमत विभेदीकरण वाले विक्रयेकाधिकारी फर्म के सस्थिति मे आने की एक और शर्त है—वह है दोनो बाजारो मे प्राप्त होने वाली सीमान्त आय एक दूसरे के समान हो जाय। पहले हम देख चुके हैं कि बाजार (क) से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय (सी आ$_{I}$) बाजार (ख) से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय (सी आ$_{II}$) से छोटी है अर्थात् सी आ$_{II}$ > सी आ$_{I}$

इसलिये फर्म को उचित होगा कि वह अपनी वस्तु की कुछ इकाइया बाजार (क) से (ख) को भेज दे। ऐसा करने से उसे अधिक लाभ होगा। बाजार (क) से बाजार (ख) की ओर यह वस्तु स्थानान्तरण तब तक चलता रहेगा जब तक कि

दोनो बाजारो से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय समान नही हो जाती, क्योकि थोडा भी फर्क रहने से फर्म कम सीमान्त आय वाले बाजार से अधिक सीमान्त आय वाले बाजार मे अपनी वस्तु की एक और इकाई स्थानान्तरित कर अधिक आय प्राप्त करेगा।

इसलिये कीमत विभेदीकरण की नीति वाले फर्म की सस्थिति की दूसरी शर्त यह है कि दोनो बाजारो से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय समान हो अर्थात सी आ$_{1}$ = सी आ$_{11}$

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यह फर्म इतना उत्पादन करेगा कि उसके कुल उत्पादन की सीमात लागत उसकी सीमान्त आय के बराबर हो जाय तथा यह फर्म इस उत्पादन को दोनो बाजारो मे विक्रय के लिय इस अनुपात म बाँटेगा जिससे कि प्रत्यक बाजार से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय आपस म बराबर हो। इस प्रकार

$$\text{सी आ}_{1} = \text{सी आ}_{11} = \text{सी आ}_{1+11} = \text{सी ला}$$

चित्र द्वारा हम इस निम्न प्रकार दिखायगे —
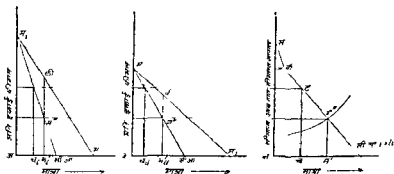
इन चित्रो म, दानो बाजारो के सीमान्त आय तथा माँग वक्र (क) तथा (ख) चित्रो म दिखाये गये हैं और फर्म के कुल उत्पादन का सीमान्त लागत वक्र तथा सीमान्त आय वक्र चित्र (ग) म दिखाये गय हैं।

म$_{1}$ म$_{1}$ = क बाजार की माग वक्र

सी आ$_{1}$ = क बाजार का सीमान्त आय वक्र

म$_{11}$ म$_{11}$ = ख बाजार का माग वक्र

सी आ$_{11}$ = ख बाजार का सीमान्त वक्र

चित्र [क] तथा [ख] मे ऊर्ध्वर्ग अक्ष प्रति इकाई की कीमत प्रकट करते है, तथा

क्षैतिज अक्ष वस्तु मात्रा प्रकट करते हैं,

चित्र [ग] में ऊर्ध्वर्ग अक्ष पर सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत दिखाई हैं तथा क्षैतिज अक्ष पर वस्तु मात्रा ।

चित्र [ग] में सी आ$_{I+II}$ रेखा के आकार के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक है। हम देखते हैं कि 'क' बिन्दु पर इसमें एक खम (Kink) आ गया है क्योंकि 'स' से 'क' तक तो यह वक्र सी आ$_I$ की भांति ही है। क बिन्दु तक दूसरे बाजार [ख] वाले वस्तु नहीं खरीदते। [ख] बाजार में माग की लोच [क] बाजार की अपेक्षा अधिक है। इस लिये चित्र [ग] म अ द रेखा से थोड़ी भी अधिक कीमत होने से [ख] बाजार वाले वस्तु का बिल्कुल नहीं खरीदेंगे। लेकिन क बिन्दु पर [ख] बाजार वालो की सीमान्त आय भी इसमें एक-एक जुड़ जाती है तथा उससे आगे बढ़ने पर सी आ$_{I+II}$ का वक्र [क] तथा [ख] दोनों बाजारों की सयुक्त सीमान्त आय प्रकट करता है। इसी लिए क बिन्दु पर ख म है।* तो चित्र [ग] में सी आ$_{I+II}$ फर्म की यौगिक सीमान्त आय का वक्र है

फर्म के किसी वस्तु मात्रा के विक्रय से प्राप्त होने वाली अधिकतम आय को यह वक्र प्रकट करता है। इस प्रकार वस्तु की 'अ च' मात्रा बेचने से फर्म की अधिक-

---

नोट [क] तथा [ग] बाजारों में सीमान्त आयों के वक्रों से हम निम्न प्रकार सी आ$_{I+II}$ खींच सकते हैं
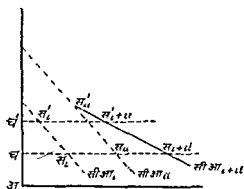
उपर्युक्त चित्र मे दोनो बाजारो के सीमान्त आय वक्र दिखाये गए हैं। जब सीमांत आय अ घ के बराबर है तो प्रथम बाजार [क] में मांग है घ स$_I$ वस्तु-मात्रा की तथा दूसरे बाजार [ख] में घ स$_{II}$ की। दोनों बाजार की यौगिक मांग होगी घ स$_I$+ घ स$_{II}$ = घ स$_{I+II}$ के इसलिये स$_{I+II}$ बिन्दु यौगिक सीमान्त आयवक्र पर स्थित कोई बिन्दु है। इसी प्रकार स'$_{I+II}$ बिन्दु तथा अन्य ऐसे बिन्दुओं को हम पाकर यौगिक सीमान्त आय वक्र [सी आ$_{I+II}$] खींच सकते हैं।

उपभोक्ताओं के पास और कोई चारा नही। हा, विदेशी बाजार मे वह कीमत कम कर देगा। कीमत कितनी कम करेगा यह बात कई अन्य परिस्थितियो पर निर्भर होती है, जैसे, विदेशी बाजार मे कितनी प्रतियोगिता है, विक्रयेकाधिकारी का उद्देश्य उस बाजार मे स्थाई रूप से ठहरना है या केवल अल्पकाल ही तक।

अक्सर विदेशी बाजार मे राशिपातन से क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तथा लोगों का ख्याल होता है कि विक्रयेकाधिकारी ने प्रतियोगिता को खत्म करने के लिये अपनी वस्तु की कीमत घटा कर उत्पादन लागत से कम कर दिया है। प्राय हालतो मे यह एक भ्रान्ति मात्र होती है, क्योकि स्थाई रूप से कोई भी फर्म हानि न उठाना चाहगा। अक्सर होता यह है कि फर्म को यदि अपनी परिवर्तनशील लागत के औसत के बराबर भी कीमत मिलती रही तो वह अपनी वस्तु को बेचेगा। लेकिन परिवर्तनशील लागत की औसत से भी कम मे बचने का अभिप्राय यह नही कि वह सीमान्त लागत से कम म बचेगा। जो लोग यह आरोप लगाते हैं उनका अभिप्राय उत्पादन लागत से 'औसत लागत' से होता है।

यह राशिपातन दो प्रकार का हो सकता है, एक तो स्थाई तथा दूसरा अस्थाई।

बहुत से उद्योग धन्धो में ऐसा होता है कि समय-समय पर खपत से, माग से, अधिक उत्पादन हो जाता है। अब यदि इस आधिक्य को विक्रयेकाधिकारी स्थानीय बाजार मे खपाना चाहे तो उसे कीमत कम करनी पडेगी। एक बार कीमत कम करने पर फिर उस ऊ ची करना कठिन होता है, इस लिये इस अतिरिक्त माल को विक्रयेकाधिकारी किसी भी कीमत पर विदेशी बाजारो में बेच देता है। यदि विदेशो में निर्यात करने पर कोई प्रतिबन्ध हुआ तो यह अतिरिक्त माल प्राय नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार सयुक्त देश अमरिका मे खेती की उपज अण्डे आदि प्रतिवर्ष बहुत बडी मात्रा मे समुद्र मे फेंक दिये जाते हैं। ब्राजील मे प्रतिवर्ष न जाने कितनी कॉफी नष्ट कर दी जाती है। इस प्रकार का राशिपातन अस्थाई होता है।

दूसरी प्रकार का राशिपातन किसी अतिरिक्त माल को खपाने के लिये नहीं बल्कि एक अस्थाई नीति के फलस्वरूप होता है। कभी-कभी उत्पादन करने की न्यूनतम आकार की मशीनरी भी इतनी बडी होती है कि उसके द्वारा सम्पूर्ण उत्पादन को स्थानीय बाजार मे नहीं खपाया जा सकता और यदि खपाया भी जा सके तो कीमत इतनी कम करनी पडेगी कि घाटा लग जायगा। ऐसी हालत मे उत्पादक के लिये यह हितकर होगा कि वह विदेशो मे कुछ माल भेज दें। वास्तव मे, यहा भी कीमत विभेदीकरण का सिद्धान्त ही लागू होता है। यदि स्थानीय बाजार मे उत्पादक को विक्रयेकाधिकार प्राप्त है लेकिन विदेश की बाजार मे उसे पूर्ण प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। तो कीमत विभेदीकरण के सिद्धान्त

का सहारा लेकर वह अपना उत्पादन तथा इस उत्पादन का स्थानीय तथा विदेशी बाजार मे इस प्रकार बटवारा करेगा कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इसको हम निम्नलिखित चित्र द्वारा आसानी से समझ सकते है—
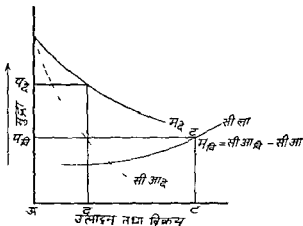
'वि' चिन्ह विदेशी बाजार के लिये उपयुक्त हुआ है तथा 'दे' चिन्ह देशी या स्थानीय बाजार के लिय।

हमने यह माना है कि स्थानीय बाजार मे फर्म को विक्रयेकाधिकार प्राप्त है तथा विदेशी बाजार म उसे पूर्ण प्रतियोगिता का सामना करना पड रहा है। फर्म के अधिकतम लाभ की तथा सस्थिति की अवस्था वह होगी जहा एक ओर तो उसकी कुल सीमान्त आय उसकी कुल सीमान्त लागत (सी आ) के बराबर होगी तथा दूसरी ओर दोनो बाजारो से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय एक दूसरे के बराबर होगी। अब यदि विदेशी बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था होगी तो —

[१] बाजार मे माग वक्र अत्यधिक लोचदार होगा अर्थात क्षैतिज होगा, ऊपर चित्र मे हमने इस माग वक्र को म$_{वि}$ वक्र रेखा द्वारा दिखाया है।

[२] उस बाजार मे सीमान्त आय कीमत के समान होगी, अर्थात् सीमान्त-आय वक्र तथा माग वक्र दोनो एक ही रेखा द्वारा प्रदर्शित होग। उपर्युक्त चित्र म म$_{वि}$ वक्र ही विदेशी बाजार मे प्राप्त होने वाली सीमान्त आय (सी आ$_{वि}$) भी प्रकट करता है। ऊपर हम बता चुके हैं कि फर्म सस्थिति मे तभी होगा जब देशी बाजार मे (सी आ$_{दे}$) = विदेशी बाजार मे (सी आ$_{वि}$) = यौगिक सीमान्त

सीमान्त आय   सीमान्त आय   लागत (सीला)

= यौगिक सीमान्त आय (सी आ)

लेकिन हम कह चुके हैं कि विदेशी बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था पाई जाती है इसलिये वहा कीमत बराबर होगी। सीमान्त आय (सी आ$_{वि}$) के।

इस लिये चिन्हो द्वारा

सी आ$_{दे}$ = सी आ$_{वि}$ = सी ला = सी आ = विदेशी बाजार मे कीमत के।

उपर्युक्त चित्र मे—

म$_{दे}$ = देशी बाजार मे माग वक्र

सी आ$_{दे}$ = देशी बाजार मे आय वक्र

म$_{वि}$ = विदेशी बाजार मे माग तथा सीमान्त वक्र है

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त मस्थिति की शर्तें ट बिन्दु पर पूरी होती हैं। इस लिये फर्म का उत्पादन 'अ ट' के बराबर होगा। यह भी विदित है कि अधिकतम लाभ उपार्जित करने के दृष्टिकोण से फर्म इस उत्पादन का 'अ द' अश अ प$_{दे}$ कीमत पर स्थानीय या देशी बाजार मे तथा 'द ट' अश अप$_{वि}$ कीमत पर विदेशी बाजार मे बेचेगा। स्थाई राशिपतन के अन्य कारण भी हो सकते हैं। विदेशी बाजार मे प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिये अस्थाई तौर पर विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु की कीमत को घटा कर इतना कर देगा कि प्रतियोगिता फर्मों का सफाया हो जाय। उनके खत्म हो जाने के बाद विक्रयेकाधिकारी को विक्रयेकाधिकारिक सुविधायें विदेशी बाजार मे भी प्राप्त हो जायेगी।

या बडे पैमाने पर उत्पादन से लाभ उठाने के लिये, जिसका परोक्ष रूप से जिक्र हम कर चुके हैं, विक्रयेकाधिकारी विदेशो मे अपना माल बेचना चाहता हो। यदि वस्तु क्रमगत वृद्धि के अन्तर्गत उत्पन्न की जा रही है तो उसे अधिकाधिक मात्रा मे बेचना लाभप्रद होगा। स्थानीय बाजार यदि सीमित हुआ तो उत्पादक उसे विदेशो मे बेचने का प्रयत्न करेगा।

यह भी हो सकता है कि विदेश से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु राशिपातन का सहारा लिया गया हो। विदेशी बाजार मे अपना पैर जमाने के लिये यह आवश्यक होता है कि अपनी चीज को वह सस्ता बेचे अन्यथा वहा के स्थानीय विक्रेता वहाँ उसको टिकने नही देगे।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त भी राजनैतिक या सास्कृतिक हेतुकों से भी प्रभावित होकर राशिपातन का उपयोग किया जा सकता है। प्राय एक से अधिक कारण तथा हेतुक राशिपातन के पीछे काम करते हैं। विदेशो मे कीमत अत्यधिक गिराकर बेचने मे एक खतरा और होता है। हो सकता है कि विदेशी सस्ते दाम मे वस्तु को खरीदकर उसका विक्रयेधिकारी के स्थानीय बाजार (जहा वस्तु की कीमत

रुची है) को निर्यात कर दें। इस लिये स्थानीय तथा विदेशी बाजारों मे कीमतों के बीच बहुत अन्तर नही होना चाहिए। एक बाजार से दूसरे मे माल ले जाने के लिये आवश्यक यातायात के खर्चे से अधिक दोनो कीमतो मे फर्क नही होना चाहिए। और या तो स्थानीय बाजार मे आयात शुल्क अधिक हो, या आयात पर प्रतिबन्ध हो। ऐसी ही हालतो मे राशिपातन लाभ दे सकेगा।

अनियन्त्रित आर्थिक व्यवस्थाओ तथा तटस्थता की अराजकताओं में राशिपातन की क्रिया प्राय देखने को मिलती थी। किन्तु राष्ट्रीय सरकारो की अधिकाधिक देशो मे प्रस्थापना, योजना युक्त तथा नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्थाओ की बढती हुई लोकप्रियता तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों मे राष्ट्रों के बीच होड—इन सबने मिलकर राज्यो-राज्यो के बीच दीवारे खडी कर दी हैं। प्रशुल्क (Tariff) या आयात पर प्रतिबन्ध या अन्य तरीको से प्रत्येक राज्य ने राशिपातन से बचने का प्रबन्ध कर लिया है। वे दिन और थ जब पूजीवादी देशों के विक्रयेच्छाधिकारियो द्वारा अविकसित देशो मे राशिपातन दानशीलता समझी जाती थी। आज के युग मे राशिपातन के उदाहरण धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं।

राशिपातन के आर्थिक परिणाम—

इसके आर्थिक परिणामो को हम दो दृष्टिकोणो से देख सकते हैं —

(१) विदेशी उपभोक्ता के दृष्टिकोण से, तथा

(२) स्थानीय उपभोक्ता के दृष्टिकोण से।

(१) विदेशी उपभोक्ता सस्ती वस्तु पाता है। हो सकता है कि इस वस्तु की इस देश मे लागत अधिक हो। ऐसी सूरत मे राशिपातन से पूरी आर्थिक व्यवस्था को लाभ पहुँचेगा—एक देश दूसरे की समृद्धता या वैज्ञानिक उन्नति से लाभान्वित होगा। लेकिन शर्त यह है कि यह राशिपातन स्थाई हो जिससे कि आर्थिक व्यवस्था अपने को तदनुसार समायोजित कर ले।

हानिया भी कुछ कम नही। स्थानीय साहस तथा उपक्रम पगु ढीले हो जाते हैं। देश की आर्थिक व्यवस्था प्रगति नही कर पाती। देश अधिकाधिक अन्यो पर निर्भर हो जाता है। आपत्ति काल मे विदेशी आयात पर निर्भर रहा नही जा सकता। यदि कही राशिपातन केवल अस्थाई हुआ तो और भी बुरा। जैसे ही विदेशी माल का आना बन्द हुआ उस चीज का भाव आसमान तक बढ जाता है, चोर बाजारी, तस्कर व्यापार तथा सबसे अधिक घातक अस्थिरता मे वृद्धि हो जाती है। राशिपातन देश की आर्थिक व्यवस्था मे अतिस्थिरता तथा अस्थिरता ले आता है। इन्ही सब कारणो से कोई देश विदेशियो द्वारा राशिपातन को प्रोत्साहन नही देता। जब देश मे उस वस्तु के उत्पादन करने का कोई सुलभ साधन न हो तब की बात और है।

स्थानीय बाजार तथा उपभोक्ता—

कतिपय हालतों मे विदेशो में राशिपातन की सम्भावना स्थानीय कीमत मे भी ह्रास ले आती है। प्रो० बेनहम के अनुसार किसी विदेशी बाजार मे राशिपातन की सम्भावना।

(क) यदि उत्पादन की सीमान्त लागतें क्रमशः बढ़ रही हैं, तो स्थानीय बाजार की कीमत मे वृद्धि लायेगी।

(ख) यदि सीमान्त लागतो में ह्रास हो रहा है, तो स्थानीय बाजार की कीमत मे ह्रास लायेगी तथा

(ग) यदि सीमान्त लागतें स्थिर हैं, तो स्थानीय बाजार की कीमत में कोई परिवर्तन न होगा।[17]

इस प्रकार यदि सीमान्त लागतो में क्रमगत ह्रास होता रहेगा तो राशिपातन मे स्थानीय कीमतें भी घटेंगी और उपभोक्ताओं को लाभ होगा। फिर हो सकता है कि विक्रयेकाधिकारी विदेशी व्यापार स्थापित करने के लिये या देश की और भलाई के दृष्टिकोण से विदेश मे राशिपातन करता हो तो इससे देश को लाभ होगा। लेकिन विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे जो कुछ लाभ होता है वह प्राय. विक्रयेकाधिकारी की 'शुद्ध आय' मे वृद्धि करने के काम आता है, उपभोक्ताओं को अधिक तुष्टि देने में नहीं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि राशिपातन को स्थानीय उपभोक्ताओं को कुछ आराम मिलता है।

विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन संस्थिति तथा वितरण—

सस्थिति की अवस्था तभी आती है जब सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत परस्पर समान हो जाती हैं। विक्रयेकाधिकार में सस्थिति तभी आयेगी जब सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर हो जायेगी। हम पहले देख चुके हैं कि—

$$\text{सीमान्त आय} = \text{कीमत}\left[१ - \frac{१}{\text{लोच}}\right]$$

अथवा

$$\text{सी आ} = \text{की}\left[१ - \frac{१}{\text{लो}}\right]$$

किन्तु सस्थिति में सी. आ.=सी. ला. (सीमान्त लागत)

$$\therefore \quad \text{सी ला} = \text{सी आ} = \text{की}\left[१ - \frac{१}{\text{लो}}\right]$$

17. Economics by F. Benham 3rd Edn. P. 211.

वास्तव मे सस्थिति का यह सामान्य नियम है। पूर्ण प्रतियोगिता एक विशिष्ट स्थिति है जिसमे चू कि लोच अनन्त होती है, इसलिये

सी ला = सी आ = की

$$\left[\frac{१}{\text{लो}} \text{ इतना छोटा है कि इसको हम छोड सकते है तो } १ - \frac{१}{\text{लो}} = १ \text{ के हो जाता है जिससे कि } \text{की} \left[१ - \frac{१}{\text{लो}} \right] = \text{की} \times १ = \text{की} \right]$$

विक्रयेकाधिकार सस्थिति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सस्थिति कीमत, सीमान्त लागत वक्र से ऊपर होती है।

विक्रयेकाधिकार की शक्ति भिन्न भिन्न होती है। वास्तव मे कीमत तथा सीमान्त लागत के बीच अन्तर ही विक्रयेकाधिकार की शक्ति का मापक माना गया है। यह अन्तर जितना ही अधिक होगा, अर्थात् कीमत सीमान्त लागत से जितनी ही अधिक होगी, उतना ही विक्रयेकाधिकारी अधिक शक्तिशाली होगा। लर्नर ने विक्रयेकाधिकार की डिग्री का मापक $\left[\frac{\text{की} - \text{सी ला}}{\text{की}} \right]$ की निष्पत्ति को माना है।

ऊपर के समीकरण से हमे मालूम है कि

$$\text{सी ला} = \text{की} \left[१ - \frac{१}{\text{लो}} \right] \quad . \quad . \quad ..(१)$$

$$= \text{की} - \frac{\text{की}}{\text{लो}}$$

$$\text{अथवा सी ला} - \text{की} = \frac{\text{की}}{\text{लो}}$$

दोनो ओर 'की' से भाग देने पर

$$\frac{\text{सी ला} - \text{की}}{\text{की}} = \frac{१}{\text{लो}} \quad .. \quad ...(२)$$

इसलिये हम यह कह सकते हैं कि विक्रयेकाधिकार की शक्ति की डिग्री लोच के व्युत्क्रम (Inverse) से मापी जा सकती है।

विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन मे ससाधनो के इष्टतम सयोग तथा उत्पादित वस्तु के वितरण के समुचित निरीक्षण द्वारा भी हम उपर्युक्त माप के

महत्व को समझ सकते हैं। सूत्रों द्वारा हम इसे अधिक सुविधा से प्रस्तुत कर सकते हैं। सूत्र के ही सहारे हम एक 'सीमान्त मूल्य-उपज' के प्रत्यय पर पहुँच सकते हैं।

सीमान्त मूल्य उपज क्या है ? उत्पादन मे कई साधनो के सयोग की आवश्यकता पड़ती है। यदि हम इन सब साधनों मे से एक साधन की मात्रा मे जो वृद्धि करते हैं तथा अन्यो को पूर्ववत् रहने देते हैं तो उत्पादन मात्रा मे जो वृद्धि आयेगी वह इसी साधन की मात्रा मे वृद्धि के परिणामस्वरूप होगी। अन्य साधनों की मात्राओं को पूर्ववत रखकर किसी एक साधन की नई इकाई के प्रयोग से उत्पादन मात्रा मे जो वृद्धि आयगी वही 'सीमान्त मूल्य-उपज' कहलायेगी। पहले उत्पादन सस्थिति पर विचार करते समय हम यह सिद्ध कर आये हैं कि किसी साधन की कीमत बराबर होती है उस साधन की नई इकाई के प्रयोग द्वारा किये गये सीमान्त उत्पादन तथा उत्पादित वस्तु की सीमान्त लागत के गुणनफल के।

अर्थात्—

$$\text{की}_{\text{म}} = \text{सी ला} \times \text{सी उ}_{\text{म}} \quad \dots (३)$$

की$_{\text{म}}$ = 'म' साधन की कीमत,
सी ला = सीमान्त लागत,
तथा
सी उ$_{\text{म}}$ = 'म' की नई इकाई के प्रयोग के फलस्वरूप हुआ सीमान्त उत्पादन।

$$= \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{सी आ}$$

$$\because \quad (\text{सी ला} = \text{सी आ})$$

सी आ = सीमान्त आय

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे—

$$\text{सी ला} = \text{सी आ} = \text{की}_{\text{व}}$$

(की$_{\text{व}}$ = उत्पादित वस्तु की कीमत)

$$\therefore \quad \text{की}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{व}} \quad \dots \quad \dots \quad \dots (४)$$

विक्रयेताधिकार की हालत मे,

$$\text{की}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{व}} \left[१ - \frac{१}{\text{लो}} \right] \dots\dots (\text{समीकरण १ से})$$

और यह बात किसी विशिष्ट साधन 'म' के लिये ही नही अन्य साधनो के लिये वैसे ही सही है।
इसलिये,

$$\text{की}_{\text{ख}} = \text{सी उ}_{\text{ख}} \times \text{की}_{\text{क्ष}} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

उत्पादन सस्थिति पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि उत्पादन सस्थिति वह बिन्दु है जिस पर साधनो की सीमान्त उत्पादनीयतायें उनकी कीमतो की समानुपाती हो

अर्थात्

$$\frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{ख}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{सी उ}_{\text{ख}}}$$

विक्रयेकाधिकारिक अवस्था मे, समीकरण (४) के आधार पर,

$$\frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{ख}}} = \frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{सी उ}_{\text{ख}}}$$

$$= \frac{\text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)}{\text{सी उ}_{\text{ख}} \times \text{की}_{\text{क्ष}} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)} \quad \ldots \ldots (५)$$

इसका अर्थ हुआ कि साधनो की कीमतें (की$_{\text{म}}$, की$_{\text{ख}}$ आदि) 'सीमान्त मूल्य-उपज' की समानुपाती होती हैं। और ऊपर हम कह ही चुके हैं कि ये कीमतें सीमान्त उत्पादनीयताओ की समानुपाती होती हैं। यह अवस्था पूर्ण प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकार, दोनो अवस्थाओ मे समान रूप से पाई जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे सीमान्त मूल्य-उपज बराबर होती है सी उ$_{\text{म}}$ $\times$ की$_{\text{क्ष}}$ के (अर्थात सीमान्त उत्पादन के मूल्य के) और इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था इस सामान्य नियम की एक विशिष्ट अवस्था है।

आओ, हम 'सीमान्त मूल्य-उपज' की परिभाषा से इसका सूत्र ज्ञात करें। 'अन्य बातो के पूर्ववत् रहने से', किसी एक साधन ('म') की नई इकाई के प्रयोग से वस्तु-उत्पादन मे जो वृद्धि आयेगी उसके मूल्य को हम 'सीमान्त मूल्य-उपज' कहते हैं। कुल उत्पादन का मौद्रिक मूल्य 'कुल आय' कहलाती है, इस प्रकार यदि कुल आय मे हुई वृद्धि को हम साधन ('म') मे की गई वृद्धि से भाग दें तो हमें 'सीमान्त मूल्य-उपज' प्राप्त हो जायगी।

अर्थात्

$$\text{सी मू उ}_{\text{म}} = \frac{\text{कु } \Delta \text{ आ}}{\Delta \text{म}}$$

सी म $\text{उ}_{\text{म}}$ = 'म' साधन की नई इकाई के प्रयोग द्वारा हुई सीमान्त मूल्य-उपज,
Δ कु आ = कुल आय मे वृद्धि
Δ म = 'म' साधन मे की गई वृद्धि।

$$\text{या} \quad \text{सी मू उ}_{\text{म}} = \frac{\Delta \text{कु उ}_{\text{म}}}{\Delta \text{म}} \quad \frac{\Delta \text{कु आ}}{\Delta \text{कु उ}_{\text{म}}} \quad (६)$$

Δ कु $\text{उ}_{\text{म}}$ से गुणा तथा भाग करने से*
Δ कु $\text{उ}_{\text{म}}$ = 'म' साधन की अतिरिक्त इकाई के प्रयोग के फलस्वरूप कुल उत्पादन मे वृद्धि।

$\frac{\Delta \text{ कु उ}_{\text{म}}}{\Delta \text{म}}$ = सीमान्त उत्पादनीयता अर्थात् 'म' की एक नई इकाई के प्रयोग के फलस्वरूप उत्पादन मे हुई वृद्धि।

= सी $\text{उ}_{\text{म}}$

---

* नोट — यदि किसी सख्या को किसी एक ही सख्या से गुणा तथा भाग किया जाय तो (पहली) सख्या के मान मे कोई अन्तर नही आता जैसे यदि ५ को हम ४ से गुणा भी करें और भाग भी दें तो मान ५ ही रहेगा।

नोट—यहाँ हमे सीमान्त मूल्य उपज तथा सीमान्त उत्पादनीयता के बीच अन्तर को ध्यान मे रखना होगा। 'म' साधन की अतिरिक्त इकाई के उपयोग से उत्पादित वस्तु (क्ष) की मात्रा मे जो वास्तविक वृद्धि हुई है, इसे 'म' साधन के कारण सीमान्त उत्पादनीयता कहेंगे। उत्पादित वस्तु (क्ष) मे हुई वृद्धि अर्थात् सीमान्त उपज यदि Δ क्ष के बराबर हो और यह वृद्धि 'म' साधन के 'Δ म' अतिरिक्त मात्रा के उपयोग का परिणाम हो तो सीमान्त उत्पादनीयता (सी $\text{उ}_{\text{म}}$ =) $\frac{\Delta \text{क्ष}}{\Delta \text{म}}$, अब यदि वस्तु की कीमत 'की$_{\text{क्ष}}$' है तो सीमान्त उत्पादनीयता

तथा

$\frac{\Delta \text{ कु श्रा}}{\Delta \text{ कु उ}_{म}}$ = सीमान्त श्राय; ग्रर्थात् कुल उत्पादन मे वृद्धि के फलस्वरूप कुल

श्राय मे (प्रति इकाई) वृद्धि,

= सी श्रा

ग्रब हम समीकरण न० (६) को इस प्रकार लिख सकते हैं

$$\text{सी मू उ}_{म} = \text{सी उ}_{म} \times \text{सी श्रा} \qquad \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots \ldots (७)$$

उपर्युक्त समीकरण सामान्य है तथा विक्रयेकाधिकार ग्रौर पूर्ण प्रतियोगिता दोनों ग्रवस्थाग्रो मे लागू होता है। हम यह देख चुके हैं कि सी श्रा = $\text{की}_{क्ष}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$ इसलिये उपर्युक्त समीकरण को हम इस प्रकार भी लिख सकते हैं।

$$\text{सी मू उ}_{म} = \text{सी उ}_{म} \times \text{की}_{क्ष}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right) \ldots \ldots \ldots (८)$$

का मौद्रिक मूल्य बराबर हो गया $\text{की}_{क्ष} \times \frac{\Delta \text{क्ष}}{\Delta \text{म}}$ के

ग्रर्थात् $\text{की}_{क्ष} \times \text{सी उ}_{म} = \text{कीक्ष}\ \frac{\Delta \text{क्ष (ग्रर्थात् कुल उत्पादन मे वृद्धि या } \Delta \text{कु उ}_{म})}{\Delta \text{म}}$

लेकिन सीमान्त मूल्य-उपज हमें प्राप्त होगा वस्तु विक्रय से। प्राप्त कुल ग्राय (कु ग्रा) मे वृद्धि को 'म' साधन की उपयोगिता ग्रतिरिक्त मात्रा (Δ म) मे भाग देने पर। ग्रर्थात् सी मू $\text{उ}_{म} = \frac{\Delta \text{कु श्रा}}{\Delta \text{ म}}$। पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे तो

$\frac{\Delta \text{ कु श्रा}}{\Delta \text{ म}} = \text{की}_{क्ष} \times \frac{\Delta \text{ क्ष}}{\Delta \text{ म}}$ लेकिन विक्रयेकाधिकार की हालत में ऐसा नहीं होगा। उसी प्रकार इन दोनों प्रत्ययो तथा सीमान्त ग्राय के बीच (जो $\frac{\Delta \text{कु श्रा}}{\Delta \text{ क्ष}}$ के बराबर होगा) के ग्रन्तर को ध्यान म रखना चाहिये।

समीकरण (८) को उपर्युक्त समीकरण न० (५) स्थानापन्न करने पर :

$$\frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{ख}}}=\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{सी उ}_{\text{ख}}}\;\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}\times\text{सी श्रा}}{\text{सी उ}_{\text{ख}}\times\text{सी श्रा}}=\frac{\text{सी मू उ}_{\text{म}}}{\text{सी मू उ}_{\text{ख}}}\quad\ldots\ldots\ldots\ldots(९)$$

समीकरण न० (५), (७), (८) तथा (९), चारो विक्रयेकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता पर सामान्य रूप से लागू होते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे चूकि माग की लोच अनन्त होती है, इसलिये, पद 'की$_{\text{ख}}$$\left(१-\frac{१}{\text{लो}}\right)$' के स्थान पर हम 'की$_{\text{ख}}$' ही लेते हैं और तब समीकरण न० (७) को हम इस प्रकार लिख सकते हैं।

$$\text{सी मू उ}_{\text{म}}=\text{सी उ}_{\text{म}}\times\text{की}_{\text{ख}}$$

तथा, पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे समीकरण न० (५) को हम इस प्रकार लिख सकते हैं —

$$\frac{\text{की}_{\text{म}}}{\text{की}_{\text{ख}}}\;\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}}{\text{सी उ}_{\text{ख}}}\;\frac{\text{सी उ}_{\text{म}}\times\text{की}_{\text{ख}}}{\text{सी उ}_{\text{ख}}\times\text{की}_{\text{ख}}}$$

किसी साधन की माग उसकी उत्पादनीयता पर निर्भर होती है। जब कोई उत्पादक कोई श्रादा (input) खरीदता है तो वह परोक्ष रूप से उत्पादनीयता खरीदता है। किसी श्रादा की माग, इस प्रकार, उत्पादन मे उसके योग-दान पर निर्भर होती है। जब किसी श्रादा की एक नई इकाई उत्पादक खरीदता है तो यथार्थ मे वह सम्भाव्य उत्पादक खरीदता है। उत्पादन मे कई साधनो का योग होता है। यदि अन्य साधनो को पूर्ववत् रहने दिया जाय तथा केवल एक ही की मात्रा मे वृद्धि की जाय तो हम देखेंगे कि उत्पादन बढ़ेगा, किन्तु जैसे-जैसे हम इस साधन की अधिकाधिक नई इकाइयो का प्रयोग करते जाते हैं, इकाइयो द्वारा लाई जाने वाली प्रति उत्पादक वृद्धि क्रमश कम होती जाती है। दूसरे शब्दों मे, उत्पादनीयता मे क्रमगत ह्रास का नियम लागू होता है और इसलिये उत्पादक इस साधन की नई इकाइयो की कीमत क्रमश कम लगाता जायगा। सीमान्त उत्पादनीयता वक्र वह उत्पादन-राशि प्रकट करता है जो कि उत्पादक किसी साधन के प्रयोग से पाने (और इस प्रकार उस साधन के लिये देने) की श्राशा करता है। यही वक्र किसी उत्पादन के साधन का वास्तविक रूप से मांग वक्र है। मौद्रिक दृष्टिकोण से हम इसे सीमांत भौतिक उपज के मूल्य का वक्र कह सकते हैं, लेकिन गौर से देखने पर हमें

पता चलेगा कि यह बात पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था ही मे सही होगी, जहा जैसा हम पहले कह आये है, सीमान्त उत्पादनीयता का मूल्य, सीमात मूल्य-उपज के बराबर होता है,

अर्थात् $$\text{सी मू उ}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}}$$

पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे सीमात उपज को यदि हम उत्पादित वस्तु की कीमत से गुणा करें तो यह गुणनफल, सीमांत उत्पादनीयता के बराबर होगा। लेकिन विक्रयेकाधिकार की हालत मे ऐसा नही होता, इसमे

$$\text{सी मू उ}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

विक्रयेकाधिकार की हालत मे सीमान्त उत्पादनीयता का मूल्य प्रमुख न होकर सीमान्त मूल्य-उपज प्रमुख होती है। विक्रयेकाधिकारी का ध्येय सीमात लागत, सीमात आय तथा कीमत मे समानता लाना नही होता जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे होता है। विक्रयेकाधिकारी सीमात मूल्य-उपज पर दृष्टि रखता है। इस लिये यदि हम सीमान्त मूल्य उपज वक्र खीचें तो यह वक्र पूर्ण प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकार दोनो अवस्थाओं मे किसी साधन के माँग-वक्र का काम करेगा। इस बात को ग्राफ द्वारा हम अधिक स्पष्ट कर सकते हैं,

हम यह मान लेते हैं कि साधन 'म' का पूर्ति वक्र क्षैतिज है अर्थात यह वक्र प्रकट करता है कि साधन की पूर्ति लोच अनन्त है।

हम ऊपर कह आये हैं कि सीमात मूल्य-उपज वक्र सामान्य रूप से किसी साधन का माग-वक्र माना जा सकता है। अत उपर्युक्त दोनो माग वक्र वास्तव मे सीमांत मूल्य-उपज वक्र हैं, अर्थात क्रम से, उन पर का प्रत्येक बिन्दु साधन 'म' की वृद्धि के फलस्वरूप वस्तु उत्पादन मे हुई सीमान्त मूल्य-उपज प्रकट करता है।

हम जानते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में :

$$\text{सी मू उ}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}} \quad \text{.........(१)}$$

उपर्युक्त चित्र में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होने वाली सीमान्त मूल्य उपज अर्थात् सी मू $\text{उ}_{\text{म}}$ को......संक्षेप में $\text{म}_{\text{प्र}}$ कहा गया है।

∴ समीकरण (१) को हम इस प्रकार भी लिख सकते हैं —

$$\text{म}_{\text{प्र}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}}$$

सर्वथ विक्रयेकाधिकार की हालत में

$$\text{सी मू उ}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

$$\text{म}_{\text{वि}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{क्ष}} \left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

एक दिये हुये उत्पादन की हालत में दोनों प्रकार के माग वक्रों के बीच की ऊर्ध्व दूरी विक्रयकाधिकार की डिग्री अर्थात् $\frac{१}{\text{लो}}$ पर निर्भर करती है। उपर्युक्त माग वक्रों से यह स्पष्ट है कि विक्रयेकाधिकार की अवस्था में साधन 'म' को पारितोषिक अपेक्षाकृत कम मिलेगा। यदि साधन 'म' की पूर्ति की लोच को हम अनन्त मान लें तो इसके पूर्ति वक्र को हम एक-क्षैतिज रेखा द्वारा दिखा सकते हैं। उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में '$\text{म}'_{\text{प्र}}$ वक्र पूर्ति वक्र को 'घ' विन्दु पर काटता है। यही विन्दु 'घ' पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में सस्थिति विन्दु होगा।

अर्थात्, साधन 'म' की कीमत = ग घ

या $\text{की}_{\text{म}}$ = ग घ

= क र

तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में साधन की कग मात्रा बिकेगी। लेकिन जब इसी साधन को कोई विक्रयेकाधिकारी खरीदेगा तो परिस्थिति बदल जायगी। सस्थिति का विन्दु 'ब' विन्दु पर आ जायगा। यद्यपि इसकी कीमत पूर्ववत् (पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में जितनी थी) ही रहेगी, फिर भी विक्रय मात्रा कम हो जायगी। अब केवल क ख मात्रा ही बिकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि विक्रयेकाधिकारी की उत्पादन राशि अपेक्षाकृत कम होती है। यदि यह साधन, 'म', मजदूर मान लिये जायें तो यद्यपि मजदूरों को मजदूरी उतनी ही मिल रही है फिर भी उनमें बेकारी फैली है तथा विक्रयेकाधिकार की हालत में अपेक्षाकृत उनको कम संख्या काम पर लगाई जायगी। फिर उनका शोषण भी हो रहा है। जब साधन की क ख मात्रा बिकती है तो इसके सीमान्त उत्पादन का मूल्य बराबर है ख घ अथवा क स अथवा

$\text{की}'_{\text{म}}$ के। अब यदि हम मजदूर का पारितोषिक उसके सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर रक्खें तो उसे ख घ या क स या $\text{की}'_{\text{म}}$ के बराबर मजदूरी मिलनी चाहिये, लेकिन उसे दिया जा रहा है $\text{की}_{\text{म}}$ अथवा क र। इसलिए मजदूरी का शोषण

$$= \text{की}'_{\text{म}} - \text{की}_{\text{म}}$$

$$= \text{क स} - \text{कर}$$

इस प्रकार विक्रयेकाधिकार की सस्थिति हम निम्नलिखित सूत्र शृंखला द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।

$$\text{की}_{\text{म}} = \text{सी मू उ}_{\text{म}} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{सी आ} = \text{सी उ}_{\text{म}} \times \text{की}_{\text{श}}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right)$$

यह एक सामान्य सूत्र है तथा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे भी सही होगा जहाँ

$$\text{की}_{\text{श}}\left(१ - \frac{१}{\text{लो}}\right) = \text{की}_{\text{श}}, \therefore \text{ सी मू उ} = \text{मू सी उ}$$

—०—०—

...१६

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकार की प्रवृत्ति वाली अन्य अवस्थाएँ

सन् १९३० के आस पास आर्थिक विश्लेषण मे कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये। इससे पूर्व का इस विषय पर साहित्य विक्रयेकाधिकार तथा प्रतियोगिता के विश्लेषण के भ्रामक तथा अतिरेकतापूर्ण चित्रो से भरा हुआ है। पूर्ण प्रतियोगिता को आर्थिक जगत का सामान्य क्रम तथा नियम मान लिया गया था। विक्रयेकाधिकार की अवस्था एक विशिष्ट परिस्थिति, सामान्य नियम के अपवाद स्वरूप, मानी गई थी जिसका अध्ययन करके किसी सामान्य नियम के प्रतिपादित करने की कोई आशा न थी। मूल्य विश्लेषण पूर्ण प्रतियोगिता की उपधारणा पर आधारित होता था। विक्रयेकाधिकार की चर्चा भी की जाती थी, लेकिन उसे पूर्ण प्रतियोगिता के बिल्कुल विपरीत छोर पर रखकर। जैसे कि एक ओर तो पूर्ण प्रतियोगिता का समतल उदधि चुप-चाप कार्यरत हो तथा दूसरी ओर विक्रयेकाधिकारी की एक दूसरे सर्वदा प्रथक कुछ गगनचुम्बी चोटियां लापरवाह उद्दण्डता से कहीं-कहीं आर्थिक-जगत को अपने पदो तले दबाये हुए अपने शौर्य की अमरता पर स्वय मुग्धा सी खडी हो। सिद्धान्त यह परिस्थिति भले ही कुछ सौन्दर्य प्रतीति सी रही हो, लेकिन व्यवहार मे इसकी प्रयोजनीयता बहुत कम थी। आर्थिक-जगत में विक्रयेकाधिकारिक शक्तियो की व्यापकता को मान्यता देने से इन्कार करने में परम्परावादी अर्थशास्त्री एक बहुत बडे यथार्थ को नजर अदाज करने की भूल करते रहे। यह बात नही कि परम्परावादियो को इस बात का पता ही न रहा हो कि वास्तविक ससार मे बाजार उनके सिद्धान्तो के अनुसार कार्य नहीं करता, जैसा कि श्राफा (Sraffa) ने कहा है कि ये अर्थशास्त्री उद्योगों के अध्ययन के लिये हमे पूर्णप्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तो को उपकरण के रूप मे देते अवश्य थे, किन्तु साथ ही इस बात की चेतावनी भी प्राय दे दिया करते थे कि साधारणत कोई भी उद्योग इन दोनो मे से किसी एक वर्ग मे पूर्णरूपेण नही खपेगा, बल्कि ये उद्योग इन दो ध्रुवों के बीच मे इतस्तता बिखरे हुए पड़े

मिलेंगे।[1] प्रथम महायुद्ध के बाद आर्थिक-जगत मे भयानक तूफान आये। युद्ध ने भौगोलिक व्यवधानों को ध्वस्त कर आर्थिक क्षेत्र को अत्यन्त सवेदनशील बना दिया था। स्पष्ट रूप से सरकारें इतिहास मे प्रथम बार अर्थशास्त्र से आर्थिक नीति निर्धारण मे सहायता माग रही थी। इस दृष्टिकोण से देखने से परम्परावादियो के सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण दिखाई पडे। पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना खोजने से कही भी साकार न दिखाई पडी और इस प्रकार इसकी उपधारणा के जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये थे वे भी सदिग्ध दिखाई पडने लगे। अ य दिन आर्थिक जगत मे ऋतु-परिवर्तन, अस्थायित्व का लोग निदान चाहते थे। मार्शल का मूल्य सम्बन्धी विश्लेषण कोई स्पष्ट मार्ग दिखाने मे असमर्थ था। मार्शल का समय विश्लेषण, उसका प्रतिनिधि फर्म सम्बन्धी प्रत्यय, उसके सिद्धान्त म वृद्धि-उन्मुख तथा ह्रासोन्मुख लागतो का स्थान तथा वाह्य मितव्ययता का सिद्धान्त—सब द्विविधापूर्ण ढग से प्रयुक्त किये हुये पाये गये[2]। लोग इस नतीजे पर पहुचने लगे कि आर्थिक क्षेत्र मे न कही शुद्ध व पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, न शुद्ध विक्रयेकाधिकार ही व्यापक है, उद्योगों की अवस्था प्राय इन दोनो के मध्य मे परिस्थिति अनुसार एक अथवा दूसरे के निकट कही पाई जाती है[3]। ये दोनो शक्तिया एक ही ताने-बाने मे बुनी हुई हैं, अथवा यह कहे कि इन दोनो शक्तियो का सम्मिश्रण एक रासायनिक प्रक्रिया है[4]। यह देखा गया कि माग पूर्ति विश्लेषण, जिस पर कि परम्परावादियो के मूल्य-विश्लेषण का ढाचा टिका हुआ था, परस्पर विरोधी निर्णय देता है, यह सब परिस्थितियो मे विश्वासनीय मार्ग नही दिखलाता। उत्पादन वृद्धि के मार्ग में ह्रासोन्मुख प्रत्याय (बढती हुई लागत) का नियम व्यवधान नहीं है। प्राय देखा जाता है कि उत्पादक-औसत लागत के घटते रहने पर भी बीच मे ही उत्पादन बन्द कर देता है। क्यो ? इसलिए कि ऐसा करने से उत्पादक अधिक वास्तविक लाभ पाने की आशा रखता है। इससे स्पष्ट है कि उत्पादक की स्वेच्छाचारिता अधिक उत्पादन के रास्ते मे प्राय अडचने डालती है न कि ह्रासोन्मुख प्रत्याय नियम।

इस दिशा म अध्ययन का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य स्राफा (Sraffa) ने सन् १६२६ ई० मे अपने एक प्रसिद्ध लेख* द्वारा प्रारम्भ किया। इस वक्त आर्थिक-जगत म प्रवृति यह थी कि लोग विक्रयेकाधिकार के अस्तित्व को सीमित रूप से

---

1 "The Laws of Returns under Competitives conditions" Economic Journal, Dec. 1926 P 542, (Quoted by *Mrs Robinson in Eco. of Imp Comp P. 3*)

2 A History of Eco Thought by *Eric Roll (1953) P. 470.*

3 Sraffa op cit

4 Chamberlin · The Theory of Monopolistic Comp. P. 3.

* *Piero Sraffa* "The Laws of Returns under Competitive conditions", Eco Journal, Dec. 1926, Pp 535—50

किया लेकिन वे इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम प्रतिपादित करने में असफल रहे। विक्रयाल्पाधिकार की एक प्रमुख विशेषता यह है कि किसी एक विक्रयाल्पाधिकारी की क्रिया का प्रभाव सम्पूर्ण बाजार पर पड़ता है। विक्रयाल्पाधिकार तथा चेम्बरलिन की शुद्ध प्रतियोगिता के बीच यही प्रमुख अन्तर है। चेम्बरलिन का विश्लेषण जिन उपधारणाओं पर आधारित है, वे अत्यधिक सैद्धान्तिक हैं। बाजार मांग के भिन्न भिन्न फर्मों के बीच विभाजन, फिर इन फर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध, एक फर्म की क्रियाओं के दूसरों पर प्रभाव आदि के सम्बन्ध में चेम्बरलिन की उपधारणाएँ उनके द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण की उपादेयता को संकुचित दायरे में ला देती हैं। इसीलिये कार्नू तथा एजवर्थ के साथ चेम्बरलिन पर भी यह अभियोग लगाया जा सकता है कि वे " ·· ·· विक्रयद्वयाधिकार अथवा विक्रयाल्पाधिकार का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर रहे थे, वरन् कुछ नमूने दिखा रहे थे।'[8] विक्रयकाधिकारिक प्रतियोगिता की अवस्था में कार्य करने वाले किसी उद्योग का निर्माण किस प्रकार के फर्मों के वर्गीकरण में होगा—इस विषय पर भी चेम्बरलिन का हल अत्यन्त क्षीण उपधारणाओं के आधार पर टिका है।

इन नये सिद्धान्तों का आर्थिक नीति में उपयोग भी प्रारम्भ हो गया। प्रो० बर्न्स ने इस ओर महत्वपूर्ण कदम उठाया*। उनके अनुसार विक्रयेकाधिकार मौजूदा औद्योगिक ढांचे का अभिन्न अंग है, उसे कानून द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, शुद्ध प्रतियोगिता के आदर्श होने को उसने स्वीकार किया, लेकिन उसने शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था को अव्यवहारिक तथा अप्राप्य बताया। इसका फल यह हुआ कि विवश हो आर्थिक क्षेत्र में राज्य की योजनाबद्ध नीति को उसने स्वीकार किया क्योंकि शुद्ध प्रतियोगिता के अभाव में आर्थिक ढांचे का समुचित संचालन और किसी भांति होना सम्भव नहीं दिखाई पड़ा। इसी दृष्टिकोण को कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी अपनाया। विशेषकर जर्मनी में इस वक्त राज्य के हस्तक्षेप तथा पथ-प्रदर्शन को अनिवार्य बताया गया जिससे कि हिटलर के 'राष्ट्रीय समाजवाद' को काफी उत्साह मिला**। यों तो शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था पहले ही दुर्लभ थी, ऊपर से चेम्बरलिन की परिभाषा ने उसे और अव्यवहारिक तथा असम्भव बना दिया।

---

8 *J. K. Galbraith in* —'A Survey of Contemporary Economics, P. 102.

* *A. R. Burns*. The Decline of Competition (N. Y. 1936)

** इस सम्बन्ध में Heinrich Von Stackelberg तथा उनकी पुस्तक Market form und Gleichgewicht (Vienna and Berlin 1934) के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन सबके पीछे जो प्रवृत्ति काम कर रही थी उसी से मैक्रो पद्धति के विश्लेषण को प्रोत्साहन मिला। केन्ज की 'जनरल थ्योरी' के पीछे भी यही प्रेरणा थी, जिसका विस्तार पूर्वक विवेचन इस पुस्तक में आगे किया गया है।

अमेरिकन बाजार की मौजूदा विशेषताओं को बताते हुये बन ने कहा है कि इस दिशा मे सामान्य प्रवृत्ति निम्नलिखित है[9] —

(१) उत्पादन थोड़े से विक्रेताओं के हाथ में केन्द्रित है,

(२) पूंजी उपकरणों के बाजार म क्रेताओं की सख्या अल्प है,

(३) लगभग सभी उपभोग्य सामग्री तथा कुछ पूंजी उपकरणों के क्षेत्र में वस्तु विभेदन (Product Differentiation) काफी महत्वपूर्ण ढग से कार्य कर रहा है,

(४) इन क्षेत्रों म 'अल्पता' के बहुत से ऐसे उपविभाग है जो विक्रयकाधिकार की श्रेणी मे आते है, तथा

(५) बाजारों की अन्य विशेषतायें भी हैं जैसे उत्पादन का टिकाउपन, भौगोलिक परिस्थितियो, बाजार के सगठन मे अपूर्णता की डिग्री आदि, जिनके आधार पर बाजार का वर्गीकरण किया जा सकता है।

उपर्युक्त भूमिका के प्रकाश म अब हम शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता और शुद्ध विक्रयेकाधिकार की मिश्रित अवस्थाओं का सक्षेप मे विवेचन करेंगे। लेकिन इस बात को पुन दुहरा देना आवश्यक है कि ये अवस्थायें इतनी जटिलता तथा वैविध्य लिये है कि इनके सम्बन्ध मे प्रस्तुत किये गये विवेचन सामान्य तथा सर्वथा लागू होने वाले नहीं। फिर भी उपकारणों का सहारा लेकर इनको जो कुछ विश्लेषण हुआ है वह काफी महत्वपूर्ण है।

अब हम सबसे पहले तो विक्रयद्वयाधिकार पर कार्नू आदि के दृष्टिकोण से विचार करेंगे, फिर विक्रयाल्पाधिकार और तत्पश्चात् विक्रयेकाधिकार प्रतियोगिता का विवेचन करेंगे।

कार्नू का सिद्धात (Cournot Theory)—

कार्नू एक फ्रांसीसी गणितज्ञ, इन्जीनियर तथा अर्थशास्त्री था। कीमत-निर्धारण के सिद्धान्त की व्याख्या करने का उसने प्रयत्न किया। पहले उसने एक विक्रयेका-धिकार की अवस्था पर विचार किया। फिर विक्रयकाधिकारी के समक्ष एक प्रतियोगी उपस्थित कर विक्रयद्वयाधिकार की स्थिति पर विचार किया तत्पश्चात् विक्रयाल्पाधिकार से होते हुये वह अर्थ प्रतियोगिता की स्थिति पर पहुच गया।

---

9 *Joe S Bain* 'A Survey of Contemp. Eco (Asia Publishing House. Lon Cal 1951) P. 136.

विक्रयद्वयाधिकार पर विचार करते समय कार्नूं की उपधारणायें निम्नलिखित हैं —

(१) दोनो फर्मों द्वारा बेची जाने वाली वस्तुयें एक दूसरे की पूर्णरूपेण स्थानापन्न है।

(२) उत्पादित वस्तु शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है जिससे कि उसे एक निश्चित अवधि मे बेच दिया जाना चाहिये।

(३) वस्तु के क्रताओ की संख्या बडी है।

(४) दोनो म से प्रत्येक फर्म वस्तु के बाजार माग वक्र को जानता है।

(५) दोनो फर्मों के लागत वक्र समरूप हैं तथा विश्लेषण की सुविधा के लिये मान लिया गया है कि लागत शून्य है, इससे विश्लेषण करने मे बहुत कुछ आसानी हो जायगी। जब लागत शून्य है तो प्रतियोगी कीमत भी शून्य होगी।

(६) माग वक्र सरल रेखीय है।

(७) प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ कमाना चाहता है, तथा

(८) फर्म यह जानते है कि उनमे अन्त निर्भरता है, किन्तु प्रत्येक फर्म अपनी क्रियाओ के दूसरे फर्म पर पडने वाले प्रभाव तथा उसके फलस्वरूप उसकी प्रतिक्रिया से अनभिज्ञ है। कार्नूं ने यह उपधारणा की कि प्रत्येक विक्रेता अपने प्रतिद्वन्द्वी की मौजूदा पूर्ति को दृष्टिगत रखते हुये तथा उसमे परिवर्तन न किए जाने की उपधारणा करते हुये अपनी पूर्ति मात्रा इस प्रकार निर्धारित करता है कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

यदि मागवक्र को हम सरल रेखीय मान लें तथा लागत को हम शून्य मान लें तो हम देखते हैं कि यदि वस्तु पूर्ण उपयोगिता वाले बाजार मे बेची जायगी तो कुल वस्तु मात्रा शून्य कीमत पर बिक जायगी। कीमत शून्य क्यो होगी ? इसलिए कि वस्तु की लागत हमने शून्य माना है, जिसका अर्थ है कि वस्तु की औसत तथा सीमान्त लागत भी शून्य होगी। हम जानते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजार मे वस्तु की कीमत बराबर होती है उस वस्तु की सीमान्त लागत के, और इस हालत मे चूकि सीमात लागत शून्य है इसलिये कीमत भी शून्य होगी। जब कीमत शून्य होगी तो माग अनन्त हो जायगी, इसलिये वस्तु की सम्पूर्ण मात्रा खप जायगी।

लेकिन यदि वस्तु विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे बेची जा रही है तो परिस्थिति भिन्न होगी, विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे कीमत, सीमान्त लागत के बराबर नहीं होती, इससे अधिक होती है। कीमत का सीमान्त लागत से आधिक्य ही विक्रयेकाधिकारिक लाभ होता है। हमारी मौजूदा उपधारणाओ के अन्तर्गत सीमांत लागत शून्य है, इसलिय विक्रयेकाधिकारी वस्तु की जो कीमत लेगा वह पूरी उसके लाभ

स्वरूप होगी। अब हमे यह देखना है कि विक्रयेकाधिकारी कितनी वस्तु मात्रा बेचेगा। अधिकतम लाभ उठाने के लिये इस अवस्था मे वह उपर्युक्त पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत बेची जाने वाली वस्तु मात्रा की आधी मात्रा बेचेगा, जैसा कि निम्नलिखित चित्र से विदित है :—
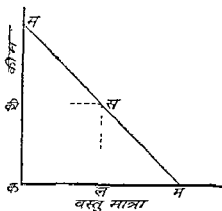
उपर्युक्त चित्र मे क म कुल वस्तु मात्रा है। म म उपभोक्ताओ की उस वस्तु के लिये मांग वक्र है। यह स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे शून्य कीमत पर वस्तु की सम्पूर्ण मात्रा, क म बिक जायगी।

विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे क्या होगा ? उपर्युक्त चित्र मे यह स्पष्ट है कि विक्रेता क ल वस्तु मात्रा को क की कीमत पर बेचता है, आयत क ल स की बराबर है विक्रेता द्वारा प्राप्त की गई कुल कीमत योग के। शून्य लागत की उपधारणा के फलस्वरूप यह सम्पूर्ण कीमत, क ल स की विक्रेता का विक्रयेकाधिकारिक लाभ है। यह आयत जितने ही बडे आकार का होगा, लाभ उतना ही अधिक होगा। चूंकि विक्रयेकाधिकारी अधिकतम लाभ कमाने का प्रयत्न करता माना गया है, इसलिये इस आयात को बडे मे बडा होना चाहिये। इस समकोणिक त्रिभुज मे बडे से बडा आयत वह होगा जिसकी एक भुजा बराबर होगी त्रिभुज के आधार के आधे के। अर्थात् आयत क ल स की बडे से बडा तभी हो सकता है जब क ल = ½ क म के। इस प्रकार हमे ज्ञात हुआ कि विक्रयेकाधिकारी क की कीमत पर क ल वस्तु मात्रा बेचकर अधिकतम लाभ उठायेगा तथा 'स' उसका सस्थिति बिन्दु होगा। इतना समझ लेने के बाद अब हम विक्रयेद्वयाधिकार की अवस्था मे कीमत तथा वस्तु पर विचार करेंगे।
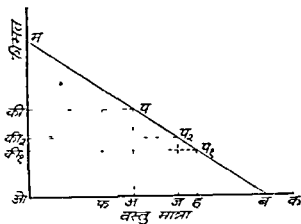
कार्नूं ने अपने विश्लेषण के लिये एक ऐसे विक्रयेकाधिकारी को लिया जो अकेला एक औषधीय जल के झरनों (Spring of medicinal water) का स्वामी है तथा इस झरने में इतना जल है कि यदि वह विक्रयेकाधिकारी उसे मुफ्त भी बांटे तो वह जल पूर्णरूपेण उपभोक्ताओं द्वारा खपाया नहीं जा सकता। यह भी उपधारणा करली गई है कि उसके निकालने की लागत शून्य है इसलिये प्रतियोगी कीमत भी शून्य है। उपभोक्ताओं द्वारा उस जल की माग का वक्र सरलरेखीय है जिससे कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये यह विक्रयेकाधिकारी जल की उस मात्रा का आधा भाग विक्रय करेगा जो मात्रा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में विक्रय की जाती। उपर्युक्त आकृ में इन उपधारणाओं को ध्यान में रखते हुये।

म ब = उपभोक्ताओं का सरलरेखीय माग वक्र है

ओ अ = अ ब

उपर्युक्त विक्रयेकाधिकारी ओ अ के बराबर औषधीय जल ओ की कीमत पर बेचता है। उसे विक्रयेकाधिकारिक लाभ ओ अ प की के बराबर प्राप्त होता है (जो अधिकतम है) क्योंकि उसकी लागत हमने शून्य माना है।

अब मान लिया कि एक अन्य ऐसा विक्रेता बाजार में पदार्पण करता है जिसके पास बिल्कुल वैसा ही औषधीय जल का झरना है जैसा कि उपर्युक्त विक्रयेकाधिकारी के पास है। कार्नूं का यह द्वितीय विक्रेता यह उपधारणा कर लेता है कि पहला विक्रयेकाधिकारी अपनी पूर्ति, ओ अ, को पूर्ववत बनाये रखेगा। यह उपधारणा करके वह अपनी पूर्ति को इस प्रकार निर्धारित करेगा कि उसे अधिकतम

लाभ प्राप्त हो सके। पहले विक्रयेकाधिकारी द्वारा न पूरी की जाने वाली, अ ब वस्तु मात्रा (औषधीय जल) के आधे, अ ह, के बराबर औषधीय जल की पूर्ति ह $प_1$ (या ओ $की_2$) कीमत पर करके वह अधिकतम लाभ, अ ह $प_1$ च, अर्जित करेगा। अब औषधीय जल की कुल पूर्ति मात्रा ओ अ+अ ह अर्थात ओ ह के बराबर हो गई। पहले विक्रयेकाधिकारी को भी अपनी कीमत घटाकर ओ $की_1$ बराबर करनी पडेगी अन्यथा बाजार से वह बिल्कुल उठ जायगा। इसस पहले विक्रयेकाधिकारी का लाभ कम होकर अब ओ अ च $की_1$ के बराबर हो जाता है। पहला विक्रयेकाधिकारी यह देखता है इस दूसरे आगन्तुक के कारण ही उसके लाभ का ह्रास हुआ। यह उपधारणा कर कि यह आगन्तुक अपनी पूर्ति मात्रा को पूर्ववत बनाये रखेगा अर्थात उसकी किसी क्रिया का इस आगन्तुक की पूर्ति मात्रा पर कोई प्रभाव न पडेगा, अपनी पूर्ति मात्रा को इस प्रकार समायोजित करेगा कि उसे मौजूदा परिस्थितियो के अन्तर्गत सम्भव अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। अधिकतम लाभ वह तभी पा सकेगा जब दूसरे विक्रेता द्वारा पूर्ति-मात्रा को छोडकर ओ ब के शेष भाग के आधे के बराबर मात्रा की पूर्ति वह करे अर्थात वह अपनी पूर्ति मात्रा $\frac{1}{2}$ (ओ ब — अ ह) अर्थात् ओ फ के बराबर निर्धारित करे। यहा इस बात पर ध्यान रहे कि पहला विक्रयेकाधिकारी (ओ ब—अ ह) उस मात्रा के लिये अब भी अपने को पूर्ण विक्रयेकाधिकारी मानता है। यद्यपि यह मात्रा बिल्कुल काल्पनिक है फिर भी विश्लेषण की सरलता के किये कार्नू ने यह ऐसी उपधारणा की है और इस बात को लेकर उनकी आलोचना भी बहुत हुई है। दूसरा विक्रेता पहले विक्रयेकाधिकारी की उपर्युक्त क्रिया के फलस्वरूप अब अपने लिये अधिक अर्थात फ ब मात्रा के बराबर, बाजार खुला पाता है। अत वह यह उपधारणा करके कि पहला विक्रयेकाधिकारी ओ फ मात्रा बचता रहेगा, अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये इस फ ब [अथवा (ओ ब – ओ फ)] के आधे फ ज के बराबर अपनी पूर्ति मात्रा निर्धारित करेगा। पहले विक्रयेकाधिकारी पर पुन इसका प्रभाव पडेगा तथा प्रतिक्रिया स्वरूप वह अपनी पूर्ति मात्रा को ओ फ से घटा कर $\frac{1}{2}$ (ओ ब—फ ज) कर देगा, जिसकी प्रतिक्रिया दूसरे पर पुन होगी तथा तदनुसार ही अपनी पूर्ति मात्रा की समायोजना वह भी करेगा। इन समायोजनाओ को करते समय प्रत्येक विक्रेता तभी अधिकतम लाभ पायेगा जब वह अपनी पूर्ति को इस प्रकार निर्धारित करेगा कि उसकी पूर्ति=$\frac{1}{2}$ (ओ ब—दूसरे विक्रेता की पूर्ति मात्रा), इस प्रकार क्रिया प्रतिक्रिया तथा समायोजना तब तक चलती रहेगी जब तक दोनो की पूर्ति मात्रा बराबर नही हो जाती। कार्नू के अनुसार इस दशा म दोनो विक्रेता की पूर्ति मात्राओ का योग बराबर होगा $\frac{2}{3}$ ओ प के, अर्थात् दोनो का यौगिक विक्रय उस विक्रय मात्रा के $\frac{2}{3}$ के बराबर होगा जो मात्रा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे बेची जाती। विक्रयद्वयाधिकार की हालत मे यही सस्थिति होगी।

अर्थात् (कार्नू के अनुसार)

पहले विक्रेताधिकारी का उत्पादन

(पूर्ति मात्रा) $=$ ओ ब $(१ - \frac{१}{२} - \frac{१}{८} - \frac{१}{३२} \ldots) = \frac{१}{३}$ ओ ब ... (१)

दूसरे विक्रेता का उत्पादन—

(या पूर्ति मात्रा) $=$ ओ ब $(\frac{१}{४} + \frac{१}{१६} + \frac{१}{६४} \ldots) = \frac{१}{३}$ ओ ब (२)

कुल उत्पादन, उपर्युक्त—

(१) + (२) समीकरणों को जोड़ने से

$= $ ओ ब $(१ - \frac{१}{२} + \frac{१}{४} - \frac{१}{८} + \frac{१}{१६} - \frac{१}{३२} + \frac{१}{६४} \ldots) = \frac{२}{३}$ ओ ब

इसी प्रकार यह दिखाया जा सकता है कि यदि विक्रेताओं की संख्या तीन होगी तो कुल पूर्ति $\frac{३}{४}$ ओ ब के बराबर होगी तथा प्रत्येक $\frac{१}{४}$ ओ ब के बराबर पूर्ति करेगा। इसी प्रकार जब विक्रेताओं की संख्या ४ ५ अथवा 'न' होगी तो कुल पूर्ति क्रमशः $\frac{४}{५}$ ओ ब, $\frac{५}{६}$ ओ ब तथा $\frac{न}{न+१}$ ओ ब के बराबर होगी। यदि इस प्रकार बढ़ते बढ़ते संख्या १०० हो जाय तो कुल पूर्ति $\frac{१००}{१०१}$ ओ ब हो जायगी, और यदि संख्या इस प्रकार बढ़ती गई तो कुल पूर्ति करीब-करीब ओ ब के बराबर हो जायगी तथा शुद्ध प्रतियोगिता की अवस्था उत्पन्न हो जायगी।

ऊपर हमने देखा है कि कार्नू ने यह उपधारणा करली है कि उत्पादन लागत शून्य है। यदि लागत वक्रों को हम अपने चित्र में ले भी आयें तो हमारे निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं आता। हमारा निष्कर्ष यह है कि जैसे-जैसे विक्रेताओं की संख्या १ से अनन्त तक बढ़ती जाती है वैसे वैसे कीमत विक्रेताधिकारिक अवस्था वाली कीमत से घट कर 'शुद्ध प्रतियोगिता की कीमत के निकट आती है। यदि विक्रेताओं की संख्या ज्ञात हो तो कीमत निर्धारणीय होती है। दी हुई विक्रेता संख्या की हालत में, सन्तुलित की कीमत, प्रतियोगिता की कीमत अपेक्षाकृत सबसे निकट उस समय होगी जब वस्तु उत्पादन क्रमगत ह्रास लागत के अन्तर्गत हो रहा है तथा सबसे दूर उस समय होगी जब वस्तु-उत्पादन क्रमगत वृद्धि लागत के अन्तर्गत हो रहा है। क्रमगत स्थिर लागत होने पर कीमत इन दोनों के बीच में होगी।[1]

हम यह उपधारणा कर लें कि उपर्युक्त दो प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे की पूर्ति मात्रा स्थिर न मान कर कीमत को स्थिर मानते हैं तो प्रत्येक अपनी कीमत को

---

1 "The essential conclusion is that as the number of sellers increases from one to infinity the price is continually lowered from what it would be under monopoly conditions to what it would be under purely competitive conditions and that, for any number of sellers, it is perfectly determinate. The equilibrium price, for any number of sellers, would be closer to the purely competitive price under diminishing cost than under constant cost, and closer under constant cost than under increasing cost."

—*Chamberlin, E. The Theory of Monopolistic Competition 7th edn. P 34*

समायोजित करेगा न कि पूर्ति मात्रा को तथा पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव कीमत पर पड़ेगा।

कानूं के सिद्धान्त पर काफी आक्षेप किये गये हैं। सन १८८३ ई० में बर्ट्रान्ड (Bertrand) ने कहा कि यदि कोई विक्रयेकाधिकारी अपनी वस्तु को 'की' कीमत पर बेच रहा है तथा कोई अन्य फर्म समानुरूप वस्तु बेचने के लिये बाजार में आता है तथा अपनी वस्तु की कीमत विक्रयकाधिकारी की कीमत 'की' से कम (मान लिया की$_1$) रखता है तो वस्तु के सारे क्रेता इस दूसरे के पास आ जायेंगे और पहले विक्रयेकाधिकारी का विक्रय गिर कर शून्य हो जायगा। तब पहला विक्रयेकाधिकारी कीमत को घटा कर दूसरे क्रेता की कीमत से भी नीचे कर देता है जिससे कि दूसरे क्रेता का विक्रय गिर कर शून्य हो जाता है, इस लिये वह पुनः अपनी कीमत में कटौती करता है। इस प्रकार यह क्रिया-प्रतिक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि कीमत गिर कर प्रतियोगिता की कीमत पर नहीं आ जाती (जहां कीमत=सीमान्त आय=सीमान्त लागत)। यह स्पष्ट है कि बर्ट्रान्ड ने यह उपधारणा कर ली है कि वस्तु की पूर्ति असीमित है, जिससे कि अपने प्रतिद्वन्द्वी की कीमत की अपेक्षा कीमत कम कर देने से प्रत्येक दूसरे द्वारा बेचे जाने वाली मात्रा की भी पूर्ति कर सकेगा।

Pareto ने भी बर्ट्रान्ड की उपर्युक्त युक्ति का अनुमोदन किया तथा कहा कि दो विक्रेताओं (विक्रयद्वयाधिकार) की अवस्था प्रतियोगिता की अवस्था जैसी ही होगी क्योंकि प्रत्येक विक्रेता अपनी कीमत तब तक कम करता जायगा जब तक उसकी कुल वस्तु मात्रा खप नहीं जाती। इस लिये इस हालत में भी कीमत तथा बेची जाने वाली वस्तु मात्रा प्रतियोगिता की अवस्था जैसी ही होगी।

कानूं की आलोचना एजवर्थ ने भी की। इन्होंने विक्रयद्वयाधिकार (Duoply) की समस्या का अपना हल प्रस्तुत किया।[2] कानूं ने अपना विश्लेषण विक्रयेकाधिकार से शुरू किया था। एजवर्थ अपनी विवेचना यह उपधारणा कर प्रारम्भ करते हैं कि बाजार में पहले ही से दो विक्रेता मौजूद हैं। यह पहले ही बता देना आवश्यक है कि एजवर्थ के अनुसार विक्रयद्वयाधिकार के अन्तर्गत कीमत निश्चित तथा स्थिर नहीं हो पाती, व संस्थिति पर पहुंचने के बजाय एक कम्पन विस्तार (Amplitude) के मध्य दोलित हुआ करती है—कभी इस ओर कभी उस ओर। संक्षेप में, एजवर्थ की विवेचना निम्नलिखित ढंग से की गई है।

मान लिया कि बाजार में दो विक्रेता समान वस्तु बेच रहे हैं। यह भी मान लिया कि बाजार में क्रेताओं की संख्या २ स है, जिनमें से 'स' क्रेता एक विक्रेता के पास हैं तथा 'स' दूसरे के।

---

2 Papers Relating to political Economy, Vol I (1925) London Pp 118 etc
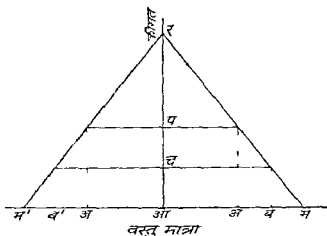
वस्तु का समूचा बाजार इन्ही दो विक्रेताओ के बीच बटा हुआ है। उपर्युक्त के चित्र मे र म तथा र म दो माग वक्र एक दूसरे के पीछे दिखाए गये हैं। इनमे से एक वक्र एक विक्रेता की वस्तु के लिये माग व्यक्त करता है, दूसरा दूसरे की वस्तु के लिये। हम पहले ही कह चुके हैं कि क्रेताओ की सख्या दोनो विक्रेताओ के बीच बराबर बटी हुई मानी गई है। ओ ब तथा ओ ब दोनो विक्रेताओ की क्रमश अधिकतम पूर्ति मात्राएँ हैं, अर्थात् ओ ब तथा ओ ब' से अधिक वस्तु मात्राएँ वे बेचने के लिये प्रस्तुत नही कर सकते। ओ ब $=\frac{2}{3}$ ओ म, जबकि ओ म वस्तु की वह वस्तु मात्रा है जिसे शून्य कीमत (जो कीमत प्रतियोगिता की हालत मे रहेगी क्योंकि उत्पादन की लागत हमने शून्य माना है) पर क्रेता खरीदते। यदि अपने आधे बाजार मे दोनो मे से एक विक्रेता अकेला होता तो वह अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये ओ अ (अथवा ओ अ') वस्तु मात्रा बाजार मे ओ प कीमत पर विक्रय के लिये प्रस्तुत करता। स्पष्ट है कि ओ अ=ओ अ $=\frac{1}{2}$ ओ म$=\frac{1}{2}$ ओ म तथा ओ प$=\frac{1}{2}$ ओर।

बर्ट्रान्ड की तरह एजवर्थ ने यह उपधारणा नही की है कि दोनो विक्रेताओं मे से प्रत्येक असीमित वस्तु मात्रा की पूर्ति कर सकता है। हमने ऊपर कहा है कि इन्होंने विक्रेताओं की पूर्ति क्षमता सीमित, ओ ब तथा ओ ब' माना है। अब यह सम्भव है कि इनमे से एक विक्रेता अपनी कीमत को कुछ कम कर दे। इसका फल यह होगा कि यह विक्रेता अपने प्रतिद्वन्द्वी के कुछ ग्राहको को अपनी ओर खींच लेगा, क्योंकि कीमत कम होने से क्रेता इसी विक्रेता के यहाँ से खरीदेंगे (यह मान लिया गया है कि क्रेता तथा विक्रेता बाजार की हालतो से पूर्णतया अवगत है) और यह तब तक बेचता रहेगा जब तक इसकी कुल वस्तु मात्रा (ओ ब अथवा ओ ब) खप न जाय। तब क्रेताओं को विवश होकर दूसरे विक्रेता के यहा जाना पड़ेगा। लेकिन दूसरा विक्रेता चुप तो नहीं बैठेगा; वह भी अपनी कीमत को कम करके वैसा ही करना चाहेगा। इस प्रकार की क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहेगी तथा अन्त में जब

एक विक्रेता की कीमत घट कर ओ च के बराबर हो जायगी तो कोई विक्रेता इससे नीची कीमत करने की हिम्मत न करेगा। इसी कीमत पर दोनो विक्रेताओ की सम्पूर्ण वस्तु मात्रा (ओ व+ओ व') बिक जायगी।

लेकिन इसका अर्थ यह नही कि इस कीमत (ओ च) पर, जिस पर कि दोनो विक्रेता अपनी अपनी सम्पूर्ण वस्तु मात्राएँ बेच दे रहे हैं, सस्थिति आ जायगी। "इस बिन्दु पर (ओ च कीमत पर) ऐसा आभास हो सकता है कि सस्थिति प्राप्त हो जायगी। निश्चय ही कीमत को और नीचे गिराना दोनो मे से किसी भी विक्रयेकाधिकारी के लिये हितकर न होगा। किन्तु कीमत को इससे ऊँची करना दोनो के लिये हितकर होगा।"[3] मान लिया कि एक विक्रेता ओ च कीमत पर अपनी वस्तु बेचता है। इस कीमत पर वह अपनी सम्पूर्ण वस्तु मात्रा (मान लिया ओ व) बेच देगा। लेकिन इससे ग्राहको की सम्पूर्ण सख्या, जिसको हमने २ स माना है, तो तुष्ट नही होगी। केवल ग्राहको की आधी सख्या 'स' ही वस्तु को पा सकेगी, शेष 'स' की माग अब भी पूरी नही हुई। अब उपर्युक्त विक्रेता के पास वस्तु बची ही नही तो वह बेचेगा क्या। नतीजा यह होगा कि यह शेष क्रेता, 'स' (जो शायद ग्राहको की कतार मे पीछे थे) दूसरे विक्रेता के यहाँ से वस्तु खरीदना चाहेगे। दूसरा विक्रेता अब अपने को एक शुद्ध विक्रयेकाधिकारी की अवस्था में पाता है क्योकि पहले विक्रेता की सम्पूर्ण वस्तु मात्रा के बिक जाने के बाद अब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रह गया। इसलिये वह कीमत बढा देगा। क्रेता और कीमत से नीचे किसी भी कीमत पर वस्तु कमोवेश मात्रा मे खरीदने के लिये तैयार हैं। इसलिये कोई कारण नही कि यह दूसरा विक्रेता अपनी कीमत को बढाकर ओ प के बराबर न कर दे, क्योकि इसी कीमत पर उसका लाभ अधिकतम होगा। आगे चलकर दूसरी अवधि मे पहला विक्रेता भी, अनुकरणस्वरूप, अपनी कीमत को बढा कर ओ प के बराबर कर सकता है क्योकि इससे उसे भी अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकेगा। तत्पश्चात् उपर्युक्त क्रिया-प्रतिक्रिया की पुनरावृत्ति होगी। इस प्रकार कीमतें प तथा च बिन्दुओ के बीच म दोलित हुआ करेंगी।

एजवर्थ ने कहा कि हो सकता है कि दोनो विक्रेता आपस मे समझौता कर आधे आधे बाजार को परस्पर बाट कर कीमत ओ प के बराबर रख सकते है। इससे दोनो को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। ऐसे समझौते के अभाव मे विक्रयद्वयाधिकार की हालत मे सस्थिति की स्थिर अवस्था कभी नही आ सकती तथा कीमत सदैव अनिश्चित रहेगी। हा कीमत के उच्चतम तथा निम्नतम बिन्दु अवश्य ज्ञात किये जा सकते हैं। इन्ही दो बिन्दुओ के बीच कीमत घटती बढती रहेगी।

ये विभिन्न सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं—

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने विक्रयद्वयाधिकार के मामले का भिन्न-भिन्न हल प्रस्तुत किया। काफी अर्से तक ये हल परस्पर विरोधी माने जाते रहे।

3 Ibid

लेकिन अब ऐसा नही माना जाता। वास्तविकता यह है कि आर्थिक जगत की अपार पेचीदगियो के कारण भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न उपधारणाओ के आधार पर अपने अपने नतीजे निकाले। हम पहले अन्यत्र बता चुके हैं कि हमारे नतीजे (अनुमान) उन उपधारणाओ पर निर्भर होते हैं जिनकी मान्यता के आधार पर वे निकाले जाते हैं।

प्रतिक्रिया-गुणक (The Reaction Coefficient) —

विक्रयद्वयाधिकार की अवस्था मे हर हालत मे किसी एक विक्रेता की क्रियाओं का दोहरा प्रभाव पडता है :—

[१] एक तो एक की क्रिया से, दूसरे विक्रेता की वस्तु के माग वक्र मे प्रतिक्रिया स्वरूप स्थान परिवर्तन आ जाता है,

[२] दूसरे पहले विक्रेता की वस्तु के माग वक्र मे दूसरे विक्रेता की प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वय स्थान परिवर्तन आ जाता है।

ये प्रतिक्रियायें दो प्रकार की होती हैं। या तो मौजूदा कीमत पर कोई विक्रेता पूर्ति मात्रा घटा-बढा सकता है अथवा मौजूदा पूर्ति-मात्रा को स्थिर रखकर कीमत घट-बढा सकता है। इनको हम प्रतिक्रिया-गुणक की सहायता से माप सकते हैं। एक विक्रेता की कीमत अथवा पूर्ति-मात्रा मे परिवर्तन के फलस्वरूप दूसरे की वस्तु-मात्रा अथवा कीमत मे (क्रमश) परिवर्तन से हमे प्रतिक्रिया-गुणक मिलता है। मान लिया कि किसी विक्रयद्वयाधिकारिक बाजार मे क तथा ख दो विक्रेता हैं। यह भी मानलिया कि जब क अपनी वस्तु को 'की' कीमत पर बेचता है तो ख अपनी मौजूदा कीमत पर 'म' मात्रा के बराबर वस्तु बेचता है। अब यदि क ने अपनी कीमत मे Δ की के बराबर परिवर्तन कर दिया जिसके फलस्वरूप ख द्वारा बेची जाने वाली वस्तु मात्रा मे Δ म के बराबर परिवर्तन आ गया तो (यह स्मरण रहे कि 'ख' ने अपनी कीमत मे परिवर्तन नही किया) तो -

$$\text{प्रतिक्रिया-गुणक} = \frac{\Delta \text{म}}{\text{म}_{\text{ख}}} \Big/ \frac{\Delta \text{की}}{\text{की}_{\text{क}}}$$

जहा $\text{म}_{\text{ख}}$ = ख द्वारा बेची जाने वाली पहले की वस्तु मात्रा।

$\text{की}_{\text{क}}$ = क द्वारा ली जाने वाली कीमत

Δकी = क द्वारा अपनी कीमत में परिवर्तन।

Δ = क के कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप आई ख के विक्रय मात्रा मे परिवर्तन।

यह तो हुई क द्वारा कीमत परिवतन की प्रतिक्रिया।

अब, कीमत मे परिवतन के बजाय क अपनी पूर्ति वस्तु मात्रा मे परिवतन करे तो क्या होगा ? स्वभावत इसका प्रभाव ख द्वारा ली जाने वाली कीमत पर पडेगा। यदि क अपनी पूर्ति माना मे (कीमत म बिना परिवतन किये) △म के बराबर परिवतन करता है जिसके फलस्वरूप ख की कीमत मे △की के बराबर परिवततन होता है तो

$$\text{प्रतिक्रिया-गुणक} = \frac{\triangle \text{की}}{\text{म}_{\text{ख}}} \bigg/ \frac{\triangle \text{म}}{\text{म}_{\text{क}}}$$

जहां $\text{की}_{\text{ख}}$ = ख द्वारा ली जाने वाली परिवतन से पहले की कीमत तथा

$\text{म}_{\text{क}}$ — क की पहले की पूर्ति-मात्रा।

इस प्रकार हम ख की क्रियाओं की क पर प्रतिक्रिया को माप सकते है और फिर इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप ख के माँग वक्र म आये परिवतन को भी देख सकते हैं।

प्रतिक्रिया वक्र (Reaction Curves)—

विक्रेताद्वय धिकार की हालत म क्या कोई ऐसी कीमत सम्भव है जो दोनों विक्रताओ को समान रूप से स्वीकार हो ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये प्रतिक्रिया वक्रो का सहारा लिया गया है।
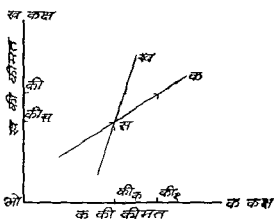
क जब कोई दी हुई कीमत अपनी वस्तु की लेता है तो वह चाहता है कि ख अमुक कीमत ले अर्थात् क अपनी प्रत्येक कीमत पर ख द्वारा एक निश्चित कीमत लेने की कल्पना करेगा अथवा यों कहो कि, क की प्रत्येक कीमत के लिये ख की एक सगत कीमत है। यदि क अपनी कीमत $\text{की}_{\text{न}}$ के बराबर रखेगा तो वह चाहेगा कि ख अपनी कीमत को $\text{की}_{\text{म}}$ के बराबर रखे ($\text{की}_{\text{न}}$ तथा $\text{की}_{\text{म}}$ कोई भी

रकमें हो सकती हैं)। इस प्रकार पृष्ठ ५३४ पर दिए चित्र में क-वक्र पर क की कीमत दिखाई गई है तथा ख-वक्र पर ख की। वक्र क को क द्वारा ली जाने वाली भिन्न-भिन्न कीमतों तथा उनके संदर्भ में वह भिन्न भिन्न कीमतें जो (अपनी भिन्न भिन्न कीमतों पर) क चाहेगा कि ख अपनी वस्तु पर ले, को आलेखित करके बनाया गया है। ख वक्र इसी प्रकार ख की कीमत को क की कीमत के संदर्भ में प्रदर्शित करता है। इससे स्पष्ट है कि यदि क अपनी कीमत ओ की, के बराबर रखेगा तो वह चाहेगा कि ख अपनी कीमत ओ की' के बराबर रखे।

दोनों वक्र एक दूसरे को स बिन्दु पर काटते हैं। इस बिन्दु पर क द्वारा ली जाने वाली कीमत ओ की$_{क}$ है तथा वह चाहता है कि ख ओ की$_{ख}$ के बराबर कीमत ले तथा ख की कीमत वास्तव में ओ की$_{ख}$ के बराबर है तथा वह चाहता है कि क ओ की$_{क}$ के बराबर कीमत ले जो वास्तव में क द्वारा ली जाने वाली कीमत है। इस प्रकार यह बिन्दु स ऐसा है जिस पर एक विक्रेता द्वारा ली जाने वाली दूसरे की इच्छा के बिल्कुल अनुकूल है। यदि हम कीमत के स्थान पर वस्तु मात्राएँ लें या लाभ लें तो भी ऐसे ही प्रतिक्रिया वक्र हमें प्राप्त हो सकते हैं।[४] अगले अध्याय में हम बाजार की विक्रयाल्पाधिकारिक अवस्था का विवेचन करेंगे।

—•—

4 For a detailed study See J R. Hicks "Theory of Monopoly" in Econometrica, Vol III Pp 1—20 and R. Triffin, Monopolistic Competition and General Eqm Theory Harvard Eco. Studies.

२०

विक्रयाल्पाधिकार
(Oligopoly)

विक्रयाल्पाधिकार बाजार की उस अवस्था को कहते है जहा विक्रेताओ की सख्या दो से अधिक हो लेकिन इतनी कम होती है कि प्रत्येक विक्रेता की पूर्ति का बाजार की कीमत पर प्रभाव पडता है तथा प्रत्यक विक्रेता इस बात को जानता है। विक्रेताओ की सख्या प्राय दो से बीस तक के बीच मे होती है। इनमे से *प्रत्येक विक्रेता यह जानता है कि यदि उसने अपनी कीमत तथा विक्रय नियोजन* अथवा अपनी वस्तु की उपादेयता या विज्ञापन व्यय अथवा स्व नियन्त्रित अन्य किसी परिवर्तनशील तत्व मे कोई परिवर्तन किया तो उसके प्रतिद्वन्द्वियो पर उसकी प्रतिक्रिया होगी तथा वे उसका प्रत्युत्तर देंगे। विक्रयाल्पाधिकार की अवस्था मे कार्य करने वाले फर्म अन्योन्याश्रित होते हैं। उनका विक्रय, क्रय, उत्पादन विज्ञापन सम्बन्धी नियोजन इसी अन्तर्निर्भरता को ध्यान मे रखकर किया जाता है। प्रत्यक फर्म की क्रियाओ का प्रभाव बाजार पर व्यक्त हो जाता है, जिससे कि उसके प्रतिद्वन्द्वी उनका प्रत्युत्तर दे सकते हैं।

विक्रयाल्पाधिकार दो प्रकार से वजूद म आ सकता है, एक तो, उद्योग मे बहुत से फर्म आरम्भ म रहे हो, लेकिन कतिपय कारणो से फर्मों की सख्या निरन्तर कम होती गई है और अब केवल थोडे से ही फर्म क्षेत्र में रह गये, दूसरे, प्रारम्भ ही स उद्योग मे फर्मों की सख्या सीमित थी। जब उद्योग मे बहुत से फर्म काम करते हो, लेकिन उत्पादन क्रमगत उत्पादन-वृद्धि के नियम के अन्तर्गत हो रहा हो तो फर्मों को अपने विस्तार करने की प्रवृत्ति तथा प्रेरणा मिलेगी, लेकिन उत्पादन मे परिवतन ल आकर उसे बडे पैमाने पर करने के लिए अधिक पूजी, योग्यतर प्रबन्धक तथा अधिक साहस की आवश्यकता होगी। जिन फर्मों के पास ये साधन पर्याप्त रूप मे होंगे वे बडे पैमाने पर उत्पादन कर अपनी लागत को कम कर सकेंगे, लेकिन जिन फर्मों को ये साधन पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं है वे ऐसा न कर सकेंगे। फल यह होगा कि कमजोर फर्मों को शक्तिशाली फर्मों का मुकाबला करना असम्भव हो जायगा। बडे पैमाने पर उत्पादन करन से शक्तिशाली फर्मों की औसत लागत गिरेगी जिसमे कि वे अपनी वस्तु की कीमत कम करके भी लाभ

उठा सकेंगे। लेकिन कमजोर फर्मों को इससे हानि होगी। उनकी लागतें पूर्ववत् होंगी। कीमत कम हो जाने से उनको घाटा उठाना पड़ेगा। फलतः दीर्घकालीन अवधि में कमजोर फर्में उद्योग से निकल जायेंगे तथा केवल कुछ शक्तिशाली फर्में ही शेष रह कर विक्रयाल्पाधिकार की परिस्थिति का निर्माण करेंगे।

यही नहीं कि शक्तिशाली फर्में कमजोर फर्मों को अपनी मौत मरने दें। वे विभिन्न उपायों से अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट करने की चेष्टा करते रहते हैं। लाभ को उच्चतम बनाने तथा प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करने की विधियां कीमत में हेर-फेर के अतिरिक्त अन्य भी बहुत है, जैसे वस्तु विभेदन तथा विज्ञापन द्वारा। इसके अतिरिक्त कभी-कभी बड़े पैमाने पर उत्पादन से लाभ उठाने के लिये कई फर्मों का एक में विलीनीकरण कर दिया जाता है। फर्में अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न ग्राहकों अथवा ग्राहक-वर्गों से भिन्न-भिन्न कीमत लेते हैं। इसका वर्णन पीछे विक्रयाधिकार के संदर्भ में हम कर आये हैं। जहां प्रतिद्वन्द्वी अधिक होते हैं वहां कुछ तथा अन्यत्र कुछ कीमतें ली जाती हैं। यह कीमत-विभेदन स्पष्ट रूप से किया जा सकता है तथा गुप्त रूप से भी। जहां विक्रेता को यह डर होगा कि उसका भेद खुल जाने से उसके अन्य प्रतिद्वन्द्वी भी उसी का अनुसरण करेंगे अथवा उसके अन्य क्रेता भी कुछ रियायत मांगना शुरू करेंगे, वहां वह अपने कीमत विभेदन को गुप्त रखने की चेष्टा करेगा। इसके अतिरिक्त बड़े फर्म अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हानि पहुंचाने के और न जाने कितने भिन्न भिन्न दुरुपाय करते हैं। इनमें से बहुतों का जिक्र पहले हम विक्रयेकाधिकार संदर्भ में कर चुके हैं। लेकिन ऐसे उपायों की कोई पूर्ण अनुसूची तैयार करना असम्भव है। मनुष्य की मेधा आवश्यकतानुसार नित्य नये उपाय ढूंढ़ निकालती है। प्रायः फर्में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को किसी न किसी रूप में बदनाम करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी वस्तु, उनके आचरण तथा व्यवहार आदि पर छिप-छिप कर आक्षेप करते हैं, जिससे कि क्रेता उनसे दूर चले जाय। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के शुन्यी-करण का एक अन्य तरीका जो समय-समय पर प्रबल फर्मों ने अपनाया है, वह है कीमत-युद्ध। सबल फर्में अपनी कीमतों को इतना कम करते जाते हैं कि निर्बल प्रतिद्वन्द्वियों के दिवाले निकलने लगते हैं और वे उद्योग को छोड़ने पर विवश हो जाते हैं। जब प्रतिद्वन्द्वी कम हो गये तो पुनः ऊंची कीमत द्वारा सबल फर्में अपना घाटा पूरा कर लेते हैं।

ऊपर बताये हुए तमाम उपाय विक्रयेकाधिकारिक स्थितियों की संस्थापना तथा उन्हें दीर्घकालीन बनाने के काम में लाये जाते हैं। विक्रयाल्पाधिकार की स्थापना में भी ये उपाय अकेले अथवा सब मिलकर सहायक होते हैं तथा विक्रयेकल्पाधिकार को दीर्घ जीवन प्रदान करने के काम में भी ये आते हैं।

विक्रयाल्पाधिकार को बनाये रखने के लिये जहा तक सम्भव होता है ऐसे उपाय अपनाये जाते है जो प्रतिद्वन्द्वियो से गुप्त रखे जा सकें।

हम पहले यह कह आय हैं कि विक्रयाल्पाधिकार की अवस्था मे फर्म अपनी कीमत को घटाने स डरता है क्योकि उसके प्रतिद्वन्द्वी भी वैसा ही करगे और उसे अपनी कीमत घटाने से कोई लाभ न हो पायगा। इसलिये फर्में प्राय कीमत को छोड कोई अ कीमत (Non price) तरीका ढूढते है जिससे कि व अपने विक्रय को बढाकर अधिकाधिक लाभ कमा सक। ऐसे तरीको मे दो प्रमुख हैं– एक अधिकाधिक विज्ञापन, दूसरा वस्तु विभेदन। विज्ञापन तथा वस्तु विभेदन के सम्बन्ध म हमने अन्यत्र बहुत कुछ कहा है।* विज्ञापन बाजारो मे विक्रयेकाधिकारिक अवस्थाओ के होने का सबसे पुष्ट प्रमाण है। सयुक्त राज्य अमेरिका [U S A] के सम्बन्ध म यह कहा गया है कि ठीक ठीक आकडे तो प्राय नही 'लकिन यदि हजारो छोटे व्यवसायो के आकडे भी एकत्रित किय जा सकें तो [विज्ञापन] पर व्यय किया जाने वाला धन ५,०००,००० ००० डालर ($ 5 billion)** को पहुच सकता है।[1] वस्तु विभेदन विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियो का निर्माण कर सकता है। फम क ताओ की दृष्टि मे अपनी वस्तु को उसी प्रकार की अन्य उपलब्ध वस्तुओ से भिन्न बनाने तथा सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है।

अत, हम इस नतीजे पर पहुच सकते है कि किसी ऐसे उद्योग मे जिसमे कि प्रारम्भ मे बहुत से फम रह हो किस प्रकार विक्रयाल्पाधिकारिक अवस्था पैदा हो जाती है। प्रारम्भ मे, उद्योग के सब फर्म समान, समावयव, वस्तु बेचते हैं। लकिन धीरे विज्ञापन तथा वास्तविक या काल्पनिक वस्तु विभेदन द्वारा एक फर्म उपभोक्ताओ की दृष्टि मे अपनी वस्तु को औरो से भिन्न बना देता है। फिर वह अपनी कीमत कम करके अन्य उपायो द्वारा कमजोर प्रतिद्वन्द्वियो को समाप्त कर देता है। अत धीरे धीरे उद्योग मे केवल थोडे से शक्तिशाली फम ही बच पाते हैं लकिन इससे यह नही समझना चाहिए कि विक्रयाल्पाधिकार का जन्म वस्तु विभेदन का एक मात्र परिणाम होता है। वस्तु विभेदन न होने से भी छोटे फर्मों को अधिक शक्तिशाली फम उद्योग से निकलने पर भिन्न भिन्न प्रकार की कूटनीति और आर्थिक तथा राजनैतिक दबाव द्वारा विवश कर देते हैं। फिर फर्मों म विलयन की प्रवृत्ति भी बडी तीव्र हो सकती है। विशेषकर जहा विलियन लाभ के दृष्टिकोण स लाभप्रद सिद्ध हो सकता है वहा छोटे फर्म बडे फर्मों मे विलीन होते जाते हैं। इसके अतिरिक्त

---

* विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता का अध्याय देखिये।

** In England one billion = a mill on m llions i e 1 000 000 000 000 and in U S A and France one billion = one thousand millions i e 1 000 000 000

1 The New York Times, Jan 3, 1950, p 89 printers Ink estimated adver tisin expenditures during 1949 at $ 5 2 billions Quoted by A R Oxenfeldt Industrial Pricing and Market Practices (1951) P 223

फर्मों के बीच दुरभि सन्धि (Collusion) हो सकती है अथवा अन्य प्रकार का संगठन अथवा एकीकरण हो सकता है। ये सब विक्रयाल्पाधिकार को जन्म दे सकते हैं।

विक्रयाल्पाधिकार का प्रादुर्भाव दूसरी तरह प्रारम्भ हो से थोडे से फर्मों के साथ हो सकता है। ऐसी हालत मे उद्योग मे प्रारम्भ ही से फर्मों की संख्या सीमित तथा अल्प होती है। इस प्रकार की अवस्था का जन्म भी भिन्न भिन्न कारणों से हो सकता है कि प्रारम्भ मे इतनी पूंजी की आवश्यकता हो कि छोटे फर्म 'उद्योग' म प्रवेश करने की हिम्मत न कर सके जैसे लोहे तथा इस्पात के उत्पादन के लिये।* कभी कभी सरकार लाइसेंस द्वारा किसी वस्तु के उत्पादन को नियन्त्रित कर सकती हैं जिससे कि कुछ थोडे ही फर्मों को लाइसेंस प्राप्त होता है। पेटेन्ट तथा कॉपीराइट भी विक्रयेकाधिकार की सहायता करते हैं। ऐसा भी संभव है कि वस्तु विशेष के उत्पादन के लिये किसी परमावश्यक संसाधन के पूर्ति श्रोत पर कुछ अन्य ही लोगों का अधिकार हो।

इस तरह हम देखते हैं कि विक्रयाल्पाधिकार का जन्म कितने ही प्रकार से हो सकता है।

विक्रयाल्पाधिकार का वर्गीकरण—

किसी प्रकार की खोज में वर्गीकरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। तर्क की आगमन तथा निगमन, दोनों प्रणालियो म वस्तु विषय को समझने के लिये वर्गीकरण आवश्यक होता है। विक्रयाल्पाधिकार की उपर्युक्त स्थूल परिभाषा के बाद यह आवश्यक है कि इसके वर्गीकरण की भी हम चेष्टा करें। वर्गीकरण के लिये कोई आधार आवश्यक होता है। विक्रयाल्पाधिकार का वर्गीकरण हम कई प्रकार से कर सकते हैं।

(१) बन्द तथा खुला विक्रयाल्पाधिकार—बन्द विक्रयाल्पाधिकार से तात्पर्य ऐसी अवस्था से है जहा 'उद्योग' म नये फर्मों के प्रवेश पर किसी न किसी प्रकार की रोक अथवा कोई नियन्त्रण है जिससे कि नये फर्म 'उद्योग' म प्रवेश नही कर सकते। सरकार द्वारा लगाई गई रोक, कापी राइट, पेटेन्ट आदि के आधार पर नये फर्मों के प्रवेश पर निषेध अथवा पुराने फर्मों द्वारा उत्पन्न की गई बाधाए और कभी कभी प्रवेश के लिये आवश्यक पूंजी के बहुत बडी होने पर आदि अवस्थाए बन्द विक्रयाल्पाधिकार को जन्म देती है।

खुला विक्रयाल्पाधिकार वह अवस्था है जबकि 'उद्योग' का द्वार नये फर्मों के प्रवेश के लिये खुला होता है।

(२) शुद्ध तथा विभेदित विक्रयाल्पाधिकार—यह वर्गीकरण उत्पादित वस्तु के गुण धर्म के आधार पर किया गया है। जब 'उद्योग' के सभी फर्मों द्वारा उत्पादित (अथवा बेची जाने वाली) वस्तु समावयव होती है तो विक्रयाल्पाधिकार शुद्ध कहा जाता है। यदि प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु क्रेताओं की दृष्टि में भिन्नता लिये होती है, अर्थात् यदि उद्योग के फर्म अपनी-अपनी वस्तुओं में, वास्तविक अथवा 'कृत्रिम' कोई विभेदन पैदा कर देते हैं तो विक्रयाल्पाधिकार विभेदित कहलाता है। विभेदन की दशा में फर्मों द्वारा उत्पादित (तथा बेची जाने वाली) वस्तुएं समावयव नहीं होती बोल्डिंग ने शुद्ध तथा विभेदित विक्रयाल्पाधिकार को क्रमश पूर्ण तथा अपूर्ण विक्रयाल्पाधिकार कहा है।

(३) आंशिक तथा पूर्ण विक्रयाल्पाधिकार—जब 'उद्योग' में कोई एक फर्म इतना बड़ा होता है कि 'उद्योग' के अन्य फर्म उसे नेता मानकर कीमत आदि के क्षेत्र में उसी का अनुसरण करते हैं तो विक्रयाल्पाधिकार आंशिक कहलायेगा क्योंकि 'उद्योग' के प्रत्येक फर्म का कीमत निर्धारण आदि का अधिकार सीमित होगा। यदि प्रत्येक फर्म किसी नीति के लिये किसी अन्य फर्म पर आश्रित नहीं है तथा स्वतन्त्र रूप से कीमत तथा उत्पादन सम्बन्धी निर्णय करता है तो विक्रयाल्पाधिकार पूर्ण कहलायेगा।

(४) दुरभि सन्धि युक्त अथवा दुरभि-सन्धि-मुक्त विक्रयाल्पाधिकार (Collusive and non-Collusive)—जब 'उद्योग' के फर्म कीमत, उत्पादन बाजार के बटवारे आदि के सम्बन्ध में परस्पर समझौता कर लेते हैं तथा प्रत्येक फर्म तदनुसार ही कार्य करता है तो विक्रयाल्पाधिकार दुरभि सन्धि युक्त कहलाता है। फर्मों के बीच ऐसे समझौते की अनुपस्थिति में विक्रयाल्पाधिकार दुरभि-सन्धि मुक्त कहलाता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण न तो पूर्ण ही कहा जा सकता है न पर्याप्तरूपेण वैज्ञानिक ही। विक्रयाल्पाधिकार के आधार, इसकी परिस्थितियां तथा इसके कार्य-करण इतने अधिक जटिल तथा विभिन्नता लिये होते हैं कि इसका पूर्ण वर्गीकरण असम्भव सा है। उपर्युक्त वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक भी नहीं क्योंकि ये वर्ग परस्पर एक दूसरे को आंशिक अथवा पूर्णरूपेण प्रतिछायित कर लेते हैं।

विक्रयाल्पाधिकार, विक्रयैकाधिकार, विक्रयद्वयाधिकार तथा विक्रयैकाधिकारिक प्रतियोगिता

विक्रयाल्पाधिकार विक्रयद्वयाधिकार तथा अन्य विक्रयैकाधिकारिक परिस्थितियों में भिन्न होता है। अग्रलिखित तालिका पर हम इनके बीच सामान्य विभिन्नताओं को संक्षेप में बतायेंगे—

विक्रयेकाधिकार	विक्रयद्वयाधिकार	विक्रयाल्पाधिकार	विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता
एक विक्रेता।	दो विक्रेता। इनमें आपस में दुरभि संधि अथवा कोई समझौता हो सकता है।	दो से अधिक और प्राय बीस से कम विक्रेता। दुरभि संधि तथा समझौता यहाँ भी प्राय पाया जाता है।	विक्रेताओं की संख्या पर्याप्त रूपेण बड़ी। दुरभि संधि तथा समझौतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
केवल समावयव वस्तु-उत्पादन करता है, जिसका बाजार में कोई दूर का भी स्थानापन्न नहीं होता।	प्राय समावयव वस्तु का उत्पादन करते हैं।	दोनों सम्भावनाएँ हैं, अर्थात् समावयव वस्तु का उत्पादन भी हो सकता है, किन्तु प्राय प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु विभेदित होती है जिसके कारण फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ एक दूसरे की सन्निकट स्थानापन्न होने के बावजूद भी एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न नहीं होती।	वस्तु विभेदन प्रमुख गुण होता है। फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ परस्पर निकट स्थानापन्न होती हैं (पूर्ण स्थानापन्न कभी नहीं)
नए फर्मों के प्रवेश पर कठोर दुर्निवार प्राय अड़चनें होती हैं।	नये फर्मों के प्रवेश पर अड़चन होती है।	नये फर्मों के प्रवेश पर अड़चन होती है।	नये फर्मों के प्रवेश पर अड़चन नहीं होती।

विक्रयेकाधिकार	विक्रयद्वयाधिकार	विक्रयाल्पाधिकार	विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता
कीमत सर्वाधिक ऊँची होगी तथा विक्रयेकाधिकारिक लाभ उच्चतम होगा। कीमत निर्धारणीय है। कीमत इतनी होगी कि विक्रयेकाधिकारी की सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो जाय।	कीमत निर्धारणीय है अथवा नहीं—इस बात पर काफी मतभेद है। यह बात कई परिस्थितियों पर निर्भर है। यदि फर्मों के बीच दुरभि-संधि हुई तो उनको पर्याप्त विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त होंगे वर्ना लाभ विक्रयेकाधिकारिक अवस्था से सदा कम होंगे। इसमें दोनों फर्मों के बीच दुरभि-संधि तथा समझौतों की सम्भावना अधिक होती है, क्योंकि दुरभि-संधि अथवा किसी न किसी प्रकार के समझौते के होने पर ही दोनों फर्मों को लाभ हो सकता है।	कीमत का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। कुछ लोगों के मत के अनुसार यदि वस्तु विभेदन न हुआ तो कीमत निर्धारणीय (Determinate) हो ही नहीं सकती। फर्मों की संख्या जितनी ही अधिक होगी, कीमत उतनी ही कम होगी। कीमत सिद्धान्त मौलिक रूप से वैसा ही है जैसे कि विक्रयद्वयाधिकार के अन्तर्गत। फर्मों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतना ही उनकी सीमान्त लागतें भिन्न होंगी जिसका फल यह होगा कि फर्मों के मध्य कोई दुरभि-संधि। अथवा समझौते की सभावना फर्मों की संख्या में वृद्धि होने के साथ साथ कम होती जाती है।	पहले तीनों अवस्थाओं की अपेक्षा कीमत कम होगी। फर्म की संस्थिति तब आती है जब सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो जाय। कीमत निर्धारणीय प्राय होती है।

विक्रेताधिकार	विक्रयद्वयाधिकार	विक्रयाल्पाधिकार	विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता
	यह समझौता कीमत-निर्धारण, उत्पादन-मात्रा, बाजार के बटवारे आदि के सम्बन्ध में हो सकता है। यदि फर्मों की लागतें समान हुई तो समझौते की सम्भावना और अधिक होगी। यदि दुरभि सधि हो गई तो विक्रयेकाधिकारिक अवस्था उत्पन्न हो जायगी तथा विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत जिस तरह कीमत निर्धारित की जाती है उसी भाँति कीमत यहा भी निर्धारित की जा सकेगी।	वस्तु विभेदन की हालत मे प्रत्येक फर्म कुछ हद तक विक्रयेकाधिकारी होगा। कीमत विक्रयेकाधिकारिक अवस्था से प्राय कम होगी तथा पूर्ण प्रतियोगिता की हालत से अधिक।	
	यदि दोनो फर्म एक ही प्रकार की वस्तु उत्पादित कर रहे हैं तथा उनकी लागतें समान हैं तो दीर्घकालीन अवधि मे दोनो की कीमतें बराबर होगी। क्योंकि यदि	वस्तु विभेदन न होने पर भी कीमत युद्ध का उतना खतरा नही होता जितना कि विक्रयद्वयाधिकार की हालत मे होता है। दुरभि सधि तथा समझौतो की उतनी सभावना नही होती जितनी कि विक्रयद्वयाधिकार की हालत मे।	

विक्रयेकाधिकार	विक्रयद्वयाधिकार	विक्रयाल्पाधिकार	विक्रेकाधिकारिक प्रतियोगिता
	किसी एक की कीमत दूसरे से कम हुई तो सब ग्राहक पहले उत्पादक के पास चले जायेंगे तथा दूसरे का विक्रय शून्य होगा (पूर्ण विवरण के लिये इस विषय पर दिया हुआ अध्याय देखिये)। यदि लागतें असमान हुई तो कम लागत वाला अधिक लागत वाले फर्म को बन्द करवा देने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि कीमत-युद्ध मे इसी की जीत होगी। दोनो फर्मों मे समझौता होगा या कीमत-युद्ध होगा, कौन विजयी होगा आदि प्रश्नो के उत्तर के लिये हम यह देखना पडेगा कि दोनो फर्मों की लागतें क्या हैं, एक, दूसरे को भगा कर कितना लाभ उठा पायेगा, दोनों के सापेक्षित आकार कैसे हैं?		

एक फर्म अपनी नीति को दूसरे से किस हद तक गुप्त रख सकता है, एक की क्रिया का दूसरे पर कितनी देर में प्रभाव पड सकता है, क्रेताओ में फर्मों के प्रति लगाव किस हद तक है, कीमत मे हेर फेर होने से क्रेता कितनी शीघ्रता से एक फर्म को छोड दूसरे के पास जा सकते हैं, माँग की लोच क्या है आदि। हाँ यदि दोनो फर्मों द्वारा उत्पादित 'वस्तुएँ' कुछ वास्तविक अथवा कृत्रिम, विभेदित हैं तो दोनो फर्म किसी हद तक विक्रयका-धिकारी होगे तथा विक्रयेका-धिकारिक लाभ कमायेंगे। तब दोनो के बीच कोई समझौता होना भी कठिन होगा।

विक्रयेकाधिकार	विक्रयद्वयाधिकार	विक्रयाल्पाधिकार	विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता
		कीमत घटाता है तो भी इसे कोई खास लाभ न होगा क्योंकि शीघ्र ही अन्य प्रतिद्वन्द्वी भी अपनी कीमतें घटा देंगे (पूर्ण विवरण के लिये आगे देखो)। सच तो यह है कि विक्रयेकाधिकार, विक्रयद्वयाधिकार तथा विक्रयाल्पाधिकार, तीनों मे कीमत-स्थिरता प्राय पाई जाती है।	
माग तथा लागत मे परिवर्तन कीमत तथा उत्पादन मात्रा पर काफी प्रभाव डालेंगी।	माग तथा लागतें कीमत तथा उत्पादन पर प्रभाव विक्रयेकाधिकार की दशा से तो कम पर और हालतो मे अधिक डालेंगी।	मांग तथा लागतें कीमत तथा उत्पादन को बहुत अधिक प्रभावित नही करती।	माग तथा लागतें कीमत तथा उत्पादन पर सबसे कम प्रभाव डालती हैं।
उत्पादन-मात्रा निम्नतम होती है।	उत्पादन-मात्रा विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत से तो अधिक किन्तु अन्य अवस्थाओ की अपेक्षा कम होती है।	उत्पादन मात्रा पहली दोनो अवस्थाओ की अपेक्षा अधिक होती है।	उत्पादन मात्रा के अन्य तीन अवस्थाओ से अधिक होने की सम्भावना होती है।

हुई कीमत पर, आवश्यकता पूरी करने की पर्याप्त क्षमता है। लेकिन ऐसी दशा में इसके प्रतिद्वन्द्वी सम्भवत चुप न बैठे रहेंगे। अपनी बिक्री कम होते देख वे भी अपनी कीमतें कम कर देंगे जिससे कि फर्म को कीमत घटाने से कुछ अधिक लाभ नहीं हो पायेगा। इसके स्थान पर, यदि यह फर्म अपनी कीमत मे प्रचलित कीमत की अपेक्षा वृद्धि करता है तो स्पष्ट है कि इसके ग्राहक अन्यत्र चले जायेंगे क्योंकि उन्हे वही वस्तु कम दाम पर अन्यत्र मिल रही है। इस फर्म के कीमत घटाने पर जहा अन्य फर्मों ने भी कीमतो को घटाया होता, वहा इसके द्वारा कीमत बढाये जाने पर अन्य फर्म अपनी कीमतें सम्भवत न बढायेंगे या बढायें भी तो हमारे फर्म की अपेक्षा कम बढायें। अत यह कहना उचित है कि जहा वस्तु समरूप तथा सब फर्मों के पास अतिरिक्त उत्पादन क्षमता विद्यमान है अर्थात् वे अपने उत्पादन का बढा सकते हैं तो किसी फर्म द्वारा कीमत म कटौती किये जाने पर अन्य फर्म भी उसके प्रत्युत्तर स्वरूप अपनी-अपनी कीमतें घटा देंगे, लेकिन यदि कोई फर्म कीमत मे वृद्धि करता है तो उसे यह भरोसा बिल्कुल नही रखना चाहिये कि अन्य फर्म भी उसका अनुसरण करेंगे। यह बताना अत्यन्त कठिन है कि किसी फर्म द्वारा कीमत-परिवर्तन उसके प्रतिद्वन्द्वियों मे क्या तथा कितनी प्रतिक्रिया पैदा करेगा। इस अनिश्चय के कारण किसी ऐसे सामान्य स्तर का पता लगाना जिस पर कि विक्रयाल्पाधिकार की स्थिति मे कीमतें स्थिर होंगी असम्भव सा है। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि विक्रयाल्पाधिकार म अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन, दोनो अवधियो मे कीमत अनिर्धारणीय होती है, भले ही हम उसकी उच्चतम तथा निम्नतम स्थिति का पता लगा लें किन्तु इन बिन्दुओ के बीच निश्चय के साथ यह नही बताया जा सकता कि कीमत कहा ठहरेगी।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुचे कि विक्रयाल्पाधिकार के बाजार की दो मौलिक विशेषतायें य हैं कि (१) प्रतिद्वन्द्वियो की प्रतिक्रिया तथा प्रत्युत्तर के डर के कारण किसी फर्म को कीमत-कटौती का साहस कम होता है तथा (२) किसी फर्म द्वारा कीमत मे वृद्धि किये जाने पर अन्य प्रतिद्वन्द्वी शायद ही इस पथ का अनुसरण करें और यदि करेंग भी तो शायद ही उतनी दूर तक। कीमत-वृद्धि की हालत में प्रतिद्वन्द्वियो की प्रतिक्रिया अत्यन्त अनिश्चित होगी।

इसको हम ज्योमेट्री की भाषा मे इस तरह कह सकते हैं कि विक्रयाल्पाधिकार मे प्रत्यक फर्म के समक्ष एक ऐसा माग वक्र होता है, जिसमे प्रचलित कीमत-स्तर पर एक खम होता है। यह खम कीमत बढाने या घटाने के रास्ते मे सबसे बडा रोडा अटकाता है। फलत प्रत्यक फर्म अपनी मौजूदा कीमत के स्तर को ही बनाये रखना चाहता है तथा कीमत परिवर्तन बहुत कम होते हैं।

अब इस आधार पर हम और आगे जा सकते हैं। उपर्युक्त कीमत स्थिरता विक्रयाल्पाधिकार मे उस समय भी पाई जायगी जब प्रत्येक फर्म विभेदित वस्तु बेचेगा, जो अन्य फर्मों की वस्तुओ की पूर्ण नही लेकिन सन्निकट स्थानापन्न है। इस दशा में

फर्मों की कीमतो के स्तर भिन्न भिन्न होंगे लेकिन कोई फर्म सम्भवत कीमत परिवर्तन करने का साहस उपर्युक्त कारणो से नही करेगा। इस प्रकार विक्रयाल्पाधिकार में फर्म का वक्र निम्नांकित ढग का होगा
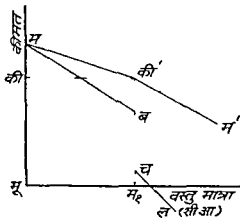
चित्र(१)

ऊपर के चित्र म मे की म औसत विक्रय अथवा औसत आय(या माग) वक्र मे है। इस वक्र मे की' विन्दु पर एक खम है जिसका अर्थ यह है कि इस बिन्दु पर मांग की लोच मे एकाएक परिवर्तन आ जाता है। म की' म' वक्र का सगति सीमान्त आय वक्र म ब च ल व तथा च बिन्दुओ के बीच में विरत है। इसका कारण है औसत आय वक्र की लोच मे की' बिन्दु पर अचानक परिवर्तन। कदाचित पॉल स्वीजी ने सर्व प्रथम खमदार मांग वक्र का प्रयोग कर यह दिखाने की चेष्टा की कि विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत कीमत बलोच होती है।[1]

ऊपर के चित्र मे मू की प्रचलित कीमत है। इस कीमत पर फर्म मू म१ वस्तु मात्रा बेचता है। इस कीमत से अधिक कीमत होने से माग की लोच बढ़ जाती है, जैसा हम पहले कह आये हैं, फर्म द्वारा कीमत बढाये जाने पर उसके प्रतिद्वन्द्वी सम्भवत उसका अनुसरण नही करेंगे जिसका फल यह होगा कि उसके ग्राहक प्रतिद्वन्द्वियो के यहा चले जायेंगे, जहां उन्हे वस्तु सस्ती मिलगी। दूसरे शब्दो मे, कीमत वृद्धि से बिक्री मे अनुपात से अधिक कमी हो जाती है जिससे कि विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने वाले फर्म को प्रचलित कीमत मे वृद्धि करने से कोई लाभ न होगा। की बिन्दु से नीचे माग वक्र अपेक्षाकृत कम लोचदार हो गया है। यदि फर्म अपनी बिक्री को मू म१ से अधिक करना चाहता है तो उसे कीमत घटानी पड़ेगी। लेकिन वह जैसे ही कीमत कम करेगा उसके प्रतिद्वन्द्वी भी वैसा ही करगे बल्कि हो सकता है कि अपने खोये हुए ग्राहको को वापस लाने के लिये ये प्रतिद्वन्द्वी अपनी कीमतें पहले फर्म से भी कम कर दें। इसका फल यह होगा कि फर्म को, कीमत कम

1 'Demand under Conditions of Oligopoly by *Paul M Sweezy* in 'Journal of Political Economy August 1939 P 568

करने से, अधिक लाभ न हो पायेगा। सम्पूर्ण उद्योग मे कीमत कटौती से कुल माग मे जो वृद्धि होगी उसका कुछ अंश ही फर्म को मिल पायेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कीमत कम करने से फर्म की विक्रय-मात्रा मे अनुपात से कम वृद्धि होगी अर्थात् की बिन्दु से नीचे माग वक्र की लोच मे अचानक कमी आ जाती है।

यहा यह दृष्टव्य है कि फर्म को अपनी वस्तु के माग वक्र के आकार का पूरा ज्ञान नही होता। केवल प्रचलित कीमत पर वह वस्तु की माग को जानता है। कीमत मे वृद्धि करने से उसे यह नही मालूम कि उसके प्रतिद्वन्द्वियो की क्या प्रतिक्रिया होगी। जहा तक कीमत कम करने का प्रश्न है वह उसके लिये लाभप्रद इसलिये नही होगा कि उसके प्रतिद्वन्द्वी भी अपनी-अपनी कीमत कम कर देंगे। इसलिये शुद्ध विक्रयाल्पाधिकार मे तो कीमत अत्यन्त स्थिर होगी, क्योंकि प्रचलित कीमत ही फर्म के लिये इष्टतम कीमत होगी। इस कीमत पर भले ही फर्म को अधिक लाभ न हो पाये किन्तु मौजूदा परिस्थितियो मे यही कीमत सबसे अधिक श्रेयस्कर है। अर्थात फर्म अपनी कीमत मू को से अधिक अथवा कम करने का साहस शीघ्र नही कर सकता। मू की कीमत बेलोच |तथा स्थिरप्राय. है।

जहा तक सीमान्त आय वक्र का प्रश्न है वह औसत आय वक्र मे की' बिन्दु पर खम होने के कारण ब तथा च बिन्दुओ के बीच विरत है। ब तथा च के बीच की दूरी की' बिन्दु पर औसत आय वक्र की लोच मे अचानक परिवर्तन की मात्रा पर निर्भर है। की' बिन्दु से ऊपर माग वक्र की लोच जितनी ही अधिक होगी अथवा/तथा की' बिन्दु से नीचे माग वक्र की लोच जितनी ही कम होगी सीमान्त आय वक्र मे विरतता, ब च, उतनी ही बडी होगी। इस विरतता का अर्थ यह है कि प्रचलित कीमत से ऊपर तथा नीचे की औसत आयो की सगति सीमान्त आयो में अन्तर है। और यह अन्तर म' की तथा की' म' की लोचो पर निर्भर करता है। हम अन्यत्र यह देख चुके हैं कि की' $म_1$ की' कीमत पर सीमान्त आय

$$= म_1 की' \left(1 - \frac{1}{लो}\right)$$

इसका अर्थ यह हुआ कि की बिन्दु पर म की' वक्र के ऊपर जितना ही अधिक लोच (लो) होगी तथा की' बिन्दु पर की' म' वक्र के ऊपर लोच जितनी ही कम होगी दोनो सीमान्त आयो के बीच का अन्तर उतना ही अधिक होगा। यदि पहली क्रय तथा दूसरी सीमान्त आयों को हम क्रमश सी $आ_1$ तथा सी $आ_2$ द्वारा व्यक्त हैं करते तो

$$की' सी आ_1 = म_1 की' \left(1 - \frac{1}{लो_1}\right) \text{ तथा}$$

$$सी आ_2 = म_1 की' \left(1 - \frac{1}{लो_2}\right)$$

स्पष्ट है कि सी आ$_1$ तथा सी आ$_2$ का अन्तर लो$_1$ तथा लो$_2$ के अन्तर पर निर्भर है। ज्योमेट्री की भाषा में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि ∠म की म जितना ही कम होगा, ब च की दूरी उतनी ही अधिक होगी। जब ∠म की' म' कम होते होते समकोण हो जायगा तो ब च की दूरी बढ़कर चरम बिन्दु पर पहुँच जायगी। हम यह जानते हैं कि फर्म को अधिकतम लाभ उसी कीमत पर तथा उतने उत्पादन से प्राप्त होगा जिस पर उसकी सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर हो जाती हैं। हम देखते हैं कि मू की कीमत तथा मू म$_1$ वस्तु की मात्रा फर्म के लिये सबसे अधिक श्रेयकर तथा लाभदायक कीमत तथा विक्रय-मात्रा है। हम यह कह चुके हैं कि फर्म को अपना उत्पादन मू म$_1$ से कम या अधिक करना हानिकारक होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को ब तथा च के बीच किसी बिन्दु पर काटता है, या इस प्रकार कहें कि सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र के विरतता से गुजरती है। इसका यह अर्थ हुआ कि लागत के बढ़ने घटने का प्रभाव भी तब तक विक्रयाल्पाधिकारी की कीमत तथा उत्पादन पर नहीं पड़ेगा जब तक कि सीमान्त लागत वक्र ब से ऊपर तथा च से नीचे नहीं जाता। इस बात को हम निम्नांकित चित्र से और स्पष्ट करेंगे —

विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत लागत परिवर्तन
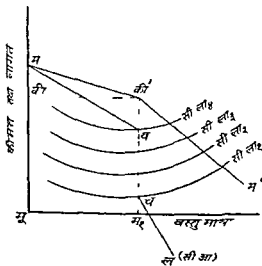
चित्र (२)

ऊपर के चित्र (२) में मू की प्रचलित कीमत, मू म$_1$ विक्रय मात्रा, म की' म' माँग वक्र तथा म ब च ल (जो ब तथा च के बीच विरत है) सीमान्त आय वक्र है। हम यह कह चुके हैं कि मू म$_1$ फर्म की मौजूदा परिस्थितियों में इष्टतम विक्रय मात्रा है। इष्टतम विक्रय मात्रा वहीं होती है जहाँ सीमान्त आय तथा सीमान्त

मांग में वृद्धि —

पहले हम मांग में वृद्धि होने की कल्पना करेंगे। विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत मांग में वृद्धि होने से कीमत में वृद्धि होने की सम्भावना बहुत कम होगी। ऊपर जैसा हम कह चुके हैं, कीमत में वृद्धि करते समय फर्म बहुत हिचकता है। उसे इस बात का डर बराबर बना रहता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी वैसा न करेंगे और अन्त में कीमत वृद्धि से कोई विशेष लाभ उसे न होने पायेगा। क्योंकि कीमत बढ़ने से उसके ग्राहक प्रतिद्वन्द्वियों के पास चले जायेंगे जिनकी कीमतें इस फर्म की अपेक्षा कम हैं। जब ऐसी अवस्था होगी तो मांग में वृद्धि भी फर्म को कीमत बढ़ाने की पर्याप्त प्रेरणा न दे सकेगी। मान लिया कि उद्योग' में पांच फर्म, काम कर रहे हैं। वस्तु की मांग में वृद्धि होने से इनको पता चल जायगा क्योंकि मौजूदा कीमत पर उनमें से प्रत्येक की बिक्री बढ़ जायेगी। लेकिन सम्भावना के होते हुये भी कि कीमत बढ़ा देने से लाभ अधिक होगा, कोई फर्म ऐसा करने का साहस न करेगा क्योंकि वह जानता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी सम्भवतः अपनी कीमत को न बढ़ायेंगे तथा कीमत बढ़ाने वाले फर्म के ग्राहक उसे छोड़ उसके प्रतिद्वन्द्वियों के पास चले जायेंगे। इस प्रकार मांग में वृद्धि के बावजूद भी प्रचलित कीमत से अधिक कीमत पर मांग की लोच बहुत अधिक होगी। इसको हम निम्नांकित ग्राफ की सहायता से और सफलता के साथ समझ सकते हैं —

विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत मांग में वृद्धि

चित्र (३)

चित्र (३) में म की' म' प्रारम्भिक मांग (औसत आय) वक्र है तथा म ब₁ घ₁ स (ब₁ घ₁ विरतता के साथ) उसका सगति सीमान्त आय वक्र है। मांग में वृद्धि होने पर फर्म यह देखेगा कि जहां प्रारम्भ में वह मू की कीमत पर मू $म_1$ वस्तु मात्रा बेच पाता था वहां अब उसी कीमत पर वह मू $म_2$ मात्रा बेच रहा है जो पहले

से $म_1$ $म_2$ अधिक है। इस हालत मे सम्भवत वह कीमत बढा देता किन्तु उसके मार्ग मे अड़चन हैं। उसके प्रतिद्वन्द्वी जिनके बारे मे उसे यह भरोसा नही है कि वे लोग भी इसके पीछे अपनी कीमते उतनी ही बढा देंगे। इसलिये, दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि नया माग वक्र म की' म' प्रचलित कीमत से ऊपर उतना ही लोचदार होगा जितना कि प्रारम्भिक माग वक्र म की म इस कीमत से ऊपर था। अत दूसरे सीमान्त आय वक्र (सी आ$_2$) मे भी विरतता (अर्थात् $ब_2$ $च_2$) लगभग उतनी ही होगी जितनी पहले सीमान्त आय वक्र मे थी (अर्थात् $ब_2$ $च_2$ प्राय $ब_1$ $च_1$ के समान ही होगा।) अत जब तक सीमान्त लागत वक्र (अर्थात् सी ला) $ब_2$ $च_2$ के मध्य से होकर गुजरता है तब तक फर्म कीमत वृद्धि करने मे हिचकेगा। चूकि यह विरतता प्राय काफी बडी होगी तथा चूकि यह भी बहुत सम्भव नही कि सीमान्त लागत वक्र (सी ला) बहुत तेजी के साथ ऊपर उठ कर म' $ब_2$ सीमान्त वक्र (सी आ$_2$) को $ब_2$ बिन्दु से ऊपर कही काटेगा (क्योकि ऐसा तभी सम्भव है जब फर्म के उत्पादन यन्त्रो का पूर्ण प्रयोग हो चुका हो) इसलिये माग मे वृद्धि के बावजूद भी फर्म द्वारा कीमत का बढाया जाना असम्भव सा ही है।

लेकिन हम यह पहले ही कह चुके है कि यदि सीमान्त लागत वक्र नये सीमान्त आय वक्र सी आ$_2$ को ब बिन्दु से ऊपर काटता है (या इस प्रकार कहे कि सी ला वक्र सी आ$_2$ वक्र उतनी उत्पादन मात्रा पर काटता है जो मू $म_2$ से कम है) तो फर्म अपनी कीमत को ऊँचा उठायगा। ऐसा होना तब सम्भव है जब फर्म को यह विश्वास हो जाय कि अन्य फर्म भी अपनी अपनी कीमत म वृद्धि करेंगे, और इस प्रकार ब च विरतता घट जायगी या ऐसा तब हो सकता है जब सी ला वक्र एकाएक ऊपर की ओर खूब ढालू हो जाय।

माग मे ह्रास—

माग मे ह्रास होने से मौजूदा कीमत पर पहले की अपेक्षा कम वस्तु-मात्रा बिकेगी। बिक्री तभी बढाई जा सकती है जब कीमत कम की जाय। लेकिन कोई फर्म इस डर से अपनी कीमत कम न करेगा कि उसके प्रतिद्वन्द्वी भी अपनी अपनी कीमत कम कर देंगे। जिसका फल यह होगा कि यदि किसी फर्म ने अपनी कीमत कम भी की तो उसे अन्य प्रतिद्वन्द्वियो के ग्राहक न मिल सकेंगे और माँग मे ह्रास चूंकि सभी फर्म अनुभव करेंगे, इसलिय कीमत घटाने से कीमत-युद्ध के छिड़ने की और भी अधिक सम्भावना है क्योकि हर फर्म कीमत घटाना श्रेय कर समझेगा। इसलिये पहले कीमत-ह्रास करने का अगुआ बनना किसी फर्म को भी पसन्द न होगा।

अब, हम सक्षेप मे यह कह सकते है कि विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत उत्पादित वस्तु की कीमत एक समझौता होगी। वस्तु की माग को तथा फर्मों की सख्या को दृष्टिगत रखते हुये कोई फर्म शायद ही अपनी वस्तु की कीमत इतनी निर्धारित कर सकेगा जो उसे इष्टतम लाभ दे सकेगी तथा अन्य फर्मों को भी

वास्तव मे, इस परिस्थिति मे युद्ध होगा अ—कीमत (Non-price) क्षेत्र मे—अधिकाधिक विक्रय-लागतो, विज्ञापनो आदि मे। विक्रय, लागतो तथा विज्ञापनों द्वारा फर्म अपनी अपनी बिक्री का प्रसार करने का प्रयत्न करेंगे। लेकिन इस क्षेत्र मे भी एक फर्म की कोशिशें अन्य फर्मों की समान कोशिशों से बेकार कर दी जाती हैं।

कीमत नेतृत्व मे कीमतें ऊँची तथा स्थायी तो रहेगी ही, इसके अतिरिक्त विक्रय लागतो की इसमे प्रधानता होगी और जो प्रमुख बात है वह यह है कि कीमत नेतृत्व की प्रवृत्ति उद्योग म क्षमता-आधिक्य (Excess Capacity) की स्थिति पैदा कर देती है अर्थात् कितने फर्म अपनी उत्पादन-क्षमता का पूरा प्रयोग, ऊँची कीमत होने के कारण नही कर सकते। जो फर्म अपनी उत्पादन-क्षमता का जितना ही अधिक प्रयोग कर सकेंगे उन्हे उतना ही अधिक अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा। यदि फर्म अतिरिक्त लाभ कमा रहे हैं तथा नये फर्मों के प्रवेश पर कोई अड़चन न हुई तो नये फर्म उद्योग मे प्रवेश करेंगे

कीमत-नेतृत्व म सबसे बडी त्रुटि यह होती है कि कितने अकुशल फर्म जो प्रतियोगिता होने पर समाप्त हो गए होते, उद्योग मे बने रहते हैं क्योंकि कीमत मे हेर फेर द्वारा प्रतिद्वन्द्वी उन्हे निकाल नही सकते*

कीमत-अभिसंधि (Price Collusion

विक्रयाल्पाधिकार म कीमत-अभिसधि की प्रेरणा भी बडी बलवती होती है। कीमत-अभिसधि मे विक्रयाल्पाधिकार के फर्म परस्पर कीमत के सम्बन्ध मे स्पष्ट-रूपेण समझौता कर लेते हैं। यह आवश्यक नही कि सबकी कीमतें समान हो। वस्तु विभेदन की हालत मे ऐसा सम्भव न होगा शर्त केवल यह होती है कि कोई फर्म स्वीकृत कीमत मे बिना औरो की राय के परिवर्तन न कर सकेगा। कीमत अभिसधि प्रत्येक हालत मे विक्रयाल्पाधिकारी फर्मों के लिये लाभदायक होती है। अमेरिकन बाजारो के सदर्भ मे कहा गया है कि "व्यापार की शायद ही कोई ऐसी शाखा हो जिसमे कि (किसी न किसी प्रकार के समझौते) अबाध प्रतियोगिता की दशा को कुछ नियत्रित न करते हो।"[2]

सिद्धान्त मे कीमत कम करने के लिये भी इस प्रकार की सधि फर्मों द्वारा की जा सकती है, किन्तु ऐसा प्राय कीमतो को ऊँचा करने अथवा उन्हे मौजूदा स्तर पर बनाये रखने के लिए ही किया जाता है। सिद्धान्तत फर्म इस अभिसधि द्वारा ऐसी कीमत निश्चित करते हैं जो अधिकतम विक्रयेकाधिकारिक लाभ दे सकें।

---

* Arthur R Burns Decline of Competition *N. Y. Mc Graw Hill 1936, P 144*

2 Seager and Gullick, Trust and Corporation Problems *N Y. Harper and Bros. 1929 P 5*

अर्थात् वे विक्रयेकाधिकारी की ही भांति कीमत निर्धारित करते हैं। लेकिन व्यावहारिक रूप से यह कहना कठिन है। बहुत से ऐसे फर्म, जो कीमत के सम्बन्ध मे अभिसधि करते हैं इस बात को महसूस करते हैं कि दीर्घकालीन अवधि मे उनका लाभ उच्चतम नही हो पा रहा है। हम यह कह सकते हैं कि कीमत-अभिसधियो का प्राय लक्ष्य यह होता है कि फर्मों को पर्याप्त लाभ प्राप्त होता रहे, न कि यह कि कीमतो को इतना ऊँचे उठाया जाय जितना कि बाजार वहन कर सके। फिर दूसरा उद्देश्य कीमत-कटौती के युद्ध को रोकना होता है। उच्चतम कीमत निर्धारित करने मे फर्म केवल नैतिक विचारो का ख्याल नही करते, अपितु उन्हे यह भी डर रहता है कि कही वे कानूनी शिकजे मे न आ जायें, क्योकि बहुत से देशो मे इस प्रकार की अभिसधि अवैध है।

कीमत अभिसधि की हालत मे भी विक्रय लागत बडे महत्त्व की होती हैं। तरह-तरह के विज्ञापनो तथा विक्रय के नये-नये तरीको द्वारा फर्म अपनी बिक्री बढाने का प्रयत्न करते रहते हैं। कीमत अभिसधि के खिलाफ भी यह आरोप बहुत कुछ सही है कि यह तमाम अकुशल फर्मों को त्राण देकर कार्य कौशल को हतोत्साह करती है। फिर कीमत अभिसधि दीर्घकालीन अवधि मे इस बात की गारन्टी नही दे सकती कि फर्मों को वही लाभ सदैव मिलता रहेगा। अधिक लाभ की सम्भावना से उद्योग म नये फर्मों का प्रवेश होता रहेगा जो पुराने फर्मो के लाभो को स्वयमेव कम कर देगा।

बाजार बटवारे का समझौता——

स्थूल रूप से यह तीसरी प्रकार का आवश्यक समझौता है, जो विक्रयाल्पाधिकार के अन्तर्गत काफी प्रचलित हो सकता है। उद्योग के फर्म बाजार का बटवारा कर लेते हैं। इसके कई रूप हो सकते हैं। हो सकता है कि प्रत्येक का कोटा (Quota) निर्धारित कर दिया जाय या उन्ह वितरण के लिए अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्र दे दिये जायें।

इस प्रकार के बटवारे का नतीजा यह होता है कि फर्म एक दूसरे के क्षेत्र को छोड देते हैं। आपस की होड समाप्त हो जाती है। प्रत्येक फर्म अपने क्षेत्र मे विक्रयेकाधिकारी-प्राय होता है। व्यापार का बटवारा एक बार निश्चय हो जाने के बाद बाजार सुचारु रूप से चलने लगता है तथा प्रत्येक फर्म अपने क्षेत्र मे अधिकतम लाभ अर्जित करने का प्रयत्न करता है। यहा एक और बात बता देनी उचित है कि बाजार बटवारा सम्बन्धी समझौता प्राय कीमत-अभिसधि का ही एक अग होता है। लेकिन सवदा यह बात सही नही। उदाहरण के लिए यदि अलग-अलग देशो मे काम करने वाले फर्मों मे बाजार के बटवारे का समझौता होगा तो प्राय कीमतो के सम्बन्ध मे भी समझौता नही होगा।

बाजार का बटवारा इस प्रकार भी हो सकता है कि प्रत्येक फर्म एक सहकारी सगठन को अपनी उत्पादित वस्तु विक्रयार्थ सौंप दे अर्थात् सभी फर्मों द्वारा उत्पादित

फर्म का माग वक्र म म** है। मान लिया कि मू की इस फर्म की सस्थिति कीमत है तथा मू म सस्थिति वस्तु मात्रा। फर्म मू की कीमत पर मू म बेच कर सस्थिति मे है। चू कि सभी फर्मो की कीमते समान है, इसलिए इस कीमत पर सभी फर्म सस्थिति मे होगे। यह सस्थिति तब तक स्थिर बनी रहेगी जब तक कि कोई फर्म अपनी कीमत मे कटौती नही करता तथा उद्योग मे नये फर्म न तो प्रवेश करते हैं, न पुराने फर्म उद्योग से निकलते ही हैं। नीचे चित्र मे औ ला फर्म की औसत लागत वक्र है। स्पष्ट है कि फर्म अतिरिक्त लाभ कमा रहा है।

यदि कोई नया फर्म इस अतिरिक्त लाभ से उत्प्रेरित हो उद्योग मे प्रवेश करता है तो अब बाजार स+१ फर्मों के बीच बटेगी तथा इस फर्म का माँग वक्र म म कुछ बायीं ओर हटेगा। जैसे-जैसे नये फर्म आते जायेंगे बाजार मे फर्मों की सख्या बढती जायगी तथा इस फर्म का माग वक्र बायीं ओर खिसकता जायगा।
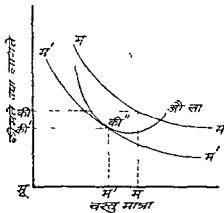
चित्र न० (४)

जब यह माग वक्र म म' स्थान पर पहुँच जायगा जहा कि औसत लागत वक्र इसका स्पर्शक हो जाता है तो इस वक्र का और बायें जाना रुक जायगा अन्यथा फर्म को हानि होने लगेगी। म' म' अवस्था मे फर्म का अतिरिक्त लाभ शून्य होगा। कीमत मू की' हो जायगी तथा उत्पादन मात्रा मू म'। यहा नये फर्मों का प्रवेश करना रुक जायगा। इसलिये फर्म की यही सस्थिति होगी बशर्ते कि कोई फर्म कीमत मे कटौती करे।

चित्र न० (५) मे हमने एक दूसरे प्रश्न पर विचार किया है। मान लिया जाय कि हमारा फर्म यह सोचता है कि उसकी कीमत कम होने से भी अन्य फर्म अपनी-अपनी कीमतो को स्थिर रखेंगे। इस उपधारणा के आधार पर फर्म का माँग वक्र दूसरा रूप धारण करेगा। यह माग वक्र चित्र न० (४) मे सस्थिति बिन्दु की'' से

** इस विश्लेषण मे सुविधा के लिये माग वक्रो मे खम नही लिया गया।

गुजरेगा। चित्र न० (५) मे हमने यही अवस्था दिखाई है। म' म पूर्ववत है। की" सस्थिति का बिन्दु था। अब हम मान ले कि फर्म का माग वक्र म म है जो सस्थिति बिन्दु से गुजरता है। यह फर्म यह उपधारणा कर सकता है कि यदि
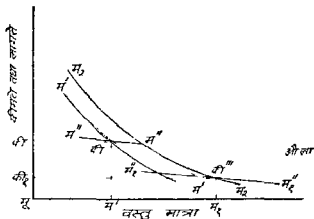
चित्र न० (५)

यह इस म" म" माग वक्र के सहारे दायी ओर जाता है तो यद्यपि इसे कीमत कुछ कम करनी पडेगी लेकिन चूकि वह कीमत औसत लागत से फिर भी अधिक होगी, इसलिए कम कीमत पर अधिक वस्तु मात्रा बच कर वह लाभ उठायेगा। लेकिन यदि ऐसा करना हमारे फर्म के लिये लाभदायक हो सकता है तो औरो के लिये भी ऐसा ही होगा।

अब यदि सभी फर्म अपनी कीमत हमारे फर्म का अनुसरण करके काटें तो सभी फर्म म" म" के सहारे न जाकर म म माग वक्र ही पर नीचे खिसकेंगे और हमारे फर्म का म" म" वक्र भी म म के सहारे नीचे खिसक आयगा। इसका फल यह होगा कि सभी फर्मों को हानि उठानी पडेगी, क्योंकि की बिन्दु से नीचे कीमत औसत लागत से कम हो जायगी। इस हानि के कारण बहुत से फर्म इस उद्योग को छोडकर बाहर जाने लगेंगे। फर्मों के बाहर जाने से माग वक्र म म दायी ओर को उठेगा। ऐसा तब तक होगा जब तक कि म म हट कर $म_2$ $म_2$ की अवस्था पर नही पहुच जाता। की" पर स्थायी सस्थिति पाई जा सकती है। जहा कि $म_2$ $म_2$ औसत लागत वक्र को काटता है तथा $म"_1$ $म"_1$ वक्र उसे स्पर्श करता है। यहा अतिरिक्त लाभ शून्य है जिसमे कि न तो नए फर्म उद्योग मे पदार्पण करेंगे तथा न किसी फर्म द्वारा और कीमत-कटौती ही सम्भव है। अत मू की₂ स्थिर सस्थिति कीमत तथा मू $म_1$ सस्थिति उत्पादन मात्रा होगी।

इस विश्लेषण मे बहुत सी त्रुटिया हैं। पहली बात तो यह कि बाजार का बराबर-बराबर बटवारा सम्भव नही। सब फर्म समान परिस्थितियो मे कार्य नही करते।

फिर यदि कोई एक फर्म अपनी कीमत मे परिवर्तन करता है तो उसका प्रभाव अन्य फर्मों पर समान नही पडेगा जैसा कि चेम्बरलिन ने उपधारणा की है। सब फर्मों के माग वक्रो मे स्थानातरण भी भिन्न भिन्न मात्रा मे होगा। अन्य ऐसी बहुत सी असगतिया चेम्बरलिन के विश्लेषण मे और हैं, लेकिन फिर भी यह विश्लेषण अपने पूर्ववर्ती इस विषय पर समस्त विश्लेषणो से श्रेष्ठ है तथा इस दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम है।

वस्तु विभेदन तथा सस्थिति —

वस्तु विभेदन पर विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के सदर्भ म विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। विक्रयाल्पाधिकार मे भी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ प्रायः समावयव नही होती। उनमे विभेद रहता है चाहे वह विभेद वास्तविक हो अथवा कृत्रिम।

मान लिया कि प्रत्येक फर्म उसी वस्तु का भिन्न ब्रांड वेच रहा है।
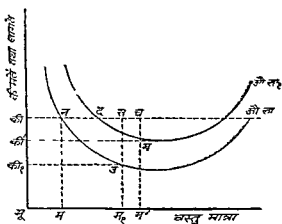
चित्र नं० (६)

चित्र नं० (६) मे हमारे फर्म की औसत लागत का वक्र औ ला है। मान लिया कि वह अपना ब्राड मू की कीमत पर वेच रहा है जो कीमत अन्य सब फर्म भी अपने-अपने ब्राड की ले रहे हैं। इस कीमत पर मान लिया कि हमारे फर्म द्वारा वेचे जाने वाले ब्रांड की माग मू म₁ है तो फर्म की कुल लागत बराबर है, मू म₁ उ की₁ के तथा उसकी वास्तविक आय बराबर है उ स की की₁ के। अब मान लिया कि यह फर्म अपनी वस्तु को और अच्छी किस्म का बना कर इसी कीमत पर इसकी मांग बढाना चाहता है। वस्तु को और अच्छा बनाने के लिए अधिक

...२१

द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार

(Bilateral Monopoly)

बाजार विनिमय की ऐसी अवस्था जिसमें किसी वस्तु का एक ही विक्रेता तथा एक ही क्रेता हो द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार की अवस्था कहलाती है। इस प्रकार की स्थिति को हम एक दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो हमें पता चलेगा कि क्रेता तथा विक्रेता दोनों विक्रयेकाधिकारी हैं। क्रेता यदि मुद्रा के बदले और कोई वस्तु विक्रेता को दे तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। क्रेता तथा विक्रेता प्रत्येक अपनी वस्तु के लिये विक्रयाधिकारी है। जब कोई वस्तु एक ही विक्रेता द्वारा बेची जाती है तो विक्रेता की स्थिति, विक्रयेकाधिकारी के रूप में अत्यन्त सबल होती है, वस्तु पूर्ति पर उसका एक मात्र अधिकार होता है। इसलिये क्रेताओं के समक्ष सौदा करने की शक्ति उसमें अधिक होती है। लेकिन जहाँ वस्तु का क्रय भी एक ही व्यक्ति अथवा संस्था के हाथ में हो, वहाँ विक्रयेकाधिकार की शक्ति उतनी सबल नहीं रह जाती। यहाँ, इस बात पर ध्यान रखना होगा कि इस हालत में क्रेता की स्थिति तथा सौदा करने की शक्ति विक्रेता की अपेक्षा अधिक या कम हो सकती है अथवा उसके बराबर हो सकती है। यदि क्रेता विक्रेता से निर्बल होगा तो वस्तु कीमत पर विक्रेता का अधिक प्रभाव रहेगा, यदि वह विक्रेता से सबल होगा तो कीमत पर क्रेता का प्रभाव अधिक होगा तथा यदि दोनों की शक्ति बराबर है तो कीमत समझौता के फलस्वरूप निर्धारित होगा। इन तमाम अनिश्चयों के कारण अर्थशास्त्रियों के बीच यह विवाद चला आ रहा है कि द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार की हालत में वस्तु का कीमत निर्धारण (Price-determination) निश्चित रूप से सम्भव है कि नहीं। नीचे हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे। हम यह आरम्भ ही में कह देना समुचित समझते हैं कि इस प्रश्न का हल साधारणतः यह निकाला गया है कि द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार की हालत में निश्चित रूप से कीमत निर्धारण सम्भव नहीं है। कीमत किसी बिन्दु पर निर्धारित करने के बदले हम एक ऐसा क्षेत्र ज्ञात कर सकते हैं जिसके अन्तर्गत ही कीमत घूम फिर कर रहेगी। अब हम इस पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे.—

सबसे पहले हम इस प्रश्न को हल करने के लिये चित्र का सहारा लेंगे। चित्र में हम वह प्रणाली अपनायेंगे जिसे तटस्थ वक्र प्रणाली कहते हैं।
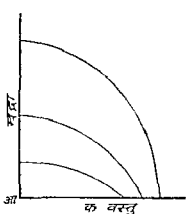
(१)
[अ] का तटस्थ चित्र

(२)
[ब] का तटस्थ चित्र
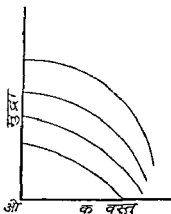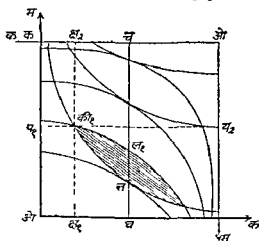
(३)
द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार की अवस्था।
(अ तथा ब का संयुक्त तटस्थ चित्र)

मान लिया कि बाजार में दो ही फर्म हैं, अ तथा ब। दो वस्तुएं हैं, एक 'क' तथा दूसरी म जिसको हम मुद्रा कह सकते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि दोनों फर्मों की मुद्रा तथा क के लिये अधिमानता को हम तटस्थ चित्रों पर उतार सकते हैं। अ फर्म के मुद्रा तथा क वस्तु के बीच अधिमानता को चित्र (१) तथा फर्म की अधिमानता को चित्र (२) में तटस्थ चित्रों द्वारा दिखाया गया है।

चित्र ३ मे हमने चित्र (२) पर चित्र (१) को, घडी की सुइयो से विपरीत दिशा मे १८०° घुमा कर व ग्रो' म की स्थिति मे रख दिया है, जिससे कि ग्रो' का ऊर्ध्वग ग्रक्ष नीचे की दिशा मे तथा क्षैतिज ग्रक्ष दायें से बायें ग्रोर जाता है।

'ग्रो' को मूल बिन्दु मान कर (चित्र ३) जो तटस्थ वक्र खीचे गये हैं। उन पर का प्रत्येक बिन्दु यह बताता है कि ब को क वस्तु तथा मुद्रा के कौन-कौन से सयोग समान तुष्टि प्रदान करते हैं। उसी प्रकार ग्रो' को मूल बिन्दु मान कर जो तटस्थ वक्र खीचे गये हैं उनके प्रत्येक बिन्दु द्वारा प्रकट क वस्तु मात्रा तथा मुद्रा का सयोग समान रूप से ग्र को तुष्टि देते हैं।

मान लिया कि ग्र के पास क वस्तु की ग्रो' क्ष$_2$ मात्रा तथा म (मुद्रा) की ग्रो' य$_2$ मात्रा है, तथा ब के पास वस्तु की ग्रो क्ष$_1$ मात्रा तथा म की ग्रो य$_1$ मात्रा है। यह स्पष्ट है कि एक फर्म द्वारा छोडी हुई वस्तु या मुद्रा दूसरे द्वारा ले ली जायगी। चित्र न० (३) म किसी एक ही बिन्दु द्वारा हम दोनो फर्मों द्वारा रखी जाने वाली वस्तु मात्रायें तथा मुद्रा दिखा सकते हैं। तटस्थ वक्र की दोनो प्रणालिया एक दूसरे के वक्र को ग्रलग-ग्रलग बिन्दुग्रो पर छूती हैं। स्पर्श के इन बिन्दुग्रो के सचार पथ (Locus) को सविद वक्र (Contract Curve) कहते हैं। चित्र मे च च वक्र सविद वक्र है। इस वक्र के किसी भी बिन्दु पर दोनो फर्मों के लिये क वस्तु के लिये मुद्रा को स्थानापन्न करने की दरें समान हैं। इसलिये इस वक्र पर का कोई भी बिन्दु सभाव्य सस्थिति का बिन्दु है, ग्रर्थात इस वक्र के किसी भी बिन्दु पर सस्थिति के उत्पन्न होने की सभावना है।

ग्र तथा ब के पास वस्तु तथा मुद्रा की जो मात्राए मौजूदा समय पर हैं, उनके हिसाब से दोनो की$_1$ बिन्दु पर हैं। प्रत्येक प्रणाली का एक-एक तटस्थ वक्र इस बिन्दु से गुजरेगा। यदि दोनो प्रणालियो के वक्र इस बिन्दु पर एक दूसरे का स्पर्श मात्र करते हैं तो ग्र तथा ब मे कोई से सगत कीमत पर व्यापार तथा सव्यवहार न करना चाहेगे तथा दोनो के बीच कोई विनिमय न होगा लेकिन यदि दोनो वक्र एक दूसरे को काटते हैं तो कोई भी विनिमय पथ जो दोनो पक्षो को किसी उच्चतर तटस्थ वक्र पर ले जाता है, दोनो पक्षो (ग्र तथा ब) को स्वीकार होगा तथा दोनो के बीच क्रय-विक्रय होगा। यह स्पष्ट है कि दो परस्पर एक दूसरे को काटने वाले वक्र के बीच के छायित (घना रेखाकित) भाग मे कोई भी बिन्दु दोनो पक्षो को, की$_1$ की ग्रपेक्षा ग्रधिक मान्य तथा स्वीकार्य होगा। इस क्षेत्र मे प्रत्येक बिन्दु ग्र तथा ब दोनो को की$_1$ बिन्दु से ग्रधिक तुष्टि देगा। हम यह ऊपर बता चुके हैं कि सविद वक्र, च च पर का प्रत्येक बिन्दु सस्थिति का द्योतक हो सकता है। यह च च वक्र छायित भाग को भी काटता है, इस लिये हम यह कह सकते हैं कि दोनो पक्षो के बीच विनिमय के बाद सस्थिति तभी सभव है जब विनिमय ल ल$_1$ [सविद वक्र का वह भाग जो छायित क्षेत्र से गुजरता है] के किसी बिन्दु पर हो। इस लिये कीमत तथा विनिमय वस्तु मात्रा मे सस्थिति का बिन्दु ल तथा ल$_1$ बिन्दुग्रो के बीच सविद वक्र पर होगा। इस प्रकार यदि दोनो प्रणालियो के तटस्थ वक्र हम खीचते जायें

ल ल, दूरी को कम करते जायगे। ल ल, दूरी जितनी ही कम होगी कीमत तथा वस्तु मात्रा की सस्थिति के बिन्दु का पथ उतना ही कम होता जायेगा। यदि हम इस दूरी को शून्य पर ला दें, अर्थात ऐसा बिन्दु इस छायित क्षेत्र म पा जाय जहा दोनो प्रणाली के तटस्थ वक्र एक दूसरे का स्पर्श मात्र करते है तथा विनिमय पथ इन दोनो वक्रो का स्पर्शक है तो हम द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार मे कीमत निर्धारित कर सकते हैं।

इस लिये साधारणत यह ठीक है कि द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकारिक अवस्था मे कीमत अनिर्धारणीय होती है लेकिन यह अनिर्धारणीयता ऊपर के चित्र न० ३ के ल तथा ल, बिन्दुओ के बीच ही सीमित है।

कीमत की सीमित निर्धारणीयता:--

कार्नू तथा अन्य अर्थ शास्त्रियो ने यह कहा है कि द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार के अन्तर्गत यदि क्रेता उपभोक्ताओ के बाजार मे सम्बन्धित वस्तु बेच रहा है तो द्विपार्श्व विक्रयाधिकारिक कीमत निर्धारणीय है। क्योकि ऐसी हालत मे विक्रेता अपना विक्रयेधिकारिक लाभ क्रेता स ले लेता है तथा क्रेता अपना विक्रयेधिकारिक लाभ उपभोक्ताओ स लेता है।

उदाहरण के लिय लोहे की कच्ची धातु (Iron ore) तथा इस्पात को लिया गया। मान लिया कि लोहे की कच्ची धातु का उत्पादक विक्रयेकाधिकारी है तथा इस्पात का बनाने वाला कच्ची धातु का अकेला क्रेता। यहा हम इस प्रश्न को सीमान्त विश्लेषण के सहारे हल करते हैं।
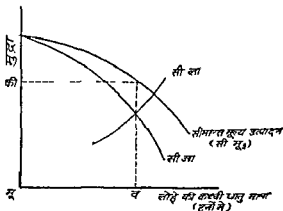
ऊपर के चित्र में सी मू ' वक्र इस्पात के उत्पादन मे लोहे की कच्ची धातु की विभिन्न मात्राओं का सीमान्त मूल्य उत्पादन प्रकट करता है। व टन कच्ची धातु के सीमान्त मूल्य उत्पादन को यदि हम पाना चाहें तो व टन के प्रयोग से बनी हुई इस्पात-मात्रा (अर्थात सीमान्त भौतिक उत्पादन) को, बाजार में उपभोक्ताओं के

हाथ इस्पात की यह मात्रा बेचने से जो सीमान्त आय प्राप्त होती है, उसमे गुणा करें। अर्थात सीमान्त भौतिक उत्पादन × उपर्युक्त इस्पात मात्रा के विक्रय से प्राप्त सीमान्त आय = लोहे की कच्ची धातु के सीमान्त मूल्य उत्पादन के। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि इस चित्र का सी मू उ वक्र इस्पात के उत्पादक-विक्रेता के विक्रयेकाधिकार के सदर्भ म खीची गई है। यहा हमे यह न भूलना चाहिए कि यह सी मू उ वक्र इस्पात उत्पादक की कच्ची धातु के लिये माग वक्र नही है। यह वक्र यह प्रदर्शित नही करता कि अमुक कीमत पर इस्पात उत्पादक कच्ची धातु की अमुक मात्रा खरीदने के लिय तैयार होगा। यह वक्र प्रकट करता है उस अधिकतम कीमत को जो देने के लिये कच्ची धातु का विक्रयेकाधिकारी इस्पात उत्पादक को विवश कर सकता है। यदि इस्पात उत्पादक कच्ची धातु प्रतियोगितापूर्ण बाजार मे करता तो बात दूसरी थी तथा यह वक्र उसका माग वक्र होता। यदि हम सी मू उ वक्र का यह अर्थ लगाये तो इस वक्र का एक सीमान्त वक्र, सी आ खीचा जा सकता है। यह सीमान्त वक्र कच्ची धातु के उत्पादक का सीमान्त आय वक्र होगा बशर्ते कि वह इस्पात उत्पादक को कच्ची धातु की सी मू उ वक्र द्वारा प्रदर्शित अधिकतम कीमत दे, अर्थात इस्पात उत्पादक को सी मू^{3} वक्र को अपना माग वक्र मानने पर विवश किया जा सके।

यदि कच्ची धातु का विक्रेता इस्पात-उत्पादक के समक्ष काफी सबल होगा तथा अपनी शर्तें मानने पर उसे विवश कर सकेगा, तो वह अपनी कच्ची धातु की अधिकतम कीमत ले सकेगा। ५६८ पर दिए गए चित्र मे सी ला वक्र कच्ची धातु उत्पादक का सीमान्त लागत वक्र है। इस प्रकार वह अपनी कीमत सी मू उ वक्र को इस्पात उत्पादक का माग वक्र मान कर तथा अपने सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर करते हुये निर्धारित करेगा। स्पष्ट है कि वह मू ध मात्रा मूकी कीमत पर बेचेगा। इस प्रकार मू की द्विपार्श्व विक्रयेधिकार की कीमत हुई।

लेकिन, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यह सी मू उ वक्र इस्पात उत्पादक का माग-वक्र नही है। यदि कच्ची धातु का उत्पादक इतना सबल न हुआ कि वह इस्पात-उत्पादक को अपनी शर्तें मानने पर विवश कर सके तो उपर्युक्त कीमत न होकर उससे कुछ नीचे आ जायगी। वास्तव मे, द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार की हालत मे वस्तु कीमत क्रेता तथा विक्रेता के सापेक्षित बल पर निर्भर करती है।

अर्थात् सी मूउ = इस्पात के उत्पादक की कच्चे लोहे से प्राप्त सीमान्तमूल्य उत्पादन

सी आ = उपर्युक्त वक्र के सदर्भ मे सीमान्त आय वक्र

सी ला = सीमान्त लागत (कच्चा लोहा उत्पादित करने वाले की)

मूकी = सस्थिति की कीमत यदि विक्रेता अर्थात् कच्चे लोहे का उत्पादक इस्पात उत्पादक से अधिक प्रबल है, तथा

मूध = उपर्युक्त हालत में बेची जाने वाली कच्ची धातु मात्रा (टनों में)।

पर इस्पात उत्पादक को य, ह के बराबर कीमत देनी पड़ती। लेकिन चूंकि इस्पात-उत्पादक अधिक सशक्त है तथा धातु की कीमत स्वयं निर्धारित* करने मे समर्थ है, इसलिये धातु उत्पादक को निम्नतम-सम्भव अर्थात उसकी उत्पादन सीमान्त लागत के बराबर कीमत देगा। दूसरे शब्दों मे, कीमत मू की, के बराबर होगी। यह कीमत उतनी ही है जितनी कि उस समय होती जब कच्ची धातु पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार मे बेची जाती। इसलिये द्विपार्श्व विक्रयकाधिकार की दशा मे वस्तु कीमत का निम्नतम बिंदु की, होगा। कीमत इन्ही उच्चतम तथा निम्नतम अर्थात् की तथा की, बिन्दुओं के बीच विक्रयेकाधिकारी तथा विक्रयकाधिकारी की सापेक्ष शक्तियों के अनुसार निर्धारित की जायगी।

बाउले-हिक्स का सिद्धान्त—

ऊपर हम कह चुके हैं कि द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकार की हालत मे वस्तु की कीमत क्रेता तथा विक्रेता की सापेक्षित सबलता से प्रभावित होती है। स्थूल रूप से तीन दशायें हो सकती है,—

(१) क्रेता अपेक्षाकृत सबल हो तथा विक्रेता अपनी शर्ते मानने पर विवश करदे; अर्थात क्रेता कीमत-निर्धारक (Price maker) हैं।

(२) विक्रेता क्रेता से अधिक सबल हो जिससे क्रेता को उसकी शर्ते माननी पड़े, अर्थात विक्रेता कीमत निर्धारक (Price-maker) है।

(३) दोनो शक्ति मे बराबर हो अर्थात दोनो समान रूप से कीमत निर्धारक हैं।
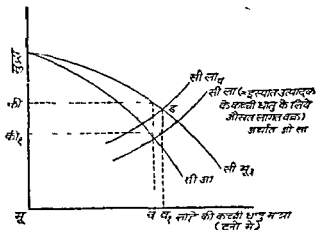
* अर्थात् कीमत निर्धारक (Price maker) है।

ऊपर हम जो विवेचन कर आये हैं उसमे हमने यह माना है कि कच्ची धातु बेचने वाला क्रेता (इस्पात उत्पादक) से अधिक शक्तिशाली है। बाउले[1] तथा हिक्स[2] ने यह उपधारणा करके अपने मत व्यक्त किये हैं कि क्रेता विक्रेता की अपेक्षा, अधिक शक्तिशाली है। इस अवस्था मे क्रेता अपनी शर्तों का पालन विक्रेता से करायेगा। ऐसी दशा मे, बाउले तथा हिक्स ने कीमत की निम्नतम तथा उच्चतम सीमायें निर्धारित करने की चेष्टा की। इन्ही सीमाओ ने अन्तर्गत द्विपार्श्व विक्रयेकाधिकारिक कीमत विचरण करेगी :—

ऊपर के चित्र मे हम देखते हैं कि यह सी ला$_{प}$ वक्र को छोड़कर और सब तरह से पहले के चित्र न ४ की भाति ही है।

———

[1] *A. L. Bowley* "Bilateral monopoly" Economic Journal, 1928, p. 651
[2] *J. Hicks*, Econometrica Vol. III, Pp. 1—20.

....२२

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता
(Monopolistic Competition)

जब क्रेता विक्रेताओं के बीच भेद करने लगता है तथा औरों की अपेक्षा किसी एक के यहां से ही वस्तु खरीदना पसन्द करता है तो विक्रयेकाधिकारिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है। कोई क्रेता क्यों एक ही विक्रेता से वस्तुएं खरीदना पसन्द करता है? *विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में होता यह है कि विक्रेता* क्रेता के मस्तिष्क में वस्तु-विभेदन की भावना पैदा कर देते हैं। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्म की विक्रय-मात्रा तीन बातों से 'सीमित तथा परिभाषित होती है'[1]. [१] उसकी कीमत, [२] उसका विज्ञापन व्यय तथा [३] वस्तु-विभेदन (product differentiation)।

(१) पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत माग वक्र क्षैतिज होती है, विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता में ढालू। या हम प्रकार कहें कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के मांग वक्र की लोच विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्म के माग की लोच से अधिक होती है। इसलिये जहां पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में फर्म के लिये कीमत उद्योग द्वारा दी हुई होती है, वहां विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में फर्म को अपने माग वक्र की लोच तथा उत्पादन लागतों की प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुये कीमत स्वयं निर्धारित करनी पड़ती है। यहां उसका काम ठीक विक्रयेकाधिकारी के समान ही होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि अधिकतम लाभ का विधान करते हुये, कीमत-निर्धारण के समय विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगी फर्म यह नहीं भूल सकता *कि उसकी वस्तु के निकट स्थानापन्न विद्यमान हैं तथा थोड़ा भी अनुचित कार्य ग्राहकों* को अन्यत्र भेज सकता है। इसलिये अपनी कीमत की नीति वह इस प्रकार निर्धारित करता है कि उसे अधिकतम लाभ भी मिले तथा उसके ग्राहक भी पूर्ववत् संख्या में बने रहें।

(२) विज्ञापन पर उचित व्यय द्वारा विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगी फर्म अपनी बिक्री बढ़ा सकता है। यह बात भी पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की दशा में नहीं पाई जाती। पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की हालत में प्रचलित कीमत पर कोई फर्म

1. Chamberlin : Theory of Monopolistic Comp., P. 71.

जितनी वस्तु मात्रा चाहे बेच सकता है, उसे विज्ञापन की लागत सहन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। उसी प्रकार विक्रयेकाधिकारी को भी विज्ञापन की उतनी आवश्यकता नही, क्योंकि वह उस क्षेत्र मे अकेला है, ग्राहक उसे छोड कही जा ही नही सकता, उसकी वस्तु का कोई स्थानापन्न ही नही है।

विज्ञापन न केवल वस्तु की माग ही बढाता है अपितु लागत भी बढा देता है। लेकिन इससे विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्म को लाभ काफी होता है। विज्ञापन के द्वारा अपनी वस्तु का प्रचार वह करता है जिससे कि सभी लोग उसकी वस्तु की उपादेयता से 'परिचित' हो जाते हैं। विज्ञापन द्वारा उपभोक्ता की रुचि तथा आवश्यकता मे परिवर्तन लाया जा सकता है। विज्ञापन, प्रचार तथा विक्रय-कौशल पर व्यय की हुई लागत विक्रय-लागत के नाम से अभिहित हुई हैं। 'विक्रय-लागतों' का अभिप्राय होता है उपभोक्ताओ को अन्य वस्तुओ के बदले किसी विशेष वस्तु को खरीदने अथवा अन्य विक्रेताओ के बदले किसी एक विक्रता से वस्तु खरीदने के लिये उत्प्रेरित करना। आज का युग तो विज्ञापन का युग है (जो इस बात का साक्षी है कि व्यापारिक क्षेत्र म अपूर्ण तथा विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता का ही बाहुल्य है) विज्ञापन लागत अपनी विचित्रता रखती है। यह सभी समानुपातिक प्रत्याय नही देती, इसलिये विक्रय लागत तथा उसमे हुई विक्रय-मात्रा मे वृद्धि के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। पर यह अवश्य ही माग वक्र को प्रभावित करती हैं। माग वक्र मे दो प्रकार से परिवर्तन लाया जा सकता है – एक तो, कीमत कम करके, दूसरे विज्ञापन आदि पर अधिक लागत के द्वारा। इसमे कौन सा उपाय अधिक उपयुक्त होगा यह परिस्थिति–विशेष पर निर्भर होता है। इन बातो पर हम आगे और विचार करेंगे।

(३) वस्तु विभेदनविक्रयकाधिकारिक प्रतियोगिता की अवस्था मे कार्य करने वाले फर्मों की सख्या पर्याप्त रूपेण बडी होती है। लकिन ये फर्म समावयव वस्तु का उत्पादन नही करते, प्रत्येक की वस्तु अन्यो की वस्तुओ स किसी न किसी अर्थ मे भिन्न है। किन्तु ये वस्तुये परस्पर एक दूसरे की स्थानापन्न होती हैं। इसमे प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु का विक्रयेकाधिकारी होता है, विक्रयेकाधिकार से यह अवस्था भिन्न इस अर्थ मे होती है कि विक्रयेकाधिकार की हालत मे विक्रयेकाधिकारी फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु की स्थानापन्न होने वाली वस्तुओं का पूर्ण अभाव होना है, लेकिन विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओ के निकट स्थानापन्न मौजूद होते हैं। इन सभी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुयें प्राय एक ही प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति करती हैं, लेकिन प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु के साथ कुछ सेवाओं का सयोग इस प्रकार कर देता है कि उसकी वस्तु ग्राहकों की दृष्टि मे औरो की वस्तुओ से भिन्न

हो जाती है। जैसा चेम्बरलिन ने कहा है, यह विभेदीकरण दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है।[1] एक तो, स्वयं वस्तु में किसी विशेषता के कारण तथा दूसरे, उसके विक्रय की परिस्थितियों में कोई विशेषता। पहले प्रकार का वस्तु विभेदीकरण तब उत्पन्न होता है जब वस्तुओं में या तो आकार, माप, रंग, स्वाद, गन्ध, टिकाउपन, उत्पादन में प्रयुक्त किये गये पदार्थों हस्त कौशल आदि के दृष्टिकोण से अन्तर हो अथवा पेटेन्ट ट्रेड मार्क, व्यापारिक नाम, पैकिंग आदि उसके साथ भिन्न भिन्न प्रकार से जुड़े हों। उदाहरण के लिये, लक्स, लाइफबॉय आदि नहाने के तरह तरह के साबुन, लिपटन, ब्रूक बॉण्ड आदि भिन्न भिन्न ब्राण्ड वाली चाय, देहरादूनी, बसुमती आदि प्रकार के चावल ये साबुन चाय तथा चावल के भिन्न भिन्न प्रकार परस्पर विभेदित हैं। कोई लक्स के रंग, गंध आदि किसी कारण से उसे पसन्द करता तथा खरीदता है तो दूसरा प्रीफ्वट अथवा हमाम को। ये दोनों प्रकार के साबुन एक दूसरे के निकट स्थानापन्न हैं लेकिन समावयव नहीं। कुछ लोग ऐसे हैं जो यदि लक्स का दाम कुछ बढ भी जाय तब भी उसी का प्रयोग करते रहेंगे। इसी प्रकार भिन्न भिन्न 'मेक' कार, साइकिलें, कपड़े और क्या-क्या वस्तु विभेदन के उदाहरण हैं।

अब, यदि वस्तु एक ही हो तो भी विक्रय की परिस्थितियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि ग्राहक उसको एक विशेष दूकान ही से खरीदना पसन्द करता है। यहा यद्यपि वस्तु में कोई अन्तर नहीं फिर भी ग्राहक के लिए ऐसा है, तभी तो वह इसको उसी दूकान से खरीदना चाहता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि भिन्न भिन्न फर्म (दूकानें) ग्राहकों को भिन्न भिन्न ढंग से सुविधा तथा सेवा देते हैं। हम वस्तु को खरीदते समय कितनी ही बातों से प्रभावित हो सकते हैं दूकान का स्थिति स्थान, उसके मैनेजर अथवा कर्मचारियों की सज्जनता, सभ्यता, गुण, रूपरंग, कार्यकुशलता तथा मिलने का तरीका, वस्तु के देने में शीघ्रता, मोल तोल दूकान वालों की ईमानदारी, उनका गुडविल, किसी प्रकार का व्यक्तिगत सम्बन्ध व्यापारिक शर्तें जैसे वस्तु की कुछ दिनों के लिये गारन्टी, खराब होने से वापस करने की शर्त या मरम्मत करने की सुविधा आदि।

विभेदन के उपर्युक्त दो पहलू जहां ग्राहक के मस्तिष्क में घर किये हुये हैं वहां वस्तुयें विभेदित हैं तथा ग्राहक की नजर में ऐसी चीजें, मूलतः एक होते हुये भी परस्पर भिन्न भिन्न हैं जिनसे कि इनके उत्पादक किसी हद तक अपने क्षेत्र में विक्रयेकाधिकारी हैं। ये भिन्न-भिन्न विज्ञापनों आदि उपायों से अधिकाधिक ग्राहक अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते रहते हैं अर्थात ये परस्पर एक दूसरे के प्रतियोगी होते हैं—विक्रयेकाधिकार प्रतियोगी हो जाता है। अब हम विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के उत्पन्न होने के मूल कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे तथा इस

[1] *E. H. Chamberlin*, Theory of Monopolistic Comp P. 56.

बात पर विचार करेंगे कि कोई क्रेता किसी विक्रेता से बध सा क्यों जाता है।

क्रेता के दृष्टिकोण को अब हमे देखना आवश्यक है। क्रेता एक वस्तु अथवा विक्रेता को क्यो अधिमानता देने लगता है ? सबसे पहले तो यदि क्रय की जाने वाली वस्तु पर क्रेता के कुल खर्च का एक इतना छोटा अश खर्च होता है कि उसकी कीमत बढने पर भी क्रेता को उस वस्तु को खरीदने के लिये अपने किसी अन्य मद मे कोई विशेष कटौती नही करनी पडती, तो कुछ कीमत बढ जाने पर भी क्रेता उसे खरीदना बन्द नही करेगा। जैसे एक आदमी 'भारत ब्लेड' का इस्तेमाल करता है तथा उसे महीने मे १० ब्लेडो की एक पैकेट की आवश्यकता होती है, मान लिया कि इस एक पैकेट की कीमत ३१ नये पैसे है, तो उस आदमी का केवल ३१ नये पैसे इस मद पर खच होता है जो उसके कुल मासिक खच का नगण्य भाग रकम होगी। ऐसी हालत मे यदि इस पैकेट की कीमत बढकर ३७ नए पैसे हो जाय तो भी शायद वह इसका खरीदना बन्द न करेगा। ऐसी हालत मे वह इस थोडे से कीमत परिवतन की ओर अधिक ध्यान भी न देगा।

दूसरे, यदि उस वस्तु के बेचने वाले अन्य विक्रेता उस स्थान पर मौजूद नहीं हैं, न कोई प्रतिस्थानापन्न ही उचित कीमत पर पाया जा सकता है तो क्रेता उस वस्तु का क्रय जारी रखेगा चाहे कीमत कुछ बढ ही क्यो न जाय। यहा क्रेता को मोह उत्पन्न हुआ है उस वस्तु से। ऐसा उस वस्तु के वास्तविक अथवा काल्पनिक गुणो के कारण होगा। विक्रेता ने अपनी वस्तु का ऐसा विभेदन किया है कि क्रेता को अन्य कोई स्थानापन्न जचती ही नही। वह सोचता है कि उस वस्तु के उपयोग मे जो उपयोगिता उसे प्राप्त होगी, उतनी ही कीमत देने पर अन्य किसी वस्तु से उतनी उपयोगिता प्राप्त नही हो सकेगी। इसलिए वह तब तक इस वस्तु को खरीदता रहेगा जब तक कि उसकी कीमत उसके द्वारा प्राप्त होने वाली उपयोगिता से अधिक नही हो जाती। यहाँ क्रेता वस्तु विभेदन के जादू का प्राय शिकार होता है।

प्रतियोगिता के अपूर्ण तथा विक्रयेकाधिकारिकरिक होने का एक और बहुत बडा कारण है क्रेता की अनभिज्ञता, उसका अज्ञान। जिस वस्तु को वह ऊची कीमत पर खरीद रहा है हो सकता है कि उसकी पूर्ण स्थानापन्न वस्तु या वही वस्तु कम दाम पर मिल सकती हो, लेकिन यदि क्रेता को ऐसी स्थानापन्न वस्तु की उपस्थिति का ज्ञान ही न हो तो वह पूर्ववत उसी वस्तु को खरीदता रहेगा। या यदि उसे उसकी उपस्थिति का ज्ञान भी हो तो भी हो सकता है कि उसके मार्ग मे ऐसी अडचनें हो कि वह उससे लाभ न उठा पाये। ये अडचनें क्रेता के समुचित चुनाव मे बाधा डालती हैं। ये अडचनें हैं —

(१) यातायात व्यय यदि उस स्थानापन्न को प्राप्त करने के लिये क्रेता को यातायात पर अनुपात से अधिक व्यय करने की आवश्यकता पडे तो वह उसे खरीदना

पसन्द न करेगा तथा वस्तु विशेष की खरीद जारी रखेगा। इससे उस वस्तु के विक्रेता को विक्रयेकाधिकारिक कीमत लेने का मौका मिल जायगा।

(२) उनकी गति विधि पर कानूनी अथवा सामाजिक व्यवधान भी ऐसे हो सकते हैं कि सस्ती स्थानापन्न को खरीदने वह अपने स्थान से जा ही न सके।

(३) वह अपनी आदतों से लाचार हो जैसे कि 'रेड एण्ड व्हाइट' सिगरेट पीने वाला व्यक्ति उसका इतना आदी हो गया हो कि सस्ता मिलने पर भी किसी अन्य ब्राड सिगरेट से उसकी तुष्टि हो पाये।

(४) या स्थानापन्न वस्तु ऐसे स्थान पर बेची जाती है जहा जाना क्रेता पसन्द नही करता।

(५) अथवा यह भी हो सकता है कि अपनी शान शौकत के चक्कर पड क्रेता किसी विशेष बाजार से अपनी वस्तु खरीदना चाहता हो जैसे दिल्ली का कोई व्यक्ति केवल कनॉट प्लेस से अथवा कलकत्ता का कोई निवासी केवल न्यू मार्केट से ही वस्तु खरीदना अपने सामाजिक स्थान के अनुकूल समझता हो। ऐसी सूरत मे यदि अन्यत्र वस्तु की स्थानापन्न अथवा वही वस्तु सस्ती भी मिले तो क्रेता वहा नही जायगा।

विक्रयेकाधिकारी प्रतियोगिता मे किसी फर्म की सफलतापूर्वक कीमत घटाने बढाने की शक्ति इस बात पर निर्भर होती है कि उसकी वस्तु तथा इसकी स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ के बीच कितना अन्तर है। यह अन्तर जितना ही अधिक होगा फर्म की शक्ति उतनी ही अधिक होगी। वास्तव मे, यह अन्तर वस्तु के स्वय गुण से ही नही और बातो से भी उत्पन्न होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जब हम किसी विक्रयेकाधिकारी प्रतियोगिता वाले फर्म से वस्तु खरीदते हैं तो उस वस्तु के साथ हम बहुत सी सेवायें भी खरीदते हैं, उदाहरणार्थ यातायात सेवा, विक्रेता के गुण विक्रय-स्थान की महत्ता आदि।

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत माग वक्र—

माग वक्र (अथवा आय वक्र) तथा लागतो पर विचार करते समय यदि हम विक्रय-लागतो तथा वस्तु विभेदन के तथ्यों को शून्य मान लें तो हमारे विश्लेषण मे बडी ही सरलता आ जायगी। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्म का माग-वक्र न तो पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगी फर्मों की माँग की भांति पूर्णतया लोचदार ही होगा तथा न विक्रयेकाधिकारी की माग की भाति ढालू ही होगी। इसकी अवस्था इन दोनो के बीच की होगी। इसका साधारणत यह अर्थ हुआ कि कीमत परिवर्तन से उत्पादन-मात्रा मे विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत जो परिवर्तन होगा वह उसी परिस्थिति मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन से

सर्वदा कम लेकिन शुद्ध विक्रेताधिकार के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन से अधिक होगा।

विक्रेताधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत माग वक्र की लोच एक तो उस उद्योग में कार्य करने वाले फर्मों की सख्या पर तथा दूसरे, उनकी वस्तुओं के पारस्परिक भेद, अर्थात् भेदक लोच, पर निर्भर करती है। यह माग-वक्र होगी सर्वदा नीचे की ओर को ढालू। अब यदि माँग की भेदक लोच पर्याप्त रूपेण बडी है अर्थात् इसकी कीमत मे थोडी कमी इसके प्रतिद्वन्द्वियों के ग्राहकों को काफी सख्या म इसकी ओर खींच लायेगी अथवा इसकी कीमत म थोडी वृद्धि इसके ग्राहकों को पर्याप्त सख्या में इस फर्म स हटा इसके प्रतिद्वन्द्वियों के पास भेज देगी, तो फर्म की माग वक्र की लोच पूर्णता के अत्यन्त निकट होगी। भेदक लोच जितनी ही कम होगी माग वक्र की लोच उतनी ही कम लोचदार होगी। भेदक-लोच के अतिरिक्त माँग-वक्र के लोच को दूसरी बात जो प्रभावित करती है वह है उद्योग म फर्मों की सख्या अर्थात यह कि प्रत्येक फर्म सम्पूर्ण बाजार के कितने हिस्से की माग की पूर्ति करता है। फर्मों की सख्या जितनी ही अधिक होगी माग वक्र उतनी ही अधिक लोचदार होगी।

इतना विचार कर लेने के बाद अब विक्रेताधिकारिक के प्रतियोगिता के अन्तर्गत विक्रेता के माग-वक्र को हम दो रूपों मे देख सकते हैं, एक, अनवरत, दूसरे खमदार (Continuous and Kinked)।
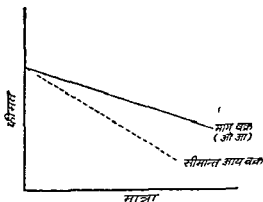
चित्र न० (१)

चित्र न० (१) मे हमने एक अनवरत ढालू माँग वक्र बनाया है। अनवरत वक्र होने का तात्पर्य यह हुआ कि कीमत के थोडा घटने या बढने पर लोच समान रूप से काम करती है। यह माँग वक्र लोचदार दिखाया गया है तथा इसके पीछे यह धारणा अन्तर्निहित है कि विक्रेता के कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप उसके अन्य प्रतिद्वन्द्वी अपनी कीमत में कोई परिवर्तन नही करेंगे।
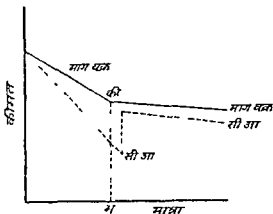
चित्र न० (२)

वास्तविक जगत में यह देखा जाता है कि विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत माग की लोच मौजूदा कीमत के दोनों ओर समान रूप से कार्य नहीं करती अर्थात कीमत के कम होने पर विक्रेता की माग में जिस अनुपात में वृद्धि आती है, कीमत में वृद्धि होने से उसकी माग में उसी अनुपात में कमी नहीं आती [चित्र न० (२) में यही बात दिखाई गई है] इसीलिये मौजूदा कीमत, की म पर माग वक्र में खम आ गया है, यदि कीमत बढ़ती है तो लोच एकाएक कम हो जाती है, यदि कीमत घटती है तो लोच एकाएक अधिक हो जाती है, अर्थात् कीमत वृद्धि की दशा में कीमत ह्रास की अपेक्षा लोच कम तीव्रता से काम करती है।

उदाहरण के लिये मान लिया कुल १०१ विक्रेता इस उद्योग में काम कर रहे हैं, तथा 'क' फर्म उनमें से एक है। मान लिया कि 'क' की वस्तु कीमत 'की म' है। यदि यह अपनी कीमत को १ प्रतिशत कम करके अपने प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी से १० प्रतिशत ग्राहक खीच लेता है और इस प्रकार उसकी माग १००० प्रतिशत बढ़ जाती है, लेकिन यदि वह अपनी कीमत १ प्रतिशत बढ़ा देता है और उसे केवल अपने १० प्रतिशत ग्राहकों से हाथ धोना पड़ता है और इस प्रकार उसकी माग १० प्रतिशत घट जाती है तो क फर्म के माग वक्र में 'की' बिन्दु पर खम आ गया क्योंकि इससे ऊंची कीमत पर लोच १० है लेकिन इससे नीची कीमत पर लोच १००० है।

यद्यपि खमदार वक्र यथार्थ के अधिक सन्निकट है फिर भी विश्लेषण के लिये हमें अनवरत मांग-वक्र का ही सहारा लेना अधिक सरल होगा। इससे हमारे निष्कर्षों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि वस्तुत अनवरत तथा खम दोनों प्रकार के वक्रों से समान रूप से विश्लेषण-कार्य किया जा सकता है।

कहा जा सकता क्योंकि यह वस्तु विभेदन की डिग्री तथा उद्योग में फर्मों की संख्या पर निर्भर होती है जो अत्यन्त निश्चित तत्व हैं। नीचे के चित्रों द्वारा हम फर्म की पूर्ति का माग की लोच पर निर्भर होना दिखा सकते हैं।
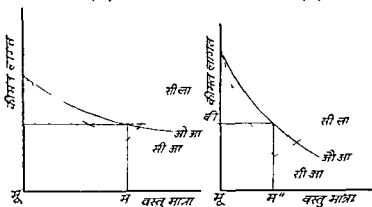
इन चित्रों में दो फर्मों क तथा ख के मांग वक्र, सीमान्त आय वक्र तथा सीमान्त लागत वक्र दिखाये गये हैं। स्पष्ट है कि फर्म क का मांग-वक्र ख के मांग-वक्र से अधिक लोचदार है। दोनों हालतों में सीमान्त लागत वक्र दिया हुआ मान लिया गया है। एक ही कीमत, मू की पर क फर्म मू म' वस्तु मात्रा उत्पादित करता है लेकिन ख फर्म केवल मू म" वस्तु मात्रा। स्पष्ट है कि मू म' वस्तु मात्रा मू म" से अधिक है अर्थात् कम लोच की माग वाला ख फर्म उसी कीमत पर अधिक माग की लोच वाले क फर्म की अपेक्षा उत्पादन कम करेगा (जबकि दोनों की समान सीमान्त लागतें दी हुई हैं)।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि न उद्योग का कोई पूर्ति वक्र निश्चित रूप से खींचना सम्भव है, न फर्म ही का कोई अनवरत तथा सरल पूर्ति वक्र खींचना सम्भव है।

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के सम्बन्ध में उपधारणाएँ—

हम पहले यह बता आये हैं कि विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता में क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या पर्याप्त रूप से बड़ी होती है। विक्रेताओं की संख्या इतनी बड़ी होती है कि कोई विक्रेता दूसरों की क्रियाओं पर आश्रित नहीं होता, न अकेला कोई फर्म कुल बाजार की पूर्ति के किसी महत्वपूर्ण अश पर अपना अधिकार तथा नियन्त्रण ही रखता है, इसलिये एक फर्म यदि अपने उत्पादन में परिवर्तन करता है तो वह बाजार को प्रभावित नहीं कर सकेगा, न नये फर्मों के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध होता है न पुराने फर्मों के बाह्य गमन पर कोई नियन्त्रण।

यहां यह स्मरण रहे कि ये नवागन्तुक फर्म पुराने फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बिलकुल समरूप वस्तु उत्पादित नहीं कर सकते, उनकी वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे की निकट स्थानापन्न अवश्य होती हैं। प्रत्येक क्रेता का उद्देश्य होता है अपने दिये हुए धन से अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना तथा प्रत्येक विक्रेता का उद्देश्य होता है अधिकतम प्रत्याय प्राप्त करना। प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु दूसरे फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की पूर्ण स्थानापन्न न होकर निकट स्थानापन्न होती है। ये वस्तुयें कतिपय दशाओं में एक ही प्रकार की आवश्यकता की तुष्टि के काम में एक दूसरे के बदले प्रयुक्त हो सकती हैं। फर्मों पर कोई कानूनी अथवा अन्य प्रकार का ऐसा प्रतिबन्ध होता है। (जैसे पेटेन्ट, कापी राइट, ट्रेड मार्क सम्बन्धी कानून फर्मों के उत्पादन के पृथक्त्व को बनाये रखने में सहायक होते हैं) जिससे कि वे एक दूसरे की वस्तु के बिलकुल अनुरूप वस्तुयें उत्पादित नहीं कर सकते। इसका फल यह होता है कि क्रेता अपनी रुचि तथा अभिमानता के अनुसार विशिष्ट विक्रेता से एक प्रकार से बंधा सा होता है। यही बंधन तथा लगाव विक्रयेकाधिकारी प्रतियोगिता के मूल में कार्य करता है।

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत संस्थिति की विवेचना करते समय हम एक अन्य उपधारणा भी करेंगे, जो वास्तविक जगत में पाई तो नहीं जाती किन्तु विश्लेषण की सुगमता के लिए आवश्यक है। यह है क्रेताओं तथा विक्रेताओं का बाजार-स्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान अर्थात् प्रत्येक क्रेता तथा विक्रेता इस बाजार की परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान रखता है, यद्यपि हम पहले कह आये हैं कि क्रेताओं की बाजार की परिस्थितियों से अनभिज्ञता विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की अवस्था का एक आधार है, फिर भी विश्लेषण की सुविधा के लिये हम यह मान रहे हैं कि क्रेता पूर्ण ज्ञान सम्पन्न होता है।

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्म की संस्थिति

(अल्पकालीन अवधि)—

यहां भी फर्म की संस्थिति उसी बिन्दु पर होती है जिस पर कि उसकी सीमान्त आय उसकी सीमान्त लागत के बराबर हो जाती है। यही बिन्दु फर्म द्वारा ली जाने वाली कीमत तथा उसके द्वारा बेची जाने वाली वस्तु-मात्रा निर्धारित करेगा। अल्पकालीन अवधि में यह माना जा सकता है कि यदि फर्म को भविष्य में लाभ बढ़ाने की आशा होगी तो वह हानि भी उठाकर उत्पादन जारी रखेगा, बशर्ते कि कीमत कम से कम औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर हो। इस प्रकार यदि अल्पकालीन अवधि में स्थिर लागत वसूल नहीं भी होती तो भी कम से कम औसत परिवर्तनशील लागत वसूल हो जाने पर फर्म अपना उत्पादन जारी रखेगा। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्योग में काम करने वाले सब फर्म

लागत, वस्तु तथा माग-वक्र की लोच के दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न होते हैं; इसलिए अल्पकाल मे उन सबको समान लाभ होना आवश्यक नही। किसी की कीमत उसकी कुल औसत लागत से भी अधिक होगी तथा वह विक्रयेकाधिकारिक लाभ पा रहा होगा, किसी की कीमत उसकी कुल औसत लागत के बराबर होगी तथा उसे सामान्य लाभ प्राप्त होता होगा, कुछ औरो की कीमत उसकी औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर होगी—ऐसे फर्म हानि उठायें, लेकिन यदि भविष्य मे अधिक लाभ होने की आशा है तो वे अल्पकालीन अवधि मे उत्पादन जारी रखेंगे। लेकिन कुछ फर्म ऐसे भी हो सकते हैं जिनकी कीमत उनकी औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर भी नही होती, ऐसे फर्म को उत्पादन बन्द करने पर विवश हो जाना पड़ेगा।

फर्म की अल्पकालीन संस्थिति को हम चित्र द्वारा भी इस प्रकार दिखा सकते हैं :—
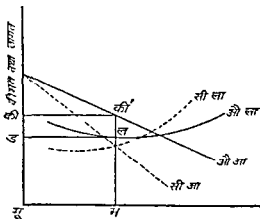
चित्र नं० (३)

चित्र से स्पष्ट है कि संस्थिति की हालत मे फर्म मू म वस्तु मात्रा उत्पादित करके उसे मू की कीमत पर बेच की को' ल ड के बराबर विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त कर रहा है।

दीर्घकालीन संस्थिति फर्म को)—

दीर्घकालीन अवधि मे कोई फर्म तभी उत्पादन करेगा जबकि कम से कम उसकी औसत कुल लागत वस्तु की कीमत से वसूल हो जाय। इससे कम कीमत पर वह उत्पादन बन्द कर उद्योग से निकल जायगा। यदि कीमत, औसत कुल लागत से अधिक होगी तो फर्म को विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त होगा। इसका फल यह होगा कि उद्योग में अन्य फर्म भी प्रवेश करेंगे क्योंकि उन्हें अधिक लाभ

कमाने की आशा होगी। ये नये फर्म पुराने फर्मों के कुछ ग्राहकों को अपनी ओर खींचेंगे। फिर यह होगा कि प्रत्येक फर्म का माग वक्र कुछ बायीं ओर हटेगा, यह भी सम्भव है कि लागत वक्रें भी ऊपर उठें क्योंकि नये फर्मों का प्रवेश उत्पादन के साधनों को पहले से महगा बना सकता है, जिससे कि लागतें बढेंगी। यदि नये फर्मों का प्रवेश इस प्रकार, अबाध रूप से होता रहा तो पुराने फर्मों के माग वक्र बायें हटते जायेंगे तथा उनके विक्रयेकाधिकारिक लाभ कम होते जायेंगे। एक अवस्था आयेगी जब विक्रयेकाधिकारिक लाभ शून्य हो जायगा। तब नये फर्मों का प्रवेश बन्द हो जायगा। वास्तविक आय (या विक्रयेकाधिकारिक लाभ) शून्य तब होगा जब औसत कुल लागत, कीमत (औसत आय) के बराबर हो जायगी। इसको हम निम्नांकित चित्र द्वारा दिखा सकते हैं —
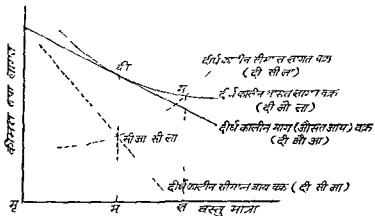
चित्र न० (४

इस चित्र में दीर्घकालीन अवधि की लागतें तथा आय दिखाई गई हैं। स्पष्ट है कि कीमत कीमत के बराबर तथा उत्पादन मू म के बराबर है। माग वक्र, 'दी औ ला' वक्र का 'दी' बिन्दु पर स्पर्शक है। फर्म की कीमत उसकी औसत लागत के बराबर हो गई है तथा उसे केवल सामान्य लाभ (जो लागत में शामिल है) प्राप्त हो रहा है, विक्रयेकाधिकारिक लाभ शून्य हो गया। जब उद्योग के फर्मों की अवस्था ऐसी हो जायगी तो नये फर्मों का प्रवेश अथवा पुराने फर्मों का बहिर्गमन समाप्त हो जायगा। इस प्रकार दीर्घकाल में फर्म अ-लाभ तथा अ-हानि की दशा में काम करने लगेंगे।

ऊपर हमने कहा कि उद्योग के फर्म अ-लाभ तथा अ-हानि की अवस्था में काम कर रहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी फर्म इसी अवस्था के अन्तर्गत काम कर रहे हों, क्योंकि सब फर्मों की लागत समान नहीं होती। यदि लागतें असमान हैं

तो स्पष्ट है कि उद्योग में रहने वाले फर्मों में सबसे कम कुशल फर्म ही का माग-वक्र ग्रौसत लागत वक्र का स्पर्शक होगा, और अधिक कुशल फर्म विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त करते होंगे।

पीछे के चित्र मे हम एक बात और देखते हैं। औसत आय वक्र, औसत लागत वक्र का स्पर्शक तो है किन्तु यह इसको ऐसे बिन्दु पर स्पर्श करता है जो इसके निम्नतम बिन्दु म* से बायी ओर स्थित है। इसका अर्थ यह हुआ कि फर्म अपने उत्पादन-उपकरणो (प्लान्ट) का इष्टतम प्रयोग नही कर रहा है। उसकी औसत लागत जितनी कम होनी सम्भव थी उतनी कम नही, अर्थात् वह निम्नतम नही है। वह निम्नतम तब होती है जब उत्पादन मू ल के बराबर होता। यदि उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होता तो मू ल वस्तु मात्रा उत्पादित हो जाती।००

अर्थात् यदि समान उत्पादन क्षमता वाले उत्पादन उपकरणो का प्रयोग किया जाय तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होने वाले उत्पादन की अपेक्षा विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता मे, म ल, के बराबर कम वस्तु मात्रा उत्पादित की जायेगी तथा अपेक्षाकृत ऊची कीमत पर बेची जायेगी (म की बडी है स प से)[3]। उत्पादन की लागत को यथा साध्य निम्नतम न करना सामाजिक ससाधनो का दुरुपयोग तथा अपव्यय करना है, यह एक सामाजिक अपराध है। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता वाला फर्म अपने प्लान्ट अथवा उत्पादन उपकरणो का पूर्ण उपयोग अपने स्वार्थ मे पड़कर तथा अधिक लाभ कमाने की इच्छा से नही करता, इससे समाज की हानि होती है, कीमत ऊंची होती हैं। अकुशल फर्म भी उद्योग मे फलते-फूलते हैं (ऐसे फर्मों के लिये पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई स्थान नही होता)। फर्म विज्ञापन मे बेकार, अपव्यय कर उसे उपभोक्ता के गले मढ देते हैं। इन अपव्ययो तथा दुरुपयोगों को "प्रतियोगिता की बर्बादी" कहा जाता है, वैसे वास्तव मे इनको "विक्रयेकाधिकारिक की बर्बादी" कहना अधिक समीचीन होगा। यदि प्रतियोगिता मे विक्रयेकाधिकारिक तत्व न आते तो यह "बर्बादी" न होती। इसी तत्व के उद्योग मे आवश्यकता से अधिक सख्या म फर्म की ऊचाई लागतो पर कार्य करते

---

* 'म', 'U'—रूप के औसत लागत वक्र के पेंदी का बिन्दु है, जहा सगति सीमान्त लागत वक्र औ ला वक्र को काटता है। हम यह जानते हैं कि सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र को इसकी निम्नतम स्थिति मे काटता है।

स्मरण रहे कि पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन अवधि मे, सी आ=औसत आय=कीमत=सीमान्त लागत=औसत लागत।

3 See Chamberlin op cit, P. 77

तथा विज्ञापनो द्वारा उपभोक्ताओ को भ्रम मे डाल उससे अधिक कीमत लेते हैं।[४] आजकल समाचार-पत्रो, पत्रिकाओ आदि मे न विज्ञापन भरे ही रहते हैं, सिनेमा, रेडियो, न्यून लाइट, पैम्फलेट आदि कितने साधनो का इस काम मे उपयोग (?) किया जा रहा है। आर्थिक जगत मे यह सब विक्रयेकाधिकारिक प्रवृत्तियो की उपस्थिति का परिचायक है।

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादन-विभेदन तथा फर्म की सस्थिति—

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत दी हुई होती है, फर्म को इसी दी हुई कीमत के अनुसार अपने उत्पादन को इस प्रकार समायोजित करना पडता है कि उस अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। विक्रयेकाधिकार मे फर्म को न केवल उत्पादन मात्रा निर्धारित करनी होती है अपितु उसे कीमत भी निर्धारित करनी पडती है। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तगत प्रश्न कुछ और जटिल हो जाता है, क्योकि यहा न तो शुद्ध विक्रयेकाधिकार की उच्छ खलता सम्भव होती है न पूर्ण प्रतियोगिता के समान उद्योग पर निर्भरता ही इतनी अधिक होती है। वस्तु विभेद विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता मे विशेष जटिलता उत्पन्न कर देता है। फर्म को न केवल कीमत तथा उत्पादन मात्रा पर विचार करना होना है बल्कि उसे अपनी उत्पादित वस्तु के गुण धर्म को भी इस प्रकार निर्धारित करना होता है कि यह अन्य प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओ से अधिकाधिक भिन्न रहे। इसी के साथ उसे अपनी वस्तु के प्रचार तथा उसको लोकप्रिय बनाने के लिये अपनी विक्रय प्रणाली विज्ञापन आदि के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण निर्णय करने पडते है। अपने अब तक के विश्लेषण मे हमने वस्तु विभेद तथा विक्रय लागतो के अनुपस्थित होने की धारणा कर रखी थी। इसी धारणा के आधार पर हमने फर्म की सस्थिति कीमत तथा उत्पादन मात्रा को निर्धारित किया था।

---

४ विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तगत माग तथा पूर्ति मे साम्य स्थापित नही होने दिया जाता, पूर्ति सदैव माग से कम रखी जाती है क्योकि विक्रयेकाधिकारिक लाभ प्राप्त करने के लिये ऐसा करना आवश्यक होता है, केवल सी आ तथा सी ला मे साम्य होना आवश्यक होता है—कीमतें सदा सी आ तथा सी ला से ऊपर रखी जाती हैं, जबकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत=सी आ=सी ला" के होती है। इसीलिये यह अवश्यम्भावी है कि पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता की अपेक्षा विक्रयेकाधिकारिक परिस्थितियो के अन्तर्गत कीमत सदैव ऊ ची होगी। इसीलिये चेम्बरलिन ने कहा है "Where monopoly elements are present, the equilibrium price is inevitably higher than the one indicated by the intersection of the competitive demand and cost curves,"—op cit, P 114.

चेम्बरलिन ने एक और समस्या पर विचार किया है। यदि मान लिया जाए कि विक्रेताधिकारिक प्रतियोगिता वाला फर्म को एक दी हुई कीमत पर उत्पादन करना है तब वह किस बात पर सबसे अधिक ध्यान देगा। यदि यहां यह भी मान लिया जाय कि विक्रय लागतें शून्य हैं तो स्पष्ट है कि फर्म के समक्ष प्रमुख प्रश्न यह होगा कि किस किस्म की वस्तु वह उत्पादित करे कि दी हुई कीमत० पर उसे उच्चतम लाभ प्राप्त हो सके। यह बात उन फर्मों के लिये और अधिक सम्भव हो सकती है जो उद्योग में नये-नये प्रवेश करते हों। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन लागत वक्र तथा माग-वक्र भिन्न भिन्न होते हैं। फर्म उस गुण वाली वस्तु उत्पादित करने की योजना बनायेगा जो दी हुई कीमत पर तथा सगति लागतों तथा माग पर उसे अधिकतम लाभ प्रदान कर सके। वस्तु की तमाम किस्मों में कोई किस्म ऐसी होगी जो उसे उच्चतम लाभ प्रदान करेगी। वैसे उसकी किस्में तो तमाम हो सकती हैं। किस्म जितनी ही उच्च कोटि की होगी उतनी ही अधिक उसकी लागत पड़ेगी।

मान लिया कि किसी वस्तु की तीन किस्म क, ख तथा ग हैं। इन तीनों में से जो किस्म उत्पादन करने से फर्म का अधिकतम लाभ मिलेगा उसी को वह उत्पादित करेगा। कीमत स्थिर है। अब हम इन तीनों किस्मों के लागत-वक्र एक ही चित्र में दिखाते हैं।
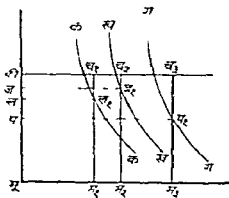
चित्र न० ५

० विक्रेताधिकारिक प्रतियोगिता वाले फर्म को कीमत कई प्रकार से दी हुई मिल सकती है, जैसे प्रचलित कीमत को वह दी हुई मान कर चले, बाजार की परिस्थितियों द्वारा अथवा ग्राहकों के स्वभाव आदि द्वारा कोई कीमत निर्धारित हुई मानी जा सकती है, तथा उस कीमत में हेर-फेर करने से सम्भव है कि फर्म को कुछ हानि उठानी पड़े—इसलिये वह दी हुई कीमत पर कार्य करने पर विवश हो जाता है।

मान लिया कि स्थिर कीमत (दी हुई) मू की है। क क, ख ख तथा ग ग वस्तु की तीनो किस्मो के क्रमश लागत वक्र हैं। मान लिया कि प्रचलित कीमत पर वह 'क' किस्म की मू $म_1$ मात्रा, ख किस्म की मू $म_2$ तथा ग की मू $म_3$ मात्रा बेच सकता है [यह स्मरण रहे कि रेखा, की $च_1$ $च_2$ $च_3$...... किसी वस्तु की अनन्त माग की परिचायक नही है, बल्कि एक ऐसी रेखा के रूप मे है जिसके सहारे वस्तु की तीनो किस्मो की माग मापी जा सकती है।]

तो वस्तु की 'क' किस्म के उत्पादन से फर्म को मू की कीमत पर मू $म_1$ बेच कर की $च_1$ $ल_1$ ल के बराबर लाभ होता है। ख किस्म की मू $म_2$ मात्रा को उसी कीमत पर बेच कर उसे बेचने की $च_2$ $च_1$ ज के बराबर लाभ मिलता है। लेकिन ग किस्म के उत्पादन तथा विक्रय से उसे की $च_3$ $प_1$ प के बराबर लाभ मिलता है जो पहले दोनो लाभो से कही अधिक है। अर्थात् ग किस्म के उत्पादन से उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होना है, इसलिये स्वभावत वस्तु की इसी किस्म के उत्पादन का फर्म विधान करेगा।

जिस उपधारणाओ पर यह विश्लेषण आधारित है वे अत्यन्त काल्पनिक है। वास्तविक जगत म विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के फर्म की कीमत कभी दी हुई शायद ही मिलती हो, न वास्तविक जगत मे विक्रय लागत ही शून्य होगी। तथ्य तो यह है कि फर्म को कीमत, उत्पादन मात्रा, वस्तु के गुण धर्म तथा विक्रय लागत के सम्बन्ध म एक ही समय साथ-साथ निर्णय करना पडता है। लेकिन फिर भी विश्लेषण के लिये हम इन उपधारणाओ का सहारा लेना ही पडेगा।

अब हमने कीमत निर्धारण तथा वस्तु की किस्म निर्धारण-दोनो का समायोजन बारी बारी एक को स्थिर मान कर देख लिया। इन दोनो के एक साथ समायोजन का काम अब उतना कठिन नही रह जाता। यदि वस्तु की प्रत्येक सम्भव किस्म (क, ख तथा ग) के लिये ऊपर के चित्र न० ३ तथा ४ की भाति अलग अलग चित्र बनाये जा सके तो प्रत्येक किस्म तथा कीमत का वह सयोग चुना जा सकता है जो अधिकतम लाभ दे सकता है।

अथवा वस्तु की तथा कीमत के सब सम्भव सयोगो का यदि चित्र (चित्र न० ५ की भाति) बनाया जा सके तो वह सयोग चुनना आसान होगा जो फर्म को अधिकतम लाभ प्रदान कर सकता है।

सामुदायिक सन्स्थिति (Group Equilibrium)—

अब तक हमने विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता का फर्म के दृष्टिकोण से विवेचन किया है। अब हम विक्रयकाधिकारिक प्रतियोगिता मे सलग्न तमाम प्रतिद्वन्द्वी फर्मो का सामूहिक अध्ययन करेंगे। फर्मो के इस समूह को उद्योग कहना कुछ असगत सा है, क्योकि उद्योग मे वे फर्म शामिल हुए कहे जाते हैं जो ऐसी समावयव वस्तु उत्पादित करते हैं जो परस्पर एक दूसरे की पूर्णरूपेण स्थानापन्न

होती है। लेकिन विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म एक 'अनोखी' वस्तु उत्पादित करता है जो अन्य फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की निकट स्थानापन्न होने हुए भी उनसे किसी अंश तक भिन्न होती है। इसलिये ऐसी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादक फर्मों को 'उद्योग' शब्द के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। इस कठिनाई से बचने के लिये ऐसे फर्मों के सम्मिलित तथा संयुक्त नाम के लिये 'समूह' शब्द प्रयुक्त किया जा रहा है।

लेकिन 'उद्योग' तथा 'समूह' दोनो शब्दों का प्रयोग समान रूप से आपत्ति-जनक ज्ञात होता है। "सामान्य मूल्य के शुद्ध सिद्धान्त में, समूह तथा उद्योग व्यर्थ के प्रत्यय हैं।"[5] फिर भी चेम्बरलिन ने समूह शब्द का प्रयोग ऐसे फर्मों के संयुक्त नाम के लिये किया है "जिनकी वस्तुएं परस्पर निकट स्थानापन्न होती हैं"[6] तथा जो साधारणतः एक अपूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजार का निर्माण करते हैं, जैसे साबुन, साइकिल आदि के उत्पादन करने वाले फर्म। ऐसे समूह का प्रत्येक फर्म एक विक्रयेकाधिकारी के रूप में है, फिर भी उसका बाजार उसके अन्य प्रतिद्वन्द्वियों के साथ एक ही ताने-बाने में बुना हुआ है। वह बाजार में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होता।

शुद्ध प्रतियोगिता पर विचार करते समय हमने यह देखा है कि कोई उद्योग संस्थिति में कब आता है। उद्योग स्थायी संस्थिति में हुआ तब कहा जाता है जबकि उद्योग के अन्तर्गत कार्य करने वाले फर्मों में उत्पादन-विस्तार अथवा उत्पादन संकुचन का हेतु पूर्णतया अनुपस्थित होता है, न नये फर्मों का प्रवेश होता है तथा न पुराने फर्मों का बहिर्गमन, तथा समस्त संसाधनों का पूर्ण उपयोगीकरण हुआ होता है। उद्योग-संस्थिति की हालत में शुद्ध (विक्रयेकाधिकारिक) लाभ शून्य हो जाता है।

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के 'समूह' की संस्थिति को जब हम इस प्रकार देखना चाहते हैं तो हमारे सामने कई दुर्निवार कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। पहली कठिनाई यह है कि किन फर्मों को इस समूह के अन्तर्गत लाया जाय, दूसरे, यदि पहली कठिनाई का कोई हल निकाला भी जाय तो उनके सामूहिक अध्ययन में कठिनाई यह है कि उनमें से प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित 'वस्तु' की माग तथा लागतें भिन्न-भिन्न होंगी, और अन्त में विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की परिस्थिति उत्पन्न करने के लिये फर्मों की संख्या कम से कम कितनी होनी चाहिए।

पहली कठिनाई वास्तव में वस्तु अथवा सामग्री (Commodity) की परिभाषा से सम्बन्धित है। जोन रॉबिन्सन ने वस्तु की परिभाषा करते हुए कहा है कि

---

5. R. Triffin Monopolistic Competition and General Eqm Theory (Cambridge, Mass, 1940), P. 8)

6. Chamberlin. op cit, P 81

'वस्तु' वह उपभोग्य पदार्थ है जो स्वयं मे समावयव हुआ माना जा सके।[7] इस अर्थ मे वस्तु को लेने से तो विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता का प्रत्येक फर्म बिल्कुल भिन्न-भिन्न वस्तु का उत्पादन करता है।

स्थूल रूप मे हम 'एक वस्तु' का प्रयोग उन तमाम उत्पादनो के लिये करेंगे जो एक ही जाति-नाम से अभिहित होते हैं। इनकी पारस्परिक भेदक लोच धनात्मक तथा ऊंची होती है। ये अन्य श्रेणी की वस्तुओ की अपेक्षा एक दूसरे की निकट स्थानापन्न होती हैं।

दूसरी कठिनाई यह है कि समूह के प्रत्येक फर्म की वस्तु की माग तथा लागतें भिन्न भिन्न हैं। विभेदन के कारण उनके मांग तथा लागत वक्रो मे काफी अन्तर होता है। प्रत्येक फर्म के बधे ग्राहको की सख्या से ही हम उस फर्म के माग वक्र की लोच तथा उसकी दोनो अक्षो से दूरी अर्थात् स्थान जान सकते है। नतीजा यह होता है कि फर्मों की लागतें, कीमते तथा लाभ एक दूसरे से काफी भिन्न होते है। लेकिन इनमे से कुछ तो अस्थायी होते हैं, केवल कुछ दीर्घकालीन ठहरने की प्रवृत्ति रखते हैं। चेम्बरलिन ने विश्लेषण की सुविधा के लिये यह उपधारणा कर ली है कि समूह भर मे वस्तु की विभिन्न किस्मो की माग तथा लागतें समान हैं।[8]

अन्त मे, फर्म की सख्या के सम्बन्ध मे कठिनाई है। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के लिये 'समूह' मे फर्मों की सख्या कितनी होनी चाहिये ? चेम्बरलिन ने फर्मो की सख्या को इतनी अधिक माना है कि किसी एक फर्म की क्रिया का प्रभाव अन्य फर्मों पर नगण्य होता है जिससे कि इनमें कोई प्रतिक्रिया पैदा होने की आशका नही होती अन्यथा विक्रयाल्पाधिकार की अवस्था उत्पन्न हो जायगी। इस प्रकार, हम निम्नलिखित उपधारणाओ के आधार पर समूह सस्थिति का विवेचन करेंगे —

(१) समूह के सभी फर्मों की माग तथा लागतें समान हैं,

(२) समूह मे फर्मो की सख्या इतनी अधिक है कि किसी एक फर्म की क्रिया की अन्य फर्मों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती,

(३) वस्तु विभेदन अनुपस्थित हैं, तथा

(४) समायोजन माग वक्र के स्थान परिवर्तन द्वारा ही होना है, लागत-वक्र स्थिर रहते है।

(५) विक्रय-लागत शून्य हैं।

अब ऊपर के चित्र न० ४ के आधार पर हम समूह की सस्थिति पा सकते हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि दीर्घकालीन अवधि मे फर्म सस्थिति मे तब होगा जब

---

7 *Robinson J* Eco of Imp. Comp, P. 17.

8. "We, therefore, proceed under the heroic assumption that both demand and cost curves for all the "products" are uniform throughout the group," —*Chamberlin op' cit*, P 82
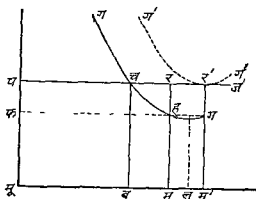
चित्र नं० ७

उपर्युक्त चित्र मे वस्तु की सभी किस्मो की कीमत दी हुई है, यह मू प के बराबर है। प्रत्येक विक्रेता को इसी कीमत पर वस्तु की इष्टतम किस्म चुननी पड़ेगी अर्थात् इसी कीमत पर उसे अपने उत्पादन का समायोजन करना पड़ेगा। 'प' बिन्दु से प ज एक क्षैतिज रेखा खीची गई है। लेकिन इस रेखा का अर्थ यह नही है कि इस कीमत पर 'वस्तु' के लिये माग अनन्त है। केवल वस्तु की प्रत्येक किस्म की माग इसके सहारे नापी जा सकती है। ऊपर के चित्र न० ६ मे हम इस नतीजे पर पहुचे हैं कि यदि वस्तु की तीन किस्मे क ख ग हैं तो ग वस्तु का उत्पादन (इस दी हुई कीमत पर) करना फर्म के लिये सबसे अधिक लाभ-प्रद होगा अर्थात् उसकी इष्टतम 'किस्म' है। इसी 'किस्म' के उत्पादन से उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। चित्र न० ७ मे ग ग, उत्पादित वस्तु की 'ग' किस्म का उत्पादन लागत वक्र है। मान लिया कि इसकी माग मू म है। स्पष्ट है कि इस मात्रा की कुल उत्पादन लागत मू म ह फ के बराबर होगी तथा शुद्ध लाभ फ ह र प होगा।

हमने ऊपर यह देखा है कि सामूहिक सस्थिति मे न नए फर्मों को समूह में प्रवेश करने की कोई प्रेरणा होती है, न पुराने फर्मों मे बहिर्गमन की प्रवृत्ति होती है। सामूहिक संस्थिति मे तदैव फर्मों को अपनी उत्पादन मात्रा को घटाने या बढाने की भी कोई प्रवृत्ति न होगी और यह तभी सम्भव है जब कि फर्म का शुद्ध लाभ शून्य हो अर्थात् माँग वक्र-लागत-वक्र का स्पर्शक हो।

ऊपर के चित्र मे फ ह र प शुद्ध लाभ है। सामूहिक सस्थिति के लिये इस लाभ का लुप्तिकरण होना आवश्यक है। यह लुप्तिकरण नए फर्मों के प्रवेश द्वारा होगा। शुद्ध लाभ से उत्प्रेरित हो नए फर्म क्षेत्र मे आयेंगे तथा प्रत्येक फर्म की माग अपेक्षाकृत घटेगी। माग वक्र बायी ओर नीचे गिरेगा जब तक कि वह च बिन्दु पर लागत वक्र का स्पर्शक नही हो जाता। तब फर्म की केवल मू ब

वस्तु मांगी जायगी। इस प्रकार फर्मों का प्रवेश तथा बहिर्गमन अन्त में अ-लाभ तथा अ-हानि की अवस्था पैदा करता रहेगा।

फर्मों के प्रवेश तथा बहिर्गमन के अतिरिक्त एक सम्भावना और भी है. कोई फर्म अपने उत्पादन की किस्म को उन्नत तथा पहले से बढिया बना सकता है, जबकि अन्य फर्मों का उत्पादन पूर्ववत रहता है। इसका फल यह होगा कि लागत वक्र दायी ओर ऊपर उठेगा। इस फर्म के 'उत्पादन' की माग भी बढ जायगी। यदि अन्य फर्मों ने भी अपने उत्पादन मे वैसी ही उन्नति की तो कुल माग मे वृद्धि होगी लेकिन यह सब फर्मों के बीच बट जायगी। लागत तो ऊँची बनी रहेगी लेकिन सब फर्मों के उत्पादन मे विकास के कारण किसी एक फर्म को मांग-वृद्धि का फल न मिल सब फर्मों मे बट जायगा जिससे कि लाभ मे ह्रास आने लगेगा। इस प्रकार समायोजन तब तक चलता रहेगा जब तक कि अपने उत्पादन को और बढिया बनाकर अधिक लाभ कमाने की आशा किसी भी फर्म को होगी। जब कोई भी फर्म अपने 'उत्पादन' के गुणधर्म मे वृद्धि द्वारा अधिक लाभ कमाने की आशा न रखेगा, तब समूह सस्थिति मे आ जायगा।

इस सस्थिति की हालत मे लागत वक्र की क्या स्थिति होगी? स्पष्ट है कि वह ग ग' वक्र की स्थिति से ऊपर जा नही सकती, क्योकि ऐसा होने का अर्थ यह होगा कि फर्म को हानि होने लगेगी, कीमत लागत से कम होगी तथा घाटा उठाने और समूह से बाहर निकलने लगेंगे। लागत वक्र की स्थिति ग ग तथा ग' ग' के बीच मे ही रही रहगी। *यहा हमे यह नही भूलना चाहिए कि प ज माग वक्र नही* है जो अनन्त माग प्रकट करता हो। वास्तव मे वस्तु की किसी एक किस्म की माग अत्यन्त सीमित होती है तथा कीमत घटा कर इस माग मे वृद्धि नहीं लाई जा सकती। यदि इसको और बढिया बना कर इसकी माग मे वृद्धि लाने का प्रयत्न किया गया तो लागतें भी बढ जायेगी। फिर पृष्ठ ५६२ पर दिये गये चित्र मे यदि यह मान भी लिया जाय कि वस्तु की 'ग' किस्म को इतना बढिया बनाया गया कि उसका लागत वक्र ग' ग पर चला जाता है तो भी यह न समझना चाहिए कि 'ग' की माग मू म' हो जायगी। इस प्रकार यद्यपि हमने सस्थिति के लागत वक्र की सीमा ग ग तथा ग ग' के बीच निर्धारित कर दिया, किन्तु यह बताना बडा कठिन है कि वास्तव मे सस्थिति बिन्दु होगा कहा। सस्थिति बिन्दु न बता हम सस्थिति की विशेषता स्थूल रूप से बता सकते हैं :—

(१) *सस्थिति की हालत मे औसत लागत तथा कीमत समान होगी, तथा*

(२) कोई अपने 'उत्पादन' को और बढिया बनाकर अधिक लाभ की आशा न रखेगा।

अब तक हमने कीमत तथा उत्पादन को बारी बारी स्थिर तथा परिवर्तनशील मानकर सस्थिति का विश्लेषण किया है। यदि अब हम इन दोनो को परिवर्तनशील

मान लें तो क्या फल निकलेगा ? दोनों के परिवर्तनशील होने का सबसे पहला फल तो यह होगा कि चित्र नं० ७ में लागत वक्र ग ग सस्थिति कीमत की ऊँचाई से खींची गई रेखा प ज के नीचे तक आयेगी। दी हुई परिस्थितियों में प्रत्येक फर्म उत्पादन तथा कीमत का ऐसा संयोग अपने लिए चुनेगा कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। जब उसके प्रतिद्वन्द्वी भी अपने उत्पादन तथा कीमत का समायोजन वैसे ही करेंगे तो फर्म को पुनः समायोजन करना पड़ेगा। इस प्रकार के समायोजन तथा पुनःसमायोजन के फलस्वरूप एक बिन्दु ऐसा आ जायगा, जिसके आगे कोई भी फर्म कोई समायोजन करने की इच्छा न रखेगा। इसी प्रकार शुद्ध लाभ अथवा हानि का अर्थ फर्मों का क्रमशः प्रवेश अथवा बहिर्गमन होगा, जिससे कि एक अवस्था ऐसी उत्पन्न होगी कि नये फर्मों को प्रवेश करने की प्रेरणा रहेगी न पुराने फर्मों को बहिर्गमन से कोई लाभ दिखाई देगा। जब फर्मों की समायोजन तथा प्रवेश और बहिर्गमन की क्रियायें प्रति क्रियायें समाप्त हो जायेंगी तो सामूहिक सस्थिति आ जायगी।

चित्र नं० ७ में हमने यह भी देखा कि 'ग' वस्तु को और बढ़िया बनाने में लागत बढ़ जाती है। यदि 'ग' को इतना बढ़िया बना दिया जाय कि उसकी लागत ग' ग' की स्थिति में पहुँच जाय तो विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के फर्म पर क्या प्रतिक्रिया होगी ? विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत हमने यह देखा है कि माग की लोच अपूर्ण होती है अर्थात् उतनी नर्म होती जितनी कि उसी परिस्थिति में पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत होती।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि कीमत में एक निश्चित कमी की जाय तो माग शुद्ध प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता दोनों के अन्तर्गत बढ़ेगी, लेकिन माँग में यह वृद्धि दोनों दशाओं में बराबर नहीं होगी। पूर्ण-प्रतियोगिता के अन्तर्गत विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की अपेक्षा वृद्धि अधिक मात्रा में होगी।

यदि कीमत दी हुई हो तो किसी फर्म का अपने उत्पादन को और बढ़िया बनाने का अर्थ क्या होता है ? उत्तर स्पष्ट है, चूँकि क्रेता को पहले ही की कीमत पर पहले से अच्छी चीज मिल रही है। अत इसका फल वही होगा जो कीमत गिरने का होता है। भिन्न दृष्टिकोण से देखने से पता चलता है कि कीमत में ह्रास (वस्तु के गुण धर्म यदि पूर्ववत रहें तो) तथा वस्तु को (उसी कीमत पर) और बढ़िया बनाना एक ही बात है। कोई अपनी वस्तु की माग को इन दोनों में से किसी रीति से बढ़ा सकता है—या तो अपनी कीमत कम करे या कीमत वही रहने दे, लेकिन वस्तु को पहले से अच्छी बनावे। (यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार कीमत कम करने से प्रति इकाई लाभ घट जाता है उसी प्रकार चीज को और बढ़िया बनाने से भी प्रति इकाई लाभ कम हो जायगा, क्योंकि कीमत के पूर्ववत् रहते हुये भी

लागत बढ जाती है, जिससे कि दोनो के बीच का अन्तर, लाभ, कम हो जाता है) इस सबका अर्थ यह हुआ कि विक्रेता माग को दो प्रकार बढा सकता है, या तो कीमत घटाकर या कीमत के स्थिर रहने पर, वस्तु को और बढिया बनाकर। माग मे वृद्धि लाने की तीसरी सूरत अधिक विक्रय लागत द्वारा है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

इतना कहने के बाद हम पुन अपने चित्र न० ७ पर आते है। यदि ग' वस्तु को खूब बढिया बनाया जाय तो मान लिया कि उसका लागत वक्र ग' हो जाय। कीमत के पूर्ववत् रहने स वस्तु की माग बढगी। यदि उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होता तो प ज फर्म का माग वक्र होता और स्पष्ट है कि माग मे च र' (या व म) वृद्धि होती। लेकिन माग पूर्ण लोचदार न होने से विक्रयेकाधिकारिक *प्रतियोगिता की मौलिक उपधारणा है कि माग मे यह वृद्धि ब म' (अथवा च र) से* सर्वदा कम होगी अर्थात् माग वक्र च तथा र बिन्दुओ के बीच मे कही होगा। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते है कि 'ग' को और बढिया बनाने से लागत वक्र तो प ज रेखा के सहारे च से र' दूरी जायगी लेकिन माग वक्र इससे कम। इसका *फल यह होगा कि लागत वक्र ग ग' माग वक्र से ऊपर होगी अर्थात् फर्म की लागत* कीमत से अधिक होगी तथा उसे घाटा उठाना पडेगा तथा वह घटिया किस्म उत्पादन पर अपनी लागत को कम करने पर विवश हो जायगा। वह वस्तु को तब तक घटिया बनाता जायगा जब तक कि उसका माग-वक्र, लागत वक्र का स्पर्शक नही हो जाता। इस प्रकार ग वस्तु की सबसे अच्छी किस्म को बनाना तभी सम्भव है जब उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत हो, क्योकि उसी हालत मे माग मू म' होगी तथा शुद्ध लाभ शून्य होगा (दी हुई कीमत, मू प=औसत लागत)। विक्रयेका-धिकारिक प्रतियोगिता मे 'ग' को इष्टतम अवस्था तक अच्छा नही बनाया जा सकता क्योकि इष्टतम अवस्था मे उसकी लागत कीमत से अधिक होगी। यदि 'ग' इष्टतम किस्म हो तथा इस किस्म मे कोई उन्नति न कर इसे हम स्थिर रखें तथा कीमत का घटाना-बढाना सम्भव हो तो शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत सस्थिति माग वक्र क्षैतिज होगी जो लागत वक्र ग ग को उसके निम्नतम बिन्दु ड पर स्पर्श करेगी।' जिसका परिणाम यह होगा कि वही वस्तु मू ल मात्रा म उत्पादित की जायगी तथा 'ड ल' कीमत पर बेची जायगी। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत सस्थिति मे उत्पादन केवल मू व (जो मू ल से कम है) हो रहा है तथा कीमत व च* है (जो पूर्ण प्रतियोगिता की कीमत ड ल से अधिक है)।

इससे हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि यदि वस्तु की किस्म दी हुई हो तो विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, शुद्ध प्रतियोगिता की अपेक्षा, कीमत अधिक होगी तथा उत्पादन कम। और यदि कीमत दी हुई हो तो विक्रयेकाधिकारिक

---

* यह स्मरण रहे कि सस्थिति की अवस्था मे विक्रयकाधिकारिक प्रतियोगिता के फर्म की वस्तु का माग वक्र, ग ग लागत वक्र को च बिन्दु पर स्पर्श करेगा।

प्रतियोगिता के अन्तर्गत, शुद्ध प्रतियोगिता की अपेक्षा, घटिया किस्म की चीज उत्पादित की जायगी।[9]

विक्रय लागतें—

विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम करने वाले फर्म के उत्पादन की माग तीन बातो पर निर्भर होती है :—

(१) उसकी कीमत—फर्म कीमतो मे परिवर्तन करके अपने प्रतिद्वन्द्वियो का मुकाबला करने की चेष्टा करते रहते हैं इसे हम कीमत-प्रतियोगिता कह सकते है।

(२) उत्पादन की किस्म—फर्म अपने उत्पादन को अधिकाधिक ग्राहकों के लिये रोचक बना कर एक दूसरे से होड लेते हैं—इसे वस्तु-प्रतियोगिता कहा जा सकता है।

(३) विक्रय लागतें—फर्म अधिकाधिक विज्ञापन आदि विक्रय-लागतो से अपनी अपनी वस्तु को अधिक लोकप्रिय बनाने की चेष्टा करते हैं।

अब तक हमने केवल कीमत तथा उत्पादन की किस्म को दृष्टिगत रखते हुए विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता मे काम करने वाले फर्मों की सम्थिति पर विचार किया है। विक्रय लागतो को हमने शून्य मान लिया था। अब हम विक्रय लागतों पर विचार करेंगे।

विक्रय लागते विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता की परमावश्यक तत्व हैं। जैसा हम पहले कह चुके है, पूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रय लागत की कोई आवश्यकता नहीं होती और न शुद्ध विक्रयेकाधिकार ही मे ये इतनी उपयोगी होती हैं। लेकिन विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

विक्रय लागतो की आवश्यकता प्राय उपभोक्ताओ के अज्ञान के परिणाम-स्वरूप होती है। यदि उपभोक्ता को बाजार की तमाम वस्तुओ—उनकी उपयोगिताएँ, कीमतें आदि—के बारे मे पूर्ण ज्ञान हो तो विक्रय लागतो की आवश्यकता समाप्त हो जायगी। विक्रय लागतो द्वारा यह प्रयत्न किया जाता है कि उपभोक्ता अन्य वस्तुओ को छोड कर कोई एक वस्तु विशेष खरीदे अथवा अन्य विक्रेताओ को छोड किसी फर्म विशेष से अपनी आवश्यकता की वस्तु खरीदें। चेम्बरलिन ने

9. "The conclusion seems to be warranted that just as, for a given "product", price is inevitably higher under monopolistic than under pure competition, so, for a given price, "product" is inevitably somewhat inferior" *Chamberlin, op. cit, P. 77.*

* वस्तु-गुण तथा विक्रय-लागतो के क्षेत्र मे प्रतियोगिता को अ-कीमत प्रतियोगिता (Non-price Competition) भी कहा जाता है।

विक्रय-लागतों की परिभाषा करते हुए कहा है कि विक्रय-लागतें वे लागतें हैं "जो किसी वस्तु के माग वक्र की शक्ल अथवा स्थिति में परिवर्तन करने के उद्देश्य से लगाई जाती है।"

जैसा कहा जा चुका है विक्रय लागतों के मूल में क्रेताओं का अज्ञान काम करता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह अपनी रुचि, बाजार की अवस्था, विभिन्न वस्तुओं में प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं की मात्राएँ तथा कौन वस्तु कहाँ से खरीदना अधिक उपयुक्त होगा आदि बातों का ज्ञान रखता हो तथा उसे अपने ज्ञान में इतना विश्वास हो कि किसी भी प्रभाव में पड कर उसका मन बदलेगा नहीं तो विक्रय-लागतों की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। लेकिन दुर्भाग्यवश क्रेताओं का ज्ञान तो सीमित होता ही है, लेकिन उसमें भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसकी रुचि को विज्ञापनों द्वारा बदला भी जा सकता है। आज के युग में तो विक्रय कार्य एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कला है जिसका आधार अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होता जा रहा है। विज्ञापन, दुकान के सजाने का ढंग, बिक्री कार्य में लगे व्यक्तियों का व्यक्तित्व, दुकान पर माल की सजावट, वस्तु की पैकिंग आदि बातें उपभोक्ताओं अथवा ग्राहकों को भिन्न भिन्न रूप में आकर्षित करती हैं। इन्हीं का इस प्रकार समायोजन कि अधिकाधिक ग्राहक उनसे प्रभावित हो सकें, विक्रय-कार्य में दक्षता का परिचायक है। इन मदों पर इसीलिये विक्रेता को बाजार की परिस्थिति तथा प्रतिद्वन्द्वियों के विक्रय-लागतों को दृष्टिगत रखते हुए व्यय करना पड़ता है। समुचित विज्ञापन द्वारा विक्रेता अपनी वस्तु को लोकप्रिय बना उसकी माग बढ़ा सकता है। जहा बाजार में वस्तु-विभेदन है वहा बिना इन लागतों के विक्रेता बाजार में टिक ही नहीं सकेगा। विक्रय लागतों का अर्थ होगा कि विक्रेता अपनी वस्तु के साथ कुछ अन्य सेवाएँ भी बेच रहा है। यदि यह वस्तु बाजार की अन्य वस्तुओं के समान भी हो तो इसके साथ अन्य सेवाओं का जुड़ना इसमें भिन्नता तथा विभेदन ला देता है। इससे यह स्पष्ट है कि विक्रय-लागतें वस्तु विभेदन को जन्म दे सकती हैं यद्यपि इसका विलोम अधिक सही है अर्थात् वस्तु-विभेदन विक्रय लागतों का जन्मदाता होता है।

विक्रय-लागतें तथा उत्पादन-लागतें : अन्तर—

विक्रय लागतों तथा उत्पादन-लागतों में अन्तर है। उत्पादन लागत के अन्तर्गत वे सब खर्चे आते हैं जो वस्तु को विक्रय योग्य बनाने में लगते हैं। इसमें कच्चे माल की कीमत, उत्पादन कार्य में लगे हुए मजदूरों की मजदूरी, फैक्टरी चलाने का व्यय, उत्पादन कार्य में लगे हुए प्रबन्धकों तथा उनके मातहत काम करने वाले अन्य कर्मचारियों के वेतन आदि के अतिरिक्त उत्पादित वस्तु को फैक्टरी से विक्रय स्थान (बाजार) को ले जाने का यातायात व्यय भी शामिल होता है। उत्पादन का अर्थ उपयोगिता की सृष्टि, इस दृष्टिकोण से वस्तु को उपयोगी बनाने के लिये जो

कुछ व्यय होता है उसे उत्पादन लागत कहते है। हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की पूर्ति मे सुविधा तथा वृद्धि लाने वाली लागतें उत्पादन लागते कहलाती हैं। लेकिन वस्तु का उत्पादन स्वय साध्य नही है, उत्पादक केवल उत्पादन क्रिया को सपादित कर अपना कार्य समाप्त नही कर देता। उसका लक्ष्य उत्पादन से लाभ कमाना है और यह तभी होगा जब वह उत्पादित वस्तु को बेचेगा। बेचेगा तभी जब उसके ग्राहक होगे। अत उत्पादक को अपनी वस्तु के लिये ग्राहक बनाना होगा, उसकी माग की सृष्टि करना होगा, उसके लिये बाजार बनाना होगा। ग्राहक बनाने, माग की सृष्टि करने तथा बाजार प्राप्त करने के लिये उत्पादक जो कुछ व्यय करेगा वही विक्रय लागत कहलायेगी। चेम्बरलिन के अनुसार, किसी वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय मे लगाई गई लागतो का वह अश जो माग वक्र को प्रभावित करता है, विक्रय लागत है, शेष उत्पादन लागत।[11] उत्पादन-लागत वस्तु को माग के अनुकूल बनाती हैं, विक्रय लागतें माग को वस्तु के अनुकूल बनाने की चेष्टा करती है।[12] वैसे तो इन दोनो प्रकार की लागतो मे अन्तर तब और भी आवश्यक हो जाता है जब हम यह देखते हैं कि उत्पादन-लागत पूर्ति की पोषक है तथा उसमे वृद्धि लाने की ओर परिलक्षित होती है लकिन विक्रय-लागतें माग मे वृद्धि के लाने के उद्देश्य से की जाती है। इन दोनो प्रकार की लागतो मे अन्तर बहुत दूर तक नही ले जाया जा सकता। चेम्बरलिन ने दो प्रकार की ऐसी उत्पादन-लागतो का जिक्र किया है जो ऊपर से विक्रय लागत प्रतीत होती हैं, वे हैं फैक्टरी से बाजार तक वस्तु को लाने का परिवाहन का खर्च तथा दुकान का स्थिति-लगान। लेकिन स्पष्ट है कि परिवाहन वस्तु मे और उपयोगिता की सृष्टि करता है—वस्तु की उपयोगिता फैक्टरी मे शून्य-प्राय होगी, क्योकि वहा वह उपयोगिताओ की आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकेगी। इस लिये परिवहन द्वारा वह वहा ले जाई जाती है जहा उसकी उपयोगिता अधिक होती है। उपयोगिता की सृष्टि करने तथा पूर्ति मे वृद्धि करने के कारण यह लागत स्पष्ट रूप स उत्पादन-लागत है। जहा तक स्थिति-लगान का सवाल है इसमे भी उत्पादक अपने माल को उस स्थान पर लगाने की चेष्टा कर रहा है जहा वह अपने माल को ग्राहको की माग के अनुकूल बना सके वह उसके नजदीक रहे। प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की लागत विक्रय लागत नही कही जा सकती। हा यदि दुकान के लिए ऐसी जगह ली गई है जहा विज्ञापन का कार्य भी किसी न किसी भाति हो रहा है तो जिस हद तक यह लागत विज्ञापन से सम्बन्धित होगी वहा तक यह विक्रय लागत कहलायेगी।

---

11. Ibid, P 123

12 ' Those (costs) made to adapt the product to the d mand are costs of production, those made to adapt the demand to the product are costs of selling "
— *Chamberlin, Ibid P 125*

फिर भी जैसा हमने ऊपर कहा है कि इन दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर पाने की चेष्टा हमे नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उत्पादक के एक प्रकार से देखा जाय तो सभी प्रकार के खर्चे माग पर दृष्टि रखकर किये जाते हैं।

विक्रय लागतो की कुछ विशेषताए —

विक्रय लागतो की उपादेयता को मापना असम्भव होता है। उत्पादन लागतों के फल को हम किसी सीमा तक निश्चित कर सकते हैं लेकिन विक्रय लागतो तथा उनके फलस्वरूप हुई विक्रय मात्रा मे वृद्धि के बीच कोई सम्बन्ध निश्चित करना असम्भव है। एक ही रकम को विक्रय लागत के रूप मे एक प्रकार से व्यय किया जाय तो हो सकता है कि विक्रय मात्रा म बिल्कुल वृद्धि न हो (या हानि भी हो सकती है) लेकिन उसी को यदि अन्य किसी तरीके से व्यय किया जाय तो हो सकता है कि विक्रय मात्रा तथा लाभ म पर्याप्त रूप से वृद्धि हो जाय। इसका कारण यह है कि विक्रय लागतो की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वे किस हद तक उपभोक्ताओ के मस्तिष्क को प्रभावित करती है। विज्ञापन के भिन्न-भिन्न साधन इसी दृष्टिकोण से काम म ले आये जाते हैं लेकिन यह निर्धारित करना बहुत कठिन होगा कि विज्ञापन के किस साधन से कितना लाभ हुआ है। फिर विज्ञापन के अतिरिक्त और भी ऐसी बातें हैं जो वस्तु की बिक्री बढा सकती है—जैसे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि, आय म वैषम्य का कम होना, मौसम म परिवर्तन, स्थानापन्न, पूरक अथवा अन्य प्रकार की वस्तुओ की कीमत मे परिवर्तन। अत यदि विज्ञापन पर धन व्यय किया जाता है तथा वस्तु की बिक्री बढती है तो यह कहना कठिन है कि कितनी बिक्री विज्ञापन से बढी है तथा कितनी उपर्युक्त अन्य कारण या कारणो से।

दूसरे, विक्रय लागतो का प्रभाव अन्य प्रतिद्वन्द्वियो की प्रतिक्रिया द्वारा बिल्कुल नष्ट किया जा सकता है। यदि कोई फर्म विज्ञापन द्वारा अपनी वस्तु का प्रचार कर रहा है तो अन्य प्रतिद्वन्द्वी भी वैसा ही करना प्रारम्भ करेंगे तथा विज्ञापन व्यय का प्रभाव शून्य होगा। उत्पादन लागतो का प्रभाव कभी भी शून्य नही होता वह सदैव कुछ न कुछ प्रभाव पूर्ति पर डालता ही है।

विक्रय-लागतो की तीसरी विचित्रता यह है कि वे विक्रय-लागत लगाने वाले फर्म ही की बिक्री न बढा समूह के अन्य फर्मों के 'उत्पादनो' की बिक्री भी बढा दें। जैसे मान लिया लिप्टन चाय के उत्पादक अपनी ब्राड का प्रचार करते तथा अधिकाधिक लोगो को चाय पीने को प्रोत्साहित करते हैं तो न केवल लिप्टन चाय की माग बढेगी वरन् अन्य प्रकार के ब्राडो की भी खपत बढेगी।

विक्रय लागतो का प्रभाव शून्य बातें भी बना सकती हैं। विक्रय लागतें इस उपधारणा पर आधारित होती हैं कि बहुत से उपभोक्ताओ की रुचि को बदला जा सकता है। उन्हे एक वस्तु के उपभोग से विरत कर दूसरी वस्तु के उपभोग करने पर विवश किया जा सकता है अथवा एक विक्रेता को छोड दूसरे के यहा जाने पर भी राजी किया जा सकता है। लेकिन यह बात सर्वदा सत्य नहीं। उपभोक्ता की

आदतें, परम्परा, रस्म-रिवाज आय-स्तर कितनी ऐसी बातें हैं जो इस मार्ग मे बाधक होती हैं।

विज्ञापन कभी कभी उत्पादन (विक्रेता) की ऐसी ख्याति (Goodwill) स्थापित कर देता है कि उसे छोड ग्राहक आसानी से दूसरे विक्रेता से वस्तु नहीं खरीदेंगे। विज्ञापन का यह लाभ दीर्घकालीन होता है। समुचित विज्ञापन का यह प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यह एक अमूर्त सम्पत्ति का सृजन करता है।

एक कठिनाई और है विज्ञापन को परिवर्तनशील लागत कहा जाय अथवा स्थिर लागत ? इसका उत्तर यह है कि यदि विज्ञापन स्थाई ग्राहक बनाने मे सफल होता है तो यह स्थिर लागत के अन्तर्गत आयेगा, लेकिन यदि ग्राहक को केवल एक बार के लिये अस्थाई रूप से यह लाने मे सफल होता है तो इसे हम परिवर्तनशील कह सकते हैं।

विक्रय लागत तथा मांग-वक्र—

विक्रय लागतो मे हम विज्ञापन को अपने विश्लेषण की सहायता के लिए लेते हैं। विज्ञापन विक्रय लागतो का प्रमुख मद होता है। विज्ञापन दो प्रकार से विक्रय को बढाता है एक तो, फर्म के उत्पादन का प्रचार कर उसे उन लोगो के सामने प्रस्तुत करता है जो उसके बारे मे पहले नही जानते थे, दूसरे, जो लोग उसको जानते भी थे, लेकिन खरीदते नही थे उनको उस वस्तु को खरीदने के लिये उत्प्रेरित करता है।

विज्ञापन की सबसे बडी आवश्यकता इसलिए होती है कि क्रेता बाजार की बहुत सी बातो से अनभिज्ञ होते हैं। वे अक्सर जिस वस्तु को खरीदते हैं, उसके अतिरिक्त और किसी वैसी वस्तु के अस्तित्व से जानकारी नही रखते, या यह नहीं जानते कि जिस विक्रेता से वे अपनी आवश्यकता की वस्तु खरीद रहे हैं उसके अतिरिक्त भी कोई उस वस्तु का विक्रेता बाजार म है। क्रेता एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न फर्मों द्वारा ली जाने वाली भिन्न-भिन्न कीमतो की भी प्राय कम जानकारी रखते हैं। विभिन्न वस्तुओ तथा उसकी स्थानापन्न होने वाली वस्तुओ के तुलनात्मक गुण तथा कीमतो से भी साधारण क्रेता अनभिज्ञ होता है। विज्ञापन इन्ही बातो का ग्राहक को ज्ञान कराता है। न केवल नये फर्मों के लिये यह आवश्यक होता है कि वे अपने उत्पादन के गुणो से उपभोक्ताओ को परिचित करें, पुराने फर्मों के लिए भी यह आवश्यक होता है कि अपने ग्राहको की संख्या अक्षुण्ण बनाये रखने तथा नये ग्राहक बनाने के लिए वे अपने उत्पादन का विज्ञापन करते रहें। यहा हम विज्ञापन करने वाले फर्म पर विज्ञापन के प्रभाव का निरूपण करेंगे, यद्यपि यह विज्ञापन सम्पूर्ण समूह को प्रभावित करता है।

चेम्बरलिन के अनुसार फर्म द्वारा अपनी वस्तु के प्रचार का प्रभाव उस वक्त माग वक्र के आधार पर अधिक पडता है जब कीमत-प्रतियोगिता कार्य कर रही हो। यदि अधिक सख्या मे लोगो को इसकी वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान हो गया तो कीमत कम कर देने से इसका माग-वक्र अधिक लोचदार हो जायगा। क्रेताओ की अनभिज्ञता मांग-वक्र को कम लोचदार बना देती है। विज्ञापन उसे अधिक लोचदार बनाता है।

चेम्बरलिन का आगे कहना है कि यदि फर्मों के बीच वस्तु-गुण के आधार पर प्रतिद्वन्द्विता हुई तो विज्ञापन माग-वक्र की स्थिति को प्रभावित करेगा अर्थात् वह अपनी पूर्व स्थिति को छोड दायी ओर हटगा।

विज्ञापन दूसरी भाति भी माग-वक्र को प्रभावित करता है। वह लोगो की रुचि तथा आवश्यकताओ को ही परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है या नई आवश्यकताओ का सृजन करता है। पहले प्रकार के प्रभाव मे हमने यह देखा कि विक्रेताओ की आवश्यकताएँ विद्यमान है, उनकी पूर्ति विज्ञापित वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से हो रही है, विज्ञापन द्वारा हम केवल उनकी तुष्टि के नये उपाय तथा साधन का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार के विज्ञापन को चेम्बरलिन ने "सूचनात्मक विज्ञापन" (Informative Advertisement) कहा है। दूसरे प्रकार का विज्ञापन अधिक मनोवैज्ञानिक होता है। उसमे मनोवैज्ञानिक ढग से विज्ञापन करके विक्रेता अपनी वस्तु क्रय करने के लिए उन ग्राहको को उकसाता है जो अपनी आवश्यकता की पूर्ति किसी अन्य वस्तु के उपभोग से करते थे, जैसे लाइफबॉय साबुन का विज्ञापन। बार-बार इसके कीटाणुनाशक आदि होने का विज्ञापन अखबारो में सिनेमाघरो मे यथा अन्यत्र कितने स्थानो पर देखते-देखते लोगो को इसके अधिक लाभदायक होने का विश्वास सा हो जाता है तथा बहुत से लोग जो लक्स, रेक्सोना या अन्य प्रकार के साबुन का व्यवहार करते थे, उनको छोड लाइफबॉय का व्यवहार प्रारम्भ कर देंगे। यही नही, इसके गुणो का प्रचार सुन कर जो लोग नहाने के साबुन का प्रयोग बिल्कुल करते ही न थे वे भी इसका इस्तेमाल शुरू कर दें। इस प्रकार के विज्ञापन को चेम्बरलिन ने 'क्रियात्मक विज्ञापन' (Manipulative Advertisement) कहा है।

विज्ञापन के फलस्वरूप जो नया माग-वक्र बनता है वह पहले माग-वक्र की अपेक्षा पूर्णरूपेण अधिक या कम लोचदार हो सकता है अथवा उसका कुछ भाग पहले की अपेक्षा अधिक या कम लोचदार हो तथा शेष पूर्ववत् रह जाय। विज्ञापन पर खर्च किया हुआ धन विज्ञापन के माध्यम के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से मांग-वक्र को प्रभावित करेगा। इस परिवर्तन के कुछ सम्भाव्य चित्र पृष्ठ ६०२ पर दिये गये अनुसार होगे :—

नोट .— (क) माग-वक्र की स्थिति पूर्णत. बदल गई, (म म' से म″ म″ हो गई) लेकिन लोच पूर्ववत् है। (स्थिति बदली, आकार नही)।
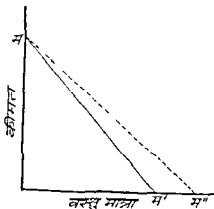
नोट — (ख) मांग-वक्र म म' से म म″ हो गया, लोच बढ गई। (स्थिति, आकार दोनो बदल गये)।
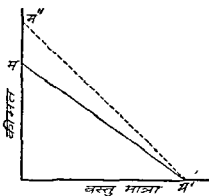
नोट —(ग) माग-वक्र म म' से म″ म' हो गया; लोच कम हो गई (स्थिति, आकार दोनो बदल गये)।
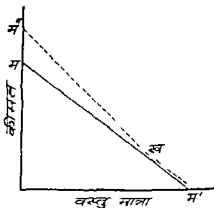
नोट — (घ) माग-वक्र की स्थिति मे आंशिक परिवर्तन आया, म म' से बदल कर माग-वक्र म″ ख म' हो गया। ख बिन्दु से ऊपर माँग की लोच कम हो गई। उसके नीचे लोच पूर्ववत् है। (लोच तथा स्थिति दोनो मे आंशिक परिवर्तन हुआ)।

का जिक्र कर चुके है। अपनी कीमत कम करके या अपनी वस्तु के गुण मे वृद्धि करके या अधिक विज्ञापन द्वारा वह अपनी बिक्री बढा सकता है। वह इनमे से किसी एक उपाय अथवा दो या तीनो उपायो का सहारा ले सकता है। कीमत-ह्रास अथवा वस्तु-गुण-वृद्धि के उत्पादन पर प्रभाव के विषय मे तो हम पहले विचार कर चुके हैं, अब हम यह देखना चाहते है कि विक्रय-लागतो का उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है तथा इन पर दृष्टि रखते हुए फर्म सस्थिति कैसे प्राप्त की जा सकती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विक्रय-लागतो तथा उनके द्वारा उत्पन्न प्रभाव के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है। यदि हम यह मान भी ले कि हम यह निश्चय करने मे समर्थ है कि उत्पादन की अमुक मात्रा के विक्रय के लिये अमुक रकम विक्रय लागत के रूप मे व्यय की जानी चाहिये तो भी इस व्यय को किसी अनवरत वक्र द्वारा दिखाया जाना बहुत कठिन है क्योंकि इस व्यय के प्रत्येक अंश का प्रभाव समान नही होगा। अधिकतम लाभ देने वाली उत्पादन मात्रा निर्धारित करते समय निम्नलिखित सूत्र फर्म के समक्ष होता है[१२] —

(कीमत × उत्पादन राशि) — (उत्पादन लागत + विक्रय लागत)

= वास्तविक आय (या शुद्ध लाभ)

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रय लागत के आ जाने से इतने परिवर्तनशील तत्वो का समावेश हो जाता है कि फर्म की सस्थिति का पता लगाना बहुत कठिन हो जाता है।

प्रत्येक प्रकार के विज्ञापन का एक सगत माग-वक्र होता है। इस विज्ञापन की लागत को हम निश्चित मान लेते हैं। हम यह भी उपधारणा कर लेते है कि हमे कुल उत्पादन लागत दी हुई है तथा फर्म अच्छी से अच्छी किस्म की वस्तु का उत्पादन कर रहा है।

अब हम निम्नांकित चित्र द्वारा फर्म की सस्थिति दिखा सकते हैं —

Meyers *A. I. Elements* of Modern Eco. 4th edn, P 166
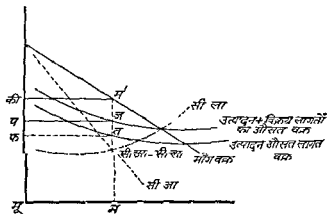
उसके लिये सर्वदा यह निश्चित करना सरल नही होता कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति उसे किस प्रकार हो सकेगी । जहा उसे इन दोनो विधियो के बीच चुनाव करना आसान नहीं, वहा विक्रेता सबसे पहले विज्ञापन का सहारा लेना ही श्रेयस्कर समझेगा, क्योकि यदि विज्ञापन से उसका काम नही निकलता तो इसे बन्द कर फिर कीमत मे कटौती का तरीका अपना सकता है लेकिन यदि उसने पहले कीमत मे कटौती की और उससे उसका उद्देश्य पूरा न हुआ तो कीमत को पुन बढाकर विज्ञापन का सहारा लेना कठिन होगा । कीमत को बढाने से उसकी बिक्री के और गिर जाने की पूरी सम्भावना होगी ।

कीमत मे कटौती एक अन्य रूप से भी हितकर नही । एक न एक दिन प्रतिद्वन्द्वी कीमत मे कटौती का उत्तर कीमत कटौती से देगे । इसलिये कीमत घटने से जो बिक्री बढी भी थी वह पुन गिर जायगी । इस प्रकार कीमत कटौती का नुस्खा दीर्घकालीन सफलता नही पायेगा । विज्ञापन का प्रत्युत्तर प्रतिद्वन्द्वी न इतनी शीघ्रता से दे ही सकेंगे, और यदि दे भी सके तो उसके प्रभाव का डर उतना नही है, क्योकि विज्ञापन का प्रभाव उतना निश्चय नहीं होता । फिर विज्ञापन से सम्पूर्ण समूह को लाभ हो सकता है तथा विज्ञापन-कर्त्ता के नये ग्राहक बजाय प्रतिद्वन्द्वियो के यहाँ से आने के किसी अन्य उद्योग से आ सकते हैं । लिपटन चाय के विज्ञापन से उसके जो नये ग्राहक होगे—हो सकता है कि उन्होने कॉफी पीना छोड लिपटन का व्यवहार शुरू किया हो । इसमे लिपटन चाय के विक्रेता के प्रतिद्वन्दी(उदाहरण के लिए)ब्रुक बाण्ड बेचने वाले को क्या आपत्ति हो सकती है । इसलिये कीमत की कटौती व्यापारिक सघो द्वारा प्राय 'अनैतिक' बताई जाती है तथा विज्ञापन 'नैतिक' ।

पुन कीमत की कटौती द्वारा फर्म को कोई दीर्घकालीन लाभ नही हो पायेगा यह निश्चित है । उसके प्रतिद्वन्द्वी उससे अधिक कीमत मे कटौती कर सकते हैं अथवा अपनी वस्तुओ को उससे अच्छी बना कर उसके ग्राहक छीन सकते हैं। लेकिन विज्ञापन द्वारा फर्म ग्राहको के दिमाग मे अपनी वस्तु के प्रति इतनी अनुरक्ति तथा विश्वास पैदा कर सकता है कि फिर वे ग्राहक सदा के लिये हो जायें। विज्ञापन उनको 'गुड विल' दे सकता है ।

यह तो हुई विक्रेता की बात, क्रेता अथवा समाज के दृष्टिकोण से क्या हितकर होगा । विज्ञापन के दोषो और गुणो से हमे यहा अधिक मतलब नही है । हमे यह देखना है कि अच्छे किस्म का सच्चा विज्ञापन क्रेताओ के ज्ञान को बढाता है, उसके सामने अधिक किस्म की चीजें प्रस्तुत कर उनको अधिक चुनाव तथा तुष्टि पाने तथा अधिक चीजो पर उपभोक्ता की बचत प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है ।

लेकिन इन बातो के साथ गलत तरीके का विज्ञापन समाज को हानि भी कुछ कम नही पहुचाता, और आज के प्रतियोगिता के युग मे प्रत्येक विक्रेता

प्रतिशयोक्ति तथा झूठे प्रचार मे दूसरो से बाजी मार लेने की कोशिश करता है, जिसका फल विज्ञापन मे तीव्र और बेकार प्रतियोगिता पर धन का अपव्यय ही नही बल्कि समाज की वचना भी होती है। इस अपव्यय का परिणाम तो समाज ही को भुगतना पडता है। विज्ञापन का व्यय तो कीमत के रूप मे क्रेता ही के गले पडेगा। इसलिये भ्रामक विज्ञापन, जिनका विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्राय. बोलबाला होता है, समाज के लिये सर्वदा अहितकर है। हा, यदि उत्पादन क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रहा है तथा विज्ञापन द्वारा बढी हुई माग के फलस्वरूप बडे पैमाने पर उत्पादन किया जाता है और इस घटी हुई उत्पादन लागत से क्रेता को भी (कीमत गिराकर) लाभान्वित होने दिया जाता है उस हालत मे विज्ञापन का प्रभाव निश्चय रूप से हितकर होगा। लेकिन उत्पादन यदि स्थिर अथवा क्रमगत ह्रास नियम के अन्तर्गत होता होगा तो यह लाभ न हो सकेगा। इसलिये इन हालतो मे कीमत कटौती ही समाज के लिये अधिक हितकर होगी।

—o—o—

...२३
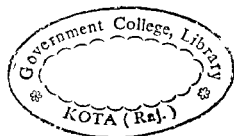
समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में कीमत-निर्धारण

समाजवादी आर्थिक व्यवस्था योजनाबद्ध होती है, जो नियोजन पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति अथवा फर्म करते हैं, वह समाजवादी व्यवस्था में समाज, राज्य करता है, क्या, कितना, किस मात्रा या परिमाण में तथा कहां उत्पादित किया जाय तथा फिर इस उत्पादन का वितरण कैसे किया जाय आदि बातों का निर्धारक समाजवादी व्यवस्था में राज्य होता है। व्यक्तिवादी पूंजीवाद में व्यक्ति अपनी आय द्वारा अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने की कोशिश करता है, समाजवादी अवस्था में सम्पूर्ण समाज को एक इकाई में रूप में मानकर राज्य इस सम्पूर्ण द्वारा प्राप्त की जाने वाली उपयोगिता (जिसमें उसके भविष्य की सम्भावनायें भी शामिल होती हैं) को उच्चतम करना चाहता है, सामाजिक कल्याण की वृद्धि करना चाहता है।

समाजवादी व्यवस्था* में उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार होता है। उत्पादन तथा वितरण भी प्राय राज्य के हाथ में होते हैं। पूर्णरूपेण समाजवादी व्यवस्था तो अभी आदर्श से अधिक कुछ नहीं, किन्तु इस दिशा में साम्यवाद कुछ अग्रसर होने का दावा करता है। साम्यवाद का लक्ष्य भी समाजवाद के आदर्श पर पहुंचना है। ससार में अभी तक रूस ही केवल ऐसा देश है जिसे साम्यवादी व्यवस्था का पूर्ण अनुभव हो सका है, रूस की मौजूदा पीढ़ी कमोबेश साम्यवादी जलवायु में पली है तथा रूस की आर्थिक उन्नति—जो पर्याप्त मात्रा में हुई है, साम्यवाद के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देकर प्राप्त की गई है। चीन आदि अन्य साम्यवादी देशों की अवस्था अभी बिल्कुल अव्यवस्थित है, उनके आर्थिक ढांचों की रूपरेखा बनने में अभी समय लगेगा। इस प्रकार केवल रूसी आर्थिक व्यवस्था के सदर्भ में ही इस विषय पर विचार किया जाता रहा है।

वास्तव में, रूस की जन-क्रान्ति के बाद ही विवाद शुरू हुआ। आज जनतन्त्रवादी देशों के लिये भी कीमत निर्धारण का प्रश्न उसी तरह आवश्यक हो गया है

---

* "..Socialism may be defined as that system of economic organization in which collective ownership and democratic management of the basic industries, and collective control of the division of income, prevails."
—*Applied Eco. 4th Ed by Bye E & Hewett*, P 642

क्योंकि आज की जनकल्याण की पोषक सरकारें अधिकाधिक उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण कर रही हैं। जिन उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण किया गया है उनमें भी ससाधनों के वितरण तथा कीमतों का निर्धारण किसी हद तक उसी प्रकार की समस्या प्रस्तुत करते हैं जिस प्रकार कि यह समस्या समाजवादी देशों में पायी जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था में बाजार माग पूर्ति, उत्पादन तथा वितरण का क्रीडा-स्थल और इस प्रकार कीमत निर्धारण का यन्त्र-स्वरूप होता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादक उत्पादन के ससाधनों को क्रय करने में आपस में होड लगाते हैं, ससाधन उसी ओर जायगा जिधर उसे अधिक पारितोषिक प्राप्त होगा। अधिक पारितोषिक वही उत्पादक देगा जो उस ससाधन के प्रयोग से अधिक प्रत्याय पाता है। इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादित वस्तु की कीमत उत्पादन-लागत के आधार पर निश्चित की जाती है, कहीं यह कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है, कहीं औसत लागत के तथा कहीं इनमें से किसी के बराबर नहीं होती। किन्तु प्रत्येक दशा में कीमत निर्धारण का पथ-प्रदर्शन बाजार रगमच पर लागत करती है।

इसी आधार पर सन् १६२० ई० में आस्ट्रिया के अर्थशास्त्री Professor Mises ने समाजवाद पर बडा प्रहार किया। उनके मन्तव्य से कीमत-निर्धारण के प्रश्न समाजवाद की बाजार-विहीन आर्थिक व्यवस्था में कभी सुलझाए ही नहीं जा सकते। उनका कहना था कि ससाधनों तथा उत्पादन वस्तुओं (Production goods) का समुचित मूल्य बाजार-विहीन व्यवस्था में निर्धारित करना असम्भव है, क्योंकि इन ससाधनों तथा उत्पादन-वस्तुओं का स्वामित्व तथा प्रबन्ध राज्य के हाथ में होता है और इस प्रकार इनके विनिमय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। "चूंकि कोई उत्पादन-वस्तु कभी विनिमय की पात्र नहीं बनेगी इसलिये इनका मौद्रिक मूल्य निर्धारित करना असम्भव होगा...उत्पादन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में मुद्रा जो कार्य प्रतियोगिता वाली समाज में सम्पादित करती है वह कार्य वह समाजवादी राज्य में सम्पादित न कर सकेगी। मौद्रिक इकाइयों में यहां हिसाब लगाना असम्भव होगा। इस बात का निश्चय करने का कोई माध्यम न होगा कि विवेकपूर्ण क्या है और इस प्रकार यह साफ जाहिर है कि उत्पादन कभी आर्थिक विचारों द्वारा उत्प्रेरित तथा प्रभावित न होगा...।"[1] समाजवादी व्यवस्था का आर्थिक क्षेत्र में कार्य 'अन्धेरे में टटोलने' के सदृश्य होगा। इस विचारधारा के अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी यही कहा है कि समाजवादी व्यवस्था में कीमत-निर्धारण का प्रश्न अत्यन्त जटिल होगा तथा समाज के ससाधनों का समुचित वितरण कठिन होगा। माग और पूर्ति के स्वाभाविक नियम स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य न कर सकेंगे, लगान तथा ब्याज, जो पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन लागत के प्रमुख अंग हैं, समाजवादी व्यवस्था में

1 Ludwig Von Mises Quoted in 'ON ECONOMIC THEORY & SOCIALISM' *by M. Dobb.* (1955) at P. 56.

लुप्त प्राय. हो जायेंगे। मजदूरी निर्धारण भी किसी आर्थिक नियम के अनुसार न हो किसी सरकारी कौंसिल के हाथ में होगा। इस प्रकार लागत बाजार की जिन प्रतिक्रियाओं द्वारा निर्धारित होती हैं, वे समाजवादी व्यवस्था में अनुपस्थित होंगी और कीमत निर्धारण लागत के संदर्भ में न हो अधिकारियों की स्वेच्छा पर निर्भर होगा। वस्तुओं तथा संसाधनों की माग-पूर्ति में संस्थिति कभी आ ही न पायेगी, और यदि आयेगी भी तो कई संस्थितियां होंगी जिनके बीच यह चुनाव करना कठिन होगा कि कौनसी संस्थिति इष्टतम है।[2] पुन. किसी उचित संस्थिति पर पहुंचने के लिये नियोजन आयोग को 'हजारों समीकरण' हल करने पड़ेंगे, जो असम्भव-प्राय होगा।

ये आलोचनायें, रूस की अपूर्व आर्थिक उन्नति को दृष्टिगत रखते हुए, कुछ अधिक जोरदार नहीं रह गई हैं। लेकिन उपर्युक्त आलोचक तथा उनके अनुयायी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में ऊपर बताई हुई अड़चनों को अब भी रोड़ा अटकाते हुए पाते हैं यद्यपि वे अब इस बात से इन्कार नहीं करते कि साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था में संसाधनों के विवेकपूर्ण वितरण की सम्भावना सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से है, लेकिन इस समस्या के व्यवहारिक हल के बारे में उन्हें संदेह है।[3]

मार्कस का 'मूल्य का श्रम-सिद्धान्त' इन भ्रान्तियों के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। किन्तु यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि जिस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का आधार तथा उसकी प्रेरणा उपभोक्ता है, उसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में भी उत्पादन को उपभोक्ताओं के संदर्भ में सोचा गया है। यह बात नहीं कि समाजवाद में उत्पादन पर उपभोक्ता की इच्छाओं का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। मार्कस ने एक स्थान पर कहा है कि उपभोग, उत्पादन की प्रेरणा, उसका उद्देश्य तथा पथ-प्रदर्शक होता है*।[4] अब रही बाजार के स्वाभाविक क्रियाशीलता की बात, तो आज यह बात स्पष्ट है कि पूंजीवादी व्यवस्था में भी पूर्ण प्रतियोगिता तथा माग-पूर्ति के नियमों की अचूकता कल्पना मात्र के अतिरिक्त न और कुछ रही और न है। फिर अब तो राज्यों का हस्तक्षेप जाने अनजाने सर्वत्र होने लगा है।

---

2 *N Kaldor*—Economic Journal June 1932 P 279

3 See *Oskar Lange & F M Taylor on* Economic Theory of Socialism (Minnesota 1938) P. 62

4. Critique of Political Economy (Chicago, 1904) P. 279

* इसी प्रकार स्टालिन ने भी कहा है कि 'The basic economic law of Socialism' presupposes "the maximum satisfaction of the constantly rising material and cultural requirements of the whole society"—Eco Problems of Socialism in U. S S R. (1952) P. 45. Qusted by M. Dobb, op. cit., P. 70.

यह धारणा आज अत्यन्त व्यापक बन चुकी है कि आर्थिक विकास तथा जन-कल्याण सम्बन्धी प्रमुख नीतियों पर राज्य का नियन्त्रण होना आवश्यक है—कम से कम संसार के अविकसित तथा अर्द्धविकसित देशों में। उत्पादन तथा साधनों के वितरण की समस्याओं का निदान भी पूंजीवादी व्यवस्था ही की भांति समाजवादी व्यवस्था में होना सम्भव है। उत्पादन तथा साधनों के वितरण की इष्टतम या आदर्श अवस्था क्या है तथा जन-कल्याण अपने आदर्श पर कब पहुंच सकता है—इन प्रश्नों का हल करने का न कोई सर्वमान्य तरीका पूंजीवाद ही में है न समाजवाद ही में। इष्टतम तथा आदर्श कोई बिन्दु अथवा 'चोटी' नहीं, यह एक क्षेत्र है जिसमें कई स्थितियां आदर्श हो सकती हैं। इसका चुनाव समाजवादी व्यवस्था में अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक होगा। फिर उपभोक्ताओं के किसी चुनाव में उनकी आय का सबसे बड़ा हाथ होता है। समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में वास्तविक आय वैषम्य को न्यूनतम कर दिया जाता है, इसलिये यह व्यवस्था जन-कल्याण की अधिक पोषक होगी तथा उपभोक्ताओं की इच्छायें विकृत तथा दूषित न हो जन-कल्याण के सही मार्ग की सूचक होंगी।

किसी भी समाज में उत्पादन के साधन सीमित मात्रा में पाये जाते हैं। समाजवादी व्यवस्था में भी यह बात सही है। अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति का विधान इन्हीं सीमित साधनों के समुचित प्रयोग तथा वितरण द्वारा किया जाता है। समुचित प्रयोग तथा वितरण के लिये यह आवश्यक होता है कि उन पर कीमत ली जाय। इसी प्रकार उत्पादित वस्तुओं की कीमत लेना भी अनिवार्य है। फिर यह सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है कि जिस वस्तु के उत्पादन में जितनी ही अधिक लागत लगी है, उसकी कीमत उतनी ही अधिक रक्खी जाय।

समाजवादी व्यवस्था की एक अन्य विशिष्टता भी ध्यान देने योग्य है। पूंजीवादी व्यवस्था में लोगों की आय होती है उत्पादन के साधनों के विक्रय से। मजदूर की आय मजदूरी, भूमि के स्वामी की लगान, पूंजी लगाने वाले की ब्याज तथा जोखिम उठाकर उत्पादन करने वाले की आय लाभ कहलाती है। समाजवादी व्यवस्था में मजदूरी को छोड़ कर तीन प्रकार की आय राज्य के हाथ में जाती है। मजदूरी या श्रम का पारितोषिक भी राज्य के अधिकारियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। ऐसी व्यवस्था में काम न करने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। राज्य प्रत्येक काम करने योग्य व्यक्ति को काम करने पर विवश कर सकता है जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में किसी आदमी को काम करने पर मजबूर नहीं किया जा सकता, उसे केवल अधिक मजदूरी ही देकर काम करने के लिये उत्प्रेरित किया जा सकता है। साफ जाहिर है कि पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूरी तब तक नहीं बढ़ाई जायगी जब तक कि इसके फलस्वरूप कम से कम इस वृद्धि के बराबर प्रत्याय की मात्रा न होगी। अतिरिक्त मजदूर को तभी काम दिया जा सकेगा जब उसके कार्य द्वारा कम से कम आय में उतनी वृद्धि होने की सम्भावना है जितना अतिरिक्त व्यय उस पर

किया गया है। दूसरे शब्दों मे, मजदूरो की सख्या, उनका पारितोषिक (अथवा उनकी आय) पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे उत्पादनीयता से सम्बद्ध होती है। लेकिन समाजवादी आर्थिक व्यवस्था म आय तथा उत्पादनीयता के बीच यह सम्बन्ध नही होता। आय दूसरी भाति निर्धारित की जाती है, उत्पादनीयता से नहीं। लोगो की आय मजदूरी के रूप मे या इसके किसी अन्य रूप मे प्राप्त होती है, हा योग्यता आदि के हिसाब से लोगो को अतिरिक्त भत्ता मिलता है और इस प्रकार काम के हिसाब से व्यक्तियो के बीच वेतन की दर म अन्तर होता है, पर यह अन्तर औसत से अधिक दूर नही जाता।

ऊपर हम बता चुके हैं कि Mises तथा उसके अन्य साथियो ने कहा है कि समाजवादी आर्थिक व्यवस्था मे समुचित मूल्य या कीमत निर्धारित करना असम्भव होगा। उनकी धारणा यह थी कि समाजवादी व्यवस्था मे बाजार पूर्ति-माग आदि अनुपस्थित हाग और इनकी अनुपस्थिति मे विवेकपूर्ण ढग से कीमत-निर्धारण असम्भव है।

इस बात का उत्तर समाजवादी विचार वाले अर्थशास्त्रियो ने (जिनम H. D Dickinson तथा Dr. Lange प्रमुख हैं) देने की चेष्टा की। यह उत्तर दो प्रकार से दिया गया। प्रथम, यह स्वीकार किया गया कि विवेकपूर्ण कीमत निर्धारण के लिय बाजार का होना आवश्यक है। लेकिन यह कहना गलत है कि समाजवादी व्यवस्था मे विवेकपूर्ण कीमत निर्धारण सम्भव नही, क्योंकि यह कथन इस भ्रान्त कल्पना पर आधारित है कि समाजवादी व्यवस्था मे बाजार का कोई स्थान नही। लेकिन यह बात गलत है, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था तथा बाजार एक दूसरे के विरोधाभास नहीं। सक्षेप म, इन अर्थशास्त्रियो का तर्क यह है कि समाजवादी व्यवस्था मे भी बाजार कार्य कर सकते हैं और इस प्रकार उनकी सहायता से कीमत निर्धारण किया जा सकता है। कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने एक कदम और आगे उठाया और कहा कि बिना बाजार के अस्तित्व के भी कीमत-निर्धारण सम्भव है। इस प्रकार Dr. Lange ने कहा है कि कीमतो के लिय बाजार की आवश्यकता नही। 'हिसाब-किताब की कीमतें' पर्याप्त हैं। य कीमतें कवल हिसाब किताब की बहियो मे दिखाई जायें तथा इनके लिय आवश्यक नहीं कि वस्तु विनिमय वास्तव मे हो ही।

प्रथम विचार वालो मे Dickinson प्रमुख हैं। उनके अनुसार विवेक पूर्ण कीमत निर्धारण मे बाजार का तो होना आवश्यक है, किन्तु यह बात गलत है कि समाजवादी व्यवस्था मे बाजार हो ही नहीं सकता। जहा तक तैयार उपभोग वस्तुओ का प्रश्न है, उनके लिये तो खुदरा बाजार रहेगा ही। समाजवादी व्यवस्था मे भी उपभोक्ताओ के हाथ मे क्रय शक्ति होगी, तथा चुनाव करने की स्वतन्त्रता उन्हे होगी कि उत्पादित माल मे कौनसा और कितना खरीदें, इनकी माग के हिसाब से ही फिर भविष्य में वस्तुओ के उत्पादन का नियोजन होगा। इन वस्तुओ की कीमत निर्धारित

करते समय दो बातों का ध्यान रक्खा जायगा—एक तो यह कि किसी वस्तु की कीमत इतनी रक्खी जायगी कि उसकी माग को (मौजूदा पूर्ति के अनुसार) नियन्त्रित रक्खा जा सके, जिससे कि न तो वस्तु-पूर्ति में कमी हो, न वह बचे ही। दूसरे, यह कि कीमत इतनी रहेगी कि उस वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक अतिरिक्त लागत वस्तु विक्रय से वापस आ जाय अर्थात् वस्तु कीमत का 'सीमान्त उपयोगिता' तथा सीमान्त लागत के बराबर निर्धारित किया जायगा। प्रश्न उठता है, माध्यमिक माल तथा उत्पादन के साधनों—जैसे कच्चा माल, पूंजी, भूमि तथा मशीनों का कीमत-निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है। Dickinson के अनुसार वस्तुओं तथा कच्चे माल आदि ससाधनों का बाजार भी समाजवादी व्यवस्था में सम्भव है। [New Economic Policy के अन्तर्गत रूस में कुछ हद तक ऐसे बाजार थे]। इसके सुचारु रूप से कार्य करने के लिये उद्योग धन्धों के प्रबन्धकों को आर्थिक मामलों में स्वतन्त्र इकाइयों का रूप दे दिया जाना चाहिये।

उनको इस बात का आदेश होना चाहिये कि वे अपने उत्पादन में जिन ससाधनों अथवा मशीनों का उपयोग करें उनको दाम देकर खरीदें। इस प्रकार वे इन ससाधनों, माध्यमिक मालों अथवा मशीनों को साधारण बाजार की दशा में खरीदेंगे तथा इनके खरीदने में एक दूसरे से उसी प्रकार प्रतियोगिता करेंगे जैसे पूंजीवादी व्यवस्था के बाजारों में होता है। राज्य के उद्योग धन्धे भी इस प्रकार प्रतियोगिता का खेल रचा सकेंगे तथा बाजार और कीमत यन्त्र को समाजवादी ढांचे में भी बनाये रख सकेंगे। अब प्रश्न उठता है कि इस क्रय के लिये उद्योग धन्धों को मुद्रा चाहिये। इसके लिये केन्द्रीय अधिकारी प्रत्येक उद्योग धन्धे को प्रतियोगितापूर्ण ब्याज दर पर कर्ज देंगे। प्रत्येक उद्योग धन्धे को यह स्वतन्त्रता होगी कि वह जितना चाहे उतना, अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋण ले सकता है। लेकिन प्रत्येक प्रबन्धक उतना ही ऋण लेगा जितने का वह प्रचलित ब्याज दर तथा वस्तु कीमत पर उपयोग कर सकेगा। इस सब का फल यह होगा कि ससाधनों, मशीनों, शक्ति या ईंधन आदि वस्तुओं की कीमतें अपना तल स्वय ढूंढ लेंगी। इस तल पर माग-पूर्ति सतुलित हो जायेंगे। बाजार-यन्त्र समाजवादी व्यवस्था में अधिक सफलता तथा कुशलता से कार्य कर पायेगा। अधिकाधिक लाभ कमाने की चेष्टा का समाजवाद में कोई स्थान नहीं, न आय वैषम्य का भयावह अभिशाप ही यहां पाया जाता है। इस प्रकार, पूंजीवाद में बाजार-यन्त्र को दूषित करने वाले ये दो अभिशाप समाजवाद में लुप्त होंगे, इसलिये बाजार-यन्त्र समाजवादी व्यवस्था में अधिक कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। इसमें उपभोक्ताओं की इच्छाओं तथा वस्तु-पूर्ति स्थितियों का वास्तविक दिग्दर्शन होगा।

आलोचना—उपर्युक्त विचार परम्परावाद की सीमा के अन्तर्गत ही रखे हैं। बाजार की अपरिहार्यता का समर्थन कर इन अर्थशास्त्रियों ने समाजवादी व्यवस्था को भी पूंजीवाद की अनिश्चयता, ससाधनों की बर्बादी आदि अवगुणों से बोझिल बनाने

का प्रयत्न किया है। उत्पादन क्षेत्र में 'अराजकता' वैस ही रह जाती है जैसे वह पूंजीवादी व्यवस्था मे पायी जाती है, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था भी 'परमाणविक' सिद्धान्त पर कार्य करेगी जिसमे प्रत्येक उत्पादन-इकाइया एक दूसरे की प्रतियोगी होगी, जैसा पूंजीवादी व्यवस्था मे होता है। ये बातें नियोजित आर्थिक व्यवस्था की बिल्कुल प्रतिगामी हैं। भिन्न भिन्न उद्योग धन्धो का सुसगठित तथा समन्वित रूप से कार्यान्वित होना समाजवादी व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है, जिससे कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को एक इकाई के रूप मे समुन्नत बनाया जा सके। इन उद्योग धन्धो मे प्रतियोगिता पैदा करने का अर्थ आर्थिक नियोजन का परिहास करना होगा। समाजवाद प्रारम्भ मे आर्थिक व्यवस्था की उत्पादन शक्ति को बढाने के लिये विनियोग की दर को अत्यन्त ऊची रखने का प्रयत्न करेगा, जो बात उपर्युक्त मत से मेल नही खायेगी। प्रो० डॉब का यह मत है कि यदि उत्पादित माल के लिये खुदरा-बाजार की उपस्थिति को स्वीकार कर लिया जाय तो माध्यमिक मालो तथा पूंजी आदि के लिये भी बाजार का होना आवश्यक नही क्योकि इन चीजों की कीमतें तो उत्पादित उपभोग माल से ही निर्धारित होती हैं।

उपर्युक्त विचार का सशोधित रूप, जिसकी रूप रेखा प्रमुखत Prof. Lange ने प्रस्तुत किया है, यह है कि अन्तिम उपभोग-वस्तुओ को छोड और किसी वस्तु या ससाधन के लिये न तो वास्तविक बाजार की, न वास्तविक कीमतों की आवश्यकता है। इस मत के अनुसार आर्थिक व्यवस्था की बहुत कुछ गणना कागजी होगी। नियोजन अधिकारी आर्थिक तालिकाओ तथा अनुसूचियो के आधार पर उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ का अन्दाजा पहले ही लगा लेते हैं।

बहियो पर दिखाई जाने वाली कीमतें धीरे-धीरे भूल-चूक होते होते समायोजित हो जायेंगी, और इन्ही हिसाब-किताब की कीमतो के आधार पर उद्योग-धन्धो के प्रबन्धक उत्पादन तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णय करेगे। किसी ससाधन आदि के प्रयोग के लिये वास्तव म कोई भुगतान न करनी होगी, केवल बहियो में उनके हिसाब मे उनकी कीमतो को जमा दिखा दिया जायगा। इन किताबी-कीमतो को ऊपर-नीचे तब तक किया जायगा जब तक कि माग तथा पूर्ति मे सतुलन नही आ जाता। इस सतुलन की अवस्था ही कीमत सस्थिति होगी। इस सस्थिति पर पहुचकर, प्रबन्धको को दो बातो का ध्यान होगा, एक तो, वे अपने उत्पादन विधि को इस प्रकार नियोजित करें कि उत्पादन की औसत लागत निम्नतम हो, दूसरे, अपनी उत्पादन-मात्रा को वह इस प्रकार निश्चित करे कि दी हुई किताबी-कीमतों के आधार पर वस्तु की सीमान्त लागत, वस्तु की कीमत के बराबर हो।

आलोचना—इस मत का भी खास दोष यह है कि आर्थिक व्यवस्था व भिन्न-भिन्न अगों में सुसगठन तथा समन्वित कार्यप्रणाली का अभाव रहेगा। समाजवादी व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य होता है उद्योग-धन्धो का समन्वित विकास, तमाम उद्योग धन्धो के सम्बन्ध में एक साथ ही निर्णय करना पडता है। यह ठीक

है कि समायोजना में किसी त्रुटि को किताबी-कीमतों को घटा-बढ़ा के ठीक किया जा सकता है, लेकिन यह तभी सम्भव है जब त्रुटि के परिणाम सामने आ जायें। हो सकता है कि विनियोग किसी टिकाऊ मशीन के खरीदने में किया गया हो तथा यह इतने बडे पैमाने पर हो कि किताबी कीमतों के समायोजन से इस सम्बन्ध में कोई त्रुटि शीघ्र न सुधारी जा सके। कोई प्रत्येक मास तो इन कीमतों में परिवर्तन किया नहीं जायगा। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विनियोग में काफी गडबडी पड सकती है। विनियोग में व्यतिक्रम समस्त आर्थिक व्यवस्था की कीमतों में तेजी मदी पैदा करेगा—जो पूंजीवादी व्यवस्था की सबसे बडी व्याधि है और जिससे बचना समाजवाद का प्रमुख लक्ष्य है। और आज तो शायद ही कोई इस बात को स्वीकार न करे कि समाजवादी ही नहीं नव-स्वतन्त्र देशों की सरकारें भी विनियोग-नियोजन को आर्थिक उन्नति की कुंजी मानती हैं। राज्य, किसी प्रकार के स्वतः सचालित यन्त्र के भरोसे न छोड़, विनियोग की मात्रा को ही नहीं उसकी दिशा तथा अन्य बातों को दूरदर्शिता के साथ निश्चय करेगा। उपर्युक्त मत के अनुसार ब्याज-दर में हेर फेर से विनियोग का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता।

समाजवाद के समक्ष प्रमुख प्रश्न है उत्पादन का। इसमें आर्थिक व्यवस्था की समस्त उत्पादन शक्ति का उपयोग कर उत्पादन-वृद्धि की जायगी, पूंजी-उपकरण तथा मशीनों के उत्पादन तथा उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के बीच इस प्रकार सतुलन बनाये रखने की चेष्टा की जायगी कि अधिकाधिक मशीनें तथा पूंजी उपकरण तैयार किये जाय जो व्यवस्था के उत्पादन को आगे बढाने में सहायक होंगे। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में सस्थिति ले आने के झंझट में समाजवादी व्यवस्था बहुत कम पडेगी। जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं के उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि करके जन कल्याण को बढाने की चेष्टा की जायगी। चुनाव, सस्थिति की आवश्यकता तब पैदा होती है जब जीवन-यापन की मौलिक आवश्यकताएँ तृप्त हो जायें।

सम्पूर्ण ढाचे की उन्नति के लिए आवश्यकता इस बात की होती है कि उन्नयन का नियोजन किसी केन्द्रीय बोर्ड के हाथ में हो। विकेन्द्रित कीमत प्रणाली में, जहा उद्योग धन्धों के प्रबन्धक मौजूदा बाजार-भाव अथवा किताबी कीमतों के आधार पर उत्पादन तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णय करेंगे, इस प्रकार का उन्नयन सम्भव नहीं। कीमत यन्त्र से सामाजिक हित की वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन नहीं मिलता।' बल्कि यह यन्त्र कई प्रकार से योजनाबद्ध विकास में बाधक सिद्ध होता है। इसके अन्तर्गत मानव चेतना तथा बुद्धि पथ-प्रदर्शक न बन जड यन्त्र सब कुछ बन जाता है। उपभोक्ता अकेला टापू नहीं होता, उसकी रुचि, पसदगी-नापसदगी उसके वातावरण के हिसाब से बनती बिगडती है। समाजवाद का उद्देश्य होता है सम्पूर्ण सामाजिक ढाचे का पुनर्निर्माण करना, समाज में नई मान्यताएँ ले आना, मानव प्रवृत्तियों तथा क्षमताओं को नया मोड देना तथा सामाजिक मूल्यों का नव-मापदण्ड तैयार करना। हमारी उत्पादन प्रणाली स्वयं हमारी कितनी आवश्यकताओं को गढ़ती है। ससाधनों

का वितरण, जन-कल्याण तथा कार्य-कुशलता आदि प्रश्नों को नियोजन आयोग के विवेक पर छोड़ दिया जाना चाहिये।

सीमान्त लागत तथा कीमत के सम्बन्ध पर भी जोर देना भ्रामक है। यह कहना गलत है कि उत्पादन की इष्टतम अवस्था तथा अधिकतम जन-कल्याण की स्थिति तभी आयेगी जब प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त लागत के बराबर हो। पहला प्रश्न यह उठता है कि 'कौनसी सीमान्त लागत'। यह अल्पकालीन सीमान्त लागत हो कि दीर्घकालीन ? यदि सीमान्त लागत औसत लागत से कम है तो सीमान्त लागत के बराबर कीमत पर वस्तु-विक्रय से हानि होगी। अब यदि किसी उद्योग धन्धे को हानि पर चलाया जाता है तो उसमें कार्य-क्षमता निश्चय करना बड़ा कठिन होगा। लेकिन किसी उद्योग-धन्धे की कार्यक्षमता का ठीक ठीक अनुमान होना समाजवादी व्यवस्था के नियोजन के लिये बहुत आवश्यक है। इस प्रकार कीमत-निर्धारण का सीमान्त लागत का सिद्धान्त (जिस पर उपर्युक्त मतों का तर्क टिका है) समाजवादी व्यवस्था में निर्णायक नहीं बन सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि समाजवाद के लिये कीमत निर्धारण का प्रश्न किसी सूत्र द्वारा नहीं सुलझाया जा सकता। मुद्रा-बाजारों की सहायता से, आंकड़ों से तथा भविष्य के अनुमान पर वितरण, मसाधनों तथा मशीनों आदि की कीमतों के प्रश्न को योजना-आयोग हल करेगा। कीमत-निर्धारण में सीमान्त लागत के सिद्धान्त को सर्वदा पालन करना ठीक न होगा। जैसी आवश्यकता तथा परिस्थिति होगी उसी हिसाब से काम करना होगा। मसाधनों तथा माध्यमिक मालों की कीमतें स्वेच्छापूर्वक निर्धारित करना ही होगा। प्रत्येक उपभोग वस्तु की सीमान्त उपयोगिताओं के अनुपात को सब उपभोक्ताओं के लिए सम करने की चेष्टा की जायगी। प्रत्येक परिस्थिति के लिए कोई एक फार्मूला तैयार नहीं किया जा सकता। कीमत-निर्धारण के उपर्युक्त दो तरीके भी समय समय पर सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन यह सब निर्भर करता है समाजवाद की रूपरेखा पर। समाजवाद की रूपरेखा स्वयं बड़े ही अनिश्चय का विषय है। इसलिये प्रत्येक समाजवादी व्यवस्था को अपनी परिस्थिति के अनुसार योजना बनाना होगा और योजना माग-पूर्ति की बाजारू अन्धेर पर नहीं मानव दूरदर्शिता तथा विवेक पर टिकी होनी चाहिये।

...२४

वितरण
(Distribution)

'वितरण' का अर्थ—

साधारण बोलचाल में 'वितरण' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है, जैसे अर्पण या दान करना, बाटना, देना आदि। इन अर्थों में हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने गरीबों में अन्न या कपड़े वितरित किये अथवा कर्मचारियों में वेतन वितरित किया गया अथवा अमुक व्यक्ति ने अपने लड़कों में अपने धन का वितरण किया। परन्तु अर्थशास्त्र में 'वितरण' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया जाता है। उत्पादन का वर्णन करते समय हम बता आये हैं कि उत्पादन कार्य को सम्पन्न करने के लिए भूमि, श्रम, पूंजी व्यवस्था तथा साहस की आवश्यकता होती है। बिना इनके संयोग के उत्पादन कार्य नहीं हो सकता। इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति से पूर्व उत्पादन के ये सब साधन साधारणतः एक ही व्यक्ति, उत्पादक, में केन्द्रित होते थे। उद्योग के थोड़ा बड़ा होने पर कुछ श्रमिकों की सहायता ली जाती थी, अन्यथा उत्पादक अपने परिवार की सहायता से ही सब कार्य सम्पादित करता था। पूंजी तथा भूमि भी उसी की होती थी। ऐसी दशा में यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता था कि उत्पादन के अमुक साधन को उत्पादित वस्तु का कितना भाग मिलना चाहिये। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन विधि की काया पलट दी। इसके फलस्वरूप उत्पादन की इकाइयों का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया तथा उत्पादन के सब साधन एक स्थान पर केन्द्रित न होकर विकेन्द्रित होने लगे। इस प्रकार, भूमि का स्वामी, श्रमिक, पूंजीपति, व्यवस्थापक तथा साहसी पहले के समान एक व्यक्ति न होकर अलग अलग व्यक्ति हो गये। इसलिये, इस बात की आवश्यकता उत्पन्न हुई कि उत्पादित वस्तु में उत्पादन के प्रत्येक साधन का योगदान, भाग अलग अलग मालूम किया जाय। उत्पादित वस्तु में से उत्पादन के प्रत्येक साधन के भाग को निश्चित करके उसके अनुसार वस्तु को (अथवा उसके मूल्य को) उन सब साधनों में बांटने को ही अर्थशास्त्र में वितरण कहा जाता है।* परन्तु ध्यान रहे कि अर्थशास्त्र में जिस

*The whole question of distribution is to discover whether each person withdraws from the social product a value equivalent to that which he contributes—Gide—Political Economy, P 422

वितरण का वर्णन किया जाता है वह व्यक्तियों मे नहीं होता वरन् साधनो मे होता है अर्थात् अर्थशास्त्र मे हम यह अध्ययन नही करते कि राम को, जो कि भूमि का स्वामी है, उत्पादन से प्राप्त होने वाली रकम का कितना भाग मिलता है अथवा श्याम को, जो कि एक पूंजीपति है, कितना भाग मिलता है। हम अध्ययन करते हैं इस बात का कि भूमि देने वाले सब व्यक्तियो को सामूहिक रूप से उत्पादित वस्तु (अथवा उसके विक्रय से प्राप्त रकम) का कितना भाग मिलेगा, श्रमिको, पूंजीपतियों व्यवस्थापक अथवा व्यवस्थापको तथा साहसियो को अलग-अलग कितनी प्रत्याय होगी। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे व्यक्तिगत वितरण का अध्ययन न किया जाकर साधनानुसार वितरण का अध्ययन किया जाता है।

वितरण के प्रश्न पर वाद-विवाद —

परन्तु साधनानुसार वितरण का अध्ययन करने पर भी वितरण का प्रश्न बहुत जटिल है। इस प्रश्न का लेकर समाजवादी, पूंजीवादी आदि कई विचार-धारायें उत्पन्न हो गई हैं। इन विचारधाराओ मे मुख्य भेद इस सम्बन्ध मे है कि उत्पादन मे किस साधन को प्रमुखता दी जानी चाहिये। पूंजीवादी पूंजी को उत्पादन का प्रमुख श्रेय देगे तो साम्यवादी श्रम की प्रधानता का नारा लगायगे। प्रत्येक विचारधारा इस बात पर जोर देती है कि उत्पादन के अमुक साधन का उत्पादित वस्तु मे सबसे अधिक योगदान है। इसलिये इस साधन को ही उत्पादित वस्तु का सबसे अधिक भाग मिलना चाहिये। परन्तु अभी तक हमारे पास कोई ऐसा निश्चित पैमाना नहीं है जिसके आधार पर हम यह दाव के साथ कह सकें कि अमुक साधन का उत्पादित वस्तु मे इतना भाग है न इससे कम है, और न अधिक। इसलिये बडी कठिनाई का सामना करना पडता है। अर्थशास्त्रियो ने भी अभी तक जिस पैमाने को खोज कर निकाला है वह है सीमान्त उत्पादनीयता (Marginal productivity) का पैमाना। परन्तु इस पैमान पर भी सब एकमत नही हैं। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हम आगे चल कर करेंगे।

वितरण का प्रश्न जितना आधुनिक अर्थशास्त्रियो को जटिल प्रतीत होता है उतना जटिल वह क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को प्रतीत न होता था। उनका मत था कि यदि समाज म सौदा तथा कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो तो प्रत्येक उत्पादन क साधन को उत्पादित वस्तु का उतना ही भाग मिलगा जितना कि उस वस्तु के उत्पादन मे उस साधन का योगदान है। परन्तु क्लासिकल अर्थशास्त्रियो का यह कथन व्यावहारिक दृष्टि से ठीक न था क्योंकि उन्होंने अपनी आंखो से देखा था कि गरीब अधिक गरीब तथा अमीर अधिक अमीर होते जा रहे थे। वे व्यवहार से कैसे विमुख होते, इस लिये उन्होने अपने कथन को ठीक सिद्ध करने के लिय उनके कुछ अपवाद भी बताय। उन्होंने कहा कि वर्तमान औद्योगिक पद्धति मे उनके कथन के जो अपवाद पाय जाते हैं वे संरक्षण, कानूनी विक्रयाधिकारा तथा सब प्रकार के सरकारी हस्तक्षेपो के कारण हैं।

कर सकता है, परन्तु हम किसी सेवा का मूल्य उसके अतिरिक्त कुछ नही लगा सकते जो कि समाज लगाता है।"

यदि क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के इस उत्तर को ठीक माना जाय तो समाज-सेवी लोगो के श्रम का कोई विनिमय मूल्य न होगा, परन्तु समाज को पतन के गड्ढे मे गिराने वालो की सेवा का बहुत मूल्य होगा। मूल्य का सिद्धान्त प्राकृतिक भले ही कहा जा सके, उसका न्याय से कोई सम्बन्ध नही होता। मूल्य का सिद्धान्त तो गुरुत्वाकर्षण अथवा उस नियम के समान है जिसके अनुसार सूर्य तथा वर्षा अच्छे व बुरे सभी पर समान रूप से प्रभाव डालते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बहुत से लोगों को बिना कुछ सेवा किये ही समाज से बहुत सा धन प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये, यदि आज से बीस वर्ष पूर्व किसी आदमी ने दिल्ली के चाँदनी चौक मे कोई मकान ५ लाख रुपये मे खरीदा हो तथा वह उसको दस-दस वर्ष के पट्टे पर किसी व्यक्ति को इस शर्त पर दे कि प्रत्येक पट्टे की अवधि समाप्त होने पर वह व्यक्ति पहले की अपेक्षा १० प्रतिशत किराया अधिक देगा, तो यह प्रत्यक्ष ही है कि मालिक मकान को पट्टे की अवधि समाप्त होने पर जो अतिरिक्त किराया मिलेगा वह किसी सेवा का प्रतिफल न होगा। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अस्तु, हम कह सकते हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियो का यह तर्क वैज्ञानिक भले ही हो सामाजिक-न्याय की कसौटी पर वह खरा नही उतरता। यही कारण है कि वितरण की समस्या को न्याय-सगत बनाने के लिए इतने वाद-विवाद खडे हो गये हैं।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियो की यह बात भी ठीक नही मालूम पडती कि प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा का मूल्य पूर्ण प्रतियोगिता के कारण उसकी लागत-व्यय के बराबर हो जाता है। वास्तव मे, पूर्ण प्रतियोगिता व्यवहार मे पाई ही नही जाती।

यद्यपि क्लासिकल अर्थशास्त्रियो का वितरण का सिद्धान्त न्याय के दृष्टिकोण से उचित नही है तो भी इसमे कुछ गुण हैं जिनके कारण यह सिद्धान्त रूस, चीन आदि साम्यवादी देशो को छोड़कर ससार के शेष सभी देशो मे प्रचलित है। इसके प्रमुख गुण ये हैं :—

इसका पहला गुण यह है कि यह प्रत्येक आदमी को उत्पादन करने का प्रोत्साहन देता है। जब आदमी यह जानता है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक कोई भी वैध कार्य कर सकता है तथा जो कुछ भी वह उत्पन्न करेगा उस पर उसका पूर्ण अधिकार होगा, तो यह स्वाभाविक है कि वह अधिक से अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करेगा।

इसका दूसरा कारण यह है कि यह किसी आदमी की कार्य करने की स्वतन्त्र अन्तर्प्रेरणा पर कोई आघात नही करता। प्रत्येक आदमी अपनी इच्छानुसार

उत्पादन करता तथा उसका वितरण करता है। सरकार को वितरण सम्बन्धी कोई नियम नहीं बनाने पड़ते। सरकार को तभी हस्तक्षेप करना पड़ता है जबकि आर्थिक-यन्त्र में कोई गड़बड़ी हो जाती है, उसको इस यन्त्र को चालू करने के लिये नियम नहीं बनाने पड़ते। यह स्वयं कार्य करता है। वास्तव में, यदि हम विचार कर देखें तो पता चलेगा कि संसार की वर्तमान आर्थिक उन्नति का कारण यही स्वतन्त्र अन्तर्प्रेरणा है। इसलिए इसकी त्रुटियों को दूर करने का ढंग इस यन्त्र को समूल नष्ट करना न होकर इसमें सुधार करना होगा।

राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय
(National Dividend or Income)

अभी तक हमने 'वितरण' शब्द की परिभाषा की है तथा यह बताया है कि वितरण के प्रश्न पर लोगों में बड़ा मतभेद है, परन्तु अभी तक हमने यह नहीं बताया है कि वितरण किस चीज का किया जाता है। जिस चीज का वितरण किया जाता है उसको अर्थशास्त्री राष्ट्रीय लाभांश अथवा राष्ट्रीय आय कहते हैं।

हम बता चुके हैं कि उत्पादन कार्य में भूमि, श्रम, पूंजी व्यवस्था तथा साहस—ये पांच साधन लगाए जाते हैं। उत्पादन कार्य में इन साधनों के लगाने से प्रति वर्ष अथवा समय की और किसी इकाई में किसी समाज द्वारा कुछ वस्तुयें अथवा सेवायें उत्पादित की जाती हैं। इन वस्तुओं तथा सेवाओं का योग ही उस समाज का राष्ट्रीय लाभांश है। उदाहरण के लिए, एक किसान खेत को जोत-बोकर उसमें अनाज पैदा करता है अथवा मजदूर खानों में काम करके बहुत सी धातुयें निकालते हैं अथवा वे कारखानों में काम करके कपड़ा, मशीनें तथा अन्य सामान उत्पन्न करते हैं। किसी देश में उत्पादन के जितने भी क्षेत्र हैं उन सब क्षेत्रों से प्राप्त उपज को यदि एकत्र कर दिया जाय तो हमको राष्ट्रीय लाभांश प्राप्त हो जायगा। यही नहीं, हमको इस लाभांश में अध्यापकों, इन्जीनियरों, न्यायाधीशों, डाक्टरों, कर्मचारियों आदि की सेवायें भी जोड़नी पड़ेंगी। उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के योग को कुल लाभांश (Gross Dividend) कहते हैं। परन्तु वितरण कुल लाभांश का नहीं किया जाता, क्योंकि इसके अन्दर भूमि आदि साधनों की वह कीमत भी सम्मिलित होती है जिसके आधार पर उत्पादन किया गया है। उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं में इन साधनों की लागत तो सम्मिलित होती ही है, इसके अतिरिक्त इसमें अधिक मूल्य सम्मिलित होता है। राष्ट्रीय लाभांश में साधनों की लागत के अतिरिक्त जितना अधिक मूल्य सम्मिलित होता है उसको वास्तविक लाभांश (Net Dividend) कहते हैं। वर्ष अथवा समय की किसी अन्य इकाई में वास्तव में यही मूल्य उत्पन्न किया गया है। इसी का भूमि, श्रम पूंजी व्यवस्था तथा साहस में लगान, मजदूरी, ब्याज वेतन तथा लाभ के रूप में वितरण किया जाता है। प्रो० मार्शल ने लिखा है कि सब प्रकार की उत्पादित वस्तुओं का वास्तविक योग

ही यह स्रोत होता है जिससे कि इन सब वस्तुओं की माग-कीमतें अथवा उनको उत्पन्न करने वाले साधनो की माग-कीमतें उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दो मे, हम कह सकते हैं कि यह राष्ट्रीय लाभाश किसी देश के उत्पादन के साधनो के भुगतान का स्रोत होता है। यह श्रम की मजदूरी, पूजी के ब्याज, उत्पादन के लाभ तथा भूमि के लगान के रूप मे वितरित किया जाता है। यह उन सबसे मिलकर बनता है तथा यह सबका सब उनमे वितरित किया जाता है। 'यदि अन्य बातें समान हों' तो यह जितना ही अधिक होगा उतना ही इन साधनो का हिस्सा बढ जायगा। इसको साधनो की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार वितरित किया जाता है, यद्यपि यह विषय भी पर्याप्त रूप से विवादग्रस्त है। साधारणत राष्ट्रीय लाभाश का अनुमान केवल एक ही वर्ष के लिए किया जाता है। वर्ष से छोटी अवधि मे उसका ठीक अनुमान नही हो सकेगा, क्योंकि एक वर्ष मे कई मौसम होते हैं जिनका उत्पादन पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। एक मौसम उत्पादन कार्य के लिए अधिक उपयुक्त तथा दूसरा कम उपयुक्त हो सकता है। इसलिये एक मौसम की उपज की तुलना दूसरे मौसम की उपज से करना ठीक न होगा। वर्ष मे मौसमों की विषमतायें समाप्त हो जाती हैं। वर्ष से अधिक का समय लम्बा होता है। उसको ग्रहण करने से कोई विशेष लाभ न होगा केवल कठिनाइयां ही बढेंगी। इसलिये साधारणत राष्ट्रीय लाभाश को मापने के लिए एक वर्ष का समय ही लिया जाता है।

राष्ट्रीय लाभाश अथवा आय की परिभाषा पर मतभेद—

राष्ट्रीय लाभाश की परिभाषा पर सब अर्थशास्त्री एक-मत नही है कुछ अर्थशास्त्री राष्ट्रीय लाभाश को उत्पादन द्वारा निर्धारित करना चाहते हैं, अन्य कुछ ऐसे भी हैं जो उत्पादन को राष्ट्रीय लाभाश का मापक न मान, उपभोग को उसका वास्तविक निर्धारक बताते हैं। पहले प्रकार के अर्थशास्त्रियो का मत है कि राष्ट्रीय लाभाश मे किसी देश मे उत्पन्न होने वाली उन समस्त वस्तुओं व सेवाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए जो एक वर्ष अथवा समय की और किसी इकाई अवधि मे उत्पन्न की जाती है। दूसरो का मत है कि राष्ट्रीय लाभाश मे देश मे उत्पन्न होने वाली सब वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित न करके केवल उन्ही को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिनका समाज मे किसी वर्ष अथवा अन्य समय की इकाई मे उपभोग किया जाता है। पहले विचार के प्रवर्तक प्रो० मार्शल हैं तथा दूसरे के प्रो० फिशर हैं। अब हम इन दोनो पर विचार अलग-अलग करेंगे।

प्रो० मार्शल का विचार—

प्रो० मार्शल का मत है कि जब किसी देश के श्रम व पूजी को उसके प्राकृतिक साधनो पर लगाया जाता है तब उससे प्रतिवर्ष भौतिक व अभौतिक वस्तुओं व सेवाओं की एक वास्तविक राशि उत्पन्न होती है। यही उस देश की सच्ची वास्तविक

भाय भ्रथवा लाभांश है।* प्रो० मार्शल ने बताया है कि इस परिभाषा में 'वास्तविक' (net) शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि वस्तुओं व सेवाओं को उत्पन्न करने के लिये कुछ कच्चे तथा अर्द्ध कच्चे मालों को काम में लाना पड़ता है तथा जिन मशीनों से माल बनाया जाता है वे घिसती जाती हैं। जब तक कुल आय में से ऐसे कच्चे अथवा अर्द्ध कच्चे मालों तथा मशीन की घिसाई आदि का घटा नहीं देते तब तक हमें वास्तविक आय का पता नहीं चल सकता। इन सबको कुल उत्पादन में से घटा देने पर ही वास्तविक आय प्राप्त होती है। प्रो० मार्शल का मत है कि राष्ट्रीय आय के अन्दर वे चीजें सम्मिलित नहीं की जानी चाहियें जो कि साधारणतः व्यक्ति की आय में सम्मिलित नहीं की जातीं। इस प्रकार वे सेवायें जो कि कोई व्यक्ति स्वयं के लिये अथवा अपने परिवार व लोगों अथवा मित्रों के लिये नियुक्त करता है, वह लाभ जोकि वह स्व-उत्पादित चीजों को उपयोग में लाकर प्राप्त करता है, अथवा वह लाभ जो सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे बिना कुछ दिये घाट को काम में ला कर वह उठाता है, राष्ट्रीय लाभांश के अन्दर सम्मिलित नहीं किये जाने चाहियें इस प्रकार प्रो० मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय आय किसी देश में प्रति वर्ष उत्पन्न होने वाली वास्तविक वस्तुओं व सेवाओं का योगफल है।

पीगू का विचार–

प्रो० पीगू का भी राष्ट्रीय लाभांश के विषय में प्रायः वही मत है जो कि प्रो० मार्शल का है। प्रो० पीगू के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश विदेशों से प्राप्त आय सहित किसी समाज की वस्तुगत आय का वह भाग होता है जो कि मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है।** प्रो० पीगू ने अपनी परिभाषा को समझाते हुए कहा है कि अन्तिम विश्लेषण में राष्ट्रीय लाभांश में बहुत सी वस्तुगत सेवायें (objective services) होती हैं जिनमें से कुछ वस्तुओं के रूप में होती हैं, अन्य सीधी सेवाओं के रूप में सम्पन्न की जाती हैं। उन्होंने आगे कहा है कि राष्ट्रीय लाभांश की गणना में हमको एक ही चीज या सेवा को दो बार नहीं जोड़ना चाहिए।

इस प्रकार प्रो० मार्शल के समान प्रो० पीगू भी राष्ट्रीय लाभांश में केवल वही वस्तुयें व सेवायें सम्मिलित करते हैं जो कि मुद्रा के पैमाने द्वारा मापी जा सकती हैं। परन्तु प्रो० पीगू अपनी परिभाषा की त्रुटियों की ओर भी संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि बहुत सी वस्तुयें व सेवायें मुद्रा के बदले नहीं बेची जातीं यद्यपि

---

* "The labour and capital of the country, acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds. This is the true net annual income or revenue of the country, or the national dividend."

—*Marshall, Principles of Economics (8th Edn.) P. 323*

** "The national dividend is that part of the objective in-come of the community, including, of course, income derived from abroad, which can be measured in money —*Pigou the Economics of Welfare. P. 31*

उनको मुद्रा के बदले बेचा जा सकता है। उदाहरण के लिये, जो फर्नीचर खरीदा या किराये पर लिया जाता है उसके लिये धन देना पड़ता है किन्तु यदि उसी फर्नीचर को दान मे प्राप्त किया जाय तो उसके लिये कोई धन न देना पड़ेगा। यद्यपि फर्नीचर दोनो अवस्थाओं मे एक-सी ही सेवा प्रदान करेगा तो भी जहा पहली अवस्था मे उसको राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित किया जायगा वहा दूसरी अवस्था मे उसको इसमे शामिल नही किया जायगा। इसी प्रकार नौकरानी की सेवा को राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित किया जायगा क्योंकि उसको मुद्रा के रूप म आका जाता है, किन्तु माता व बहन की सेवा को राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नही किया ज यगा क्योंकि इनकी सेवाओं के लिये कोई धन नही देना पड़ता। प्रो० पीगू का मत है कि इन कठिनाइयो के कारण इस परिभाषा को ग्रहण करना उचित नही जान पडता। इसके स्थान पर एक ऐसी परिभाषा की आवश्यकता प्रतीत होती है जिसके अन्तर्गत वर्ष मे उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुयें व सेवायें आ सकें। इतना कहने के पश्चात् प्रो० पीगू अपने मत मे सशोधन करते हुए कहते हैं कि इतनी विस्तृत परिभाषा को ग्रहण करने का अर्थ यह होगा कि हमको मुद्रा के माप-दण्ड का सहारा छोड़ना पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे दो बातें सम्भव है—या तो हम कोई परिभाषा ही न करें या समझौते के मार्ग का अनुसरण करें। पहली नीति को अपनाने से यद्यपि कोई गड़बड़ी न होगी तथापि उसके कारण अविश्वास अवश्य उत्पन्न होगा। इसलिये दूसरी नीति ही अधिक वाछनीय दिखाई पड़ती है। इस नीति के अनुसार प्रो० पीगू ने एक ओर तो प्रो० मार्शल की राष्ट्रीय लाभाश की परिभाषा को स्वीकार करते हुए उसके अन्दर उन सब चीजो को सम्मिलित किया है जो कि लोग अपनी मौद्रिक-आय से खरीदते हैं। उन मकानों का किराया भी इसमे सम्मिलित किया जायगा जिनमे कि उनके स्वामी स्वय रहते हैं। प्रो० मार्शल के समान प्रो० पीगू ने उन सेवाओं के मूल्य को राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित नही किया है जो कि कोई व्यक्ति अपने लिये अथवा अपने परिवार के सदस्यो अथवा मित्रो के लिये करता है। उन्होने उन लाभो के मूल्यों को भी सम्मिलित नही किया है जो कि कोई व्यक्ति फर्नीचर, कपड़े आदि अपने सामान से अथवा बिना किराये के पुलो आदि का प्रयोग करके अथवा अन्य सार्वजनिक सम्पत्ति से, प्राप्त करता है। परन्तु प्रो० पीगू प्रो० मार्शल की परिभाषा को दृढतापूर्वक ग्रहण नही करना चाहते। अवसर पड़ने पर वे इसका उदार दृष्टि से अर्थ लगाने के पक्ष मे हैं। प्रो० पीगू ने स्वीकार किया है कि इस प्रकार का समझौता यद्यपि असन्तोषजनक है परन्तु परिस्थितिया ऐसी हैं कि इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग दिखलाई ही नही पड़ता।*

फिशर का विचार—

प्रो० फिशर का मत प्रो० मार्शल से बिल्कुल भिन्न है। वे कहते हैं कि राष्ट्रीय लाभाश में केवल वे सेवायें ही सम्मिलित होती हैं जो कि अन्तिम उपभोक्ताओं को

* Ibid, P. 34

प्राप्त होती है, चाहे वे उनकी भौतिक परिस्थिति से प्राप्त हो अथवा उनकी मानवी (human) परिस्थिति से। इस प्रकार यदि इस वर्ष मेरे लिये एक पियानो अथवा ओवरकोट बनाया जाय तो उसका मूल्य इस वर्ष की आय मे सम्मिलित नही होगा, यह तो इस वर्ष की पूजी मे वृद्धिस्वरूप होगी। इन चीजो द्वारा की गई मेरी सेवायें ही मेरी आय होगी।** इस मत के अनुसार, राष्टीय लाभाश मे वह लाभाश सम्मिलित नही होगा जो कि वास्तविक रूप मे राष्ट्र को किसी वर्ष प्राप्त होता है वरन् इसमे वह लाभाश सम्मिलित होता है जो कि उस समय प्राप्त होगा जब कि देश की पूजी को कायम (maintain) रखा जायगा। प्रो० फिशर तथा प्रो० मार्शल की परिभाषाओ मे तब तो एकरूपता हो सकती है। जब कि किसी देश मे समय विशेष मे होने वाला वस्तु तथा सेवाओ का कुल उत्पादन बराबर हो उस समय म होने वाले कुल उपभोग के अर्थात् जितनी सेवाओ तथा वस्तुओ का उत्पादन किया जाय वे सब उसी समय मे उपभोग के काम मे आ जाय, परन्तु वास्तव मे ऐसा कभी नही होता।

किसी वष म उत्पादित वस्तुयें तथा सेवाय उस वर्ष मे उपभुक्त वस्तुओ तथा सेवाओ से बहुधा अधिक होती हैं। ऐसी स्थिति मे इन दोनो परिभाषाओ द्वारा निकाली गई राष्ट्रीय आय समान नही हो सकती।

परिभाषा का चुनाव—दोनो परिभाषाओ द्वारा प्राप्त परिणाम मे भिन्नता होने के कारण हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनो मे कौनसी परिभाषा अच्छी तथा ग्रहण करने योग्य है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये प्रो० पीगू कहते हैं, कि परिभाषा का चुनाव इस बात पर निर्भर होगा कि हम इसका प्रयोग किस काम के लिये करना चाहते हैं। यदि हम यह बात मालूम करना चाहते हैं कि किसी समाज ने भिन भिन्न वर्षो मे कितना आर्थिक कल्याण प्राप्त किया है अथवा यह बात मालूम करना चाहे कि कोई समाज किसी युद्ध को लडने के लिये कितने साधन जुटा सकता है, तो प्रो० फिशर की परिभाषा अधिक उपयुक्त होगी क्योकि इस स्थिति मे हम यह बात मालूम करना चाहते हैं कि वह कितना अधिक से अधिक धन होगा जो कि कोई समाज अपने उपभोग मे लायेगा तथा कितना धन वह युद्ध के लिये दगा। यहाँ हमारा अभिप्राय पूजी को पूर्ववत् बनाये रखने से नही है वरन् उसके उपभोग से है। इसके विपरीत, यदि हमारा उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि किसी दिये हुये कारण अथवा नीति का आर्थिक कल्याण पर क्या प्रभाव पडेगा तो प्रो० मार्शल की परिभाषा अधिक उपयुक्त होगी। साधारणत व्यवहार मे हम साधारण आर्थिक विश्लेषण मे ही दिलचस्पी रखते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रो० मार्शल की परिभाषा ही उपयुक्त है।

** Quoted *by Prof Pigou* in his 'Economics of Welfare' from Fisher's 'The Nature of Capital and Income from Pp 104—35.

राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण मे परिवर्तन
(Changes in the Size of National Dividend)

राष्ट्रीय लाभाश का किसी देश के आर्थिक कल्याण से बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण मे परिवर्तन होने का प्रभाव किसी न किसी अंश मे देश के आर्थिक कल्याण पर अवश्य पड़ता है। इसलिये हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह समझे कि राष्ट्रीय लाभाश के परिमाण मे किन-किन बातो के कारण परिवर्तन होते हैं।

चूंकि लाभाश एक वस्तुगत प्रत्यय है, इसलिये इस बात की ओर ध्यान न देते हुए कि लोगो का इस सम्बन्ध मे क्या दृष्टिकोण है हम उसको एक वस्तुगत पदार्थ से ही नापने का प्रयत्न करेंगे। उदाहरण के लिये, यदि किसी समाज मे मक्खन का उत्पादन तो कम हो जाये परन्तु शराब का उत्पादन बढ जाये तो नैतिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय लाभाश मे परिवर्तन समाज के लिये अहितकर है। परन्तु अर्थशास्त्र मे साधारणत नैतिक दृष्टिकोण को सामने नही रखा जाता। मक्खन के उत्पादन से हानि तथा शराब के उत्पादन से लाभ की तुलना हम तभी कर सकते हैं जबकि इनके हर (denominator) को समान कर दिया जाये। अर्थशास्त्र मे मुद्रा समान हर का कार्य करता है। यदि मक्खन की बाजारू कीमत शराब की बाजारू कीमत से कम या अधिक है तो हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय लाभांश क्रमश घट या बढ गया है। चूंकि वस्तुओ की बाजारू कीमतें उनकी सीमान्त उपयोगिताओ की द्योतक है इसलिये इनसे राष्ट्रीय लाभाश के विषय मे जानकारी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु ध्यान रहे कि मुद्रा का माप-दण्ड पूर्ण नही है। क्योकि मुद्रा के द्वारा सब प्रकार की वस्तुये तथा सेवायें नही खरीदी जाती, इसका मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है, इसकी सीमान्त उपयोगिता अमीरो के लिये कम तथा गरीबो के लिये अधिक होती है, आदि। साधारणत हम यह कह सकते है कि यदि अब किसी समाज के लोग राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित की गई चीजो को बनाये रखने के लिये उस से अधिक धन खर्च करने को तैयार है जो कि वे उन चीजो पर खर्च करते जो कि राष्ट्रीय लाभाश मे से निकाल ली गई है तो ऐसी स्थिति मे हम कह सकते है कि पहले समय की अपेक्षा अब राष्ट्रीय लाभांश बढ गया है।

यदि राष्ट्रीय लाभांश मे केवल एक ही चीज सम्मिलित होती तो उसके परिमाण की कमी-बेशी को मापना कोई कठिन बात न थी। ऐसी स्थिति मे हमको इकाई की परिभाषा करनी पड़ती। इसके पश्चात् हमको केवल इतना ही देखना पड़ता कि चालू वर्ष मे पहले की अपेक्षा कम इकाइयो का उत्पादन किया गया है या अधिक का। यदि अधिक इकाइयो का उत्पादन होता है तो हम यह कह सकते थे कि

राष्ट्रीय लाभांश बढ गया। यदि कम इकाइयो का उत्पादन होता तो हम यह कह सकते थे कि राष्ट्रीय लाभांश घट गया। इस स्थिति मे हम न केवल यह कह सकते थे कि राष्ट्रीय लाभाश बढा या घटा, हम यह भी कह सकते थे कि वह किस मात्रा म बढा या घटा है। ऐसी स्थिति मे दो देशो के राष्ट्रीय लाभाश की तुलना करना भी एक सरल काम था।

परन्तु वास्तव मे राष्ट्रीय लाभाश मे केवल एक वस्तु नही वरन् बहुत सी वस्तुय व सेवाय सम्मिलित होती है। यदि सब वस्तुओ या सेवाओ का उत्पादन साथ-साथ बढता या घटता तो भी हम आसानी से यह बात जान सकते थे कि राष्ट्रीय लाभाश बढा है या घटा है। यदि वस्तुओ व सेवाओ के बढने-घटने का अनुपात समान होता तो हम किसी एक वस्तु के उत्पादन को देख तथा माप कर यह कह सकते थे कि राष्ट्रीय लाभांश मे इतने प्रतिशत परिवर्तन हुआ है। यदि विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन एक ही दिशा मे बढता या घटता (चाहे प्रत्येक वस्तु का उत्पादन एक ही अनुपात म न बढता घटता) तो भी हम विश्वास के साथ यह कह सकते थे कि राष्ट्रीय लाभांश के परिवतन की दिशा क्या है? यदि कुछ वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन तो बढता या घटता परन्तु दूसरी कुछ का उत्पादन स्थिर रहता तो भी हम राष्ट्रीय लाभाश के परिवर्तन के प्रकार को जान सकते थे। परन्तु व्यवहार मे होता यह है कि कुछ वस्तुओं व सेवाओ का उत्पादन तो बढ़ता है, कुछ का घटता है तथा कुछ का स्थिर रहता है। ऐसी दशा मे राष्ट्रीय लाभाश में परिवर्तन को मापना एक टेढ़ी खीर है।

राष्ट्रीय लाभाश के परिवर्तन को मापने मे कठिनाइयां—

यदि हम लोगो की रुचि तया धन-वितरण को दिया हुआ मान कर चलें तथा किन्ही दो अवधियो (Periods) के राष्ट्रीय लाभाश की तुलना करना चाहे तो हमको दो अक प्राप्त होगे। ये दोनो अक दोनो अवधियो की वस्तुओ व सेवाओ की मौद्रिक मागो (Money demands) को अलग अलग जोड कर प्राप्त किये जायेंगे। परन्तु वस्तुओ व सेवाओ की मुद्रा मागो को जोडना सरल काम नही है, क्योंकि इस जोड को प्राप्त करने के लिये हमको राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित वस्तुओ व सेवाओ से प्राप्त होने वाली उपभोक्ताओ की बचतो को मुद्रा के रूप में माप कर जोडना पडेगा। प्रो० मार्शल के अनुसार, वस्तुओ के परस्पर पूरक तथा प्रतियोगी होने के कारण इस प्रकार उपभोक्ताओ की बचतो को जोडना गणितात्मक पद्धति को अपनाने के कारण सिद्धान्त मे भले ही सम्भव हो, व्यवहार मे तो यह बात सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय लाभांश को मापने वाले किसी भी माप-दण्ड को बनाने के लिये राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित वस्तुओ व सेवाओं की माग की लोचो को भी ध्यान मे रखना पडेगा, परन्तु ये आकडे हमको किसी उचित समय मे न तो प्राप्त हो सकते हैं और न उनके प्राप्त होने की आशा है।

इसलिये राष्ट्रीय लाभांश को मापते समय हमे इन सब चीजो को नजरन्दाज कर जाना पडेगा।

राष्ट्रीय लाभांश को मापने के लिये हमको जो सामग्री उपलब्ध हो सकती है वह राष्ट्रीय लाभांश मे सम्मिलित वस्तुओ, तथा सेवाओ की राशियां (Quantities) तथा कीमतें हैं। इसके अतिरिक्त हमको कोई सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये यदि हम राष्ट्रीय लाभांश को मापना चाहते हैं तो हमको इसी सामग्री को काम मे लाना पडेगा, परन्तु यहा भी हमको कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, क्योकि जिन दो अवधियो के राष्ट्रीय लाभांश की हम तुलना करना चाहते है उनमे लोगो की रुचिया तथा धन वितरण का ढाचा एक दूसरे से भिन्न हो सकता है। हम जानते हैं कि धन वितरण के ढाचे तथा लोगो की रुचियो का कीमतो पर बड़ा प्रभाव पडता है। यदि किसी समय लोगो की रुचिया तथा धन वितरण का ढाचा 'अ' प्रकार का हो, परन्तु दूसरे समय वह 'ब' प्रकार का हो जाय तो इसके कारण माल-कीमतो पर बहुत बडा प्रभाव पडेगा। इसलिये यदि हम किसी एक अवधि के राष्ट्रीय लाभांश की तुलना किसी दूसरी अवधि के राष्ट्रीय लाभांश से करना चाहे तो हमको दोनो अवधियो मे एक से ही धन वितरण तथा लोगो की रुचियो की उपधारणा कर चलना पडेगा। यदि हम दोनो अवधियों मे इन चीजो मे भिन्नता मान कर चलेंगे तो हमको दो मापदण्डो की आवश्यकता पडेगी। एक माप-दण्ड द्वारा हमको दोनो अवधियो के धन वितरण तथा लोगो की रुचियो के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश के आकडो को प्राप्त करना पडेगा। दूसरे माप-दण्ड द्वारा हमको दोनो अवधियो के राष्ट्रीय लाभांश का निकालन के लिय यह देखना पडेगा कि यदि पहली अवधि मे लोगो की रुचिया तथा धन वितरण का ढाचा 'अ' के स्थान पर 'ब' के समान होता तथा दूसरी अवधि मे यह 'ब' के स्थान पर 'अ' के समान होता तो राष्ट्रीय लाभांश कितना होता। परन्तु इस प्रकार के माप-दण्डो को प्राप्त करना सम्भव नहीं है, क्योंकि हम यह नही जानते कि यदि पहली अवधि मे लोगो की रुचिया तथा धन-वितरण की अवस्था 'अ' के स्थान पर 'ब' प्रकार की होती तो लोग वस्तुओ व सेवाओ की कितनी मात्राओ को किन कीमतो पर खरीदते। इसी प्रकार हम यह नही कह सकते कि यदि दूसरी अवधि मे लोगो की रुचियां तथा धन-वितरण की अवस्था 'ब' के समान न होकर 'अ' के समान होती तो वे वस्तुओं व सेवाओ की कितनी मात्रायें किन कीमतो पर खरीदते। इस प्रकार की सामग्री के अभाव मे लोगो की रुचियो तथा धन-वितरण के ढाचे को स्थिर ही मान कर चलना श्रेयस्कर होगा अन्यथा हमको जो फल प्राप्त होगा वह ठीक न होगा।

राष्ट्रीय लाभांश की गणना करते समय हमे एक ही चीज को दो बार नही जोडना चाहिए। उदाहरण के लिए, पक्के माल की कीमत ही इसमें सम्मिलित

की जानी चाहियें, कच्चे माल तथा सेवाओ की, जो कि पक्का माल बनाने के काम आती हैं, नहीं। राष्ट्रीय लाभांश को मापने वाला माप-दण्ड इस उपधारणा को लेकर बनाया जा सकता है कि जो दो अवधियां विचाराधीन हैं उनमें वस्तुयें तथा सेवायें एकसी रहती हैं। यदि दूसरी अवधि में कुछ नई वस्तुयें सम्मिलित कर दी जायें तो हमारा माप-दण्ड राष्ट्रीय लाभांश के परिवर्तन को न बता सकेगा। नई वस्तुयें न केवल वे होंगी जो कि भौतिक दृष्टि से नई हैं वरन् वे भी होंगी जो कि नये समय अथवा स्थान पर प्राप्त की गई हों। उदाहरण के लिये, यदि पका आम जाड़े के मौसम में आ जाए तो वह एक नई वस्तु माना जायगा। परन्तु चूंकि नई चीजों के रिवाज के आने में समय लगता है, इसलिये किन्हीं उन दो वर्षों में जो कि एक दूसरे के समीप हैं तथा जिनके राष्ट्रीय लाभांश की तुलना हम कर रहे हैं, इन नई चीजों का लोगों के उपभोग पर बहुत ही सूक्ष्म प्रभाव पड़ेगा। इतने सूक्ष्म प्रभाव पर ध्यान न देने से कोई हानि न होगी।

राष्ट्रीय लाभांश का अनुमान लगाने में एक अन्य कठिनाई है—राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओं का चुनाव करना। जहां तक हो उन चीजों को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित किया जाना चाहिए जो कि जन-साधारण के उपभोग के काम में आती हैं। इसी के अतिरिक्त एक अन्य कठिनाई और उपस्थित होती है। यह कठिनाई है वस्तुओं की खुदरा कीमत के आंकड़े को एकत्रित करना। उन्नत देशों, जैसे इंगलैंड, में इस प्रकार की कीमतों को प्राप्त करना अधिक कठिन नहीं है, लेकिन कम विकसित देशों में यह काम आसान नहीं, किन्तु खुदरा कीमतों का आंकड़ा प्राप्त भी कर लिया जाय तो भी उनके प्रयोग में जो एक अन्य कठिनाई उपस्थित होती है, वह है इन कीमतों में सम्मिलित विभिन्न सेवाओं की लागतों का अनुमान भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न होना। उदाहरण के लिये, कोयले की एक टन कीमत में एक समय १२ आने मजदूरी तथा ८ आने यातायात का खर्च हो सकता है तथा दूसरे समय में १० आने मजदूरी तथा १० आने यातायात का खर्च हो सकता है। कोयला दोनों हालतों में भौतिक दृष्टि से एक ही वस्तु रहने पर भी वास्तव में दोनों समयों में भिन्न वस्तु है, क्योंकि इसकी लागत का ढांचा बदल गया है। थोक कीमतों का अनुमान लगाना भी बहुधा बड़ा कठिन होता है, क्योंकि यद्यपि चीजों का नाम वही रहता है तथापि उनके गुण व प्रकार में बहुत अधिक अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिये हर एक कार कहने को कार ही कही जाती है, परन्तु कारें सैकड़ों मॉडल की होती हैं। भिन्न-भिन्न मॉडलों की कारों को एक ही वस्तु मानना उचित दिखाई नहीं पड़ता। जो कठिनाई भौतिक पदार्थों के साथ है वही सेवाओं के साथ भी होती है। उदाहरण के लिए, डाक्टर की प्रत्येक सेवा एक ही नाम से पुकारी जाती है, परन्तु प्रत्येक सेवा एक दूसरे से भिन्न होती है।

ये तो रही कीमतो के सम्बन्ध मे कठिनाइया। वस्तुओ की राशियो को एकत्र करने मे भी बडी कठिनाइया आती है। वास्तव मे उत्पादित वस्तुओ की मात्राओ से सम्बन्धित आकडे एकत्रित करना बडा कठिन काम है। हमको आयात की जाने वाली वस्तुओ के आकडे तो प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु ये वस्तुयें देश की कुल वस्तुओ की एक अश मात्र होती हैं। वस्तुओ की मात्रा सम्बन्धी आकडो की कठिनाई को उपभोग के कुछ प्रतिनिधि बजटो के आधार पर दूर किया जा सकता है। परन्तु इस ढग से हमको कुछ विशेष चीजो की किसी वर्ग द्वारा क्रय की गई मात्राओ का ही ज्ञान हो सकता है। इस ढग से हमको एक दूसरे के समीपवर्ती वर्षों मे राष्ट्रीय लाभाश म सम्मिलित विभिन्न प्रतिनिधि चीजो की मात्राओ मे भेद करना कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित चीजो को 'महत्व' (Weights) देने मे भी कठिनाई उपस्थित होती है। उदाहरण के लिये, कुछ वस्तुयें ऐसी हो सकती हैं जो कि न केवल अपना ही प्रतिनिधित्व करती हो वरन् अपनी श्रेणी की अन्य वस्तुओ का भी करती हो। ऐसी चीजो को अधिक महत्व देने की आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रीय लाभाश मे होने वाले परिवर्तनो को मापना बडा कठिन होता है। इनको मापने के लिये हमारे पास चीजो व सेवाओ की मात्रायें तथा कीमतें ही होती हैं। ये दोनो भी विश्वास करने योग्य नही होती। इसलिये हमारे राष्ट्रीय लाभ श के अनुमान मे त्रुटि रहने की बहुत अधिक सम्भावना होती है। परन्तु यदि हम ऐसी ही वस्तुओ को अपनी गणना मे सम्मिलित करें जो कि अधिकतर लोगो के उपभोग के काम मे आती हो, ये चीजे सख्या मे भी अधिक हो, उन मे से प्रत्यक पर राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित चीजो की कीमतो के कुल योग का एक सूक्ष्म सा अश खर्च होता है तथा उनकी कीमतो मे वर्ष-प्रति-वर्ष बहुत कम परिवर्तन होता हो, तो हम राष्ट्रीय लाभाश का बहुत कुछ ठीक अनुमान लगा सकते है।

राष्ट्रीय लाभाश को निकालने की विधियाँ—

राष्ट्रीय लाभाश के निकालने का कार्य सरल नही है। देश के अन्दर रहने वाला प्रत्यक आदमी अपनी जीविकोपार्जन के लिय किसी न किसी वस्तु या सेवा का उत्पादन करता है। ये वस्तुयें या सेवाय समान प्रकार की नहीं होती। इसके अतिरिक्त देश के सब आदमी इन वस्तुओ अथवा सेवाओ से सम्बन्धित आकडे भी नहीं रखते। फिर देश म इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं होता कि प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा का उत्पादक किसी राष्ट्रीय सस्था के पास अपने उत्पादन सम्बन्धी विवरण को समय समय पर भेज देगा अथवा दर्ज करा देगा। इस लिये राष्ट्रीय लाभाश के निकालने के लिय इन सब प्रकार के उत्पादको से आकडे एकत्र करना आवश्यक है। यह कार्य आसान नहीं है। भारत जैसे देश में तो यह और भी कठिन

है। राष्ट्रीय आय समिति (The National Income Committee) ने अपनी प्रथम रिपोर्ट में इन कठिनाइयों की ओर संकेत किया है। समिति का मत है कि भारत में उत्पादकों को न तो इस बात का ज्ञान है कि उन्होंने किसी वस्तु की कितनी मात्रा उत्पन्न की है और न इस बात का ज्ञान है कि उन्होंने कितने मूल्य की वस्तु या सेवा उत्पन्न की है। इसके अतिरिक्त, एक ही उत्पादक कई प्रकार की चीजें उत्पन्न करता है। इसलिये कुछ लोगों के कार्य के आधार पर हम किसी पेशे में लगे हुये सब आदमियों द्वारा किये गये उत्पादन का अनुमान नहीं लगा सकते। इसके अतिरिक्त, कुल उत्पादित वस्तु बाजार में नहीं बची जाती, उसमें से बहुत तो उत्पादक स्वयं अपने उपभोग के लिये रख लेता है तथा कुछ का विनिमय वस्तु-विनिमय के आधार पर होता है। ऐसी स्थिति में हम बाजार में बेची जाने वाली सब वस्तुओं की कीमतों से देश के कुल उत्पादन का अनुमान नहीं लगा सकते। राष्ट्रीय लाभांश को मापने में जो कठिनाइयां भारत में पाई जाती हैं उनमें से बहुत सी पाश्चात्य देशों में नहीं पाई जाती, परन्तु इन देशों में भी कठिनाइयों का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसलिये राष्ट्रीय लाभांश का अनुमान लगाते समय बहुत कुछ अनुमान से काम लेना पड़ता है। इस प्रकार राष्ट्रीय लाभांश का अनुमान ही लगाया जा सकता है, उसको पूर्ण रूप से मापा नहीं जा सकता।

राष्ट्रीय लाभांश को मापने की तीन विधियां हैं (१) कुल खर्च विधि, (२) कुल-उत्पादन विधि तथा (३) कुल-आय विधि।

(१) कुल-खर्च विधि—

इस विधि के अन्तर्गत राष्ट्र की कुल उपभोग्य वस्तुओं पर किये गये कुल खर्चे को जोड़ा जाता है। इस खर्चे का अनुमान थोक तथा खुदरा व्यापारियों की वार्षिक बिक्री से लगाया जा सकता है। वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओं पर किये गये खर्चे को भी इसमें जोड़ना पड़ता है। इस प्रकार इसमें अध्यापकों, इञ्जीनियरों, घरेलू नौकरों, डाक्टरों, नर्तकियों आदि की सेवाओं का खर्च भी जोड़ना पड़ेगा। इन दोनों को जोड़ने के पश्चात भी पूंजी वस्तुओं (capital goods) पर किया गया खर्च बच जाता है। इस खर्च को भी पहले योग में जोड़ना पड़ता है। पूंजी-वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादन कार्य के लिये बहुत सा कच्चा माल खरीदना पड़ता है। इस खर्चे को भी पहली तीनों श्रेणियों के खर्चे में जोड़ना चाहिए। इस प्रकार कुल-खर्च विधि में हम उपभोग्य वस्तुओं, पूंजी-वस्तुओं, कच्चे माल तथा सब प्रकार की सेवाओं पर किये गये खर्च को जोड़ते हैं।

परन्तु इस विधि में कुछ कठिनाइयां आती हैं। पहली कठिनाई विदेशी व्यापार के कारण आती है। इस व्यापार के कारण एक आदमी द्वारा किसी चीज पर किए गये खर्च का लाभ उसी देश के दूसरे आदमी को नहीं होता। उदाहरण के लिये, ब्रिटिश मशीन यदि भारत में आयात की जाय तो इस पर किये गये खर्च का लाभ इंगलैंड की किसी कम्पनी को होगा, न कि भारत को। इसी प्रकार भारतीय चाय

यदि इगलैंड मे बेची जाय तो इगलैंड मे किये गये खर्च का लाभ भारतीय व्यापारी को होगा। इसलिये कुल खर्च का अनुमान लगाते समय आयात किए गये कुल माल का मूल्य जोड देना चाहिए ।

दूसरी कठिनाई यह है कि देश मे बहुत सी चीजो पर अप्रत्यक्ष कर (Indirect taxes) लगे होते हैं। इन करों के लगाने से वस्तुओं की कीमतें बढ जाती हैं परन्तु कीमतो के बढने का लाभ देश के किसी आदमी को न होकर राज्य को होता है। इसी प्रकार यदि राज्य किसी चीज को सस्ता बिकवाने के लिए उसके उत्पादक को अनुपूर्ति (Subsidy) देता है तो देश के लोगो को उतना कम खर्च करना पडता है। इस प्रकार कुल खर्च विधि से देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय हमको कुल खर्च मे से अप्रत्यक्ष करो को घटा तथा किसी प्रकार की आर्थिक सहायता तथा अनुपूर्ति के धन को जोड देना चाहिए। ऐसा करने मे हमको साधनो से प्राप्त आय का पता लग जायगा।

[२] कुल-उत्पादन विधि--

इस विधि के अनुसार देश मे होने वाले कुल उत्पादन का मूल्य जोडा जाता है। इस कार्य को करने के लिए उत्पादन-गणना (Census of Production) करना पडता है। इगलैंड मे इस प्रकार की उत्पादन गणना हर पाचवे वर्ष होती है तथा प्रतिवर्ष भी पर्याप्त मात्रा मे उत्पादन के आकडे एकत्र किए जाते हैं। इन आकडो से उत्पादन करने वाली इकाइयो की उत्पादन क्रियाओं का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है और मुख्यत इस बात का पता चल जाता है कि इन इकाइयो द्वारा उत्पादित वस्तु का क्या मूल्य है। परन्तु उत्पादन गणना के अन्तर्गत छोटे-बडे सब उद्योग नही आते। जो शेष बच जाते हैं उनके उत्पादन का मूल्य उनके द्वारा दिये गये मजदूरी, लगान, ब्याज लाभ आदि के आधार पर निकाला जाता है। यह इस लिये किया जाता है कि लगान, मजदूरी, ब्याज आदि भूमि, श्रम, पूजी आदि उत्पादन के साधनो के प्रतिफल होते हैं। यदि इसम लाभ जोड दिया जाय तो उत्पादित वस्तु का मूल्य मालूम हो जाएगा।

परन्तु राष्ट्रीय लाभाश की गणना को इस विधि म हमको थोडी सावधानी स काम लेना चाहिये। पहली सावधानी यह है कि इसमे एक ही चीज को दो बार नही जोडा जाना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि हम एक बार कोयले के कुल उत्पादन को अपनी गणना मे सम्मिलित करते है तो दूसरी बार उसको फौलाद, रूई, ऊन, रेशम आदि के कपडो तथा अन्य उन उत्पादित चीजो के मूल्य मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिये जिनके उत्पादन मे कोयले का उपयोग किया गया है। इसी प्रकार, यदि हम गेहू के मूल्य को अपनी गणना मे लेते है तो इस गेहू से तैयार होने वाली रोटियो, बिस्कुटो आदि के मूल्य मे से गेहूं के मूल्य को घटाना आवश्यक है। इस प्रकार इस विधि के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि हम अपनी गणना म

किसी उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य मे जो वास्तविक वृद्धि हुई है, केवल उसी को सम्मिलित कर। दूसरे शब्दो में, हमको उत्पादित वस्तु के मूल्य मे से कच्चे तथा अर्द्ध कच्चे माल के मूल्यो को घटा देना चाहिये।

दूसरी सावधानी हमको यह रखनी चाहिये कि वह पूजी जिसकी सहायता से कार्य किया जाता है निरन्तर बनी रह। प्रो० पीगू ने पूजी के बनी रहने का अर्थ यह बताया है कि यह भौतिक दृष्टि से बनी रहे। इसलिए यदि पूजी के मूल्य मे ब्याज की दर म परिवर्तन के कारण कोई अन्तर पड जाय अथवा इसकी कीमत विदेशो स प्रयान के कारण गिर जाय अथवा उसके मूल्य मे लोगो की रुचि में परिवर्तन के कारण कोई अन्तर हो जाय तो मूल्य के इस प्रकार के अन्तर पर कोई ध्यान नही देना चाहिये। इसी प्रकार यदि कुछ पूजी भूकम्प के कारण नष्ट हो जाय तो पूजी की उस हानि पर भी कोई ध्यान नही दिया जाना चाहिये। परन्तु यदि किसी मकान मे आग लग जाय अथवा कोई जहाज तूफान के कारण नष्ट हो जाय तो इसका पूजी की हानि ही समझना चाहिये।

पूजी को बनाये रखने के लिये हमको कुल उत्पादन मे से मशीनो की घिसाई के कारण हुई हानि के मूल्य को घटा देना चाहिये। घिसाई का मूल्य वास्तव मे मशीनो की मरम्मत कराने तथा उनको प्रतिवर्ष बदलने के खर्च के बराबर होता है। इस प्रकार यदि कोई मशीन एक लाख रुपये की खरीदी जाय तथा उसके दस वर्ष मे घिसने की प्र शा हो तो इन दसो वर्षों के राष्ट्रीय लाभाश मे स प्रत्येक वर्ष एक लाख रुपया घटाना चाहिये। जो बात मशीनों के लिए ठीक है वही भूमि के लिये भी ठीक है। यदि किसी भूमि पर कोई फसल उगाई जाय तो उसके कारण भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है। इसलिये भूमि से प्राप्त उपज मे से खाद, पानी के उस खर्च को कम कर देना चाहिए जो कि उस भूमि मे पहले जितनी उर्वरा शक्ति को लाने के लिये आवश्यक है।

[३] कुल आय विधि—

इस विधि के अन्तर्गत हमे व्यक्तियो तथा सस्थाओ की आय को जोडना पडता है। देश मे कुछ लोगो तथा सस्थाओ की आय तो इतनी होती है कि उनको आय-कर देना पडता है परन्तु अधिकतर लोगों की आय इतनी कम होती है कि उनको कोई कर नही देना पडता। जो व्यक्ति अथवा सस्थायें कर देती हैं उनकी आय तो आय-कर विभाग से मालूम की जा सकती है। परन्तु जिन लोगों अथवा सस्थाओं को कर नही देना पडता उनकी आय के आकडो को अन्यत्र से एकत्रित करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार छोटे-छोटे किसानों, दस्तकारों, घरेलू नौकरो, राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगों आदि की आय को एकत्र किया जायगा। इसके अतिरिक्त हमको विदेशों से मिली हुई आर्थिक सहायता तथा उपहारो को जोडना तथा विदेशों को दी गई आर्थिक सहायता तथा उपहारो को घटा देना चाहिये। परन्तु यदि एक बच्चे

को अपने पिता से कोई उपहार मिले तो उसको राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त बुढापे तथा विशेष युद्ध (Special war) पेंशनो को भी आय मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिये परन्तु सिविल सर्विस की पेंशनो को आय मे सम्मिलित करना चाहिये। इसका कारण यह है कि जब कि पहले दोनो प्रकार की पेंशनें किसी सेवा के प्रतिफल के रूप मे नही दी जाती, पिछले प्रकार की पेंशनें सेवा के प्रतिफल के रूप मे दी जाती हैं। इसी प्रकार युद्ध आदि गैर-उत्पादक कार्यों के हेतु लिये गए ऋण पर दिये गये ब्याज तथा घोर्मे अथवा शक्ति से प्राप्त की गई आय को भी राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिए। सरकार को यदि कोई आय विशिष्ट सेवा के बदले प्राप्त होती है तो उसको तो आय मे सम्मिलित ही किया जाना चाहिये, लेकिन सीमा शुल्क, उत्पादन-कर आदि से प्राप्त होने वाली आय को भी राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित करना आवश्यक है, यद्यपि यह आय किसी सेवा के बदले प्राप्त नही की जाती। कर लगाने मे कर लगी हुई वस्तु की कीमत कर की मात्रा के बराबर बढ जाती है।*

परन्तु इस विधि मे भी हमको यह सावधानी रखनी चाहिये कि हम एक ही आय को दो बार न जोड दे। उदाहरण के लिये, यदि एक की आय ५०० रुपय प्रति मास हो और वह उसमे से ५० रु० मासिक अपने लडके के पास पाकेट खर्च के रूप मे भेजता है तो राष्ट्रीय आय मे लडके की आय नही जोडी जायगी। इसी प्रकार यदि किसी आदमी की आय १०,००० रुपये वार्षिक है तथा वह उस पर ५०० रुपए कर के रूप मे सरकार को दे देता है जिसको सरकार किसी दूसरे आदमी को बुढापे की पेन्शन के रूप मे दे देती है तो राष्ट्रीय आय मे केवल १०,००० रुपया ही सम्मिलित किया जायगा, क्योकि पेंशन पाने वाले को पेंशन किसी सेवा के बदले नही दी जाती।

श्री हेनरी क्ले ने अपनी पुस्तक 'Economics for the General Reader' मे कुछ ऐसी सेवाओ के उदाहरण दिये है जिनकी आय को राष्ट्रीय आय मे जोडने के बदले घटा देना चाहिये।** वे कहते है कि कोयला धन है। कोयले के उत्पादन के लिये दिये गये लगान, मजदूरी, ब्याज, वेतन, लाभ आदि को आय मे सम्मिलित करना चाहिये। परन्तु कोयले के प्रयोग से हमारे कपडे काले होते हैं। इसलिये लाण्डरी मे कपडे धुलवाने का खर्च कोयले के प्रयोग का खर्च समझना चाहिये तथा लाडरी की आय को आय मे सम्मिलित न करके कोयले की आय मे से घटा दी जानी चाहिये। इसी प्रकार बहुत से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमे से एक उद्योग दूसरे किसी अन्य उद्योग द्वारा पहुचाई हुई हानि को कम करने के लिये

---

* Pigou—The Economics of Welfare—Pp 40—41

** *Henry Clay*—Economics for the General Reader P. 437.

चालू किया जाता है। इन दूसरे प्रकार के उद्योगों की आय को पहले प्रकार के उद्योगों की आय में घटाना चाहिये। यही नहीं, श्री क्ले ने यह भी कहा है कि आधुनिक फैक्ट्री पद्धति के कारण ही बड़े-बड़े शहरों का जन्म हुआ है जिनमें बहुत सा खर्च, सफाई, शिक्षा, पुलिस आदि पर करना पड़ता है, क्योंकि इसमें से अधिकतर खर्च देहातों में नहीं करना पड़ता। इसलिये आधुनिक ढंगों पर किये गये उत्पादन से प्राप्त हुई राष्ट्रीय आय में वृद्धि निकालने के लिये हमको इन ढंगों से प्राप्त आय में से नगरों में किये जाने वाले अनिवार्य खर्चों को घटा देना चाहिये। इसी प्रकार फैक्ट्री की कुल आय में से फैक्ट्री की देख भाल का खर्च, मजदूरी बोर्ड व मजदूर संघों पर किये गये खर्चों को भी घटाना आवश्यक है। तथैव मोटर उद्योग से प्राप्त आय को निकालने के लिये सड़कें बनाने व उनकी मरम्मत का खर्च उसमें से कम कर दिया जाना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय लाभांश अथवा राष्ट्रीय आय को तीन ढंगों से मापा जा सकता है। यदि सावधानी से काम लिया जाय तो तीनों ढंगों से एक सी ही राष्ट्रीय आय आनी चाहिए। यदि तीनों ढंगों से एकसी आय प्राप्त न हो तो इसका अभिप्राय यह होगा कि आंकड़ों के एकत्रित किये जाने में भूल की गई है। इंगलैंड आदि देशों ने इस दृष्टि से बहुत उन्नति की है। इन देशों के आंकड़े इतने सही होते हैं कि राष्ट्रीय आय का अनुमान प्राय ठीक होता है। परन्तु भारत जैसे देशों में राष्ट्रीय आय का अनुमान एक टेढ़ी खीर है। भारत में नियुक्त 'राष्ट्रीय आय समिति' ने अपनी प्रथम रिपोर्ट में बताया है कि भारत में खेती तथा उसके सहायक उद्योगों की क्रियाओं से सम्बन्धित कीमतों तथा व्ययों के आंकड़े बिलकुल अपूर्ण तथा संदिग्ध हैं। फैक्ट्री उद्योगों में भी आंकड़े केवल उन्हीं इकाइयों में उपलब्ध होते हैं जो महत्वपूर्ण हैं। सरकारी उद्योगों के आंकड़े यद्यपि पूर्ण हैं तो भी एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उनको आसानी से आर्थिक श्रेणियों में विभक्त नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आंकड़े भी अभी तक स्थूल अनुमान पर ही आधारित हैं तथा कुछ में त्रुटियों की बहुत बड़ी सम्भावना है। यही नहीं, शहरों तथा देहातों की जनता से सम्बन्धित व्यय, बचत आदि के आंकड़ों का भी अभाव सा है। आकार के अनुसार आय वितरण के आंकड़े भी उपलब्ध नहीं हैं। आय-कर विभाग के आंकड़े न केवल सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं वरन उनके सही होने पर भी शंका की जा सकती है। पूंजी निर्माण का अनुमान लगाने के लिये आंकड़ों का प्राय अभाव सा है। इसके अतिरिक्त देश के एक भाग तथा दूसरे भाग में खाने पीने, रहने-सहने आदि में इतनी विषमता पाई जाती है कि उसके कारण एक क्षेत्र के आंकड़ों के आधार पर दूसरे क्षेत्र के आंकड़ों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।*

---

* First Report of the National Income Committee April 1951, Pp 14—15.

भारत मे राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने की विधि

भारत मे राष्ट्रीय आय समिति ने भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिये दो विधियो से काम लिया है। कृषि पशु-पालन, मछली पालन उद्योगो, खनिज पदार्थों को निकालने से सम्बन्धित उद्योगो तथा पक्के माल तैयार करने वाले उद्योगो के लिये वास्तविक उत्पादन विधि (Net product method) को काम मे लाया गया है तथा यातायात, व्यापार, सार्वजनिक शक्ति, सार्वजनिक शासन, पेशो तथा उदार कला और घरेलू सेवाओ के लिये उपर्युक्त आय विधि को काम मे लाया गया है। परन्तु इनमे भी मकानो की आय को अनुमान के आधार पर लगाया गया है। अनुमान का आधार नगरो मे नगर-पालिकाओ के सम्पत्ति पर कर तथा ग्रामो मे मकानो के मूल्य हैं। आजकल भारत मे प्रति वर्ष राष्ट्रीय आय का अनुमान इसी प्रकार लगाया जाता है।

राष्ट्रीय लाभाश तथा आर्थिक कल्याण
(National Dividend and Economic Welfare)

कल्याणकारी अर्थशास्त्र का उद्भव निकटभूत मे ही हुआ है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने इसके विषय मे कुछ कहा था। पेरीटो के कल्याण को अधिकतम करने के प्रश्न पर विचार किया था। नये क्लासिकल अर्थशास्त्रियो मे से मार्शल तथा पीगू ने इस को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया। अभी हाल ही मे हिक्स तथा काल्डोर (Kaldor) ने यह बताने का प्रयत्न किया कि अधिकतम कल्याण का क्या अर्थ होता है तथा इस कल्याण को कैसे अधिकतम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राबिन्स, लनर सिटोवस्की (Scitovsky) आदि ने भी इस समस्या पर अपने अपने मत प्रकट किये हैं।

कल्याण का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनो के साथ हो सकता है। यदि हम केवल एक व्यक्ति के कल्याण का अध्ययन करें तो इसे व्यक्तिगत कल्याण कहेगे परन्तु यदि हम समाज के सब व्यक्तियो के सामूहिक कल्याण का अध्ययन करें तो उसको सामाजिक कल्याण कहेगे। हम अर्थशास्त्र की परिभाषा करते समय बता चुके है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र होता है इसलिये अर्थशास्त्र मे हम व्यक्तिगत कल्याण का अध्ययन न कर सामाजिक कल्याण का ही अध्ययन करेंगे। हम जानते हैं कि समाज व्यक्तियो से मिलकर बनता है। तो समाज के सब व्यक्तियो के कल्याण के योग को हम सामाजिक कल्याण कह सकते हैं। यद्यपि यह कथन बहुत कुछ सीमा तक ठीक कहा जा सकता है परन्तु हमको यह देखना चाहिये कि यह किस अर्थ मे व्यक्तियो के कल्याण का योग है।

'कल्याण' शब्द की परिभाषा करनी तो कठिन है, परन्तु इसको साधारणत उपभोग्य वस्तुओ व सेवाओ से प्राप्त तुष्टि अथवा सुख के अर्थ मे काम मे लाया जाता है। इस सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि यह मस्तिष्क की

चेतनावस्था का द्योतक होता है। मस्तिष्क का अपना ही एक क्षेत्र होता है। मस्तिष्क की अवस्था के अनुसार स्वर्ग, नरक तथा नरक, स्वर्ग दिखाई पडता है। समाज मे तमाम व्यक्ति होते हैं। उनमे से प्रत्येक का अपना-अपना मस्तिष्क होता है। इस कारण प्रत्येक के कल्याण के भाव अलग अलग होते हैं। ऐसी अवस्था मे सामाजिक कल्याण को मापना सासारिक प्राणी का काम नही है। इसको केवल वही व्यक्ति ठीक प्रकार से माप सकता है जिसके मस्तिष्क मे शीशे के समान दूसरो के विचार ठीक प्रकार से उतर सकते हो।* परन्तु कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति मिल सके। *इसलिए समाज के कुल कल्याण को इस रीति से मापना असम्भव है।* प्रो० पीगू ने इस सम्बन्ध म कहा है कि कल्याण पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न कारणो की सर्व-साधारण खोज करना इतना बडा व पेचीदा काम है कि उसको कार्यान्वित किया ही नही जा सकता। इसका कारण यह है कि एक ही चीज एक व्यक्ति को कल्याणकारी दिखलाई पड सकती है, परन्तु दूसरे को वही चीज अकल्याणकारी सिद्ध हो सकती है।

उदाहरण के लिए, शराब को एक शराबी कल्याणकारी परन्तु उसकी पत्नि अकल्याणकारी समझ सकती है। एक साम्राज्यवादी देश हथियारो पर किये गये खर्च को कल्याणकारी, परन्तु इसके विपरीत भावना रखने वाला देश उसको बर्बादी समझ सकता है। इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहा पर कि एक ही चीज एक व्यक्ति को कल्याणकारी दिखाई पडती है, परन्तु दूसरे को वह अकल्याणकारी दिखाई पडती है। ऐसी अवस्था मे समाज के कल्याण को मालूम करने के लिये हमको यह खोज करनी पडेगी कि देश म उत्पन्न होने वाली करोडो वस्तुओ व सेवाओ मे से कौन सी किन किन लोगो को कल्याणकारी दिखाई पडती है तथा कौनसी अकल्याणकारी, तथा ये किस मात्रा मे क्रमश कल्याणकारी तथा अकल्याणकारी हैं। ऐसा करने के लिये समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पास प्रत्येक चीज के प्रभाव के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये जाना पडेगा। परन्तु समाज के सब व्यक्ति एक स्थान विशेष पर तो इक्ट्ठा होते नही कि उनके हाथ उठवा कर उनसे पूछा जा सके कि अमुक वस्तु अथवा सेवा किस के लिए कल्याणकारी तथा किसके लिये अकल्याणकारी है अपरञ्च, वह किस हद तक कल्याणकारी अथवा अकल्याणकारी है। जन-सख्या के इतस्तता, बिखरी होने के कारण प्रत्यक व्यक्ति के पास आकडा प्राप्त करने के लिये हमे जाना पडेगा। इसके लिए पर्याप्त समय तथा व्यय की आवश्यकता होती है। न किसी एक आदमी अथवा कुछ आदमियों के पास इतना समय ही हो सकता है, न साधन और शक्ति ही। फिर प्रत्येक व्यक्ति तक पहुच होनी तो कठिन है। पहुच भी यदि हो जाय तो कोई भी व्यक्ति हमे हमारी जिज्ञासा का उत्तर स्पष्ट रूप से देकर हमारे सामने प्रकट नहीं

---

* *J K Mehta*– Studies in Advanced Economic Theory (3rd Edn) P 82.

करेगा। फिर, यदि यह सब भी सम्भव हो तो जब तक एक चीज के विषय में हमारी जाच पूरी होगी उतने समय मे देश मे और सैकडो नयी चीजें तथा समस्यायें उत्पन्न हो जायेगी जिनके प्रभाव के विषय मे पुन अलग अलग जाच करना आवश्यक हो जायगा। जब एक चीज की जाँच मे ही अनेको वर्ष लग जायेंगे तो शेष चीजों की जाच कहा हो पायेगी। इसलिये समाज मे सब प्रकार की वस्तुओ व सेवाओ का कल्याण पर जो प्रभाव पडता है उसकी जाच होना असम्भव है। परन्तु चूं कि यह सामाजिक दृष्टि से एक रोचक तथा लाभप्रद विषय है, इसलिये इसकी जाच करना आवश्यक भी है। यही कारण है कि अर्थशास्त्रियो ने इस कठिनाई से बचने का कोई मार्ग खोज निकालने का प्रयत्न किया है। अत प्रो० पीगू कहते हैं कि अर्थशास्त्री अपने सामाजिक कल्याण की जाँच के क्षेत्र को वहीं तक सीमित रखते हैं, जहां तक उसको प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुद्रा-माप दण्ड द्वारा मापा जा सकता है। कल्याण के इस पक्ष को आर्थिक-कल्याण कहा जाता है। यहा यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्थिक-कल्याण तथा अनार्थिक-कल्याण के बीच इन्हे स्पष्ट रूप से पृथक् करने वाली रेखा नही खींची जा सकती। परन्तु यदि हम आर्थिक-कल्याण मे केवल उन चीजो को सम्मिलित करें जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुद्रा से होता है तथा अनार्थिक-कल्याण मे उन चीजों को सम्मिलित करे जिनका मुद्रा के साथ प्रत्यय या परोक्ष किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नही होता, तो हम आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण को स्थूल रूप से पृथक् कर सकते हैं।

परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर हमको पता चलेगा कि आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण के बीच, स्थूल रूप से भी कोई रेखा खींचना उचित नही है। इसका कारण यह है कि इस रेखा के होते हुए भी हम आर्थिक तथा अनार्थिक-कल्याण का अध्ययन, उनको एक दूसरे से अलग करके, नही कर सकते। इसका कारण यह है कि हमारा परम ध्येय मानव समाज के समस्त कल्याण का अध्ययन करना है। समस्त कल्याण मे आर्थिक तथा अनार्थिक-कल्याण दोनो सम्मिलित होते हैं। इनमे से आर्थिक कल्याण केवल आर्थिक कारणो से ही प्रभावित होता हो तथा अनार्थिक-कल्याण केवल अनार्थिक कारणो से ही प्रभावित होता हो, ऐसी कोई गारन्टी नहीं है। बहुधा ऐसा होता है कि आर्थिक कारण का प्रभाव आर्थिक-कल्याण को बढाना होता है, परन्तु अनार्थिक कारण के विपरीत प्रभाव के कारण कुल कल्याण मे कोई वृद्धि नही होती। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक-कल्याण समस्त कल्याण के लिए भार-मापक यन्त्र (Barometer) अथवा सूची (Index) के रूप मे कार्य नही करता।* प्रो० पीगू का मत है कि हमारे लिये इस बात का ज्ञान महत्वपूर्ण नही है कि आर्थिक-कल्याण द्वारा समस्त कल्याण मे किस सीमा तक वृद्धि

* *Pigou*—Economics of Welfare, P 12

होती है। हम यह नही जानना चाहते कि कल्याण कितना बडा है अथवा कितना बडा हो चुका है, हमारा उद्देश्य तो केवल यह ज्ञात करना होता है कि समाज अथवा सरकार द्वारा प्रभावित होने वाले कारणो का इसकी मात्रा पर क्या प्रभाव पडता हैं। आर्थिक-कल्याण द्वारा हमको समस्त कल्याण का बोध भले ही न हो सके, परन्तु उसके द्वारा हम यह तो अवश्य जान सकते हैं कि किसी आर्थिक कारण के फलस्वरूप कुल कल्याण मे किस दिशा म परिवर्तन हो गया। इसलिये आर्थिक-कल्याण के अध्ययन की उपयोगिता पर तो हम शका नही कर सकते। हा, इस बात पर हमको अवश्य विचार करना होगा कि किसी आर्थिक कारण का अनार्थिक-कल्याण पर तो ऐसा प्रतिकूल प्रभाव नही पडता कि उसके कारण आर्थिक-कल्याण ही समाप्त हो जाय।

हम जानते हैं कि मानव समाज न केवल उत्पादन काय करता है वरन् वह उत्पादन अपने हो, स्वय के उपभोग के लिये करता हैं। जो व्यक्ति सद्चरित्र, सुशील, शीलवान तथा कला-प्रेमी होता है वह अवश्य ही मानव कल्याण को बढाता है। इसके अतिरिक्त, वह व्यक्ति भी कल्याण को बढाता है जो जटिल औद्योगिक कार्यों मे सलग्न है अथवा नये-नये अनुसधान मे लगा हुआ है। पहले प्रकार का व्यक्ति जिस कल्याण की वृद्धि करता है उसको अनार्थिक कल्याण कहते है, परन्तु दूसरा व्यक्ति जिस कल्याण की वृद्धि करता है उसको आर्थिक कल्याण कहते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि दूसरे व्यक्ति के कार्यों के कारण पहले व्यक्ति के कार्यों द्वारा कल्याण मे की जाने वाली वृद्धि समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिये, जब इगलैंड मे औद्योगिक क्रांति हुई तब उस देश मे धन दौलत मे आशातीत वृद्धि हुई। अर्थात् आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो गई। परन्तु इसके साथ-साथ इगलैंड मे औद्योगिक बस्तियो का निर्माण हुआ, मिल मालिको द्वारा मजदूरो का शोषण बढ गया, लोग सद्गुणो को खो बैठे। दूसरे शब्दो मे अनार्थिक कल्याण समाप्त हो गया। इस प्रकार यदि हम औद्योगिक क्रान्ति के समस्त पहलुओ पर विचार करें तो हम यह विश्वास के साथ यह निर्धारित नही कर सकते कि उसके द्वारा कुल कल्याण मे कितनी वृद्धि हुई है।

आर्थिक कारणो का अनार्थिक कल्याण पर जो प्रभाव पडता है उसको जानने के लिये हम उनको दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं। पहले, अनार्थिक कल्याण पर इस बात का प्रभाव पडता है कि आय किस ढग से प्राप्त की गई है। दूसरे, इसके ऊपर इस बात का प्रभाव पडता है कि आय को किस ढग से खर्च किया जा रहा है। अब हम इन दोनो बातो पर विचार करेंगे।

आय प्राप्त करने के ढग का प्रभाव—मनुष्य के उपर उसकी परिस्थितियो का बडा प्रभाव पडता है। मनुष्य के पेशे का उसके नैतिक गुणों पर प्रभाव स्पष्ट है। मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है या नौकर के रूप मे, वह खेती

करता है या उद्योग चलाता है या और कोई काम करता है :— इन सब बातों का मनुष्य के विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के लिये श्रेयस्कर तथा उपयुक्त कार्य वही होता है जिसमें उसको अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के उपयोग तथा विकास का पूर्ण अवसर मिले। इसके विपरीत, मशीनों की देखभाल मात्र का कार्य अहितकर कार्य कहलायेगा क्योंकि इस कार्य को करते समय मनुष्य की शक्तियों का कोई उपयोग नहीं होता है। इस दृष्टिकोण मे [illegible] को अहितकर कहा जा सकता है क्योंकि इसके कारण मालिक को अपने नौकरों का शोषण करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। अत. हम देखते हैं कि आर्थिक कल्याण द्वारा समस्त कल्याण मे वृद्धि तभी हो सकती है जबकि उद्योग साधारण व्यक्तियों के हाथो मे हो तथा वे इनको स्वतन्त्र रूप मे चलायें जिससे कि उद्योग मे लगे व्यक्तियो का बटवारा शोषक तथा शोषित मे न हो।

कल्याण के ऊपर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि उद्योगो के सचालक, नियन्त्रक तथा प्रबन्धक अपने आधीन श्रमिको के साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं। एक ओर दास होते हैं जो डण्डे के ज़ोर से काम करते हैं, दूसरी ओर, भारतीय किसान के परिवार के लोग हैं जो स्वतन्त्र रूप से उत्साह से कार्य करते हैं। दासता मानव की उन्नति के सब अवसरो को बन्द कर देती है, स्वतन्त्रता उनको खोल देती है। इसलिये पहले प्रकार की प्रथा से अनार्थिक कल्याण का ह्रास तथा दूसरे प्रकार की प्रथा से उसकी वृद्धि होती है। कार्य करते समय यदि कार्य करने वालो के आपसी सम्बन्ध अच्छे होते है तो उनसे अनार्थिक कल्याण की वृद्धि होती है। उदाहरण के लिये, जहा किसी प्रतियोगितापूर्ण उद्योग मे विक्रेताओ को तथा क्रेताओ को पारस्परिक प्रतियोगिता के बीच, सब कार्य शका, विरोध तथा चालाकी पर आधारित होते हैं, वहा सहकारी उद्योगो में सारा कार्य भ्रातृभाव, प्रेम तथा सहयोग की भावना से सम्पादित होता है। इसलिए जहा सहकारी आन्दोलन द्वारा लोगो मे बहुत से गुणो का विकास होता है, वहा प्रतियोगिता उनमे बहुत से दुर्गुणो को जन्म देती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि सहकारिता द्वारा अनार्थिक कल्याण की वृद्धि तथा प्रतियोगिता द्वारा उसका ह्रास होता है।

औद्योगिक क्रांति द्वारा जहा उत्पादन मे आश्चर्यजनक उन्नति हुई वहा उसके कारण मालिको तथा मज़दूरो का आपसी सम्पर्क समाप्त हो गया जिसके कारण दोनो पक्षो मे अविश्वास तथा पारस्परिक विरोध की भावना दिनो-दिन बढ़ने लगी। स्पष्ट है कि इस आर्थिक कारण का प्रभाव अनार्थिक कल्याण मे ह्रास लाना हुआ। आजकल समझौता बोर्ड स्थापित करने तथा साझेदारी के द्वारा अथवा अन्य ढगो से मालिको तथा मजदूरो के विरोध को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके कारण यद्यपि आर्थिक कल्याण में (धनोत्पादन) में तो कोई विशेष वृद्धि नहीं होती बल्कि कभी कभी वह कम हो जाता है। परन्तु समस्त कल्याण में इससे बहुत वृद्धि होती है।

(२) आय खर्च करने के ढंग का प्रभाव—

आर्थिक कल्याण पर इस बात का भी बहुत प्रभाव पडता है कि आय किस प्रकार खर्च की गई है। कुछ आय इस ढंग से खर्च की जाती है कि उसके कारण समाज मे सुन्दर चीजो का निर्माण होता है। इसके विपरीत आय का कुछ अश इस ढग से खर्च किया जाता है कि उसके कारण समाज मे चरित्रहीनता, व्यभिचार, जुआ चोरी आदि को प्रोत्साहन मिलता है जो मनुष्य अपनी आय को मास-मदिरा पर खर्च करता है उसको भौतिक सुख की दृष्टि से उतना ही सुख प्राप्त होता है जितना किसी अन्य व्यक्ति को अपनी आय को साहित्य, कला आदि पर खर्च करने से प्राप्त हो सकता है। अभौतिक दृष्टि से पहले व्यक्ति के द्वारा खर्च किये गये धन से आर्थिक कल्याण का ह्रास होता है। परन्तु दूसरे द्वारा खर्च किये गये धन से उसकी वृद्धि होती है। इसलिए किसी देश के उत्पादन की गति को देख कर हम उस देश के लोगो का प्राप्त होने वाले समस्त कल्याण का कोई अनुमान नही लगा सकते। समस्त कल्याण का अनुमान तभी लगाया जा सकता है जबकि हमको यह ज्ञात हो कि उत्पादित आय का किस ढग से वितरण किया गया है तथा वितरित आय को किस ढग से खर्च किया गया है। आय वितरण का समस्त कल्याण पर जो प्रभाव पडता है उसकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे। यहा पर हम केवल आय खर्च करने के ढग के प्रभाव पर ही विचार करेंगे।

उत्पादन मे वृद्धि होने से स्वय ही कल्याण मे वृद्धि नहीं हो जाती। कल्याण मे तभी वृद्धि होगी जबकि उत्पादित सम्पत्ति को ठीक ढग से खर्च किया जायगा तथा धन की हर प्रकार की बर्बादी को दूर किया जायगा। कोई भी व्यक्ति अपने धन को भौतिक दृष्टि से बर्बाद नहीं करता। परन्तु बहुत से धन की बर्बादी इस अर्थ मे की जाती है कि उसको उस ढग से खर्च नहीं किया जाता कि उसमे अधिकतम कल्याण प्राप्त हो सके। इस प्रकार की बर्बादी को रोकने के लिये हमको धन खर्च करने मे भी उतनी ही सतर्कता तथा सावधानी रखनी पडेगी जितनी कि हम उसको उत्पन्न करने मे रखते हैं। उत्पादन के समान उपभोग को भी व्यवस्थित करना पडेगा। परन्तु अभी तक इस ओर अधिक ध्यान नही दिया जाता जिसका परिणाम यह होता है कि बहुत सा उत्पादन कल्याण की वृद्धि किए बिना ही समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए एक, व्यक्ति अपने व्यापार को इस प्रकार से सचालित करता है कि उससे अधिक धन की प्राप्ति होती है परन्तु वह इस बात की अधिक परवाह नही करता कि उसके बच्चे इस धन को किस प्रकार खर्च कर रहे हैं। धन की अधिकता के कारण बच्चे विलासी हो जाते हैं। बहुत सा धन केवल प्रदर्शन मे खर्च किया जाता है। मोटरकार आदि चीजों पर खर्च किए गये धन के द्वारा बहुत से पैदल चलने वाले आदमियों की जानें जाती हैं। इस प्रकार परिणामस्वरूप समस्त कल्याण बढने के बदले कम हो जाता है।

कुछ पट जाती है। किन्तु सर्वदा इन दोनों प्रकार के कल्याणों के बीच की खाई को पाटना सम्भव नहीं होता। इसके कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

सबसे पहले हम देश की सुरक्षा पर विचार करते हैं। देश की आय का एक बड़ा भाग (भारत में लगभग ५० प्रतिशत देश की सुरक्षा के लिए खर्च किया जाता है।* सेना रखने का उद्देश्य देश को विदेशी आक्रमण से, बचाना है। परन्तु यह बात अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर की है। यह बात सत्य है कि यदि देश आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होता है तो वह युद्ध में सफलता प्राप्त करने की क्षमता रखता है। परन्तु आर्थिक विश्लेषण तथा सैन्य-शक्ति में परोक्ष तथा साधारण सम्बन्ध भले ही हो, नजदीकी तथा विस्तृत सम्बन्ध नहीं है। देश की सुरक्षा के लिये धन को सेना पर खर्च करना ही पड़ता है यद्यपि इसके कारण आर्थिक कल्याण का ह्रास होता है।

दूसरे, हम देश के लिये एक आत्म-निर्भरता की नीति पर विचार करते हैं। हम सब जानते हैं कि भारत एक खेतीहर देश है। कृषि में उन्नति करना इसके लिये लाभप्रद होगा कृषि में उन्नति कर उसकी उपज से विदेशों से पक्का माल खरीदना भारत-के लिये अधिक हितकर होगा। परन्तु यह बात केवल शान्तिकाल के लिये ही ठीक हो सकती है, युद्ध काल के लिए नहीं। जिस समय युद्धकाल में विदेशों से माल आना बन्द हो जाता है उस समय उद्योगों का अभाव देश के लिये बड़ा अनिष्ट सिद्ध होता है। प्रथम महायुद्ध तक भारत में उद्योग-धन्धों का प्राय अभाव था। परन्तु युद्ध तत्कालीन विदेशी सरकार की आख खोल दी। युद्ध-काल में विदेशों से माल आना बन्द हो गया। इसी कारण सफल युद्ध संचालन के लिये भारत में उद्योग-धन्धों के विकास की आवश्यकता पड़ी। १९१६ ई० में औद्योगिक निगम की नियुक्ति की गई। इस निगम ने यह सुझाव दिया कि भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में सरकार को सहयोग प्रदान करना चाहिए। इस उदाहरण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि देश के लिये आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भरता की नीति बहुत आवश्यक है भले ही इस नीति को अपनाने से आर्थिक कल्याण में वृद्धि न होकर ह्रास आये।

तीसरे, हम देश के अन्दर ललित कला की उन्नति पर विचार करते हैं। देश में गायन कला, नृत्यकला, चित्रकला, शिल्पकला, कविता आदि ललित कलाओं के विकास से कोई आर्थिक कल्याण नहीं बढ़ता। परन्तु इन कलाओं के अभाव में

* A ten nation group of experts under U. N. said (The Statesman Cal March 12, 1962) that at present the world's arms bill was $ 120 000 million (about Rs 60 000 crores) a year—equal to between 8% and 9% of its annual output of goods and services, and at least two thirds of the entire combined national incomes of all the underdeveloped countries.

आदमी का जीवन ही नीरस हो जायेगा। इस प्रकार इन कलाओं की उन्नति आर्थिक कल्याण की दृष्टि से भले ही उचित न समझी जाय परन्तु समस्त कल्याण की दृष्टि से तो उनकी उन्नति बहुत आवश्यक है।

चौथे, यदि हम पाकिस्तान को युद्ध-सामग्री बेचें तो उससे हमको भले ही आर्थिक दृष्टि से लाभ हो परन्तु ऐसा करना देश के समस्त कल्याण की दृष्टि मे घातक सिद्ध होगा, क्योंकि जब तक दोनो देशो के बीच मौजूदा तनाव की स्थिति बनी रहती है तब तक इस बात का खतरा बराबर बना रहेगा कि भारत से खरीदी गई युद्ध सामग्री को पाकिस्तान भारत को नष्ट करने के काम मे किसी समय भी ला सकता है।

ऊपर के विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि यह आवश्यक नही है कि जो कारण आर्थिक कल्याण के पोषक हो व आवश्यक रूप से समस्त कल्याण का भी तथैव पोषण करें। कुछ क्षेत्रो मे इन दोनो प्रकार के कल्याणो मे बहुत कम अन्तर होता है, कुछ अन्य क्षेत्रो मे इन दोनो कल्याणो के बीच अन्तर बहुत अधिक होता है। परन्तु इस अन्तर के होते हुये भी, जब तक हमारे पास इस तथ्य के विपरीत कोई पक्का सबूत न हो, हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक कल्याण के ऊपर प्रभाव डालने वाला कारण अनार्थिक कल्याण पर भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालेगा। हो सकता है कि इस प्रभाव का परिणाम दोनो हालतो मे समान न हो, किन्तु दोनो हालतो मे प्रभाव की दिशा होगी एक ही। यदि किसी कारण का आर्थिक कल्याण पर अच्छा प्रभाव होता है तो साधारणत हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि उसका अनार्थिक कल्याण पर भी अच्छा प्रभाव पडेगा। कुछ लोग इस परिणाम की सत्यता पर अविश्वास प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि आर्थिक कारण का आर्थिक कल्याण पर भी सदा सीधा प्रभाव नही पडता बल्कि यह प्रभाव अनार्थिक कारणो की गति-विधि स बहुत कुछ बदल सकता है। परन्तु इस दाप के होते हुए भी आर्थिक कल्याण के अध्ययन का महत्व कम नही होता क्योंकि पश्चिमी यूरोप म जहा सभ्यता स्थिर प्राय हो गई है, आर्थिक जाच द्वारा प्राप्त किये गये नतीजे वास्तविकता के बहुत समीप होते हैं।

प्रो० मेहता ने सामाजिक कल्याण के अध्ययन के लाभो को बताते हुए कहा है कि नीति-निर्धारण करने वाले अधिकारी इसका बहुत लाभ उठा सकते हैं। यदि समाज का पुनर्गठन या तो हो चुका हो या किया जाने वाला हो तो इसका अध्ययन हमे बतलायगा कि नयी व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक कल्याण कितना बढा है या उसके कितनी मात्रा मे बढने की आशा है। यदि सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध हो तो इसका अध्ययन हमे यह बता सकता है कि आर्थिक पुनर्गठन सम्बन्धी जो विविध प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये है उनमे से कौनसा प्रस्ताव सामाजिक कल्याण को सबसे अधिक बढायेगा। यद्यपि सामाजिक कल्याण एक

मन -[*] पति है तथा इसको किसी भौतिक मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता है ता भी हम एक परिस्थिति के अन्तर्गत सामाजिक कल्याण की, किसी अन्य परिस्थिति के अन्तर्गत सामाजिक कल्याण से तुलना करके स्थूल रूप से यह बता सकते हैं कि इन दोनों में कौन अधिक श्रेयस्कर है। और नीति ? निर्धारक के लिये केवल यही इतना ज्ञान भी कुछ कम नहीं हमारे लिये जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है सीमान्त सामाजिक कल्याण का ज्ञान। हमको केवल यह बात जानने की आवश्यकता है कि सीमान्त सामाजिक कल्याण धनात्मक है या ऋणात्मक; यदि यह धनात्मक है तो नीति ठीक है, यदि यह ऋणात्मक है तो नीति को कार्यान्वित करना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में हम अपनी नीतियों को उस समय तक बदलते जायेंगे जब तक कि सीमान्त सामाजिक कल्याण शून्य नहीं हो जाता। यह सबसे अच्छी स्थिति होगी, क्योंकि इसके अन्तर्गत सामाजिक कल्याण इष्टतम होगा।**

इष्टतम सामाजिक कल्याण कब होता है ?**

हम बता चुके हैं कि सामाजिक कल्याण को मापने के लिये हमारे पास कोई भौतिक पैमाना नहीं है। परन्तु इस कठिनाई को हल करने के लिये अर्थशास्त्रियों ने कुछ सुझाव दिये हैं। इन अर्थशास्त्रियों में सबसे पहले पेरीटो (Pareto) का नाम आता है। पेरीटो के अनुसार, इष्टतम सामाजिक कल्याण की स्थिति वह होती है जहाँ कल्याण में कोई ऐसा सूक्ष्म परिवर्तन लाना भी असम्भव होता है जिसमें कि सिवाय उनके जिनका कल्याण स्थिर रहता है, सब व्यक्तियों का कल्याण बढ़ जाये।* इसका अर्थ यह है कि आर्थिक पुनर्गठन से किसी समाज के सदस्यों के कल्याण में तभी वृद्धि हुई मानी जायगी जबकि उनमें से प्रत्येक सदस्य, निरपवाद, पुनर्गठन के पश्चात् प्राप्त होने वाली वस्तुओं व सेवाओं के समूह को, पुनर्गठन के पूर्व की वस्तुओं व सेवाओं के समूह से अधिक पसन्द करता हो। इसका यह भी अर्थ है कि यदि पुनर्गठन के कारण समाज के कुछ लोगों की स्थिति तो पहले की अपेक्षा सुधर जाये परन्तु शेष लोगों की स्थिति पूर्ववत रहे तो भी कल्याण में वृद्धि हुई मानी जायगी।

पेरीटो के विचार से अधिकतम कल्याण को प्राप्त करने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त है कि समाज के कुछ लोगों की आय बढ़ जाय तथा शेष लोगों की आय पहले जितनी ही रहे। इस विचार में धन वितरण में कोई परिवर्तन नहीं माना गया है। *यदि हम धन-वितरण में भी परिवर्तन हुआ मान लें तो इस विचार से हमको*

---

* *J. K. Mehta*—Lectures on Modern Economic Theory, P 59

** यह विवेचन प्रो० जे० के० मेहता की पुस्तक 'Lectures on Modern Economic Theory' पर आधारित है।

अधिकतम कल्याण की स्थिति प्राप्त न होगी क्योंकि हो सकता है कि जिन लोगों की आय बढ़ी है उनके लिये बढ़ी हुई आय की उपयोगिता कुछ महत्व न रखती हो अर्थात् उनकी कुल उपयोगिता में उससे कोई विशेष वृद्धि न हो। इसलिए अधिकतम कल्याण का ज्ञान हमको तभी हो सकेगा जबकि हम पुनर्गठन के पश्चात देश के सब लोगों की आयों की उपयोगिता की तुलना करें।*

इस कठिनाई को दूर करने के लिये क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त (Principle of compensation) को ग्रहण करने का सुझाव दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि पुनर्गठन से कुछ लोगों का कल्याण पहले से अधिक हो जाता है, किन्तु कुछ अन्य लोगों का कल्याण पहले से कम हो जाता है, तो हमको यह देखना चाहिये कि कल्याण की हानि कल्याण के लाभ से पूरी होती है या नहीं। यदि कुल कल्याण वृद्धि कुल कल्याण ह्रास से अधिक हो तो पुनर्गठन को उन्नति का चिन्ह समझना चाहिये। इस हालत में यह कहा जा सकता है कि कल्याण पहले की अपेक्षा बढ़ गया है। यह विचार नये कल्याण अर्थशास्त्र (New Welfare Economics) से सम्बन्धित है।

इस विचार के विरुद्ध यह आलोचना की गई है कि यह विचार कल्याण में प्रत्याशित भावी वृद्धि का कल्याण की वास्तविक वृद्धि मान बैठता है। इस आलोचना के उत्तर में प्रो० काल्दोर (Kaldor) ने कल्याण वृद्धि की एक कसौटी निर्धारित है। उनका कहना है कि यदि यह सम्भव हो सके कि पुनर्गठन के पश्चात् आयों का वितरण इस ढंग से हो कि कुछ लोग पहले से अच्छी स्थिति में आ जायें तथा शेष लोग पहले से खराब स्थिति में न जाय तो इस प्रकार का पुनर्गठन आर्थिक दृष्टि से उचित तथा कल्याणवर्द्धक माना जा सकता है। हिक्स (Hicks) भी इस मत से सहमत हैं। इसलिये इसको काल्दोर हिक्स कसौटी (Kaldor Hicks Criterion) कहा जाता है।

इस विचार की दो प्रकार से आलोचना की गई है। पहली, यह कि यह कल्याण की प्रत्याशित अथवा सम्भाव्य वृद्धि का ही कल्याण की वास्तविक वृद्धि समझ लेने की भूल करता है। दूसरी आलोचना सिटोवस्की (Scitovsky) द्वारा की गई है जिसने यह सिद्ध करके दिखाया है कि यह कसौटी परस्पर विरोधी स्थितियों का निर्माण कर सकती है। सिटोवस्की ने अपने मत के समर्थन में कहा है कि यह सम्भव है कि वे लोग जो पुनर्गठन से लाभ पाने वाले हैं पुनर्गठन के पश्चात उन लोगों को क्षति-पूर्ति के रूप में कुछ धन दें जिनको कि पुनर्गठन से हानि हुई है, अथवा वे लोग जिनको पुनर्गठन के कारण हानि होने की आशंका है उन लोगों को घूस देकर

---

* Pareto said "We are led to define as a position of maximum ophelimity (welfare) one where it is impossible to make a small change of any sort such that the ophelimities of all the individuals except those that remain constant are all increased."—Ibid, Pp 59–60

पुनर्गठन के कार्य को बन्द करा दें जिनको पुनर्गठन से लाभ पहुंचने वाला है। ऐसी स्थिति में काल्डोर-हिक्स कसौटी के अनुसार पुनर्गठन में कोई लाभ न होगा। इसलिए सिटोवस्की ने काल्डोर-हिक्स कसौटी में एक संशोधन करने का प्रस्ताव रखा है। इसने कहा है कि हमको पहले तो यह देखना चाहिये कि क्या यह सम्भव है कि पुनर्गठन के पश्चात आय का इस प्रकार पुनर्वितरण किया जा सकेगा कि उससे समाज का प्रत्येक आदमी पहले से अच्छी स्थिति में आ जाय। दूसरे, हमको यह भी देखना चाहिये कि क्या यह सम्भव है कि बिना पुनर्गठन किए आयों का इस प्रकार पुनर्वितरण किया जा सके कि नई स्थिति में आकर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको पहले से अधिक अच्छी स्थिति में पा सके। दूसरे शब्दों में, सिटोवस्की चाहता है कि हमको आयों के पुनर्वितरण की सम्भावना पुनर्गठन से पूर्व तथा उसके पश्चात् दोनों हालतों में देखनी चाहिये। यदि पुनर्गठन के पश्चात् किये गये आय के पुनर्वितरण के फलस्वरूप सब आदमी पुनर्गठन के पूर्व की स्थिति से अच्छी स्थिति में आ जाते हैं तो हम कह सकते हैं कि पुनर्गठन से सामाजिक कल्याण की वृद्धि हुई है। ब्रेमुके (I[illegible]brooke) ने भी कहा है कि काल्डोर-हिक्स कसौटी का दोष यह है कि एक हालत में पुनर्वितरण के पश्चात् की स्थिति को देखती है तथा दूसरी हालत में पुनर्वितरण से पूर्व की स्थिति को देखती है तथा इन दोनों स्थितियों की तुलना करती है। अन्य कुछ विद्वानों ने भी काल्डोर-हिक्स कसौटी की आलोचना की है।

प्रो० हिक्स ने कल्याण की इष्टतम स्थिति में पहुंचने की विधि बताई है। उन्होंने कल्याण को अधिकतम करने के लिये सात शर्तें दी हैं, जिनका सार यह है कि यदि किसी अर्थ-व्यवस्था में हम किसी कल्याण को, दूसरे व्यक्ति के कल्याण को बिना घटाए (अ) उत्पादकों द्वारा साधनों के प्रयोग अथवा वस्तुओं के उत्पादन में सूक्ष्म परिवर्तन करके, अथवा (ब) उपभोक्ताओं द्वारा वस्तुओं व सेवाओं के प्रयोग में सूक्ष्म परिवर्तन करके अथवा (स) भविष्य की अपेक्षा वर्तमान में वस्तुओं अथवा साधनों के प्रयोग में सूक्ष्म परिवर्तन करके, न बढ़ा सकें तो कल्याण अधिकतम कहा जायगा।

प्रो० बर्गसन (Bergson) तथा प्रो० सेम्यूल्सन (Samuelson) ने कहा है कि कल्याण के अधिकतम होने के लिये उपर्युक्त उत्पादन तथा विनिमय सम्बन्धी शर्तों का पूरा होना ही पर्याप्त नहीं, कल्याण धन वितरण के ढांचे पर भी निर्भर होता है। इसलिये हमको उन सब बातों का ज्ञान होना चाहिये जिनके ऊपर कल्याण आधारित हुआ माना जाता है। प्रो० मेहता इस विचार की आलोचना करते हुये कहते हैं कि इन सब बातों को कौन निश्चित करेगा ?

कुछ लोगों का मत है कि कल्याण की समस्या को हल करने के लिये चार दृष्टिकोण हैं। ये हैं—क्लासिकल, पीगू का, पेरीटो का तथा केन्ज का।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि सामाजिक कल्याण धन पर निर्भर होता है, धन संचयन तथा उत्पादन-वृद्धि द्वारा उसमें वृद्धि लाई जा सकती है।

इस लिये कल्याण को बढ़ाने के लिये वर्तमान साधनों को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि समाज में अधिकतम मात्रा में धन की वृद्धि हो।

पीगू तथा उसके अनुयायी नव-क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का मत है कि कल्याण, वर्तमान साधनों को उपभोग तथा उत्पादन के बीच ठीक तथा समुचित ढंग से बाटने पर निर्भर होता है।

पेरीटो की विचारधारा हिक्स और काल्डोर की विचार-पद्धति में पाई जाती है। इस विचारधारा के अनुसार, तटस्थ वक्रों की सहायता से यह बात दिखाई जा सकती है कि कल्याण कब अधिक होगा; तदर्थ वितरण पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, तथा कल्याण को तभी बढ़ा हुआ मानना चाहिये जबकि पुनर्गठन के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को पहले से अच्छी स्थिति में लाया जा सके। यह विचारधारा इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देती कि वह वास्तव में पहले से अच्छी स्थिति में आता है या नहीं।

केन्ज के अनुसार अधिकतम कल्याण की स्थिति को लाने के लिये समाज के समस्त ससाधनों का पूर्ण उपयोगीकरण आवश्यक है।

आजकल लोगों का विचार है कि कल्याण को बढ़ाने के लिये न केवल इस बात की आवश्यकता है कि आर्थिक क्षेत्र में प्रगति हो वरन् इस बात की भी आवश्यकता है कि समाज के समस्त ससाधनों का विभिन्न उपयोगों में समुचित वितरण किया जाय तथा धन का वितरण भी समाज में ठीक प्रकार से हो। क्लासिकल तथा आधुनिक विचारधारा में केवल यह अन्तर है कि जहां क्लासिकल विचारधारा धन अथवा सामाजिक उत्पादन का विचार एक सामूहिक दृष्टिकोण से करती थी वहां आधुनिक विचारधारा इस धन को व्यक्तियों के बीच विभाजन के प्रश्न पर भी ध्यान देती है। जिस धन के विभाजन पर यह विचारधारा ध्यान देती है वह न केवल उपभोग के लिये है वरन् उत्पादन के लिये भी है, न केवल वर्तमान के लिये वरन् भविष्य के लिये भी है। क्लासिकल तथा आधुनिक विचारधारा में भिन्नता का कारण यह है कि क्लासिकल विचारधारा के अनुसार तो धन तथा कल्याण में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है तथा धन के बढ़ने से कल्याण स्वयं ही बढ़ जाता है। लेकिन आधुनिक विचारधारा धन और कल्याण के इस प्रत्यक्ष सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करती, वह धन वितरण तथा उसके उचित उपभोग की ओर भी ध्यान देती है। वास्तव में बात यह है कि समाज में धन की वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि उत्पादित धन केवल कुछ ही लोगों के हाथों में जा सकता है जिसके फलस्वरूप उन्हीं लोगों को इस वृद्धि से लाभ होगा, अन्य लोगों को इससे कोई लाभ न होगा। इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि उत्पादित धन को समाज में इस प्रकार वितरित किया जाय कि उससे समाज के प्रत्येक सदस्य के कल्याण में वृद्धि हो।

पूंजीवादी समाज मे वस्तुओ के भावो को ऊँचा रखने के लिये कभी-कभी बहुत सा उत्पादन नष्ट कर दिया जाता है। किन्तु इस बात को नियम न मान, हम इसे नियम के अपवाद स्वरूप मान सकते हैं। समाजवादी राष्ट्रो मे तो ऐसा हो ही नही सकता। इसलिये हम कह सकते हैं कि देश मे जितना अधिक उत्पादन होगा उतना ही अधिक उसके द्वारा भौतिक कल्याण बढेगा। इसलिये प्रो० पीगू ने कहा है कि किसी देश का आर्थिक कल्याण उस देश के राष्ट्रीय लाभाश की मात्रा से बहुत अधिक सम्बन्ध रखता है। परन्तु प्रो० पीगू ने इसके लिये एक शर्त रखी है। उनका मत है कि अधिक उत्पादन से कल्याण तभी बढेगा जबकि गरीबो को प्राप्त होने वाले राष्ट्रीय लाभाश मे कमी न आने पाये। न कोई अन्य कारण ही लाभाश को कम करता हो। अन्तिम शर्त की पूर्ति इसलिये आवश्यक है कि बहुधा ऐसा होता है कि कुल राष्ट्रीय लाभाश भी बढ जाता है तथा गरीबो का लाभाश भी कम नही होता, फिर भी किसी कारण विशेष के फलस्वरूप कुल कल्याण मे कमी आ जाती है।

यदि राष्ट्रीय लाभाश बढने पर लोगो की रुचि मे परिवर्तन हो जाता है तथा नई रुचि पहले की अपेक्षा अधिक तुष्टि प्रदान करती है, तो यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय लाभाश बढने के कारण कल्याण भी बढ गया। परन्तु यदि राष्ट्रीय लाभाश अधिक परिश्रम के फलस्वरूप बढा है तो इससे कल्याण बढने के स्थान पर घट भी सकता है। किन्तु जो कार्य नये-नये अनुसन्धानो को करने, मालिको-मजदूरो के झगडो को तय करने, मजदूरी के ऐसे ढगो से नियोजित करने के लिये किये जाते हैं जिनसे कि अतिरिक्त कार्य के लिये अतिरिक्त मजदूरी मिलती है, तो ऐसा अधिक कार्य करने से यद्यपि राष्ट्रीय लाभाश के ऊपर कोई प्रतिकूल प्रभाव भले ही न पडे किन्तु कुल कल्याण मे वृद्धि की आशा की जा सकती है। इसके विपरीत, यदि अतिरिक्त कार्य मजदूरो के काम करने के घन्टो को बढा कर सम्पादित किया जाता है तो उसका राष्ट्रीय लाभाश पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पडता है। भले ही आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हुई हो। परन्तु आजकल के युग मे मजदूर-सघो के प्रभाव तथा सरकारी हस्तक्षेप के कारण काम करने के घन्टे बढाना सरल काम नही है। इसलिये राष्ट्रीय लाभाश के बढने को हम कुछ न कुछ अशो मे आर्थिक कल्याण की वृद्धि का द्योतक मान सकते हैं।

परन्तु राष्ट्रीय लाभाश के बढने पर कल्याण मे तभी वृद्धि हो सकती है जबकि उत्पादित वस्तुओं व सेवाओ का समुचित वितरण हो। कठिनाई यह है कि आजकल की अनियन्त्रित पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे धन-वितरण की असमानता को कार्य करने का एक प्रोत्साहन माना जाता है। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या कार्य करने का प्रोत्साहन मिलने से ही समाज का अधिकतम कल्याण हो जाता है? यह बात सत्य है कि इसके कारण आदमी इसलिये अधिक कार्य करता है कि जो कुछ भी लाभ उसके कार्य के फलस्वरूप होगा वह सबका सब उसको प्राप्त होगा।

परन्तु इसके विपरीत यह भी बात सत्य है कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में विनापन आदि के रूप में बनी बरबादी होती है। कितनी ऐसी चीजों का उत्पादन होता है जो समाज के लिए हानिकारक होती हैं। मजदूरों का शोषण किया जाता है। उपभोक्ताओं के हितों की कोई परवाह नहीं की जाती। अधिक उत्पादन होने पर भी चीजें सस्ती नहीं बेची जाती। कीमत गिरने के भय से चीजों को नष्ट कर दिया जाता है। प्रतियोगिता को कम करने के लिए बड़े बड़े गुट बनाकर विक्रयाधिकार स्थापित किए जाते है। विक्रयाधिकार स्थापित होने पर उपभोक्ताओं का पूर्ण रूप से शोषण किया जाता है। हेनरी क्ले ने ठीक ही कहा है कि भौतिक स्व हित को उद्योग की चालक शक्ति मान कर समाज धन के पीछे बुरी तरह हाथ धोकर पड़ने की भावना को प्रोत्साहन देता है। यह उस व्यक्ति (अथवा वर्ग) को कष्ट पहुंचाता है जो धन-पाने की अधिक परवाह नहीं करता तथा यह उन लोगों के नियन्त्रण में धन को रख देता है जो लालची परन्तु सन्देह से मुक्त होते हैं।*

ऐसी स्थिति में कौन व्यक्ति अनियंत्रित अर्थव्यवस्था तथा धन के असमान वितरण को समाज के लिए हितकर समझेगा? वास्तव में बात यह है कि असमान वितरण के कारण हम बाजार मूल्यों के द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से प्राप्त तुष्टि का अनुमान लगा ही नहीं सकते। किन्तु स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अन्तर्गत बाजार-मूल्य ही समाज की आवश्यकताओं का द्योतक है तथा इसी का प्रयोग उत्पादकों द्वारा किया जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता जो कि बाजार-मूल्यों के यन्त्र का काम में लाती है, एक ऐसा स्वयं कार्य करने वाला यन्त्र है जिसके कारण कि उत्पादन शक्ति को अनुचित ढंग से उत्पादन कार्य में लगाया जाता है। इसके फलस्वरूप कम से कम प्रयत्न करके अधिक से अधिक तुष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती। इसलिए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कोई भी ऐसी वस्तु, जो कि धन वैषम्य को दूर करने की चेष्टा करती है, बाजार-मूल्य के इस यन्त्र की जिसके अनुसार कि उत्पादन कार्य चलता है स्वच्छन्दता को कम करेगी तथा आवश्यकताओं की तुष्टि हेतु उत्पादन-शक्ति को अधिक लाभप्रद प्रयोगों में लगाने में सहायक होती है। कर उत्तराधिकार के नियम आदि जो कि धन वितरण के वैषम्य को दूर करने में सहायक होते हैं यद्यपि धन की वृद्धि बाधक बन सकते हैं तो भी धन द्वारा प्रदान की जाने वाली तुष्टि को बढ़ाते हैं और इस प्रकार कल्याण को बढ़ाते हैं। करों आदि की आय को सरकार शिक्षा चिकित्सा स्वास्थ्य, सुरक्षा बुढ़ापे की पेंशन आदि सामाजिक कल्याण के कामों पर खर्च करती है। इसके कारण देश के गरीबों का कल्याण बहुत अधिक बढ़ता है परन्तु अमीर आदमियों के कल्याण में इतना ह्रास नहीं होता जितनी कि गरीब आदमियों के कल्याण में वृद्धि होती है। इसलिए सम्पूर्ण समाज के दृष्टिकोण से करों से प्राप्त

* Economics—*Henry Clay* P 411

है कि भायो को अमीरो से गरीबो को हस्तान्तरित करने से गरीब उस धन का दुरूपयोग करने लगें। परन्तु इस प्रकार का भय प्रारम्भ मे भले ही हो। एक बार जहा गरीब आदमी नये जीवन-स्तर के अनुसार अपना जीवन बिताने लगे तो फिर वे सब प्रकार की बर्बादी को रोकने का प्रयत्न करेंगे। यदि आयो की वृद्धि धीरे-धीरे होती है तो प्रारम्भिक अवस्था मे भी धन के दुरुपयोग की सम्भावना समाप्त हो जायेगी। यदि आय मे कीमतो के गिरने के कारण वृद्धि होती है तो धन के दुरूपयोग का बिल्कुल भी भय नही रहता।

जिस समाज मे धन कम परन्तु समान रूप से बटा हुआ होता है उसमें थोडी सी आय से भी समान तुष्टि प्राप्त की जाती है। डेनमार्क मे इंगलैंड की अपेक्षा कम धन है, परन्तु धन-वितरण की समानता के कारण डेनमार्क के लोगो का कल्याण इगलैंड के लोगो से कम नही है। इसलिये धन द्वारा प्रदान की गई प्रसन्नता न केवल उसकी मात्रा पर निर्भर होती है वरन् वह धन वितरण की समानता पर भी आधारित होती है। वास्तव मे देखा, जाय तो पता चलेगा कि वर्तमान युग मे लोग इसलिये दु खी नही हैं कि उनके पास पहले की अपेक्षा कम धन है—उसके पास पहले से अधिक धन है—वरन् वे वितरण की असमानता के कारण दु खी है।

धन के असमान वितरण का एक और भी दोष है कि यह अत्याचार उस समय और भी बढ जाता है जब उत्पादन के साधन अमीर लोगो के हाथो मे केन्द्रित हो जाते हैं तथा मजदूर लोग अपनी जीविका चलाने के लिये उन पर आश्रित होने पर विवश हो जाते हैं। मजदूरो को इस शोषण से बचाने के लिये वितरण को समान करना आवश्यक है अन्यथा राष्ट्रीय-कल्याण इष्टतम अवस्था पर नहीं पहुच सकता।

धन वितरण के सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इसको न केवल वर्तमान आवश्यकताओ की दृष्टि से समान करना चाहिये वरन् वर्तमान तथा भविष्य, दोनो की आवश्यकताओ की दृष्टि से भी समान किया जाना चाहिए। ऐसा होने से राष्ट्र को बहुत समय तक कल्याण की प्राप्ति होती रहेगी। इसके ऊपर ध्यान न देने से केवल वर्तमान मे ही अधिक कल्याण प्राप्त होगा, भविष्य मे कल्याण मे ह्रास आता जायगा। इसलिये सरकार को चाहिए कि वह लोगो को भविष्य के लिए बचा कर रखने के लिए प्रोत्साहित करती रहे तथा इस बचत को नये नये उद्योगो मे लगाने का नियोजन करे। जिन उद्योगो को निजी पू जी उपलब्ध न होती हो उनमे सरकार अपनी पू जी लगाये। ऐसा करने से वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओ की तुष्टि समान स्तर पर हो सकेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कल्याण' शब्द की परिभाषा करना बहुत कठिन है। यह व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न अर्थ रखता है। कुछ लोग भौतिक पदार्थों के भोग को कल्याण का सूचक मानते हैं, कुछ उनके त्याग को। ऐसी स्थिति मे समाज

कठिन दिखाई पड़ता है, परन्तु हमारे विचार में यह इतना कठिन नहीं। देखा जाता है कि अधिक सिगरेट व शराब पीने वाले किसी घटना के घटने पर उसका सर्वदा त्याग कर देते हैं। यदि व्यसन की चीजों का त्याग आसानी से हो सकता है तो अन्य चीजों का क्यों नहीं हो सकता? पर वास्तविकता यह है कि हम इस ओर कभी भूल से विचार ही नहीं करते और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण हमारी यह धारणा सी हो चली है कि भोग-विलासों में ही वास्तविक सुख है। यद्यपि यह बात नैतिकता से सम्बन्ध रखती है तथापि इसका एक बहुत बड़ा आर्थिक पहलू भी है। भोग-विलासों से रुचि हटने पर संसार में कोई किसी का शोषण न करेगा। इसलिए श्रमिकों को उचित मजदूरी मिलेगी। उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर माल मिलेगा। ऐसी स्थिति में उत्पादक विक्रयाधिकार स्थापित करने का विचार न करेंगे। इस प्रकार, न केवल भौतिक कल्याण की वृद्धि होगी, बल्कि समस्त कल्याण का विकास होगा।

सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त*

(Marginal Productivity Theory)

अभी तक हमने बताया है कि राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय क्या होती है तथा उसको किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि प्राप्त की गई राष्ट्रीय आय किस प्रकार उत्पादन के साधनों में, जिनके परिश्रम तथा सहयोग द्वारा यह प्राप्त की जाती है, बांटी जाती है। राष्ट्रीय आय में से उत्पादन के किसी एक साधन का बिल्कुल ठीक-ठीक अलग हिस्सा निकालना तो असम्भवप्राय है क्योंकि जब उत्पादन के साधनों को सामूहिक रूप से उत्पादन क्रिया में लगाया जाता है तो इस बात का ठीक पता नहीं चल पाता कि किसी साधन द्वारा उत्पादन में कितनी वृद्धि हो रही है। परन्तु फिर भी अर्थशास्त्रियों ने इसको निकालने का एक स्थूल (crude) ढंग बताया है, और वह ढंग है सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त। इस विचार का उद्भव रिकार्डो के समय से हुआ माना जा सकता है। परन्तु वितरण के एक साधारण सिद्धान्त के रूप में यह बहुत पीछे आया। वितरण के एक साधारण सिद्धान्त के रूप में इसको उन्नत करने का श्रेय विकस्टीड (Wicksteed), वालरस (Walras) तथा क्लार्क (Clark) को दिया जा सकता है। यद्यपि इन तीनों ने अपने अपने विचार स्वतन्त्र रूप से, बिना एक दूसरे के विचार जाने, प्रस्तुत किया, तो भी इनके विचारों में बहुत साम्य है। विकस्टीड ने जिसको साधन की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal efficiency of a factor) कहा है उसी को क्लार्क ने सीमान्त उत्पादनीयता कह कर पुकारा है। उस समय से आज तक इस सिद्धान्त को प्रायः सभी अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया

* पीछे अध्याय ८, विशेषतया पृष्ठ २४६—२५२ भी देखिये।

है। यद्यपि हाल ही में हिक्स, जान रॉबिन्सन्स ने सीमान्त उत्पादनीयता तथा सीमान्त भौतिक उत्पादनीयता में भेद करके इस सिद्धान्त को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है।

सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त को समझने के लिये हमको इस बात पर विचार करना पड़ेगा कि कोई उत्पादक किसी साधन की माग क्यों करता है। साधन की माग इसलिये नही की जाती कि उससे सीधे किसी उपभोक्ता की आवश्यकता की पूर्ति होती है। यह इसलिये की जाती है कि उससे वह वस्तु बनाई जाती है जिसकी, उपभोक्ता, अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये, माँग करते हैं। इस प्रकार साधन की माग उद्भूत माग (Derived demand) होती है। अर्थात् अन्य तैयार वस्तुओं की माग के फलस्वरूप साधन की माग की जाती है। साधन की उद्भूत माग होने के कारण अभियाचित वस्तु-उत्पादन के लिये आवश्यक अन्य ससाधनो की पूर्ति का भी इसके ऊपर काफी प्रभाव पडता है। विचाराधीन उपभोग्य वस्तु को बनाने के लिये अन्य ससाधनों की पूर्ति इस बात पर निर्भर होगी कि ये ससाधन किन-किन चीजों के उत्पादन के काम मे आते हैं तथा इनकी उन चीजों के उत्पादन के लिये कितनी माग की जाती है। इस प्रकार किसी साधन की माग पर प्रभाव डालने वाले तत्वों का इतना बाहुल्य है कि उनकी छान-बीन करना बड़ा कठिन है। इसलिये विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से हमको वस्तुओं में इन आपसी सम्बन्धो को नजरन्दाज करना पड़ेगा तथा हम यह उपधारणा करके चलेंगे कि विचाराधीन साधन की माग पर दूसरी चीजो की पूर्ति का कोई प्रभाव नही पड़ता। इसके अतिरिक्त, हमको कुछ अन्य उपधारणायें भी करनी पड़ेंगी। पहली उपधारणा यह होगी कि साधन का बाजार पूर्ण प्रतियोगी है अर्थात् बाजार मे साधन के इतने अधिक क्रेता व विक्रेता हैं कि उनमे से कोई भी अपनी क्रिया द्वारा साधन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। इसके साथ-साथ हमको यह भी उपधारणा करनी पड़ेगी कि वह वस्तु जिसके उत्पादन मे यह साधन प्रयुक्त होता है पूर्ण प्रतियोगी बाजार में बिक रही है। दूसरी उपधारणा यह होगी कि साधन की प्रत्येक इकाई समाकृत (Homogenous) है अर्थात् उसकी किसी भी इकाई को काम में लाने पर उत्पादन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा—आकार, गुण तथा धर्म मे उसकी प्रत्येक इकाई परस्पर समान है। उत्पादन के कार्य मे कोई भी इकाई काम मे लाई जाय, उत्पादन मात्रा तथा गुण सर्वदा समान होगा। इस सम्बन्ध में तीसरी उपधारणा हमको यह करनी पड़ेगी कि एक साधन का किसी अन्य साधन से स्थानापन्नता सम्भव है, अर्थात् यदि उत्पादक यह देखता है कि विचाराधीन साधन को उत्पादन कार्य में लगाने से उसे लाभ होगा तो वह उसका प्रयोग करता है, यदि वह इस साधन के स्थान पर अन्य किसी साधन के प्रयोग से अधिक लाभ उठाने की आशा करता है तो विचाराधीन साधन के स्थान पर वह इस 'अन्य' साधन का प्रयोग कर सकता है।

हो सकता है जिससे कि वे उधार लेकर खेतो पर जितनी पूजी चाहें लगा सकें।

इन सब उपधारणाओ के अन्तर्गत यदि किसान खेतो पर अधिकाधिक पूजी लगाते जायेंगे तो उनको पूजी मे प्रत्येक वृद्धि के साथ पहले से कम उपज प्राप्त होगी। क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम का यह कथन यद्यपि यह कहने के समान ही है कि यदि कोई किसान कृषि उत्पादन की विभिन्न योजनाओ मे अपने साधनो का दुरुपयोग करता है तो उसको व्यय के उन मदो से कम उत्पादन प्राप्त होगा जिन पर कि आवश्यकता से अधिक धन लगाया गया है। इन दोनो कथनो मे भिन्नता है। पहले कथन मे, क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम साधनो के दुरुपयोग का परिणाम नही होता, यह इस लिये होता है कि बढती हुई जनसख्या को खिलाने के लिये जीवन-निर्वाह के साधनो की माग बढ जाती है। दूसरी दशा मे, यह साधनो का उत्पादन कार्य मे उचित अनुपात मे न लगाने के कारण होता है। राष्ट्रीय आय मे से जब हम किसी साधन का हिस्सा निकालते हैं तब क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम का प्रयोग इसी द्वितीय अर्थ मे किया जाता है। इसका कारण यह है कि इस हालत मे हम अन्य साधनो को स्थिर रखकर केवल एक साधन को ही बढाते हैं तो उससे साधनो का अनुपात उचित नही रह जाता जिसके कारण क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है। प्रारम्भ मे कुछ समय तक तो साधन की उत्तरोत्तर इकाइयो की वृद्धि मे प्राप्त होने वाली उपज-वृद्धि का मूल्य इन इकाइयों के पूर्ति-मूल्य से अधिक होता है। परन्तु अन्त मे एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जबकि साधन की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली वास्तविक उपज का मूल्य उस इकाई की कीमत के बराबर हो जाता है। यह इकाई सीमान्त इकाई कहलाती है तथा इससे प्राप्त उपज-वृद्धि सीमान्त उपज। सीमान्त उपज की बाजारू कीमत साधन की सीमान्त इकाई की लागत के बराबर होगी। इसलिये इस इकाई को उत्पादन कार्य मे लगाने से न तो उत्पादक को कोई लाभ होता है और न हानि। इसी कारण वह इस इकाई को उत्पादन कार्य मे लगाने की ओर से उदासीन होता है। यदि साधन का स्वामी सीमान्त इकाई की उससे अधिक कीमत लेने का प्रयत्न करेगा जितनी कि उस इकाई से कुल उत्पादन मे वृद्धि होती है तो उत्पादक उस इकाई को न खरीदेगा। इसके विपरीत, यदि इस सीमान्त इकाई की बाजारू कीमत उसके वास्तविक उपज के मूल्य से कम होगी तो उत्पादकों की आपसी प्रतियोगिता के कारण उसकी बाजारू कीमत बढ जायेगी। इस प्रकार किसी समय विशेष पर सीमान्त इकाई की वास्तविक उपज का मूल्य ही उस इकाई की बाजारू कीमत निर्धारित करेगा। हम पहले उपधारणा कर चुके हैं कि साधन की सब इकाइयां समावयव हैं, और बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पाई जाती है तथा उनकी मात्रा को उत्पादन क्रिया मे आवश्यकतानुसार कम या अधिक किया जा सकता है इसलिये साधन की प्रत्येक इकाई का मूल्य इसी सीमान्त इकाई के मूल्य

अभी तक हम यह उपधारणा करके चले है कि उत्पादन के सब साधनो मे केवल एक साधन को ही घटाया बढाया जाता है तथा दूसरे साधनों मे कोई हेर-फेर नही किया जाता । परन्तु यदि उत्पादन के दो साधनों, श्रम तथा पूजी, मे वृद्धि की जाये तो हमारे सामने यह प्रश्न आयगा कि प्रत्येक साधन के हिस्से को किस प्रकार निश्चित किया जाय । ऐसी स्थिति मे श्रम व पूजी की मात्रा मे वृद्धि करने पर कुल उत्पादन के मूल्य मे जितनी वृद्धि होगी वह निम्नलिखित दो ढगो से दिखाई जा सकती है—

(१) उत्पादन के मूल्य मे वृद्धि = (श्रम की सीमान्त वास्तविक उत्पादनीयता) × (श्रम की मात्रा मे वृद्धि) + (पूजी की लागत मे वृद्धि) तथा

(२) उत्पादन के मूल्य मे वृद्धि = (श्रम की सीमान्त उत्पादनीयता) × (श्रम की मात्रा मे वृद्धि) (पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता) × (पूजी मे वृद्धि)

चूकि पूजी की सीमान्त उत्पादनीयता उसकी लागत के बराबर होती है इस लिये पूजी की सीमान्त उत्पादनीयता को पूजी मे की गई वृद्धि से गुणा करने से हमको पूजी की लागत मे हुई वृद्धि का पता चल जायेगा । दूसरे शब्दो मे, पूजी को उत्पादन कार्य मे लगाने पर जो अतिरिक्त उपज मिलती है उसका मूल्य अतिरिक्त पूजी की लागत के बराबर होता है । इसलिये उपर्युक्त समीकरणो मे श्रम की सीमान्त वास्तविक उत्पादनीयता श्रम की सीमान्त उत्पादनीयता के बराबर दिखाई गई है ।

उत्पादन कार्य करते समय प्रत्येक उत्पादक का यह प्रयत्न रहता है कि वह प्रत्येक साधन का अच्छे से अच्छा उपयोग करके अधिक से अधिक उपज प्राप्त करे । इसलिये चतुर व्यापारी उत्पादन कार्य मे साधनो का एक ऐसा संयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करता है कि उसमे उसको अधिकतम उपज प्राप्त हो । अधिकतम उपज तभी प्राप्त हो सकती है जब कि साधनो को ठीक उस अनुपात मे लगाया जाये जिसमे कि उनको लगाया जाना चाहिये । यदि कोई भी साधन उचित अनुपात मे कम या अधिक अनुपात मे लगा होगा तो साधनो का अनुचित अनुपात होने के कारण उत्पादन ह्रास नियम लागू होना आरम्भ हो जायेगा । परन्तु साधनो का उचित अनुपात जानने की कोई कसौटी व्यापारी के पास नही होती । इसलिये वह साधनों के सर्वोत्तम सयोग को प्राप्त करने के लिये स्थानापन्न सिद्धान्त का काम मे लाता है अर्थात वह अनुभव के आधार पर यह निश्चित करने का प्रयत्न करता है कि अधिक श्रम लगाने से उपज मिलेगी या अधिक पूजी लगाने से । यदि वह देखता है कि अधिक पूजी लगाना लाभप्रद होगा तो वह श्रम के स्थान पर अधिक पूजी लगायगा, श्रम नही । इस के विपरीत, यदि वह देखता है कि अधिक श्रम लगाने से उसको अधिक उपज मिलेगी तो वह श्रम की मात्रा को बढायेगा । इस प्रकार स्थानापन्न सिद्धान्त को काम मे लाते हुये उत्पादक प्रत्येक साधन को उस सीमा तक लगायेगा

जिस तक कि साधन की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उपज का मूल्य उस इकाई की लागत के बराबर नहीं हो जाता। इस प्रकार उत्पादन में सब साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग तब होगा जब कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादनीयता उसकी लागत के बराबर होगी। ऐसी स्थिति में विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादनीयताओं का एक दूसरे से वही अनुपात होगा जो कि इन साधनों की लागतों का एक दूसरे से होगा। *ऐसी स्थिति में मुद्रा की एक इकाई की सीमान्त उत्पादनीयता प्रत्येक साधन के लिये* समान होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा की इकाई का एक साधन से हटाकर दूसरे साधन पर लगाने से कोई लाभ न होगा। इसलिए उत्पादक, उत्पादन क्रिया से तभी अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है जब कि वह साधनों को सीमान्त उत्पादनीयता की सीमा तक लगाये।*

आलोचनायें—

सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

(१) टाजिग, डेवनपार्ट आदि अर्थशास्त्रियों का मत है कि चूंकि उत्पादित वस्तु, भूमि, श्रम, पूंजी आदि उत्पादन के साधनों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा उत्पन्न की जाती है इसलिये किसी एक साधन का उस में से हिस्सा निकालना असम्भव है। परन्तु यह आलोचना ठीक नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक साधन की सीमान्त उत्पादनीयता इतनी है तो उस समय हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि वस्तु की इतनी मात्रा केवल उस साधन द्वारा उत्पन्न की गई है। उत्पादन कार्य में दूसरे साधनों का सहयोग तो अवश्य होगा परन्तु चूंकि किसी साधन की सीमान्त उत्पादनीयता को निकालते समय हम केवल उसी साधन की इकाई का बढ़ाते या घटाते हैं तथा दूसरे साधनों की मात्रा को पूर्ववत् रखते हैं इसलिये हमारी लागत में जो वृद्धि या कमी होगी वह उस साधन की एक इकाई की लागत के बराबर होगी जिसकी सीमान्त उत्पादनीयता का हम मालूम करना चाहते हैं। ऐसी दशा में यदि हम यह कहें कि अमुक साधन की एक इकाई का बढ़ाने या घटाने से उत्पादन में जो वृद्धि या कमी हुई है वह उस इकाई को बढ़ाने या घटाने के कारण हुई है तो यह कोई गलत बात न होगी। वास्तव में, किसी साधन की सीमान्त उत्पादनीयता को मालूम करने का केवल यही ढंग हो सकता है।

(२) बीजर, हॉब्सन आदि के अनुसार सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त द्वारा हम किसी साधन की सेवा को नहीं माप सकते। उनका कहना है कि जब किसी साधन की एक इकाई उत्पादन कार्य में निकाल ली जाती है तो *उसके कारण* उत्पादन क्रिया में बड़ी उथल-पुथल पैदा हो जाती है तथा अन्य साधनों की उत्पादन शक्ति भी कम हो जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सीमान्त इकाई का

---

* पीछे पृष्ठ २५० आदि देखिये।

कम करने से कुल उत्पादन में जो कमी होती है वह उससे बहुत अधिक होती है, जो कि उस अकेली इकाई को कम करने के कारण होनी चाहिये थी।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि हम विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादनीयता को निकालें तथा उन सब को जोड़ दें तो योग वास्तविक उत्पादन से अधिक होगा। इसलिए इस सिद्धान्त को व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह आलोचना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आलोचक व्यवसाय के आकार को बहुत छोटा मानकर चले हैं तथा साधन की जो इकाई वे निकालना चाहते हैं उसको उन्होंने अपेक्षतया बहुत बड़ा माना है। परन्तु अधिकांश उद्योग बहुत बड़े होते हैं और उनमें साधनों की इकाइयां इतनी छोटी होती हैं कि एक इकाई कम करने से उत्पादन क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ध्यान रहे कि हम साधन की इकाई का बहुत छोटा होना मानकर चल हैं।

(३) इस सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचना के विरुद्ध भी आलोचना की गई है। आलोचकों का कहना है कि सब साधनों की सीमान्त वास्तविक उपज का योग कुल उत्पादन से कम होगा जिसके कारण बचत होगी। परन्तु विक्स्टीड ने इस आलोचना के उत्तर में कहा है कि साधनों की वृद्धि से वृद्धि के अनुपात में वस्तु उत्पादन बढ़ेगा। किन्तु विक्स्टीड के इस उत्तर को तभी ठीक माना जा सकता है, जबकि उत्पादन क्रमगत उत्पादन समानता नियम के अन्तर्गत हो रहा हो। हम जानते हैं कि उत्पादन न केवल क्रमगत उत्पादन समानता नियम के अन्तर्गत होता है वरन् क्रमगत उत्पादन ह्रास व वृद्धि नियमों के अन्तर्गत भी होता है। इसलिए विक्स्टीड का उत्तर दोषपूर्ण कहा जा सकता है।

(४) जॉन राबिन्सन, हिक्स आदि का मत है कि बड़े पैमाने के उद्योगों में साधन की एक इकाई का सीमान्त उत्पादन समस्त उद्योग की अपेक्षा एक फर्म विशेष के लिए कम होगा, क्योंकि किसी फर्म द्वारा साधन का उपयोग करने से अन्य फर्मों की कार्य-कुशलता में वृद्धि हो जाती है।* ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन होगा कि कौन से फर्म की सीमान्त उत्पादनीयता को आधार मानकर साधन की राष्ट्रीय आय में योगदान की मात्रा निकाली जाये। इस शंका के उत्तर में हम कह सकते हैं कि मार्शल द्वारा बताये गये प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त उत्पादनीयता से काम लिया जा सकता है।

(५) कुछ लोगों ने यह आलोचना भी की है कि व्यवसाय के गुण तथा उत्पादन कला के अनुसार ही विभिन्न साधनों का किसी वस्तु के उत्पादन में अनुपात निश्चित होता है और उसमें हेर फेर करना सम्भव नहीं होता। हॉबसन का मत है कि किसी धन्धे की औद्योगिक स्थिति और उसमें लगी हुई अचल पूंजी के ऊपर यह बात निर्भर होती है कि उसमें अन्य साधन कितनी मात्रा में तथा किस अनुपात में

*Joan Robinson—The Economics of Imperfect Competition—P 237.

...२५

लगान
(Rent)

'लगान' शब्द का अर्थ—

किसी वस्तु को उपयोग मे लाने के लिये किसी निश्चित समय मे जो धन दिया जाता है उसी को साधारण बोल-चाल की भाषा मे 'लगान' कहते हैं। उदाहरण के लिए-लोग मकान बिजली के पंखे, फर्नीचर, रेडियो आदि किराये पर लेते हैं। इन सब चीजो के प्रयोग के प्रतिफलस्वरूप उपभोक्ता को इन चीजो के स्वामियो को सप्ताह, मास वर्ष अथवा समय की और किसी इकाई मे कुछ धन देना पडता है। इसी धन को व्यवहार म 'लगान' या 'किराया' कहा जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र म 'लगान' शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे नही किया जाता। अर्थशास्त्र मे 'लगान' शब्द का प्रयोग उस धन के लिय किया जाता है जो कि उत्पादन के स्वल्प साधनो के काम में लाने के प्रतिफल-स्वरूप दिया जाता है। उत्पादन के सब साधनो में 'भूमि' ही एक ऐसा साधन है जिसकी पूर्ति अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन अवधियो म प्राय निश्चित ही रहती है। हम आगे चल कर बतायेंगे कि उत्पादन के दूसरे साधनो की पूर्ति भी अल्पकालीन अवधि में सीमित हो सकती है परन्तु दीर्घकाल मे उसको कम या अधिक किया जा सकता है। इस कारण अल्पकालीन म उनसे प्राप्त आय को भी 'लगान' ही कहा जाता है। प्रो० मार्शल ने भूमि के अतिरिक्त अन्य सीमित साधनो की अल्पकालीन अवधि की आय को 'आभास लगान' (Quasi-rent) कहा है। 'आभास लगान' शब्द का प्रयोग कदाचित् इसलिये किया गया है जिससे कि भूमि की आय को उत्पादन के अन्य साधनो की आय से भिन्न किया जा सके। वास्तव म, भूमि से प्राप्त आय का ही लगान कहा जाता है। प्रो० एलि अथवा विकर, के अनुसार 'लगान' वही होता है जो कि भूमि अथवा अन्य प्राकृतिक उपहारो के प्रयोग के प्रतिफल-स्वरूप दिया जाता है।*

---

* *Ely and Wicker*—Elementary Principles of Economics, P. 252

प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार की 'उन्नति' का वही प्रभाव नहीं होता जो कि भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाने का होता है। इसका कारण यह है कि कुछ समय पश्चात् भूमि पर क्रमागत-उत्पादन-ह्रास नियम लागू होने लगता है जिसके कारण भूमि को कृत्रिम विधियों से उन्नत तथा उर्वर बनाने का अवसर सीमित होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह विदित है कि भूमि की पूर्ति प्राय निश्चित होती है। इस कारण माग बढ़ने पर भूमि से प्राप्त आय अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों अवधियों में ही निरन्तर अधिक हो सकती है। इसीलिये भूमि से प्राप्त आय को स्वल्पता का लगान (Scarcity rent) कहा जाता है। इस लगान का कम या अधिक होना, इस बात पर निर्भर होगा कि हमारे विचाराधीन समय पर भूमि की माग की क्या दशा है। भूमि की माँग बढ़ने पर लगान बढ़ा तथा घटने पर घट जाता है। इस प्रकार लगान शून्य से लेकर, अधिकाधिक, कुछ भी हो सकता है। यही कारण है कि लगान को <u>अतिरिक्त आय (Surplus)</u> कहा गया है।

यहां पर एक बात और बतानी आवश्यक है। हम जानते हैं कि भूमि का उपयोगीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। परन्तु सब प्रकार के उपयोगीकरणों से उसको एकसा लगान नही मिल सकता। यह हो सकता है कि चावल उगाने के काम मे भूमि का उपयोग होने से उससे प्राप्त आय ५० रुपये हो तथा जूट उगाने मे उससे ६० रुपये आय मिले। ऐसी स्थिति मे यदि जूट के उत्पादक चाहते हैं कि भूमि पर जूट ही उगाया जाता रहे तो उसको यह देखना पड़ेगा कि किसी समय भी भूमि का लगान ५० रुपए से कम न होने पाये। ५० रुपए से कम लगान होने पर उस भूमि पर जूट के स्थान पर चावल की खेती होने लगेगी। यह ५० रुपये उस भूमि का हस्तान्तर-उपार्जन (Transfer earnings) कहलाता है। हस्तान्तर-उपार्जन से अधिक आय ही अतिरिक्त उपार्जन को जन्म देती है। आय का हस्तान्तर-उपार्जन से आधिक्य ही अतिरिक्त उपार्जन अथवा शुद्ध लगान कहलाता है। ऊपर के उदाहरण मे ६० तथा ५० रुपये का अन्तर अर्थात १० रुपये अतिरिक्त उपार्जन है तथा ५० रुपये हस्तान्तर-उपार्जन है। जब हम कहते हैं कि अमुक भूमि का लगान शून्य है, तो हमारा अभिप्राय इसी अतिरिक्त उपार्जन (अथवा अतिरिक्त लगान) से होता है। अतिरिक्त लगान ही शून्य हो सकता है, हस्तान्तर उपार्जन (या लगान) नहीं। हा, यदि कोई भूमि ऐसी है जो किसी भी काम न आ सके तब उस भूमि से कोई हस्तान्तर लगान न मिलेगा। उस स्थिति में लगान पूर्ण रूप से शून्य हो सकता है। यह भी हो सकता है कि जमींदार किसानों को भूमि में उन्नत करने के लिये अपनी अपनी जेब से कुछ धन दें। ऐसी स्थिति मे लगान ऋणात्मक (Negative) होगा।

भूमि की दूसरी विशेषता यह है कि इसकी कोई उत्पादन लागत नहीं होती। उत्पादन के दूसरे साधनो जैसे श्रम, पू जी आदि को बिना कुछ खर्च किये उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिये उनका कुछ न कुछ पूर्ति-मूल्य होता है। परन्तु भूमि को उत्पन्न करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। भूमि की उर्वरा-शक्ति नष्ट हो जाने पर किसान उसको खाद आदि दे कर उर्वरता फिर से प्राप्त कर लेता है। परन्तु भूमि के ऊपर की हवा, धूप, वर्षा आदि के ऊपर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। ये प्रकृति प्रदत्त विभूतियां है, जो मानव नियन्त्रण से पर है। हम ऊपर बता चुके हैं कि भूमि के क्षेत्रफल को बढाना-घटाना तो मनुष्य के बूते के बाहर की बात है। जो भी भूमि हमको आज दिखाई पडती है मनुष्य ने कुछ खर्च करके उस नहीं बनाया, उसको प्रकृति ने मनुष्य को उपहार के रूप मे प्रदान किया है। प्रारम्भ म मनुष्यो की सख्या कम थी, भूमि का क्षेत्र अधिक था। जिसको जो भूमि मिली उस पर उसका अधिकार होता गया। जब भूमि पर निजी अधिकार को स्वीकार कर लिया गया तब भूमि का क्रय विक्रय शुरू हो गया। इसलिये आजकल हमको भूमि कीमती मालूम पडती है। परन्तु आज भी हमको ससार मे बहुत से ऐसे क्षेत्र मिल सकते है जिनको बिना किसी व्यय के प्राप्त किया जा सकता है। अत यह *कहना गलत नही कि भूमि की कोई उत्पादन लागत नही होती।* जब भूमि को कोई लागत ही नही होती तब लगान किसी वस्तु के उत्पादन की लागत का एक अश कैसे बन सकता है?

उपर्युक्त कथन पर कुछ शका की जा सकती है। यदि कोई कहे कि लगान लागत का कोई अ श नही होता तो सब इस बात का अस्वीकार करेंगे, क्योंकि जब किसान किसी वस्तु को उत्पन्न करके उसके लागत-व्यय का अनुमान लगायेगा तब वह निसन्देह लगान को अपने कुल खर्च म सम्मिलित करेगा। इसी प्रकार जब कारखाने वाला अपनी किसी उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई लागत का अनुमान लगायेगा तब वह लगान को उसमे अवश्य ही सम्मिलित करेगा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण स लगान लागत का एक अग होता है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से लगान लागत का एक अग नही होता क्योंकि समाज न भूमि को उत्पन्न करने मे कुछ भी खर्च नही किया। यही कारण है कि रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियो ने कहा है कि बाजार म गल्ले की कीमत उस खेत द्वारा निर्धारित होती है जो बिना लगान का खेत (No rent land) होता है।

भूमि की तीसरी विशेषता यह होती है कि वह सब स्थानो पर एक से गुण वाली नही होती। यदि कोई भूमि समतल है तो कोई ककरीली पथरीली। यदि कही मरुस्थल दिखलाई देता है तो कही लहलहाते खेत। इसी प्रकार देश देश की भूमि की उर्वरता मे भिन्नता पाई जाती है। देश देश की बात तो दूर रही, ग्राम ग्राम की मिट्टी मे भिन्नता पाई जाती है। इससे भी आश्चर्यजनक बात यह है कि एक ही

ग्राम की मिट्टी स्थान-स्थान पर भिन्न भिन्न उर्वरा शक्ति वाली होती है। उर्वरा शक्ति की इस भिन्नता के कारण विभिन्न खेतों से उत्पन्न होने वाली उपज एक सी श्रम व पूंजी खर्च करके भी समान मात्रा में नहीं मिलती। उदाहरण के लिये, यदि १०० रु० खर्च करके एक अच्छे खेत में १० मन गेहूं उत्पन्न होता है तो उतना ही धन खर्च करके उससे कम उपजाऊ खेत में केवल ८-६ मन ही गेहूँ मिलेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि एक अधिक उपजाऊ खेत को एक कम उपजाऊ खेत की अपेक्षा एक अन्तर लाभ (Differential advantage) प्राप्त होता है। भूमि की स्थान-स्थान की उर्वरा शक्ति में भिन्नता ने ही रिकार्डो का ध्यान आकर्षित किया था जिसके कारण उसने भूमि की उर्वरा शक्ति में भिन्नता को ही लगान का कारण बनाया। हम आगे चलकर इस पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

भूमि की चौथी विशेषता उसकी स्थिति होती है। भूमि की स्थिति उसके लिए उतनी ही महत्वपूर्ण होती है जितनी कि उसकी उर्वरा शक्ति। वह भूमि जो आबादी के समीप होती है आबादी से दूर वाली भूमि से कहीं अधिक मूल्यवान तथा महत्वपूर्ण होती है, भले ही यह आबादी के पास वाली भूमि से अधिक उपजाऊ हो। स्थिति के कारण ही देहली में चांदनी चौक की भूमि का लगान शाहदरा की भूमि के लगान से बहुत अधिक है। यातायात के साधनों की उन्नति होने के कारण भूमि की स्थिति का महत्व कुछ कम अवश्य हो गया है, तो भी वह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ है क्योंकि आज भी हर व्यक्ति उसी स्थान पर व्यापार करना अथवा रहना पसन्द करेगा जो कि घना बसा हुआ है। आबादी के बाहर व्यापार तो बहुत कम हो ही जायगा, दुकान या कारखाने से दूर रहने से भी व्यक्ति को कुछ न कुछ असुविधा अवश्य होती है और कुछ नहीं तो उसको दूर घर लेने पर अधिक समय तथा धन खर्च करना पड़ता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति का यही प्रयत्न रहता है कि वह शहर के अन्दर ही रहे।

भूमि की स्थिति भूमि से उत्पन्न होने वाली उपज की लागत पर भी प्रभाव डालती है। यदि एक खेत मण्डी से दूर बसा है तथा दूसरा खेत मण्डी के समीप है। मान लिया कि मण्डी के पास वाले खेत का लागत-खर्च १० रु० प्रतिमन है, तथा मण्डी से दूर वाले खेत का लागत-खर्च ८ रु० प्रति मन पड़ता है, अब यदि पास वाले खेत का रेल भाड़ा १ रुपया मन तथा दूर वाले खेत का रेल भाड़ा ५ रु० मन है तो यह प्रत्यक्ष ही है कि पास वाले खेत से प्राप्त उपज की लागत मण्डी में ११ रु० मन तथा दूर वाले खेत की लागत १३ रुपये मन होगी। इसलिये पास वाले खेत की उपज दूर वाले खेत से सस्ती हुई। इससे यह सिद्ध हुआ कि लागत के ऊपर भूमि की स्थिति का उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि उसकी उर्वरा शक्ति का।

भूमि की इन विशेषताओं को समझ लेने के पश्चात् लगान शब्द की परिभाषा करना सरल हो गया है। किसान, जमींदार को भूमि के प्रयोग के लिये जो भुगतान

समय समय पर करता है उसी को लगान कहा जाता है। लेकिन बहुधा ऐसा होता है कि जमीदार भूमि पर कुआ आदि बनवा देता है अथवा किसान को हल-बैल आदि भी प्रदान कर देता है। हमारे देश मे तो जमीदार अनुपस्थित जमीदार (Absentee landlords) थे। इसलिये वे अपने किसानो को इस प्रकार की कोई सुविधा प्रदान नही करते थे। यही कारण है कि भारत मे जो लगान किसान, जमीदार को देता था वह बहुधा भूमि के प्रयोग के लिए ही होता था। परन्तु इगलैण्ड के जमीदार अपने किसानों की कई प्रकार से सहायता करते थे। इसलिये इगलैण्ड के किसान अपने जमींदारो को जो लगान देते थे उसके न केवल भूमि के प्रयोग का प्रतिफल ही होता था वरन् उसमे पानी का किराया मकान-भाडा आदि भी सम्मिलित होता था। जिस लगान मे भूमि का लगान, पानी का किराया, मकान का किराया आदि सम्मिलित होते हैं उसको कुल लगान (Gross rent) कहते है। परन्तु केवल भूमि के प्रयोग के लिये जो धन किसान अपने जमीदार को देता है उसको शुद्ध लगान अथवा आर्थिक लगान (Economic rent) कहते है।

ऊपर हमने कहा है कि भारतवर्ष मे किसान केवल भूमि के प्रयोग के लिए ही लगान के रूप मे भुगतान करता है, परन्तु फिर भी उसके द्वारा दिया गया लगान आर्थिक-लगान नही होता। इसका कारण यह है कि आर्थिक लगान केवल उसी देश के किसानो द्वारा दिया जाता है जिनमे किसानो किसानो, जमीदारों-जमीदारो तथा किसानो और जमीदारो मे आपस मे मुक्त प्रतियोगिता होती है, जिसके कारण किसान को भूमि के प्रयोग का प्रतिफल जमीदार को अवश्य देना पडेगा। यदि एक किसान ऐसा करने से इन्कार करेगा तो जमीदार खेत को दूसरे किसान को दे देगा। इसलिए किसान को फसल उत्पादन मे की गई लागत से अधिक जो कुछ आय (फसल को बेचकर) होती है उसे वह जमीदार को देने के लिये तैयार रहेगा। यदि जमीदार किसान से इससे भी अधिक लगान मागता है तो किसान के लिए यह हितकर होगा कि वह खेती के पेशे को छोड दूसरे किसी पेशे को अपना ले। परन्तु भारतवर्ष मे लाभप्रद पेशो की कमी है, इसलिये देश की अधिकतर जन-सख्या कोई रोजगार न पाकर खेती की ओर झुकी है। यही कारण है कि भारत मे कृषि योग्य भूमि की माग बहुत अधिक है। जिसके फलस्वरूप, भारत के किसानों को जमीदारो को सविदा-लगान (Contract rent) देना पडता है, जो कि भारत की वर्तमान परिस्थितियो मे आर्थिक-लगान से अधिक होता है। परन्तु कभी-कभी यह लगान आर्थिक लगान से कम अथवा उसके बराबर भी हो सकता है। इस लगान को निश्चित करने मे माग और पूर्ति की आर्थिक-शक्तियां कोई प्रभाव नही डालती। यह लगान रीति-रिवाज, किसान के सामाजिक-स्तर आदि बातो पर निर्भर होता है।

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त
(Ricardian Theory of Rent)

कदाचित् ही किसी आर्थिक-सिद्धान्त पर इतना वाद विवाद हुआ हो जितना कि रिकार्डो के लगान सिद्धान्त पर। इस सिद्धान्त ने रिकार्डो का नाम आर्थिक-जगत से अमर बना दिया। रिकार्डो से पूर्व फिज्योक्रेट्स, आदम स्मिथ आदि ने भी लगान के कारण के ऊपर अपने विचार व्यक्त किये थे। फिज्योक्रेट्स का मत था कि लगान प्रकृति की उदारता के कारण प्राप्त होता है। उनके पश्चात् आदम-स्मिथ ने भी यही कहा कि प्रकृति, श्रम के साथ लगान पैदा करने म सहायता प्रदान करती है। आदम स्मिथ के पश्चात् माल्थस ने भी लगान की समस्या पर अपने विचार व्यक्त किय, रिकार्डो ने उसको लगान सिद्धान्त की वास्तविक खोज करने वाला कहा है। अपने पूर्व के अर्थशास्त्रियो के समान माल्थस का भी मत था कि लगान भूमि की एक विशेष शक्ति के कारण प्राप्त होता है। यह शक्ति भगवान ने उसे प्रदान की है। इसी कारण भूमि से, उसे जोतने-बोने वालो के अतिरिक्त भी तमाम लोग पोषित होते हैं। माल्थस ने कहा है कि लगान केवल भौतिक नियम के कारण ही नहीं मिलता, आर्थिक नियम भी इसका कारण होता है, क्योकि प्रकृति मे यह अद्वितीय शक्ति होती है कि वह अपनी चीजो की माग स्वय पैदा कर लेती है और इस प्रकार आय तथा मूल्य को कायम ही नहीं रखती वरन् उसको किसी सीमा तक बढा भी सकती है। इसका कारण यह है कि भूमि पर जन-सख्या का भार निरन्तर बढता रहता है। माल्थस ने लगान के विषय म एक दूसरी महत्वपूर्ण बात भी कही जो कि रिकार्डो को बहुत पसन्द आई थी। माल्थस ने बताया कि सब भूमियो की उर्वरा शक्ति समान नहीं होती। इसलिए उन पर लगाई गई पू जी से समान प्रतिफल प्राप्त नहीं ह ता। अच्छी तथा साधारण भूमि से प्राप्त होने वाली आयो के बीच जो अन्तर होता है उसको अच्छी भूमि का जमीदार ले लेगा। माल्थस तथा फिज्योक्रेट्स के अनुसार अच्छी भूमि का अतिरिक्त लगान जमीदार को उसकी शक्ति तथा बुद्धि के कारण मिलता है। भूमि खरीदने वालो को भी अतिरिक्त लगान इन्ही दोनो गुणो के कारण प्राप्त होता है, क्योकि भूमि श्रम व बुद्धि के द्वारा ही खरीदी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रिकार्डो से पूर्व अर्थशास्त्रियों का यह मत था कि जमीदार को जो लगान मिलता है वह उसके गुणो के कारण उसको पारितोषिक के रूप मे मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि रिकार्डो से पूर्व के अर्थशास्त्री यह समझते थे कि जमीदार के स्वार्थ तथा साधारण जन हित मे कोई विरोध नही है।

रिकार्डो अपने से पूर्व के अर्थशास्त्रियो के उपर्युक्त मत से सहमत न हुआ। उसका मत था कि लगान का कारण प्रकृति की उदारता न होकर उसकी कजूसी है। उसने बताया कि इस बात का सबूत एक नये बसे देश का उदाहरण लेकर

दिया जा सकता है। ऐसे देश मे उपजाऊ मिट्टी के होते हुए भी लगान उस समय तक नहीं मिलता जब तक कि अच्छी भूमि का क्षेत्रफल इतना अधिक होता है कि वह अधिक होती है। ऐसी स्थिति मे कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार जितनी भूमि चाहे उतनी जोत-बो सकता है। फिर वह लगान क्यो देगा? परन्तु जब धीरे-धीरे इस देश मे जन-संख्या बढने लगेगी। तब भूमि की उपज की माग भी बढने लगेगी। इसलिये लोगो को अधिक भूमि जोतनी पडेगी। ऐसा करते-करते सब अच्छी भूमि समाप्त हो जायेगी। जिस समय तक अच्छी भूमि रहेगी तब तक कोई लगान प्राप्त न होगा। जब सब अच्छी भूमि समाप्त हो जायगी तब लोगो को उससे नीची श्रेणी की भूमि को जोतना-बोना पडेगा। नीची श्रेणी की भूमि पहली भूमि से कम उपजाऊ होगी। इसलिये अच्छी भूमि पर लगाई गई पूंजी के बराबर ही पूंजी लगाने मे भी इस निम्न कोटि की भूमि मे अच्छी भूमि के समान ही उपज नहीं प्राप्त हो सकती। दूसरे शब्दो मे, इस नीची श्रेणी से प्राप्त उपज की लागत, अच्छी भूमि की लागत से अधिक होगी। रिकार्डो की यह उपधारणा है कि अच्छी तथा निम्न श्रेणी, दोनों ही प्रकार की भूमि से प्राप्त उपज समान गुण वाली है। ऐसी स्थिति मे दोनो प्रकार की उपज की बाजार मे एक ही कीमत होगी। अब यहा प्रश्न उठता है कि किस खेत की उपज की लागत के आधार पर बाजार मे कीमत निर्धारित की जायगी। यदि अच्छे खेत वाली लागत के आधार पर कीमत निर्धारित की जाती है तो नीची श्रेणी के खेतों से प्राप्त उपज को बेचने से लागत भी न वसूल हो पायगी। यदि खेत जोतने वालो को लागत भी वसूल न होगी तो वे उनको क्यो जोते बोयेंगे। ऐसी स्थिति मे बाजार मे उपज की मात्रा अर्थात् पूर्ति, माग के बराबर न हो पायेगी। इसलिये बाजार मे उपज की कीमत बढ जायेगी। यह कीमत उस समय तक बढती रहेगी जब तक कि वह नीची श्रेणी की भूमि से प्राप्त उपज की लागत के स्तर पर नहीं आ जाती। इसका अर्थ यह हुआ कि बाजार मे कीमत नीची श्रेणी के खेत की उपज द्वारा निश्चित की जायगी। ऐसी स्थिति मे अच्छी भूमि से प्राप्त उपज को बेचकर जो कीमत प्राप्त होगी वह उसकी उत्पादन लागत से अधिक होगी। इस प्रकार अच्छे खेत से कुछ अतिरिक्त आय प्राप्त होगी। रिकार्डो का मत है कि यही अतिरिक्त आय जमींदार को लगान के रूप मे मिलेगी। इसी कारण रिकार्डो इस नतीजे पर पहुचता है कि *लगान प्रकृति की उदारता के कारण न मिलकर उसकी कजूसी के कारण मिलता है*। प्रकृति की कजूसी के कारण ही लोगो को नीची श्रेणी के खेत जोतने पडते है और नीची श्रेणी के खेत जोतने पर ही ऊँची श्रेणी की भूमि पर लगान प्राप्त होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि रिकार्डो के अनुसार लगान वह अन्तर लाभ (Differential advantage) होता है जो कि एक बढिया खेत एक घटिया खेत के ऊपर प्राप्त करता है। रिकार्डो

का मत है कि जब तक एक श्रेणी के खेतो पर खेती की जायगी तब तक कोई लगान प्राप्त न होगा। जब पहले से नीची श्रेणी के खेत जोते जायेंगे, तभी लगान प्राप्त होगा। जब और अधिक नीची श्रेणी के खेत जोते जायेंगे तब उत्तम खेतो का लगान बढ जायगा तथा दूसरी श्रेणी के खेतो पर लगान आने लगेगा।

यद्यपि रिकार्डो अपने से पूर्व के अर्थशास्त्रियो के इस मत से सहमत नही था कि लगान प्रकृति की उदारता के कारण मिलता है तो भी वह उनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त न हो पाया। इसका कारण यह है कि रिकार्डो यह समझता था कि लगान भूमि की उपज का वह भाग होता है जो कि जमीदार को मिट्टी की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो के प्रयोग के प्रतिफलस्वरूप दिया जाता है।*

अब हम रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की विशेषतायें बता सकते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(१) रिकार्डो का मत था कि लगान का कारण यह है कि भूमि मे कुछ मौलिक तथा अविनाशी शक्तिया होती हैं।

(२) जब तक एक समान उर्वरा शक्ति वाले खेतो पर खेती की जाती है तब तक कोई लगान नही मिलता। लगान तभी मिलता है जबकि पहले से घटिया खेत जोते जाते हैं। जितने ही अधिक घटिया खेत जोते जाते हैं उतना ही लगान बढता जाता है। इस प्रकार रिकार्डो के अनुसार लगान की मात्रा अच्छे तथा खराब खेतो की उपज के अन्तर के बराबर होती है। यदि १०० रुपये लगा कर अच्छे खेत से १० मन अनाज मिलता है तथा उसी लागत से, घटिया खेत से केवल ६ मन तथा और भी घटिया खेत से १००) लागत द्वारा ८ मन प्राप्त किया जा सकता है, तो पहले खेत का लगान उस समय १ मन होगा जबकि दूसरी श्रेणी के खेत जोते जायेंगे। स्मरण रहे कि इस दूसरी श्रेणी के खेतो का लगान शून्य होगा। परन्तु तीसरी श्रेणी के खेत जोतने पर पहली श्रेणी के खेतो का लगान दो मन हो जायगा तथा दूसरी श्रेणी के खेतो का लगान १ मन हो जायगा। इस प्रकार खेती का स्तर (Margin of Cultivation) जितना ही गिरता जाता है लगान उतना ही बढता जाता है।

(३) लगान की मात्रा उस खेत द्वारा निश्चित होती है जिससे कोई लगान प्राप्त नहीं होता अर्थात जो बिना लगान वाली भूमि (No rent land) होती है। रिकार्डो के अनुसार बिना लगान वाली भूमि वह होती है जिस पर उगाई गई फसल को बेच कर बाजार मे उतनी कीमत प्राप्त होती है जितनी कि उसके ऊपर श्रम व पूंजी के रूप में लागत लगी है।

---

* *Ricardo defined rent as* "That portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil."

(४) बाजार मे गल्ले अथवा भूमि की अन्य प्रकार की उपजो की कीमत निर्धारित करती है बिना लगान की भूमि से प्राप्त की हुई उपज तथा उसकी लागत। इस प्रकार रिकार्डो के अनुसार लगान का उपज की बाजारी कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता। किन्तु इसके विपरीत, कीमत का लगान के ऊपर प्रभाव अवश्य पडता है। रिकार्डो ने इस बात को इस ढग से रखा है —गल्ले की कीमत इस लिये ऊची नही है कि लगान चुकाया जाता है, वरन् लगान इस लिये चुकाया जाता है कि गल्ले की कीमत ऊची है।*

(५) रिकार्डो का मत था कि एक नये बसे हुए देश मे सबसे पहले वे खेत जोते जायेगे जो सबसे अधिक उपजाऊ होगे। इस प्रकार के सब खेतो के समाप्त हो जाने पर उससे नीची श्रेणी अथवा दूसरी श्रेणी के खेत जोते जायगे। जब दूसरी श्रेणी के भी सब खेत समाप्त हो जायेगे तब तीसरी श्रेणी के खेतो पर खेती की जायगी। इस प्रकार जन सख्या मे प्रत्येक वृद्धि का फल यह होगा कि खेती का स्तर गिरता चला जायगा तथा लगान बढता जायगा।*

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे यह भ्रम हो सकता है कि रिकार्डो का लगान सिद्धान्त केवल विस्तृत खेती (Extensine Cultivation) पर ही लागू होता है क्योकि हमने कहा है कि जब उत्तम श्रेणी के सब खेत जोत लिये जाते हैं तब उससे घटिया श्रेणी के खेतो पर खेती की जाती है। परन्तु यह सिद्धान्त गहन खेती (Insine cultivalion) पर भी उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार कि वह विस्तृत खेती पर लागू होता है। जब गहन खेती की जाती है तब श्रम व पूजी की इकाइयो मे उत्तरोत्तर वृद्धि करने से क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है। इस लिये प्रारम्भ मे लगाई गई श्रम व पूजी की इकाइयो से जो प्रतिफल प्राप्त होता है वह पीछे लगाई गई श्रम व पूजी की इकाइयो से प्राप्त होने वाले प्रतिफल से अधिक होता है। इस प्रकार प्रारम्भ मे लगाई गई श्रम व पूजी की इकाइयों को, पीछे लगाई गई श्रम व पूजी की अपेक्षा उसी प्रकार का अन्तर लाभ प्राप्त होता है जिस प्रकार का अन्तर लाभ एक उत्तम खेत को एक कम उपजाऊ खेत पर होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि रिकार्डो का लगान सिद्धान्त विस्तृत तथा गहन दोनो प्रकार की खेतियो पर समान रूप से लागू होता है।

---

* Ricaredo says, "Corn is not high because a rent is paid, but a rent is paid because corn is high"

* "With every step in the progress of population which shall oblige a countr, to have recourse to land of a worse quality, to enable it to raise its supply of food rent, on all the more fertile land, wil. rise" —Quoted from Gide-Principles of Political Economy P 584

उदाहरण—

इस सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। माना कि किसी नये देश मे अ, ब, स, ड चार श्रेणी के खेत हैं। इन चारों श्रेणियो के खेतो को जोतने पर लगान की स्थिति इस प्रकार होगी—

खेतो की श्रेणी	उत्पादन-व्यय	उपज	लगान
अ	१०० रु०	२० मन	कुछ नही
ब	१०० रु०	१८ मन	'अ' श्रेणी के खेत पर २ मन
स	१०० रु०	१५ मन	'अ' श्रेणी के खेत पर ५ मन तथा 'ब' श्रेणी के खेत पर ३ मन
ड	१०० रु०	१२ मन	'अ' श्रेणी के खेत पर ८ मन, ब श्रेणी के खेत पर ६ मन, तथा 'स' श्रेणी के खेत पर ३ मन

ऊपर की तालिका के आधार पर हम एक रेखा चित्र भी बना सकते हैं—
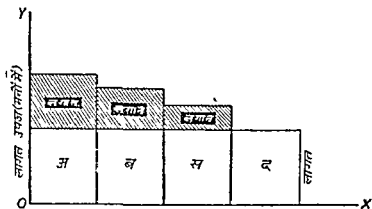
खेतों की श्रेणियां

उपर्युक्त रेखा-चित्र मे OX पर खेतों की श्रेणियां तथा OY पर खेतो से प्राप्त उपज दिखाई गई है। चित्र को देखने से पता चलता है कि 'अ', 'ब', 'स' तथा 'ड' चारो श्रेणियो के खेतो की लागत समान है। परन्तु उनसे प्राप्त होने वाली उपज भिन्न-भिन्न है। 'अ' श्रेणी के खेतो पर सबसे अधिक उपज प्राप्त होती है

तथा 'ड' श्रेणी के खेतो पर सबसे कम। चूंकि 'ड' श्रेणी का खेत बाजार मे गल्ले की कीमत निर्धारित करता है इसलिये उस पर कोई लगान नही मिलता। परन्तु शेष तीनो श्रेणियो के खेतो से उससे अधिक उपज प्राप्त होती है। इसलिये यह अतिरिक्त उपज ही लगान है।

आलोचनायें—

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचना कई ढग से की गई है। कुछ आलोचक कहते हैं कि रिकार्डो का यह कहना कि लगान मिट्टी की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो के कारण मिलता है, गलत है। इसका कारण यह है कि यह निश्चित करना बडा कठिन है कि मिट्टी की मौलिक शक्ति क्या है। नये देशो मे भले ही कही मिट्टी की मौलिक शक्ति का अनुमान लगाया जा सके परन्तु पुराने देशो मे तो इसका अनुमान लगाना असम्भव है, क्योकि इन देशो मे खेतो के ऊपर इतना श्रम व पूंजी लगायी जा चुकी है कि मिट्टी की मौलिक शक्ति का बना रहना असम्भव है। इस कथन का आधार केवल अनुमान है क्योकि एक बार जहा मिट्टी पर कुछ श्रम व पूंजी लगायी गयी वहा वे मिट्टी मे इस प्रकार घुल मिल जाती हैं कि उनका कोई अलग अस्तित्व अवशेष ही नही रह जाता।

आलोचको का यह भी कहना है कि मिट्टी की शक्ति अविनाशी नही होती। आजकल के युग मे जहां अणु, परमाणु, नत्रजन तथा अन्य प्रकार के विनाशक यन्त्र बनाये जा रहे हैं यह कहना गलत है कि कोई भी चीज अविनाशी है। यदि हम इस प्रकार के घातक यन्त्रो की ओर ध्यान न देकर साधारण ढग से ही विचार करें तो भी हम देखेंगे कि जलवायु मे परिवर्तन तथा खेती करने के नये ढगो के आविष्कार के कारण आज कितने मरु प्रदेश तो हरे-भरे बाग बन गये हैं लेकिन विभिन्न कारणो से कितने ही हरे भरे बाग मरुस्थल बन गये हैं। इसलिये भूमि के अन्दर अविनाशी शक्तियो का बताना ठीक नही मालूम पडता।

मिट्टी की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो को लगान का कारण न बता कर यदि हम यह कहे कि लगान भूमि से इसलिये प्राप्त होता है कि उसकी पूर्ति निश्चित है, तो यह बात अधिक उचित होगी। हम बता चुके है कि बहुत अधिक धन खर्च करके भी हम भूमि की पूर्ति को नही बढ़ा सकते। ऐसी स्थिति मे लगान देने के कारण को खोज निकालना ही रिकार्डो का मुख्य उद्देश्य था। रिकार्डो का यह कहना कि भूमि मे कुछ मौलिक तथा अविनाशी शक्तिया होती हैं इस बात का द्योतक है कि वह यह कहना चाहता था कि भूमि की पूर्ति को कीमत मे वृद्धि करके भी नहीं बढाया जा सकता। इसलिये भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो को लगान का कारण न बता कर यदि हम यह कहे कि लगान एक ऐसे साधन का प्रतिफल हैं जिसकी पूर्ति प्राय निश्चित होती है, तो यह अधिक उचित होगा।

एलि तथा विकर ने रिकार्डो की इस बात का समर्थन किया है कि भूमि मे मौलिक तथा अविनाशी शक्तिया होती हैं। उनका मत है कि वे लोग जो भूमि मे

मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों का प्रभाव बताते हैं 'मिट्टी' शब्द को संकीर्ण अर्थ में लेते हैं। यदि 'मिट्टी' शब्द में भूमि का केवल ऊपरी परत ही लिया जाय जिसमें कुछ वे रासायनिक पदार्थ होते हैं जो पौधों के जीवन के लिये आवश्यक होते हैं तब तो उपर्युक्त आलोचना ठीक मानी जा सकती है, मिट्टी की ऊपरी परत में इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। परन्तु इस पतले परत के नीचे की भूमि में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यदि हम यह भी मानें कि मिट्टी में कुछ परिवर्तन हो सकता है तो भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि मिट्टी के कुछ गुण ऐसे होते हैं जो पूर्णरूप से अविनाशी है तथा उनका पुनरुत्पादन नहीं किया जा सकता। इनको यदि हम मिट्टी की मौलिक शक्तियां कहें तो गलत न होगा। इस प्रकार के गुणों में हम भूमि की बनावट को सम्मिलित करते हैं। एक दारू पहाड़ी भूमि इतनी उपजाऊ नहीं होती जितनी कि एक मैदान की चौरस भूमि। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक स्थान की जलवायु भी भिन्न भिन्न होती है। जलवायु को अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से भूमि में ही सम्मिलित किया जाता है। किसी स्थान की जलवायु में परिवर्तन करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। इन सब तत्वों को यदि हम भूमि से अभिन्न मानें तो उचित होगा। इस प्रकार, भूमि का विस्तार, उसकी बनावट तथा जलवायु आवश्यक रूप से प्राकृतिक तथा अविनाशी हैं। प्रो० हेने ने भी इस मत का समर्थन किया है।

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कुछ आलोचकों ने कहा है कि लगान का सम्बन्ध केवल भूमि से ही नहीं होता, जैसा कि रिकार्डो ने माना है, वरन् लगान के समान श्रम तथा पूंजी से भी अन्तर लाभ (Differential advantage) प्राप्त होता है। लगान का कारण यह नहीं है कि संसार में विभिन्न भूमियों की उर्वरा शक्ति भिन्न भिन्न है, बल्कि भूमि पर लगान इसलिये प्राप्त होता है कि उसकी पूर्ति को माँग के अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। अर्थात् लगान भूमि की स्वल्पता के कारण प्राप्त होता है। रिकार्डो का मत था कि जब तक समान उर्वरा शक्ति वाली भूमि पर खेती की जायेगी तब तक कोई लगान न मिलेगा। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि किसी देश की सब भूमि समान उर्वरा शक्ति वाली भी हो तो भी उस देश में लगान प्राप्त होगा बशर्ते कि उस भूमि से प्राप्त उपज की कीमत उत्पादन लागत से अधिक हो। ऐसी स्थिति में लागत से ऊपर जितना अधिक धन प्राप्त होगा वह किसानों की आपसी प्रतियोगिता के कारण लगान के रूप में जमींदारों को प्राप्त होगा। इससे सिद्ध हुआ कि लगान का कारण विभिन्न प्रकार की भूमियों पर खेती करना नहीं, वरन् भूमि की स्वल्पता है। स्वल्पता केवल भूमि का ही गुण नहीं है। यह श्रम तथा पूंजी में भी पाई जाती है। हो सकता है कि किसी समय किसी उद्योग में एक विशेष प्रकार के श्रम की मांग बढ़ जाय जैसे खानों में खानों के इंजीनियरों की अथवा कारखानों में टैक्नीकल निरीक्षकों की। इस प्रकार के श्रम की पूर्ति को मांग के बराबर करने में कुछ समय

प्रभाव न पडेगा । यह बात भी विश्वास करने योग्य नही, कि यदि एक ही श्रेणी की भूमि को खेती करने के काम मे लाया जाता है तो किसानों को इस प्रकार की भूमि का कुछ भी लगान न देना पडेगा । यह तो हो सकता है कि काम म न आने वाली बेकार भूमि का कोई लगान न मिले । परन्तु रिकार्डो तो यह कहता है कि उस भूमि पर भी लगान नही मिलता जो खेती के काम आ रही है यदि सब भूमि एक ही श्रेणी की है । अत रिकार्डो के सिद्धान्त की त्रुटि स्पष्ट है ।

परन्तु उपर्युक्त आलोचना का कारण यह है कि ये आलोचक व्यक्तिगत तथा सामाजिक दृष्टिकोण को एक ही मान कर चल हैं । जो लोग उपर्युक्त आलोचना करते हैं वे केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही सामने रखते हैं । वे केवल यह देखते हैं कि किसान मजदूरी तथा ब्याज के समान लगान भी देता है । इसलिए लगान भी उसकी उत्पादन-लागत का एक आवश्यक अग है । जब लगान लागत का एक अग होगा तो किसान अपनी उपज को बेचत समय उसको भी वसूल करने का प्रयत्न करेगा । यदि लगान वसूल न होगा तो उसको हानि होगी तथा उसको खेती का व्यवसाय छोडना पडेगा । परन्तु जब हम लगान का विचार सामाजिक दृष्टिकोण स करते हैं तब हमको केवल यह देखना पडेगा कि यदि भूमि के प्रयोग के लिए लगान न दिया जाय तो इसका भूमि की पूर्ति के ऊपर क्या प्रभाव पडेगा । हम सभी जानते हैं कि यदि मजदूर को मजदूरी न दी जाय तो वह काम न करेगा, यदि पूजी बचाने वाले को ब्याज न दिया जाय तो उसकी बचत करने की प्रेरणा जाती रहेगी । परन्तु यदि भूमि के स्वामी को लगान न दिया जाय तो वह भूमि की पूर्ति को कम नही कर सकता । इस कारण समाज का भूमि स प्राप्त उपज के लिए मजदूरी तथा ब्याज तो अवश्य देना पडेगा, पर समाज यदि लगान न दे तो भूमि पूर्ति मे कोई कमी न होगी । इसलिये हम कह सकते हैं कि सामाजिक दृष्टिकोण से लगान लागत का अग नही होता ।

कुछ आलोचको का मत है कि रिकार्डो का लगान सिद्धान्त विभिन्न देशो की वास्तविक परिस्थितियो से बहुत दूर है । इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि जमीदारो तथा किसानो के बीच पूर्ण प्रतियोगिता होती है, परन्तु वास्तविक जीवन मे लगान के ऊपर न केवल प्रतियोगिता का प्रभाव पडता है वरन् रीति-रिवाज, सामाजिक, स्थिति, जन-मत आदि बातों का भी प्रभाव प्रबल होता है । इसके उत्तर मे हम कह सकते हैं कि यद्यपि यह बात ठीक है पर, अन्य आर्थिक नियमो के समान रिकार्डो का लगान सिद्धान्त भी पूर्ण प्रतियोगिता की उपधारणा करके चला है ।

यद्यपि रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की इतनी बडी आलोचनाएँ की गई हैं तो भी इसके महत्व को स्वीकार किया गया है । रिकार्डो पहला अर्थशास्त्री था, जिसने 'प्राकृतिक व्यवस्था' (Natural order) की महत्ता के ऊपर एक भारी आघात पहुचाया । उसने लोगों को बताया कि जमीदारो तथा उपभोक्ताओ और उद्योग-पतियो के हित मे तारतम्य नही होता, इनके हित प्राय परस्पर विरोधी होते हैं,

क्योंकि जमींदार लगान के कम हो जाने के भय से हर प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति तथा गल्ले के विदेशों से आयात का विरोध करते हैं। भूमियों की उर्वराशक्ति में भिन्नता तथा स्थिति की भिन्नता को लगान का कारण बताकर रिकार्डो ने लोगों को बताया कि जमींदार लगान कमाने के लिये कुछ नहीं करते, वे बिना बोये ही काटते हैं, अर्थात् बिना किसी परिश्रम के ही लगान प्राप्त करते हैं, लगान किसी प्रतिफल के रूप में नहीं, बल्कि बिना कमाई हुई शुद्ध आय के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार रिकार्डो के अनुसार लगान लेना समाज के हितों के विरुद्ध है। रिकार्डो की इस बात ने निजी-सम्पत्ति व्यवस्था की मानो कमर ही तोड दी, इस तर्क के आधार पर सारे लगान को कर द्वारा जमींदार से ले लेने तथा भूमि का राष्ट्रीयकरण करने का समर्थन किया गया है। मॉल्थस के समान, रिकार्डो का लगान सिद्धान्त यह भविष्यवाणी करता है कि समाज का भविष्य अन्धकारमय है। रिकार्डो के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण निकम्मे खेतों पर खेती करनी पडेगी जिनसे आवश्यकता से कम मात्रा में खाद्य-सामग्री प्राप्त होगी। इसलिये समाज को भविष्य में अन्न संकट का सामना करना पडेगा। यह संकट कुछ साधनों द्वारा कुछ समय के लिए भले ही टाल दिया जाय, लेकिन सदा के लिये इसको नहीं टाला जा सकता।

लगान के प्रत्यय का विचार
(Extension of the Concept of Rent)

रिकार्डो के समय से आज तक लगान के सिद्धान्त में बहुत से परिवर्तन हो चुके हैं। कुछ लोगों ने इस विचार को ठीक मान कर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इसका उपयोग किया है, परन्तु कुछ अन्य लोगों ने इसको पूर्ण रूप से गलत बता कर लगान के नये सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है।

जिन लोगों ने लगान के सिद्धान्त को ठीक माना है, उनमें प्रो० मार्शल भी एक हैं। परन्तु प्रो० मार्शल यह नहीं मानते कि लगान का सिद्धान्त केवल भूमि से ही सम्बन्ध रखता है। उनका मत है कि यह एक बडी जाति (Genus) की एक मुख्य उप जाति (Specie) है। लगान का सिद्धान्त खानों, मछलियों, इमारतों आदि पर उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार की वह भूमि के ऊपर लागू होता है। कुछ खानें ऐसी होतीं हैं जिनमें कच्ची धातु बहुतायत से पाई जाती है। कुछ खानों में कच्ची धातु कम मात्रा में होती है। जिन खानों में कच्ची धातु अधिक होती है, उनको दूसरी उन खानों पर जिनमें कच्ची धातु कम होती है एक अन्तर लाभ प्राप्त होता है जो कि भूमि के लगान के समान ही होता है। यदि खानों को गहरा खोदा जाता है तो श्रम और पूंजी की पहली लगी इकाइयों को पीछे लगी इकाइयों पर एक प्रकार का अन्तर लाभ प्राप्त होता है, जो कि लगान के समान

होता है। खानों के समान मछलियों के ऊपर भी लगान का सिद्धान्त लागू होता है। यहां पर पास वाली मछलियों को दूर वाली मछलियों पर एक अन्तर लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि पास वाली मछलियों की लागत दूर वाली मछलियों से कम होती है इसलिये पास वाली मछलियों को एक प्रकार का लगान प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो भूमि बड़े-बड़े नगरों में स्थित होती है उसको उस भूमि की अपेक्षा एक अन्तर लाभ प्राप्त होता है, जो कि नगर के बाहर स्थित होती है।

लगान का सिद्धान्त भूमि तथा भूमि से सम्बन्धित अन्य चीजों पर ही लागू नहीं होता, यह पूंजी पर भी समान रूप से लागू होता है। यह हो सकता है कि एक कारखाने में दूसरे की अपेक्षा अच्छी मशीनें, अच्छी व्यवस्था तथा अच्छा श्रम-विभाजन हो। ऐसी स्थिति में पहले कारखाने में उसी लागत पर दूसरे कारखाने की अपेक्षा अधिक उपज प्राप्त होगी। पहले कारखाने में दूसरे की अपेक्षा जितनी अधिक उपज प्राप्त होगी वह पहले कारखाने का लगान होगा।

लगान का सिद्धान्त श्रम तथा व्यवस्था पर भी लागू होता है। हम जानते हैं कि सब आदमी समान बुद्धि तथा योग्यता के नहीं होते। कुछ मजदूर बिना कठिनाई के बहुत सा माल तैयार कर सकते हैं, कुछ मजदूरों को उतना ही माल तैयार करने में अधिक समय लगता है। इस कारण पहले मजदूरों को दूसरों के ऊपर एक विशेष प्रकार का लाभ (अर्थात् अन्तर-लाभ) प्राप्त होगा, जो कि भूमि के लगान के समान होगा।

मजदूरों के समान सब उद्योगपति भी समान योग्यता के नहीं होते। कुछ उद्योगपति बहुत योग्य होते हैं, कुछ कम योग्य। जो उद्योगपति अधिक योग्य होते हैं, वे अपने कारखाने से अधिक लाभ पैदा करते हैं, जो कम योग्य होते हैं वे कम। इस प्रकार अधिक योग्य उद्योगपतियों को कम योग्य उद्योगपतियों की अपेक्षा एक अतिरिक्त लाभ (Surplus profit) प्राप्त होता है, जो कि उस लगान के समान होता है, जो कि एक उपजाऊ खेत को एक बिना लगान वाले खेत की अपेक्षा प्राप्त होता है। उद्योग के क्षेत्र में यह अतिरिक्त लाभ उद्योगपतियों की योग्यता के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए प्रो० वाकर ने इसको योग्यता का लगान (Rent of Ability) कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्रियों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि आर्थिक-जगत में जितने प्रकार की परिस्थितियां होती हैं, उतने ही प्रकार के लगान हो सकते हैं। जब कभी भी यह दिखाई पड़ता है कि एक व्यक्ति की आय दूसरे व्यक्ति की आय से भिन्न है, तो अर्थशास्त्रियों ने उसको लगान के सिद्धान्त से समझाने का प्रयत्न किया है। प्रो० मिल का मत है कि वे समस्त लाभ, चाहे वे प्राकृतिक हों, चाहे कृत्रिम, चाहे व्यक्तिगत व्यवस्था के कारण हों अथवा सामाजिक

व्यवस्था के कारण, जो एक प्रतियोगी को दूसरे के ऊपर प्राप्त होती है, पाने वाले को 'लगान' के समान ही प्राप्त होते हैं।

अभी तक हमने उन लोगों के विचारों को व्यक्त किया है, जिन्होंने लगान के रिकार्डो के सिद्धान्त को स्वीकार करके उसको उन्नत करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इसके विपरीत, कुछ ऐसे अर्थशास्त्री भी हैं जिन्होंने रिकार्डो के लगान सिद्धांत के मूलभूत आधार ही को अस्वीकार कर दिया है। हम बता चुके हैं कि रिकार्डो ने लगान का कारण भूमियों की उर्वराशक्ति में भिन्नता बताया है। रिकार्डो के मतानुसार यदि सब भूमियां समान उर्वराशक्ति वाली हों तो किसी को कोई लगान प्राप्त न होगा। इसी प्रकार यदि सब मशीनें, उद्योगपति आदि भी समान गुण वाले हों तो उनमें से किसी को कोई लाभ प्राप्त न हो सकेगा, परन्तु कुछ अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नहीं हैं। प्रो० मिल का मत था कि यदि किसी देश के सब खेतों पर खेती की जाय तो उन सबसे लगान प्राप्त होगा। परन्तु यह तभी होगा जब कि खेती की उपज की माग उसकी पूर्ति से अधिक हो, अर्थात् इसकी बाजारी कीमत इसकी लागत से अधिक हो। ऐसी स्थिति में सबसे खराब खेतों से भी लगान प्राप्त होगा। इस प्रकार लगान खेतों की उर्वराशक्ति में भिन्नता का परिणाम नहीं कहा जा सकता। मिल ने लगान की उत्पत्ति को समझाते हुये कहा है कि जब वस्तु उत्पादन, वस्तु-माग को पूरा करने के लिये पर्याप्त नहीं होता तो कीमत बढ़ जाती है। जैसे-जैसे कीमत बढती है, वैसे-वैसे घटिया भूमि का उपयोग बढ़ता है। इस लिये लगान का कारण घटिया प्रकार की भूमि का प्रयोग नहीं, बल्कि उससे उत्पादित वस्तु की माग में वृद्धि है। तो कीमत बढ़ जाती है। घटिया खेतों के जोतने से लगान प्राप्त होने की बात तो दूर रही, उल्टे लगान घट जायगा, क्योंकि इन खेतों के जोतने से उपज की पूर्ति में वृद्धि होगी, जिससे कि कीमत में ह्रास आयेगा, कीमत गिरने से लगान कम हो जायगा। इस प्रकार लगान का कारण मिट्टी की उर्वराशक्ति में भिन्नता न होकर मिट्टी से प्राप्त उपज की स्वल्पता है। इस आधार पर बढ़िया तथा घटिया दोनों प्रकार के खेतों के लगान को समझाया जा सकता है। इसी आधार पर हम खानों, मछलियों, इमारतों आदि के लगान को भी समझा सकते हैं। जब किसी वस्तु की माग बढ़ जाने के कारण उसकी कीमत इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह वस्तु-लागत से अधिक हो जाती है, तब उस वस्तु के बेचने वाले को लगान प्राप्त हो जाता है।

अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा यूरोप महाद्वीप के अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को अधिक अस्वीकार किया है। जे० बी० से० ने बहुत पहले कहा था कि लगान का कारण समाज की गल्ले की आवश्यकता तथा वह कीमत होती है, जोकि समाज उस गल्ले के लिए दे सकता है। म्युनिक के प्रो० हरमन ने लगान को अचल पूंजी (Fixed Capital) के प्रतिफलस्वरूप बताया था। उसका

मत था कि चल-पूंजी (Circulating Capital) में गतिशीलता होती है, जिसके कारण ब्याज की दर सब स्थानों पर समान हो जाती है। परन्तु अचल पूंजी में इस प्रकार की गतिशीलता का अभाव होता है, जिसके कारण अचल-पूंजी का प्रतिफल चल-पूंजी के प्रतिफल की अपेक्षा अधिक होता है तथा अधिक समय तक स्थिर रहता है। यदि नई अचल-पूंजी पुरानी अचल-पूंजी से घटिया प्रकार की हुई तो अचल-पूंजी का प्रतिफल अथवा लगान स्थायी भी हो सकता है। भूमि के साथ भी ठीक इसी प्रकार होता है। इसके कुछ समय पश्चात् मगोल्ट (Mangoldt) नामक अर्थशास्त्री ने लगान की परिभाषा करते हुए कहा था कि यह वह स्वल्प कीमत होती है, जो उत्पादन के सब साधनों को समान रूप से लाभ न पहुंचाकर केवल उनको लाभ पहुंचाती है, जिनकी पूर्ति को शीघ्रतापूर्वक नहीं बढ़ाया जा सकता और लगान अन्तर-आय (Differential revenue) के रूप में इसलिये दिखाई पड़ता है, क्योंकि स्वल्पता सदा ही सापेक्षिक होती है। एक वस्तु की स्वल्पता को बहुधा ऐसी स्थानापन्न वस्तुओं से पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है, जिनसे अपेक्षतया कम लाभ प्राप्त होता है। स्केफिल (Schaffle) ने १८६७ ई० में इस बात पर जोर दिया कि मिट्टी से लगान इसलिए प्राप्त नहीं होता कि वह एक प्राकृतिक उपहार है, लगान प्राप्त होने का कारण यह है कि न तो भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित किया जा सकता है और न इसकी पूर्ति को बढ़ाया ही जा सकता है। १८७२ ई० में कार्ल मेंगर (Karl Menger) ने अपने मूल्य के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कहा था कि लगान का सिद्धान्त स्वभाव में साधारण मूल्य सिद्धान्त में अपवाद स्वरूप कभी नहीं हो सकता। प्रो० मार्शल का भी मत है कि भूमि का लगान किसी पृथक् आर्थिक-सिद्धान्त के रूप में नहीं रखा जा सकता, यह माग और पूर्ति के सिद्धान्त के विशिष्ट उपसाध्य (Corollary) के समान है। जब हम प्राकृतिक उपहारों की स्थायी उन्नति से प्राप्त आय का विचार छोड़कर मिलों, कारखानों की इमारतों, भाप के इंजिनों जैसी अल्पस्थायी उन्नति वाली चीजों से प्राप्त होने वाली आय का विचार करते हैं तो हमको वास्तविक लगान की निरन्तर चलने वाली बहुत सी श्रेणियां मिलती हैं।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त

रिकार्डो ने अपने लगान के सिद्धान्त में बताया है कि लगान भूमि की स्थान स्थान पर उर्वरा शक्ति की विभिन्नता के कारण प्राप्त होता है और वह खेत की उपज से नापा जाता है जो जोत की सीमान्त (Margin of Cultivation) पर होता है। लगान के सिद्धान्त की इस व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि लगान के निश्चित करने का ढंग वह नहीं जो कि दूसरी वस्तुओं के मूल्य निश्चित करने का है। इस कारण लगान का सिद्धान्त मूल्य के आधुनिक सिद्धान्त से दूर जा

पडता है। इसलिये आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस बात का प्रयत्न किया है कि लगान का सिद्धान्त भी आधुनिक मूल्य सिद्धान्त उपकरण माग और पूर्ति के द्वारा ही समझाया जाये। उनका कहना है कि लगान केवल भूमि की माग पर ही निर्भर नही होता वरन् वह उसकी पूर्ति पर भी निर्भर होता है। भूमि की माग इसलिये की जाती है कि उसके ऊपर लोगो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये कुछ चीजें उगाई जा सकें। जब तक देश म जनसख्या कम होती है तब तक भूमि की माग कम रहती है, जनसख्या के बढने पर खाद्य सामग्री की माग बढती है। इस माग को पूरा करने के लिये कुछ घटिया भूमि को भी जोत मे ल आना पडता है अथवा जोती हुई भूमि को अधिक गहरा जोतना पडता है। इस प्रकार भूमि की माग इस बात पर निर्भर है कि अनाज आदि की कितनी माग है तथा जोत की सीमा क्या है, जबकि भूमि की पूर्ति उसके विस्तार तथा उसकी उर्वरा शक्ति पर निर्भर होती है।

रिकार्डो का मत था कि लगान भूमि की उवरा तथा स्थिति म भिन्नता के कारण उत्पन्न हाता है और यदि किसी देश म सारी भूमि की उर्वरा शक्ति समान हो तो लगान शून्य होगा। परन्तु ऐसा सोचना बिल्कुल गलत है। लगान का आधुनिक सिद्धान्त बताता है कि भूमि की उर्वरता और स्थिति मे भिन्नता अवश्य होती है, इस कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि का लगान भी भिन्न होता है। परन्तु भूमि की विभिन्नता हमें केवल यह बताती है कि एक भूमि का लगान दूसरी स क्यो अधिक है। इससे यह सिद्ध नही होता कि लगान का कारण क्या है। रिकार्डो के लगान सम्बन्धी सिद्धान्त मे यह बात सत्य अवश्य है कि उत्तम वस्तु का मूल्य सदा अधिक रहेगा, अधिक उर्वरा भूमि का मूल्य घटिया भूमि की अपेक्षा अधिक रहगा। वास्तव मे लगान इसलिए होता है कि भूमि तथा उसकी उपज स्वल्प है। माग के अनुसार इसकी पूर्ति नही बढाई जा सकती। भूमि के उपयोग से किसान को लागत-व्यय के अतिरिक्त कुछ बचत होती है। यही बचत 'लगान' है। इस प्रकार यदि भूमि की उपज उसकी माँग की अपेक्षा सदा ही कम रहे तो लगान स्थायी रूप से मिलता रहेगा। रिकार्डो के अनुसार अच्छी भूमि की कमी लगान का कारण है किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार लगान का कारण है उपज की स्वल्पता। एक उदाहरण के द्वारा इस बात को समझाया जा सकता है। मान लिया किसी स्थान पर १०,००० एकड भूमि है और यह सब एकसी उर्वरा शक्ति वाली है। इस भूमि पर प्रति एकड १० मन अनाज उगाया जा सकता है और एक एकड भूमि जोतने-बोने का खर्च ५० रुपये है। इस प्रकार सारी भूमि पर ५,००,००० रुपये लगाकर १,००,००० मन अनाज पैदा किया जा सकता है। यदि बाजार मे एक मन अनाज की कीमत ५ रु० हो तो भूमि पर कोई लगान न मिलेगा क्योकि उपज को बेचकर उतनी ही रकम प्राप्त होती है जितनी कि उसकी उत्पादन लागत है। यदि

जनसंख्या मे वृद्धि होने के कारण अनाज की कीमत बढ़कर ६ रुपये प्रति मन हो जाय तो प्रति एकड भूमि से अब ५० रुपये के स्थान पर ६० रुपये प्राप्त होंगे । इस प्रकार प्रति एकड भूमि से १० रुपये का लाभ प्राप्त होगा। इस लाभ के कारण कृषकों मे आपस मे प्रतियोगिता होगी जिसके फलस्वरूप उन्हे इस धन को लगान के रूप मे जमीदार को देना पडेगा। इस उदाहरण से पता चलता है कि लगान भूमि की उर्वरा शक्ति मे भिन्नता के कारण उत्पन्न नही होता (क्योंकि यहा सब भूमि एक समान थी) वरन् वह उपज की स्वल्पता का परिणाम होता है।

लगान के ऊपर, उपज की स्वल्पता के अतिरिक्त कम उपजाऊ भूमि का भी प्रभाव पडता है। परन्तु यह प्रभाव गौण होता है। जब किसी देश मे अच्छे और कम उपजाऊ खेत होते हैं तो कम उपजाऊ खेतो के प्रभाव पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। *एक ओर तो यह कहा जा सकता है कि कम उपजाऊ* खेतो के जोत म लाने के कारण लगान बढ़ता है क्योकि यदि सभी खेत समान रूप से उत्तम होते तो कुल उपज की मात्रा इससे कही अधिक होती। दूसरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कम उपजाऊ खेतो के जोत म आने के कारण लगान घटता है क्योकि यदि इस प्रकार के खेतो का उपयोग न किया जाता तो उपज पूर्ति, माँग की अपेक्षा कम होती। इसलिये यह कहा जा सकता है कि कम उपजाऊ खेत उपज की स्वल्पता को कम करते हैं जिसके कारण लगान नहीं बढता। यह बात देखने मे विरोधाभास सी है परन्तु यह इसलिये बताई गई है कि भूमि का उपजाऊपन लगान के ऊपर कोई विशेष प्रभाव नही डालता, लगान केवल उपज की स्वल्पता के कारण ही प्राप्त होता है।

उत्पादन ह्रास-नियम का लगान पर प्रभाव—

उत्पादन ह्रास नियम के कारण लगान बढता है। इसका कारण यह है कि *इस नियम के लागू होने पर उपज बढाने से उसकी प्रति इकाई लागत बढ़ती है।* इस कारण उत्पादन कम किया जाता है। उत्पादन कम होने से उपज की माग कीमत (Demand price) बढ़ जाती है और वह उत्पादन व्यय से अधिक हो जाती है। कीमत के उत्पादन-व्यय से अधिक होने पर लगान' उत्पन्न हो जाता है। यहा भी यही बात मालूम होती है कि *लगान उपज की स्वल्पता के कारण* होता है।

सीमान्त भूमि (Marginal land)—

रिकार्डो के अनुसार सीमान्त भूमि वह भूमि है जो सबसे घटिया होती है। इसी भूमि से बाजार मे उपज की कीमत निर्धारित होती है और इसी के द्वारा लगान का भी पता चलता है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार सबसे घटिया भूमि सीमान्त भूमि नही होती, सबसे बढ़िया भूमि भी सीमान्त हो सकती है। इसका कारण प्रत्यक्ष है। रिकार्डो सीमान्त भूमि उसको बताता है जो सबसे कम उपजाऊ होती है परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त को समान गुण वाली एक और भूमि

इकाई की वृद्धि या कमी के रूप मे देखते है। अत विस्तृत अथवा गहरी खेती मे भूमि की एक इकाई को बढाने-घटाने से कुल उपज में जो कमी या अधिकता होती है वह उस सीमात इकाई के कारण मानी जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत इस इकाई की लागत के बराबर होनी चाहिये। कीमत के इस इकाई की लागत से अधिक होने पर लाभ होगा और वह लाभ लगान के रूप मे दिया जायेगा, क्योंकि कृषको मे आपस मे प्रतियोगिता है। यहा यह नही कहा गया कि सीमान्त उपज सबसे बढिया भूमि की है अथवा सबसे घटिया भूमि की। किसी भी प्रकार की भूमि की उपज सीमान्त हो सकती है।

विशिष्ट और अविशिष्ट साधन और लगान (Rent in relation to specific and non-specific factors)—

विशिष्ट साधन का सारा मूल्य लगान है क्योंकि इस काय मे इसका उपयोग न होने पर इसका कोई मूल्य न होगा। अविशिष्ट साधन के लगान उसके अन्य किसी कार्य के उपयोग से प्राप्त मूल्य तथा उसके वर्तमान उपयोग के मूल्य के अन्तर के बराबर होता है।

आय हस्तान्तरण (Transfer Earnings)—

उत्पादन के साधनो का विभिन्न प्रकार स उपयोग किया जा सकता है। यह बात कोई आश्चर्य की नहीं है कि किसी एक साधन का विभिन्न उद्योगो मे विभिन्न मूल्य हो। ऐसा होने पर यह साधन इस बात का प्रत्यन करता है कि वह उस उद्योग मे रहे जहा उसको सबसे अधिक प्रतिफल मिलता है। माना कि भूमि के ऊपर गेहूँ की खेती करने से २०० रुपये वार्षिक आय प्राप्त होती है तथा दाल की खेती करने से १७५ रुपये वार्षिक आय प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति मे भूमि पर गेहू की खेती तभी तक की जायगी जब तक कि गहू से कम से कम १७५ रुपये वार्षिक की आय प्राप्त होगी। यदि गेहू की खेती करने पर किसी समय १७५ रुपये वार्षिक से कम आय प्राप्त होगी तो उस भूमि पर दाल की खेती होने लगेगी। इसलिये गेहू की उपज की दृष्टि से १७५ रुपये उसकी हस्तान्तरित आय हुई। इस हस्तान्तरित आय से जितनी आय भी गेहू की खेती करने से प्राप्त होगी वही उस भूमि का लगान होगा। ऊपर के उदाहरण मे गहूँ की हस्तान्तरित आय तो १७५ रुपये है परन्तु उसकी वास्तविक आय २०० रुपये है। इसलिये २०० — १७५ = २५ रुपये उस भूमि का लगान हुआ।

लगान और कीमत (Rent and Price)—

रिकार्डो के अनुसार लगान का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता क्योंकि कीमत उस खेत द्वारा निश्चित होती है जिस पर कोई लगान नही देना पडता। इस प्रकार रिकार्डो का कहना था कि लगान उत्पादन व्यय का अ ग नही होता।

परन्तु रिकार्डो के इस कथन के कारण लोगों में बहुत भ्रम उत्पन्न हो गया है। जहां तक एक व्यक्ति का प्रश्न है लगान उसके उत्पादन व्यय का भाग अवश्य होता है। मजदूरी और सूद की भांति लगान भी लागत में सम्मिलित होता है। किन्तु सारे समाज की दृष्टि से लगान उत्पादन व्यय का भाग नहीं होता। इसका कारण यह है कि जहां श्रम व पूंजी की पूर्ति बढ़ाने के लिये बहुत त्याग तथा प्रतीक्षा करनी पड़ती है वहां भूमि के लिये इस प्रकार की कोई बात नहीं करनी पड़ती। इसका कारण यह है कि भूमि प्रकृति की देन है। यदि श्रम व पूंजी को कोई प्रतिफल न मिले तो धीरे-धीरे इनकी पूर्ति समाप्त होती चली जायेगी, परन्तु भूमि पर लगान न देने पर उसकी पूर्ति पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इस कारण सारी भूमि की दृष्टि से लगान उत्पादित वस्तु की कीमत का भाग नहीं हो सकता क्योंकि कुल भूमि की पूर्ति बेलोच है।

परन्तु किसी एक फसल या उपयोग के लिये भूमि की पूर्ति लोचदार होती है। भूमि के किसी एक टुकड़े पर चावल भी उगाया जा सकता है व गन्ना और जूट भी। भूमि केवल उसी फसल को उगाने के लिये प्रयोग में लाई जायेगी जिससे भूमि को सबसे अधिक प्रतिफल मिलेगा। यदि हम भूमि को चावल से निकाल कर जूट के उत्पादन में ले जाना चाहे तो जूट उगाने समय हमको कम से कम उतना प्रतिफल तो देना ही पड़ेगा जितना कि चावल से इसको मिल रहा था। यह भूमि की अवसर लागत (Opportunity cost) है और यह अवसर-लागत उत्पादित वस्तु की लागत का एक भाग होता है।

अन्य वस्तुओं की कीमत की भांति लगान भी विभिन्न उपयोगों के लिये भूमि की माग तथा इसकी पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। डेवनपोर्ट ने कहा है कि न तो लगान से मूल्य निश्चित होता है और न मूल्य से लगान। लगान और मूल्य दोनों भूमि से उत्पन्न वस्तु की माग की तुलना में उसकी पूर्ति द्वारा निश्चित होते हैं। जब किसी भूमि का लगान कम हो जाता है तो उस पर उत्पन्न होने वाली वस्तु की कीमत भी कम हो जाती है। इस कारण वह भूमि किसी और काम में आने लगती है। इस कारण पहली वस्तु की पूर्ति कम हो जायेगी और उसकी कीमत अधिक हो जायेगी। इस कारण उत्पादक अधिक लगान देकर भी भूमि को प्राप्त करेंगे जिससे कि वह ऊंचे मूल्य का लाभ उठा सकें। इस प्रकार लगान बढ़ जायेगा।

आधुनिक लगान सिद्धान्त के गुण—

लगान का आधुनिक सिद्धान्त रिकार्डो के लगान सिद्धान्त से अच्छा है क्योंकि इसकी उस प्रकार की आलोचनायें नहीं की जा सकती जिस प्रकार रिकार्डो के सिद्धान्त की जा सकती है। इस सिद्धान्त में उर्वरा शक्ति की भिन्नता को लगान का कारण नहीं बताया गया है और न इसमें यह बताया गया है कि लगान वस्तु की लागत का अङ्ग नहीं है। इसमें यह भी नहीं कहा गया है कि सबसे बढ़िया खेत

तक कि दूसरे स्थानों से इस स्थान पर दस्तकार नहीं आ गये। दस्तकारों की मौजूदा आय आभास लगान कही जायेगी।

आभास लगान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद भी है। कुछ लोगों का कहना है कि जितने समय तक किसी साधन की पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती उतने काल की उस साधन की सारी आय आभास लगान कहलायेगी। इसके विपरीत फ्लक्स (Flux) आदि विद्वानों का कहना है कि साधारण आय से जितनी अधिक आय इस काल में प्राप्त होती है वह आभास लगान कहलायगी। परन्तु पहले वाली बात ही कुछ अधिक ठीक लगती है क्योंकि जितने समय तक साधन की पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती उतने समय तक वह साधन भूमि के समान स्वल्प है और चूंकि भूमि की कुल आय का लगान कहते हैं इस कारण उस साधन की कुल आय भी लगान कहलायगी।

आभास लगान का प्रत्यय व्यावहारिक दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह जीवन के बहुत से क्षेत्रों पर लागू होता है। एक उत्पादक किसी व्यापारिक रहस्य (Trade Secret) के कारण कुछ समय तक बहुत लाभ उठा सकता है। रहस्य के खुलते ही वह लाभ समाप्त हो जाता है। रहस्य न खुलने तक की उसकी आय आभास-लगान कही जायेगी। इसी प्रकार योग्य गाने वालों, क्रिकेट खेलने वालों तथा मिस्त्रियों को भी उस समय तक जब तक कि उनके प्रतिद्वन्दी न आ जायें आभास लगान प्राप्त हो सकता है।

आभास लगान को निर्धारण करने में समय का बड़ा महत्व है। आभास लगान अल्पकालीन अवधि में ही प्राप्त हो सकता है। दीर्घकाल में यह घट जाता है या बिल्कुल समाप्त हो जाता है या हानि में बदल जाता है। यदि पुराने उत्पादन के साधनों के स्थान पर नये साधनों का प्रयोग होने लगे तो आभास लगान बिल्कुल समाप्त हो जायगा। ऐसा करने से कुछ पूंजी नष्ट हो जायेगी। पूंजी का नष्ट करना उस समय तो ठीक न होगा जब कि पूंजी की कमी हो परन्तु जब पूंजी अधिक मात्रा में हो तो पुराने साधनों के स्थान पर नये साधनों का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

अल्पकाल में लगान की भांति आभास लगान भी अनावश्यक लाभ (Unnecessary profit) है क्योंकि वस्तु की लागत में कोई वृद्धि हुये बिना ही किसी साधन का मूल्य बढ़ जाता है। परन्तु दीर्घकाल में आभास लगान लागत का ही भाग हो जाता है। यह वास्तविक बचत (True surplus) नहीं रहता। नई मशीन के मूल्य में आभास लगान मिला रहता है। अतः वह उत्पादन की लागत का ही भाग बन जाता है।

लगान और आभास लगान में कुछ समानता पाई जाती है। यह समानता इस बात पर निर्भर है कि अल्पकाल में भूमि के समान उत्पादन के दूसरे साधनों की पूर्ति भी निश्चित होती है और वह बढ़ाई नहीं जा सकती। इस प्रकार उनका मूल्य

अल्पकाल मे लगान की तरह ही होता है। पुराने देशो मे भूमि की पूर्ति निश्चित होती है। इसके विपरीत, दूसरे साधनो की पूर्ति मनुष्य द्वारा बढाई जा सकती है। चू कि भूमि का क्षेत्रफल सदा के लिये निश्चित होता है इस कारण उस पर लगान आता है और लगान का उत्पादित वस्तु की कीमत से कोई सम्बन्ध नही होता। परन्तु, चू कि दूसरे साधनो को कुछ समय पश्चात् बढाया जा सकता है इस कारण अल्पकाल मे तो उनसे प्राप्त होने वाले लगान का लागत से कोई सम्बन्ध नही होता। परन्तु दीर्घ काल मे, जैसा कि ऊपर बताया गया है, वह लागत का ही अश बन जाता है।

प्रो० मार्शल ने यह भी बताया है कि आभास लगान मजदूरी तथा लाभ का अश है। मजदूर अपनी कुछ योग्यता शिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। यदि उसको उस योग्यता की अधिक मजदूरी मिलती है तो दूसरे मजदूर भी इस योग्यता को प्राप्त करने लगेगे और इस प्रकार इनका आभास लगान समाप्त हो जायेगा। परन्तु मजदूर की जो योग्यता प्राकृतिक है उसको बढाया नही जा सकता। इस कारण उस पर प्राप्त होने वाले लाभ को लगान ही कहेगे। परन्तु कैनन ने इस प्रकार के भेद करने पर आपत्ति की है। उसका कहना है कि मजदूर की सब प्रकार की आय को एक ही साथ रखा जाना चाहिए। उसकी प्राप्त की हुई और प्राकृतिक योग्यता को लगान का कारण नही बताया जाना चाहिये।

—:०:—

वर्ग आता है। इनको यदि उचित मजदूरी न मिले तो ये काम करने के लिये रजामन्द न होंगे। इनमे से जो कोई विशेष गुण अपने अन्दर रखता है, उसकी सौदा करने की शक्ति और अधिक बढ जाती है। इसलिये इस प्रकार के श्रम की कीमत बहुधा अधिक होती है।

घरेलू नौकरो मे यदि कोई नौकर शैल्पिक गुण ज्ञान रखता है तो उसको अधिक मजदूरी मिलेगी। यदि कोई मजदूर केवल शारीरिक परिश्रम ही कर सकता है तो उसको कम मजदूरी लेकर भी अधिक कार्य करना पडता है, परन्तु यदि कभी नौकर इस बात को भाप लेता है कि उसका स्वामी उसके बिना अपना काम नही चला सकता तो वह अवश्य ही अधिक मजदूरी लेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब कभी भी मजदूर सौदा करने मे दुर्बल होता है तब उसको कम मजदूरी मिलती है तथा इसके कारण उसकी कार्य क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

श्रम की पाचवी विशेषता यह है कि इसकी पूर्ति बहुत धीरे-धीरे बढाई जा सकती है। यदि किसी पेशे मे श्रम की माग बढ जाती है तो उसको पूरा करने के लिये दूसरे पेशो से केवल शारीरिक परिश्रम करने वाले श्रमिक आ सकते। मजदूरो का इस प्रकार एक पेशे से दूसरे मे जाना उत्पादको के बीच प्रतियोगिता का सृजन करता है तथा वे मजदूरी बढाकर श्रमिको को प्रलोभन देना शुरू करते हैं। इस प्रकार इस श्रेणी के (अर्थात् शारीरिक श्रम वाले) मजदूरो की गतिशीलता मे बाधा पड सकती है, परन्तु इन मजदूरो के अतिरिक्त कुछ ऐसे मजदूर भी होते हैं जिनको कि किसी पशे के लिये प्रशिक्षित करना पडता है। इनके तैयार करने मे समय लगता है तथा बहुत सा धन भी व्यय करना पडता है। इतना धन खर्च करने की शक्ति हर माता-पिता मे नही होती। जिनमे यह शक्ति होती भी है वे उस पेशे मे वर्तमान मजदूरी दर को देखते हैं तथा इस बात का भी अनुमान लगाते है कि यह मजदूरी भविष्य मे भी बनी रहेगी या नही। हो सकता है कि यदि एक मजदूर को किसी विशेष पेशे के लिये प्रशिक्षित किया जाय तो कुछ समय पश्चात् उस पेशे मे मन्दी आ जाय तथा मजदूरी कम हो जाय। इस प्रकार जब किसी मजदूर को किसी पेशे के लिये तैयार किया जाता है तो उस समय उस पेशे मे उसको दी जाने वाली मजदूरी तथा उसके भविष्य में घटने-बढने की सम्भावना को देखा जाता है। इसके अतिरिक्त श्रम की पूर्ति पर श्रमिक के माता पिता की आर्थिक स्थिति तथा उनकी अपने बच्चो को उस पेशे के लिये प्रशिक्षण मे सफलता असफलता का भी प्रभाव पडता है। इन्ही सब बातो के कारण श्रम की पूर्ति मे वृद्धि मन्द गति से होती है।

श्रम की माग उन चीजो के माग के ऊपर निर्भर होती है जो कि श्रम द्वारा पैदा की जाती हैं। ऐसी चीजो की माग मे वृद्धि अल्पकालीन भी हो सकती है और स्थायी भी। यदि इन चीजो की माग मे वृद्धि अल्पकालीन तथा अस्थायी हुई है तो

इनकी पूर्ति वर्तमान साधनो से बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। हो सकता है कि अधिक चीजें उत्पन्न करने के कारण श्रम की माग बढ़ जाये। श्रम की माग बढने से मजदूरी बढेगी। मजदूरी बढने के कारण इधर-उधर से अस्थायी श्रम इस पेशे मे आ जायेगा। इस प्रकार अल्पकालीन अवधि मे मजदूरी उस वस्तु की कीमत बढने के पश्चात् बढती है जो कि श्रम द्वारा बनाई जाती है।

यदि वस्तु की माग स्थायी रूप से बढ जाती है तो श्रमिक इस वस्तु को बनाने वाले उद्योग मे स्थायी रूप से रहेगें। परन्तु मजदूर इस उद्योग मे तभी रहेंगे जबकि मजदूरो को इतनी मजदूरी मिले कि कम से कम उनके पालन-पोषण तथा उनकी शिक्षा दीक्षा का खर्च चल जाय। मजदूरों की कुछ आवश्यकतायें तो स्थायी सी होती हैं, किन्तु उनकी विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताये बदलती रहती हैं। यदि इन आवश्यकताओ पर खर्च बढ जायगा तो राष्ट्रीय लाभाश (National dividend) कम हो जायगा तथा उसके वितरण के ढग मे कुछ थोडा परिवर्तन करना पडेगा।

जब हम मजदूरी की मात्रा का अनुपात लगाते हैं तो हम को उस कठिनाई तथा थकान पर भी ध्यान देना चाहिये जो कि मजदूर को मजदूरी पैदा करने मे होती है।

कभी कभी कुछ मजदूरों को अपनी स्वाभाविक योग्यता के कारण दूसरे मजदूरो से अधिक मजदूरी मिलती है। परन्तु इस प्रकार की मजदूरी का व्यक्तिगत मजदूर के लिये भले ही महत्त्व हो, लेकिन जब हम समस्त उद्योग पर विचार करते हैं तो यह अतिरिक्त मजदूरी दीर्घकालीन लागत का ही अङ्ग बन जाती है।

मजदूरी चुकाने के ढंग
(Methods of Wage Payment)

किसी कारखाने मे काम करने वाले सब मजदूरो को एक ही ढग से मजदूरी नही दी जाती। कुछ मजदूर ऐसे होते हैं जिनके काम की नाप-तौल नही हो सकती। इसके विपरीत, कुछ मजदूर ऐसे होते हैं जिनके काम की नाप-तौल हो सकती। जिन मजदूरो के काम की नाप-तौल हो सकती है उनको यदि कार्य के अनुसार मजदूरी दी जाय तो उचित होगा क्योंकि ऐसा होने पर अधिक मजदूरी पाने के विचार से मजदूर अधिक कार्य करेगा। इसके विपरीत, जिन मजदूरो के काम की नाप-तौल नही हो सकती उनको समय की इकाई के अनुसार मजदूरी देनी पडेगी। सब उद्योग अथवा व्यापार समान प्रकृति के नही होते। किसी मे कार्य की नाप-तौल करना सम्भव है जैसे मकान मे प्लास्टर करने वाले, भट्टे से मकान बनाने के स्थान तक ईंट ढोने वाले, ठेले पर बोरिया लादने वाले, कक्ड तोडने वाले, मजदूरो के कार्य को हम नाप सकते हैं और उस काम के अनुसार उन्हें मजदूरी दे सकते हैं। इसके विपरीत, एक मैनेजर, एक इजीनियर, एक क्लर्क, एव अध्यापक आदि के कार्यों को

हम नही नाप सकते। ऐसी स्थिति मे उनको समय की इकाई को काम मे लाकर मजदूरी देनी पडती है। फिर कुछ काम ऐसे भी होते हैं जिन मे कार्यानुसार मजदूरी दी जा सकती है परन्तु इनमे कार्यानुसार मजदूरी देना ठीक नही समझा जाता। एक पेन्टर, एक फर्नीचर बनाने वाले तथा अन्य ऐसे लोगो को जो बारीक तथा शिल्प का कार्य करते हैं कार्यानुसार मजदूरी देने से कार्य अच्छा नही होगा। इस प्रकार साधारणतया मजदूरी देने के दो ढग होते हैं—(१) समयानुसार तथा (२) कार्यानुसार। जब मजदूरी बिना काम का ध्यान किये समय की इकाई के अनुसार दी जाती है तो उसको समयानुसार मजदूरी (Time wage) कहते है परन्तु जब मजदूरी काम की नाप-तौल करके किये काम के अनुसार दी जाती है तो उसको कार्यानुसार मजदूरी (Piece wage) कहते हैं।

प्रो॰ मार्शल के अनुसार समयानुसार मजदूरी वह मजदूरी होती है जो किसी व्यक्ति को किसी निश्चित समय जैसे एक दिन, एक सप्ताह अथवा एक वर्ष मे दी जाती है।*

कार्यानुसार मजदूरी, प्रो॰ मार्शल ने उस मजदूरी को बताया है, जो कि मजदूर को उसके कार्य की मात्रा तथा गुण के अनुसार दी जाती है।**

इन दोनो प्रकार के ढगो मे अपने कुछ गुण व दोष हैं। उदाहरण के लिये यदि मजदूरी समयानुसार दी जाती है तो मजदूर धीरे-धीरे अपनी शक्तिनुसार कार्य कार्य करता है। इसलिये कार्य बहुत अच्छा होता है तथा मजदूर के स्वास्थ्य के ऊपर भी कोई विशेष प्रभाव नही पडता। इसके विपरीत, जब मजदूरी कार्यानुसार दी जाती है तो मजदूर अधिक मजदूरी पाने की लालच से अधिक वेग से कार्य करता है जिसके कारण उसके द्वारा किया गया कार्य गुण मे अच्छा नही होता तथा अधिक वेग तथा अधिक समय तक कार्य करने का उसके स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव नही पडता। इसके अतिरिक्त अधिक वेग से कार्य करने से मशीनो की टूट फूट अधिक होती है। परन्तु जहा कार्यानुसार मजदूरी के ये दोष हैं वहां यह गुण भी है कि इसके कारण प्रत्येक मजदूर अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार कार्य करता है जिसके कारण काम तो अधिक होता ही है साथ मे किसी मजदूर को यह शिकायत करने का अवसर नही रहता कि यद्यपि उस का साथी उससे कम योग्य है तथापि उसको अपने साथी के बराबर ही मजदूरी मिल रही है। इसके अतिरिक्त, कार्यानुसार मजदूरी देने से देख भाल करने का खर्च कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त, यदि

* The earnings or wages which a person gets in any given time such as a day, a week, or a year, may be called his *time* earnings, or time wages

** When the payment for work of any kind is apportioned to the quantity and quality of the work turned out, it is said that the uniform rate of *piece work* wage are being paid.

Marshall—principles of Economics-Law-Priced Text Book P 456.

किसी समय व्यापार में मंदी आ जाय तो ऐसे समय मे कार्यानुसार मजदूरी देना ही लाभप्रद होता है क्योकि कम काम की मजदूरी कम होगी। परन्तु यदि मजदूरो को समयानुसार मजदूरी दी जाती है तो काम चाहे कम हो अथवा अधिक समान मजदूरी ही देनी पडती है। कभी-कभी समयानुसार मजदूरी, मजदूर के लिये बडी लाभ-प्रद सिद्ध होती है जैसे बीमारी के समय। बीमारी होने पर कार्यानुसार मजदूरी पाने वाले मजदूर को कोई मजदूरी नही मिलती परन्तु समयानुसार मजदूरी पाने वाले मजदूर को उस काल मे भी कुछ न कुछ मजदूरी मिलती रहती है।

उपर्युक्त दोनो प्रकार के मजदूरी देने के ढगो मे कुछ न कुछ दोष होने के कारण आजकल साधारणतया इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि इन दोनो ढगो के लाभो को सयुक्त किया जाय तथा इनके दोषो को दूर रक्खा जाय। इस दृष्टि से मजदूरी न तो समयानुसार दी जाती है और न कार्यानुसार वरन् मजदूर की कार्य क्षमता के अनुसार दी जाती है।*

जब मजदूरी कार्य-क्षमता के अनुसार दी जाती है तो तब मजदूरी की आधारभूत दर (Basic Rate) मे कार्य क्षमता के अनुसार परिवतन होता रहता है इस प्रकार की मजदूरी देने का एक ढग तो यह होता है कि मजदूर जितना अधिक उत्पादन करता है उतनी ही अधिक ऊंची दर पर उसे मजदूरी दी जाती है। इसका दूसरा ढग यह है कि वस्तु का एक प्रतिमान (Standard) निश्चित कर दिया जाता है। यदि मजदूर द्वारा बनाई हुई चीज निश्चित प्रतिमान के अनुसार नही होती तो मजदूरी कम दर पर दी जाती है। इस प्रकार मजदूरी देने का लाभ यह होता है कि ऊपरी खर्च (over head charge) बढे बिना उत्पादक को अधिक उत्पादन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की मजदूरी उन मजदूरो के लिये बडी लाभ-प्रद सिद्ध होती है जो योग्य होते हैं। अयोग्य तथा अकुशल मजदूरो को इस प्रकार की मजदूरी से कोई लाभ नही होता।

जिन देशों मे मजदूरो को इच्छानुसार अपना पेशा बदलने की स्वतन्त्रता होती है उन देशो के मजदूर सदा यह प्रयत्न करते हैं वे ऐसे पेशो अथवा स्थानो मे जायें जहा उनको अपनी कार्य-क्षमता के अनुसार उचित मजदूरी मिल सके। इसलिये मजदूर उस समय तक निरन्तर अपना पेशा तथा स्थान बदलते रहते हैं जब तक कि 'कार्य-क्षमता की मजदूरी' सब स्थानो पर समान नही हो जाती।

---

* Efficiency earnings means "earnings measured, not as time-earnings are with reference to the time spent in earning them, and not as piece-work earnings are with reference to the amount of output resulting from the work by which they are earned, but with reference to the exertion of ability and *efficiency* required of the worker." —Ibid

मजदूर मजदूरी इसलिये नहीं करता कि उसको रुपया रुपये के लिये चाहिये। रुपया उन आवश्यक आवश्यकताओं, जीवन की सुविधाओं तथा विलासिता की वस्तुओं को खरीदने के काम आता है जो कि मनुष्य को अपना जीवन-स्तर कायम रखने अथवा उठाने के लिये आवश्यक होती हैं। इसलिये मजदूर की दिलचस्पी इस बात में नहीं होती कि उसको मजदूरी के रूप मे कितनी मुद्रा धन प्राप्त होती हैं वह तो इस बात को देखता है कि प्राप्त मौद्रिक धन से वह कितनी चीजों को खरीद सकता है। कोई व्यक्ति अपनी मुद्रा से कितनी चीजें खरीद सकता है, यह इस बात पर निर्भर होता है कि मुद्रा की क्रय शक्ति मजदूरी पाने के समय क्या है? मुद्रा की क्रयशक्ति सदा एक सी रहती है। वह समय-समय तथा स्थान-स्थान पर बदलती रहती है। आज भारतीय एक रुपया जितनी चीजें खरीद सकता है १६३६ ई० में इससे कई गुनी चीजें खरीद सकता था। फिर बडे शहरों म एक रुपया जितनी चीजें खरीद सकता है छोटे शहरों तथा कस्बों में वह उससे अधिक चीजें खरीद सकता है। इसलिये यदि दो स्थानों के मजदूरों को समान मौद्रिक आय मिलती भी हो तो उस स्थान के मजदूर की वास्तविक मजदूरी अधिक होगी जहां मुद्रा की क्रय-शक्ति अधिक होगी।

किसी मजदूर की वास्तविक मजदूरी निकालने के लिये हमको उसकी कुल आय में से वह खर्च अवश्य घटाना चाहिये जो कि उस आय को पैदा करने के लिये किया गया है। प्रा० मार्शल का मत है कि इस प्रकार के खर्चों मे न तो उस शिक्षा का खर्च सम्मिलित किया जाना चाहिये जो कि मजदूर को किसी पेशे के लिये प्रशिक्षित करने लिये करना पड़ता है और न उस थकान अथवा शक्ति के ह्रास को घटाना चाहिए जो कि मजदूर का आय कमाने के दौरान में होता है। इसके विपरीत, कुल आय मे से मकान का भाड़ा, नौकर का खर्च, आने जाने का खर्च आदि घटाना चाहिये।

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी पेशे के मजदूर को अपने पास से वर्दी बनवानी पड़ती है। ऐसी स्थिति में वास्तविक आय कुछ कम हो जाती है। इसके विपरीत, कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्पादक अपने मजदूरों को स्वयं अपने खर्च पर वर्दी, खाना या अल्प आहार आदि की सुविधायें प्रदान करता है। ऐसी स्थिति मे मजदूर की वास्तविक मजदूरी बढ़ जाती है।

कुछ उत्पादक अपने मजदूरों को कारखाने में उत्पादित वस्तुओं को कम तथा सुविधाजनक कीमत पर देते हैं, जैसे बहुत सी कपड़े की मिलें अपनी मिल के मजदूरों को कपड़ा कुछ सस्ती कीमत पर देती हैं। ऐसी स्थिति मे मजदूर की वास्तविक मजदूरी बढ जाती है।

वास्तविक मजदूरी का हिसाब लगाते समय हमको यह भी देखना चाहिए कि किसी मजदूर या किसी पेशे म उन्नति करने के कितने अवसर प्राप्त हैं। यदि किसी पेशे मे सफल व असफल होने वाले लोगों की सख्या बराबर है तो हम

सफल व असफल लोगो की मजदूरी को जोडकर उसको दो से भाग देकर उसका औसत निकाल सकते हैं। परन्तु यदि उनकी सख्या का अनुपात समान न हो तो असफल लोग जितने गुने हैं उनकी औसत मजदूरी को उतने से गुणा करके तथा उसमे सफल लोगो की मजदूरी जोडकर औसत निकालना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि किसी पेशे में असफल लोग सफल लोगों की अपेक्षा पाच गुने हो तथा सफल लोगो की वार्षिक आय २४०० रुपये तथा असफल लोगो की ६०० रुपये हो तो दोनो की मजदूरी का वस्तविक औसत ६०० रुपये वार्षिक होगा। किसी पेशे मे जाने से पूर्व मजदूर इस बात को अवश्य ध्यान मे रखेगा कि उस पेशे की वास्तविक मजदूरी क्या है ?

औसत मजदूरी के अतिरिक्त यह देखना भी आवश्यक है कि किसी पेशे मे उन्नति के कितने अवसर हैं। कुछ पेशे ऐसे होते है जिनमे उन्नति करने की आशा साधारण होती है, कुछ ऐसे होते हैं जिनमे इस प्रकार की आशा बहुत होती है। कुछ पेशे ऐसे भी होते है जिनमे उन्नति बहुत अधिक अथवा बहुत कम हो। जो व्यक्ति जरा साहसी स्वभाव के होते हैं वे इस प्रकार के पेशो मे जाना पसन्द करते हैं परन्तु साधारण मजदूर इस प्रकार के पेशो में जाना पसन्द नही करते। वे यह चाहते है कि मजदूरी भले ही कम हो लेकिन वह निश्चित हो।

वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय यह देखना भी आवश्यक है कि मजदूर को अपने सारे जीवन मे कितनी मजदूरी मिलेगी। कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनमे प्रारम्भ मे मजदूरी भले कम मिले परन्तु यदि मजदूर मे योग्यता हो तो वह बहुत उन्नति कर सकता है। उदाहरण के लिये आय-कर विभाग का एक मामूली कर्मचारी, आय-कर अधिकारी अथवा उससे ऊपर का कोई अधिकारी भी बन सकता है। इसलिये बहुत से व्यक्ति प्रारम्भिक वेतन की ओर ध्यान न देकर इस विभाग मे आना पसन्द करते हैं क्योकि वे जानते हैं कि उनको भविष्य मे बहुत अधिक मिलने की सम्भावना है।

कुछ पेशे ऐसे होते है जिनमे मजदूर को निरन्तर काम नही मिलता। उदाहरण के लिये एक चीनी की मिल मे अधिकाश मजदूरो को प्राय ४-५ महीने ही रोजगार मिल सकता है। इसी प्रकार बन्दरगाह पर काम करने वाले मजदूरो को भी निरन्तर काम नही मिलता। यही कारण है कि इस पेशो मे मजदूरी अन्य पेशो की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। परन्तु यदि इन पेशो मे मजदूरो की औसत वार्षिक मजदूरी का अनुमान लगाया जाय तो वह कम हो जायेगी। इसलिये इन पेशो मे कम मजदूर जाना पसन्द करते हैं।

ऐसे भी पेशे होते हैं जिनमे मजदूर को मजदूरी के सिवा कुछ अतिरिक्त आय भी प्राप्त हो जाती है, जैसे वर्ष मे कुछ धन बोनस के रूप मे प्राप्त हो जाना अथवा बिना किराये अथवा कम किराये पर रहने का मकान, अथवा कम दर पर गैस अथवा खाने पीने का सामान प्राप्त हो जाना। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं

मजदूर को इतना अवकाश मिल जाता है कि वह अपने मुख्य श्रोत के अतिरिक्त भी आय का कोई अन्य श्रोत ढूंढ लेता है, जैसे एक अध्यापक को ट्यूशन आदि से कुछ आय प्राप्त हो जाती है। वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय मजदूर के अतिरिक्त मजदूरी कमाने की सम्भावनाओ पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये।

बहुत से अर्थशास्त्री वास्तविक मजदूरी मे परिवार के अन्य सदस्यो की आय को भी सम्मिलित करते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि परिवार के बच्चों, स्त्रियो आदि को भी रोजगार मिल जाता है। इसलिये परिवार की आय बढ जाती है। वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय मजदूर इस अपने परिवार के सदस्यो के रोजगार की सम्भावना को भी ध्यान मे रखेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मजदूर की मौद्रिक आय उसके लिये इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि उसकी वास्तविक आय। कोई मजदूर किस पेशे मे जायगा, यह उसके व्यक्तिगत स्वभाव व रुचि के ऊपर निर्भर होगा। बहुत से व्यक्ति बडे-बडे शहरो मे रहना पसन्द करते हैं, अन्य उससे दूर रहना। जो गावो मे रहना पसन्द करते हैं वे अधिक वेतन मिलने पर भी बड शहरो मे जाना पसन्द न करेंगे, परन्तु जो शहरो मे रहना पसन्द करेंगे वे कम वेतन लेकर भी शहरो मे जा सकते हैं। साधारणतया किसी समय किसी पेशे में मजदूरो की पूर्ति के ऊपर उपर्युक्त सभी बातो का प्रभाव पडता है।

एक ही पेशे मे मजदूरी क्यों भिन्न होती है—

किसी पेशे मे अनेको प्रकार के मजदूर होते हैं। कुछ शारीरिक काम करते हैं, कुछ मानसिक। इन दोनो प्रकार के मजदूरो की भी कई उप-श्रेणिया हो सकती हैं। किसी का कार्य साधारण होता है तो किसी का पेचीदा। ऐसी स्थिति मे सब मजदूरो को एक सी मजदूरी कैसे दी जा सकती है। यह स्वाभाविक ही है कि जो व्यक्ति अधिक जिम्मेदारी का काम करेगा उसको अधिक मजदूरी मिलेगी तथा जो कम जिम्मेदारी का काम करेगा उसको कम।

एक पेशे मे बहुत सी इकाइया होती हैं। कुछ मे काम करने के घन्टे कम हो सकते हैं तथा कुछ मे अधिक अथवा कुछ मजदूर निर्धारित समय से अधिक काम कर सकते हैं तथा कुछ अतिरिक्त कार्य नही करना चाहते। जो मजदूर निर्धारित समय से अधिक समय तक काम करेंगे उनकी मजदूरी उन मजदूरो से अधिक होगी जो ऐसा नही करते। सब मजदूर समान बुद्धि व शक्ति के नही होते, इस कारण कुछ मजदूर एक दिये हुये समय मे दूसरो से अधिक तथा/अथवा अच्छा काम कर सकते हैं। यदि मजदूर को कार्यानुसार मजदूरी दी जा रही हो तो उन मजदूरो को अधिक मजदूरी मिलेगी जो अधिक तथा/अथवा अच्छा काम कर रहे हैं।

अधिकतर पेशों मे मजदूर को कार्यानुसार मजदूरी न दी जाकर समयानुसार मजदूरी दी जाती है। ऐसी, स्थिति मे मजदूर की कार्य-क्षमता के अनुसार मजदूरी देना कठिन होता है। इसलिये मजदूरी मजदूर-सघ तथा मालिक के आपसी समझौते द्वारा तय होती है, परन्तु कही-कही उन मजदूरो को अधिक मजदूरी दी जाती है जो दूसरो से उच्च स्थान पर नियुक्त होते हैं।

कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि एक स्थान का जीवन यापन दूसरे स्थान की अपेक्षा सस्ता हो ऐसी स्थिति मे यदि दोनो स्थानो पर एक ही प्रकार का उद्योग चल रहा है तो उस स्थान का उत्पादक अपेक्षत: कम मजदूरी देकर मजदूरो को प्राप्त कर सकता है जहा जीवन यापन या तो सस्ता है अथवा जीवन-स्तर अपेक्षाकृत नीचा है। ऐसा करने से दोनो स्थानो के मजदूरो की वास्तविक मजदूरी समान हो जायगी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही पेशे के मजदूरो को यह पता नही होता कि उनके पडोस मे अन्यत्र कही अधिक मजदूरी दी जा रही है। यह अज्ञान भी मजदूरी वैषम्य का कारण हो सकता है। इस प्रकार एक ही पेशे के मजदूरो की मजदूरी भी भिन्न-भिन्न हो सकती है।

विभिन्न पेशों में मजदूरी क्यों भिन्न होती है—

ऊपर हमने बताया है कि एक ही पेशे मे मजदूरो की मजदूरी भिन्न-भिन्न होने के क्या कारण हैं। अब हम बतायेंगे कि विभिन्न पेशों मे मजदूरों की मजदूरी मे क्यो भिन्नता होती है?

हम जानते हैं कि सब पेशे एक समान नही होते। कुछ मे अधिक बुद्धि की आवश्यकता होती है जैसे डाक्टर, इजीनियर, वकील, अध्यापक के पेशो मे। कुछ मे बुद्धि की कम आवश्यकता होती है जैसे क्लार्क के पेशे मे। इसलिये पहली श्रेणी के लोगो को दूसरी श्रेणी के लोगो से अधिक वेतन मिलता है।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनमे अधिक शारीरिक शक्ति खर्च होती है, कुछ मे कम। जिन पेशो मे शारीरिक शक्ति अधिक खर्च होती है उन पेशो के मजदूर अवश्य ही अधिक मजदूरी की माग करेंगे।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनमे घुसने से पहले मजदूर को एक विशेष प्रकार की प्रशिक्षा प्राप्त करनी होती है अन्यथा मजदूर उस पेशे मे नहीं जा सकता। उदाहरण के लिये डाक्टर, इजीनियर तथा वकील को अपना कार्य आरम्भ करने से पहले एक विशेष प्रकार की प्रशिक्षा प्राप्त करनी पडती है। इसके विपरीत, एक क्लार्क को इस प्रकार की किसी शिक्षा की आवश्यकता नही होती। यही कारण है कि पहली श्रेणी के लोगो को दूसरी श्रेणी के लोगो से अधिक वेतन मिलता है।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनमे जोखिम बिल्कुल नही होती, कुछ मे बहुत अधिक होती है। उदाहरण के लिये एक विमान चालक का जीवन एक शिक्षक के

जीवन की अपेक्षा बहुत अधिक जोखिम तथा खतरे में होता है। इसलिये विमान-चालक का वेतन शिक्षक की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनमे कार्य वर्ष के बारहों महीने चलता है, कुछ मे यह वर्ष के कुछ ही महीनो मे चलता है। उदाहरण के लिये, गन्ने की मिल में केवल ४–५ महीने ही काम चलता है। इसके विपरीत, रूई, जूट, लोहे की मिलो मे पूरे वर्ष काम होता रहता है। जिन मिलो म वर्ष के कुछ ही महीनों मे काम चलता है उनम मजदूर शक्ति का स्थायी रूप से उपयोगीकरण नही होता तथा वर्ष के कुछ भाग में व बेकार तथा बिना आय के रहते हैं। इसलिये मजदूर इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनको इतनी मजदूरी मिले कि इससे उन महीनो की क्षति-पूर्ति हो सके जिनमे कि वे बेकार रहते है। इसके विपरीत, जिन उद्योगो मे पूरे वर्ष कार्य होता रहता है उनमे मजदूर थोडी कम मजदूरी लेकर भी सन्तुष्ट हो जाते है क्योकि आय तथा काम मे निरन्तरता होती है।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं, जिनमे मजदूर को उन्नति करने की बडी आशा होती है। उदाहरण के लिये, जैसा हम पहले कह चुके हैं आय कर विभाग का एक मामूली कर्मचारी आय कर अधिकारी भी बन सकता है। इससे विपरीत बहुत से ऐसे विभाग होते हैं जिनमे वार्षिक वृद्धि के अतिरिक्त उन्नति की बहुत कम सम्भावना होती है। जिन उद्योगो में उन्नति करने के अवसर अधिक होते हैं उनमे मजदूरी कम हो सकती है।

सब उद्योगो मे मजदूरो की मजदूरी तभी समान होगी जब कि एक पेशे के मजदूरो को अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लिये दूसरे पेशे मे जाने की स्वतन्त्रता हो अर्थात् श्रम मे पूर्णतया गतिशीलता हो। मजदूरी की गतिशीलता की कमी के बहुत से कारण हो सकते हैं, जैसे एक पेशे तथा दूसरे पेशे के स्वभाव में इतना अन्तर हो कि एक पेशे का मजदूर दूसरे पेशे मे काम न कर सके या एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने जाने का खर्च इतना अधिक हो कि मजदूर जाने की हिम्मत न कर सके अथवा आने जाने के ऊपर सरकार की ओर से पाबन्दी हो, जैसे एक देश का मजदूर दूसरे देश मे स्वतन्त्र रूप से नही जा सकता। इनके अतिरिक्त, श्रम की गतिशीलता मे भाषा, धर्म, पारिवारिक मोह आदि भी रुकावट डाल सकते हैं। श्रम की गतिशीलता में रुकावट चाहे जिस कारण भी हो उसका प्रभाव यह होता है कि उसके कारण एक पेशे तथा दूसरे पेशे मे मजदूरी की मजदूरी मे विषमता हो जाती है।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनमे मजदूरो को मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त कुछ और भी लाभ प्राप्त हो जाते हैं, जैसे उनको रहने के लिये बिना किराये के मकान मिल जाते हैं अथवा खाना मुफ्त मे अथवा कम कीमत पर मिल जाता है अथवा मजदूरों के बच्चो को मालिक द्वारा चलाये गये स्कूल मे मुफ्त शिक्षा मिल जाती है

मादि । इन सब सुविधाओं के प्राप्त होने पर मजदूर अपनी मौद्रिक आय की कमी की परवाह न करके उस पेशे मे चला जाता है ।

इस प्रकार हम देखते है कि विभिन्न पेशो द्वारा दी जाने वाली मौद्रिक मजदूरियो मे बड़ी भिन्नता होती है । इसका कारण यह है कि मजदूर के लिये मौद्रिक-मजदूरी इतनी महत्वपूर्ण नही होती जितनी कि वास्तविक मजदूरी । यही कारण है कि किसी पेशे मे मजदूरों को मुद्रा के रूप में कम मजदूरी मिलने पर भी यदि अन्य सुविधायें अधिक प्राप्त हुई तो मजदूर वहा जायेंगे । पेशे-पेशे मे मौद्रिक मजदूरी मे बहुत भिन्नता हो सकती है परन्तु वास्तविक मजदूरी सब पेशो मे प्रायः समान होती है। यदि वास्तविक मजदूरी सब पेशो मे समान होगी तो कम वास्तविक मजदूरी वाले पेशो से अधिक वास्तविक मजदूरी वाले पेशो की ओर मजदूरो का प्रवाह तब तक चालू रहेगा जब तक कि वास्तविक मजदूरी का स्तर सर्वत्र समान-प्राय. नही हो जाता । हा, ऐसा तभी सभव है जब मजदूरो की स्वतन्त्र गतिशीलता मे कोई व्यवधान न हो ।

मजदूर-संघ तथा मजदूरी
(Trade Unions and Wages)

श्रम की विशेषतायें बताते समय हम बता आये हैं कि श्रमिक एक निर्धन व्यक्ति होता है । उसके पास इतना धन नही होता कि कुछ समय काम न मिलने की स्थिति मे वह अपना तथा अपने बच्चो का भरण-पोषण कर सके । इसके अतिरिक्त वह वस्तु जो कि श्रमिक बेचना चाहता है, अर्थात्-श्रम इतनी शीघ्र नष्ट हो जाती है कि वह उसको कुछ समय तक सचित कर भविष्य मे उसकी कीमत मे वृद्धि होने से उससे कोई लाभ नही उठा सकता । यदि मजदूर एक दिन भी परिश्रम न करे तो उसका वह दिन सदा के लिये नष्ट हो गया । ऐसी स्थिति मे उसको अपना श्रम बेचना ही पडता है, चाहे उसको खरीदार कुछ भी कीमत दे । श्रमिक को अपना श्रम इसलिये भी बेचना पडता है कि उसकी खाने, कपडे से सम्बन्धित कुछ आवश्यक आवश्यकतायें होती हैं जिनकी तुष्टि करना उसके लिये अनिवार्य होता है । इनकी तुष्टि किये बिना उसका जीवन ही नष्ट हो जायेगा । यदि वह श्रम न बेचे तो उसको भूखो मरना पडेगा । इसलिये उसे भूख से बचने के लिये अपना श्रम बेचना ही पडता है । पूंजीपति जो कि इस श्रम को खरीदता है, श्रमिक की इस कमजोरी को जानता तथा उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करता है । वह उसको श्रम से कम मजदूरी देने का प्रयत्न करता है । वह बहुधा उसको श्रम के सीमान्त उत्पादन से भी कम मजदूरी देता है । इसलिये मजदूर आधा भूखा, आधा नगा तथा बहुधा बिना घर-बार के रहता है । वह जानता ही नही कि जीवन के आनन्द क्या-क्या हैं । उसके बच्चो की भी यही स्थिति होती है । न उनको ठीक प्रकार का भोजन मिलता है, न कपडा और न शिक्षा । इसलिये जीवन मे बहुत कम उन्नति कर पाते हैं । यह

सामाजिक अन्याय है। इस प्रकार का सामाजिक अन्याय प्रायः उन सभी देशो मे होता है जो कि औद्योगिक उन्नति के पहले चरण मे होते हैं। इस प्रकार के अन्याय को रोकने का केवल एक उपाय है—और वह है मजदूरो का सामूहिक सगठन। पूंजीपतियो के शोषण से बचने के लिये श्रमिक अपने आप को मजदूर सघो मे सगठित करते है। मजदूर सघो मे सघठित होने के पश्चात् मजदूरो की पूंजीपति के साथ मोल-भाव करने की शक्ति बहुत अधिक बढ जाती है। इसका कारण यह है कि मजदूर सघ के सदस्य होने के पश्चात् मजदूर को स्वय पूंजीपति से मोल-भाव नही करना पडता, इसके बदले मजदूर सघ के नेता जो कि बहुधा मजदूरो के अतिरिक्त कुछ समाज-सेवक होते हैं, मोल-भाव करते हैं। ये नेता जानते हैं कि अमुक मजदूर को कितनी मजदूरी मिलनी चाहिये तथा किस स्थान पर उसको कितनी मजदूरी मिल सकती है। इसलिये पूंजीपति मजदूर की अज्ञानता का लाभ उठाकर उसको कम मजदूरी नही दे सकता। यदि पूंजीपति उचित मजदूरी देने से इकार करता है तो मजदूर-सघ अपने सब सदस्यो से हडताल घोषित करा देते हैं। इसलिये पूंजीपति को बहुधा उचित मजदूरी' (Fair wage) देनी पडती है। 'उचित मजदूरी' वह मजदूरी होती है जो कि मजदर को पूर्ण-प्रतियोगिता के अन्तर्गत अपने काम के प्रतिफल के रूप मे मिलनी चाहिये। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि मजदूर-सघ सामाजिक असन्तोष तथा सामाजिक उन्नति का एक महत्वपूर्ण चिन्ह है।

इस अध्याय मे हम मजदूरी' के ऊपर विचार कर रहे हैं। इस कारण यहाँ हम इस बात पर विचार करेंगे कि मजदूर-सघों का मजदूरी पर क्या प्रभाव पडता है तथा वे किस सीमा तक मजदूरो की स्थायी मजदूरी बढवाने मे सफल हो सकते हैं।

मजदूरी मे दो प्रकार की वृद्धि हो सकती है—अस्थायी तथा स्थायी। इसके अतिरिक्त, मजदूरी मे वृद्धि सभी क्षेत्रो मे हो सकती है अथवा किसी एक क्षेत्र मे। इनमे से हम प्रत्येक पर अलग-अलग विचार करेंगे।

अस्थायी वृद्धि—**प्रो० मार्शल** का मत है कि मजदूरी मे स्थायी रूप से तब वृद्धि हो सकती है जब कि माग की अपेक्षा श्रम की पूर्ति कम हो जाय। यदि मजदूरो की पूर्ति को कृत्रिम रूप से कम कर दिया जाय तो केवल कुछ समय के लिए मजदूरी बढेगी अर्थात् यह वृद्धि अस्थायी होगी। मजदूरी मे इस प्रकार की वृद्धि तभी हो सकती है जबकि निम्नलिखित चार शर्तें पूरी होंगी—

(१) वह चीज जो विचाराधीन श्रम द्वारा उत्पन्न की जा रही हो, अपना कोई निकट स्थानापन्न न रखती हो। यह तभी हो सकता है जबकि (अ) मजदूर-सघों का अपने उद्योग अथवा क्षेत्र मे श्रम की पूर्ति पर नियन्त्रण हो। (ब) वस्तु किसी ऐसे स्थान से न लाई जा सके जहा के श्रम के ऊपर इस स्थान के मजदूर-संघ

का कोई अभाव न हो। (स) वस्तु को मजदूरों की सहायता के बिना स्वतन्त्र रूप से न बनाया जा सके।

(२) श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग की लोच बहुत कम हो। माग की लोच अधिक होने की स्थिति मे मजदूरो की मजदूरी बढने पर जब वस्तु की कीमत बढ जायेगी तब उपभोक्ता उस वस्तु के उपभोग को कम कर देगें जिसके कारण वस्तु की माग कम हो जायेगी। इसके पश्चात् श्रम की माँग स्वभावत कम होगी। श्रम की माग मे कमी होने से मजदूरी न बढ सकेगी।

(३) मजदूरी उत्पादित वस्तु की कुल लागत का एक इतना छोटा अश हो कि मजदूरी के बढने पर भी वस्तु की कीमत म इतनी वृद्धि न हो जाय जिससे कि वस्तु की माग ही घट जाय।

(४) यदि मजदूर मजदूरी के बढाने की माग करते हैं तो लाभ, ब्याज आदि को उसी मात्रा मे कम किया जा सके जिससे कि वस्तु की कुल लागत न बढे।

मजदूरी मे वृद्धि करना कोई सरल काम नही है क्योकि हर समय बहुत सी ऐसी शक्तिया काम करती रहती हैं जो कि मजदूरी बढने क माग म बाधा उपस्थित करती रहती हैं। उदाहरण के लिय, बहुत से ऐस मजदूर होते हैं जो कि मजदूर सघो के सदस्य नही होते। ऐसे मजदूरो के ऊपर मजदूर सघो का कोई नियन्त्रण नही होता। व चाहे जितनी कम मजदूरी ले कर काम कर सकते हैं। पूजीपति इस प्रकार के मजदूरो को उस समय रखने का प्रयत्न करता है जबकि मजदूर सघ अपने सदस्यो के लिये अधिक मजदूरी की माग करगे। कभी कभी पूजीपति का पक्ष इतना शक्तिशाली होता है कि मजदूर उसके सामने अपनी माग नही रख सकते।

मजदूर-सघो का दावा है कि वे मजदूरो क रास्ते मे आने वाली उपर्युक्त बाधाओ को दूर कर सकते हैं। वे यह भी कहते हैं कि वे समान कार्य के लिये समान मजदूरी दिलाने मे सफल होते हैं, चाहे मजदूरी समयानुसार दी जाय अथवा कार्यानुसार।

मजदूर सघ अपने उद्देश्य की सफलता के लिये हडतालों का सहारा लेते है। अथवा वे श्रम की पूर्ति को कम कर देते हैं। हडतालो का व्यापार पर कोई अच्छा प्रभाव नही पडता। जिस उद्योग में हडताल होती है उसम नई पूजी आने हुए घबराती है तथा उद्योग मे लगी हुई पूजी यदि बढी हुई मजदूरी को देने म असमर्थ होती है तो वह उद्योग को छोड कर अन्यन्त्र चली जाती है। इस प्रकार श्रम की माग मे कीमत के कारण मजदूरी भी कम हो जाती है। यदि मजदूर-सघ हडताल न कराय तथा उसके बदले श्रम की पूर्ति को कम करदें तो उनको तेजी के समय भले ही सफलता प्राप्त हा जाय, मदी मे वे मजदूरी बढवाने म सफलता प्राप्त नही कर सकते। मजदूर-सघ मजदूरी बढवाने म तभी सफल हो सकते हैं जबकि उस वस्तु

का जो कि श्रम द्वारा उत्पादित की जा रही हो, स्थानीय विक्रयेकाधिकार हो। ऐसी स्थिति म मजदूरी बढने के फलस्वरूप जब वस्तु की कीमत मे वृद्धि होगी तो जनता को इस बढी हुई मजदूरी का भार सहन करना ही पडेगा। क्योकि वे इस वस्तु को अन्यथा प्राप्त नही कर सकते।

स्थायी वृद्धि—जो लोग मजदूर सघो का विरोध करते हैं उनका कहना है कि मजदूर सघ अपने कार्य के द्वारा जनता तथा पू जीपतियो दोनो को ही हानि पहुँचाते है। इन लोगो का मत है कि यदि पू जीपतियो को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने दिया जाय तो वे दीर्घकालीन योजना बनाकर उद्योग को उन्नत कर सकेंगे। इसके फलस्वरूप मजदूरो को भी इसका लाभ होगा। यदि मजदूर हडताल आदि की धमकी देकर मजदूरी को बढवाने म सफल भी हो जाते हैं तो उनका कार्य ऐसा होगा जैसा कि पेड से कच्चे फल तोडने का होना है। कच्चे फल तोडने से पेड को हानि होती है और खाने वाले को भी आनन्द नही आता। यदि मजदूर सघ पू जीपतियो को ठीक ढग से कार्य न करने दगे तो वे व्यापार मे अधिक दिलचस्पी नही लगे। इसके फलस्वरूप मजदूरी की माँग म कमी होने पर अन्त मे मजदूरी कम हो जायगी। बहुत सी पू जी उस उद्योग अथवा व्यापार को छोडकर अन्यत्र जा सकती है अथवा विदेशो को प्रस्थान कर सकती है। हो सकता है कि पू जी की कमी हमको शीघ्र दृष्टिगोचर न हो। परन्तु धीरे-धीरे उसमे अवश्य कमी होती जायेगी। इसके फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् मजदूरी कम हो जायगी।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि मजदूर सघो के आलोचको का कथन कहा तक ठीक है। यह बात ठीक है कि यदि मजदूर सघ बिना सोचे विचारे मजदूरी म वृद्धि की माग करेंगे तो उससे पू जीपतियो तथा जनता दोनो को हानि होगी। आजकल मजदूर सघ प्राय सभी स्थानो पर यह बात समझ गये हैं कि मूलत मजदूरो तथा पू जीपतियो के हितो मे कोई बडा विरोध नही है। मजदूरो को अधिक मजदूरी तभी मिलेगी जबकि उत्पादन अधिक होगा। उत्पादन को अधिक करने के लिये मजदूर सघ इस बात का प्रयत्न करते हैं कि जहाँ तक हो मजदूरो तथा पू जीपतियो का आपसी सघर्ष समझौते तथा आपसी बात-चीत द्वारा समाप्त हो जाये। जब सघर्ष के इस ढग से सुलझने की आशा नही होती तभी मजदूर सघ हडताल अथवा दूसरे हथियारो का प्रयोग करते हैं। मजदूर-सघ यह भी प्रयत्न करते है कि मजदूरो की कार्य क्षमता मे वृद्धि हो। इस हेतु वे मजदूरो की शिक्षा दिक्षा, उनके मनोरजन आदि का प्रबन्ध करते हैं। इगलैंड आदि देशो मे मजदूर-सघ अपने सदस्यो को बेरोजगारी के समय बेरोजगारी का भत्ता भी देते हैं तथा बीमारी के समय भी सहायता प्रदान करते हैं। इन सब बातो के कारण मजदूरो की कार्य क्षमता मे ह्रास नही होने पाता। इसके फलस्वरूप उत्पादन अधिक होता है। यदि अधिक उत्पादन के कारण मजदूरो को अधिक मजदूरी मिलनी

है तो न तो जनता ही को कोई हानि होती है और न पूंजीपतियों को, इसीलिये ऐसी स्थिति मे मजदूरी स्थायी रूप से बढ सकती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन उद्योगो मे जिनमे कि किसी न किसी प्रकार का विक्रयेकाधिकार होता है मजदूर-सघ मजदूरो की पूर्ति म कमी करके मजदूरी को बढवाने मे सफल तो हो सकते है परन्तु इस वृद्धि से पूंजीपतियों तथा जनता को हानि होती है। ऐसा करने से किसी एक उद्योग मे भले ही मजदूरी बढ जाय, अन्य सभी उद्योगो पर इसका प्रभाव प्रतिकूल पडेगा। मजदूरो को भी इससे अन्त मे हानि होगी क्योंकि मजदूरी बढने के कारण पूंजीपति उस उद्योग को छोडकर अन्यत्र चले जाने का प्रयत्न करेंगे तथा मजदूरो की माँग कम हो जायगी। उन उद्योगो पर तो इसका और भी अधिक खराब प्रभाव पडेगा जिनको कि विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पडता है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसका यह अर्थ नही है कि मजदूर-सघ से मजदूरी को कोई लाभ नही होता। लाभ अवश्य होता है। जिन उद्योगो मे मजदूर-सघ होते हैं उनमे पूंजीपति मजदूरो का शोषण नही कर सकते। वे उनसे अधिक समय तक काम नही ले सकते। उनको मजदूरो की सुरक्षा पर ध्यान देना पडता है। उनके लिये मनोरजन के साधन जुटाने पडते हैं। इस सबसे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनको मजदूरो को उनकी सीमान्त उत्पादन-शीलता के बराबर मजदूरी दे ी पडती है। मजदूरो के लिये मजदूर सघो की यह सेवाए कुछ कम नही।

मजदूर-सघो का मजदूरी पर जो प्रभाव पडता है उसके विषय मे **प्रो० मार्शल का मत है** कि मजदूर-सघ किसी एक उद्योग मे मजदूरी बढवाने मे भले ही सफल हो जाये लेकिन वे सब उद्योगो मे व्यापक रूप से मजदूरी की दर को बढवाने मे सफल नही हो सकते। विशेषत उस समय जबकि व्यापार की स्थिति खराब हो। मजदूर-सघ व्यापारियो के साथ सहयोग करके व्यापार को सुगम बना सकते हैं तथा इस प्रकार परोक्ष रूप से मजदूरी मे स्थायी रूप से वृद्धि करा सकते हैं। अत स्थायी रूप से मजदूरी मे तभी वृद्धि हो सकती है, जबकि निम्नलिखित शर्तें पूरी होगी —

(१) जबकि मजदूर सघ व्यापार को सुगम तथा निश्चित बनाये। समझौता बोर्डों से इस दिशा मे काफी सहायता मिल सकती है।

(२) जबकि मजदूर-सघ अपने सदस्यो के जीवन-स्तर को ऊंचा उठायें। उनको चाहिये कि वे सदस्यो मे सच्चाई, सजीदगी, स्वाभिमान, स्वतन्त्रता आदि गुणो का विकास करें। इसका प्रभाव न केवल सदस्यो पर पडेगा, वरन् उनके बच्चों पर तथा कुछ हद तक समाज पर भी पडेगा।

(३) जबकि मजदूर-सघ मजदूरों के बच्चों के टैकनीकल प्रशिक्षण का प्रबन्ध करें जिससे कि वे ऊंचे-ऊंचे पदों पर काम करने योग्य हो जायें।

(४) जबकि वे मजदूरो के अन्दर की सुप्त शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न करें जिससे कि उत्पादन अधिक तथा कम लागत पर हो ऐसा होने पर राष्ट्रीय आय अधिक हो जायगी तथा मजदूरो को अधिक मजदूरी मिल सकेगी। मजदूर-सघो को वे सब काम नही करने चाहियें जिनसे कि केवल एक श्रेणी के मजदूरो को ही लाभ हो तथा अन्य सब श्रेणियो को हानि पहुचे।

इस प्रकार हम कह सक्ते हैं कि यदि मजदूर-सघ अपने सदस्यो की कार्य-क्षमता को स्थायी रूप से बढा दें तो वे स्थायी रूप से मजदूरी बढवाने मे सफल हो सकते है। परन्तु ध्यान रहे कि मजदूरी स्थायी रूप से श्रम की सीमान्त उत्पादन-शीलता से अधिक नही बढ सक्ती। कुछ समय के लिये यह भले ही इस सीमा को पार कर जाय। पर अन्त मे वह इस सीमा पर फिर से लौटकर आ जायेगी।

जिन उद्योगो मे मजदूर सघ होते है उनमे श्रम की पूर्ति की स्थिति को निम्नलिखित ढग से दिखाया जा सकता है —
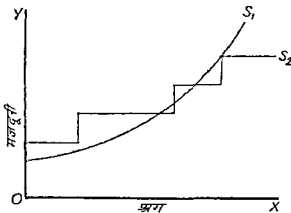
उपर्युक्त चित्र मे OX पर श्रम तथा OY पर मजदूरी दिखाई गई है। इस चित्र मे S_1 वक्र द्वारा श्रम की उस समय की माग को दिखाया गया है जबकि उद्योग मे कोई श्रम-सघ नही है। ऐसी स्थिति मे जब श्रम की माँग बढेगी तो पूजीपतियो को अधिकाधिक मजदूरी देनी पडेगी। इसलिये S_1 बायी ओर से दायी ओर को उठता हुआ दिखाया गया है।

यदि उद्योग मे मजदूर सघ होगा तो मजदूरी वक्र S_1 के समान ऊपर नही उठेगा वरन् यह S_2 के समान सीढीनुमा ऊपर की ओर उठेगा। इसका कारण यह है कि मजदूर-सघ जब एक मजदूरी स्तर को स्वीकार कर लेते हैं तो कुछ समय तक उस स्तर पर ही काम करते रहते हैं। इसलिये श्रम की पूर्ति कुछ समय तक OX के समानान्तर रहेगी अर्थात् उस मजदूरी दर पर श्रम की अधिक या कम माग की जा सक्ती है। परन्तु कुछ समय पश्चात् जब कीमतो के बढने के कारण मजदूरो के

जीवन-स्तर मे वृद्धि हो जाती है अथवा पूजीपति का लाभ स्थायी रूप से बढ जाता है तो मजदूर-संघ अधिक मजदूरी की माग करते है जिसके कारण मजदूरी बढानी पडती है। इस बढी हुई मजदूरी पर श्रम की माग पुन. कुछ समय तक किसी भी मात्रा मे की जा सकती है। यह क्रम निरन्तर जारी रहता है। इसलिये उस समय जबकि किसी उद्योग मे श्रम संघ होते हैं श्रम का पूर्ति वक्र सीढी नुमा होता है।

स्त्रियों की मजदूरी
(Wages of Women)

बहुधा देखा गया है कि स्त्री की औसत मजदूरी पुरुष की औसत मजदूरी से कम होती है। इसके कई कारण हैं।

पहला कारण यह है कि स्त्रियाँ साधारणतया पुरुषो से शारीरिक शक्ति मे कम होती है। इसलिये वे बहुत अधिक समय तथा ऐसा काम नही कर सकती जिसमे पर्याप्त शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये खेतो मे वे हल जोतने, फावडा चलाने आदि का कार्य देर तक पुरुषो के समान नही कर सकती। वे केवल सरल तथा कम परिश्रम वाले कार्य, जैसे पौधे लगाना, फसल काटना, उसे एकत्र करना आदि कार्य कर सकती हैं। इसी प्रकार वे लोहे के कारखानो, भारी इजीनियरिंग उद्योगो, खान खोदने के उद्योगो अथवा इस प्रकार के अन्य उद्योगो मे काम नही कर सकती। इस प्रकार स्त्रियो के लिये कार्य करने के क्षेत्र सीमित होते है। इन सीमित क्षेत्रो मे भी काम पाने के लिये उन्हे पुरुषो की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। इस लिये इन उद्योगो मे श्रम की पूर्ति अपेक्षतया उन उद्योगो से अधिक होती है जिनमे कि केवल पुरुष काम करते हैं। माग की अपेक्षा श्रम की पूर्ति अधिक होने के कारण मजदूरी का कम होना एक स्वाभाविक बात है।

दूसरा कारण यह है कि स्त्रियो की सीमान्त उत्पादन-शीलता (Marginal productivity) प्राय पुरुषो से कम होती है। इसका कारण यह है कि स्त्रिया कार्य करने से जल्दी ही थक जाती हैं और दिये हुए समय मे उतना कार्य नही कर सकती जितना कि एक पुरुष कर सकता है। तीसरा कारण यह है कि स्त्रियाँ निरन्तर कार्य नही कर सकती। विवाहित स्त्रियों को प्रसूति के समय महीनों तक काम बन्द करना पडता है। इसके अतिरिक्त अविवाहित लडकिया बहुधा उस समय तक कार्य करती हैं जब तक कि उनकी शादी नही हो जाती। शादी होने के पश्चात् उनको अपनी ससुराल मे रहना पडता है। यह आवश्यक नही है कि ससुराल भी उसी जगह हो जहा कि लडकी पहले काम कर रही थी। इसीलिये मालिक लोग स्त्रियो को अधिक जिम्मेदारी का काम न तो सौंपते ही हैं और न सिखाते ही है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि काम बिगड जाने की स्थिति मे मालिक पुरुष-मजदूरो की तरह, स्त्री को डाट-फटकार भी नही सकता। स्त्रिया यह बात जानती हैं। इसलिये बहुत

सी स्त्रिया अपेक्षित लगन से काम नही करती। इसके अतिरिक्त, बहुत से आदमी स्त्रियो की अधीनता मे काम करना पसन्द नही करते। इसलिये उनको ऊचे जिम्मेदारी वाले पद नही दिये जाते। नीची श्रेणी के स्थानो पर कार्य करने के कारण उनको कम मजदूरी मिलती है।

चौथा कारण यह है कि अभी तक स्त्रियो मे शिक्षा आदि का बहुत अभाव है। कुछ पाश्चात्य देशो मे स्त्री-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, परन्तु हमारे देश मे तो स्त्री-शिक्षा की ओर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि लडकी के माता पिता यह समझते हैं कि वह उनके पास केवल चन्द दिन की मेहमान है। इसलिये उसकी शिक्षा से उनको कोई लाभ नही होगा। यही कारण है कि हमने देश मे विश्वविद्यालयो मे अभी तक लडकियो की सख्या बहुत कम है। इसीलिये वे डाक्टरी, वकालत, इजीनियरिंग, अखिल भारतीय सेवाओ आदि मे बहुत कम पाई जाती हैं। शिक्षा के अभाव के कारण वे सब कार्य जिनम किसी न किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती है स्त्रियो के लिये बन्द होते हैं। इसलिये स्त्रियो को केवल उन्ही पेशो मे काम करना पडता है जहाँ शिक्षा की बहुत कम अथवा बिल्कुल आवश्यकता नही होती। इसके फलस्वरूप उनकी मजदूरी कम होती है।

पाचवा कारण यह है कि अभी तक स्त्रिया मजदूर सघो की सदस्या नही होती। इसलिये उनको पू जीपतियो के साथ व्यक्तिगत रूप से मजदूरी के विषय मे सौदे करने पडते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रम सौदा करने मे दुर्बल पक्ष होता है। इसलिये उनको कम मजदूरी मिलती है।

परन्तु शिक्षा तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री-पुरुषो मे भेद-भाव की दीवार मिटती जा रही है। अब अधिकाधिक स्त्रिया शिक्षा पा रही हैं तथा प्राय हर क्षेत्र मे पुरुषो से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न कर रही है। माता-पिता भी अब लडकियो की शिक्षा पर पहले से अधिक ध्यान देने लगे हैं। स्त्रिया अधिकाधिक सामाजिक क्षेत्रो मे कार्य करती देखी जाती हैं। आशा है कि अगली एक-दो पीढियो मे स्त्रियो तथा पुरुषो की मजदूरी का यह अन्तर बहुत कम हो जायगा।

मजदूरी सम्बन्धी सिद्धान्त
(Theories of Wages)

मजदूरी मजदूर के, अर्थात् एक जीवित प्राणी के कार्य का प्रतिफल होता है। इसलिये मजदूरी की समस्या अर्थशास्त्र की महत्वपूर्ण समस्याओ मे से एक है। अर्थशास्त्रियो ने मजदूरी की दर निश्चित करने तथा उसके उतार चढाव आदि के सम्बन्ध मे बहुत से नियम तथा सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। अब हम इनके विषय मे विचार करेंगे।

मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त
(Subsistence Theory of Wages)

मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त इस उपधारणा पर आधारित है कि श्रमिक एक साधारण बजाज वस्तु होती है जिसको बाजार मे बेचा व खरीदा जा सकता है। श्रमिक श्रम के बेचने वाले होते हैं तथा उत्पादक श्रम को खरीदने वाले। यह सिद्धान्त यह उपधारणा करके चला है कि श्रमिको तथा उत्पादको मे पूर्ण तथा स्वतन्त्र-प्रतियोगिता होती है। इस प्रकार की सौदा करने की स्वतन्त्रता के कारण मजदूरी का श्रम-लागत के बराबर होना स्वाभाविक ही है।

परन्तु श्रम-लागत है क्या ? श्रम की लागत मे जो चीज़ सम्मिलित होती है वे ये हैं—(१) उन चीज़ो का खर्च जो कि मजदूर को अपना जीवन चलाने तथा कार्य शक्ति कायम रखने के लिए आवश्यक होती है, (२) वह धन जो कि एक मजदूर के अयोग्य हो जाने पर दूसरे मजदूर को उसके बदले लाने के लिये खर्च करना पडता है अर्थात् वह धन जो समाज को आवश्यकतानुसार श्रम की पूर्ति प्राप्त करने के लिये बच्चो के पालने के ऊपर खर्च करना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम की लागत उस धन के बराबर होती है जो कि मजदूर को अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिये आवश्यक होता है।

फ्रासीसी अर्थशास्त्री तुर्गो (Turgot) ने सबसे पहले यह घोषित किया था कि हर प्रकार के श्रम के लिये मजदूर की मजदूरी इतनी गिर जानी चाहिये कि वह केवल उसके निर्वाह के लिये पर्याप्त रह जाय। जे० बी० से तथा रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों ने भी इस सिद्धान्त का न्यूनाधिक समर्थन किया है। लेसले नामक समाजवादी ने इस सिद्धान्त से पूंजीवाद के विरुद्ध मजदूरो का भड़काने मे बडा लाभ उठाया। उसने इस सिद्धान्त को 'मजदूरी का लोह सिद्धान्त' (Iron Law of wages) कहकर पुकारा है। लेसले का मत था कि पूंजीवाद के अन्तर्गत दूसरी वस्तुओं के समान श्रम की कीमत भी माग और पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा निश्चित है। लेसले के अनुसार किसी वस्तु की कीमत उसकी लागत द्वारा निश्चित होती है। इसी कीमत को क्लासिकल अर्थशास्त्री प्राकृतिक कीमत समझते थे।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादको के मतानुसार मजदूरी की प्राकृतिक सीमा वह होती है जो कि मजदूर तथा उसके परिवार के जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक होती है। उनके अनुसार मजदूरी इस सीमा से ऊपर अधिक समय तक नही रह सकती, और न अधिक काल तक इस सीमा से नीचे ही रह सकती है। उनका मत था कि मजदूरी के प्राकृतिक सीमा से ऊपर होने पर मजदूर अधिक शादियाँ करेंगे। इसके कारण उनसे बहुत अधिक बच्चे पैदा होंगे। अधिक बच्चो के कारण श्रम की पूर्ति बढ जायगी। इसलिये मजदूरी ऊँचे स्तर से गिरकर प्राकृतिक सीमा वाले स्तर पर आ जायेगी। इसके विपरीत, यदि किसी समय मजदूरी प्राकृतिक सीमा से नीचो

और ' तो मजदूरो मे विवाह करने की प्रवृत्ति कम पाई जायगी । इसलिये बच्चे भी कम पैदा होंगे । इसके अतिरिक्त मजदूरी कम होने से मजदूरो तथा उनकी स्त्रियो की खूराकें भी अधिक पौष्टिक न होगी जिससे उनकी जनन-शक्तिक्षीण हो जायेगी। कम बच्चे पैदा होने के कारण धीरे-धीरे श्रम की पूर्ति भी कम हो जायगी। श्रम की पूर्ति कम होने के कारण मजदूरी बढकर प्राकृतिक सीमा पर पुन आ जायेगी। इस प्रकार मजदूरी बहुत समय तक प्राकृतिक सीमा से न नीची रह सकती है और न ऊंची।

आलोचनायें—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मुख्यत क्लासिकल अर्थशास्त्री थे। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के पश्चात् आने वाले अर्थशास्त्रियों ने मजदूर के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही किया। इसका कारण यह था कि यह सिद्धान्त निराशा-पूर्ण तथा व्यावहारिक जगत से दूर था। समाजवादियो ने तो इस सिद्धान्त के कारण ही उस समय के आर्थिक ढाचे की कटु आलोचना की थी। वास्तव मे यह सिद्धान्त दोषपूर्ण था। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूर को इतनी मजदूरी मिलनी चाहिये जिससे कि उसका तथा उसके परिवार का भरण-पोषण मात्र हो जाय। परन्तु वह मजदूरी कितनी हो, यह बात निश्चित करना बडा कठिन है। इसका कारण यह है कि एक मजदूर का परिवार छोटा हो सकता है तथा दूसरे का बडा। इस सिद्धान्त के अनुसार दोनो मजदूरो को असमान मजदूरी मिलनी चाहिये। परन्तु व्यवहार मे यह नही हो सकता क्योकि समान कार्य के लिये समान मजदूरी ही दी जाती है और दी जानी भी चाहिये। यह कठिनाई यहीं पर समाप्त नही हो जाती एक मजदूर ऐसा हो सकता है जो कि कम खाता हो तथा दूसरा ऐसा हो सकता है जो अधिक खाता हो। फिर एक मजदूर ऐसा हो सकता है जिसको शराब व मास की बुरी तरह लत हो तथा इनके बिना उसका काम ही न चले, परन्तु दूसरा ऐसा हो सकता है कि वह इन चीजो को खाना पसन्द नही करता। ऐसी स्थिति मे दोनो मजदूरो को भिन्न-भिन्न मजदूरी मिलनी चाहिये, परन्तु व्यवहार मे ऐसा नही होता। अपरच एक ही पेशे मे काम करने वाले दो देशो के मजदूरो की जीवन-निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकतायें भिन्न भिन्न हो सकती हैं तिस पर भी कदाचित उन्हें समान मजदूरी मिलती हो। अथवा, दो देशों के मजदूरो की जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकतायें समान हो फिर भी उनको भिन्न-भिन्न दरो पर मजदूरी मिलती है, यद्यपि इस सिद्धान्त के अनुसार उनको समान मजदूरी मिलनी चाहिये। फिर जीवन-निर्वाह की सीमा मे भी समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। आज से सौ वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज जिन चीजो का व्यवहार करते थे आजकल उनके स्थान पर हम उन तमाम भिन्न भिन्न चीजो का प्रयोग करते हैं। जो चीजें कल आरामदायक थी वे आज आवश्यक हो गई हैं क्योकि कल की विलासिता की चीजें आज की आवश्यकतायें बन गई हैं। तो यहा प्रश्न आयेगा कि मजदूर के जीवन-निर्वाह के लिये कौन कौन सी चीजें आवश्यक समझी जायें, क्या वे चीजें जो कि हमारे पूर्वजो के लिये

आवश्यक थी या व जो हमारे लिये आवश्यक है ? यह सिद्धान्त इन प्रश्न उत्तर देने में असमर्थ है। यह सिद्धान्त इस बात का भी कोई उत्तर नही देता मजदूर को कभी अधिक तथा कभी कम मजदूरी क्यो मिलती है। न यह इस बात का कोई उत्तर देता है कि यूरोप व अमेरिका के मजदूरो को भारत के मजदूरो से अधिक मजदूरी क्यो दी जाती है। जहाँ तक खाने, कपडे की बात है वह तो दोनो देशो के मजदूरो को समान ही चाहिये, फिर भी भारत के मजदूरो को कम मजदूरी क्यो मिलती है ?

इस सिद्धान्त की यह धारणा कि, जीवन निर्वाह की सीमा से अधिक मजदूरी मिलने पर मजदूर अधिक विवाह करके अधिक बच्चे पैदा करेंगे, व्यावहारिक दृष्टिकोण से गलत है। वास्तव मे होता है इसके विपरीत। जैसे-जैसे लोगो का जीवन-स्तर बढता है, वैसे-वैसे वे कम शादियां करते हैं और यदि शादियां भी करते है तो बच्चे कम पैदा करते हैं, जिससे कि उनका जीवन-स्तर न गिर जाय। किसी ने ठीक ही कहा है कि आजकल का आदमी मोटर-कार और बच्चे मे से मोटर-कार ही को अधिक पसन्द करता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त का आधार ही गलत है।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त को मजदूरी का अपूर्ण सिद्धान्त कहा गया है क्योकि यह केवल मजदूरो की पूर्ति-पक्ष ही पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, उनके माग पक्ष की ओर ध्यान नही देता। हो सकता है कि मजदूर को अपने जीवन-निर्वाह के लिये १०० रुपये महीने की आवश्यकता हो परन्तु वह महीने मे केवल ६० रुपये का माल तैयार कर पाता हो। ऐसी स्थिति मे उत्पादक उसको कभी भी १०० रुपये महीना मजदूरी न देगा।

यह सिद्धान्त मजदूरो की कार्य-कुशलता पर कोई ध्यान नही देता। हम सभी जानते हैं कि सब मजदूर बुद्धि, बल आदि मे समान नही होते। एक मजदूर एक निश्चित समय मे दूसरे से अधिक उत्पादन कर सकता है। इसलिये उसको दूसरे मजदूर से अधिक मजदूरी मिलती है परन्तु सम्भव है कि उसका परिवार दूसरे मजदूर की अपेक्षा छोटा हो जिससे कि उसके जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक व्यय दूसरे मजदूर की आवश्यकता से कम हो। इस सिद्धान्त के अनुसार तो पहले मजदूर को कम तथा दूसरे को अधिक मजदूरी मिलनी चाहिये, परन्तु ऐसा कभी नही होता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जीवन निर्वाह सिद्धान्त सब मनुष्यो को समान रूप से कार्य-कुशल मानकर चला है, जो गलत है।

यह सिद्धान्त बहुत निराशाजनक है क्योकि इसके अनुसार मजदूरो की मजदूरी जीवन-निर्वाह से अधिक नही हो सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर लोग तेली के बैल के समान कार्य करते हुए समस्त जीवन समाप्त कर देंगे लेकिन उनको जीवन मे भूख तथा दरिद्रता की सीमा पर ही डेरा डाले रहना पडेगा, सुख के दर्शन की वे आशा भी नहीं कर सकते, उसे वास्तव में पाना तो दूर रहा।

मौर न उनके बच्चो को शिक्षा-दीक्षा ही मिलेगी। ऐसी धारणा तो सरासर सामाजिक मन्याय होगा तथा इसे कोई भी सभ्य समाज सहन नही कर सकता।

मजदूरी का जीवन-स्तर सिद्धान्त
(Standard of Living Theory of Wages)

बहुत से मर्थशास्त्रियो ने मजदूरी के जीवन-निर्वाह सिद्धान्त की व्याख्या उदार दृष्टि से की है। उनका मत है कि जीवन-निर्वाह मे केवल वही चीज सम्मिलित नही की जानी चाहियें जो कि मजदूर का जीवन कायम रखने के लिये मावश्यक होनी है वरन् इनमे वे चीजें सम्मिलित की जानी चाहियें जो कि एक सभ्य समाज मे रहने वाले व्यक्ति के लिये मावश्यक होती है। यदि हम जीवन-निर्वाह की परिभाषा इस मर्थ मे करें तो हम देखेंगे कि समय-समय पर उन चीजो मे मन्तर हो जायगा जो कि जीवन-निर्वाह के लिये मावश्यक होगी। इसका कारण यह है कि सभ्यता मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। इसलिये सभ्यता के प्रत्येक चरण की चीजो के समूह मे भी मन्तर होता है। माज से सौ वर्ष पूर्व के मजदूरा को जिन-जिन चीजो की मावश्यकता थी माज के मजदूर को उससे कई गुनी चीजो की मावश्यकता है। इसलिये सौ वर्ष पूर्व मजदूरो को जितनी मजदूरी दी जाती थी माज उससे कई गुनी मजदूरी दी जानी चाहिये। कुछ लोगो का मत है कि मजदूरी मजदूरो की मादत, रीति रिवाज मर्थात् उनके जीवन-स्तर द्वारा निश्चित होनी चाहिये तथा यह मजदूरी मात्रा मे इतनी होनी चाहिये कि उससे मजदूरो की शारीरिक, सामाजिक, प्राकृतिक तथा कृत्रिम सभी प्रकार की मावश्यकतायें पूरी हो जायें। यदि मजदूरी मजदूर के जीवन-स्तर द्वारा निश्चित होगी तो इसमे देश, काल, जाति मादि के मनुसार परिवर्तन होना रहेगा। यदि जीवन-निर्वाह सिद्धान्त को इस दृष्टि से देखा जाय तो यह मजदूरी का 'लौह सिद्धात' न कहला कर मजदूरी का 'स्वर्ण सिद्धात' (Golden Law of Wages) कहलायेगा क्योंकि यह मजदूरो को उससे मधिक मजदूरी दिलाने की माशा दिलाता है जितनी पाने के वे मधिकारी होते हैं।

मजदूरी के इस सिद्धान्त का वर्णन ममेरिकन मर्थशास्त्री जार्ज गन्टन (George Gunton) ने मपनी पुस्तक 'वेल्थ एण्ड प्रोग्रेस' मे किया था। गन्टन का मत था कि मजदूरी उस न्यूनतम सीमा पर निर्भर होती है जिस तक कि मजदूर मपना जीवन चला सकता है। प्रतियोगिता के कारण मजदूरी इस न्यूनतम सीमा तक गिर सकती है, परन्तु वह इससे नीचे नही गिर सकती। यदि वह इस सीमा से भी नीचे गिर जायगी तो मजदूर भूखो मरना पसन्द करेंगे परन्तु काम नही करेंगे। यह भी हो सकता है कि वे हड़ताल के द्वारा मपनी मजदूरी को ऊंचा उठवा लें। इस प्रकार मजदूरी किसी समय भी न्यूनतम जीवन-स्तर की सीमा से नीचे न गिरेगी।

आलोचन यें—यह सिद्धान्त पहले की अपेक्षा उदार अवश्य है परन्तु है दोष-पूर्ण। यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि हमको कदाचित् एक भी मजदूर ऐसा न मिलेगा जिसे अपने जीवन स्तर की सीमा से कम मजदूरी न मिलती हो। कोई आदमी न स्वयं भूखो मरना पसन्द करता है और न अपने परिवार को ही भूखो मरते देख सकता है। यदि मजदूर को किसी समय केवल इतनी ही मजदूरी मिल पाती है जिससे कि उसका तथा उसके परिवार का केवल भरण-पोषण ही सम्भव हो सकता है तथा इससे अधिक मजदूरी प्राप्त होने की उसको कहीं से भी आशा नहीं है तो वह उस कम मजदूरी को ही लेकर सन्तोष करेगा। आजकल मजदूरों का स्थान निरन्तर मशीनें ग्रहण करती जा रही हैं, तथा मजदूरों की पूर्ति, माग की अपेक्षा बढती जा रही है। इसलिये मजदूरों की मजदूरी कम होती जा रही है। ऐसी स्थिति मे कोई मजदूर इस बात की जिद पकड कर नहीं बैठ सकता कि वह अपने जीवन स्तर की न्यूनतम सीमा से कम मजदूरी लेगा ही नहीं। हो सकता है कि कुछ कार्य-कुशल श्रमिक अपने जीवन-स्तर के अनुसार मजदूरी पा जायें, परन्तु अ-कुशल श्रमिक तो अपने जीवन स्तर के अनुसार मजदूरी कठिनाई से ही पा सकते हैं।

इस सिद्धान्त का दूसरा दोष यह है कि यह कार्य और कारण के भेद को ठीक नहीं समझाता। यह कार्य को कारण तथा कारण को कार्य समझता है। मजदूरी इसलिये ऊंची नहीं होती कि मजदूर का जीवन-स्तर ऊंचा होता है वरन् जीवन स्तर इसलिये ऊंचा होता है कि मजदूरी ऊंची होती है। एक व्यक्ति इसलिये अपने जीवन-स्तर को ऊंचा नहीं उठाता कि उसको अधिक मजदूरी मिलेगी वरन् वह अधिक मजदूरी इसलिये चाहता है कि उसका जीवन-स्तर ऊंचा हो सके।

इस सिद्धान्त का तीसरा, दोष यह है कि पहले सिद्धान्त के समान यह एकाङ्गी है, क्योंकि यह केवल मजदूरी निर्धारण करने वाली शक्तियों मे केवल एक ही शक्ति, अर्थात् पूर्ति पर ही ध्यान देता है तथा माग की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। हो सकता है कि मजदूर का जीवन-स्तर इतना ऊंचा हो तथा उसके द्वारा किया गया उत्पादन का मूल्य इतना कम कि उत्पादन के लिये मजदूर के जीवन-स्तर को कायम रखने के लिये मजदूरी देना सम्भव न हो सके। इसलिये अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लिये उसको अपनी उत्पादनशीलता को बढाना पडेगा। जब उसकी उत्पादन शीलता बढ जायगी तभी उसको अधिक मजदूरी मिलेगी तथा अधिक मजदूरी मिलने पर ही वह अपना जीवन-स्तर ऊंचा उठा सकेगा।

इस प्रकार मजदूरी का जीवन-स्तर सिद्धान्त यद्यपि मजदूरी के जीवन निर्वाह सिद्धान्त से श्रेष्ठ है क्योंकि यह मजदूरों के लिये एक समुचित जीवन-स्तर बिताने का अवसर देता है जिसके कारण कि उनकी कार्य-क्षमता बढ सकती है तथा वे भविष्य मे होने वाली आपत्ति के लिये भी धन बचा कर रख सकते हैं तो भी

उपर्युक्त आलोचनाओं पर गम्भीरता से विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि यह मजदूरी का वास्तविक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता।

मजदूरी कोष सिद्धांत

(Wages Fund Theory)

मजदूरी कोष सिद्धान्त क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त था।* यह सिद्धान्त माग पूर्ति के सिद्धान्त जैसा ही है। इसके अनुसार पूर्ति-पक्ष की ओर मजदूर होते हैं जो कि काम की तलाश में होते जिससे कि वे अपना पेट भरने के लिये धन कमा सकें। इसके विपरीत, मांग-पक्ष की ओर पूंजीपति होते हैं जो कि व्यापार तथा उद्योगों में अपनी पूंजी लगाकर लाभ कमाना चाहते हैं। अपनी कुल चल पूंजी के एक निश्चित अंश को पूंजीपति सीधे श्रम खरीदने में लगाता है। मिल के अनुसार, पूंजीपति अपनी पूंजी का कुछ निश्चित अंश श्रम क्रय करने के हेतु अलग रख देता है, इसी अंश को मजदूरी-कोष कहते हैं। इस पूंजी अंश तथा मजदूरों की संख्या के अनुपात द्वारा ही मजदूरी की दर निश्चित होती है। उदाहरण के लिये, यदि किसी देश में चल पूंजी २ अरब रुपये हों तथा उस देश की वह जन-संख्या जो कि उत्पादन कार्य में लगाई जा सकती है, १० लाख हो, तो उस देश की औसत मजदूरी २००० रुपये वार्षिक होगी। इस प्रकार मजदूरी की दर निकालने के लिये हम को देश की चल पूंजी अथवा मजदूरी कोष को मजदूरों की संख्या से भाग देना पड़ता है तथा ऐसा करने से जो भजनफल प्राप्त होता है वह मजदूरी की दर होती है। मजदूरी कोष प्रायः स्थिर रहता माना गया था।

ऊपर के कथन से यह बात साफ जाहिर है कि मजदूरी तभी बढ़ सकती है जबकि निम्नलिखित शर्तों में कोई शर्त पूरी हो —

(१) वह कोष जिससे से मजदूरों दी जाती है, बढ़े। इस कोष को बढ़ाने का एकमात्र उपाय बचत करना है।

(२) यदि मजदूरी कोष न बढ़े तो मजदूरों की संख्या घटे। यह तब हो सकता है जबकि लोग माल्थस के बताये हुये रास्ते पर चलें अर्थात् या तो वे शादी ही न करें और यदि करें भी तो फिर बच्चे कम से कम पैदा करें।

जैसा ऊपर कहा गया है, मजदूरी-कोष का मुख्य प्रतिपादक जान स्टुअर्ट मिल था। मिल का मत था कि मजदूरी श्रम की माग तथा पूर्ति पर निर्भर होती है। जन-संख्या में हम देश की सारी जन-संख्या को सम्मिलित न करके केवल उसी जन-संख्या को सम्मिलित करेंगे जो कि मजदूरों के रूप में काम करती है अर्थात् जो किराये पर काम करती है। पूंजी के अन्तर्गत भी हम देश की समस्त पूंजी को

---

*यद्यपि यह सिद्धान्त पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों को भी ज्ञात था, किन्तु इसके स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम प्रतिपादन जे० एस० मिल ने किया।

सम्मिलित न करके केवल उसी पूंजी को सम्मिलित करेंगे जो कि चल होती है तथा जो कि प्रत्यक्ष रूप से श्रम का क्रय करने के काम आती है। यदि किसी समय अथवा स्थान पर दूसरे समय अथवा स्थान की अपेक्षा मजदूरी अधिक होती है जिसके कारण पहले समय अथवा स्थान के मजदूर दूसरे समय अथवा स्थान के मजदूरों से अधिक आराम में होते हैं तो यह इस कारण होता है कि पहले समय अथवा स्थान पर दूसरे समय अथवा स्थान की अपेक्षा पूंजी का जन-सख्या से अधिक अनुपात होता है। मजदूरों के लिये देश में संचित पूंजी अथवा देश का कुल उत्पादन कोई विशेष महत्व नहीं रखता। उनके लिये वह धन भी कोई महत्व नहीं रखता जिसका मजदूरी के रूप में बांटे जाने की आशा है। उनके लिये वह अनुपात महत्वपूर्ण होता है जो कि उस धन अथवा कोष का मजदूरों की उस सख्या से होता है जिनमें कि वह बांटा जाता है। इसके पश्चात् मिल ने कहा कि मजदूरी न केवल पूंजी तथा जन-सख्या की सापेक्षित मात्रा पर निर्भर ही होती है वरन् प्रतियोगिता के अन्तर्गत, इस पर किसी दूसरी चीज का प्रभाव नहीं पड सकता। (मजदूरी अर्थात् उसकी साधारण दर) उस समय तक नहीं बढ़ सकती जब तक कि उस पूंजी-अश में वृद्धि न की जाय जो कि मजदूरी देने के काम में आती है अथवा उन लोगों में कमी न हो जाय जो कि मजदूरी पर काम करने के लिये प्रतियोगिता करते हैं। इसके विपरीत मजदूरी उस समय तक नहीं गिर सकती जब तक कि उस पूंजी अश में कमी न हो जाय जो कि मजदूरों को बांटने के लिये रखी गई है अथवा उन मजदूरों की सख्या में वृद्धि न हो जाय जिनमें कि वह पूंजी बांटी जायगी।

आलोचनायें—मिल के इस सिद्धान्त को पढ़ने पर पता चलता है कि यद्यपि वह पहले दोनों सिद्धान्तों से अच्छा है क्योंकि यह माग और पूर्ति दोनों पक्षों पर विचार करता है तो भी यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरों का भविष्य अधकारमय है। इसका कारण यह है कि मजदूरों की सख्या में जिस गति से वृद्धि होती जा रही है उस गति से पूंजी अश में वृद्धि नहीं हो रही है जो कि मजदूरों में बांटी जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरी की दर निरन्तर गिरती जायगी और अन्त में एक बिन्दु ऐसा भी आ जावेगा जबकि मजदूरी दर और अधिक न गिर सकेगी। यह सब इसलिये होगा कि जन-सख्या तो स्वयं बिना किसी प्रयत्न के बढ़ती है, जबकि पूंजी के सचय करने में त्याग और बलिदान की आवश्यकता पड़ती है। इस सिद्धान्त में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं—

(१) इस सिद्धान्त का आधार ही गलत है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जो चल पूंजी मजदूरों में बांटने के लिये रखी जाती है वह वितरण के काम में न आकर उत्पादन करने के काम में आती है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक उत्पादन के पास इतनी चल पूंजी है तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह सब मजदूरी के रूप में बांटने के लिये होती है वरन् इसका यह अर्थ है कि इतनी पूंजी कच्चा माल, औजार आदि में खरीदने के लिये है। जब यह

पूंजी उत्पादन कार्य में लग जायेगी तभी इससे पहले से अधिक पूंजी उत्पन्न होगी। यही अधिक पूंजी मजदूरो को मजदूरी के रूप मे बाटने के के काम मे आती है। इस प्रकार मजदूरी इस बात पर निर्भर नही होती कि उत्पादक की उत्पादन काय के लिये क्या योजना है तथा उस योजना को कार्यान्वित करने के लिये उसके पास क्या साधन हैं।

(२) इस सिद्धान्त को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि मजदूरी की दर चल पूंजी को मजदूरो की सख्या से भाग देने पर प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस देश मे पूंजी अधिक होगी तथा मजदूरो की सख्या कम उस देश मे मजदूरी की दर अधिक होगी। परन्तु व्यवहार मे ऐसा नही देखा जाता। व्यवहारिक रूप म तो उन्ही देशो मे मजदूरी की दर अधिक होती है चाहे उनके पास चल पूंजी की मात्रा कम क्यो न हो।

(३) यदि हम इस बात पर विचार करे कि वह चल पूंजी कहां से आती है जो कि मजदूरो मे मजदूरी के रूप मे बांटी जाती है तो हमको पता चलेगा कि वह मजदूरो द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। प्रो० जे० बो० क्लार्क ने श्रम तथा पूंजी की तुलना एक पानी के पम्प के काय से की है। उनका कहना है कि यदि एक आदमी पानी के भरे हौज मे पम्प द्वारा पानी डालता रहे तो वह हौज से उफना कर बाहर बहने वाले पानी से अपना काम चला सकता है। यहा यह प्रश्न उठता है कि वह आदमी पम्प का पानी काम मे लाया या हौज का। एक अर्थ मे वह दोनो का पानी काम मे लाया। इसका कारण यह है कि वह पानी जो काम मे लाया जा रहा है हौज से बह-बह कर आ रहा है। परन्तु क्यो? क्योकि हौज मे पम्प द्वारा पानी छोडा जा रहा है। यदि पम्प को बन्द कर दिया जाय तो पानी बहना बन्द हो जायगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हौज के अन्दर भरे हुए पानी का हौज स बहते हुए पानी के साथ कोई सम्बन्ध नही है। हौज मे चाहे पानी अधिक हो या कम, हौज से बाहर बहने वाले पानी की मात्रा पम्प की पानी निकालने की शक्ति पर निभर होगी। यदि हम इस उपमा को मजदूरी कोष पर लागू करें तो पता चलेगा कि मजदूरी का सम्बन्ध उस पूंजी से कभी नही हो सकता जो कि पूंजीपतियो के पास होती है। वह तो हौज मे भरे हुये पानी के समान है। इस पूंजी मे पम्प के समान मजदूरो की उत्पादन क्रिया द्वारा वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि हौज से बाहर बहते हुए पानी के समान होती है। जिसको कि मजदूरो का मजदूरी के रूप म वितरण किया जाता है। इस प्रकार मजदूरी की दर चल पूंजी की मात्रा पर निर्भर नही होती वरन् मजदूरो द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओ के मूल्य पर निर्भर होती है।

(४) मजदूरी कोष की सबसे बडी आलोचना थोर्नटन (Thornton) द्वारा की गई। थोनटन ने कहा कि यदि मजदूर अपनेआपको सगठित कर लें तो वे अपनी मजदूरी की दर बढ़वा सकते हैं। यदि ऐसा है तो फिर मजदूरी का कोई

इतना कहने के पश्चात् वाकर ने आगे कहा कि लगान, ब्याज, लाभ आदि को निश्चित करने के लिये कुछ निश्चित नियम हैं जिनके अनुसार उत्पादन में जमींदार, पूँजीपति तथा साहसी के हिस्से निश्चित होते हैं। उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु में से जब ये तीनों हिस्से (लगान, ब्याज तथा लाभ) घटा दिये जाते हैं तब जो कुछ सम्पत्ति बचती है, चाहे वह एक दिन में उत्पन्न की गई हो अथवा एक वर्ष में, सबकी सब श्रमिक वर्ग की है तथा यही उनकी मजदूरी अथवा उनकी सेवाओं का प्रतिफल है। उनके (मजदूरों के) काय करने के उत्साह, उनकी साधनों के उपयोग में मितव्ययिता अथवा उनका तैयार माल के साथ सावधानी बरतने के कारण उत्पादित वस्तु के मूल्य में जो वृद्धि होती है वह वृद्धि प्राकृतिक नियमों की बदौलत उनको (मजदूरों को) मिलती है, परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि प्रतियोगिता पूर्ण तथा अबाध हो।

इस प्रकार प्रो० वाकर के अनुसार किसी उद्योग में जो कुछ भी वस्तु उत्पन्न की जाती है वह लगान, ब्याज, लाभ तथा मजदूरी के रूप में बाँटी जाती है। इनमें से लगान, ब्याज तथा लाभ तो निश्चित नियमों के अनुसार बाँटे जाते हैं परन्तु मजदूरी को बाँटने का कोई निश्चित नियम नहीं होता। लगान, ब्याज तथा लाभ को कुल उत्पादन में से घटा देने के पश्चात् जो कुछ भी शेष बचेगा वह सबका सब मजदूरों को मजदूरी के रूप में मिलेगा। इस प्रकार प्रो० वाकर के अनुसार कुल उत्पादन में मजदूरों का हिस्सा निश्चित नहीं होता। वह उत्पादित वस्तु की मात्रा पर निर्भर होता है। यदि उत्पादन राशि अधिक होगी तो मजदूरों को अधिक मजदूरी मिलेगी, यदि वह कम होगी तो मजदूरों का हिस्सा कम हो जायगा। इस प्रकार प्रो० वाकर के अनुसार मजदूर उस उत्तराधिकारी के समान है जिसको, अन्य उत्तराधिकारियों के हिस्से निकालने के पश्चात् जो शेष बचता है, वह सबका सब मिलता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन :—

यदि वाकर का यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से ठीक हो तो हम यह कह सकते हैं कि मजदूरी के 'लौह सिद्धान्त' तथा मजदूरी कोष सिद्धान्त' मजदूरों को जितना निरुत्साहित करने वाले हैं उतना ही यह सिद्धान्त उनको उत्साहित करने वाला है। इसका कारण यह है कि यह मजदूरों को यह संदेश देता है कि तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथ में है। यदि तुम अधिक उत्पन्न करोगे तो तुमको अधिक मजदूरी मिलेगी, यदि तुम कम उत्पन्न करोगे तो तुमको कम मजदूरी मिलेगी। इस प्रकार उत्पादन वृद्धि सम्बन्धी जो भी उन्नति किसी देश में होती है उस सबका लाभ केवल मजदूरों को होगा, चाहे वह भौतिक उन्नति हो या मानसिक अथवा टैक्नीकल। इस प्रकार यह सिद्धान्त मजदूरों के लिये एक आशा का शुभ सन्देश है तथा उन्हें उनके उत्तरदायित्व निभाने की प्रेरणा देता है। देश के भिन्न भिन्न भागों तथा उद्योगों में मजदूरी वैषम्य के कारण को भी यह सिद्धान्त स्पष्ट कर देता है।

यदि इस सिद्धान्त को ठीक माना जाय तो हम यह कह सकते है कि मजदूरो को अपना सगठन बनाने से कोई लाभ नही होगा क्योकि यदि ब्याज, लगान तथा लाभ एक निश्चित ढग से निकाले जाते हैं तो मजदूरो के सगठन उनम कोई परिवर्तन नही कर सकते। उनको देने के पश्चात् जो कुछ बचेगा वह सबका सब तो मजदूरो को मिले होगा, फिर सगठन बनाने की क्या आवश्यकता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वाकर ने जो कुछ कहा है उनको उस पर स्वय ही विश्वास नही था क्योंकि वह कहता है कि यदि मजदूर अपने हितो की रक्षा करने में लापरवाही करेगे अथवा देश के अन्दर ऐसे सरकारी कानून होग जो कि दोषपूर्ण हो अथवा सबको समान न्याय प्रदान न करते हों अथवा कुछ ऐसे सामाजिक नियम हो जो कि सरकारी नियमो के समान ही दृढ हो और ये नियम भी पक्षपाती हो तो यह हो सकता है कि मजदूरो का अपना पूरा हिस्सा न मिले और उनका कुछ हिस्सा लगान, ब्याज अथवा लाभ के रूप मे चला जाय। वाकर भी कहता है कि मजदूरो तथा मिल मालिको के बीच दुर्बल, तनाव वाली (*Spasmodic*) अथवा बुद्धिहीन प्रतियोगिता होन के कारण मजदूरों के लाभ मे कमी हो सकती है। चूंकि व्यवहार मे पूर्ण तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता नही पाई जाती इसलिय मजदूरों को अपना पूरा हिस्सा कभी भी न मिल पायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरो को जो कुछ मिलेगा वह एक अवशिष्ट दावी के रूप मे नही वरन् अपनी प्रतियोगिता शक्ति के कारण।

यदि इस सिद्धान्त को ठीक माना जाय तो मजदूरो के लिये साझेदारी तथा लाभ बटवारे से भी अधिक लाभदायक मजदूरी का ठेका होगा क्योकि मजदूर को ही उत्पादित वस्तु का अधिक भाग मिलेगा।

मजदूरी का यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से ठीक मालूम नही होता क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि का पूरा-पूरा लाभ मजदूरो को मिलना चाहिय तथा उत्पादन कार्य मे हिस्सा लेने वाले दूसरे साझीदारों अर्थात् उत्पादन के अन्य साधनो को उसका कोई लाभ नही पहुचाना चाहिय। व्यवहार म न कभी ऐसा होता है और न होना चाहिये। हम यह तो मान सकते हैं कि यदि देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होगी तो उसका कुछ लाभ मजदूरो को अधिक मजदूरी के रूप में मिलना चाहिये परन्तु हम यह नही मान सकते कि मजदूर को छोडकर, उत्पादन के अन्य साधनो के स्वामियो अर्थात भूमि के स्वामियों, पूँजीपतियों तथा व्यवस्थापको को उसका कोई लाभ ही नही पहुँचना चाहिये। वास्तव मे उत्पादन के बढने घटने का प्रभाव सर्वाधिक 'लाभ' पर पडता हुआ माना जा सकता है न कि मजदूर पर। इसलिये 'लाभ' (अर्थात पूँजीपति) को अवशिष्ट दावी मानना अधिक उपयुक्त होगा।

मजदूरी के इस सिद्धान्त मे यह तो स्वीकार किया गया है कि श्रम की उत्पादनशीलता उत्पादन पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है जिसके कारण अधिक

अथवा अच्छा काम करने वालो को दूसरे मजदूरो से अधिक मजदूरी दी जाती है। परन्तु इस सिद्धान्त मे यह बात नहीं मानी गई कि श्रम की पूर्ति का भी मजदूर पर बहुत बडा प्रभाव पडता है। हम जानते हैं कि जब कभी किसी प्रकार के श्रम की पूर्ति कम हो जाती है तो उस प्रकार के श्रम की मजदूरी बढ जाती है तथा उस समय उस प्रकार के श्रम को एक प्रकार का विशेष लाभ प्राप्त होता है जिसको प्रो० मार्शल ने आभास लगान कहकर पुकारा है। इसके विपरीत, यदि मजदूरो की पूर्ति माग से अधिक होती है तो मजदूरी कम हो जाती है। हम देखते हैं कि हमारे देश मे अकुशल श्रम का आधिक्य है जिसके कारण इस प्रकार के मजदूरों को प्राय इतनी कम मजदूरी मिलती है कि एक मजदूर सारे दिन मजदूरी करने के पश्चात अपने परिवार का तो क्या, भली प्रकार अपना पेट भी नही भर सकता। इन सब बातो के कारण वाकर के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही किया गया।

मजदूरी का सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त
(Marginal Productivity Theory of Wages)

बहुत से अर्थशास्त्रियो का मत है कि मजदूरी श्रमिक की उत्पादनीयता पर निर्भर होती है। उत्पादक मजदूरी देते समय यह बात नही देखता कि मजदूर मे कितनी वस्तु उत्पन्न करने की शक्ति निहित है वरन् वह यह देखता है कि मजदूर वास्तव मे वस्तु की कितनी मात्रा उत्पन्न कर सकेगा। उदाहरण के लिये, यदि कोई मजदूर एक दिन में ५ रुपए का कपडा बुनने की शक्ति रखता है परन्तु वास्तव मे वह केवल २ रुपए का कपडा बुन पाता है तो उत्पादक उस मजदूर को अधिक से अधिक मजदूरी के रूप म २ रुपए दे सकता है—इससे अधिक मजदूरी देगा तो उसको हानि होगी। इस प्रकार मजदूरी, मजदूर की उत्पादनीयता द्वारा निश्चित होती है। यदि मजदूरी श्रम की उत्पादनीयता के अनुसार दी जायेगी तो उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार एक उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये उत्पादन के प्रत्येक साधन की सीमान्त लागत को उसकी सीमान्त उत्पादनीयता के बराबर करने का प्रयत्न करता है। मजदूरी का यह सिद्धान्त (जिसके अनुसार सम्पिति की अवस्था मे मजदूरी बराबर होती है मजदूर की सीमान्त उत्पादनीयता के) सीमान्त उत्पादनीयता का सिद्धान्त कहलाता है। वास्तव मे वितरण के सीमान्त उत्पादनीयता के सामान्य सिद्धान्त का ही मजदूरी क क्षेत्र मे यह प्रयोग है।

उपधारणायें—सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त निम्नलिखित उपधारणाओ पर आधारित है—

(१) इस सिद्धान्त की पहली उपधारणा यह है कि श्रम-बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है अर्थात् एक ओर बाजार मे बहुत अधिक सख्या म मजदूर हैं

और वे रोजी कमाने के लिय एक दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं तथा दूसरी ओर श्रम के क्रेता अर्थात् उत्पादक भी बहुत अधिक सख्या मे बाजार मे हैं और वे श्रम को प्राप्त करने के लिये आपस मे प्रतियोगिता करते है। इसी के साथ-साथ यह उपधारणा भी की जाती है कि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु ऐसे बाजार में बेची जा रही है जिस म पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है।

(२) इस सिद्धान्त की दूसरी उपधारणा यह है कि किसी समय उत्पादन काय मे लगे हुय सब मजदूर बुद्धि, बल तथा कार्य-कुशलता मे पूर्ण रूप से एक दूसरे र समान है जिस कारण उनमे से किसी भी मजदूर को उत्पादन कार्य मे लगाने के लिय चुना जा सकता है, उससे उत्पादन पर कोई प्रभाव पडने की प्राशका नही है।

(३) इस सिद्धान्त की तीसरी उपधारणा यह है कि मजदूरो के साप्ताहिक कार्य करने के घण्टे निश्चित हैं तथा कोई मजदर उन से अधिक घण्टो तक कार्य नही कर सकता। इस उपधारणा के कारण हम यह कह सकते है कि अतिरिक्त कार्य अधिक मजदूरो को लगाकर प्राप्त किया गया है न कि मजदूरो के अधिक घण्टो तक कार्य करने के कारण।

(४) इस सिद्धान्त की चौथी उपधारणा यह है कि उत्पादन कार्य मे लग हुय सब साधनो मे से श्रम को छोड कर शेष सब साधन निश्चित मात्रा मे लग हुये है।

सीमान्त उत्पादन के विभिन्न अर्थ—

सीमान्त उत्पादन शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जाता है—सीमान्त भौतिक उत्पादन (Marginal physical product), सीमान्त कुल आय उत्पादन (Marginal gross revenue product) तथा सीमान्त वास्तविक आय उत्पादन (Marginal net revenue product)।

सीमान्त भौतिक उत्पादन—यदि उत्पादन के अन्य साधनो की पूर्ति निश्चित हो और उत्पादक केवल श्रम की एक-एक इकाई को बढाता जाय तो ऐसा करने से प्रत्येक इकाई से जितना अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त होता है वही उस इकाई का सीमान्त भौतिक उत्पादन होगा। उदाहरण के लिये, यदि एक आदमी एक दिन मे २० गज कपडा बुनता है, दो आदमी ४२ गज, तीन आदमी ६० गज, चार आदमी ७५ गज आदि-आदि तो पहले आदमी का सीमान्त भौतिक उत्पादन २० गज, दूसरे का २२ गज, तीसरे का १८ गज तथा चौथे का १५ गज होगा। इस प्रकार श्रम की एक अतिरिक्त इकाई बढाने के फलस्वरूप वस्तु-मात्रा के रूप मे उत्पादन मे जो वृद्धि होती है वही 'सीमान्त भौतिक उत्पादन कहलाती है।

चू कि हम यह उपधारणा करके चले हैं कि श्रम के अतिरिक्त सभी उत्पादन के साधनो की पूर्ति निश्चित है तो इसलिये ऐसी स्थिति मे क्रमगत उत्पादन ह्रास

नियम का लागू होना स्वाभाविक ही है। उपर्युक्त उदाहरण मे पहला आदमी यदि २० गज कपडा बुनता है तो दूसरा २२ गज। सीमान्त उत्पादन मे यह वृद्धि इस तथ्य की द्योतक है कि साधनो का सर्वोत्तम अनुपात मे सयोग नही हो पाया है। इसलिये श्रम की एक और इकाई का प्रयोग अनुपातत. अधिक प्रत्याय देता है। किन्तु एक अवस्था ऐसी आयेगी जहा उत्पादन के सब साधनो का ऐसा आदर्श अनुपात मे सयोग हो जायेगा कि उत्पादन इष्टतम बिन्दु पर पहुँच जायेगा, परन्तु इसके पश्चात श्रम की मात्रा बढाई गई तो उत्पादन की मात्रा अनुपातत गिरती चली जाती है, क्योकि श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनो के स्थिर रहने के कारण उत्पादन कार्य मे साधनो का इष्टतम अनुपात बिगड जाता है। हमारी उपधारणा यह है कि सब मजदूर बुद्धि, बल तथा कार्य कुशलता मे समान होते हैं तो प्रश्न उठता है कि फिर उत्पादन की मात्रा एक सीमा के पश्चात्, मजदूरो की सख्या मे प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ निरन्तर गिरती क्यो जाती है। इसका कारण यही नही है कि उनमे से कोई मजदूर अधिक कार्यकुशल है तो कोई कम कार्य-कुशल, कारण यह है कि उनमे से एक मजदूर उत्पादन कार्य मे दूसरे से पहले लगाया गया है। जो मजदूर उत्पादन कार्य मे पहले लगाया जाता है वह उस मजदूर से अधिक उत्पादन करता है जो कि उत्पादन कार्य मे पीछे लगाया जाता है। यदि पीछे वाला मजदूर पहले लगाया जाता तो वह पहले वाले मजदूर के बराबर उत्पादन करता। इस प्रकार प्रति मजदूर उत्पादन की मात्रा मे कमी का कारण मजदूरो की कार्य कुशलता मे कमी न होकर उनको काम पर लगाते समय उत्पादन की वास्तविक परिस्थिति होता है, अर्थात् क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम के लागू होने के कारण ऐसा होता है।

सीमान्त कुल आय-उत्पादन—ऊपर हमने सीमान्त भौतिक उत्पादन को बताया है। आजकल का युग मुद्रा का युग है। इसलिये आजकल कोई भी उत्पादक इस बात मे दिलचस्पी नही रखता कि उसे भौतिक रूप से कितना उत्पादन प्राप्त होता है। उसकी दिलचस्पी प्रमुखत इस बात मे है कि इस उत्पादन का मौद्रिक मूल्य कितना है। उत्पादन का मौद्रिक मूल्य निकालने के लिये हमको उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई की बाजारू कीमत देखनी पडती है। इसके पश्चात् किसी मजदूर द्वारा उत्पादन की गई कुल वस्तु-इकाइयो को उस वस्तु की सामान्य बाजारू कीमत से गुणा कर देते है। इस प्रकार प्राप्त गुणनफल को ही सीमान्त कुल आय उत्पादन कहा जाता है। ऊपर के उदाहरण मे यदि कपडे की बाजारू कीमत एक रुपया प्रति गज हो तो पहले मजदूर का सीमान्त कुल-आय उत्पादन २० रुपये, दूसरे की २२ रुपये, तीसरे की १८ रुपये तथा चौथे की १५ रुपये होगी। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे सीमान्त कुल आय उत्पादन इस प्रकार निकाला जाता है—

सीमान्त कुल-आय उत्पादन = सीमान्त भौतिक उत्पादन × कीमत

लिये हम किसी समय उत्पादन कार्य म लगे हुए मजदूरो द्वारा किये गये कुल उत्पादन का मजदूरो की सख्या से भाग दे दते हैं। यदि इन मजदूरो के कुल आय उत्पादन को मजदूरो की सख्या से भाग दे दिया जाये तो हमको औसत कुल आय उत्पादन प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार इन मजदूरो के वास्तविक आय उत्पादन के योग का उनकी सख्या से भाग देने से औसत वास्तविक आय उत्पादन प्राप्त हो जायेगा। आजकल के मौद्रिक युग म सीमान्त व औसत भौतिक उत्पादन का विशेष महत्व नही है। इसी प्रकार सीमान्त व औसत कुल आय उत्पादन का भी विशेष महत्व नही है, क्योंकि य उत्पादन के किसी एक साधन के सीमान्त व औसत उत्पादन को नही बताते वल्कि इनम उत्पादन के दूसरे साधनो का योगदान भी सम्मिलित हाता है। इसलिय व्यवहार मे सीमान्त व औसत वास्तविक आय उत्पादन ही से काम लिया जाता है क्योकि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म इनमे से सीमान्त वास्तविक आय उत्पादन, मजदूर द्वारा किये गय उत्पादन को बताता है तथा औसत वास्तविक आय उत्पादन मजदूरी की दर निश्चित करता है।

श्रम के उत्पादन वक्र

श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पादन वक्र–

सबसे पहले हम श्रम के सीमान्त व औसत भौतिक उत्पादन वक्र पर विचार करेंगे। इन वक्रो को पाने के लिये हमको एक तालिका की सहायता लेनी पडेगी जो कि इस प्रकार की होगी—

मजदूरों की सख्या	कुल उत्पादन (गजों मे)	सीमान्त उत्पादन (गजों मे)	औसत उत्पादन (गजो मे)
१	२०	२०	२१
२	४२	२२	२०
३	६०	१८	२०
४	७५	१५	१८·७५
५	८५	१०	१७

आगे के चित्र मे म य-अक्ष पर मजदूरो की सख्या तथा म ख पर उत्पादन दिखाया गया है। उपर्युक्त तालिका मे दिये हुए सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन की सहायता से सीमान्त उत्पादन वक्र तथा औसत उत्पादन वक्र प्राप्त किये गये हैं। इन वक्रो को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ म प्रति मजदूर उत्पादन की मात्रा कम है। परन्तु जैसे-जैसे मजदूरो की सख्या मे वृद्धि की जाती

है वैसे-वैसे प्रति मजदूर उत्पादन की मात्रा बढ़ती जाती है। अन्त में एक सीमा पर पहुँचने के पश्चात् उत्पादन की मात्रा प्रति मजदूर गिरने लगती है तथा वह
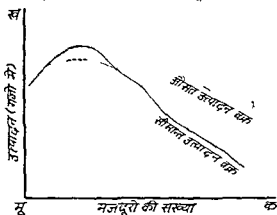
निरन्तर गिरती चली जाती है। ऐसा क्रमगत उत्पादन-ह्रास नियम के लागू होने के कारण होता है। ऊपर के चित्र में सीमान्त उत्पादन वक्र का आकार लगभग उल्टे 'U' के सदृश है।

श्रम का सीमान्त आय व औसत आय उत्पादन वक्र—

उपर्युक्त तालिका मे यदि हम प्रति गज कपड़े की कीमत १ रुपया मानें तो सीमान्त व औसत उत्पादन गजो में व्यक्त न किया जाकर रुपयों में व्यक्त किया जायगा। इस प्रकार (बायें से दायें) तालिका के तीसरे खाने के उत्पादन को औसत उत्पादन कहा जायेगा। यदि उपर्युक्त चित्र में मू ख पर उत्पादन को गजों में न दिखाकर रुपयों मे दिखाया जाये तो हमको सीमान्त आय उत्पादन वक्र तथा औसत आय उत्पादन वक्र उसी प्रकार से प्राप्त होंगे जैसा कि इस चित्र में क्रमशः सीमान्त भौतिक उत्पादन वक्र तथा औसत भौतिक उत्पादन वक्र है, अर्थात् उनके आकार भी इसी प्रकार होंगे।

हमने ऊपर सीमान्त व औसत वास्तविक आय उत्पादन वक्रों का विवेचन इस लिये किया कि ये वक्र क्रमशः श्रम की माग व मजदूरी की दर के द्योतक होते हैं। चूँकि व्यवहार में सीमान्त व औसत भौतिक उत्पादन तथा कुल आय उत्पादन व कुल भौतिक उत्पादन वक्र महत्वपूर्ण नहीं होते इस कारण आगे हम सीमान्त व औसत वास्तविक आय उत्पादन के स्थान पर केवल सीमान्त व औसत आय उत्पादन का ही प्रयोग करेंगे।

मजदूरी वक्र

(१) पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी वक्र—

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादन कार्य में बहुत से उत्पादक लगे होते हैं जिनकी मजदूरों की सामूहिक माग बहुत अधिक होती है। इसी प्रकार मजदूरों की

पूर्ति भी अधिक होती है। ऐसी स्थिति में किसी एक उत्पादक की श्रम की माग बाजार की कुल माग का एक नगण्य अश होती है तथा एक उत्पादक की क्रियाओं का मजदूरी की दर पर कोई भी प्रभाव नहीं पड सकता। इसलिये एक उत्पादक के लिये मजदूरी वक्र दिया हुआ होना है। वह प्रचलित मजदूरी दर पर श्रम की चाहे अधिक मांग करे अथवा कम मजदूरी की दर पर कोई प्रभाव नही पडता। दूसरे शब्दो मे, मजदूरी की औसत दर हर हालत मे समान रहती है अर्थात् एक उत्पादक के लिये मजदूरी का पूर्ति वक्र ग्राफ की क्षैतिज रेखा के समानान्तर होगा। परन्तु कोई भी उत्पादक मजदूरो को सीमान्त मजदूर के द्वारा किये गये उत्पादन से अधिक मजदूरी नही दे सकता। इसलिए मजदूरी सीमान्त आय उत्पादन के बराबर होनी स्वाभाविक है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म न तो उत्पादक इससे कम दे सकता है क्योंकि इससे कम देने पर मजदूर दूसरी जगह चला जायेगा और न मजदुर इससे कम ले सकता क्योंकि मजदूर जानता है कि उसको दूसरा उत्पादक इससे अधिक मजदूरी देगा। मजदूरी इससे अधिक भी नही हो सकती। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे मजदूरी मजदूर के सीमान्त आय उत्पादन के बराबर होती है। अब हम यह जानते हैं कि मजदूरी को दो दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है, एक ओर तो उत्पादक उसे अपनी लागत कहेगा, दूसरी ओर मजदूर उसे अपना पारितोषिक अर्थात् श्रम की कीमत। ऊपर हमने बताया कि यह मजदूरी मजदूर के सीमान्त आय उत्पादन के बराबर होती है। हम पहले ही कह आये हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे औसत मजदूरी (उत्पादक के दृष्टिकोण से श्रम पर औसत लागत) सर्वत्र समान होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मजदूरी दर=सीमान्त आय उत्पान=औसत लागत (श्रम पर)। इसको नीचे के चित्र में दिखाया गया है—
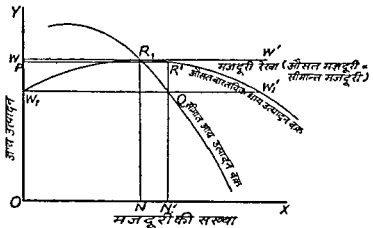
पृष्ठ ७२९ पर दिये गये चित्र मे हमने यह दिखाया है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे श्रम का माग वक्र अर्थात् मजदूरी-रेखा ग्राफ की क्षैतिज रेखा के समानान्तर होती है अर्थात् OW मजदूरी पर, उत्पादक जितना चाहे उतने श्रमिक काम पर लगायें। लेकिन व्यवहार मे ऐसी बात नही पाई जाती। किसी उत्पादक की मजदूरो की मांग का वक्र भी ग्राफ की क्षैतिज रेखा के समानान्तर नही होता। इस प्रकार व्यवहार मे श्रम का माग-वक्र किसी पूरे उद्योग के लिये ही नही प्राय फर्म के लिये भी दायीं ओर को ढालू होता है। दूसरे शब्दो मे, श्रम की मजदूरी अपेक्षतया ऊची होन पर श्रम की माग कम तथा मजदूरी कम होने से श्रम की माग अधिक होती है।

विक्रयेकाधिकार के अ तर्गत मजदूरी वक्र—

विक्रयेकाधिकार की स्थिति मे वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय सम्पूर्ण रूपेण एक ही व्यक्ति के हाथ तथा नियन्त्रण म होता है। यह व्यक्ति ही उत्पादन के विभिन्न साधनो की माग करता है। इस प्रकार यह प्राय विक्रयकाधिकारी भी होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के समान विक्रयेकाधिकारी उत्पादक की श्रम की माग उस के सीमान्त आय उत्पादन पर निर्भर होती है। परन्तु विक्रयेकाधिकारी की अवस्था में श्रम की एक इकाई का सीमान्त-आय उत्पादन निकालना उतना सरल नही है जितना कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे मे है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे सीमान्त आय उत्पादन को निकालने के लिये हम सीमान्त भौतिक उत्पादन को उत्पादित वस्तु की कीमत से गुणा कर देते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे ऐसा करना इसलिये सम्भव होता है कि फर्म विशेष द्वारा वस्तु की चाहे अधिक मात्रा बेची जाय अथवा कम, कीमत निरन्तर एक-सी ही रहती है। परन्तु विक्रयेकाधिकारी की स्थिति मे कीमत स्थिर नही रहती। इस स्थिति मे यदि विक्रयेकाधिकारी वस्तु की अधिक मात्रा बेचना चाहता है तो उसे कीमत कम करनी पडेगी। परन्तु यदि वह वस्तु की मात्रा बेचने का निश्चय करे तो वह उसकी अधिक कीमत पर बेच सकता है। इसलिये यदि विक्रयेकाधिकारी वस्तु की अधिक मात्रा उत्पन्न करना चाहता है तो अधिक उत्पादित वस्तु की बाजारू कीमत पहले की अपेक्षा कम हो जायेगी। जितना अधिक वस्तु का उत्पादन किया जायेगा उतनी ही उसकी बाजारू कीमत गिरती जायेगी। कीमत गिरने का प्रभाव न केवल सीमान्त-उपज तक ही सीमित रहेगा वरन् उत्पन्न की गई वस्तु की सबकी सब मात्रा ही को उस कीमत पर बेचना पडेगा। इस प्रकार उत्पादन वृद्धि की मात्रा को बाजारू कीमत से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त होता है वही सीमान्त आय-उत्पादन नहीं होगा। सीमान्त आय-उत्पादन प्राप्त करने के लिये इसमें से उस घाटे की रकम को भी घटाया जायगा जो कि पहले बेची जान वाली वस्तु मात्रा पर वस्तु की कीमत मे कमी होने के कारण होती है। उदाहरण के लिये, यदि विक्रयेकाधिकारी १००० चीजों को उत्पन्न करके उनको ५ रु०

१० न० पै० की दर से बेचता है तो उसको ५१०० रु० की आय प्राप्त होती है। अब यदि वह श्रम की एक और इकाई लगाने का निश्चय करे तो मान लिया उसको २४ चीजें अधिक प्राप्त होती है परन्तु पूर्ति बढने से वस्तु की बाजारू कीमत ५ रु० प्रति चीज हो जाती है जिसके कारण अब उसकी कुल आय ५१२५ रु० होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि २५ अधिक चीजें उत्पन्न करके उनको बेचने पर विक्रयेकाधिकारी की कुल आय मे केवल २५ रुपए की वृद्धि हुई जबकि २५ अतिरिक्त चीजो को बाजार मे १२५ रुपए मे बचा गया। पहले की १००० वस्तुओं द्वारा प्राप्त आय मे पहले की अपेक्षा १०० रुपये की कमी इसलिये हो गई कि पहली १००० चीजो म स प्रत्येक को अब १० नये पैसे कम मे बेचा जा रहा है। इस प्रकार विक्रयेकाधिकारी की स्थिति मे श्रम का सीमान्त-आय उत्पादन-वक्र पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति की अपेक्षा अधिक तेजी से ढालू होता है।

विक्रयेकाधिकार की स्थिति मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति से न केवल श्रम का माग वक्र ही भिन्न होता है वरन् उसका पूर्ति-वक्र भी भिन्न होता है। हम पहले बता चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था म श्रम का पूर्ति-वक्र ग्राफ की क्षैतिज अक्ष के समानान्तर होता है अर्थात् किसी दी हुई मजदूरी दर पर मजदूरो की कोई भी माग की जा सकती है। परन्तु विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे चू कि श्रम का केवल एक ही खरीदार होता है इसलिये श्रम की माग के अनुसार मजदूरी की दर घटती-बढती है अर्थात् यदि वह अधिक मजदूरो की माग करता है तो उसको अधिक मजदूरी देनी पडेगी परन्तु यदि वह उनकी कम माँग करता है तो उसे कम मजदूरी देनी पडेगी। किसी समय मजदूरी की दर घटने बढने का प्रभाव केवल सीमान्त मजदूरो पर ही नही पडता वरन् उत्पादन कार्य मे लगे हुये सब मजदूरो पर पडता है। इस प्रकार यदि कोई विक्रयेकाधिकारी १००० के स्थान पर १०२५ मजदूरों की माग करता है तथा उसको मजदूरी दर ५ रुपए प्रति मजदूर के स्थान पर ५ रुपये १ नया पैसा देनी पडती है तो उसके मजदूरी के बिल मे २२७ रुपये ५० नये पैसे की वृद्धि होगी। २५ अतिरिक्त मजदूरो को केवल १२७ रुपये ५० नये पैसे ही देने पडते हैं। इस प्रकार विक्रयेकाधिकार की स्थिति मे औसत मजदूरी (जो कि कुल मजदूरी बिल को मजदूरो की सख्या से भाग दे कर प्राप्त की जाती है) सीमान्त मजदूरी के बराबर नहीं होती वरन् सीमान्त मजदूरी कुल मजदूरी बिल मे हुई वृद्धि या कमी के बराबर होती है। वास्तव मे इस स्थिति मे सीमान्त मजदूरी वक्र को समझना बडा कठिन है क्योंकि यह सीमान्त मजदूर को दी जाने वाली मजदूरी का द्योतक नहीं होता वरन् यह कुल मजदूरी बिल मे होने वाली वृद्धि या कमी का द्योतक होता है। उपर्युक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि सीमान्त मजदूरी—मजदूरी बिल मे हुई वृद्धि—औसत मजदूरी से अधिक है। चू कि इस अवस्था मे औसत मजदूरी वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होता है इस कारण सीमान्त मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र से ऊपर होगा।

विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे श्रम की माग व पूर्ति के वक्रों को जो शक्ल होती है उसको नीचे के चित्र मे दिखाया गया है—
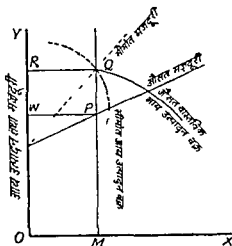
इस चित्र मे OX पर मजदूरो की सख्या तथा OY पर आय-उत्पादन तथा मजदूरी दिखाई गई है। इस चित्र को देखने से पता चलता है कि औसत वास्तविक आय उत्पादन अर्थात् औसत वक्र दायें हाथ की ओर ढालू होने की प्रवृत्ति रखता है। *सीमान्त आय उत्पादन वक्र बहुत अधिक ढालू है।* इस चित्र को देखने से यह बात विदित हो जाती है कि जहा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे औसत मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी रेखा एक ही थी, जो कि ग्राफ की क्षैतिज अक्ष के समानान्तर थी वहा विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे ये दोनो रेखायें भिन्न हैं तथा क्षैतिज अक्ष के समानान्तर होने के बदले ये दोनो ऊपर की ओर उठते हुये हैं, जो तथ्य इस बात का सूचक है कि मजदूरो की अधिक माग करने पर उनकी औसत *व सीमान्त दोनों प्रकार की मजदूरी बढ़ जायेगी।* इस चित्र से यह भी विदित है कि सीमान्त मजदूरी रेखा औसत मजदूरी रेखा के बायें ओर ऊपर को उठ रहा है जो कि इस बात को सूचित करता है कि सीमान्त मजदूरी औसत मजदूरी से अधिक गति से बढ़ती है।

यद्यपि विक्रयेकाधिकारी का वस्तु-बाजार व साधनों के बाजार मे क्रमश विक्रयेकाधिकार तथा क्रयेकाधिकार होता है तो भी वह इस बात का प्रयत्न करता है कि उसका लाभ अधिकतम हो। इस हेतु वह श्रम की इतनी मात्रा मे बढ़ाता है जिससे कि श्रम का सीमान्त आय-उत्पादन, मजदूरी-बिल मे वृद्धि के सम तुल्य हो जाये। ऊपर के चित्र मे यह बात Q बिन्दु पर होती है। इस चित्र के अनुसार जब OW मजदूरी पर OM मजदूर लगाये जाते हैं तब उनको OWPM आयत के बराबर मजदूरी दी जाती है परन्तु वे उत्पादन करते हैं ORQM आयत के

बराबर। इस प्रकार विक्रयेकाधिकारी को WRQP आयत के बराबर शुद्ध लाभ लाभ प्राप्त होता है। हम पहले बता चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे यह लाभ अस्थायी होता है क्योंकि नये प्रतियोगी उद्योग मे प्रवेश कर पूर्ति को बढा देते हैं जिससे कीमत तथा लाभ मे ह्रास आता है। परन्तु विक्रयेकाधिकार की स्थिति मे यह लाभ स्थायी होता है क्योंकि विक्रयेकाधिकारी कीमत को अपनी इच्छानुसार घटा बढा सकता है। यदि विक्रयेकाधिकारी श्रम के बाजार मे क्रयेकाधिकारी भी होता है तो उसको दो प्रकार से लाभ प्राप्त होता है। पहले, वह साधनो को अपनी इच्छानुसार कम कीमत पर खरीद सकता है। दूसरे, वह वस्तु को अपनी इच्छानुसार अपने लिये लाभ प्रद कीमत पर बेच सकता है। इस प्रकार उसको साधनो का क्रय करते तथा उत्पादित वस्तु को बेचते, दोनो समय लाभ प्राप्त होता है। परन्तु प्रो० बेनहम ने बताया है कि व्यवहार मे यह बहुत कम देखने मे आता है कि किसी एक व्यक्ति का साधनो पर विक्रयेकाधिकार हो। इसलिये यदि कोई उत्पादक मजदूरो की संख्या बढाना चाहता है तो उसको मजदूरी-दर बढानी ही पडेगी। यही कारण है कि पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा विक्रयेकाधिकार की अवस्था मे श्रम की माग कम रहती है।

सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त की आलोचनायें

सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त की बहुत सी आलोचनायें की गई हैं। प्राय आलोचनायें इसकी उपधारणाओ के त्रुटिपूर्ण होने के सम्बन्ध मे हैं। आलोचको यह कथन है कि यह सिद्धान्त मजदूरी निश्चित करने वाले केवल एक ही पक्ष अर्थात् माग पर ही ध्यान देता है। पूर्ति के प्रभाव को यह सिद्धान्त स्वीकार नही करता। परन्तु पूर्ति पक्ष की ओर, मजदूर के जीवन स्तर का मजदूरी पर अवश्य प्रभाव पडता है। आलोचकों का यह भी कहना है कि इस सिद्धान्त मे यह उपधारणा की गई है कि उत्पादन के साधनो को मनमानी रूप से घटाया-बढाया जा सकता है। परन्तु यदि किसी उद्योग मे प्लॉन्ट आदि उपकरणों को बढाना कठिन हो तो उसमे यह सिद्धान्त लागू न होगा। विचार करने से यह पता चलेगा कि इस आलोचना मे कोई विशेष दम नही है क्योंकि प्लॉन्ट आदि साधनों को उनकी कीमत मे परिवर्तन होने पर बदलना ही पडता है।

तीसरे, इस सिद्धान्त मे यह उपधारणा की गई है कि श्रम की इकाइयों को दूसरे साधनों को बढ़ाये बिना ही बढाया जा सकता है। हो सकता है कि कुछ हालतों मे यह मान्यता ठीक हो। परन्तु बहुत से व्यवसाय ऐसे भी हैं जिनमे वह अनुपात निश्चित होता है जिसमे कि विभिन्न साधन उत्पादन कार्य मे लगाये जा सकते हैं। [ऐसी अवस्था मे यह कहा जायगा कि उत्पादन का प्राविधिक गुणाङ्क (Technical Co-efficient) स्थिर है] इस प्रकार के उद्योगों मे यदि श्रम की मात्रा को बढ़ाया या घटाया जाय तो उत्पादन के दूसरे साधनो को भी बढ़ाना-घटाना पडेगा। इस प्रकार के उद्योगों के लिये यह सिद्धान्त निरर्थक है।

चौथे, इस सिद्धान्त मे यह उपधारणा की गई है कि सब मजदूर बुद्धि, बल तथा कार्यकुशलता मे समान होते हैं। व्यवहार मे ऐसा नही देखा जाता। एक ही उद्योग में विभिन्न योग्यता वाले मजदूर लगाये जाते हैं परन्तु उनको समान मजदूरी मिलती है। इसका विलोम भी ठीक है।

पांचवे, इस सिद्धान्त मे यह मान्यता की गई है कि हर एक फर्म उत्पादन कार्य मे साधनो को इस प्रकार लगाता है कि उससे उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। यह मान्यता भी पूर्ण रूप से ठीक नही है क्योंकि केवल अधिक योग्य प्रबन्धक को उत्पादन कार्य की देखभाल करने के लिये नियुक्त करने पर ही उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है।

छटे, इस सिद्धान्त मे वस्तु तथा साधनों के बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता के पाए जाने की उपधारणा की गई है। परन्तु व्यावहारिक जीवन मे श्रम बाजार मे कदाचित् ही पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है। उत्पादक, मजदूरो का शोषण करने के लिये अपने सगठन बना सकते हैं तथा मजदूर अपने आपको मजदूर सघो मे सगठित करके श्रम की पूर्ति पर विक्रयाधिकार स्थापित कर सकते हैं। चूकि श्रम-बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव होता है इसलिये व्यवहार में कदाचित् ही मजदूरी श्रम के सीमान्त वास्तविक आय उत्पादन के बराबर होती हो।

सातवें, इस सिद्धान्त मे औद्योगिक टक्नीक तथा व्यवस्था के महत्व को भी स्वीकार नही किया गया है जो कि मजदूरी के बढ़ाने मे सहायक होते हैं।

आठवें, इस सिद्धान्त मे निहित कतिपय अन्य उपधारणायें भी वास्तविक जगत में नही पाई जाती। उदाहरण के लिये, वस्तुओं की सर्वत्र एक ही कीमत नही होती, न श्रम पूर्ण रूपेण गतिशील हो ही सकता है, लेकिन इस सिद्धान्त की सफलता के लिये कीमतों मे सर्वत्र समानता तथा श्रम की पूर्ण गतिशीलता आवश्यक शर्तें हैं।

अत यह सिद्धान्त भी मजदूरी की पूरी व्याख्या करने मे असमर्थ है और इस प्रकार अपूर्ण है।

प्रो० टॉजिग का श्रम की सीमान्त उत्पादनीयता के बट्टे का सिद्धान्त

(Prof. Taussig's Discounted Marginal Productivity Theory of Wages)

प्रो० टॉजिग श्रम की सीमान्त उत्पादनीयता के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। उनका मत है कि चूकि उत्पादन कार्य, श्रम, पूजी आदि उत्पादन के विभिन्न साधनो के सामूहिक प्रयत्न द्वारा सम्पन्न होता है, इसलिये हम यह नही कह सकते कि उत्पादित वस्तु मे से अमुक भाग श्रम का प्रतिफल है तथा अमुक पूंजी का।

अपना यह सिद्धान्त बताने के पश्चात् प्रो० टॉजिग कहते हैं कि इस सब तर्क के दौरान में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है एक बट्टे के विषय में तथा दूसरी सीमान्त के विषय में।

बट्टे के विषय में हम को वृत्ताकार तर्क से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रो० टॉजिग ने ब्याज का कारण कुछ न कुछ अश में पूंजी की उत्पादनीयता को बताया है। उनका मत है कि ब्याज, श्रम की अधिक उत्पादनीयता ढगों से लगाने के कारण प्राप्त होता है। इसके पश्चात् प्रो० टॉजिग कहते हैं कि यदि यही ब्याज का सारा सिद्धान्त है तो हम यह बात कहने में कि मजदूरी बट्टे की विधि द्वारा निश्चित होती है, तर्क के एक वृत्त में चक्कर काटेंगे। यदि, ब्याज श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु के भविष्य में मूल्य तथा उसको वर्तमान में दिये गये अग्रिम के अन्तर के बराबर है तो यह कहा जा सकता है कि ब्याज दर मजदूरों को अग्रिम देने की विधि के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। इसलिए यह उस अग्रिम के धन को भी निश्चित अथवा नियन्त्रित नहीं कर सकती। प्रो० टॉजिग इस कठिनाई से अपनी रक्षा करने के लिये कहते हैं कि ब्याज की दर को निश्चित करने के लिये पूंजी की उत्पादनीयता ज्ञात करने की आवश्यकता नहीं है वरन् यह स्वतन्त्र रूप से समय अधिमानता की दर (Rate of time preference) द्वारा निश्चित की जा सकती है। परन्तु प्रो० टॉजिग का ब्याज की दर सम्बन्धी यह तर्क शका का समाधान न होकर कठिनाई से बचने का प्रयत्न मात्र है।

बट्टे के प्रश्न को हल करके प्रो० टॉजिग सीमान्त के प्रश्न को हल करने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने जिस सीमान्त की उपधारणा की है वह प्रतियोगी सीमान्त बिन्दु है। इसी सीमान्त का बट्टा किया जाता है। इस सीमान्त में न तो लगान सम्मिलित होता है और न विक्रेताधिकारी का लाभ और न व्यापारी की असाधारण शक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ लाभ-आधिक्य। यह सीमान्त एक प्रतिनिधि फर्म का होता है जो कि जोत की सीमा (Margin of cultivation) पर अपना कार्य करता है तथा अपने स्वामियों तथा मैनेजरों को सामान्य लाभ तथा पूंजीपतियों को सामान्य ब्याज देता है। जोत की सीमा पर दी गई मजदूरी ही मजदूरी-दर को निश्चित करती है। परन्तु जोत की सीमा पर दी गई मजदूरी बट्टे की विधि द्वारा निश्चित होती है।

आलोचनायें—

आलोचकों का मत है कि प्रो० टॉजिग का यह सिद्धान्त अमान्य है। *प्रो० टॉजिग स्वयं कहते हैं कि हम श्रम के सीमान्त उत्पादन को निश्चित नहीं कर सकते।* तो फिर हम बट्टा किसका तथा किस प्रकार करें?

प्रो० टॉजिग का मत है कि पूंजीपति, भूमि के स्वामी, व्यवस्थापक, आदि को उत्पादन से एक निश्चित दर पर अपना अपना प्रतिफल मिलता है। शेष जो

बचता है वह मजदूर का हिस्सा होता है। इस प्रकार प्रो० टॉजिग का सिद्धान्त भी प्रो० बाकर के अवशिष्टवादी सिद्धान्त के समान ही है। इसलिये इसके विरुद्ध वही आलोचनायें की जा सकती हैं जो कि प्रो० वाकर के मजदूरी के सिद्धान्त के विरुद्ध की गई हैं।

इस सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह है कि यह श्रम की पूर्ति पर पड़ने वाले भावों पर कोई ध्यान नहीं देता। यह श्रम की पूर्ति को निश्चित मान कर चलता है तथा उसके पश्चात् श्रम की उत्पादनीयता को निश्चित करता है। इस प्रकार यह मजदूरी का एक अधूरा सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का निर्धारण प्रचलित ब्याज की दर द्वारा किया जाता है। टॉजिग अपनी उलझनों से बचने के लिये जो कुछ भी कहें लेकिन ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता द्वारा शासित होती है। पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता को ठीक-ठीक ज्ञात करने के लिये मजदूरी की दर मालूम होना आवश्यक है। अर्थात् मजदूरी की दर पहले तथा ब्याज की दर बाद में। टॉजिग का तर्क ठीक इसका विलोम है। अतः सारा तर्क 'पहले-अंडा-आया कि मुर्गी' के झंझट में फंस जाता है। इसलिये यद्यपि टॉजिग सीमान्त उत्पादनीयता के सिद्धान्त को अपने इस सिद्धान्त द्वारा परिष्कृत करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु इससे वे हल के स्थान पर उलझनों का ही अधिक सृजन कर सके।

प्रो० मेहता का दोहरे बट्टे की मजदूरी का सिद्धांत

(Prof. Mehta's Double Discounting Theory of Wages)

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो० मेहता ने मजदूरी का एक नया सिद्धान्त दिया है। उनका मत है कि एक बार तो साहसी सीमान्त उत्पादन में से चालू ब्याज दर पर बट्टा काटकर शेष श्रमिक को मजदूरी के रूप में दे देता है। दूसरी बार, मजदूर प्राप्त मजदूरी में से अपनी समय-अधिमानता की दर के अनुसार बट्टा काटता है।*
प्रो० मेहता अपने सिद्धान्त को एक उदाहरण के द्वारा समझाते हैं। मान लिया एक मजदूर को किसी वस्तु के उत्पन्न करने में ६ मास का समय लगता है तथा उत्पादित वस्तु उसके एक मास पश्चात् बिकती है। यदि मजदूर द्वारा उत्पादित वस्तु के स्टॉक का मूल्य १००० रुपये हो तथा चालू ब्याज दर १० प्रतिशत हो तो चालू ब्याज दर पर मजदूर की ६ महीनों की मजदूरी का योग ७ महीने पश्चात् १००० रुपये हो जायगा। यही १०००) उसे ६ किश्तों में मिलेगा। इस प्रकार पहले मास में मजदूर को $\frac{1}{6}$ (१००० रु० —७ महीनों का ब्याज) अर्थात् लगभग १५७ रुपये

* "In other words, there is a double discounting here - in the first place the entrepreneur discounts the marginal product at the prevailing rate of interest and pays the labourer accordingly and, in the second place, the labourer discounts this figure at the rate of his time-preference."

—J. K. Mehta—Studies in Advanced Economic Theory—
3rd. Edn, P. 245

मिलेंगे। यदि मजदूरी में से ब्याज न घटाया जाता तो मजदूर को लगभग १६६ रु० मिलते। यह ६ रुपये मजदूरी में से काटी गई पहली कटौती है परन्तु मजदूर को १५७ रुपये महीने के अन्त में मिलने वाले हैं। यदि मजदूर के (मनोवैज्ञानिक) समय-अधिमानता के कारण १५७ रुपये जो उसे मास के अन्त में मिलने वाले हों, महीने के प्रारम्भ में १५० रुपये के बराबर हों तो मजदूर की प्रतिदिन की मजदूरी, जिसकी दर लगभग ५ रु० ३ आना है, उसके समय-अधिमानता के अनुसार कटौती काटने के पश्चात् ५ रुपये रह जायगी।

प्रो० मेहता का मत है कि मजदूर अब काम करता है तब वह आराम को छोड़ता है। काम करने से उसको थकान होती है तथा उसकी शक्ति (शारीरिक तथा मानसिक) का ह्रास होता है। इसलिये जब मजदूर काम करने का ठेका लेता है तो उसके काम की लागत उस तुष्टि के बराबर होती है जो कि उसको काम न करने से प्राप्त होती है। मजदूर को कार्य करने को उत्प्रेरित करने के लिये उसको कम से कम इस तुष्टि के बराबर मजदूरी मिलनी चाहिये। प्रो० मेहता के अनुसार श्रम की लागत श्रमिक द्वारा त्यागे गये आराम की उपयोगिता होती है तथा उसकी आय एक महीने पश्चात् प्राप्त होने वाले धन की बट्टा कटी हुई संभावित उपयोगिता होती है। चूंकि मजदूर की आय को मजदूरी कहते हैं, इसलिये बट्टा कटी हुई संभावित उपयोगिता को भी मजदूरी कहना उचित होगा। इसके पश्चात् प्रो० मेहता कहते हैं कि मजदूरी में से बट्टा काटना इसलिये आवश्यक है कि मजदूरी कार्य करते समय नहीं दी जाती वरन् कुछ समय पश्चात् दी जाती है। वास्तव में होना यह चाहिये था कि मजदूरी कार्य करते समय ही दे दी जाती है। इसलिये मजदूरी की बट्टा कटी हुई संभावित उपयोगिता तथा मजदूरी में भेद करना न्यायसंगत होगा। *हर समय मजदूरी की कुछ बट्टा कटी हुई संभावित उपयोगिता होती है। इनमें से मजदूरी* मजदूर की आय होती है बट्टा तथा कटी हुई संभावित उपयोगिता उसकी लागत होती है। इसके पश्चात् प्रो० मेहता कहते हैं कि चूंकि मजदूरी शारीरिक तथा मानसिक थकान को दूर करने के काम आती है इसलिये उसको घिसाई कोष (Depreciation Fund) कहना उचित होगा। इसके आगे वे कहते हैं कि मजदूर को जो मजदूरी मिलती है वह उस धन से अधिक होती है जो कि मजदूर की शारीरिक तथा मानसिक थकान दूर करने के लिये आवश्यक है। इस प्रकार इस कोष में लगान का अंश भी सम्मिलित होता है यदि मजदूरी घन्टों के हिसाब से दी जाय तो सीमान्त घन्टे के पारितोषिक में कदाचित् लगान का कोई अंश न होगा। परन्तु यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि एक घण्टे के पारितोषिक की बट्टा कटी हुई संभावित उपयोगिता अन्तिम घण्टे के काम की संभावित असंतुष्टि (disutility) के बराबर होती है। यदि दोनों हालतों में बट्टे की दर एक सी हो तथा भविष्य के प्रति हमारे अनुमान ठीक हों तो यह सोचना असंगत न होगा कि काम के अन्तिम घण्टे के पारितोषिक में लगान का कोई अंश न होगा।

बट्टा कटौतीवादी विचारधारा के अनुसार मजदूरी, श्रम के सीमान्त उत्पादन तथा प्रो० टॉजिग के अनुसार श्रम के बट्टा कट हुए सीमान्त उत्पादन के बराबर होती है प्रो० मेहता के अनुसार यह श्रमिक को किये हुए भुगतान को चालू ब्याज दर पर बट्टा काटकर प्राप्त होने वाले धन के बराबर होती है। इस प्रकार जैसा कि हम पहले बता आये हैं, प्रो० मेहता के अनुसार मजदूरी के धन को दो बार बट्टा अथवा कटौती काटकर प्राप्त किया जाता है। इसके पश्चात् प्रो० मेहता कहते हैं कि यदि यह विचार पद्धति ठीक हो तो मजदूरी श्रमिक की उत्पादनीयता के बराबर उस समय भी न होगी जबकि मजदूरी को उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के विक्रय के पश्चात् मजदूरी मिलती है। प्रो० टॉजिग के अनुसार, इस स्थिति मे यह श्रमिक की उत्पादनीयता के बराबर होगी। परन्तु प्रो० मेहता के अनुसार ऐसी अवस्था मे भी इसमे से मजदूर को समय अधिमानता की दर से बट्टा काटना पड़ेगा। उदाहरण मे यदि मजदूर को महीने के पश्चात् प्रतिदिन ५ रु० २ आ० मिलते हैं तो महीने के पहले दिन पर उसके लिये इस धन का मूल्य ५ रु० है। इस प्रकार यदि वह प्रतिदिन अपने स्वामी से मजदूरी की दर निश्चित करे तो उसको ५ रु० मिलेंगे। महीने के अन्त मे भुगतान करने की दशा मे मजदूर को जो २ आने अतिरिक्त मिलता है वह ५ रु० का एक दिन का ब्याज कहा जा सकता है। इस प्रकार मजदूरी में ब्याज सम्मिलित होता है। अस्तु, उस समय भी जबकि उत्पादित वस्तु महीने के अन्त मे बिक जाती है उत्पादन के लिये मजदूरी, मजदूरी की सीमान्त उत्पादनीयता के बराबर नही होती क्योकि उसमे ब्याज सम्मिलित होता है। परन्तु मजदूर के दृष्टिकोण से आय, मजदूरी तथा उत्पादनीयता मे कोई भेद नहीं होता।

इसके पश्चात् प्रो० मेहता बताते हैं कि मजदूरी मे लगान कैसे सम्मिलित होता है। वे कहते हैं कि यदि मजदूर ५ घण्टे काम करने का ठेका लेता है तथा उसको प्रति घण्टे की दर से मजदूरी मिलती है तो हम कह सकते हैं कि उसकी मजदूरी पाचवें घण्टे की लागत के बराबर होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले चार घण्टो मे उसकी मजदूरी मे लगान का कुछ अंश सम्मिलित होगा। अभी तक जो कुछ कहा गया है उसमे यह उपधारणा की गई है कि मजदूर उत्पादन को केवल अपना श्रम ही प्रदान करता है। वास्तव मे वह उत्पादन के अन्य साधन भी प्रदान करता है क्योकि कोई भी चीज उत्पादन के आवश्यक साधनों की सहायता बिना उत्पन्न नही की जा सकती। चूंकि मजदूर ने अपनी मजदूरी उत्पन्न की है इसलिये उसने व्यवस्थापक, साहसी तथा पूंजीपति के रूप मे भी काम किया है। इसलिये, मजदूर की आय को मजदूरी कहना न्यायसंगत नहीं है। वास्तव मे यह मजदूरी, ब्याज, वेतन तथा लाभ का मिश्रण है। शुद्ध मजदूरी, मजदूर की आय मे से वेतन, ब्याज, लगान आदि को निकालकर प्राप्य होती है। इस मजदूरी को निकालने के लिये हमको श्रम-पूर्ति की लागत अवकाश से प्राप्त तुष्टि के बराबर होती है। यदि मजदूर ५ घण्टे काम करता है तो श्रम की लागत ५ घण्टे के आराम मे प्राप्त

तुष्टि के बराबर होगी। ५ घण्टे के काम से प्राप्त तुष्टि में से ५ घण्टे के आराम से प्राप्त होने वाली सम्भावित तुष्टि को घटाकर जो कुछ बचता है वह लगान होता है। इस प्रकार मजदूरी, मजदूर की बट्टा कटी हुई वह आय होनी है जो कि मजदूर को काय न करने से प्राप्त होने वाले आराम की तुष्टि के बराबर होती है। उससे अधिक जो कुछ भी प्राप्त होता है वह लगान होता है। हमे स्मरण रखना चाहिये कि यदि मजदूरी, ब्याज तथा वेतन को हम इस प्रकार निकालें (साहसी के पारितोषिक को शून्य मानते हुए) तो लगान तत्वों के तीन अंक हमे प्राप्त होंगे।* यदि हम यह उपधारण करें कि मजदूर कोई जोखिम नही उठाता तो उसकी कुल आय मे से ऊपर बताये गये ढग से प्राप्त की गई मजदूरी, ब्याज तथा वेतन को घटाने से लगान प्राप्त होगा। दूसरे यदि हम श्रम, व्यवस्था तथा प्रतीक्षा का सामूहिक रूप से विचार करके इनकी लागत निकालें तो लगान शून्य के बराबर होगा क्योंकि यदि मजदूर शारीरिक व मानसिक कोई श्रम न करे, न कुछ समय तक प्रतीक्षा करे, तो उसको कुछ भी प्राप्त न होगा। तीसरे, हम जानते हैं कि आराम से तभी तुष्टि प्राप्त होती है जबकि आदमी को कुछ काम करने के लिये होता है। काम के अभाव मे आराम का कोई मूल्य नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि सब प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक तथा प्रतीक्षा की वैकल्पिक (Alternative) अवस्था की उपयोगिता शून्य होती है। इसलिये कहा जा सकता है कि सब प्रकार के श्रम व प्रतीक्षा की लागत शून्य होती है। अत मजदूर द्वारा प्राप्त सबकी सब आय लगान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार हमको लगान अंश की वास्तविकता का ज्ञान तभी होता है जबकि हम उसको किसी प्रकार की आय मे से विश्लेषण करके अलग करें।

आलोचनायें—

प्रो० मेहता का मजदूरी का सिद्धान्त वास्तव में एक नवीन विचार लिये हुये है। इसके अनुसार न केवल उत्पादक, उत्पादित वस्तु के मूल्य मे से चालू ब्याज दर पर बट्टा काटता है वरन् श्रमिक स्वय अपनी समय अधिमानता के अनुसार प्राप्त होने वाली मजदूरी पर बट्टा काटता है। विचार की नवीनता के बावजूद भी इस सिद्धान्त मे निम्नलिखित दोष दिखाई पडते हैं—

(१) प्रो० मेहता की यह बात तो ठीक है कि श्रमिक के लिये आज धन की जो उपयोगिता है वह भविष्य मे न होगी। कहावत भी है 'नौ नकद न तेरह उधार', *परन्तु समय-अधिमानता के आधार पर मजदूरी का अनुमान लगाना कोई* आसान काम नहीं है। उत्पादन कार्य में समय लगता है। प्रो० मेहता ने अपने उदाहरण में छ मास का समय लिया है। मजदूर को जो धन छ मास पश्चात् मिलने वाला है, उसका वर्तमान मूल्य अवश्य ही कम होगा। जैसे-जैसे भुगतान के

---

* *Ibid* P 242—3

समय की अवधि कम होती जायगी उसकी समय-अधिमानता कम होती जायेगी तथा जैसे-जैसे समय की अवधि बढ़ती जायगी समय-अधिमानता बढ़ती जायगी, परन्तु प्रो० मेहता के उदाहरण से यह बात स्पष्ट नहीं होती। उन्होंने हर मास के प्रारम्भ में समय अधिमानता के अनुसार बट्टा काटकर प्राप्त की गई मजदूरी को समान माना है। हमारे विचार से पहले मास के प्रारम्भ में जो मजदूरी होगी, दूसरे मास के प्रारम्भ में उससे अधिक, तीसरे मास के प्रारम्भ मे और भी अधिक। इस प्रकार छटे मास के प्रारम्भ में यह सबसे अधिक होगी। फिर हम प्रत्येक मास के प्रारम्भ पर ही क्यों ध्यान दें। मास के प्रत्येक दिन के प्रारम्भ मे समय अधिमानता भिन्न-भिन्न होगी, यहा तक कि वेतन पाने के दिन यह बिल्कुल न रह जायेगी। इस प्रकार हमारे विचार में समय अधिमानता के अनुसार मजदूरी का अनुमान लगाना कठिन काम है।

(२) प्रो० टाजिग के सीमान्त उत्पादनीयता के बट्टे के सिद्धान्त के समान यह सिद्धान्त भी एक पक्षीय है। हमारे विचार से प्रो० मेहता ने प्रो० टाजिग के सिद्धान्त का ही सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है। यह केवल माग-पक्ष पर ही ध्यान देता है, पूर्ति पर कोई ध्यान नहीं देता। यद्यपि प्रो० मेहता ने मजदूर की समय-अधिमानता की बात कहकर उसको दो-पक्षीय दर्शाने का प्रयत्न किया है, परन्तु पूर्ति-पक्ष की ओर मजदूरी को केवल उत्पादक द्वारा बट्टा किये गये सीमान्त उत्पादन के मूल्य को ही समय अधिमानता के अनुसार बट्टा करने की आज्ञा दी गई है। यह आवश्यक नहीं है कि यह अङ्क श्रम-पूर्ति की लागत अर्थात् मजदूर के जीवन-स्तर को कायम रखने के लिये पर्याप्त हो। वास्तव में यह होता भी नहीं। इस प्रकार इस सिद्धान्त को एक पक्षीय कहना अनुचित न होगा क्योंकि प्राय सभी अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि मजदूर के निर्धारण में जीवन स्तर का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(३) प्रो० मेहता ने मजदूरी के अन्दर लगान, ब्याज, वेतन तथा शुद्ध मजदूरी को सम्मिलित किया है। लाभ को उन्होंने छोड दिया है। कदाचित इसलिये कि वह जोखिम का पारितोषिक होता है तथा मजदूर को कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती। हमारे विचार से इसमें लगान, ब्याज, वेतन आदि भी सम्मिलित नहीं होते मजदूर कारखाने में जाकर क्या व्यवस्था करता है, यह बात समझ में नहीं आती। अपने 'श्रम' के उत्पादन में उसे पूंजीपति, व्यवस्थापक आदि मान लेना इन शब्दों का घोर दुरुपयोग करना है। कारखाने मे उसको कच्चा माल, मशीनें शक्ति आदि सभी मिलती हैं। वह कारखाने में जाता है तथा मशीन के ऊपर कार्य करने लगता है। कारखाने के अतिरिक्त अन्य स्थानों के मजदूर भी प्राय. कोई व्यवस्था नहीं करते दिखाई देते। इसलिये मजदूरी में व्यवस्था के पारितोषिक, वेतन को सम्मिलित हुआ बताना ठीक नहीं। अब हम मजदूरी में सम्मिलित ब्याज पर विचार करते हैं। प्रो० मेहता का मत है कि चूंकि ब्याज उत्पादक द्वारा ब[illegible]ा काटकर प्राप्त किये गये

सीमान्त उत्पादन के मूल्य तथा समय अधिमानता के अनुसार मजदूर द्वारा निश्चित किये गये मजदूरी के धन में अन्तर के बराबर होता है इसलिये यह माना जा सकता है कि मजदूर पूँजीपति को एक प्रकार से पूँजी एडवांस करता है जिसके बदले उसको ब्याज मिलता है, परन्तु यह कोरी कल्पना है। मजदूर बेचारा कारखाने वाले को क्या पूँजी एडवांस कर सकता है? वह स्वयं निर्धन होता है तथा किसी समय भी काम से अलग किया जा सकता है। वास्तव में होता है इसका उल्टा। मिल-मालिक, मजदूर को उत्पादन कार्य के चालू रहने समय जो मजदूरी देता है उसमें से वह चालू ब्याज दर पर ब्याज काट लेता है। शेष को वह मजदूरी के रूप में मजदूर को देता है। अब हम मजदूरी में लगान के पहलू को लेते हैं। प्रो० मेहता का मत है कि चूँकि मजदूर जितने घन्टे काम करता है। उनमें से अन्तिम घन्टे में किये गये काम की मजदूरी लागत के बराबर होती है, इसलिये अन्तिम से पहले के सब घन्टों में उन एक प्रकार का लगान प्राप्त होगा, परन्तु इस प्रकार लगान तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मजदूर प्रत्येक घन्टे के काम के अनुसार मजदूरी प्राप्त करे। पर व्यवहार में मजदूरी इस प्रकार नहीं दी जाती और न दी जा सकती क्योंकि प्रत्येक घन्टे में यह निकालना कि मजदूर ने कितने रुपये का काम किया है, बड़ा कठिन है।० इसके अतिरिक्त हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिये कि प्रो० मेहता लागत में उस दृष्टि को सम्मिलित करते हैं जो कि काम न करने में प्राप्त होती है। यद्यपि एक स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि सब प्रकार के शारीरिक व मानसिक कार्य की वैकल्पिक अवस्था की कोई उपयोगिता नहीं होती। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रो० मेहता के अनुसार काम के अभाव में काम न करने की कोई उपयोगिता नहीं और उसकी लागत शून्य है, लेकिन काम की लागत तो काम न करने से प्राप्त सुख से मापी जाती है। इस प्रकार प्रो० मेहता तर्क के एक कुचक्र में घूम रहे हैं।

मजदूरी का मांग और पूर्ति सिद्धान्त

(Demand and Supply Theory of Wages)

अभी तक हमने मजदूरी के जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया है वे प्रायः एक पक्षीय हैं—या तो वे मजदूरी के मांग-पक्ष पर ध्यान देते हैं या पूर्ति-पक्ष पर।

० प्रो० मार्शल ने मजदूरी में लगान अंश को सिद्ध करते हुए कहा है कि मजदूर द्वारा किया गया पहले कुछ घन्टों का काम उसके लिये आनन्द प्रदान करता है। इसलिये उस काम की उसके लिये कुछ लागत नहीं होती, परन्तु अन्तिम घन्टों में थकान के कारण श्रम की लागत बढ़ने लगती है यहां तक कि अन्तिम घन्टे की लागत सबसे अधिक होती है। मजदूर को इसी घन्टे की लागत के अनुसार मजदूरी मिलती है। इस कारण प्रथम घन्टों के काम पर उसको एक प्रकार का लगान प्राप्त होता है, परन्तु प्रो० मेहता ने लगान को इस ढंग से सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया।

'विनिमय' के अन्तर्गत हम बता आये हैं कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति की सयुक्त अवस्थाओ पर निर्भर होता है। अर्थशास्त्र मे श्रम भी साधारण वस्तु के समान माना जाता है। इसलिये श्रम का मूल्य अर्थात् मजदूरी भी माग तथा पूर्ति की सयुक्त अवस्थाओ द्वारा शासित तथा निर्धारित होती है। प्रो० मार्शल ने कहा है कि उत्पादन कार्य उस सीमा तक ही बढाया जाता है जिस तक कि माग तथा पूर्ति की शक्तियां सस्थिति मे नही आ जाती। वे यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार काटने का कार्य कैंची के दोनों फलको से होता है। उसी प्रकार मजदूरी भी माग तथा पूर्ति की युगल शक्तियो द्वारा निर्धारित होती है। अब हम श्रम के माग तथा पूर्ति पक्षों पर अलग अलग विचार करेंगे।

श्रम की माग—

उपभोक्ता किसी वस्तु को इसलिये खरीदता है कि वह उससे उपयोगिता प्राप्त करने की आशा रखता है। श्रम को खरीदने वाला साहसी (अर्थात् उत्पादक) होता है। साहसी, श्रम से प्रत्यक्ष रूप से कोई उपयोगिता प्राप्त नही करता। वह श्रम को इसलिये क्रय करता है कि श्रमिक उत्पादन कार्य मे योगदान करता है। साहसी के लिये श्रम की एक इकाई का मूल्य उसके द्वारा उत्पन्न की गई वस्तु के मूल्य के बराबर होता है। उदाहरण के लिये यदि किसी मजदूर के रखने से एक सप्ताह मे २५ रुपये की अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, तो उत्पादक उसको मजदूरी के रूप मे २५ रुपये से अधिक कभी नही देगा। वह मजदूर को २५ रुपये से कम ही देने का प्रयत्न करेगा। सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त मे हम माग पक्ष पर विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। वहा हमने देखा है कि अन्य साधनो को स्थिर रखकर जब उत्पादन कार्य मे केवल श्रम की मात्रा ही बढायी जाती है तो क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम के लागू होने के कारण श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पादन मे क्रमश कमी होती जाती है। हम यह भी देख चुके हैं कि आजकल के मौद्रिक युग मे उत्पादक श्रम की भौतिक उपज मे इतनी दिलचस्पी नही रखता जितनी कि वह इस उपज की कीमत रखता है। इसलिये मजदूर को रखते समय उत्पादक इस बात पर विचार करेगा कि श्रम की एक इकाई लगाने से उसको कितना अतिरिक्त आय (Additional revenue) प्राप्त होगी। वह श्रमिक को इस अतिरिक्त आय से अधिक मजदूरी नही देगा। किसी उद्योग में मजदूरो की माग उद्योग के सब उत्पादकों द्वारा सामूहिक रूप मे की जाती है। इसलिये उद्योग द्वारा *श्रम की माग का वक्र उद्योग के सब उत्पादकों की सामूहिक माग का द्योतक* होगा। चूंकि व्यवहार मे किसी फर्म का श्रम का माग वक्र साधारणत दायें हाथ की ओर को ढालू होता है, इसलिये उद्योग में सम्मिलित सब फर्मों का माँग वक्र भी दायें हाथ की ओर को ढालू होगा। उत्पादक के व्यक्तिगत तथा उद्योग के सब उत्पादकों का यौगिक माग वक्र हम अग्रांकित द्वारा दिखा सकते हैं —
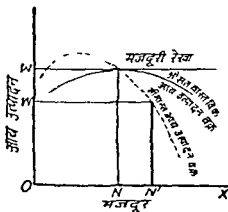
चित्र १ (फर्म)
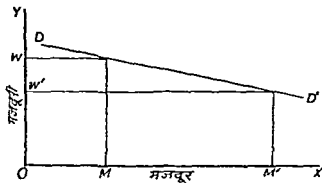
चित्र २ (उद्योग)

ऊपर दो चित्र बनाये गये हैं। चित्र १ मजदूरी गिरने के फलस्वरूप एक उत्पादक की मजदूरों की मांग में वृद्धि को दिखाता है। जब मजदूरी OW है तो साहसी ON मजदूरों की मांग करता है। परन्तु जब मजदूरी गिर कर OW' रह जाती है तो मजदूरों की मांग ON से बढ़कर UN' हो जाती है। चित्र २ मजदूरी गिरने के फलस्वरूप उद्योग के समस्त उत्पादकों की मांग में वृद्धि को दिखाता है। यहां हमने यह उपधारणा की है कि उद्योग में कुल पांच साहसी हैं। चित्र २ में जब मजदूरी OW' से गिरकर Ow हो जाती है तो मजदूरों की मांग OM से बढ़ कर OM' हो जाती है जो कि चित्र १ की NN' (मजदूरों की मांग) की पांच गुनी है। चित्रों से स्पष्ट है कि फर्म तथा उद्योग दोनों के श्रम-मांग वक्र दायीं ओर

को ढलते हुए होते है । यह इस बात का द्योतक है कि कम मजदूरी पर मजदूरो की माग अधिक होती है तथा अधिक मजदूरी पर कम ।

श्रम की पूर्ति

किसी देश मे श्रम की पूर्ति इस बात पर निर्भर होता है कि उस देश मे कितनी जन-सख्या है तथा वह किस प्रकार की है । श्रम की पूर्ति को निश्चित करने वाले सबके सब कारण आर्थिक नही होते । वे आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक सभी प्रकार के होते हैं । श्रम की पूर्ति इस बात पर निर्भर होती है कि किसी देश या समाज मे लोगो का पारिवारिक जीवन के विषय मे क्या दृष्टिकोण है अर्थात् वे अधिक बच्चे पैदा करके साधारण जीवन व्यतीत करने से सन्तुष्ट हो जाते हैं या कम बच्चे पैदा करके उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने की आकाक्षा करते हैं । लोगो के दृष्टिकोण देश की आर्थिक अवस्था, धार्मिक विचार, सामाजिक रीति-रिवाज आदि मे बनते हैं । यदि देश खुशहाल है तथा बच्चो को पालन-पोषण मे कोई कठिनाई नही होती तो वे बच्चो की अधिकता की कोई परवाह नही करते । देश मे निधनता का साम्राज्य होने से लोग बच्चो को कम पैदा करने का प्रयत्न करेंगे । खुशहाल देशो की सरकारें जनसख्या के न्यून होने पर उसमे वृद्धि का स्वागत करती हैं तथा उसके बढाने के लिए प्रचार भी कर सकती हैं । इसके विपरीत, निधन देशो की सरकारें परिवार नियोजन के लिए प्रचार करती हैं जैसा कि आजकल भारत सरकार कर रही है । इसके अतिरिक्त जिन देशो म गर्भपात तथा जन वृद्धि के निरोद के अन्य उपायो को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है उनमे बच्चो की अधिकता होती है परन्तु जिन देशो मे इन उपायो को कोई पाप नही समझा जाता उनमे जन-सख्या कम होती है । भारतवर्ष मे पहली विचारधारा के लोग हैं तथा पाश्चात्य देशो मे दूसरी के । इसीलिये भारतवर्ष मे जन-सख्या तीव्र गति से बढ रही है । यह तो रही देश मे जन-सख्या की बात, पर देश मे जन-सख्या की अधिकता से ही श्रम की पूर्ति की अधिकता स्वय नही हो जाती । श्रम की पूर्ति मे कई प्रकार का श्रम सम्मिलित होता है । कुछ श्रमिक केवल शारीरिक कार्य करते हैं जैसे पल्लेदार, मजदूर आदि । जन-सख्या की अधिकता के कारण इनकी पूर्ति अधिक होती है । परन्तु श्रम की पूर्ति मे बहुत सा कुशल श्रम होता है जिसको कार्य करने से पूर्व उचित शिक्षा-दीक्षा तथा प्रशिक्षण आदि की आवश्यकता पडती है । इस प्रकार के श्रम की पूर्ति तभी बढ सकती है जबकि बच्चो के माता-पिता के पास उनको पालने-पोसने व शिक्षा दीक्षा देन के लिये पर्याप्त साधन हो और वे ऐसा करना बच्चो के प्रति अपना कर्तव्य समझते हैं । इस प्रकार के श्रम की पूर्ति सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो के ऊपर भी निर्भर होती है । यदि समाज के लोग तथा सरकार बच्चो को उचित शिक्षा देने का प्रबन्ध करते हैं तो कुशल श्रम की पूर्ति बढ सकती है । पाश्चात्य देशो मे इस प्रकार का प्रबन्ध होता है । इसलिये इन देशो मे इस प्रकार के श्रम का अभाव

नहीं है। इसके विपरीत, हमारे देश में ऐसी सुविधायें कम होने के कारण इस प्रकार के श्रम की कमी है। इसके अतिरिक्त, श्रम की पूर्ति इस बात पर निर्भर होती है कि देश में स्वास्थ्य व चिकित्सा का क्या प्रबन्ध है। जिन देशों में स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये पर्याप्त साधन नहीं होते तथा चिकित्सा केन्द्रों की कमी होती है उनमें श्रम की पूर्ति कम होती है। इसके विपरीत, जिन देशों में ये सुविधायें अधिक होती हैं उनमें श्रम की पूर्ति अधिक होती है। श्रम की पूर्ति पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि देश में स्त्रियों तथा बच्चों को काम पर लगाना अच्छा समझा जाता है या बुरा। जिन देशों में स्त्रियाँ व बच्चे भी काम करते हैं उनमें श्रम की पूर्ति अधिक होती है परन्तु जिनमें या तो वे सामाजिक बन्धनों के कारण कार्य नहीं कर सकते या सरकारी कानून उनको विशेष उद्योगों में काम पर लगाये जाने की आज्ञा नहीं देता उन देशों में श्रम की पूर्ति कम होती है। श्रम की पूर्ति पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि किसी देश में काम करने के घन्टे कितने हैं। यदि काम करने के घन्टे अधिक होते हैं तो श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है। काम के घन्टे कम होने से श्रम की पूर्ति कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त, श्रम की पूर्ति इस बात पर भी निर्भर है कि किसी देश में अवकाश (Retirement) ग्रहण करने की क्या आयु है। जिनमें यह आयु अधिक होती है उनमें श्रम की पूर्ति अधिक होती है।

अभी तक हमने किसी देश के सब उद्योगों के लिये श्रम की पूर्ति पर विचार किया है। किसी उद्योग विशेष के लिये श्रम की पूर्ति इस बात पर निर्भर होती है कि यह उद्योग किस प्रकार का है अर्थात् उसमें कुशल श्रमिकों की आवश्यकता है या अकुशल की। यह इस बात पर भी निर्भर होगी कि उद्योग में काम करने के घन्टे कम हैं या अधिक। इसके अतिरिक्त यह इस बात पर भी निर्भर होगी कि उस उद्योग में कितने मजदूर काम करने के लिये तैयार हैं।

साधारणतः हम यह कह सकते हैं कि किसी उद्योग में श्रम की पूर्ति उस उद्योग में दी जाने वाली मजदूरी की दर पर निर्भर होती है। यदि मजदूरी की दर अधिक होती है तो मजदूरों की पूर्ति अधिक होती है। इसके विपरीत, कम मजदूरी होने से श्रम की पूर्ति घट जाती है। जब मजदूर किसी उद्योग में काम करने का निश्चय करता है तो वह न केवल वर्तमान लाभ को ही ध्यान में रखता है वरन् वह यह बात भी देखता है कि उसको प्राप्त होने वाली मजदूरी में उसका तथा उसके परिवार का भरण-पोषण तथा उसके बच्चों की शिक्षा दीक्षा का भी प्रबन्ध हो सकेगा या नहीं। यहाँ यह बात स्मरण करा देना आवश्यक है कि पुराने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का मत है था कि मजदूरों को केवल इतनी मजदूरी दी जानी चाहिये जिससे कि उनकी उदर-पूर्ति किसी प्रकार हो सके। परन्तु उनके पश्चात् आने वाले अर्थशास्त्री उनकी इस बात से सहमत न थे। वे मजदूर के लिये एक उचित जीवन-स्तर के पक्ष में थे। आजकल प्रायः सभी इस बात से सहमत हैं।

अस्तु, मजदूर को दी जाने वाली मजदूरी इतनी होनी चाहिये जिससे कि वह अपना तथा अपने बच्चों का ठीक प्रकार से विकास कर सके। यदि मजदूरों को अधिक मजदूरी दी जाती है तो हम यह आशा कर सकते हैं कि उनकी कार्य कुशलता में वृद्धि होती है तथा भविष्य में भी उस उद्योग में श्रम की पूर्ति कम नहीं होगी। ऐसा होने से उत्पादन अधिक होता है तथा महगी मजदूरी अन्त में चलकर सस्ती मजदूरी सिद्ध होती है। अस्तु पूर्ति की ओर मजदूरी, मजदूरों को पालने-पोसने उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उस खर्च के बराबर होगी जो मजदूरों की कार्य कुशलता के समुचित विकास के लिये आवश्यक हो। यदि मजदूरी इससे अधिक बढ़ जायेगी तो उसके कारण श्रम की पूर्ति बढ़ जायेगी यह हो सकता है कि सख्या के रूप में उनकी पूर्ति मजदूरी-दर बढ़ने से न बढ़ परन्तु मजदूर की कार्य कुशलता में वृद्धि होने से भी उसी प्रकार अधिक उत्पादन प्राप्त हो सकता है जिस प्रकार कि कारखानों में मजदूरों की सख्या बढ़ाने से। इस प्रकार मजदूरी बढ़ने से श्रम की पूर्ति बढ़ती है तथा उसके कम होने से साधारणत पूर्ति घट जाती है। इसलिये श्रम का पूर्ति वक्र दायीं ओर ऊपर की ओर उठता हुआ होता चला जाता है। यह नीचे के चित्र में दिखाया गया है—
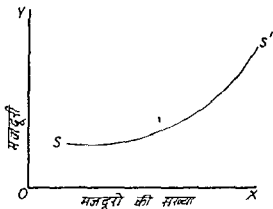
ऊपर के चित्र में OX पर मजदूरों की सख्या तथा OY पर मजदूरी दी गई है। इस चित्र में SS श्रम का पूर्ति वक्र है जो कि दायीं तरफ ऊपर की ओर उठता हुआ है। यह वक्र इस बात को प्रकट करता है कि जैसे जैसे मजदूरी की दर बढ़ती जाती है वैसे-वैसे मजदूरों की पूर्ति सख्या भी बढ़ती जाती है। मजदूरी की दर कम होने से उनकी सख्या कम हो जाती है। इस प्रकार साधारणत पूर्ति वक्र दायीं तरफ ऊपर को उठता हुआ होता है।

परन्तु हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि मजदूरी दर के परिवर्तन का कार्य करने के घन्टों पर क्या प्रभाव प॰गा। यदि मजदूरी की दर बढ़ जाय तो इसके

स्थानापन्न तथा आय[७] दोनों प्रकार के प्रभाव हो सकते हैं। तटस्थ वक्रो का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि स्थानापन्न प्रभाव के अन्तर्गत उपभोक्ता एक ही तटस्थ वक्र पर ऊपर या नीचे जाता है तथा आय-प्रभाव के अन्तर्गत वह दूसरे एक तटस्थ-वक्र पर जो पहले वक्र के दायी ओर होता है, जाता है। मजदूरी की दर घटने का साधारणत प्रभाव यह होता है कि मजदूरी की पूर्ति में कमी हो जाती है तथा मजदूरी की दर बढने का प्रभाव यह होता है कि मजदूरो की पूर्ति बढ जाती है। मजदूरी की दर में परिवर्तन का आय-प्रभाव यह हो सकता है कि मजदूर पहले से कम या अधिक घन्टे काम करने लगे। यदि मजदूर का यह निश्चय है कि वह अपने वर्तमान जीवन-स्तर को कायम रखेगा तो मजदूरी की दर कम होने पर वह अधिक घन्टे तक काम करेगा तथा मजदूरी की दर अधिक होने पर वह कम घन्टे काम करेगा। दूसरे शब्दों मे, आय-प्रभाव के फलस्वरूप वह पहले से कम या अधिक मात्रा मे अवकाश या आराम को खरीदता है। यदि मजदूरी के परिवर्तन का आय-प्रभाव स्थानापन्न-प्रभाव से भी अधिक प्रबल है तो श्रम का पूर्ति वक्र बजाय दायीं ओर को ऊपर उठने के बायीं ओर को ऊपर की ओर उठता हुआ होगा। ऐसी स्थिति में माग वक्र का रूप इस प्रकार का होगा —
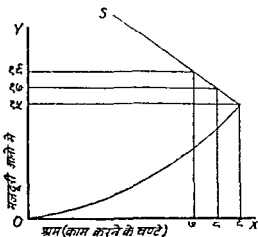
उपर्युक्त चित्र मे OX पर श्रम के काम करने के घण्टे तथा OY पर मजदूरी की दर दी गई है। इस चित्र को देखने से पता चलता है कि जैसे-जैसे मजदूरी शून्य से बढ़ती जाती है काम करने के घण्टे भी बढ़ते जाते हैं यहां तक कि ९ घण्टे काम करने पर जब मजदूर को १५ आने मजदूरी मिलती है तब उसका उच्चतम बिन्दु आ जाता है। उसके पश्चात् यदि मजदूरी की दर में वृद्धि होती है

---

७ तटस्थ वक्र-विश्लेषण के अध्याय को पीछे देखिये।

है तो वह केवल ८ घण्टे ही कार्य करता है। मजदूरी के १६ आने पर पहुँच जाने पर वह केवल ७ घण्टे ही काम करता है। इस प्रकार मजदूरी की दर बढ जाने पर मजदूर अधिक घण्टे काम करने के लिये तैयार नही है वरन् वह अपनी इस बढी हुई आय से अधिक 'आराम' खरीदना चाहता है। ऊपर के चित्र मे OS श्रम (काम के घण्टो) का पूर्ति वक्र है जो कि यह दिखाता है कि अधिक मजदूरी बढने से किस प्रकार काम करने के घण्टो पर उसका प्रभाव पडता है।

यहा यह बात स्मरण रहनी चाहिये कि किसी एक फर्म अथवा उद्योग के लिय मजदूरी के परिवर्तन का आय प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण •ही होगा। इसका कारण यह है कि मजदूरी की दर मे परिवतन होने से इस फर्म अथवा उद्योगो से दूसरी फर्मों अथवा उद्योगो मे मजदूरी के बढने अथवा घटने के कारण श्रमिक आने तथा जाने लगगे। परन्तु यदि देश के सारे उद्योगो मे मजदूरी की दर एक साथ बढे या घटेगी अथवा कोई उद्योग ऐसा होगा जिसमे बाहर का श्रम मजदूरी के परिवतन के कारण न आ जा सकेगा (जैसे कोयला उद्योग म) तो आय-प्रभाव ही महत्वपूर्ण होगा। पाश्चात्य देशो मे कदाचित् मजदूर आय बढने पर अधिकाधिक 'फुर्सत' की माग कर रहे हैं जिसके कारण इन देशो मे काम करने के घण्टे घटते जा रहे हैं। हमारे देश मे भी अब पहले की अपेक्षा काम करने के घण्टे घट गये हैं।

मजदूरी का निर्धारण—

ऊपर हमने बताया है कि माग-पक्ष की ओर मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादनीयता द्वारा निश्चित होती है अर्थात् कोई भी उत्पादक मजदूर को उसकी सीमान्त उत्पादनीयता से अधिक मजदूरी न देगा। माग-पक्ष की ओर श्रम की उत्पादनीयता मजदूरी की उच्चतम सीमा होती है। मजदूरी पर मजदूर सघो के प्रभाव को बताते समय हम बता चुके हैं कि मजदूर सघ भी अपने प्रभाव के कारण मजदूरी को अधिक से अधिक श्रम की सीमान्त उत्पादनीयता तक बढवा सकते हैं। इस कारण उनका प्रभाव केवल उन्ही उद्योगो पर अधिक होता है जिनमे कि श्रम का शोषण होता है अर्थात् जिनमे मजदूरी सीमान्त उत्पादनीयता से बहुत कम है। यदि मजदूर सघ अपने प्रभाव के कारण मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादनीयता से ऊचा निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे तो उत्पादक मजदूरो की सख्या को उस समय तक कम करते जायेंगे जब तक कि सीमान्त मजदूर की उत्पादनीयता निश्चित की गई मजदूरी के बराबर नही हो जाती। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर सघो के दबाव की प्रतिक्रिया यह होगी कि मजदूरो मे बेरोजगारी फैल जायेगी। मजदूरी बढने का प्रभाव उत्पादित वस्तु की बाजारू कीमत पर यह होगा कि वह पहले की अपेक्षा बढ जायेगी। यदि इस वस्तु की माग लोचदार है तो कीमत बढने से उसकी माग कम हो जायेगी। इसलिये कम उत्पादन होगा। कम उत्पादन के फलस्वरूप

बेरोजगारी और भी बढ सकती है। इसलिये मजदूर सघो को चाहिये कि वे ऐसे उद्योगो मे मजदूरी अधिक बढवाने का प्रयत्न करें जिनमें उत्पादित वस्तु की माग लोचदार होती है। यदि उत्पादित वस्तु की माँग बेलोच है तो कीमत बढने पर वस्तु की माग कम न होगी तथा रोजगार पर कीमत बढने का कोई विशेष प्रभाव न पडेगा। यदि किसी समय उत्पादित वस्तु पूर्ण प्रतियोगी बाजार मे बिकती है परन्तु श्रम को खरीदने वाला केवल एक ही उत्पादक है* तो ऐसी स्थिति मे बढी हुई मजदूरी कायम रह सकती है तथा श्रम का उपयोगीकरण घटने के स्थान पर बढ सकता है। परन्तु उपयोगीकरण उसी हालत मे बढेगा जब कि श्रम का सीमान्त आय-उत्पादन निश्चित की गई मजदूरी (जो कि अब सीमान्त मजदूरी हो गई है) से अधिक होगा। ऐसी स्थिति मे उत्पादक अधिक मजदूरो को उस समय तक लगाता जायगा जब तक कि श्रम का सीमान्त आय-उत्पादन मजदूरी के बराबर न हो जाये। यदि निश्चित की गई मजदूरी श्रम के सीमान्त आय-उत्पादन से अधिक है तो उपयोगीकरण घट जायेगा। उत्पादक मजदूरो को उस समय तक कम करता जायेगा जब तक कि मजदूरी, श्रम के सीमान्त आय-उत्पादन के बराबर नही हो जाती। यदि उत्पादित वस्तु को बेचने मे विक्रयेकाधिकार हो परन्तु श्रम बाजार मे प्रतियोगिता हो तो ऐसी स्थिति मे भी श्रम का उपयोगीकरण कम हो जायेगा क्योकि ऐसी स्थिति मे जहा सीमान्त (तथा औसत) मजदूरी वक्र ग्राफ की क्षैतिज अक्ष के समानान्तर होगा वहा श्रम का सीमान्त आय-उत्पादन वक्र दायी ओर नीचे को ढालू होगा। उपयोगीकरण मे कमी इस बात पर निर्भर होगी कि श्रम का सीमान्त आय-उत्पादन वक्र किस गति से दायी ओर को ढालू हो रहा है अर्थात् श्रम की माग की लोच किस प्रकार की है। यदि उत्पादित वस्तु को बेचने वाला विक्रयेकाधिकारी होता है तथा श्रम को खरीदने वाला भी केवल एक ही व्यक्ति अर्थात् विक्रयेकाधिकारी होता है तो ऐसी स्थिति मे मजदूर सघो द्वारा मजदूरी निश्चित करने का श्रम के उपयोगीकरण पर प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि निश्चित की गई मजदूरी श्रम के सीमान्त आय-उत्पादन से कम है या अधिक। यदि मजदूरी इससे कम है तो उत्पादक अधिकतम लाभ कमाने के लिये मजदूरो की सख्या को उस समय तक बढाता जायेगा जब तक कि मजदूरी श्रम के सीमान्त आय उत्पादन के बराबर नही हो जाती। इसके विपरीत, यदि निश्चित की गई मजदूरी श्रम के सीमान्त आय-उत्पादन से अधिक है तो उत्पादक मजदूरो की सख्या उस समय तक कम करता जायेगा जब तक कि मजदूरी, श्रम के सीमान्त आय-उत्पादन के बराबर नही हो जाती। यदि सरकार किसी उद्योग के लिये न्यूनतम मजदूरी

* व्यवहार मे ऐसी स्थिति कठिनाई से ही पाई जाती है। परन्तु इसका पाया जाना असम्भव नही है।

कानून (Minimum Wage Legislation) पास कर देती है तो उसका वही प्रभाव होगा जो कि हमने ऊपर मजदूर-सघो द्वारा मजदूरी निश्चित करने का बताया है।

ऊपर हमने मजदूरी निश्चित करने का प्रभाव मजदूरो के उपयोगीकरण अथवा उसकी माग पर देखा है। परन्तु मजदूरी निश्चित करने का प्रभाव कभी अकेले नही आता। श्रम के उपयोगीकरण के ऊपर मजदूरी दर के अतिरिक्त और भी कुछ बातो का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिये, इसके ऊपर उत्पादित वस्तु की माग की लोच का भी प्रभाव पडता है। यदि वस्तु की माग लोचदार है तो मजदूरी श्रम के सीमान्त उत्पादन से अधिक होने पर श्रम का उपयोगीकरण कम हो जायेगा। यदि माग बेलोच है तो उत्पादक वस्तु की कीमत बढा कर अपनी हानि को उपभोक्ताओं के सिर मढ सकता है। इसके कारण रोजगार पर कोई विशेष प्रभाव न पडेगा।

यदि मजदूरी बढने पर उत्पादक श्रम के अतिरिक्त उत्पादन के दूसरे साधनों का पारितोषिक में मजदूरी मे हुई वृद्धि के बराबर कर सके तो भी मजदूरी मे वृद्धि का श्रम के उपयोगीकरण पर कोई प्रभाव न पडेगा।

यदि मजदूरी बढने के फलस्वरूप मजदूरों की कार्य कुशलता बढ जाती है जिससे कि वे पहले से अधिक उत्पादन कर सकते हैं तो श्रम के उपयोगीकरण पर कोई विशेष प्रभाव न पडेगा क्योंकि ऐसी हालत मे श्रम का सीमान्त उत्पादन वक्र पहले से ऊपर किसी स्थान पर पहुच जायेगा। जिसके कारण उपयोगीकरण के ऊपर कोई विशेष प्रभाव न पड सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माग की ओर मजदूरी का निर्धारण श्रम के सीमान्त आय उत्पादन पर निर्भर होता है। मजदूर-सघ अथवा न्यूनतम मजदूरी कानून के द्वारा मजदूरी केवल इस उच्चतम सीमा तक बढाई जा सकती है। मजदूरी के इस उच्चतम सीमा से अधिक होने का प्रभाव यह होगा कि मजदूरो की मांग कम हो जायेगी जिसके कारण इस प्रकार मजदूरी निश्चित करने से सब मजदूरो को कोई विशेष लाभ न होकर कुछ ही भाग्यशाली मजदूरो को इस का लाभ होगा तथा अनुपयोगीकरण बढेगा।

अभी तक हमने मजदूरी निर्धारण में माग के प्रभाव पर विचार किया है। अब हम पूर्ति-पक्ष के ऊपर विचार करेंगे। प्रो० मार्शल का मत है कि पूर्ति की ओर मजदूरी कुशल मजदूरो के पालने-पोसने, शिक्षा-दीक्षा तथा उनके कार्य करने की शक्ति को बनाये रखने तथा उसको बढाने के खर्च के बराबर होनी चाहिये। यह मजदूरी की न्यूनतम सीमा होती है। इससे कम मजदूरी देने पर श्रम की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न हो सकेगी जिस के कारण मजदूरी को कम से कम इस सीमा तक अवश्य बढाना पडेगा।

इस प्रकार माग की ओर श्रम की उत्पादनीयता मजदूरी की उच्चतम सीमा है तथा पूर्ति की ओर कार्य कुशल मजदूर को पालने पोसने, उसकी शिक्षा दीक्षा आदि का खर्च उसकी न्यूनतम सीमा है। इन दोनो सीमाओ के बीच मजदूरी, माग और पूर्ति की सयुक्त शक्तियो द्वारा कही पर निश्चित हो जायेगी। इस बिन्दु को जिस पर मजदूरी तय होगी सस्थिति बिन्दु कहा जाता है। किसी समय मजदूरी के इस बिन्दु से ऊपर होने पर मजदूरो की पूर्ति बढ जायेगी जिसके फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् मजदूरी लौट कर सस्थिति बिन्दु पर पुन आ जायेगी। मजदूरी के इस बिन्दु से नीचे होने पर मजदूरो की पूर्ति कम हो जायेगी जिसके फलस्वरूप उपादको को मजदूरी सस्थिति बिन्दु तक बढानी पडेगी। किसी समय विशेष पर मजदूरी अधिकतम सीमा के अधिक समीप होगी या न्यूनतम के यह इस बात पर निर्भर होगा कि किसी उद्योग मे मजदूरी निर्धारण के समय श्रम की माग की लोच क्या है। श्रम की माग लोचदार होने पर मजदूरी यूनतम सीमा के अधिक निकट निश्चित होगी, माग के बेलोच होने पर मजदूरी उच्चतम सीमा के अधिक निकट निर्धारित होगी। माग के सामने मजदूरी पर पूर्ति की लोच का भी प्रभाव पडेगा। पूर्ति के बलोच होने पर मजदूरी उच्चतम सीमा के समीप तय होगी, उसके बेलोच होने पर मजदूरी न्यूनतम सीमा के पास निर्धारित होगी। व्यवहार मे मजदूरी इन दोनो सीमाओ के बीच मे कही निश्चित होती है।

माग और पूर्ति के सिद्धान्त को एक चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है—
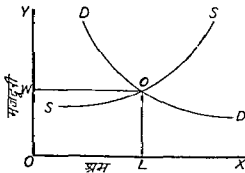
ऊपर के चित्र मे OX पर श्रम की मात्रा तथा OY पर मजदूरी की दर दिखाई गई है। DD माग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र हैं। ये दोनो वक्र एक दूसरे को O बिन्दु पर काटते हैं। इसलिये O सस्थिति बिन्दु हुआ। ऊपर के चित्र मे मजदूरी की दर OW होगी तथा इस मजदूरी पर OL श्रम की माग की जायेगी।

मजदूरी का यह आधुनिक सिद्धान्त उन तमाम त्रुटियो से मुक्त है जो अन्य सिद्धान्तो मे पाई जाती हैं। अपरच यह मजदूरी को माग पूर्ति के सामान्य नियम के अन्तर्गत ला देता है।

ब्याज
(Interest)

'ब्याज' अर्थशास्त्र मे एक बडे वाद विवाद का विषय है। इस पर बहुत से अर्थशास्त्रियो ने अपने विचार प्रकट किये है। परन्तु उनके विचारो मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्रियो मे इस बात पर मत भेद है कि 'पूंजी' का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा इसका उत्पादन मे क्या महत्व है। इस पूजी के स्वरूप पर शका करने का कारण यह है कि उत्पादन कार्य मे काम आने वाली पूजी के बहुत से रूप हैं। विक्सेल के अनुसार साधारण बोल चाल मे पूंजी मे, प्राकृतिक साधनो तथा श्रम के अतिरिक्त, वे सभी चीजें सम्मिलित की जाती हैं जो कि उत्पादन कार्य मे सहायता प्रदान करती हैं। इस प्रकार पूजी मे हम उन मकानो और इमारतो को सम्मिलित करते हैं जिनमे कि उत्पादन कार्य अथवा व्यापार कार्य किया जाता है। इसमे वे औजार और मशीनें भी सम्मिलित की जाती हैं जिनसे उत्पादन कार्य किया जाता है। इसमे वह कच्चा माल भी सम्मिलित किया जाता है जिसका कि उपभोग अथवा अर्ध-उपभोग वस्तुओ मे रूपान्तरण किया जाता है। इसमे वह सामान भी सम्मिलित किया जाता है जो कि मजदूरो के जीवन-निर्वाह के लिये उत्पादन क्रिया के दौरान मे आवश्यक होता है। स्टेन्ली जेवन्स तो यहा तक कहते हैं कि पूजी मे उत्पादन कार्य मे काम आने वाला प्रत्येक मद सम्मिलित किया जाना चाहिए।* प्रो० टॉजिग के अनुसार मनुष्य द्वारा उत्पादित समस्त उपकरण (जैसे मशीनें आदि), जो उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन के काम आते हैं, पूजी के अन्तर्गत शामिल होते है। इस प्रकार इसमें फैक्टरी, गोदाम, कच्चा-माल, रेल, जहाज, कृषि औजार आदि सम्मिलित किये जाते हैं। परन्तु इसमे से रहने के मकान, फर्नीचर आदि उपभोग्य वस्तुयें निकालनी पड़ेंगी। इनके अतिरिक्त पूजी मे भूमि आदि वे प्राकृतिक साधन भी शामिल नही हैं, जो मानव श्रम द्वारा उत्पादित नही किये गये हैं।** प्रो० टॉजिग ने यह स्पष्ट बताया है कि पूजी के अन्तर्गत वे केवल भौतिक वस्तुओ को ही सम्मिलित करेंगे।

* *Wicksell*—Lectures on Political Economy vol one P. P. 144—45.

** *Taussig*—Principles of Economics vol. II P. 4.

इन चीजों के 'स्वत्व'† को वे पूजी मे सम्मिलित नही करते। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया है कि पूजी वस्तुओ तथा पूजी मे कोई अन्तर नही होता। पूजी-वस्तुयें उत्पादन कार्य मे आने वाली भौतिक वस्तुयें होती हैं जबकि पूजी मे इन भौतिक वस्तुओ का मूल्य मात्र ही होता है। स्टोनियर हेग ने भी पूजी के अन्तर्गत उत्पादन के उन सब साधनो को लिया है जिनको कि आदमी ने भविष्य के उत्पादन के लिये जान बूझकर बनाया हो।‡ इस प्रकार पूजी मे अन्य साधनो की अपेक्षा यह विशेषता पाई जाती है कि जबकि भूमि, श्रम आदि उत्पादन के साधनों को उत्पन्न करना मनुष्य के बूते के बाहर की बात है। पूजी के निर्माण पर उसका पूर्ण रूप से नियन्त्रण होता है। इसलिये पूजी से प्राप्त होने वाले प्रतिफल अर्थात् ब्याज मे भी लगान व मजदूरी की अपेक्षा कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं। इसकी पहली विशेषता यह है कि पूजी से प्राप्त प्रतिफल को उसी वस्तु के रूप मे मापा जाता है जिस वस्तु के रूप म कि पूजी को मापा जाता है। पूजी मुद्रा के रूप मे होती है तथा ब्याज को भी मुद्रा के रूप मे व्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत, भूमि तथा इसके प्रतिफल, लगान तथा श्रम और इसके प्रतिफल, मजदूरी को मुद्रा से भिन्न माप दण्डो द्वारा मापा जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि जहा श्रम व भूमि आदि को उत्पादित नही किया जा सकता वहा पूजी को उत्पादित किया जा सकता है।* पूजी उत्पादन का उत्पादित साधन है।

पूजी की परिभाषा समझ लेने के पश्चात् हमको इस बात पर विचार करना है कि क्या पूजी द्वारा कोई वस्तु उत्पादित की जा सकती है। पुराने समय में 'पूजी' नाम की कोई वस्तु न थी। भूमि ही को उत्पादन का साधन समझा जाता था। इसलिये लगान वसूल किये जाने पर किसी को कोई आपत्ति न थी। परन्तु उस समय लोगो का यह विचार था कि मुद्रा वन्ध्या तथा निष्क्रिय होती है। वह किसी प्रकार की कोई चीज उत्पन्न नही कर सकती। इसलिये उस समय ब्याज को कोई मान्यता नही दी गई थी। मान्यता देना तो दूर रहा ब्याज का लेना धार्मिक दृष्टि से वर्जित कर दिया गया था। इसका कारण यह था कि उस समय लोग उत्पादन कार्य के लिये धन उधार नही लेते थे, यदि उधार लेते थे तो उसे अपनी आवश्यकताओ की वस्तुयें खरीदने के लिये लते थे। उधार लिये गये रुपये को पूजी के रूप मे किसी उत्पादन के कार्य मे नही लगाया जाता था। इसलिये ऋण का भुगतान करने के समय ऋणी प्राय न तो मूलधन ही लौटा सकता था, न ब्याज ही। इसलिये उसको बहुधा एक दास के रूप मे कार्य करना पडता था। इसीलिये उस समय लोग ब्याज को इतनी घृणा की दृष्टि से देखते थे।

परन्तु मुद्रा के प्रयोग के कारण जब व्यापारो व उद्योगों का विस्तार होने लगा तथा उद्योगो मे श्रम विभाजन का बोल बाला हो गया तब उद्योग बहुत

---

†'स्वत्व' (Ownership या title) एक अभौतिक वस्तु है।
‡*Stonier and Hague*—A Text book of Economic Theory P. 239.
**Wicksell*—P. 145

के लिये उपयोगी होती हैं। उधार लेने वाले को ऋण से जितना ही अधिक लाभ कमा सकने की आशा होगी, उतनी ही ऊंची ब्याज देने के लिये वह तैयार होगा। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ऋण अथवा पूंजी की मांग उसकी उत्पादनीयता पर निर्भर होती है। कोई व्यक्ति उस समय तक पूंजी उधार लेता जायगा। जब तक कि उसको पूंजी अथवा ऋण से उसमे अधिक लाभ होने की आशा होगी जितनी कि वह उस पर ब्याज देगा। जब ब्याज और लाभ समान हो जायेंगे तब पूंजी का उधार लिया जाना बन्द कर दिया जायेगा। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पूँजी उस समय तक उधार ली जाती रहगी जब तक कि ऋण की सीमान्त उत्पादनीयता उसकी सीमान्त आय के बराबर नहीं हो जाती।

पूंजी की पूर्ति—

पूंजी की पूर्ति भूमि के समान न तो स्थायी रूप से निश्चित है, तथा न श्रम के समान अस्थाई तथा अनिश्चित ही होती है। इसको किसी समय भी बचत करके बढ़ाया जा सकता है। इसको अनुत्पादक उपभोग द्वारा कम भी किया जा सकता है। आदमी बहुत से उद्देश्यों को सामने रखकर बचत करता है। कुछ लोग अपने लिये बचत करते हैं, कुछ अपने बाल बच्चों के लिये। कुछ इसलिये बचाते हैं कि उनको बचत करने मे आनन्द आता है। कुछ लोगो की आय इतनी अधिक होती है कि वे उस सब को खर्च नही कर सकते। कुछ बडे परिवार इसलिये बचत करने पर जोर देते हैं कि उनकी आय का वर्तमान साधन आगे चलकर परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त न रहेगा, परन्तु बहुधा बड़े परिवार बचत बहुत कम कर पाते हैं। कुछ लोगो के पास इतना धन होता है कि वे केवल ब्याज की आय मे से भी बचत करते हैं। इसलिये उनकी सम्पत्ति निरन्तर बढ़ती रहती है।

हम यह कह सकते हैं कि अमीर आदमी गरीब आदमी से अधिक बचत कर सकता है। यदि समाज मे धन-वितरण का वैषम्य दूर कर दिया जाये तो उसके फलस्वरूप बचत बहुत कम हो पायेगी क्योंकि सब लोगो के पास केवल इतना ही धन कठिनाई से होगा कि उससे उन का तथा उनके परिवार का गुजारा ही हो जाये।

बचत करने की इच्छा पर ब्याज की दर का भी प्रभाव पड़ता है। यह सत्य है कि यदि देश में शान्ति व सुरक्षा हो, रुपये को उत्पादन व्यवसाय म लगाने की सुविधा हो तथा मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर-प्राय हो तो भविष्य की मुद्रा भी उतनी ही अच्छी मानी जा सकती है जितनी की वर्तमान की। मुद्रा का कुछ समय तक नोटों अथवा बहु-मूल्य पदार्थों के रूप मे सचित कर रखा जा सकता है। इस प्रकार शून्य-ब्याज

दर पर भी बचत सम्भव है। यही नहीं, कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो अपने धन को किसी के पास सुरक्षित रखने के लिये उल्टे अपने पास से कुछ देने के लिये भी तैयार हो। इस प्रकार ऋणात्मक ब्याज दर भी व्यवहार मे पाई जा सकती है। परन्तु व्यवहार मे हम देखते हैं कि अधिकतर बचत-ब्याज की दर पर निर्भर होती है। यदि ब्याज की दर ऊँची होती है तो लोग अधिक बचत‡ करते हैं। ब्याज की दर नीची होने पर बचत कम होने लगती है। ब्याज की दर नीची होने पर लोग अपनी बचतो को मकानो के खरीदने मे खर्च करने लगते हैं तथा किराये के रूप मे ब्याज की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त करते हैं अथवा वे अपनी बचतों से कम्पनियों के हिस्से खरीदने लगते हैं, उनसे उन्हे दो प्रकार के लाभ पाने की आशा होती है। प्रथम, उनको लाभाश (Dividend) के रूप मे आय प्रचलित कम ब्याज की दर से अधिक आय प्राप्त होने की आशा होती है। दूसरे, कम्पनियो के हिस्सो की कीमतें बढ सकती हैं, इसमे उनको पूजी की वृद्धि के रूप म लाभ प्राप्त होने की सभावना होती है। इसलिये ब्याज की दर गिरने पर लोग हिस्से खरदने की ओर दौड पडते है। कुछ अधेड उम्र वाले लोग अपने धन से वार्षिक (Annuity) खरीद लेते हैं। यही नही, कुछ बडे-बडे लोग व कम्पनिया देश म ब्याज दर कम होने पर अपनी बचतों को विदेशो मे लगाना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार ब्याज की दर कम होने पर बचतें कम हो जाती हैं। इसके विपरीत, ब्याज दर ऊची होने पर लोग अपनी बचतों को ब्याज पर उधार देने लगते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अधिकतर देशो मे व्यक्तियो की बचत तालिका को यदि हम ग्राफ पर आलखित करें तो बचत वक्र दायी ओर नीचे को ढालू होगा। [ग्राफ के ऊर्ध्व अक्ष पर ब्याज की दर को दिखायेंगे]* इसके विपरीत, कुछ लोगों का मत है कि नीची ब्याज दर पर अधिक बचत होती है और ऊची ब्याज दर पर कम बचत होती है। उनका यह मत इस

---

† इस 'बचत' का अभिप्राय उस धन से है जो उपभोग के बाद बचता है।

‡ इस प्रकार बचत के पीछे यह उद्देश्य निहित होता है कि उस पर ब्याज कमाई जायेगी। यदि ब्याज पर उसे न उठाना हो तो ब्याज दर का इसमे कोई सम्बन्ध नही।

* But though saving in general is affected by many causes other than the rate of interest · and though the saving of many people is but little affected by the rate of interest, · while a few, who have determined to secure an income of a certain fixed amount for themselves or their family, will save less with a high rate than with a low rate of interest yet a strong balance of evidence seems to rest with the opinion that a rise in the rate of interest or demand price for saving, tends to increase the volume of saving.

--*Marshall* · Law Priced Text book P. 443

बात पर आधारित है कि बचत करने वाले अपनी भविष्य की आय को एक निश्चित बिन्दु पर रखना चाहते हैं। ऐसी हालत में यदि ब्याज दर नीची होगी तो उनको अधिक बचत करने पर ही भविष्य में अभिप्रेत आय प्राप्त हो सकगी। इसके विपरीत, यदि ब्याज दर ऊंची होगी तो उनको अपेक्षाकृत कम ही बचत करने पर उतनी आय प्राप्त हो जायेगी। परन्तु ऐसा तभी सभव हो सकता है जबकि लोगो की वर्तमान आय उनकी इच्छाओ के अनुसार कम या अधिक हो सके। प्रो० टॉजिग का मत है कि यह तर्क ठीक नही है। इसका कारण यह है कि कुछ थोडे लोगो को छोड कर सभी लोग ब्याज की दर आधी होने पर अपनी वर्तमान आय को दुगुनी नही कर सकते। इसलिये लोगो को अपनी वर्तमान आय में से ही बचत करनी पडेगी। हम जानते हैं कि लोगो की कुछ वर्तमान आवश्यकतायें होती हैं जिनको व प्रयत्न करने पर भी कम नही कर सकते। इसलिये ब्याज दर के नीची होन पर बचत मे वृद्धि की सभावना कम ही होगी। इसी प्रकार ब्याज दर ऊंची होने पर कोई व्यक्ति इतना बुद्धिहीन नही हो जायेगा कि वह बिना सोचे समझे अपनी आय को खर्च करता चला जायेगा। इसलिये यह बात ठीक नही प्रतीत होती कि ब्याज की दर अधिक होन पर बचत कम तथा उसके कम होन पर बचत अधिक होती है। वास्तव मे होना उसका उल्टा है। जिस प्रकार कि किसी वस्तु की कीमत कम होने पर उसकी पूर्ति कम तथा उसकी कीमत अधिक होने पर उसकी पूर्ति अधिक हो जाती है उसी प्रकार ब्याज की दर ऊंची होने पर बचतें अधिक तथा उसके नीची होने पर बचतें कम होने लगती हैं। साधारण विक्रेताओ के समान बचत करने वालों की भी कई श्रेणियाँ होती हैं। इनमे से कुछ ऐसे होते हैं जो केवल अधिक ब्याज दर पर ही बचत करेंगे, कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो कुछ ब्याज न मिलने पर भी बचत करेंगे अथवा बचत को सुरक्षित रखने के लिये व अपने पास से कुछ ब्याज देने को तैयार हो जायेंगे। इन दोनो सीमाओ के बीच देश मे तमाम ऐसे व्यक्ति होंगे जो कि साधारण ब्याज दर पर कुछ बचत करने को तैयार होंगे। इस प्रकार के लोगो मे कुछ ऐसे होते हैं जो कि ऊंची ब्याज दर पर बचायेंगे, कुछ ऐसे होंगे जो कि थोडी नीची ब्याज दर पर भी बचत करने को तैयार होंगे। इन बचत करने वालो म जो ऐसे होंगे जो कि प्रचलित ब्याज-दर पर बचत करने के लिये कठिनाई से ही बाध्य होते हैं उनको सीमान्त बचत करने वाले (Marginal saver) कहते हैं। इन सीमान्त बचत करने वालो की बचत प्राप्त होने पर ही बाजार में पूंजी की माग पूर्ण हो सकती है। इसलिये इनकी बचत प्राप्त करने के लिये उन्हे कम से कम इतनी ब्याज दर देनी पडेगी जितनी कि उन्हे बचत करने की प्रेरणा दे सके। इससे कम ब्याज दर होने पर उनकी बचत प्राप्त न हो सकेगी। अत बचत की माग उसकी पूर्ति से अधिक होन लगेगी। ऐसा होने पर ब्याज दर ऊंची हो जायेगी। इस प्रकार पूर्ति की ओर ब्याज की दर इन सीमान्त बचत करने वालो द्वारा निश्चित होती है।

प्रो० टॉजिग का सुझाव है कि हमको कमावेश बचत करने वालो के स्थान पर बचत की किस्तो का प्रयोग करना चाहिये जो कि कमोवेश ब्याज दर पर प्राप्त की जा सकती हैं क्योंकि यह देखने मे आता है कि एक ही व्यक्ति ब्याज दर के कमोअधिक होने पर अधिकोत्तम बचत करने लगता है। कुछ धन वह सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिये बचाता है, कुछ को बच्चो के प्रेम के कारण, कुछ को समाज मे सम्मान प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार की बचतो के लिये ब्याज की दर का कोई महत्व नही होता। परन्तु इन सबके अतिरिक्त कुछ बचत ऐसी भी होती है जिस पर ब्याज की दर के कम या अधिक होने का भी प्रभाव पडता है। बचतों की ये श्रेणिया व्यक्तियों के अनुसार न होकर किस्तो के अनुसार होती हैं। कुछ बचत सीमान्त होती हैं यद्यपि यह सभव है कि हम को व्यवहार मे एक भी ऐसा आदमी न मिले जिसकी सब बचत सीमान्त कही जा सके।

प्रो० मार्शल का मत है कि यद्यपि किसी बाजार विशेष मे पू जी की माग के अनुसार तेजी से बढाया जा सकता है परन्तु यदि हम सारे ससार को पू जी का एक बाजार मानें तो पू जी की पूर्ति स्थिर प्राय रहेगी क्योंकि ब्याज की दर बढ़ने से पू जी के सामान्य कोप को केवल श्रम तथा प्रतीक्षा द्वारा बढाया जा सकता है। परन्तु ससार मे पहले ही पू जी की इतनी मात्रा मौजूद है कि ब्याज दर बढने पर उसमे हुई वृद्धि कुल वर्तमान पू जी के कोष का एक अणु मात्र ही होगी इसलिये जब कभी भी पूँजी की माग मे वृद्धि होती है तब पूँजी की पूर्ति बढाकर माग को पूरा नही किया जाता वरन् ब्याज की दर को बढ़ा कर पूर्ति को माग के बराबर किया जाता है। ब्याज-दर बढने पर बहुत सी पूँजी उन उद्योगों से बाहर निकाल ली जायगी जिनमे कि पूँजी को केवल सीमान्त प्रत्याय ही प्राप्त हो रही है। इस प्रकार माग-पूर्ति मे साम्य लाया जायेगा। परन्तु यदि ब्याज दर बहुत समय तक ऊची रहे तथा उसके भविष्य में भी ऊची रहने की आशा हो तो कुछ वर्षों में पूँजी की पूर्ति को भी बढाया जायेगा।

ब्याज की दर

अभी तक हमने बताया है कि पूँजी के कारण उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में बढ जाता है, इसलिये पूँजी मे उत्पादनशीलता के गुण विद्यमान हैं। यद्यपि हमने बताया है कि पूँजी मशीनों, औजारो, फैक्ट्रियो आदि के रूप मे होती है तो भी यह बात सभी लोग जानते हैं कि कोई आदमी अपनी बचत को इन चीजों के रूप मे उधार नही देता। बचत को मुद्रा के रूप में ही उधार दिया जाता है। इसलिये जब कोई आदमी पूँजी उधार देता है तो वह वास्तव में क्रय-शक्ति उधार देता है। यह क्रय-शक्ति अथवा मुद्रा एक तटस्थ तथा निष्क्रिय वस्तु होती है। इसलिये इसको किसी भी परिस्थिति में रखा जा सकता है। इस दृष्टि से यह श्रम से बिल्कुल विपरीत होती है। श्रम को केवल ऐसी परिस्थिति में ही रखा जा सकता है जो कि

श्रमिक की रुचि के अनुकूल हो। इसके प्रतिरिक्त जहां एक ओर भूमि अचल है तथा श्रम मे स्थान स्थान पर जलवायु, भाषा, धर्म, खान-पीन आदि की भिन्नता के कारण बहुत कम गति पाई जाती है, वहा दूसरी ओर पूंजी मे मुद्रा के रूप मे होने के कारण द्रवता होती है जिसके कारण इसको किसी भी स्थान पर ले जाया जा सकता है। पूंजी की गतिशीलता के कारण एक स्थान तथा दूसरे स्थान की ब्याज-दर मे बहुत कम अन्तर पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जब कभी भी दो स्थानो की ब्याज दर मे अन्तर पड जाता है तो पूंजी के स्वामी उसको कम ब्याज वाले स्थान म हटा कर उस स्थान पर ले जाते है जहा ब्याज-दर अधिक होती है। ज्वायट स्टॉक कम्पनियो (Joint Stock Companies) के निर्माण के पश्चात् तो यह बात और भी सरल हो गई है क्योकि अब कोई भी व्यक्ति जिसका धन किसी कम्पनी मे लगा हुआ है अपने हिस्सो को स्टॉक एक्चेंज पर बेचकर अपने धन को अधिक ब्याज वाले स्थान पर हस्तान्तरित कर सकता है। इस कारण हम देखते हैं कि यद्यपि स्थान स्थान की मजदूरी दर मे बहुत भिन्नता पाई जाती है लेकिन स्थान-स्थान की ब्याज दर मे बहुत कम भिन्नता पाई जाती है।

परन्तु यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्थान-स्थान की ब्याज-दर म समानता केवल उसी सीमा तक पाई जाती है जिस तक कि ब्याज-दर केवल पूजी क उपयोग के प्रतिफल हा, अर्थात् स्थान-स्थान की विशुद्ध ब्याज दर (Net or pure interest rate) ही समान होती है।*

प्रो० जीड न बताया है कि व्यवहार मे हमको कदाचित ही कभी विशुद्ध ब्याज मिलता हो। देखने मे आता है कि ऋण-दाता ऋणी से जो ब्याज लता है उसमे विशुद्ध ब्याज के अतिरिक्त कुछ दूसरे प्रकार की जोखिमो, कठिनाइयों, खर्चों आदि के प्रतिफल का धन भी सम्मिलित होता है। जब ब्याज मे विशुद्ध ब्याज क अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार का धन भी सम्मिलित होता है तब उसका कुल ब्याज (Gross interest) कहते हैं। कुल ब्याज मे निम्नलिखित चीजो के प्रतिफल भी सम्मिलित होते हैं —

(१) विशुद्ध ब्याज—कुल ब्याज म सबस पहले केवल पूजी के प्रयोग का प्रतिफल होता है। ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियो (Consols) पर मिलने वाला ब्याज विशुद्ध होता है क्योंकि इसके साथ कोई जोखिम नही होती।

---

* Pure interest has been defined by Prof Gide as under

"Pure interest i e interest in the strictest economic sense of the term which may be defined as the *price p id for the use of capital*, or from the distributive point of view, as the *share of the Capitalist in the product of industry*, springs from the circumstance that the value of goods produced with the help of capital is greater than the value of the goods consumed in their production plus the cost of the labour employed."

—Gide Political Economy, P 569

(२) जोखिम का बीमा (Insurance against risks)—प्रो० मार्शल ने बताया है कि ऋण के साथ दो प्रकार की जोखिमे लगी रहती हैं—(अ) व्यवसायिक जोखिम तथा (ब) व्यक्तिगत जोखिम।

(अ) व्यावसायिक जोखिम—इस प्रकार के जोखिम से यह अभिप्रेत है कि पूजी के किसी व्यवसाय मे लगाने मे जोखिम उठानी पडती है। हो सकता है कि जिस उद्योग अथवा व्यवसाय मे पूजी लगाई जा रही है वह किसी कारण-वश भविष्य मे लाभप्रद न रह सके। बाजार मे चीजों के भाव सदा बदलते रहते हैं। कभी कच्चे माल की कीमत गिरती है तो कभी पक्के की। फैशन बदलने के कारण वस्तु बाजार मे नही बिकती। इससे भी बचे तो कोई प्रतिद्वन्द्वी नया आविष्कार करके चीज को सस्ती बनाने लगता है जिससे कि विचाराधीन फर्म का माल नही बिक पाता। अत हम देखते हैं कि पूजी पर हानि उठाने के तमाम खतरे उपस्थित रहते हैं। ब्याज दर मे इस प्रकार के जोखिमो के बीमा के स्वरूप मे कुछ अश होता है। जो लोग उधार ली हुई पूजी से काम करते हैं उनको एक दूसरे प्रकार की जोखिम भी उठानी पडती है जिसको मार्शल ने व्यक्तिगत जोखिम कहा है।

(ब) व्यक्तिगत जोखिम—इस जोखिम का सम्बन्ध ऋण लेने वाले के चरित्र तथा उसकी ऋण चुकाने की शक्ति से होता है। हम जानते हैं कि सब आदमी समान रूप से सच्चे और ईमानदार नही होते। जो जितना ईमानदार होता है उतनी ही कम ब्याज की दर पर उसको धन उधार मिल जाता है। इसके अतिरिक्त जिस आदमी का रोजगार ठीक चल रहा हो अथवा जो बहुत सी सम्पत्ति का स्वामी हो' उसको कम ब्याज पर उधार मिल सकता है। बहुत से आदमी उससे कम साहसी होते हैं जितने कि वे दिखाई पडते हैं। इस कारण वे व्यापार में कम लाभ उठा पाते हैं। बहुत से उधार लेने वाले 'माले मुफ्त दिले बेरहम' की नीति का अनुसरण करते हुये ऋण को सट्टे मे खतम कर देते हैं। बहुत से आदमी उधार को मार कर काफूर हो जाते हैं। अत ब्याज की दर इन समस्त बातों से प्रभावित होती है तथा इन जोखिमो को दृष्टिगत रखते हुए ही कुल-ब्याज दर (Gross rate of interest) निर्धारित की जाती है।

(३) ऋण-व्यवस्था का खर्च (Expenses of management)—उपर्युक्त जोखिम के बीमे के अतिरिक्त ऋण-दाता ऋणी से कुछ और अधिक धन ब्याज के रूप में वसूल करता है। यह इसलिये वसूल किया जाता है कि ऋण-दाता को ऋण का हिसाब किताब रखने के लिये खाता बही खरीदना पडता है तथा खाता-बही लिखने के लिये मुनीम रखना पडता है। जब ऋण के सुगमता से मिलने की आशा समाप्त हो जाती है तब ऋण-दाता को इसकी वसूली के लिये अदालत का मुँह

भी देखना पड़ सकता है, और इसके लिये उसे धन खर्च करना पड़ेगा। फिर अदालत से डिक्री (Decree) हो जाने पर भी रकम के वसूल करने मे तमाम बाधायें आ सकती हैं। अतः इन सारी सम्भावनाओ के अनुसार ब्याज में कुछ रकम इन सबके हेतु भी शामिल कर ली जाती है। प्रो० चैपमैन ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि वह आदमी जो एक पुर्जे के आधार पर ऋण देता है ऋण के सम्बन्ध मे उसे बराबर पूछ-ताछ उस समय तक करते रहना पडता है जब तक कि ऋण चुका नही दिया जाता। कई बार कागज को बदलना पडता है। ऋण को थोडी-थोडी मात्रा मे वसूल करना पडता है। यह सब कार्य करने मे बहुत सा हिसाब-किताब रखना पडता है। इसके अतिरिक्त बहुत से छोटे छोटे पूंजीपति ऐसे होते है जो कि इस कार्य मे कोई रुचि नही रखते। इस कारण ऐसे व्यक्तियो से ऋण तभी लिया जा सकता है जब कि उनको ऊंची ब्याज की दर दी जाये।

प्रो० मार्शल का मत है कि ऋणी उधार ली गई पूंजी पर जो ब्याज देता है ऋण-दाता के दृष्टिकोण से उसको लाभ कहा जाय तो अधिक उचित होगा क्योंकि इस के अन्दर जोखिम के बीमा की रकम जो कि कभी कभी बहुत अधिक होती है, व्यवस्था की आमदनी तथा जोखिम को कम से कम करने मे खर्च आदि सम्मिलित होते हैं। ऋण से सम्बन्धित व्यवस्था तथा जोखिम प्रत्येक दशा मे भिन्न-भिन्न होते हैं जिसके कारण कुल ब्याज भी प्रत्येक दशा मे समान नही हो सकती। इसलिये जब हम यह कहते हैं कि प्रतियोगिता के कारण ब्याज-दर मे सर्वत्र समान होने की प्रवृत्ति पाई जाती है तब हमारा अभिप्राय कुल ब्याज से न होकर केवल विशुद्ध ब्याज-दर से होता है।

ऋण से सम्बन्धित जोखिम व उसकी व्यवस्था से सम्बन्धित खर्च के कारण ही भारतीय महाजन किसानो व दस्तकारो से बहुत ऊंची दर पर ब्याज वसूल करता है। हम यह नही कह सकते कि ऊंची ब्याज-दर महाजन को लेनी चाहिये। परन्तु जिन लोगो को महाजन ऋण देता है उनकी आर्थिक स्थिति प्राय शोचनीय होती है। उनके पास ऋण के बदले देने के लिये कोई सम्पत्ति नही होती। ऋण वे अपने उपभोग अथवा अपने बच्चों के विवाह-शादी आदि अनुत्पादक कार्यों के लिये लेते हैं। महाजन को बहुधा अपना ऋण अदालत के द्वारा वसूल करना पडता है। इस कारण महाजन किसानो व मजदूरो से अपनी इन सब जोखिमो व व्यवस्था आदि का खर्च भी ब्याज के साथ वसूल करता है। चूंकि इन ऋणो के साथ जोखिम बहुत अधिक होती है तथा इनकी व्यवस्था का खर्च बहुत अधिक होता है इसलिये महाजन द्वारा ऊंची दर पर ब्याज लिया जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। परन्तु साधारणतः यह बहुत अधिक ऊंची होती है तथा ऋण देते समय बहुत सी जालसाजी की जाती है। इसलिये भारतीय महाजन बदनाम हो गया है। यदि वह साधारण से कुछ ऊंची ब्याज-दर वसूल करता तो वह कभी इतना बदनाम न होता।

इसी प्रकार युद्ध के लिये लिये गये कर्जों के साथ बहुत अधिक जोखिम होती है क्योंकि युद्ध के वास्ते लिये गये कर्ज किसी टिकाऊ अथवा लाभ-प्रद उत्पादन कार्य मे नही लगाये जाते। उनसे अस्त्र शस्त्रों का उत्पादन होता है जो केवल विनाश के हेतु हर काम मे लाये जा सकते हैं। इन ऋणो की माग बेलोच होती है। इसलिये उनको प्राप्त करने के लिये काफी ऊँची दर पर ब्याज दिया जा सकता है। प्रो० टॉजिग ने बताया है कि १९१४–१८ ई० के महायुद्ध के समय सारे ससार मे ब्याज की दर दुगनी हो गई थी। उन्होने यह भी बताया है कि युद्ध तथा बर्बादी के समयो मे ऊँची ब्याज-दर के कारण ही कदाचित् लोग अधिक बचत करने लगते हैं।

अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ब्याज-दर

अभी तक हमने 'ब्याज की दर' शब्द का प्रयोग जिस ढग से किया है उससे यह भ्रम पैदा हो सकता है कि मुद्रा-बाजार मे केवल एक ही ब्याज की दर होती है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता। बाजार मे विभिन्न प्रकार व श्रेणियों की प्रतिभूतियो के सदर्भ मे विभिन्न ब्याज की दरें पाई जाती हैं। ये दरें प्रतिभूतियो के प्रकार व ऋणो की अवधि के अनुसार कमोबेश होती हैं। ऋण की अवधि जितनी ही अल्पकालीन होगी ब्याज की दर उतनी ही कम होगी। इसका कारण यह है कि अल्पकाल में किसी प्रतिभूति की कीमत मे परिवर्तन होने की कम सम्भावना होती है। जैसे-जैसे ऋण की अवधि बढती जाती है वैसे-वैसे प्रतिभूतियों की कीमतों में परिवर्तन की सम्भावनाये बढती जाती हैं। इसके अतिरिक्त, कम अवधि के ऋण की द्रवता दीर्घकालीन ऋण की द्रवता से अधिक होती है। इसलिये दीर्घकालीन ब्याज-दर अल्पकालीन ब्याज दर से अधिक होती है।

ब्याज की दर का भविष्य—

ब्याज की दर के भविष्य के विषय मे लोग तरह-तरह की अटकलबाजिया लगाया करते हैं। कोई समझता है कि भविष्य मे ब्याज की दर बढेगी। किसी का अनुमान होता है कि यह घटेगी। कोई समझता है कि यह शून्य हो जायेगी।

प्रो० जीड का मत है कि ब्याज की दर घटनी चाहिये। इस सम्बन्ध मे वे दो तर्क देते हैं। पहला, यह कि ब्याज-दर घटने से श्रम आदि उत्पादन के साधनों को अधिक मजदूरी, लगान, लाभ आदि मिल सकेंगे। दूसरा, यह कि पूंजी को प्राप्त करने की लागत के कम होने से वस्तु की उत्पादन लागत कम होती चली जायेगी जिसके कारण नये नये उद्योग-धन्धे के सचालन मे बडी सहायता मिलेगी।

प्रो० जीड के अनुसार हमारे लिये ब्याज के निरन्तर कम होते रहने की कामना ही पर्याप्त नहीं, हमे यह भी देखना है कि क्या वह घट सकती है? इसका उत्तर देते हुए प्रो० जीड कहते हैं कि फ्रांसीसी आशावादी विचारधारा वाले अर्थशास्त्रियों (टुर्गो आदि) ने इसके घटने की सभावना बताई है। इसके पश्चात् वे कहते हैं कि

फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों का यह मत सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों दृष्टिकोणों से ठीक है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह मत इसलिये ठीक है कि पिछले तीस-चालीस वर्षों में यह छः सात प्रतिशत से घटते घटते प्राय तीन चार प्रतिशत रह गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह इसलिये ठीक है कि एक उन्नतिशील देश में अन्य सभी कृत्रिम सम्पत्तियों के समान पूँजी भी निरन्तर बढ़ती चली जायेगी जिसके कारण इसकी अन्तिम उपयोगिता तथा इसका मूल्य निरन्तर गिरता जायेगा। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे व्यापार व उद्योग धन्धों की उन्नति होती जा रही है वैसे-वैसे व्यक्तियों में व्यापारिक सौदों की दृष्टि से अधिक जिम्मेदारियां भी बढ़ती जा रही हैं तथा सरकार भी साख-सम्बन्धी सौदों के लिये बड़े नियम बनाती जा रही है। इसलिये विनियोग पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होते जा रहे हैं। जब पूँजी निरन्तर बढ़ती जा रही है तथा विनियोग अधिकाधिक सुरक्षित होते जा रहे हैं तब हम यह विश्वास कर सकते हैं कि पूँजी अपने स्वामी को कम प्रतिफल प्रदान करेगी।

अब यहाँ एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्याज की दर किस सीमा तक गिर जायगी। प्रो० जीड के मतानुसार इसकी कोई न्यूनतम सीमा नहीं है। यहाँ पर वस्तु की लागत के समान कोई लागत तो होती नहीं। यहाँ तो न्यूनतम सीमा वह होगी जिसके नीचे ब्याज दर जाने से पूँजीपति बचत करना बिल्कुल छोड़ देंगे अथवा अपने सारे धन का उपभोग स्वयं के लिये करना प्रारम्भ कर देंगे। हम पहले ही बता चुके हैं कि बचत करने वाले बहुत से उद्देश्यों से उत्प्रेरित हो बचत करते हैं। कुछ बचत तो उस समय भी हो सकती है जबकि ब्याज-दर शून्य अथवा ऋणात्मक हो। परन्तु ऐसी बचत बाज़ार में पूँजी की माँग को पूरा करने के लिये पर्याप्त नहीं होगी।

सिद्धान्त में भले ही शून्य अथवा ऋणात्मक ब्याज दर हो जाय परन्तु व्यवहार में यह नहीं होगा क्योंकि ब्याज की दर शून्य होने का अभिप्राय यह होगा कि पूँजी की उत्पादनशीलता शून्य होगी अर्थात् यदि उत्पादन कार्य में पूँजी की मात्रा बढ़ा दी जाये तो उससे उत्पादन में कुछ भी वृद्धि न होगी। इसका यह भी अभिप्राय हुआ कि हमारी आवश्यकतायें पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो जायेंगी। परन्तु व्यवहार में ऐसी स्थिति आने की कोई सम्भावना दिखाई नहीं पड़ती जबकि मनुष्य आवश्यकता विहीन हो जायेगा। जब तक आवश्यकतायें रहेंगी तब तक पूँजी का उत्पादन कार्य में लगाने की बहुत आवश्यकता तथा माँग रहेगी। दूसरे शब्दों में, ब्याज की दर कभी शून्य नहीं हो सकती।

दूसरे, ब्याज की दर तभी शून्य हो सकती है जबकि समाज के लोग अपनी आय का एक बड़ा भाग बचावें। परन्तु समाज में सब प्रकार के लोग हैं। कोई कम बचत करता है तो कोई अधिक। इस प्रकार आवश्यकता को देखते हुए, बचत की पूर्ति के, माँग से कम बने रहने की सम्भावना सदैव रहेगी।

तीसरे, समाज में टैक्नीकल उन्नति की सम्भावना समाप्त नहीं हुई है। जब तक उत्पादन के नये-नये ढंगों का पता लगाये जाने की आशा है तब तक पूंजी की माँग भी होती रहेगी और यदि यह भी मान लिया जाये कि उत्पादन कार्य के लिये पूंजी की माग न होगी तो भी सामाजिक कार्यों के लिये तो पूंजी की माग बनी ही रहेगी।

यदि हम पूर्ति की ओर से भी इस बात पर विचार करें तो शून्य ब्याज की दर का यह अभिप्राय होगा कि ऋणदाता ऋण के बदले कुछ भी ब्याज नहीं चाहते अर्थात् उनकी अपनी बचत की द्रव अधिमानता शून्य है। परन्तु इस प्रकार की कोई सम्भावना दिखाई नहीं पड़ती।

इन सब बातों के कारण यह कहा जा सकता है कि ब्याज की दर शून्य होने की कोई सम्भावना नहीं है।

इसके विपरीत, विक्सेल का मत है कि ब्याज की दर कभी भी न्यूनतम सीमा तक नहीं पहुँचेगी। इसके लिए वे निम्नलिखित तर्क देते हैं —

(१) आदमी भविष्य के विषय में अनिश्चित रहता है इसलिये वह भविष्य की आवश्यकताओं को वर्तमान की आवश्यकताओं की अपेक्षा कम महत्व देता है। इसके विपरीत, वह भविष्य के साधनों को अत्यधिक महत्व देता है।

(२) कैसल (Cassel) के मत से सहमति प्रकट करते हुए विक्सेल ने कहा है कि ब्याज की दर गिरने पर दीर्घकालीन विनियोग होने लगते हैं जो ऊँची दर पर लाभप्रद नहीं थे। अतः पूंजी की माग ऐसे विनियोग के लिये की जायगी। इसका अर्थ यह है कि ब्याज दर ह्रास के मार्ग में एक व्यवधान आ जायेगा और ब्याज में ह्रास होना बन्द हो जायेगा।

(३) यदि हम पूंजी पर सामूहिक दृष्टि से विचार करें तो यह हो सकता है कि पूंजी के बढ़ने से उत्पादन बढ़े परन्तु व्यक्तिगत पूंजी के ऊपर प्राप्त होने वाला साधारण तथा टैक्नीकल लाभ अनिश्चित होता है। इसलिये कोई आदमी उस समय तक अपने धन को नहीं लगा सकता जब तक कि उसको उस व्यापार से हानि की अपेक्षा लाभ की अधिक आशा न होगी। जबसे बीमा कम्पनियां वजूद में आई हैं तब से व्यापार की जोखिम बहुत कम हो गई है। इसलिये बीमा कम्पनियों के आने पर बचत करने को बहुत प्रोत्साहन मिला है। परन्तु व्यक्तिगत बचत के रास्ते में यह कठिनाई केवल पूंजीवादी व्यवस्था के ही अन्तर्गत पाई जाती है। समाजवादी व्यवस्था में पूंजी एकत्र करने में इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती।

(४) बहुत सी पूंजी राज्यों द्वारा युद्धों में नष्ट कर दी जाती है। इसलिये पूंजी की बहुत कमी हो जाती है।

(५) यदि उत्पादनीयता तथा जनसंख्या दोनों बढ़ते रहे, तो एक सीमा तक, जनसंख्या की वृद्धि के कारण उत्पादन की टैक्नीकल हालतों में उन्नति होने से

ब्याज की दर दीर्घकाल के लिये बहुत ऊँची हो जाती है। यह ५० प्रतिशत तथा उससे भी ऊँची हो सकती है। ऐसी हालत मे पूंजी की उत्पादनीयता बहुत अधिक होती है। इसलिये पूंजी का कोई भी सचय नही करना चाहता क्योकि सब जानते हैं कि भविष्य मे उनके बच्चो को अपना भरण पोषण करने मे कोई कठिनाई न आयेगी। परन्तु ऐसी हालत मे ब्याज की दर स्थाई रूप से ऊची नही रहती क्योंकि कुछ समय पश्चात् दूसरे देश से कम ब्याज पर बहुत सी पूजी इस स्थान पर लगती है और ब्याज की दर को नीचा गिरा देती है। विक्सेल के मतानुसार इस प्रकार की परिस्थिति केवल अपवाद स्वरूप ही है। विक्सेल का मत है कि पूंजीवाद प्रगति करते-करते ऐसी अवस्था पर पहुच सकता है कि जहाँ उसमें पूंजी की इतनी बहुतायत हो जाये कि ब्याज गिरते गिरते शून्य हो जाय। जिस प्रकार कि यदि कोई ऐसा नया देश पाया जाय जहा की आबादी बिल्कुल न हो, तो स्पष्ट है कि वह भूमि की इतनी बाहुल्यता होगी कि लगान शून्य होगा, इसी प्रकार अधिक विकसित देशो में पूजी की बाहुल्यता ब्याज की दर का किसी दिन शून्य बना सकती है।

इस प्रकार कोई भी इस बात की ठीक भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि ब्याज की दर का भविष्य क्या है, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इतिहास को देखने से पता चलता है कि कभी तो ब्याज दर बढ जाती है और कभी घट जाती है। जो लोग यह कहते हैं कि भविष्य मे पूंजीपतियो की जोखिम कम हो जायगी तथा पूंजी की उत्पादनीयता कम हो जायगी वे विश्वास करने योग्य नही हैं। अन्त मे हम कह सकते हैं कि भविष्य की ब्याज दर के विषय मे कोई ठीक भविष्यवाणी नही की जा सकती।

समाजवाद के अन्तर्गत ब्याज—

समाजवादी अर्थ व्यवस्था में राज्य सब सम्पत्ति का स्वामी होता है। किसी को ब्याज, लाभ अथवा लाभांश के रूप मे आय प्राप्त नही होती। केन्द्रीय योजना समिति इस बात को तय करती है कि देश के ससाधन किस प्रकार काम मे लाये जायेंगे। उसके सामने वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को उज्ज्वल बनाने की अधिक समस्या होती है। वह देश के अन्दर रेलें, पुल, शक्ति-केन्द्र, मशीनें, मकान तथा अन्य टिकाऊ वस्तुओं को बनाने की ओर अधिक ध्यान देती है, परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि केन्द्रीय समिति किस प्रकार यह निश्चित करती है कि वह कितने ससाधन वर्तमान के लिये रखे तथा कितने भविष्य के लिये रखे। जब केन्द्रीय समिति यह निश्चित करती है कि इतने ससाधन भविष्य के लिये रखे जायेंगे तब वह जानती है कि इन ससाधनों को वर्तमान मे खर्च नही किया जा सकता। जब रूस ने पच-वर्षीय योजनाओं द्वारा देश को औद्योगिक दृष्टि से उन्नत करना चाहा तब उसके सामने यह प्रश्न था कि वह वर्तमान ससाधनो से उपभोग्य वस्तुयें बनाये या मशीनें

बनाये। उस समय रूस ने मशीनो के निर्माण पर ही अधिकार जोर देने का निश्चय किया जिसके कारण रूस मे उपभोग वस्तुओं की कमी हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि रूस ने भविष्य मे देश के लोगो के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने तथा देश को समृद्धशाली बनाने के लिये वर्तमान मे चीजो का उपभोग कम करके बहुत बलिदान किया। इसका अर्थ यह हुआ कि रूस के विनियोग की लागत वर्तमान मे एक निम्न जीवन-स्तर के रूप मे हुई। इसका यह भी अर्थ हुआ कि रूस वर्तमान तथा भविष्य दोनो मे ऊंचा जीवन-स्तर कायम नही रख सकता था। स्टोनियर हेग ने अपनी पुस्तक* मे लिखा है कि एक अधिनायकवादी आर्थिक व्यवस्था के शासक, राजनैतिक आधार पर भले ही यह कहे कि उनके यहा 'ब्याज' नाम की वस्तु का सर्वथा अभाव है, परन्तु उनको वर्तमान तथा भविष्य की तुष्टि के बीच चुनाव करते समय ब्याज को ध्यान म रखना पडेगा। योजना बनाने वाले निश्चित रूप से इस बात पर ध्यान रखेंगे कि उनको अपने विनियोग से लागत की अपेक्षा कितनी अधिक आय होगी। इस बात को ध्यान म रखकर ही वे विनियोग की योजना बनायेंगे। लागत से अधिक विनियोग से जो कुछ भी प्राप्त होगा वही ब्याज होगा। यह ब्याज इस बात का प्रतीक होगा कि भविष्य मे कितना जीवन-स्तर उठने की आशा की जाती है। दूसरे शब्दो मे, हम कह सकते हैं कि योजना बनाने वाले भविष्य के उत्पादन पर बट्टा लगाकर यह देखते हैं कि बट्टा कटे हुए ससाधन वर्तमान के ससाधानों की लागत के बराबर हैं या नही।

इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था मे यद्यपि न कोई ब्याज लेता है और न देता है तो भी यह हिसाब लगाने के काम मे आता है। इसकी दर एक ओर उत्पादन के पेचीदा अथवा पूंजीवादी ढग की उत्पादनीयता तथा दूसरी ओर त्याग तथा मितव्ययता पर निर्भर होती है, परन्तु जहां पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे त्याग तथा मितव्ययिता की मात्रा को निश्चित करने वाला 'व्यक्ति' होता है वहां समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे इस बात का निर्णय करने वाली केन्द्रीय योजना समिति होती है। इसके अतिरिक्त, जहा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बचत तथा विनियोग की मात्रा मे भिन्नता हो सकती है और साधारणत होती है, वहा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में बचत और विनियोग समान होते हैं। अन्त मे, हम कह सकते हैं कि जहा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे ब्याज की दर बचत की मात्रा को बहुत अशो तक प्रभावित करती है वहा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में बचत की मात्रा को निश्चित करने वाली केन्द्रीय योजना समिति होती है।

लगान, आभास-लगान तथा ब्याज मे पारस्परिक भेद—

लगान, आभास-लगान तथा ब्याज में भेद दो बातो पर निर्भर होता है—(१) पूर्ति की लोच तथा (२) समय की इकाई।

---

* A Text book of Economic Theory, P 306.

जब किसी उत्पादन के साधन की पूर्ति अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों अवधियो मे बेलोच हो तो उससे प्राप्त आय को लगान कहते है, परन्तु जब किसी साधन की पूर्ति अल्पकालीन अवधि मे तो बेलोच हो किन्तु दीर्घकालीन अवधि मे वह बढने-घटने वाली हो तो उससे प्राप्त आय का आभास लगान कहते हैं। इसके विपरीत, जब किसी साधन की पूर्ति अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों अवधियो मे लोचदार हो तो उस साधन से प्राप्त आय को व्याज कहते हैं। इस बात को ध्यान मे रखते हुये हम कह सकते हैं कि भूमि की आय को लगान आदमी द्वारा बनाई हुई मशीनो की आय को आभास लगान तथा द्रव पूंजी की आय को व्याज कहते हैं।

मार्शल ने इन तीनो का अन्तर एक उदाहरण द्वारा समझाया है। वह कहता है कि मान लिया कि उल्कापात के फलस्वरूप कुछ ऐसे पाषाणो की वर्षा होती है जो हीरे से भी अधिक कठोर हैं जिससे कि उनको कठोरतम पदार्थों को भी काटने के काम मे ले आया जा सकता है। और वे सबके सब चुन लिये जाते हैं। चूंकि ये पत्थर कुछ ही लोगो के पास है इसलिये उनके स्वामी दूसरो की अपेक्षा अन्तर लाभ (Differential advantages) प्राप्त करेंगे जिसका स्वभाव लगान जैसा होगा। इसके पश्चात् यदि यह माना जाय कि इस प्रकार के कुछ और पत्थर बिखरे हुये पाये जायें और उनको कुछ लोग चुन लें तथा कुछ और ऐसे पत्थरो की खोज जारी हो और उनके पाये जाने की सम्भावना हो। ऐसी स्थिति मे पत्थरो के मालिको को कुछ समय तक तो अन्तर लाभ प्राप्त होगा, परन्तु जैसे ही उनकी पूर्ति बढ जायेगी वह अन्तर लाभ समाप्त हो जायेगा। इस कारण ऐसी स्थिति मे पत्थरो के स्वामियो को जो लाभ प्राप्त होगा वह आभास लगान के समान होगा। इसके पश्चात्, यदि यह माना जाये कि ऐसे पत्थरो की वर्षा निरन्तर होती रहेगी तो इन पत्थरो के स्वामियो को न अल्पकाल मे कोई अन्तर लाभ प्राप्त होगा और न दीर्घकाल मे, इसलिये इन पत्थरो से प्राप्त आय का रूप व्याज के समान होगा।

अत लगान, आभास-लगान तथा व्याज मे केवल आंशिक भेद होता है। इसलिये मार्शल ने कहा है कि भूमि का लगान कोई स्वतन्त्र प्रत्यय नही है, यह एक बड़ी जाति का एक प्रमुख प्रकार (Leading specie of a large genus) है।

व्याज सम्बन्धी सिद्धान्त

अर्थशास्त्री इस बात पर एकमत नही हैं कि व्याज देने का क्या कारण है। कुछ प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियो का मत था कि पूंजी भी भूमि तथा श्रम के समान उपजाऊ होती है। इसलिए उनका मत था कि व्याज का कारण पूंजी की उत्पादनीयता है, परन्तु इस बात को दूसरे कुछ अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार नही किया। उन्होंने पहले अर्थशास्त्रियो के समान माग पक्ष की ओर ध्यान न देकर पूर्ति-पक्ष की ओर ध्यान दिया। उन्होंने व्याज का कारण त्याग तथा बलिदान बताया। आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियो ने त्याग और बलिदान की बात को भी स्वीकार न किया

और कहा कि ब्याज इसलिये देनी पड़ती है कि आदमी भविष्य की अपेक्षा वर्तमान की आवश्यकताओं को अधिक महत्व देता है। दूसरे शब्दो मे, वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओ को एक स्तर पर लाने के लिये उधार दी जाने वाली पूंजी पर ब्याज लिया जाता है। नियो क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने एक दूसरा ही मत प्रकट किया। उनके अनुसार, ब्याज की दर पूंजी की मांग तथा पूर्ति पर निर्भर होती है। इन सब अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्त अमौद्रिक थे। इस सदर्भ मे मुद्रा की क्रियाओ पर उन्होने कोई ध्यान नही दिया था।

क्लासिकल तथा नियो क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के ब्याज के सिद्धान्त समाज मे उत्पादन म लगने वाले समस्त ससाधनो के पूर्ण उपयोगीकरण की उपधारणा करके प्रतिपादित किय गय थे, परन्तु केन्ज ने इस उपधारणा का खण्डन किया और कहा कि समाज मे न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था ही प्रमुख रूप से पाई जाती है। पूर्ण उपयोगीकरण कुछ ही हालतो म पाया जाता है। जब तक पूर्ण-उपयोगीकरण की स्थिति नही आ जाती तब तक उपभोक्ताओ को उपभोग मे कटौती करने के लिये कहना मूर्खता होगी। बल्कि इस कटौती का प्रभाव अधिकतर विनियोग मे बाधक सिद्ध होगा। इसलिय प्रतीक्षा, बलिदान, समय-अधिमानता आदि पर आधारित सिद्धान्त ब्याज की व्याख्या कर सकने मे असमर्थ हैं।

केन्ज ने इन सब सिद्धान्तो की आलोचना की। उन्होंने अपने ब्याज के सिद्धान्त को एक मौद्रिक घटना बताया। ब्याज हमे यह बताता है कि आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा क्या कार्य करती है। ब्याज की दर मुद्रा की माग तथा पूर्ति पर निर्भर होती है। ब्याज की दर द्रव अधिमानता तथा मुद्रा के परिमाण पर निर्भर होती है। प्रथम मुद्रा की माग का पहलू है तथा दूसरा उसकी पूर्ति का।

अब हम इन सब सिद्धान्तो का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे, परन्तु इससे पूर्व कि हम क्लासिकल, नियो क्लासिकल तथा केन्ज के सिद्धान्तो का विस्तारपूर्वक वर्णन करें हमारे लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम मार्शल, बाम बावर्क आदि अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्तो पर सक्षेप मे विचार कर लें।

ब्याज का उत्पादनीयता सिद्धान्त

कदाचित् प्रो० जे० बी० से ने सबसे पहले पूंजी की "उत्पादन शक्ति" तथा "उत्पादन सेवा' का वर्णन किया था। इसका अर्थ यह है कि यदि श्रम को बिना पूंजी के उत्पादन कार्य मे लगाया जाता है तो उससे जितनी उत्पादित वस्तु प्राप्त होती है उससे कही अधिक उत्पादन उस समय प्राप्त होता है जब कि श्रम के साथ उत्पादन कार्य मे पूंजी भी लगाई जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूंजी में उत्पादनीयता होती है। पूंजी की उत्पादनीयता ही ब्याज का कारण होता है।*

* Interest is paid for the use of capital, because capital is productive, it enables its user to produce more than he could do without it, and out of the additional product interest is paid *Henry Clay*—P. 347.

उदाहरण के लिये यदि कोई आदमी हाथ से एक दिन मे केवल एक कमीज तैयार कर सके, परन्तु कपडा सीने की मशीन से तीन कमीज तैयार कर सके तो यह कहा जा सकता है कि दो अतिरिक्त कमीजें मशीन के प्रयोग के कारण उत्पन्न की गई हैं। यही दो अतिरिक्त कमीजें जो मशीन के प्रयोग द्वारा उत्पन्न की गई है मशीन के प्रयोग की ब्याज हैं।

श्रम के समान पूंजी की एक इकाई की उत्पादनीयता निकालने के लिये हमको पूंजी के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनो को स्थिर मानकर चलना पडेगा। ऐसा करने से कुछ समय तक क्रमगत उत्पादन वृद्धि नियम लागू हो सकता है, परन्तु उसके पश्चात् क्रमगत उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है। इस नियम के लागू होने के कारण कुछ समय पश्चात् एक बिन्दु ऐसा आयेगा जबकि पूंजी से प्राप्त उत्पादन, पूंजी पर दिये गये ब्याज के बराबर हो जायेगा। यह सीमान्त बिन्दु कहलाता है तथा इस बिन्दु पर प्राप्त उत्पादन को सीमान्त उत्पादन कहते हैं। इस बिन्दु पर लगाई गई पूंजी की इकाई को सीमान्त इकाई कहते हैं। सीमान्त इकाई ही ब्याज की दर को निश्चित करती है क्योकि इस इकाई को काम मे लगाने से उत्पादक को न लाभ होता है और न हानि। इस बिन्दु से पूर्व की सब इकाइयो पर उत्पादक को लाभ होता है। चूंकि उत्पादनीयता सिद्धान्त मे यह उपधारणा की जाती है कि पूंजी की प्रत्येक इकाई एक दूसरे के समान होती है। इसलिये सीमान्त इकाई ब्याज की दर को निश्चित करती है।

प्रो० बेनहम ने लिखा है कि पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता प्रत्येक उद्योग अथवा व्यापार मे समान होगी क्योकि पूंजी एक उद्योग से दूसरे मे स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकती है। अर्थात् यह गतिशील होती है। विक्रयेकाधिकार इसका एक अपवाद होता है, क्योकि इस हालत मे पूंजी के उद्योग मे आने तथा उसके निकलने पर प्रतिबन्ध होता है।

यदि किसी उद्योग मे लगाई गई पूंजी आवश्यकता से अधिक है तो उसकी सीमान्त उत्पादनीयता कम हो जायेगी। इसके कारण ब्याज की दर भी कम हो जायेगी क्योकि अधिक पूंजी के कारण अधिक उत्पादन होगा तथा अधिक उत्पादन के कारण वस्तु की कीमत गिर जायगी जिसके कारण लाभ और ब्याज भी कम हो जायेंगे, परन्तु ब्याज की दर उसी समय तक ही कम होगी जब तक कि उस उद्योग मे नये-नये आविष्कार नही होते तथा पूंजी की माग नही बढती।

आलोचनायें—परन्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत सी आलोचनायें उपस्थित की गई हैं। पहली, यह कि यह केवल माग पक्ष के ऊपर ही ध्यान देता है, पूर्ति की ओर यह कोई ध्यान नही देता। इस प्रकार इसको एक पक्षीय कहा जा सकता है। दूसरी, यह कि यह सिद्धान्त इस बात को जानने की परवाह नही करता कि पूंजी की सहायता से जो माल तैयार किया है उसका मूल्य लागत* से अधिक क्यो

* यहा लागत मे पूंजी पर दिया जाने वाला ब्याज तथा उत्पादन करते समय पूंजी की जो घिसाई होती है, वह भी सम्मिलित होती है।

होता है। बाद के अर्थशास्त्रियो ने इस बात को जानने का भी प्रयत्न किया है कि पूंजी के प्रयोग मे मूल्य मे वृद्धि क्या होती है। तीसरी, यह कि जब आविष्कारो के कारण पूंजी की माग बढ जाती है तब ब्याज की दर भी बढ जाती है, परन्तु इस स्थिति में हम यह नही कह सकते कि ब्याज की दर पूंजी की उत्पादनीयता बढ जाने के कारण बढी है। चौथी, यह कि इस सिद्धान्त के अनुसार उपभोग मे काम आने वाली पूंजी पर कोई ब्याज नही दिया जाना चाहिये परन्तु व्यवहार में सभी प्रकार की पूंजी पर ब्याज लिया दिया जाता है। पाचवी, यह कि पूंजी के मूल्य मे जो वृद्धि होती है वह केवल पूंजी के बढाव के कारण ही नही होती वरन् इसमे दूसरे उत्पादन के साधनो का भी सहयोग होता है। छटी, यह कि यह सिद्धान्त वृत्तात्मक तर्क प्रस्तुत करता है। इसका कारण यह है कि 'पूंजी की उत्पादनीयता का अर्थ न केवल यह है कि पूंजी के द्वारा वस्तुओ की अधिक मात्रा उत्पन्न की जा सकती है, इसका अर्थ यह भी है कि पूंजी के द्वारा अधिक मूल्य उत्पन्न किया जा सकता है। परन्तु यह जानने के लिये कि पूंजी के द्वारा अधिक मूल्य उत्पन्न हुआ या नहीं पहले हमे पूंजी वस्तुओं का प्रारम्भिक मूल्य जानने की आवश्यकता पडेगी, परन्तु इन वस्तुओ का वर्तमान मूल्य निकालने के लिये हमको उनकी भविष्य की आय का चालू ब्याज दर पर पूंजीकृत मूल्य निकालना पडेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि पूंजी वस्तुओ का पूंजीकृत मूल्य निकालने के लिये हमको ब्याज दर की आवश्यकता पडेगी, परन्तु हमको ब्याज दर तो निकालनी ही है। तो फिर हम पूंजी वस्तुओं का पूंजीकृत मूल्य निकालने के लिये कैसे स्वय ब्याज दर के सम्बन्ध मे उप धारणा करके चल सकते हैं ?

ब्याज का त्याग-सिद्धान्त*

(Abstinence Theory of Interest)

ब्याज का उत्पादनीयता सिद्धान्त ब्याज के माग पक्ष पर विचार करता है। इसके विपरीत, ब्याज का त्याग सिद्धान्त ब्याज के सिद्धान्त को पूर्ति पक्ष से बताने का प्रयत्न करता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एन० डब्लू सीनियर था। सीनियर के अनुसार यदि आदमी वर्तमान में अपनी सम्पत्ति का उपभोग नही करता, अर्थात् बचत करता है तथा इस प्रकार बचाई हुई पूंजी को उत्पादन कार्य में लगा दिया जाता है तो इसके कारण सम्पत्ति में जितनी वृद्धि होती है, उसका बचत से घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि इसी 'बचत' ही द्वारा अधिक उत्पादनीयता तरीका को काम में लाया जाना सम्भव हुआ है। दूसरे शब्दो मे, उत्पादन लागत मे उत्पादन के काम में आने वाले श्रम व पूंजी को ही सम्मिलित नही करना चाहिये वरन् वर्तमान सुख को तिलाञ्जलि देकर बचत करने में जो कष्ट होता है उसको भी लागत खर्च में

* इसको विरति सिद्धान्त भी कहा जा सकता है।

के लिये आवश्यक है। हम पहले ही बता चुके हैं कि बचत पर कुछ भी ब्याज न मिलने के बावजूद भी कुछ बचत की जाती है, कभी-कभी बचत करने वाले, बचत की सुरक्षा के हेतु उल्टे अपने पास से कुछ ब्याज देने को तैयार होते हैं। कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई आदि बड़े शहरों में बहुत से लोग अपनी द्रव-सम्पत्ति को सुरक्षा-जमा कोष (Safe Depout Vault) में रखते हैं जहां पर उनको प्रति मास कुछ देना पड़ता है। धनी व्यक्ति कम ब्याज लेकर भी 'प्रतीक्षा' कर सकते हैं। परन्तु इन सब लोगों की बचतों से बहुधा पूंजी की माग की पूर्ति नहीं होती। पूंजी की माग को पूरा करने के लिये बहुत से उन व्यक्तियों की बचतों की आवश्यकता होती है जो बिना ब्याज लिये बचत नहीं करते। इस प्रकार के लोगों की बचतें अधिक ब्याज पर अधिक तथा कम ब्याज पर कम प्राप्त हो सकती हैं। इन्हीं में कुछ ऐसे बचत करने वाले होते हैं जो सीमान्त बचत करने वाले कहलाते हैं। आजकल सीमान्त बचत करने वाले के स्थान पर बचत की सीमान्त वृद्धि (Marginal Increment of Saving) वाक्यांश का प्रयोग किया जाता है। विद्वानों का मत है कि ब्याज की दर इतनी होनी चाहिये कि यह सीमान्त वृद्धि बाजार में आ सके।

आलोचनायें—इस सिद्धान्त से हमको इस बात का तो पता चल जाता है कि आदमी बचत करते समय किन बातों से प्रभावित होते हैं। परन्तु इतने ही ज्ञान से हम *ब्याज की दर निश्चित नहीं कर सकते। ब्याज की दर निश्चित करते समय हमको* माँग पक्ष की ओर भी ध्यान देना होगा। दूसरे, इस सिद्धान्त के अनुसार बाजार में बचत की कमी का यह अर्थ होगा कि लोग 'प्रतीक्षा' नहीं करना चाहते। पर वास्तव में बचत की कमी का यही कारण नहीं होता। बचत उस समय भी कम हो जाती है जबकि लोग अपने हाथों में धन द्रव (Liquid) रूप में रखना चाहते हैं। प्रतीक्षा, त्याग आदि इतनी सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें हैं कि इनके आधार पर ब्याज दर निर्धारित करने की बात वैसी ही है जैसे कि यह कहा जाय कि अनाज की कीमत लोगों की क्षुधा पीड़ा की तीव्रता पर निर्भर होगी।

ब्याज का समय अधिमान सिद्धान्त
(Agio or Time Preference Theory)

इसको मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी कहते है ?

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले जान रे (John Rae) ने किया था। परन्तु इसको वास्तविक रूप देने वाला बम बावर्क (Bohm Bawerk) और फिशर (Fisher) थे। दोनों के दृष्टिकोण में थोड़ा अन्तर है।

बाम बावर्क का सिद्धांत—

इस सिद्धान्त का आधार मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य वर्तमान में जीता है, भविष्य में जीने की आशा रखता है। जीने की वास्तविकता जीने की आशा की

कल्पना से अधिक प्रबल होती है। अतः प्राय वर्तमान, भविष्य से अधिक प्यारा होता है। जीने में जीवन की आवश्यकताओं का साक्षात्कार होता है। महसूस की जाने वाली आवश्यकताओं की तीव्रता भविष्य की काल्पनिक आवश्यकताओं से कहीं तीव्र तथा क्रूर होती हैं। इसीलिये किसी दिये हुए धन तथा सेवाओं को भविष्य की अपेक्षा वर्तमान में पाने तथा उपभोग करने की आशंका मनुष्य में कहीं अधिक प्रबल होती है। आज की तुष्टि भविष्य में कल्पित तुष्टि से अधिक सुखकर होती है। अतः जब हम आज के धन तथा सेवाओं की भविष्य के उतने ही धन तथा सेवाओं से तुलना करते हैं तो आज के धन तथा सेवाओं के साथ हमें एक बढ़ौती (Premium) मिलती है, अथवा इस प्रकार कहे कि भविष्य के उतने ही धन तथा सेवाओं का आज का मूल्य बट्टा किया हुआ मूल्य होगा जो कि उन्हीं धन तथा सेवाओं के आज के मूल्य से कम होगा। यदि कोई व्यक्ति हम से पूछे कि "मैं आपको १००) देना चाहता हूँ, उसे कब दे दूं, आज या ६ मास बाद?" तो हमारा उत्तर प्राय यही होगा कि वह १००) मुझे आज ही दे दो। जब कोई व्यक्ति रुपया उधार देता है तो वह अपनी मौजूदा तुष्टि को भविष्य के लिये स्थगित कर देता है। इसे स्थगित करने के लिये उसे पर्याप्त प्रलोभन मिलना चाहिये, तभी वह ऐसा करेगा। अपनी तुष्टि को वर्तमान से भविष्य को स्थगित करने के लिये जो प्रतिफल उसे उत्प्रेरित करता है उसे ही ब्याज कहते हैं। इस प्रकार बाम बावर्क के अनुसार ब्याज विनिमय की ही एक प्रक्रिया है वर्तमान के धन को भविष्य के धन से विनिमय करने से जो बढ़ौती (Agio) प्राप्त होती है, वही ब्याज है। अतः ब्याज को हम केवल उत्पादन तथा वितरण का फल नहीं कह सकते।*

बाम बावर्क ने भविष्य की अपेक्षा वर्तमान की अधिमानता के निम्नलिखित कारण बताये हैं—

(१) भविष्य अनिश्चित होता है, वर्तमान की अपेक्षा भविष्य सदा कम मूल्यवान माना जाता है। (२) वर्तमान आवश्यकतायें भविष्य की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। (३) उत्पादन का ढंग जितना अधिक पेचीदा होगा उतना ही अधिक उत्पादन होगा। उत्पादन के इस पेचीदा ढंग के कारण वर्तमान वस्तुओं को भावी वस्तुओं की अपेक्षा प्राविधिक श्रेष्ठता (Technical superiority) प्राप्त होती है। इनमें से प्रथम दो कारणों का आधार मनोवैज्ञानिक है, इसीलिये इस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी कहते हैं।

* He (Bohm-Bawerk) here puts forward the doctrine that interest is originally an exchange phenomenon (and thus no longer exclusively the result of production and distribution)— it is on the agio which arises in exchange of present against future goods

—Wicksell Lectures on Political Economy, P. 169

प्रो० विक्सैल ने बाम बावर्क के ब्याज के सिद्धान्त की बड़ी आलोचना की है। बाम बावर्क की पहली दो शर्तें वैयक्तिक तथा अत्यन्त मनोवैज्ञानिक हैं, जिनकी पूंजी के उत्पादन से केवल परोक्ष सम्बन्ध ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि जो लोग पूंजी उधार लेते हैं वे उससे अधिक ब्याज नहीं दे सकते जितना कि पूंजी को उत्पादन कार्य में लगाने के फलस्वरूप उन्हें प्राप्त होता है, भले ही वे आशा करते हों कि भविष्य में उनको अमुक पूर्ति प्राप्त हो जायेगी अथवा वे वैयक्तिक दृष्टि से भविष्य का अधिक मूल्यांकन करते हों। ऐसी हालत में यह अवश्य सम्भव है कि लोग अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिये पूंजी उधार लें तथा इस प्रकार वर्तमान में पूंजी की पूर्ति को कम करके वर्तमान ब्याज दर को बढ़ा दें। अस्तु, बाम बावर्क के सिद्धान्त का पूंजी की उत्पादनीयता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत, यह केवल एक 'विनिमय घटना' (Exchange Phenomenon) है जिसमें कि वर्तमान वस्तुओं को भविष्य की वस्तुओं से बदलने के ऊपर जोर दिया गया है। इसके अनुसार, ब्याज तब मिलता जबकि वर्तमान वस्तुयें भविष्य की वस्तुओं से बदली जायेंगी चाहे इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के बीच की अवधि में कोई उत्पादन क्रिया की गई हो या नहीं। विक्सैल इस बात से सन्तुष्ट नहीं, क्योंकि बाम बावर्क के अनुसार ब्याज का कारण केवल यह है कि वर्तमान वस्तुओं की सीमान्त उपयोगितायें भविष्य की वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं से अधिक होती हैं। परन्तु बाम बावर्क के अनुसार सीमान्त उपयोगिता विचाराधीन वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति द्वारा तुष्ट की गई वास्तविक आवश्यकताओं अथवा आंशिक आवश्यकताओं में सबसे कम महत्वपूर्ण आवश्यकता का महत्व है।* इसका अर्थ यह हुआ कि सीमान्त उपयोगिता मालूम करने के लिये हमको पहले तो वस्तुओं के स्टॉक की जानकारी की आवश्यकता है। दूसरे, हमको उपभोग के काल को जानने की आवश्यकता है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम भविष्य की वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता मालूम करने का प्रयत्न करेंगे तो हम असफल होंगे, क्योंकि न तो हमको भविष्य की वस्तुओं के स्टॉक का अनुमान हो सकता है और न उनके उपभोग के समय का। यह कठिनाई उस समय भी दूर नहीं होगी जबकि भूतकाल की वस्तुओं की वर्तमान की वस्तुओं से तुलना की जाये, जैसा कि बाम बावर्क कभी-कभी करता है। इस हालत में भी हमको भूतकाल की वस्तुओं की पूर्ति का तो ज्ञान हो सकता है क्योंकि वे उपलब्ध पूंजी-वस्तुओं के बराबर होगी, परन्तु इस हालत में भी उपभोग का समय अनिश्चित रहेगा क्योंकि यह बात कहनी सर्वथा गलत है कि वर्तमान तथा भूतकाल की वस्तुओं का सारा स्टॉक वर्तमान उपभोग पर खर्च हो जायेगा।

---

*Bohm Bawerk himself had defined marginal utility as "the significance of the least significant of the concrete needs or partial needs which are satisfied by the available supplies of the commodities of the kind in question."
—Wicksell : Lectures on Political Economy, P. 169.

बाम बावर्क ने इस कठिनाई को यह कहकर हल करने का प्रयत्न किया है कि वर्तमान में समान प्रकार तथा मात्रा की वस्तुओं की उपयोगिता निरपेक्ष रूप से भविष्य से अधिक तथा भूत से कम होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता भविष्य की वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता से अधिक होती है, जिसके फलस्वरूप उनका मूल्य (तथा कीमत भी) अधिक होगा। परन्तु यह स्थिति भी सर्वथा मान्य नहीं। बाम बावर्क की यह बात तो ठीक कही जा सकती है कि वर्तमान की वस्तुयें भविष्य की वस्तुओं से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। मनुष्य अपने विचार तथा सकल्प की दुर्बलता के कारण भविष्य की आवश्यकताओं का कम तथा भविष्य के साधनों का अधिक मूल्यांकन करता है। परन्तु बाम बावर्क की यह बात ठीक नहीं कि व्यावहारिक दृष्टि से भविष्य की आवश्यकताओं की अधिक तुष्टि की जा सकती है। बाम बावर्क का मत है कि जिन लोगों को भविष्य मे अधिक तुष्टि प्राप्त होने की आशा नहीं होती वे अपनी वर्तमान वस्तुओं को विशेषतया बहुमूल्य धातुओं अथवा अन्य टिकाऊ वस्तुओं को संचित कर सकते हैं लेकिन यह परिस्थिति धनात्मक ब्याज के अस्तित्व की गारन्टी नहीं देती हाँ, इससे हम इस नतीजे पर अवश्य पहुँच सकते हैं कि ब्याज दर ऋणात्मक दिशा की ओर न जाकर इन वस्तुओं को संचित करने में निहित जोखिम या लागत से नीचे नहीं गिर सकती।

बाम बावर्क की तीसरी बात की, अर्थात् वर्तमान वस्तुओं को भविष्य की वस्तुओं पर शिल्पिक श्रेष्ठता प्राप्त होती है, सबसे अधिक आलोचना की गई है। बाम बावर्क का मत है कि वर्तमान की एक मास की श्रम-मात्रा का मूल्य एक वर्ष पीछे की एक मास की श्रम-मात्रा के मूल्य से हर हालत मे अधिक होता है। इसका कारण यह है कि वर्तमान का श्रम भविष्य के श्रम की अपेक्षा एक दीर्घकालीन उत्पादन क्रिया में लगाया जा सकता है जिसके कारण वह अधिक लाभप्रद होता है। बाम बावर्क ने यह नहीं बताया है कि कितने समय तक वर्तमान का श्रम लाभप्रद हो सकता है। परन्तु बात सर्वथा गलत है क्योंकि उत्पादन की पेचीदा क्रिया के लाभ को अनिश्चित काल तक के लिये नहीं बढ़ाया जा सकता। इस आलोचना से छुटकारा पाने के लिये बाम बावर्क ने कहा है कि उसकी पहली दोनों बातों के कारण उत्पादन क्रिया को अनिश्चित काल तक नहीं बढ़ाया जायेगा। परन्तु यह तर्क केवल अन्तिम सहारा मात्र है जिसको गम्भीरतापूर्वक स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह उत्पादन की प्रतिक्रिया के दैर्घ्य को कम करने वाली नहीं है, उत्पादन प्रक्रिया को इसलिये लम्बा नहीं किया जाता कि यदि वह सम्भव भी हो तो भी साहसी (चाहे वे पूंजीपति हों, या श्रमिक या अन्य कोई) श्रम और पूंजी की उपलब्ध पूर्ति से उससे कम लाभ प्राप्त करेंगे, जितना उस समय था जबकि उत्पादन को आरम्भ किया गया था। बाम बावर्क की मुख्य भूल यह है कि वह ब्याज के अस्तित्व (ब्याज की दर के बजाय) की समस्या को श्रम और पूंजी के बाजार को ध्यान में रखे बिना ही हल करने का प्रयत्न करता है। विक्सेल के अनुसार,

बाम बावर्क ने इस गलती को अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग मे पूर्ण रूप से सुधार लिया है। इसलिये यह उचित रूप से कहा जा सकता है कि बाम बावर्क का सिद्धान्त अपने से पूर्व के विद्वानों के सिद्धान्त से बहुत कुछ वास्तविक तथा निश्चित था यद्यपि यह पूर्ण नहीं था।

बाम बावर्क के सिद्धान्त की फिशर ने भी बड़ी आलोचना की है। फिशर के अनुसार, बाम बावर्क सबसे पहले उत्पादन के एक औसत समय की उपधारणा करता है तथा उसके पश्चात् वह समझता है कि औसत उत्पादन का समय जितना ही अधिक लम्बा होगा उत्पादन उतना ही अधिक होगा। परन्तु यह बात ठीक नही मालूम पड़ती क्योंकि ऐसा होने पर पूँजीपति अपनी पूँजी को कभी न समाप्त होने वाली उत्पादन क्रिया मे लगाते। वास्तव मे बात यह है कि प्रत्येक उत्पादन क्रिया का एक निश्चित समय होता है जिससे अधिक उसको नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके अतिरिक्त, औसत उत्पादन-अवधि विज्ञान की उन्नति तथा ब्याज की दर पर निर्भर होती है। यदि ब्याज की दर ऊँची है तो औसत उत्पादन काल छोटे से छोटा होना चाहिये। इसलिये यह कहना उचित होगा कि उत्पादन का ढंग ब्याज की दर पर निर्भर होता है। फिशर का मत है कि बाम बावर्क का सिद्धान्त उत्पादनीयता-सिद्धान्त का ही दूसरा रूप है।

अन्त मे, हम कह सकते हैं कि बाम बावर्क का सिद्धान्त पूँजी की माग के ब्याज पर पड़ने वाले प्रभाव पर ध्यान नहीं देता। बाम बावर्क ने रिकार्डो के एतद-सम्बन्धी सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नही किया।

उपर उल्लेख की हुई आलोचनाओ के होते हुये भी इस सिद्धान्त ने कुछ मौलिक बातो पर प्रकाश डाला है। ब्याज का सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त केवल उस ब्याज की ही व्याख्या कर सका है जो उत्पादन मे काम आने वाले ऋण पर दी जाती है। इस बात का इस सिद्धान्त के पास कोई उत्तर नही कि उत्पादन के काम न आने वाले ऋण पर भी ब्याज क्यों दी जाती है। बाम बावर्क के सिद्धान्त ने इस कमी को दूर कर दिया, क्योंकि इस सिद्धान्त मे ब्याज का कारण है भविष्य पर वर्तमान का बलिदान। जब कोई ऋण देता है तो वह वह अपनी वर्तमान तुष्टि का बलिदान करता है, अत वह ऋण चाहे उत्पादन में लगाया जाय अथवा नहीं ऋण-दाता को ब्याज मिलनी ही चाहिये। अपरन्च, इस सिद्धान्त ने इस पहेली को भी सुलझा दिया है कि जब उत्पादक स्वय अपनी अनिगत बचत का विनियोग करता है तो उसे ब्याज क्यो मिलती है। अतः त्रुटियों के होते हुये भी ब्याज के धर्म को समझने में इस सिद्धान्त के योगदान को अवहेलित नहीं किया जा सकता।

फिशर का समय-अधिमानता का सिद्धान्त
(Fisher's Time-Preference Theory)

फिशर का मत है कि ब्याज का कारण समय-अधिमानता है। मनुष्य भविष्य के विषय में अनिश्चित होता है। इसलिये वह भविष्य को कम महत्व देता

है। इसके विपरीत, वर्तमान को वह अधिक महत्त्व देता है। इसलिये वह वर्तमान आय तथा वर्तमान तुष्टि को भविष्य की आय व तुष्टि से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। मनुष्य की समय अधिमानता इस बात पर निर्भर होती है कि वह अपनी आय को खर्च करने की कितनी तीव्रता रखता है। उसकी आय खर्च करने की तीव्रता निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है—

(१) **उसकी आय**—मनुष्य की आय जितनी ही कम होती है उतना ही वह वर्तमान को अधिक अधिमानता देता है। क्योंकि वर्तमान आवश्यकताओं की तुष्टि उसके लिये परम आवश्यक होती है। यही कारण है कि धनी लोग निर्धनों की अपेक्षा भविष्य को अधिक अधिमानता दे सकते हैं।

(२) **आय-वितरण का काल**—आय वितरण पर हम तीन ढंगों से विचार सकते हैं। पहला, जबकि आय सम्पूर्ण जीवन में समान रहे। दूसरा, जबकि आय भविष्य में बढ़ती चली जाये। तीसरा, जबकि आय भविष्य में घटती चली जाये। यदि आय समस्त जीवन में समान रहे तो समय अधिमानता की दर व्यक्तिगत गुण तथा आय की मात्रा पर निर्भर होगी। यदि आय आयु के साथ भविष्य में बढ़ती चली जाये तो व्यक्ति भविष्य की अधिक परवाह न करेगा। इसलिये वर्तमान के बट्टे की दर बहुत ऊंची होगी। इसके विपरीत, जब आय आयु के साथ घटती चली जाये तो व्यक्ति वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की अधिक परवाह करेगा, जिसके कारण वर्तमान की बट्टे की दर कम होगी।

(३) **आय के अवयव**—मनुष्य की आय बहुत सी वस्तुओं व सेवाओं से मिल कर बनती है। यदि इनमें से किसी भी वस्तु अथवा सेवा में कमी हो जाती है तो उसका प्रभाव उसी प्रकार पड़ता है जिस प्रकार की आय के कम होने का। इसलिये व्यक्ति की समय- अधिमानता कम हो जाती है जिसके कारण बट्टे की दर कम हो जाती है।

(४) **व्यक्ति के गुण**—समय अधिमानता की दर व्यक्तिगत स्वभाव तथा शिक्षा पर भी निर्भर होती है। यदि सब लोगों की आय समान भी हो तो भी समय की अधिमानता मनुष्य की दूरदर्शिता, उसका आत्म संयम, आदत, जीवन की आशा, दूसरे व्यक्तियों के जीवन के साथ अनुराग आदि बातों के ऊपर निर्भर होगी।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि यदि भविष्य अनिश्चित होता है तो समय-अधिमानता की दर बहुत अधिक हो जाती है क्योंकि तब व्यक्ति भविष्य के लिये अधिक बचाने का प्रयत्न करता है। परन्तु भविष्य की अनिश्चितता ब्याज का कारण नहीं होती। अन्त में, यह कहा जा सकता है कि यदि व्यक्ति में फिजूल-खर्ची हो तो स्वभावत वह वर्तमान को बहुत अधिक महत्व देगा।

उपर्युक्त बातों के कारण विभिन्न व्यक्तियों की समय अधिमानता की दर अलग-अलग होती है। जो वर्तमान की आवश्यकताओं तथा उनकी तुष्टि को अधिक महत्व देते हैं तथा भविष्य की परवाह नहीं करते वे बहुत कम बचत करेंगे। इसके

विपरीत, जो भविष्य का अधिक ध्यान रखते हैं वे अधिक बचत करेंगे। इस प्रकार पहले प्रकार के लोगों की बचतो को प्राप्त करने के लिये उनको अधिक ब्याज देनी पड़ेगी, परन्तु दूसरे प्रकार के लोगों की बचतो को प्राप्त करने के लिये बहुत कम (अथवा कभी-कभी शून्य) ब्याज देनी पड़ेगी। इन दोनों के बीच में बचत करने वालों की कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। जब किसी व्यक्ति की समय-अधिमानता की दर बाजारू ब्याज-दर से अधिक होगी, तो वह अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि के हेतु धन उधार लेगा। इसके विपरीत, यदि समय-अधिमानता की दर कम हुई तो व्यक्ति अपनी बचत को दूसरों को उधार देकर लाभ कमाने की चेष्टा करेगा। इस प्रकार विभिन्न व्यक्ति अपनी आयों के प्रवाह के अनुसार बाजार में तब तक उधार लेते अथवा देते रहेंगे जब तक कि उनकी समय अधिमानता की दर ब्याज की दर के बराबर नहीं हो जाती।

आलोचनायें—फिशर का सिद्धान्त उन सब आलोचनाओं से तो मुक्त है जो कि बाम बावर्क के सिद्धान्त के विरुद्ध की गई है। इस सिद्धान्त में यह नहीं कहा गया है कि वर्तमान वस्तुओं की भविष्य की वस्तुओं पर प्राविधिक श्रेष्ठता ब्याज का कारण होती है वरन् इसमें बताया गया है कि ब्याज की दर मनुष्य की इच्छाओं की तीव्रता पर निर्भर होती है। यद्यपि फिशर के सिद्धान्त से इस बात का पता चलता है कि ब्याज क्यों लिया जाता है, परन्तु इस सिद्धान्त से इस बात का पता नहीं चल पाता कि ब्याज की दर कैसे निश्चित होती है। फिर, अन्य पहले बताये हुये सिद्धान्तों की भांति ही यह सिद्धान्त एक-पक्षीय तथा अपूर्ण है क्योंकि यह केवल पूर्ति की ओर ही ध्यान देता है, माग पक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं देता। इसके अतिरिक्त, यह बात भी है कि पूंजी की पूर्ति केवल त्याग, परीक्षा तथा समय-अधिमानता पर ही निर्भर नहीं होती, इस पर और भी बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता है।

फिशर जिन उपधारणाओं के आधार पर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है, वे भी अधिक विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। फिशर ने यह उपधारणा है कि वर्तमान तथा भविष्य के बीच न तो मुद्रा-मूल्य में कोई परिवर्तन होता है और न बचत करने वालों के स्वभाव तथा गुण में। लेकिन मुद्रा-मूल्य की अस्थिरता आज एक सुख्यात तथ्य है तथा मनुष्य के स्वभाव तथा उसकी मानसिक अवस्थाओं में समय-समय पर विभिन्न दिशाओं से परिवर्तन आते रहते हैं। इन दो अस्थिर तत्वों को स्थिर मानकर चलने के कारण फिशर का सिद्धान्त अव्यावहारिक तथा असंगत हो गया है।

ब्याज का क्लासिकल सिद्धान्त—

अभी तक हमने ब्याज के जो सिद्धान्त बताये हैं उनसे यह पता लगता है कि ब्याज की दर मांग-पक्ष की ओर पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता तथा पूर्ति पक्ष की ओर बचत पर निर्भर होती है। मांग-पक्ष की ओर उत्पादक इतनी पूंजी उत्पादन

कार्य के काम मे लाता है जिसकी सीमान्त उत्पादनीयता बाजारू ब्याज-दर के बराबर हो। पूर्ति पक्ष की ओर बचत करने वालो की कई श्रेणियां होती हैं। बाजार मे ब्याज-दर इतनी होनी चाहिये कि सीमान्त बचत करने वाला अपनी बचत को उधार देने के लिये तैयार हो जाये। बाजार मे ब्याज-दर उस बिन्दु पर तय होगी जिस पर कि पूंजी की कुल माग उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो जायगी। सस्थिति की अवस्था मे बचत तथा विनियोग बराबर होगे। प्रो० टॉजिग ने ब्याज की दर को निम्नलिखित चित्र द्वारा दिखाया है—
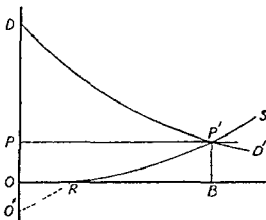
उपर्युक्त चित्र मे माग की अवस्थाओं को DD' रेखा से दिखाया गया है। इसका दायी ओर को ढालू होना इस बात का द्योतक है कि पूंजी की विभिन्न किस्तों की सीमान्त उत्पादनीयता निरन्तर गिरती जा रही है। ऊपर की ओर को उठती हुई रेखा ORS पूर्ति की अवस्थाओं की द्योतक है। इस रेखा का ऊपर की ओर को उठना इस बात को प्रदर्शित करता है कि पूंजी की अधिकाधिक मात्राओं के लिये अधिकाधिक कीमतें देनी पडेंगी। प्रारम्भ मे यह रेखा OB आधार से भी नीचे चली गई है। इसका अभिप्राय यह है कि कुछ बचत उस समय भी की जायेगी जब कि बचत के लिये कोई ब्याज न मिलेगा, उल्टे बचत करने वाला उसकी सुरक्षा के लिये कुछ अपने पास से भी देने को तैयार होगा। R बिन्दु से बचत करने वाले ब्याज को लेना आरम्भ करेंगे। धीरे-धीरे वे बचत करने वाले आते जायेंगे जो कि अधिकाधिक ब्याज-दर पर बचत करने को तैयार होगे। इस प्रकार करते-करते हम B बिन्दु पर पहुँचते हैं जहा पर बचत करने वाले उतना ही ब्याज लेने को तैयार है जितनी कि पूंजी उधार देने वाले देने को तैयार हैं। दूसरे शब्दों में, P' सस्थिति बिन्दु है। बाजार मे ब्याज की दर P'B होगी। ब्याज का यह सिद्धान्त ब्याज का क्लासिकल सिद्धान्त कहलाता है।

निओ-क्लासिकल सिद्धान्त—

परन्तु बहुत से लोग ब्याज के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका मत मत है कि ब्याज की दर एक ओर ऋणों की माग तथा दूसरी ओर उनकी पूर्ति से निश्चित होती है। इस सिद्धान्त को निओ क्लासिकल सिद्धान्त अथवा ऋण-कोष सिद्धान्त कहते हैं।

ऋणों की माग—ऋणों की माग न केवल वे लोग करते हैं जो कि मुद्रा को नई पूजी-वस्तुओं अथवा अन्य प्रकार की वस्तुओं को खरीदने के लिये चाहते हैं वरन् ऋणो की माग वे लोग भी करते हैं जो कि अपने बैंक खाते मे कुछ धन रखना चाहते हैं जिससे कि वे उसको वक्त जरूरत पर काम मे ला सकें। दूसरे शब्दो मे, आजकल दो प्रकार के ऋण लिये जाते हैं। एक उत्पादन कार्य के लिये, दूसरे उपभोग कार्य के लिये, जो लोग उपभोग के लिये ऋण लेते हैं वे या तो अपनी कुछ वर्तमान आवश्यकताओं को भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं, या वे यह समझते है कि वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में उनकी आय बढ़ जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसे व्यक्ति वर्तमान की आवश्यक ताओं के लिये भविष्य की आय मे से कुछ खर्च कर सकते हैं। यह बात ऋण द्वारा सम्भव हो सकती है। ऋण लेने से उनको वर्तमान मे आय हो जाती है। हा, ब्याज के रूप मे कुछ धन अवश्य देना देना है। कोई उपभोक्ता कितना ब्याज देगा, यह इस बात पर निर्भर है कि वह भविष्य की अपेक्षा अपनी वर्तमान की आवश्यकताओं को किस सीमा तक अधिक समझता है। कुछ लोग ऐसे होंगे जो वर्तमान की आवश्यकताओं को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। ऐसे लोग अधिक ब्याज देने को तैयार होंगे। इसके विपरीत, कुछ लोग अपनी वर्तमान की आवश्यकताओं को कम महत्वपूर्ण समझते हैं। ऐसे लोग कम ब्याज देंगे। इस प्रकार उपभोक्ता ऋण लेने वालों की कई श्रेणियां होंगी। इन सबकी ऋणो के लिये मांग, कम ब्याज-दर पर अधिक तथा अधिक ब्याज दर पर कम होगी।

उत्पादन कार्य के हेतु लिये गये ऋण भी कम ब्याज की दर पर अधिक तथा अधिक ब्याज की दर पर कम लिये जायेंगे। इसका कारण यह है कि ब्याज की दर कम होने पर लागत कम हो जायेगी। लागत खर्च कम होने से लाभ बढ़ जायेगा। लाभ के बढने के कारण मौजूदा उत्पादक अधिक उत्पादन करने के लिये अधिक ऋण ले सकेंगे तथा जो उत्पादक अभी तक लाभ न कमा सकने के कारण उत्पादन नहीं कर रहे थे वे भी उत्पादन कार्य शुरू कर देंगे। इस प्रकार ऋणों की मांग उत्पादन कार्य के लिये बढ़ जायेगी।

अत हम कह सकते हैं कि ब्याज की दर कम होने से उपभोग तथा उत्पादन दोनों प्रकार के ऋणों की माग बढ़ जायेगी तथा उससे अधिक होने पर ये दोनों प्रकार की मांगें घट जायेंगी। इस प्रकार ऋणों की माग साधारण माग नियम के

समान ही होती है। इसलिये उसका माग-वक्र भी बायें हाथ से दायें हाथ की ओर को ढालू होगा।

ऋणों की पूर्ति—ऋणों की पूर्ति के दो साधन होते हैं। कुछ धन तो साधारण जनता द्वारा बचाया जाता है। जनता अपनी समय अधिमानता की दर के अनुसार बचत करती है। जिन लोगो की समय-अधिमानता अधिक होती है वे ऊंची ब्याज-दर पर ही बचत करेंगे। इसके विपरीत, जिन लोगो की समय-अधिमानता कम होती है वे कम ब्याज-दर ले कर भी बचत करेंगे। जैसे-जैसे ब्याज की दर बढती जाती है वैसे-वैसे बचत करने वालो की संख्या बढती जायेगी और ब्याज की दर कम होने से बचत की मात्रा घट जाती है।

जनता के अतिरिक्त ऋणो के दूसरे तथा अधिक महत्वपूर्ण स्रोत हैं बैंक। बैंक व्यापारियों को बहुत सा धन उधार देते हैं। वास्तविकता तो यह है कि आजकल बैंक ही ऋणो के मुख्य स्रोत हैं। बैंक भी साधारण परिस्थितियों मे ऊंची ब्याज-दर पर अधिक ऋण देते हैं तथा नीची ब्याज दर पर कम। यद्यपि बैंक साधारणत. ब्याज-दर का ही ध्यान नही रखते; वे द्रवता का भी ध्यान रखते हैं, लेकिन इसके बावजूद भी यह बात ठीक है कि अधिक ब्याज-दर पर बैंक अधिक उधार देते हैं तथा कम ब्याज-दर पर कम।

इस प्रकार बाजार के अन्दर किसी समय ऋणो की पूर्ति जनता व बैंकों द्वारा निश्चित होगी। चूंकि दोनो के अलग-अलग पूर्ति-वक्र दायीं ओर ऊपर को उठते हुये होते हैं, इसलिये कुल बाजार का पूर्ति-वक्र दायी ओर को ऊपर की ओर उठता हुआ होगा। कुछ ऋण शून्य ब्याज-दर पर भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु साधारणत अधिक ब्याज-दर पर अधिक ऋण प्राप्त हो सकेंगे तथा कम ब्याज-दर पर कम ऋण।

ब्याज की दर का निर्धारण—

हमने ऊपर बताया है कि मुद्रा-ऋणो का मांग-वक्र दायीं ओर को नीचे की ओर ढालू होता है तथा उनका पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर दायी ओर को उठता हुआ
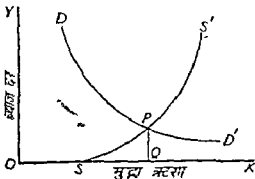
होता है। जिस बिन्दु पर ये वक्र एक दूसरे को काटते हैं वह सस्थिति बिन्दु होता है तथा इस बिन्दु पर ही ब्याज की दर निश्चित होगी। इसको एक चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

इस चित्र मे DD' ऋणों का माग-वक्र है तथा SS' पूर्ति-वक्र। ये दोनों वक्र P बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं। इस प्रकार PQ ब्याज-दर होगी।

विक्सेल का वास्तविक ब्याज दर का सिद्धान्त

विकसेल ने दो प्रकार की ब्याज दरों का वर्णन किया है जिनके बराबर होने से सस्थिति की अवस्था प्राप्त हो सकती है। इनमे से एक मुद्रा दर होती है जिस पर कि बैंक ऋण देते हैं। दूसरी वास्तविक ब्याज दर होती है जो कि साधनों को उन उत्पादक कार्यों मे लगाने से प्राप्त होती है जिनमें कि समय लगता है। चूंकि ससाधन तथा उनसे उत्पादित की जाने वाली वस्तुए समरूप नहीं होती इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि उत्पादन, ससाधनों का अमुक प्रतिशत है। यदि हम उत्पादन तथा ससाधानों को एक ही प्रकार की वस्तु के रूप में व्यक्त करें अर्थात् दोनो का मुद्रा मूल्य निकालें तो हमारे सामने यह कठिनाई उपस्थित होगी कि हमको ससाधनों का मूल्य निकालने के लिये आय का पूंजीकृत मूल्य निकालना पड़ेगा, परन्तु ऐसा करने से हमको ब्याज की दर की उपधारणा करके चलना पड़ेगा जो कि सर्वथा अनुचित होगा। विक्सेल ने यह सब नही किया है। इसके स्थान पर वह एक ऐसी उत्पादन पद्धति की उपधारणा करके चला है जिसका प्रसार एक, दो, तीन, अथवा अधिक वर्षों पर है। इस पद्धति को चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।
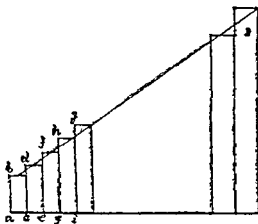
उपर्युक्त चित्र में यदि केवल एक वर्ष का श्रम ही उत्पादन के काम में लाया जाये तो वह a b आयत की ऊंचाई के बराबर उत्पादन प्रदान करेगा। यदि पहले वर्ष का उत्पादन अगले वर्ष फिर और उत्पादन करने के लिये लगा दिया जावे

दृष्टि से किसी वास्तविक पूंजी को उत्पादन कार्य में से हटाने की आवश्यकता नहीं होती। ब्याज की दर भी व्यवहार में अल्प तथा दीर्घ कालों के लिये बराबर होती है। इन दोनों दरों में जो अन्तर भी दिखाई पड़ता है उसको जोखिम का बीमा समझना चाहिये। इस प्रकार एक वर्ष की पूंजी टैक्नीकल दृष्टि से दो वर्ष की पूंजी से उस समय तक बदली जाती रहेगी जब तक कि दो वर्षों की पूंजी का ब्याज एक वर्ष की पूंजी के ब्याज के दुगने से अधिक अथवा कम से कम दुगने के बराबर नहीं हो जायेगा। यदि इस प्रकार से ब्याज की दर समान स्तर पर आ जायेगी अथवा यदि इस प्रकार म स्थिति प्राप्त कर ली जायेगी तो यह बात देखनी बहुत सरल है कि किसी वर्ष की सब प्रकार की पूंजियों की अतिरिक्त सीमान्त उत्पादनीयता अर्थात् उस वर्ष में पूंजी पर प्राप्त होने वाला कुल लाभ उस वर्ष में लगी हुई कुल पूंजी* का ब्याज होगा। यह बात उस समय भी ठीक होगी जब कि पूंजी दीर्घकाल के लिये लगाई जायगी। इसलिये कोई पूंजी कितने वर्षों तक के लिये लगाई जाये यह बात निश्चित करने के लिये हमको यह देखना पड़ेगा कि उस पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता एक निश्चित दर के अनुसार बढ़ रही है या नहीं। यदि हम देखते हैं कि किसी वर्ष में पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता उस पूंजी की पहले वर्ष की सीमांत उत्पादनीयता से कम है तो हम उस पूंजी को उस वर्ष में नहीं लगायेंगे। इसके विपरीत, यदि दीर्घकालीन अवधि में पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता बढ़ जायेगी तो अधिकाधिक पूंजी दीर्घकाल के लिये लगाई जाने लगेगी तथा अल्पकाल के लिये कम पूंजी बचेगी जिसके फलस्वरूप दीर्घकालीन पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता कम हो जायेगी तथा अल्पकालीन पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता बढ़ जायेगी। इसलिये पूंजी दीर्घकालीन विनियोजक में हटाकर लघुकालीन विनियोग में लगाई जाने लगेगी। इस प्रकार, अन्त में दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन पूंजी विनियोगों की सीमान्त उत्पादनीयता समान हो जायेगी।

बाम बावर्क के समान विक्सैल यह नहीं मानता कि यदि किसी पूंजी को दो के बदले तीन वर्षों के लिये संचित कर लिया जाये तो वह अधिक उत्पादक बन जायेगी अर्थात् दो वर्षों की पूंजी की अपेक्षा अधिक मात्रा में वस्तु उत्पन्न करेगी। लेकिन पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता इसलिये अधिक होती है कि दीर्घकाल तक कम पूंजी संचित की जाती है। इसको आगे के चित्रों से देखा जा सकता है—

विक्सैल का ब्याज का सिद्धान्त आगे के चित्र में श्रम के सीमान्त उत्पादन वक्र चालू वर्ष में, प्रथम वर्ष में, द्वितीय वर्ष में तथा N वर्ष में दिखाये गये हैं परन्तु Oa, O_1c, O_2e ...... OnV श्रम की मात्रायें इतनी हैं कि चालू वर्ष का a b उत्पादन प्रथम वर्ष के c d उत्पादन से कम हैं, प्रथम वर्ष का c d उत्पादन द्वितीय

* यहां पर विभिन्न क्षेत्रों में लगी हुई पूंजी वह पूंजी होगी जो कि प्रारम्भिक वर्ष में लगे हुये श्रम व भूमि तथा विभिन्न वर्षों में इस पर हुई ब्याज की वृद्धि के बराबर होगी।
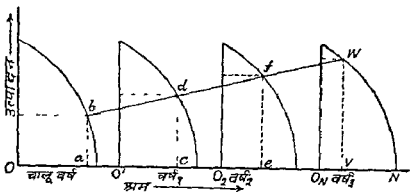
वर्ष के e f उत्पादन से कम है तथा N वें वर्ष का V W उत्पादन अपने पूर्व वर्षों के उत्पादनो मे सबसे अधिक है अर्थात् इसके पूर्व के सब वर्षों का उत्पादन इस वर्ष के उत्पादन से कम है। वर्तमान मे प्राप्त होने वाला श्रम विभिन्न वर्षों मे इस ढग से लगाया जायेगा जिससे कि—

$$\frac{c\,d}{a\,b}=\frac{e\,f}{c\,d}=\ldots\ldots\frac{VW}{t\,u}=1+r$$

यदि किसी समय विभिन्न वर्षों के सीमान्त उत्पादन इस प्रकार समान न होंगे तो श्रम व भूमि को विभिन्न वर्षों के ऊपर इस प्रकार फैलाया जायेगा जिससे कि वे समान हो जायें। यदि ऊपर के चित्रो को इस प्रकार बनाया जाता कि श्रम और समय क्षैतिज अक्ष पर दिखाये जा सकते तथा उत्पादन ऊर्ध्व अक्ष पर तो bw वक्र का ढाल उस समय, अवधि के अनुसार सीमान्त उपज को प्रदर्शित करता अर्थात् वह ब्याज की दर को प्रदर्शित करता। यहा bw वक्र सरल रेखा के आकार मे इसलिये है कि हम साधारण ब्याज की उपधारणा करके चले हैं। यदि चक्र वृद्धि ब्याज का प्रयोग किया जाता तो यह वक्र ऊपर की ओर नतोदर (Concave) होता।

पूजी को विभिन्न वर्षों पर फैलाते समय यह देखना पड़ेगा कि उत्पादन का सारा काल क्या है। उसके पश्चात् विभिन्न उद्योगो पर उस पूजी को उद्योग की टैक्नीक के अनुसार वितरित किया जायेगा।

प्रो० विक्सैल का मत है कि सारे समाज के उत्पादन तथा वितरण की समस्या को गणितात्मक पद्धति से सुलझाने मे भी बहुत कठिनाई आती है। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्रियों को समाज के उत्पादन के सारे ढाचे पर विचार नही करना पडता वरन् वे उत्पादन की योजना में समय-समय पर होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तनो पर ही विचार करते हैं। इस प्रकार की बातो का ज्ञान उनको अनुभव के आधार पर हो जाता है तथा इसी से वे इस बात का अनुमान लगा लेते

है कि इन सब परिवर्तनो का सारे समाज के उत्पादन तथा वितरण पर क्या प्रभाव पडेगा। इस सब कमी के होते हुये भी वर्तमान मे इस समस्या का हल इसलिये नहीं हो सकता कि आजकल विश्वसनीय औद्योगिक आकडे उपलब्ध नही हैं। यदि हम उत्पादन की अवधि अथवा ब्याज की दर अथवा दोनो को इतना छोटा मानकर चलें कि हम साधारण ब्याज को बिना कोई गलती किये काम मे ला सकें तो समस्या का हल हो सकता है। विक्सेल का मत है कि एक स्थिर समाज मे दीर्घकालीन विनियोग को पूर्ण रूप से नजर अन्दाज किया जा सकता है क्योकि चल पूजी का अचल पूजी से निरन्तर एकसा ही अनुपात रहता है जिसके फलस्वरूप चल पूंजी का साधारण ब्याज-दर पर पूजीकृत मूल्य (Capitalized value) निकाला जा सकता है।

विक्सेल ने यह भी बताया है कि विनियोग का औसत समय साधारणत ब्याज की दर पर निर्भर होता है। यह उस समय ब्याज-दर पर निर्भर नही होता जब कि बहुत से पूजी विनियोग एक ही प्रकार के भविष्य के उपभोग कार्य से सम्बन्धित हो।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त कि ब्याज-दर प्रतीक्षा की सीमान्त उत्पादनीयता के बराबर होती है केवल गणितात्मक सूत्र के द्वारा कुछ उपधारणाओं के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। यह बात स्वाभाविक ही है, क्योंकि प्रतीक्षा, चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिगत, कोई साधारण मात्रा नही होती। यह अत्यन्त जटिल प्रत्यय है। औसत प्रतीक्षा केवल एक गणितात्मक प्रत्यय मात्र है जिसका कोई व्यावहारिक महत्व नही है। परन्तु इसको काम मे लाना इसलिये आवश्यक है कि इसके द्वारा हमको उत्पादन करने योग्य पूजी की वास्तविक प्रकृति का बोध हो जाता है।

केन्ज का द्रव-अधिमानता नियम

अभी तक हमने क्लासिकल तथा नियो-क्लासिकल अर्थशास्त्रियो द्वारा बताये गये ब्याज के सिद्धान्तो का अध्ययन किया है। ये सिद्धान्त अमौद्रिक कहलाते हैं क्योकि य मुद्रा के कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इसके अतिरिक्त ये सिद्धान्त इस उपधारणा पर आधारित हैं कि समाज में उत्पादन कार्य मे लगाये जाने वाले समस्त ससाधनों का पूर्ण उपयोगीकरण हो चुका है अर्थात् उनमे से कोई भी बेकार नही है जिसके फलस्वरूप यदि हम किसी वस्तु के उत्पादन को बढ़ाना चाहे तो हमको किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन मे लगे हुये ससाधनो को कम करके इस वस्तु के उत्पादन में लगाना पडेगा। इसी प्रकार पूजी की मात्रा को बढ़ाने के लिये हमको अपने उपभोग को कम करना पडेगा। परन्तु उपभोग को तभी कम किया जा सकता है जबकि उपभोक्ता को आवश्यकता से अधिक आय हो। केन्ज का मत है कि समाज

employment की अवस्था पायी जाती है।

में साधारणतया न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था ही पाई जाती है। पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड कही नहीं पाई जाती। अत विनियोग अधिकाधिक किया जाना चाहिये जिससे कि मसाधनो का उपयोगीकरण बढे। लेकिन विनियोग तभी होगा जब उत्पादित वस्तुओं का उपभोग बढ़ेगा। ऐसी हालत मे उपभोक्ताओं को बचत करने के लिये उपदेश देना मूर्खता नही तो क्या है। बल्कि उपभोग की कमी का परिणाम यह होगा कि अधिक विनियोग करने में बाधा आयेगी। इसलिये प्रतीक्षा, त्याग, समय-अधिमानता आदि बातों पर आधारित नियम ब्याज की व्याख्या करने मे असमर्थ हैं।

केन्ज ने अपने से पूर्व के सब अर्थशास्त्रियो के ब्याज के सिद्धान्तों का खण्डन किया। उसने बताया कि ब्याज-दर न तो पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता द्वारा निश्चित होती है, न प्रतीक्षा के कारण। उसने आगे कहा कि ब्याज-दर पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता के बराबर तो होती है परन्तु उसके द्वारा निश्चित नही की जाती। पूंजी की सीमान्त उत्पादनीयता भविष्य की व्यापारिक स्थिति तथा पूंजी वस्तुओं की लागत पर निर्भर होती है। ब्याज-दर बचत करने की पारितोषिक भी नही कही जा सकती क्योंकि जो लोग अपनी बचतो को जमीन म गाड कर रख देते हैं उनको कोई ब्याज नही मिलता। ब्याज की दर पूंजी की माग और पूर्ति द्वारा भी निश्चित नही होती। केन्ज ने यह भी कहा है कि यह बात तो सत्य है कि बचत की मात्रा विनियोग के बराबर होती है परन्तु यह उस ढग से विनियोग के बराबर नहीं होती जिस ढग से कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने उसको बताया है। वास्तव मे, बात यह है कि एक आदमी की बचत के कारण दूसरे की बचत कम हो जाती है जिसके कारण बचत की कुल मात्रा नही बढती। बचत तब बढती है जबकि कोई पूंजीपति अधिक कच्चे माल व श्रम आदि का उपभोग करके उत्पादन के साधनों की आय को बढाता है।

केन्ज का मत है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे लोगो को ऋण देता है तो वह अपने पास के द्रव धन को दूसरो को देता है। ऋण देने के पश्चात् ऋण-दाता अपने द्रव-धन को स्वय किसी काम मे नही ला सकता। इसलिये कोई भी व्यक्ति अपने पास की द्रव-मुद्रा को अपने से अलग नही करना चाहता। उसका स्वभाव यह है कि वह द्रव सम्पत्ति को गैर-द्रव-सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। मनुष्य स्वभाव की इस विशेषता को केन्ज ने द्रव अधिमानता (Liquidity preference) कहा है।* द्रव अधिमानता की मात्रा सब लोगों में समान रूप से

* Money—confers on its holder complete liquidity—the ability to turn wealth into any form without loss or delay. Now this quality which money possesses corresponds to the desire to possess liquidity felt in some degree by every person or institution, this psychological characteristic is usually called *liquidity preference*, meaning the relative partiality for liquid rather than illiquid assets—*Edward Nevin*—Text book of Economic Analysis, p. 290.

विद्यमान नहीं होती। वह किसी मे कम होती है तो किसी मे अधिक। एक ही व्यक्ति में वह भावना विभिन्न समयो पर भिन्न-भिन्न होती है। जिन लोगो मे द्रव-अधिमानता की मात्रा अधिक होती है वे अपने धन की द्रवता को तभी छोड़ने को तैयार होते हैं जबकि उनका बहुत बडा लालच दिया जाय। इसके विपरीत, जिनमे द्रव-अधिमानता की मात्रा कम होती है वे थोडे प्रलोभन से ही अपने धन की द्रवता को छोड सकते हैं। वास्तव में, मुद्रा की माग द्रवता की माग होती है। अब यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि लोग अपने धन को द्रव रूप मे क्यो रखना चाहते हैं? केन्ज ने इसके निम्नलिखित तीन हेतुक बतलाये हैं—

(१) सव्यवहार हेतुक। (२) सट्टा हेतुक तथा (३) सतर्कता हेतुक।

(१) सव्यवहार हेतुक (Transaction Motive)—चाहे व्यक्ति हो अथवा संस्था, सभी को कुछ न कुछ चीजें तथा सेवायें खरीदनी पडती हैं। ये सब खरीदें प्राय रोज ही होती रहती है। परन्तु आय, व्यय के समान निरन्तर नही होती वरन् वह एक निश्चित समय पर ही प्राप्त होती है। मजदूरो को प्राय प्रति सप्ताह मजदूरी मिलती है तो अन्य नौकरी करने वालों को प्रतिमास मिलती है। व्यापारियो को इस प्रकार किसी निश्चित समय पर आय प्राप्त नहीं होती। उनकी आय अनिश्चित होती है अर्थात् वह कुछ समय तक तो निरन्तर प्राप्त हो सकती है परन्तु उसके पश्चात् कुछ समय तक हो सकता है, बिल्कुल कोई आय ही न हो। आय के व्यय के साथ साथ प्राप्त न होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति तथा संस्था के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि दैनिक सौदो के लिय हर समय कुछ न कुछ धन उस समय तक अपने पास रखे जब तक कि अगली आय प्राप्त न हो जाय। दो आयो के प्राप्त होने के समयो के बीच जितना ही अधिक अन्तर होगा उतना ही अधिक धन इन दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये रखना पडेगा। उदाहरण के लिये, यदि किसी व्यक्ति की आय १४ रुपय प्रति सप्ताह हो तथा उसका दैनिक व्यय औसतन २ रुपये रोज हो तो उसके पास सप्ताह के पहले दिन १४ रुपये होंगे तथा सप्ताह के अन्त में कुछ भी न बचेगा। इस प्रकार उसको औसतन ७ रु० रखने पड़ेंगे। यदि इसी आदमी को एक सप्ताह मे मजदूरी न मिलकर एक मास मे मिलने लगे तो उसके पास महीने के पहले दिन पर तो ६० रुपये होंगे परन्तु महीने के अन्तिम दिन पर कुछ भी न होगा। इस कारण उसके पास औसतन ३० रु० रहेंगे। व्यक्ति के समान उद्योगपतियो को भी औसतन उतना ही अधिक धन अपने पास रखना पडेगा जितना कि उत्पादन प्रारम्भ करने तथा वस्तु की अन्तिम बिक्री होने के बीच के समय का अन्तर बढता जाता है।

सव्यवहार हेतुक के लिये मुद्रा की माग न केवल इस बात पर निर्भर होती है कि दो आयो के प्राप्त होने के बीच मे अन्तर क्या है, वरन् वह इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश के अन्दर आयों तथा कीमतो का क्या स्तर है। यदि कीमतें

तथा मजदूरी अकस्मात् ही दुगनी हो जायें तो औसतन पहले से दुगना धन रखना पड़ेगा। परन्तु यदि हम एक स्थिर कीमत-स्तर की उपधारणा करके चलें तो अल्प काल में सव्यवहार हेतुकों के लिये मुद्रा की माँग प्राय स्थिर ही रहती है क्योंकि अल्पकालीन अवधि में आय तथा लोगों की आय को खर्च करने की आदतें स्थिर सी रहती हैं।

(२) सट्टा हेतुक (Speculative Motive)—मुद्रा को अपने पास रखने का दूसरा हेतुक सट्टा हेतुक है। इस हेतुक की परिभाषा करते हुये केन्ज ने कहा है कि यह वह हेतुक होता है जिसका उद्देश्य अन्य लोगों की अपेक्षा भविष्य का अच्छा ज्ञान रख कर अधिक लाभ कमाना होता है।*

मानव प्राणी की यह विशेषता है कि वह न केवल भूतकाल को ही याद रखता है वरन् वह भविष्य का भी कुछ अनुमान लगा सकता है। अन्य लोगों की अपेक्षा व्यापारी लोग भविष्य का अधिक अनुमान लगाया करते हैं। उनका अनुमान जितना अधिक वास्तविकता के निकट होता है उतने ही अधिक सफल व्यापारी वे होते हैं। अस्तु लाभ कमाने के हेतुक से व्यापारी लोग सदा ही कुछ न कुछ अटकलें लगाते रहते हैं जिससे कि वे अपने निकट के व्यापारों से अधिक लाभ कमा सकें। परन्तु लाभ कमाने के लिये मुद्रा का होना आवश्यक है। भविष्य में कब ऐसा अवसर आयेगा कि वर्तमान से अधिक लाभ कमाया जा सकेगा—इस बात को कोई नहीं कह सकता। इस अनिश्चय के कारण ही उन सब लोगों को जो कि भविष्य में लाभ कमाना चाहते हैं कुछ न कुछ धन अपने पास रखना पड़ता है जिससे कि अवसर आने पर मुद्रा के अभाव में वे लाभ कमाने से वंचित न रह जायें। इसके अतिरिक्त कभी-कभी हमको यह आशा होती है कि भविष्य में ब्याज की दर बढ़ जायेगी। ऐसी स्थिति में हम अपने धन को वर्तमान में किसी को उधार नहीं देते वरन् भविष्य में अधिक ब्याज कमाने के लिये उठा कर रख देते हैं। व्यक्तियों के समान बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि संस्थायें भी अपने धन को भविष्य में लाभ कमाने के लिये द्रव रूप में रखती हैं। केन्ज ने बताया है कि यदि हम आर्थिक व्यवस्था पर ध्यान दें तो हमें दिखाई पड़ेगा कि इस हेतुक के लिये मुद्रा की माँग अत्यधिक अस्थिर होती है। यह हेतुक अन्य हेतुकों की अपेक्षा अधिक अस्थिर तथा प्रभावोत्पादक होता है। यह अत्यधिक मनोवैज्ञानिक भी होता है।

इस हेतुक के लिये लोगों की द्रव-अधिमानता क्या होगी—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। लोगों की द्रव-अधिमानता देश के आर्थिक तथा राजनैतिक भविष्य पर निर्भर होती है। यह उनके भविष्य के प्रति दृष्टिकोण पर भी निर्भर होती है।

---

* *Keynes* defines speculative motive as "The object of securing profit from knowing better than the market what the future will bring forth"
—General Theory P 170

लोग अपने धन को द्रव रूप मे रक्खें या उससे कोई प्रतिभूत (Security) खरीदें या किसी अन्य विनियोग के खरीदने मे लगायें, इस बात का फैसला वे भविष्य की सभाव्य आर्थिक तथा राजनीतिक अवस्था को दृष्टिगत रख कर ही करेंगे। समाज में यह अन्दाजा कि भविष्य कैसा होगा, हमेशा बौद्धिक तर्क-वितर्क ही पर निर्भर नही होता। बुद्धि-जीवी होते हुये भी मनुष्य व्यावहारिक जीवन मे प्राय प्रवेगो द्वारा ही उत्प्रेरित होता रहता है। ये आवेग क्षणिक हो सकते हैं और इनका सामूहिक रूप क्या होगा, यह बताना आसान काम नही है। इसलिये व्यापारिक क्षेत्र मे भी अन्यत्र की भाति, भविष्य अनिश्चित तथा अच्छी या बुरी सभावनाओ से परिपूर्ण होता है। व्यापारी इन्ही सम्भावनाओ से लाभ कमाना चाहता है। वह इस बात का प्रयत्न करता है कि औरों की अपेक्षा भविष्य के बारे मे उसका दृष्टिकोण तथा उसकी अटकलें अधिक ठीक निकलें। चू कि भविष्य के प्रति आशा या निराशा का दृष्टिकोण एक मनोवैज्ञानिक विषय है इसलिये इस पर आधारित मनुष्य का कोई भी फैसला स्वभावत अस्थिर होगा। इसीलिये सट्टा हेतुक की तुष्टि के लिये आवश्यक द्रव-अधिमानता भी अत्यन्त अस्थिर तथा अस्थाई होती है। इसी अनिश्चित, अस्थिर तथा अस्थाई द्रव अधिमानता पर ब्याज की दर निर्भर होती है।

बहुत से लेखको ने केन्ज की सव्यवहारो तथा सट्टा हेतुको की माँग का अर्थ यह निकाला है कि इन दोनो हेतुको के लिये मुद्रा के दो स्वतन्त्र कोष हैं। पहले कोष में एक दिये हुये साइज का उत्पादन तथा विनिमय करने के लिये मुद्रा रहती है। इस मात्रा का आय से एक निश्चित सम्बन्ध होता है तथा इसका ब्याज की दर से कोई सम्बन्ध नही होता। इस कार्य से बचा हुआ शेष धन सट्टे के हेतुक के लिये रखा जाता है तथा इस कोष का साईज भविष्य मे ब्याज दर में होने वाले परिवर्तनों के ऊपर निर्भर होता है। इस प्रकार ब्याज की दर का निर्धारण हवा मे रह जाता है।

इस तर्क का दोष यह है कि सव्यवहार हेतुक के लिये मुद्रा की माँग केवल आय के आकार पर ही निर्भर नही होती। एक दिए हुये आकार की आय में से कमोबेश मुद्रा की मात्रा से विनिमय कार्य किये जा सकते हैं। ब्याज की दर जितनी ही अधिक होती है उतना ही अधिक बचत करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु बचत की भी एक सीमा होती है जिसके कारण ब्याज की दर अधिक होने पर भी कोई आदमी उस सीमा से अधिक बचत नही कर सकता। सव्यवहार तथा सट्टा हेतुक मुद्रा को रखने की माग के पीछे कार्य करते हैं, परन्तु इन दोनों के अलग-अलग कोष मानने का प्रयत्न करना लाभप्रद नही है।*

(३) सतर्कता हेतुक (Precautionary motive)—उपर्युक्त दोनों हेतुकों के अतिरिक्त एक तीसरा हेतुक भी होता है जिसके कारण

---

* *J. K. Eastham*—Graphical Economics P 214

हमको बताती है कि आदमी क्यो अपनी मुद्रा को तरल रूप मे उठा कर रखना चाहता है तथा उसको ब्याज पर क्यो नही देना चाहता।

ब्याज की दर—जब कोई व्यक्ति अपने पास की द्रव मुद्रा दूसरे को ऋण के रूप मे देता है तो वह अपने पास की तरल मुद्रा को ही दूसरो को देता है। ऋण देने के पश्चात् ऋण-दाता को ऋण के रूप मे दिये गये धन पर कोई अधिकार नही रहता। इसलिये कोई भी आदमी अपनी द्रव-मुद्रा को दूसरो को उधार नही देना चाहता। यदि कोई ऋण लेने वाला यह चाहता है कि वह दूसरो की द्रव मुद्रा का अधिकार प्राप्त करे तो उसको कुछ न कुछ प्रलोभन ऋण-दाता को देना ही पड़ेगा। यह प्रलोभन ही ब्याज होती है। समाज मे बहुत प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इनमे से कुछ तो अधिक ब्याज दर पर अपनी द्रव-अधिमानता त्यागने को तैयार होंगे और कुछ कम ब्याज-दर पर। इस प्रकार विभिन्न ब्याज-दरो पर हम सारे समाज की एक द्रव-अधिमानता तालिका बना सकते। केन्ज ने ब्याज की दर को पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता (Marginal efficiency of capital) कहा है। mEC

केन्ज के अनुसार ब्याज की दर की सस्थिति वह अवस्था है जहा उपर्युक्त तीनो हेतुको की तुष्टि के लिये मुद्रा की कुल माँग बराबर होती है पूरी आर्थिक व्यवस्था द्वारा परिपूरित (Supplied) मुद्रा के। यदि सव्यवहार तथा सतर्कता हेतुको के लिये मुद्रा की द्रव अधिमानता L_1 (Y) तथा इस कार्य के लिये मुद्रा की पूर्ति M_1 हो तथा सट्टा हेतुक के लिये मुद्रा की द्रव-अधिमानता L_2 (r) तथा उसकी पूर्ति के लिये आवश्यक मुद्रा-राशि M_2 हो और कुल मुद्रा परिमाण M हो तो हम कह सकते हैं कि—

$$M = M_1 + M_2 = L_1 (Y) \times L_2 (r)$$

इनमे से L_1 (Y) को निश्चित करने वाली मनुष्य की आय होती है। इसलिये आय के बढने पर L_1 (Y) भी बढ जाता है तथा उसके घटने पर वह घट जाता है। L_1 के ऊपर ब्याज दर परिवर्तन का उस समय तक कोई प्रभाव नहीं पडता जब तक कि ये परिवर्तन बहुत भयकर नही होते। ब्याज-दर के परिवर्तन का L_1 पर तभी कुछ प्रभाव पड सकता है जब कि उससे (ब्याज दर से) आय स्तर पर कोई प्रभाव पडे, परन्तु इस प्रकार का प्रभाव आय-स्तर पर बहुत सीमित मात्रा मे पडने की सम्भावना है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि L_1 पर ब्याज दर के परिवर्तन का प्राय. कोई प्रभाव नही पडता। केन्ज ने मुद्रा की माग के भाग को सक्रिय भाग (Active Balance) कह कर पुकारा है। यह मुद्रा राशि विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करती है।

L_2 (r) वह धन राशि है जो कि कोई मनुष्य सट्टा हेतुक के लिये रखता है। मुद्रा के इस भाग की माग को केन्ज ने निष्क्रिय भाग (Inactive Balance) कह कर पुकारा है। सट्टे के लिये मांगी गई मुद्रा राशि वह धन है जो कि सचय

वे माध्यम के रूप मे काम आती है। सट्टे के लिये मांगी गई मुद्रा ब्याज की दर पर निर्भर होती है। एक व्यक्ति सट्टा हेतुक के लिये जो धन अपने पास रखना चाहता है वह इस बात पर निर्भर होता है कि ब्याज की दर वर्तमान मे क्या है तथा भविष्य मे उसके बढने की आशा है या घटने की। यदि किसी आदमी को यह आशा होती है कि भविष्य मे ब्याज की दर बढेगी तो वह सट्टा हेतुक के लिये अपने पास अधिक धन रखने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत, ब्याज दर गिरने की दशा मे वह इस हेतुक के लिये अपने पास कम धन राशि रखेगा।

यद्यपि कुल मुद्रा परिमाण के ऊपर जनता का कोई नियन्त्रण या प्रभाव नहीं होता अर्थात् लोग उसको अपनी क्रियाओ द्वारा घटा बढा नही सकते, किन्तु बैंको का प्रभाव उस पर होता है। बैंक मुद्रा की 'पूर्ति' बढा सकते हैं। मुद्रा का प्रबन्ध करने वाले अधिकारी तथा बैंक अपनी नीति से ब्याज की दर को प्रभावित कर सकते हैं। यदि ब्याज-दर बढ रही हो तो अधिक मुद्रा समाज को देकर वे उसकी द्रव-पिपासा को शान्त करके ब्याज की दर बढने से रोक सकते हैं। इसके विपरीत, यदि ब्याज-दर गिर रही हो तो वे मुद्रा व साख की पूर्ति को घटा कर अतिरिक्त मुद्रा को चलन में से निकाल सकते हैं।

इस प्रकार केन्ज की प्रणाली मे ब्याज की दर विनियोग निर्धारण करती है। ब्याज की दर जितनी ऊंची होगी द्रव अधिमानता उतनी ही घटेगी और विनियोग बढेगा। इस प्रकार जहा क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के मतानुसार बचत-विनियोग ब्याज की दर को निर्धारित करते हैं वहा केनेसियन प्रणाली मे ब्याज की दर विनियोग को (और इस प्रकार बचत को) निर्धारित करती है।

ब्याज-दर का निर्धारण—केन्ज की प्रणाली मे ब्याज की दर मुद्रा की माग व पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है। मुद्रा की माग को बताने वाली द्रव-अधिमानता तालिका होती है जो कि यह दिखाती है कि समाज के लोग विभिन्न ब्याज-दरों पर कितना धन द्रव के रूप मे अपने पास रखना पसन्द करते हैं।* यदि इस तालिका के आधार पर हम वक्र बनायें तो इसकी शक्ल साधारण माग-वक्र के समान होगी जो कि बायें हाथ की ओर ऊपर उठता चला जाता है तथा दायें हाथ की ओर गिरता चला जाता है। इसका अर्थ यह है कि ऊंची ब्याज की दर पर लोग कम मुद्रा अपने पास रखेंगे तथा नीची ब्याज की दर पर वे अधिक मुद्रा अपने पास रखेंगे। इसका अर्थ यह भी है कि जब लोगो के पास कम मुद्रा होती है तो उनसे ऋण लेने के लिये अधिक ब्याज देना पडेगा। इसके विपरीत, अधिक मुद्रा होने पर उनके पास के धन को कम ब्याज पर प्राप्त किया जा सकता है।

किसी निश्चित समय पर मुद्रा की पूर्ति को कमोबेश निश्चित मान सकते हैं।

* हम यह कह चुके हैं कि यह द्रव-अधिमानता साधारणत. सट्टा हेतुक द्वारा ही प्रभावित होती है।

इसका कारण यह है मुद्रा को जनता की माग के अनुसार एक दम नहीं बढाया जा सकता। चू कि बैंको को साख निर्माण करते समय कुछ धन कोष में रखना पडता है इसलिये बैंक भी जनता की माग को पूरा करने के लिये मनमानी मात्रा मे साख निर्माण नही कर सकते। इस प्रकार किसी समय मुद्रा की पूर्ति ब्याज की दर मे परिवर्तन के अनुसार नही घटती-बढती अर्थात् पूर्ति-वक्र एक लम्ब होता है जो कि ऊर्ध्व अक्ष के समानान्तर होता है। जहा माग-वक्र पूर्ति वक्र को काटता है वहीं पर ब्याज की दर निर्धारित हो जाती है। इसको निम्नांकित चित्र मे दिखाया गया है—
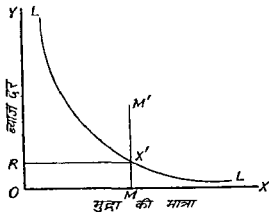
उपर्युक्त चित्र मे OX पर मुद्रा की मात्रा तथा OY पर ब्याज-दर दिखाई गई है। LL' मुद्रा का द्रव-अधिमानता वक्र है तथा MM' मुद्रा का पूर्ति वक्र है। ये दोनो वक्र एक दूसरे को X बिन्दु पर काटते हैं। इसलिये OR अथवा MX ब्याज की दर हुई।

आलोचनायें—यद्यपि केन्ज ने अपने से पूर्व के सब अर्थशास्त्रियों की आलोचना की है तो भी उसका स्वय का सिद्धान्त भी आलोचनाओं से मुक्त नही है।

पहली बात जो हम केन्ज के ब्याज के सिद्धान्त में खटकती है वह यह है कि केन्ज की यह उपधारणा कि लोग सतर्कता हेतुक के लिये रखे गये धन को अपने पास तरल रूप से रखना चाहते हैं तथा उसको ब्याज पर नही देना चाहते जिसके फलस्वरूप उस पर ब्याज की दर का कोई प्रभाव नहीं पडता, ठीक मालूम नहीं पडती। वास्तव में, कुछ ऐसी आपत्तियां हैं जिनको किसी प्रकार भी टाला नही जा सकता जिसके फलस्वरूप व्यक्ति हर समय अपने पास कुछ न कुछ धन द्रव रूप मे रखता है। उदाहरण के लिये वह हैजा, प्लेग आदि रोगों अथवा दुर्घटना आदि के समय के लिये मुद्रा उठा कर रखता है। परन्तु इस प्रकार की आपत्तियो के लिये मनुष्य हर समय बहुत बड़ी मुद्रा राशि अपने पास नहीं रखता। इस हेतुक के लिये

द्रव रूप में आवश्यक मुद्रा-राशि का आकार उस समय की डाक्टरी फीस, दवाइयों की कीमतो आदि पर निर्भर होता है। यदि वह समझता है कि कुछ समय के लिये कोई भी डाक्टरी सेवा १००० रुपये मे खरीदी जा सकती है तो वह अपने पास १००० रुपये न रख कर १५०० रुपये रख सकता है जिससे कि उसके अनुमान के गलत होने पर भी उसको कष्ट न उठाना पडे। परन्तु सतर्कता हेतुक सदा इतने गम्भीर तथा तीव्र नही होते। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति अपनी लडकी की शादी करने या कोई मकान बनाने या बुढापे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन रखना चाहता है तो इस प्रकार का धन भी सतर्कता हेतुक के लिये ही रखा हुआ कहा जायगा। परन्तु हमारे विचार मे वह उस धन को द्रव रूप मे नही रखेगा वरन् उसको किसी न किसी प्रकार के विनियोग मे लगायेगा क्योंकि वह जानता है कि तरल रूप मे अपने पास मुद्रा होने से वह उसको अनावश्यक कार्यों मे खर्च कर सकता है। विनियोग करते समय व्यक्ति के ऊपर ब्याज-दर का आवश्यक प्रभाव पडेगा। परन्तु केन्ज के अनुसार सतर्कता हेतुक के लिये रखा गया धन ब्याज की दर से प्रभावित नही होता। हो सकता है कि इस हेतुक मे केन्ज ने केवल गम्भीर आपत्ति-व्यय को ही रखा हो। परन्तु यदि केन्ज के इस विचार को ठीक माना जाये तो फिर उपर्युक्त दूसरे प्रकार के व्ययों को पूरा करने वाले धन को किस हेतुक के अन्तर्गत रखा जाये। यह बात समझ मे नही आती। फिर, केन्ज का सिद्धान्त यदि सही भी मान लिया जाय तो यह केवल अल्पकालीन अवधि के लिये ही सही हो सकता है, दीर्घकालीन अवधि मे ब्याज की दर कैसे निर्धारित होगी—इसका उत्तर केन्ज का सिद्धान्त नही देता।

दूसरी बात जो केन्ज के सिद्धान्त मे खटकती है वह यह है कि केन्ज यह मानता है कि ब्याज दर का विनियोग किये जाने वाले कोष से कोई सम्बन्ध नही होता। परन्तु व्यापारी लोग अपने पास जो धन रखना चाहते हैं वे इसको केवल रखने के लिये नही रखते वरन् विनियोग के लिये रखना चाहते हैं। इसलिये यह कहना कि विनियोग का ब्याज की दर से कोई सम्बन्ध नही होता गलत है। वास्तव में ब्याज की दर विनियोग के स्तर को निश्चित करती है। विनियोग का स्तर आय-स्तर को निश्चित करता है। इस प्रकार आय-स्तर ब्याज की दर पर निर्भर करता है।

तीसरी बात जो केन्ज के सिद्धान्त में खटकती है वह यह है कि उसने 'ब्याज-दर' को सब स्थानो पर एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है। कहीं उसने उसको बट्टे की दर के अर्थ मे प्रयोग किया है तो कहीं मूलत भिन्न अर्थ मे (उदाहरण के लिये जहाँ केन्ज ब्याज-दर को मुद्रा-परिमाण तथा द्रव-अधिमानता पर निर्भर बताता है) केन्ज ने ब्याज-दर' का प्रयोग एक और अर्थ मे किया है ' उसने कहा है कि बचत करने की प्रेरणा हेतु ब्याज नहीं दी जाती, बल्कि 'संचित' न करने की प्रेरणा स्वरूप उसको दिया जाता है। इसी प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता का प्रयोग

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का मत था कि यदि अधिक बचत होगी तो उसके फलस्वरूप ब्याज की दर नीची हो जायगी। परन्तु केन्ज के अनुसार यदि अधिक बचत हुई भी लेकिन उसका बड़ा भाग द्रव-अधिमानता की तुष्टि के लिये संचित कर लिया गया तो विनियोग कम होगा। इससे उपयोगीकरण तथा बकारी बढ़ेगी, कम आय होगी तथा अन्त में बचत कम हो जायगी जिससे ब्याज की दर ऊपर चढ़ेगी।

केन्ज के अनुसार ब्याज 'बचत' करने के बदले नहीं दिया जाता जैसा कि क्लासिकल अर्थशास्त्री कहते हैं, बल्कि 'बचत' की हुई मुद्रा-राशि को अद्रव धन में रूपान्तरित करने के बदले दिया जाता है। यदि आज कोई अपना द्रव-धन विनियोग में लगाता है तो वह जोखिम उठाता है क्योंकि भविष्य म ब्याज-दर वर्तमान की अपेक्षा बढ सकती है अथवा विनियाग का पू जी मूल्य गिर सकता है। बचत करने वाले को ये निर्णय करने पड़ते हैं कि वह खर्च करे या बचत कर तथा यदि बचत करे तो उसे मुद्रा के रूप में रखे या विनियाग क काम मे लगाय। हम पहल बता चुके हैं कि केन्ज के अनुसार सट्टा हेतुक के लिय मुद्रा की कुल माग ब्याज-दर में परिवर्तन के अनुसार घटती-बढती रहती है। 'बचत' केवल ब्याज दर पर निर्भर नहीं होती, वह आय पर भी निर्भर होती है।

केन्ज ने यह भी कहा है कि व्यापार-चक्र के तेजी-काल में ब्याज की दर को ऊंचा नहीं करना चाहिये जैसा कि क्लासिकल अर्थशास्त्री कहते हैं, बल्कि एस काल में उसको उचित मौद्रिक नीति द्वारा नीचा रखना चाहिये क्योंकि व्यापार-चक्र का उपचार तेजी की हालत समाप्त करके बराबर 'अर्द्ध'-मन्दी की अवस्था बनाये रखने में नहीं है बल्कि मन्दी का निर्मूलन करके बराबर *'अर्द्ध-तेजी'* की अवस्था बनाये रखने मे है।

आजकल के लोग यह मानते हैं कि ब्याज-दर चार बातों से निर्धारित होती है—बचत, विनियोग, द्रव-अधिमानता तथा मुद्रा का परिमाण। क्लासिकल सिद्धान्त की यह बात ठीक थी कि ब्याज की दर बचत तथा विनियोग को समान कर देती है। केन्ज की यह ब्याज-दर मुद्रा की माग का वास्तविक मुद्रा के स्तर तक ले आती है। जब हम इन दोनों तत्वों को एक साथ लायें तब हमको पूरी बात का ज्ञान हो सकता है।

...२८

लाभ

(Profits)

अभी तक हम ने भूमि, श्रम व पूंजी के प्रतिफलो का अध्ययन किया है। इस अध्याय में हम साहसी (Enterpreneur) के प्रतिफल का अध्ययन करेंगे। साहसी के प्रतिफल को 'लाभ' कहते हैं। 'लाभ' क्यो होता है तथा यह साहसी को क्यों मिलता है, इस बात पर अर्थशास्त्री एक मत नही हैं। परन्तु अर्थशास्त्री इन बातो पर एक मत भले ही न हो वे 'लाभ' के अस्तित्व को अस्वीकार नही करते। इसके विपरीत, समाजवादी इसके अस्तित्व मे विश्वास नही करते। समाजवादी इसके अस्तित्व मे विश्वास नही करते। समाजवादियो मे राबर्ट ओविन का मत था कि लाभ ही सब आर्थिक रोगो की जड हैं। इसलिये लाभ को समाप्त करने के लिये उसने एक श्रम विनिमय-गृह (Labour Exchange) स्थापित किया जहा पर मजदूर लोग अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं को श्रम-कानूनों से बदलते थे तथा आवश्यकता पडने पर वे इन कानूनों से दूसरे मजदूरो द्वारा बनाई गई वस्तुओं को बदल लेते थे। परन्तु यह योजना बहुत सी कठिनाइयो के कारण सफल न हो सकी। समाजवादियो मे लाभ का सबसे प्रबल विरोध कार्ल मार्क्स ने किया। मार्क्स का मत था कि कुछ अर्थशास्त्रियो द्वारा की गई साहसी तथा मजदूर के कार्यों की तुलना बेहूदी नही तो असगत अवश्य है। एक समय था जब साहसी पर चलाये जाने वाले उद्योगो मे ऐसा होता है। परन्तु बड़े पैमाने की उत्पादन मजदूर के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करता था। अब भी छोटे पैमाने पद्धति के अन्तर्गत (जो कि कदाचित् भविष्य मे उत्पादन की एकमात्र पद्धति होगी) उत्पादक पूंजीपति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। वह मजदूरों का मालिक इसलिये बन जाता है कि वह धनी होता है। मालिक अपनी पूंजी से दूसरे व्यापारियों के समान ही वस्तुओं के क्रय-विक्रय द्वारा लाभ कमाता है। परन्तु वह क्रय किस वस्तु का करता है? वह मजदूर की उत्पादन शक्ति का क्रय करता है। वह बेचता क्या है? वह मजदूरों की उत्पादन शक्ति तथा पूंजी की सहायता से ससाधनो का वाछित वस्तुओ मे रूपान्तरण करके उनको बेचता है। रूपान्तरण की लागत तथा विक्रय कीमत का अन्तर ही उसका लाभ होता है। परन्तु यहा प्रश्न यह उठता है कि मालिक को लाभ कैसे होता है? मार्क्स का मत है कि श्रमिक उससे अधिक

मूल्य की वस्तु उत्पन्न करता है जितना कि उसके पालन-पोषण के लिये आवश्यक होता है। उदाहरण के लिये, यदि श्रमिक दस घण्टे तक काम करता है तो इस काल में वह उतनी वस्तु का निर्माण कर लेता है जिससे कि दो मजदूरों का भरण-पोषण हो सकता है। परन्तु मालिक मजदूर को पांच घण्टे की मजदूरी ही देता है जो कि मजदूर के केवल भरण-पोषण (अर्थात् उसको पालने की लागत के बराबर) के लिये भी कठिनाई से होती है। शेष पांच घण्टे की मजदूरी मालिक अपने पास रख लेता है। इस प्रकार पूंजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। मार्क्स का मत है कि श्रम-विभाजन में वृद्धि तथा उत्पादन के ढंगों में अधिक विकास होने पर श्रमिक और भी अधिक उत्पादन कर सकेगा परन्तु उसकी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकतायें बहुत कम बढ़ेंगी। इसके फलस्वरूप पूंजीपति का लाभ तथा श्रमिकों का शोषण बढ़ता चला जायगा।

यह बात तो ठीक है कि उत्पादक-मालिक श्रम को कम से कम मजदूरी देने का प्रयत्न करते हैं परन्तु हमारे समक्ष जो बात विचाराधीन है वह यह है कि क्या मालिक जो साहसी के रूप में कार्य करता है उत्पादन कार्य में कोई सहायता नहीं करता। यदि वह इस कार्य में सहायता करता है तो उसको अवश्य ही अपनी सेवाओं का प्रतिफल मिलना चाहिये और यदि वह इस कार्य में कोई सहायता प्रदान नहीं करता तो उसको कुल उत्पादित वस्तु में से कुछ भी नहीं मिलना चाहिये।

हम बता चुके हैं कि उत्पादन कार्य के लिये भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था व संगठन, की आवश्यकता होती है। इनमें से साहसी के कार्य तथा उसके प्रतिफल के विषय में तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं —

(१) अंग्रेजी अर्थशास्त्री साहसी तथा पूंजीपति को एक ही व्यक्ति मानते हैं तथा साहसी को पूंजीपति कहते हैं। इसी कारण वे लाभ को पूंजीवादी आय (जो कि ब्याज के समान है) मानते हैं। परन्तु इस आय को वे ब्याज से ऊंचे-स्तर पर रखते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों का मत ठीक है क्योंकि साधारणतः पूंजीपति ही साहसी के रूप में कार्य करता है। यही कारण है कि ब्याज की दर के समान लाभ को भी पूंजी की एक निश्चित दर के रूप में व्यक्त किया जाता है। लेकिन अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों का मत व्यावहारिक दृष्टि से भले ही ठीक हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से हमें पूंजीपति व साहसी के कार्यों को अलग-अलग करना पड़ेगा क्योंकि वे दोनों विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। ज्वॉयंट स्टॉक कम्पनियों के वजूद में आने के पश्चात् पूंजीपति व साहसी के कार्य साफ तौर पर अलग-अलग देखे जा सकते हैं। साहसी पूंजी उधार लेकर अपना काम चला सकता है। लेकिन पूंजीपति के लिये साहस उधार लेना कठिन है।

(२) फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों का विचार अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों के उपर्युक्त विचार से बिल्कुल भिन्न है। उनमें से जे० बी० से ने सबसे पहले साहसी के कार्य

को पूंजीपति के कार्य से भिन्न किया था। उन्होंने ही इसको (Entrepreneur) कह कर पुकारा था। उनका मत था कि साहसी एक विशिष्ट प्रकार का कार्य करता है जो कि साधारण मजदूर के कार्य से भिन्न होता है। उनके अनुसार साहसी के निम्नलिखित कार्य होते हैं—

(अ) अनुसंधान—उत्पादन कार्य के लिये अनुसंधान कार्य बहुत आवश्यक होता है। अनुसंधान करने के लिए विचारों का होना आवश्यक है। ये विचार व्यापार से सम्बन्धित होने चाहियें। इनका उद्देश्य ऐसी चीजों को उत्पन्न करना होना चाहिये जिनकी उपभोक्ताओं को आवश्यकता होती है। यही नहीं, साहसी को नई आवश्यकताओं का अनुसंधान करना चाहिये।

(ब) देख-भाल—अर्थशास्त्र का यह एक प्रमुख नियम है कि व्यक्तिगत श्रम की अपेक्षा सामूहिक श्रम अधिक उत्पादक होता है। परन्तु यह तभी संभव है जबकि *श्रम व्यवस्थित, अनुशासित तथा किसी व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित होता है।* कोई न कोई व्यक्ति ऐसा होना चाहिय जो कि श्रमिकों को उनकी योग्यतानुसार कार्य देने तथा उनसे काम लेने वाला हो। यह व्यक्ति अर्थशास्त्र मे साहसी कहलाता है। इसको 'उद्योग का कप्तान' भी कहा जाता है। *प्रो० जीड का मत है कि व्यापार युद्ध के समान* ही होता है। जिस प्रकार कोई भी युद्ध नवीनतम हथियारों व वीर सिपाहियों के होते हुये भी उस समय तक नहीं जीता जा सकता जब तक कि कोई योग्य सेनापति न हो उसी प्रकार कोई भी व्यापार उस समय तक सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता जब तक कि साहसी योग्य न हो। देखा जाता है। कि दो व्यापारी एक ही प्रकार की परिस्थिति के अन्तर्गत कार्य करते हुये भी समान लाभ नहीं कमा पाते। कभी कभी तो यहा तक हो जाता है कि उनमें से एक बहुत धन पैदा कर लेता है, और दूसरा बुरी तरह बर्बाद हो जाता है। इसका कारण यह है कि एक के अन्दर व्यापार को सुचारु रूप से चलाने की योग्यता है, लेकिन दूसरे मे उसका सर्वथा अभाव है।

(स) व्यापारिक अटकलें (Commercial Speculation)—व्यापार की बहुत कुछ सफलता भविष्य की व्यापारिक स्थिति का ठीक अनुमान लगाने पर निर्भर होती है। व्यापारी को माल का उत्पादन करने मे तो कोई विशेष कठिनाई नहीं होती परन्तु माल के बेचने मे उसको बहुत कठिनाई होती है क्योंकि माल बेचने के लिये उत्पादित वस्तु का बाजार खोजना पड़ता है। यही नहीं, वस्तु की कहीं भी कोई माग न होने पर उसको उसकी माग का निर्माण भी करना पड़ता है। यदि उत्पादित वस्तु का बाजार छोटा होता है तो सस्थिति निर्माण करने के लिये उसको उत्पादन की मात्रा को कम करना पड़ता है। इन सब कार्यों मे व्यापारी को बहुत सी व्यापारिक अटकलों तथा अनुमानों से काम लेना पड़ता है।

प्रो० जीड का मत है कि लाभ सम्बन्धी फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों के इस कथन में बहुत कुछ सत्यता विद्यमान है। परन्तु इस कथन से भी हमको लाभ के

वास्तविक स्वभाव का पूर्ण आभास नही होता। वास्तव मे बात यह है कि इन अर्थशास्त्रियो द्वारा बताये गये तीनो कार्यों को बिना कठिनाई के वेतन-भोगी इन्जीनियरो, व्यवस्थापको, मैनेजरो आदि को सौंपा जा सकता है। वास्तव मे बडी-बडी कम्पनियो मे ये सब कार्य किये ही जाते हैं वेतन पाने वालो द्वारा। इसलिये अनुसधान, देखभाल, व्यापारिक अटकलों आदि को लाभ का कारण नहीं कहा जा सकता।

(३) बहुत से अर्थशास्त्रियो का मत है कि साहसी भूमि के स्वामी के समान विक्रयेकाधिकारी होता है। इसलिये वे लाभ को विक्रयेकाधिकारिक आय (Monopolistic income) कह कर पुकारते हैं। यह विक्रयेकाधिकार चाहे साहसी की अतुल व्यक्तिगत योग्यता के कारण हो, या अवसर अथवा परिस्थिति के कारण हो, या, यह कतिपय कानूनी सुविधायें प्राप्त होने के कारण हो अथवा अन्य किसी कारण से हो। इस विचार के समर्थकों के अनुसार व्यापारी को लाभ इसलिये प्राप्त होता है कि उसके अन्दर कुछ ऐसे गुण हैं जो कि दूसरे लोगो मे कम से कम उतने नही होते। उदाहरण के लिये उसके पास अधिक मात्रा मे पूजी हो सकती है अथवा सभव है कि वह किसी चीज को बनाने का गुप्त भेद जानता हो। परन्तु हमारे विचार से यह मत भी ठीक मालूम नही पडता क्योकि बहुत से ऐसे व्यापारी होते हैं जिनके पास पूजी भी कम मात्रा मे होती है और वे किसी वस्तु को बनाने का गुप्त भेद भी नही जानते परन्तु फिर भी वे व्यापार मे लाभ कमाते हैं।

अब यहा प्रश्न उठता है कि लाभ का फिर क्या कारण है इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों के बहुत मत हैं। अब हम इन मतो पर विचार करेंगे।

प्रो० मार्शल का विचार—प्रो० मार्शल ने लाभ की व्याख्या एक स्थिर समाज की उपधारणा के आधार पर की है। उसका मत है कि लाभ व्यापारिक शक्ति को प्रदान करने की कीमत होती है। व्यापारिक शक्ति मे तीन चीजें सम्मिलित होती हैं—

(१) पूंजी की पूर्ति,

(२) व्यापार को नियन्त्रित करने की पर्याप्त योग्यता तथा शक्ति का होना

(३) व्यवस्था करने की शक्ति का होना जिसके द्वारा व्यापारिक योग्यता तथा आवश्यकतानुसार पूजी को एकत्र करके उत्पादन कार्य मे लगाया जा सके।

मार्शल का मत है कि वाणिज्य की प्रत्येक शाखा के लिये लाभ की एक दर होती है जो कि साधारण-दर (Normal rate) कहलाती है। यदि उत्पादन करने की पद्धति मे कोई उन्नति न की जाये तो साधारण लाभ की दर मे कोई परिवर्तन

नहीं होता। दीर्घकालीन अवधि में प्रत्येक उद्योग में लाभ की दर साधारण लाभ-दर के बराबर हो जाती है। मार्शल का मत है कि लाभ दर न तो साधारण दर से कम हो सकती है, न अधिक। यदि वह साधारण दर से अधिक होगी तो नये उत्पादक मैदान में आकर लाभ की दर को घटा देंगे। इसके विपरीत, यदि वह साधारण दर से कम होगी तो बहुत से उत्पादक उद्योग से बाहर चले जायेंगे जिसके कारण लाभ-दर फिर ऊंची हो जायगी।

मार्शल का मत है कि साधारण लाभ-दर व्यापारिक योग्यता की पूर्ति की उसकी माग के बराबर करके सस्थिति निर्माण करती है। जब कोई व्यक्ति वाणिज्य की किसी शाखा में घुसता है तो वह उस शाखा से प्राप्त होने वाले सब प्रकार के लाभों को ध्यान में रखकर ही ऐसा करता है। इस प्रकार लाभ व्यापारिक शक्ति की पूर्ति-कीमत स्वरूप है। वास्तव में यह उत्पादित वस्तु की दीर्घकालीन पूर्ति-कीमत का एक अङ्ग होता है।†

आलोचनायें—

मार्शल द्वारा बताये गये लाभ के सिद्धान्त को देखने से पता चलता है कि वह लाभ को पूंजीपति की व्यापारिक शक्ति की सामान्य आय समझता है। उसका मत है कि यह व्यापारिक शक्ति सर्वत्र सबसे अधिक लाभ-प्रद व्यापारिक शाखाओं का खोजती रहती है। चूंकि पूर्ण प्रतियोगी बाजार में व्यापारियों में आपस में प्रतियोगिता पाई जाती है इसलिये साहसी की आय वाणिज्य की प्रत्येक शाखा में समान हो जाती है, परन्तु चूंकि प्रतियोगी शक्तियों को पूर्णरूपेण सस्थिति प्राप्त करने में बहुत समय लग जाता है इसलिये अल्पकालीन अवधि में बहुत अधिक लाभ या हानि होने की सम्भावना होती है।‡ इस प्रकार मार्शल संघर्षपूर्ण लाभ (Frictional profit) के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इस लाभ के अतिरिक्त मार्शल सामान्य लाभ के अस्तित्व को स्वीकार करता है जो कि व्यापार के समन्वय और नियोजन तथा उसकी देख-रेख का पारितोषिक होता है। मार्शल के अनुसार

† But as it is, that share of the normal expenses of production of any commodity which is common by classed as profits, is so controlled on every side by the action of the principle of substitution, that it cannot ong diverge from the normal supply price of the cap tal needed, added to the normal supply price of the ability and energy required for managing the business, and lastly the normal supply price of that organization by which the appropriate business ability and requisite capital are brought together.

—*Marshall* Principles of Economics (Low-Priced Text book) P 503.

‡ A long period of time is however needed in order to get the full operation of all these causes so that exceptional success may be balanced against exceptional failure, —*Ibid* P 514

यह पारितोषिक उत्पादित वस्तु की लागत का एक अङ्ग होता है।* इसलिय इसको वास्तविक बचत नही कह सकते। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मार्शल का लाभ का कोई भी सिद्धान्त नही है।

चूंकि मार्शल यह जानता था कि वाणिज्य की सभी शाखाओं मे समान लाभ प्राप्त नही होता इसलिय उसने कहा कि विभिन्न शाखाओं मे लाभ के भिन्न-भिन्न होने का कारण उनमे जोखिम की भिन्नता है, परन्तु हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि मार्शल जोखिम को लाभ का कारण नही बताता वह जोखिम को विभिन्न व्यापारो मे सामान्य लाभ दर की भिन्नता का कारण बताता है और मार्शल के अनुसार सामान्य लाभ लागत का अङ्ग होता है। इसके अतिरिक्त, जब मार्शल यह कहता है कि व्यापारी अधिकतम लाभ-प्रद व्यापार की शाखा को खोजता है तब वह यह उपधारणा करके चलता है कि व्यापारी का वाणिज्य की सब शाखाओं का पूर्ण ज्ञान है, अर्थात् वह जानता है कि वहा पर कितनी जोखिम तथा कितना लाभ है। इसीलिये व्यापारी केवल उसी व्यापार को करना पसन्द करेगा जिसमे कोई विशेष जोखिम नही होगी। इस प्रकार मार्शल के अनुसार जोखिम ज्ञातव्य तथा निश्चित की जाने वाली चीज है, परन्तु व्यवहार मे हम देखते हैं कि जोखिम का ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता। जिस समय व्यापारी किसी व्यापार को प्रारम्भ करता है तब वह यही प्रयत्न करता है कि वह जोखिम रहित व्यापार को करे परन्तु आगे चलकर बहुत सी ऐसी बातें पैदा हो सकती हैं जिससे कि उसका अनुमान गलत

---

* During all this inquiry we have had in view chiefly the ultimate or long period or true normal results of Economic forces, we have considered the way in which the supply of business ability in command of capital tends in the long run to adjust itself to the demand we have seen how it seeks constantly every business and every method of conducting every business in which it can render services that are so highly valued by persons who are able to pay good prices for the satisfaction of their wants, that those services will in the long run earn a high reward The motive force is the competition of undertakers each one tries every opening, forecasting probable future events reducing them to their true relative proportions and considering what surplus is likely to be afforded by the receipts of any undertaking over the outlay required for it. All his prospective gains enter into the profits which draw him towards the undertaking all the investments of his capital and energies in making the appliances for future production, and in building up the 'immaterial' capital of a business connection, have to show themselves to him as likely to be profitable before he will enter on them the whole of the profits which he expects from them enter into the reward which he expects in the long run for his venture And if he is a man of normal ability (normal that is for that class of work), and is on the margin of doubt whether to make the venture or not, they may be taken as true representatives of the (marginal) normal expenses of production of the services in question Thus the whole of the normal profits enter into true or long period supply price,—*Ibid* Pp 513—14

साबित हो जाय। इसलिये मार्शल का जोखिम रहित व्यापार का विचार व्यावहारिक दृष्टि से गलत है।

(२) वॉकर का विचार—प्रो० वॉकर का मत है कि लाभ, लगान के समान होना है। जिस प्रकार विभिन्न भूमियो की उर्वरा शक्ति लगान का कारण होती है। उसी प्रकार व्यापारियो की योग्यता मे भिन्नता लाभ का कारण होती है। एक व्यापारी एक सी ही पूंजी तथा एक से ही श्रम से दूसरे व्यापारी की अपेक्षा अधिक लाभ कमा सकता है। ऐसा इसलिये होता है कि पहला व्यापारी दूसरे की अपेक्षा व्यापार का सचालन करने की अधिक योग्यता तथा अधिक क्षमता रखता है। इसलिये पहले व्यापारी को प्राप्त होने वाले लाभ को उसकी योग्यता का लगान कहा जा सकता है। वॉकर का मत है कि यदि सब व्यापारी समान बुद्धि के होते तो किसी को भी कोई लाभ प्राप्त न होता। व्यापारी के समान अन्य पेशो मे कार्य करने वाले लोगो की आयों मे भिन्नता का भी यही कारण है कि इन अन्य पेशो में कार्य करने वाले लोगो की योग्यताय एक दूसरे से भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिये एक योग्य वकील दूसरे कम योग्य वकील से अधिक कमाता है। इसी प्रकार एक योग्य डाक्टर दूसरे कम योग्य डाक्टर से अधिक कमाता है। इस प्रकार हम देखते है कि व्यक्तियो के किसी समूह मे, जिसमे कि व्यक्ति एक दूसरे से एक ही प्रकार के कार्य के लिये प्रतियोगिता करते हैं जो अधिक योग्य होता है, अधिक उत्पादनीयता रखता है, वह अपनी योग्यता के अनुसार अधिक कमाता है। जिस सीमा तक व्यक्तियो की आयो मे भिन्नता का कारण उनकी प्राकृतिक योग्यतायें होती है उस सीमा तक उनकी आयो की प्रकृति लगान के समान होती है। प्रो० मार्शल ने विशेष योग्यता के कारण प्राप्त होन वाली आय का लगान न बताकर आभास लगान बताया है।*

आलोचनायें—

लाभ का यह सिद्धान्त भी आलोचनाओ से बरी नही है। आलोचको का कहना है कि भूमि के लगान के समान लाभ वास्तविक बचत (True surplus) नही होती। भूमि के हर टुकडे से प्राय कुछ न कुछ लगान मिलता है, परन्तु नई प्राप्त की गई भूमियो से कुछ समय तक कोई लगान नही मिलता। इस प्रकार भूमि से प्राप्त आय कम से कम शून्य विन्दु तक गिर सकती है। ऐसा कभी नही होता कि भूमि का स्वामी अपने पास से कोई लगान दे, परन्तु साहसी की आय अर्थात् लाभ की यह विशेषता है कि उसमे लाभ और हानि दोनो होते हैं अर्थात् लगान कभी ऋणात्मक नही हो सकता लेकिन लाभ ऋणात्मक हो सकता है। इसलिये लाभ की तुलना लगान से करनी असगत सी प्रतीत होती है।

इस विचार की दूसरी आलोचना यह है कि इसके द्वारा हमको इस बात का तो पता चल जाता है कि विभिन्न व्यवसायों मे लाभ क्यो समान नही होता, परन्तु इसके द्वारा हमको लाभ का वास्तविक कारण ज्ञात नही होता है।

* *Marshall*—Principle (Low Priced Text book) P. 518.

इसकी तीसरी आलोचना यह की गई है कि लाभ का कारण केवल उत्पादक की योग्यता ही नही होती । इसके दूसरे कारण भी होते हैं । उदाहरण के लिय युद्ध छिड जाने पर व्यापारियो को अनायास लाभ प्राप्त हो जाता है अथवा विक्रये-काधिकारी को प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाले व्यापारियो से अधिक लाभ प्राप्त होता है । इनके अतिरिक्त भी लाभ के और भी बहुत से कारण हो सकते हैं। सयुक्त स्कन्ध कम्पनियो (Joint St Companies) को देखने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि लाभ योग्यता का परिणाम नही । कम्पनियो के हिस्सेदारो को जो लाभाश मिलता है, उससे इन हिस्सेदारो की योग्यता से कोई सम्बन्ध नही होता । एक श्रेणी के सब योग्य अयोग्य हिस्सेदारों को समान लाभ मिलता है ।

इस प्रकार यदि हम वॉकर के इस विचार को स्वीकार करें तो हमको सयुक्त स्कन्ध कम्पनियों के हिस्सेदारो को प्राप्त होने वाले लाभ की व्याख्या करनी कठिन हो जायेगी क्योंकि वे तो केवल अपनी पू जी लगाकर जोखिम ही उठाते हैं, अपनी योग्यता को लाभ कमाने के काम मे नही लाते ।

चू कि प्रो० वॉकर लाभ को भूमि के लगान के समान एक वास्तविक बचत मानते थे इसलिये उनका मत था कि लगान के समान लाभ भी वस्तु की लागत का और इस प्रकार वस्तु कीमत का अङ्ग नही होता । यह बात वास्तविकता से बहुत दूर है । सामान्य लाभ लागत का उसी प्रकार अङ्ग होता है जैसे ब्याज तथा मजदूरी प्रो० मार्शल का भी मत है कि दीर्घकाल में सामान्य लाभ मूल्य मे सम्मिलित होता है ।

प्रो० टॉजिग* ने कहा है कि इस विचार के विरुद्ध यह आलोचना की गई है कि यह जोखिम के महत्व को स्वीकार नही करता और यदि जोखिम के महत्व को स्वीकार किया जाये तो लाभ की लगान के साथ उपमा का कोई महत्व न रहेगा। व्यापार मे सभी प्रकार के लोभ होते हैं । कुछ को लाभ होता है और कुछ को हानि । यदि कुल लाभ मे से कुल हानि को घटा दिया जाय तो अन्त मे व्यवसाय मे कोई बचत न रहेगी अर्थात् उसमे लगान का कोई अश न होगा । आलोचकों का मत है कि जब कोई व्यक्ति किसी व्यवसाय को चालू करता है तब उसकी सफलता असफलता का कोई ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता । इसलिये व्यापार मे जोखिम एक महत्वपूर्ण चीज होती है । प्रो० टॉजिग स्वीकार करते हैं कि इस आलोचना मे बहुत बल है परन्तु उनका मत है कि न तो व्यवसाय मे और अन्य पेशो मे असफलता की जोखिम कोई विशेष नही होती । इसलिये व्यवसाय तथा व्यापार मे जोखिम व्यक्तिगत आयो के अन्तर के महत्व को कम नही कर सकती । व्यापार तथा व्यवसाय मे एक उचित आय अनिश्चित नही होती । कुछ व्यक्ति दूसरो से अधिक

---

* *Taussig*—Principles of Economics Vol II (4th Edn) P. 177

योग्य होते हैं। ऐसे लोगों को प्राप्त होने वाली आय लगान के समान ही होती है।*

हमारे विचार में प्रो० टॉजिग का उपर्युक्त मत बहुत ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि व्यापार को प्राप्त होने वाली उचित आय भी निश्चित नहीं होती। दूसरी आय की तो बात ही क्या है? इसलिये लगान के समान, लाभ को भी हम वास्तविक बचत नहीं कह सकते।

कुछ लोगों ने इस विचार के विरुद्ध यह भी कहा कि यह विचार लाभ की मात्रा के मुख्य कारणों को भी बताने में असमर्थ है। अन्तर लाभ का कारण उत्तम इकाइयों की स्वल्पता है—चाहे वह भूमि हो या साहसी। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि उत्तम इकाइयों की स्वल्पता के क्या कारण हैं। भूमि की स्वल्पता प्राकृतिक कारणों से है। परन्तु साहसियों की स्वल्पता इन कारणों से नहीं होती। लाभ के लगान सिद्धान्त में यह नहीं बताया गया है कि साहसियों की कमी के क्या कारण हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त लाभ के महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर भी कोई ध्यान नहीं देता।

लगान तथा लाभ के बीच एक और भेद है। लगान स्थैतिक तथा प्रावैगिक, दोनों हालतों में प्राप्त हो सकता है, किन्तु लाभ केवल प्रवैगिक परिस्थितियों के अन्तर्गत सम्भव है। स्थैतिक परिस्थितियों में भविष्य वर्तमान के समान ही होता है, उसमें अनिश्चय तथा अस्थिरता का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिये अटकलों की भी कोई आवश्यकता नहीं। अतः स्थैतिक स्थिति में लाभ शून्य होगा। किन्तु प्रवैगिक हालत के अन्तर्गत भविष्य के गर्भ में अनिश्चय भरा है। लाभ इसी अनिश्चिय तथा अस्थिरता का परिणाम होता है।

प्रो० टॉजिग का मत—

प्रो० टॉजिग का मत है कि लाभ का लगान सिद्धान्त हमको केवल यह बताता है कि व्यापारिक लाभों की भिन्नता का क्या कारण होता है। यह बात भी *केवल उच्च-स्तर की आयों तक सीमित है। निम्न-स्तर व्यापारियों तथा पेशेवर* लोगों की आय उन्हीं शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है जिनसे कि साधारणतः मजदूरी निश्चित होती है। इस प्रकार लाभ का लगान सिद्धान्त लाभ सम्बन्धी महत्वपूर्ण *प्रश्नों का हल नहीं करता, इन प्रश्नों का मजदूरी की साधारण समस्याओं से अटूट* सम्बन्ध होता है।**

कुछ अर्थशास्त्री लाभ तथा मजदूरी में भेद करते हुए कहते हैं कि लाभ में से उतना धन निकाल देना चाहिये जितना कि कोई साहसी अपनी सेवाओं के बदले किसी दूसरे व्यापारी से प्राप्त कर सकता है। जो कुछ शेष बचे उसी को वास्तविक लाभ मानना चाहिये। इस आपत्ति के उत्तर में प्रो० टॉजिग कहते हैं कि जो लोग

---

* *Ibid* Pp 178–79

** *Ibid*, P. 177

लाभ मे से साहसी के वेतन का अश इस प्रकार से अलग करना चाहते हैं उनका जोर लाभ के जोखिम पहलू पर है। प्रो० टॉजिग के अनुसार लाभ तथा साहसी के वेतन के बीच इस प्रकार क भेद की दीवाल खडी करना केवल शब्दो की चलाबाजी है और कुछ नही। वास्तव मे बात यह है कि वेतन पाने वाले व्यवस्थापकों की बहुत सी श्रेणिया होती है जैसे फोरमैन, सुपरिन्टेन्डेन्ट, जनरल मैनेजर, प्रेसिडेन्ट आदि। वेतन पाने वाले व्यवस्थापको तथा स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले व्यापारियो के बीच निरन्तर स्थानान्तरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इन दोनों प्रकार के लोगो पर एक ही प्रकार के कारण अपना प्रभाव डालते है। एक योग्य व्यक्ति बहुत अधिक 'कुल लाभ' पैदा कर सकता है। वहा भी यदि उसको दूसरे व्यापारी नौकर रखें तो उसको बहुत का वेतन मिल सकता है। हो सकता है कि उसको वेतन के रूप मे अधिक धन प्राप्त हो। ध्यान रहे कि वेतन का कारण उसकी कार्य-सचालन की योग्यता होती है। परन्तु यह सम्भव है कि उसके अन्दर दूरदर्शिता तथा निर्णय करने की शक्ति (Judgment) का अभाव हो। वास्तव मे, व्यापारिक लाभो का कारण कार्यकुशलता तथा योग्यता होती है। समाज यदि लोगो की कार्यकुशलता तथा योग्यता का लाभ उठाना चाहता है तो उसको इन गुणो के बदले कुछ प्रतिफल अवश्य देना पडेगा।* इन गुणो की सेवाओ के प्रतिफल से अधिक जो भी आय व्यापार से प्राप्त होती है उसको प्रो० टॉजिग ने गैर-कानूनी व्यापारिक लाभ बताया है। प्रो० टॉजिग ने यह भी कहा है कि यह कहना कठिन है कि कितना लाभ कानूनी है तथा कितना गैर-कानूनी। परन्तु कानून लाभ तभी कमाया जा सकता है जबकि प्रतियोगिता पूर्ण तथा स्वतन्त्र हो तो तथा प्रतियोगिता को उच्च स्तर पर कायम रखा जाये।

आलोचनायें—

प्रो० टॉजिग के विचार की कई प्रकार से आलोचना की गई हैं। आलोचकों का कहना है कि मजदूरी तथा लाभ समान-स्तर पर नही रखे जा सकते क्योंकि मजदूर की मजदूरी मे जोखिम का अश बहुत कम होता है परन्तु व्यवस्थापक के लाभ मे जोखिम का अश बहुत अधिक होता है। यदि मजदूर कोई किसी स्थान पर मजदूरी के बदले का कार्य करता है तो उसे मजदूरी मिलती ही है। उसमे सयोग का अश बहुत कम होता है। परन्तु लाभ म सयोग का अश बहुत अधिक होता है जिसके कारण लाभ अनिश्चित होता है। वस्तु बाजार तथा श्रम-बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता होने से मजदूरी घट जाती है परन्तु लाभ बढ जाता है। इस प्रकार लाभ को योग्यता तथा निर्णय करने की शक्ति की मजदूरी (प्रतिफल) बताना उचित नही है।

Ibid P. 183

जायेगा। इस प्रकार नई पद्धति के लिये साधनो का एकत्र करना ही साहस कहलाता है और और जो व्यक्ति इस कार्य को करता है उसको साहसी कहा जाता है।

प्रो० शुम्पाटर का लाभ का सिद्धान्त बहुत सी बातो मे प्रो० क्लार्क के लाभ सिद्धान्त से मिलता जुलता है। क्लार्क के समान वे भी लाभ का कारण प्रवैगिक परिवर्तनो को मानते हैं। परन्तु वे प्रवैगिक परिवर्तनो का कारण क्लार्क द्वारा बताई गई पाच बातो को नही मानते वरन् उनका मत है कि लाभ उत्पादन पद्धति मे परिवर्तन के कारण होता है। उत्पादन पद्धति मे सब प्रकार परिवर्तनों को वे नवीन पद्धतियो (Innovations) के अन्तर्गत रखते हैं। नवीन पद्धतियो का रूप नई मशीनो का लगाना, व्यापार की इकाई के आकार को बढाना, कच्चे माल के नये साधनों का उपयोग करना, उत्पादित माल को नये बाजार खोज कर उन तक पहुचाना, उत्पन्न की जाने वाली वस्तु के गुण मे परिवर्तन करना आदि हो सकता है। जब कभी भी इनमे से कोई परिवर्तन होता है तभी उत्पादन के साधनो को नये ढग से एकत्र करने की आवश्यकता पडती है। उत्पादन के साधनो को नये ढग से एकत्र करते ही साहसी का जन्म हो जाता है। साहसी उत्पादित वस्तु की लागत को उसकी वर्तमान लागत की अपेक्षा कम कर देता है। इसलिये लाभ उत्पन्न हो जाता है। परन्तु इस लाभ को देख कर कुछ अन्य फर्म भी नवीन पद्धति को काम मे लाने लगेंगे जिसके कारण सारे उद्योग का ढाचा ही बदल जायेगा तथा एक नई सस्थिति स्थापित हो जायेगी। इसके कारण फिर से उत्पादित वस्तु की कीमत और लागत बराबर हो जायेंगे और लाभ समाप्त हो जायेगा। साहसी का कार्य यह है कि यह उत्पादन की नयी पद्धतियो को निरन्तर जन्म देता रहता है। यही कारण है कि लाभ भी निरन्तर बढता जाता है।

प्रो० शुम्पाटर के अनुसार लाभ उस व्यक्ति को प्राप्त नही होता जो उत्पादन की नई पद्धति का अर्थ प्रबन्धन (Financing) करता है अथवा जो उसको खोज निकालता है। लाभ उसको प्राप्त होता है जो नई पद्धति को चालू करता है। इस प्रकार लाभ का कारण पूजी नही होती वरन् उत्पादन साधनो के नये सयोगों को काम मे लाने की इच्छा तथा उसकी कर्मठ शक्ति ही लाभ के कारण होते हैं। क्लार्क के समान प्रो० शुम्पाटर का भी मत है कि लाभ साहसी को इसलिये नही मिलता कि वह जोखिम उठाता है। साहसी कोई जोखिम नही उठाता। जोखिम उठाने वाला पूंजीपति होता है। यदि व्यापार फेल हो जाय तो पूजीपति को ही हानि होती है, साहसी को कोई हानि नही होती। यदि साहसी को कोई हानि होती है तो वह उसके साहसी होने के कारण नही होती। पूजीपति के रूप में उसे यह हानि होती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रो० शुम्पाटर के प्रवैगिक परिवर्तन प्रो० क्लार्क के परिवर्तनो से अधिक व्यापक हैं प्रो० शुम्पाटर प्रवैगिक परिवर्तनो में वे सब

परिवर्तन सम्मिलित करते हैं, जिनके कारण कि उत्पादित वस्तु की वर्तमान कीमत तथा उसकी नई लागत में अन्तर हो जाता है।

प्रो० शुम्पाटर लाभ को अन्य प्रकार की आयो से भिन्न मानते हैं। उनका मत है कि जब उत्पादन की नई पद्धति के कारण लाभ प्राप्त होता है तब साहसी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही होता। यदि साहसी अपनी उत्पादन की नव पद्धति के भेद को कुछ समय पर्यन्त स्वय तक सीमित रख सके, तब उसके लाभ मे विक्रयेकाधिकारिक आय का पुट आ जाता है। यदि वह अपने भेद को स्थायी रूप से अपने पास रख सकता अथवा वह नये आने वालो से कोई समझौता कर लेता है तो लाभ स्थायी रूप से विक्रयेकाधिकारिक आय का रूप धारण कर लेता है। परन्तु स्थायी विक्रयेकाधिकारिक आय को हम लाभ नही कह सकते। ब्याज, लगान तथा मजदूरी भी स्थायी आय होते हैं परन्तु लाभ अस्थायी आय होती है।

क्लाक तथा शुम्पाटर दोनो का ही मत है कि जब पू जी का केन्द्रीकरण होता है तब लाभ बढते हैं। दोनो यह भी मानते है कि लाभ बढने से पू जी का केन्द्रीकरण भी बढता है। इस प्रकार लाभ उन्नति का कारण भी है तथा उसका परिणाम भी।

आलोचनायें —

क्लार्क तथा शुम्पाटर दोनो ही यह मानते हैं कि साहसी को कोई जोखिम नहीं उठानी पडती। परन्तु वे इस बात को भूलते हैं कि वह व्यक्ति जो व्यापार सचालन का निर्णय करता है, व्यापार की सफलता के विषय मे निश्चित नही होता। यदि पू जीपति भी जोखिम उठाता है तो वह साहसी के रूप म ही ऐसा करता है, पू जीपति के रूप मे नही। यदि पू जीपति के रूप मे उसको कोई हानि होती है तो वह अकस्मात् ही होती है। पू जीपति पू जी लगाने का काई निर्णय नही करता। वह केवल अपनी पू जी उधार देता है। उधार देते समय वह उधार लेने वाले की साख के विषय मे अधिक चिन्ता करता है। पू जी का उधार ल कर उधार लेने वाला उसको किस उद्योग मे लगायेगा। यह निर्णय पू जीपति नही करता, उसको तो केवल पू जी का ब्याज ही मिलता है लाभ का कोइ अश नही मिलता। उसको ब्याज मिलता ही रहता है, चाह व्यापार मे लाभ हो अथवा हानि। इसलिय यह कहना, कि पू जीपति जोखिम उठाता है, गलत है।

प्रो० नाइट का मत है कि प्रवैगिक परिवर्तन लाभ को तभी जन्म दे सकत हैं जबकि उनके परिणामो का अनुमान न लगाया जा सके। परन्तु यदि नवीनीकरण करने वाला अपनी उत्पादित वस्तु की लागत तथा कीमत पर अपने कार्य के प्रभाव का अनुमान पहले से ही लगा सकता उसको जो कुछ प्राप्त होगा वह उसकी उच्च योग्यता का प्रतिफल होगा। इस प्रकार के प्रतिफल को लाभ नही कहा जा सकता।

श्री हॉले (Hawley) का मत—प्राय सभी अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि साहसी को लाभ इसलिये प्राप्त होता है कि वह व्यापारिक जोखिम उठाता है। जोखिम के सिद्धान्त के साथ हॉले का नाम सम्बन्धित है। हॉले का मत है कि साहसी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह जोखिम उठाता है। जोखिम हर प्रकार के व्यापारो मे निहित है। इस जोखिम को उठाने के कारण ही उत्पादन कार्य चलता है। परन्तु कोई भी आदमी उस समय तक जोखिम उठाना पसद नहीं करेगा जब तक कि उसको कुछ प्रतिफल मिलने की आशा न हो। वह प्रतिफल, जो जोखिम उठाने वाले व्यक्ति अथवा साहसी को मिलता है, लाभ कहलाता है। यह लाभ पूंजी पर प्राप्त होने वाली साधारण औसत आय से अधिक होना चाहिये अन्यथा कोई भी व्यक्ति जोखिम उठाना पसद न करेगा। चूंकि जोखिम उठाने का कार्य हर एक आदमी नही कर सकता इसलिये साहसियों की सख्या कम होती है तथा प्रतियोगिता की कमी के कारण लाभ की मात्रा बढ जाती है।

प्रो० कारवर (Carver) का मत है कि साहसी को लाभ इसलिये प्राप्त नही होता कि वह जोखिम उठाता है वरन् इसलिये मिलता है कि उच्च-स्तर के साहसी जोखिम को कम कर देते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर लाभ का कारण जोखिम उठाना नही बल्कि जोखिम को कम करना है।

प्रो० नाइट (Knight) का मत—प्रो० नाइट का मत है कि साहसी को तीन प्रकार की आय प्राप्त होती है। पहली, उसको व्यवस्था का काम करने के बदले प्राप्त होती है। दूसरी, उसको अपनी उस भूमि व पूंजी की आय के रूप मे मिलती है जो कि उत्पादन कार्य मे लगाई जाती। इन दोनो के पश्चात् जो शेष बचता है। वह बचत के रूप मे होता है। यही वास्तविक लाभ होता है।

प्रो० नाइट का मत है कि व्यापारी को लाभ इसलिये मिलता है कि वह उत्पादन कार्य की अनिश्चितता (Uncertainty) को सहन करता है। जिस प्रकार पूंजीपति को प्रतीक्षा के कारण ब्याज मिलता है उसी प्रकार साहसी को व्यापार की अनिश्चितता सहन करने के कारण लाभ प्राप्त होता है।

प्रो० नाइट जोखिम तथा अनिश्चितता मे भेद करते हैं। उनका मत है कि सब प्रकार की जोखिम अनिश्चतता के कारण उत्पन्न नही होती। बहुत सी ऐसी जोखिमे होती हैं जिनका बीमा किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, आग, चोरी, बाढ, भूचाल आदि के कारण होने वाली जोखिमो का बीमा कराया जा सकता है। यदि इनमे से कोई भी आपत्ति क्षति पहुचायेगी तो बीमा कम्पनी उस क्षति को पूरा करेगी। इसलिये व्यापारी को इस प्रकार की जोखिम की कोई चिन्ता नहीं होती।

परन्तु इसके अतिरिक्त व्यापार मे अन्य कई प्रकार की जोखिमे होती हैं। साहसी को चाहे वह एक हो या हजारो हिस्सेदार, हो, किसी निश्चित आय की

गारन्टी नहीं होती। व्यापारी की आय पर सैकड़ों बातें प्रभाव डालती हैं जैसे फैशन मे परिवर्तन हो जाय, उत्पादन विधि मे टैक्नोलोजिकल उन्नति हो जाय, बाजार म उत्पादित वस्तु की माग घट जाय अथवा उसके प्रति सरकारी नीति मे परिवर्तन हो जाय आदि आदि।

एक स्वतन्त्र प्रयोगक आर्थिक व्यवस्था मे ये सब बातें अपना प्रभाव डाल बिना नही रह सकतीं। फैशन मे आये दिन परिवर्तन होते रहते हे जिसके कारण नई-नई वस्तु की मागें पैदा होती रहती है और पुरानी की समाप्त होती रहती है। रुचिया बदलती रहती हैं जिसके कारण नई-नई चीजो की मागें उत्पन्न होती रहती है। यही कारण है कि आजकल हम अपने पूवजो की अपेक्षा सैकडो, हजारो नई-नई चीजो का उपभोग करते हैं। फैशन व रुचि मे परिवर्तन होन पर जब पुरानी वस्तुओ की माग समाप्त हो जाती है तब उन वस्तुओ के उत्पादको को घाटा होने लगता है तथा अन्त मे वे उद्योग को बन्द कर देते हैं। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के उत्पादन की नई विधि ज्ञात करली जाती है तब पुरानी विधि से उत्पादन काय करने वालो को घाटा होने लगता है और यदि उत्पादक उत्पादन की नई विधि को नही अपनाते तो उनको अपना कार्य बन्द करना पडता है। बहुधा ऐसा होना है कि सरकार की विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति परिवर्तित हो जाती है जिसके कारण उत्पादक को हानि हो सकती है। उदाहरण के लिये, यदि सरकार स्वतन्त्र व्यापार की नीति को अपनाये जैसा कि भारत सरकार ने प्रथम महायुद्ध से पूर्व किया था, तब देशी उद्योगो को बहुत क्षति पहुँचती है। बहुधा ऐसा होता है कि उत्पादक माग का सही अनुमान नही लगा पाता जिसके कारण अत्यधिक उत्पादन हो जाता है और उत्पादक को हानि होती है। यह भी सम्भव है कि कच्चे माल की कीमत व मजदूरी बढ जाय अथवा पूजी की कमी के कारण ब्याज की दर बढ जाय तथा इस प्रकार उत्पादित वस्तु की लागत तो बढ जाये परन्तु किसी न किसी कारण से वस्तु की बाजार कीमत पहले जितनी ही रहे। ऐसी हालत मे उत्पादक को हानि होनी स्वाभाविक ही है। इस प्रकार की अन्य बहुत सी बात होती हैं जो कि व्यापारी के लाभ पर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। इन सब प्रभावो के कारण व्यापारी का लाभ अनिश्चित होता है। इस अनिश्चितता के कारण बहुत से व्यक्ति व्यापार करते ही नही। परन्तु जो इस प्रकार की अनिश्चितता की परवाह नहीं करते वे व्यापार अथवा उत्पादन करते है। इस प्रकार के व्यक्तियो के पास घाटा होने की अवस्था में उस घाटे को सहन करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए अन्यथा इनको जोखिम किस बात की होगी। इस प्रकार की अनिश्चितता के कारण होने वाली हानि का कोई बीमा कम्पनी बीमा नही करती। इसलिये इस प्रकार की जोखिमो को साहसियो को स्वय ही सहना पडता है।

प्रो० नाइट का मत है कि लाभ साहसियों को उन जोखिमो को सहन करन के प्रतिफल के स्वरूप मिलता है जिनका बीमा नही हो सकता। परन्तु इस प्रकार की

जोखिमे केवल प्रवैगिक अवस्था मे ही उठानी पडती हैं। स्थैतिक हालतो मे कीमतो व लागतो मे कोई परिवर्तन ही नही होता। ऐसी हालत मे विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन इतनी मात्रा मे होगा कि उस पर लागत और कीमत बराबर होगी। इसलिये ऐसी हालत मे कोई लाभ न होगा। इसलिये हम कह सकते हैं कि लाभ केवल प्रवैगिक हालतो मे ही प्राप्त होता है। परन्तु प्रवैगिक हालतो मे भी दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं। एक वे, जो उत्तरोत्तर होते रहते हैं और उनका अनुमान लगाया जा सकता है, दूसरे वे, जिन परिवर्तनो का पहले ही से अनुमान लगाया जा सकता है। उनके कारण व्यापारियो को कोई हानि नही होती क्योकि वे पहले ही से इन परिवर्तनो से होने वाली हानि से बचने का प्रबन्ध कर लेते है। वे अपनी उत्पादित वस्तुओ की लागतो का उनकी कीमतो से इस प्रकार का सामञ्जस्य कर लेते हैं कि उनको कोई हानि नही होती। इसलिये लाभ का जन्म देने वाले केवल वे प्रवैगिक परिवर्तन होते हैं जिनका पहले से कोई अनुमान नही लगाया जा सकता। इस प्रकार लाभ का कारण प्रवैगिक परिवर्तन न होकर केवल उनके विषय मे अनिश्चितता होती है। वैसे तो प्रवैगिक हालतो म उत्पादन के सभी साधनों को अनिश्चितता का सामना करना पडता है। परन्तु साहसी के अतिरिक्त अन्य सब साधन अपनी अनिश्चितता को साहसी के ऊपर ढकेल देते हैं। इसीलिये साहसी को ही सब अनिश्चितता का लाभ प्राप्त होगा। उसकी हानि भी उसे ही उठानी पडेगी।

छोटे-छोटे व्यापारो मे जहाँ व्यापारी अपना श्रम, अपनी पूजी, तथा अपनी व्यवस्था का ही उपयोग करते हैं वहा लाभ एक मिश्रित आय होती है। परन्तु इस आय मे से भी वास्तविक लाभ का निकालना कोई कठिन काम नही है क्योकि हम उसमे से उसके प्रचलित दर पर श्रम की मजदूरी पूजी का ब्याज तथा उसकी व्यवस्था करने की योग्यता के अनुसार उसकी व्यवस्था का प्रतिफल निकाल सकते हैं उसके पश्चात् इन सबको मिश्रित आय मे से घटा कर हम व्यापारी का लाभ निकाल सकते हैं।

बहुत से अर्थशास्त्रियो ने साहसी की साधनो को समन्वित करने के कार्य पर ही जोर दिया है। यदि समन्वयन का यह अर्थ है कि साहसी उत्पादन के पैमाने को निश्चित करेगा तथा क्या वस्तु बनाई जाये इसके विषय मे निर्णय करेगा, तो वह साहसी के रूप मे ही कार्य करता है। वास्तव मे, बात यह है कि साहसी और व्यवस्थापक के कार्यों मे भेद करना बहुधा बहुत कठिन है। यह बात नही है कि साहसी किसी सुन्दर भवन मे बैठा रहेगा और लाभादा उसके पास लुढकते हुये आते जायेंगे। ऐसे व्यक्तियो को हम वास्तविक अर्थ मे साहसी नही कह सकते। साहसी वह होता है जो कि व्यापार के कार्यों का सचालन करता है। उसकी सफलता व असफलता की परवाह करता है। इस प्रकार उसके प्रतिफल मे व्यवस्था के पारितोषिक का सम्मिलित होना स्वाभाविक ही है।

बहुत से व्यक्ति यह कह सकते है कि लाभ की उपर्युक्त व्याख्या आजकल की परिस्थिति मे ठीक नही बैठती क्योकि आजकल तो बडी-बडी कम्पनियो मे हिस्सेदार, जो कि व्यापार की जोखिम सहन करते हैं, साहसी के कार्य तथा निर्णय नही करते। इस प्रकार के निर्णय करने वाले कम्पनियो मे जनरल मैनेजर, मैनेजिंग डाइरेक्टर तथा उनको सलाह देने वाले कुछ व्यक्ति होते है। बोर्ड आफ डाइरेक्टर तो उनके निर्णय पर केवल रबड की मोहर ही लगाते हैं, परन्तु मैनेजर और मैनेजिंग डाइरेक्टर कम्पनी के या तो हिस्सेदार नही होते या उनके पास कम्पनी के बहुत कम हिस्से होते हैं। ऐसी हालत मे उनको प्राप्त होने वाली आय का रूप साहसी की आय के समान नही होता। उनको तो एक निश्चित वेतन मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यक्ति जो आजकल साहसियो के समान निर्णय करता है अपने सही निर्णय के कारण अधिक लाभ प्राप्त नही करता और न ही उनको अपने निर्णय के गलत होन के कारण कोई हानि ही होती है। हा, इतना अवश्य होता है कि जो मैनेजर अथवा मैनेजिंग डाइरेक्टर सही निर्णय के द्वारा व्यापार को लाभ पहुँचाता है उसको तरक्की दी जाती है, जिसका निर्णय गलत होता है उसको या तो पदच्युत कर दिया जाता है या उसकी तबदीली कर दी जाती है। परन्तु इस प्रकार के लाभ या हानि का मैनेजर अथवा मैनेजिंग डाइरेक्टर के कीमत उत्पादन के निर्णय से कोई सीधा सम्बन्ध नही होता। ऐसी स्थिति मे यह कहना कठिन है कि साहसी का कार्य मैनेजर अथवा मैनेजिंग डाइरेक्टर द्वारा किया जाता है जो कि कीमत उत्पादन सम्बन्धी निर्णय करते हैं अथवा हिस्सेदारो द्वारा किया जाता है जो कि व्यापार मे होने वाले लाभ या हानि को सहन करते है। स्टोनियर हेग का मत है कि आधुनिक उद्योग इसका कोई निश्चित उत्तर नही दे सकता। इसका केवल दुविधाजनक उत्तर ही दिया जा सकता है। हम यह कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से साहसी ही कीमत उत्पादन सम्बन्धी निर्णय करता है, परन्तु व्यवहार मे वह यह कार्य नहीं करता। इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धान्त व्यवहार से भिन्न है। यदि ऐसा है तो फिर सिद्धान्त से क्या लाभ है? परन्तु स्टोनियर हेग का मत है कि बात ऐसी नहीं है। साहसी के कार्य का विश्लेषण करने से हमको पता चलता है कि साहसी का कार्य उचित तथा आन्तरिक दृष्टि से तर्कसगत है। इसमे केवल दोष यह है कि यह एक शताब्दी पुराना है। आजकल भी बहुत स छोटे-छोटे व्यापारी पाये जाते हैं परन्तु बडी-बडी मिश्रित पूजी कम्पनियो की प्रधानता बढती जा रही है। इन कम्पनियो के ऊपर व्यक्तिगत साहसी का सिद्धान्त लागू नही होता। यद्यपि यह बात ठीक है कि व्यक्तिगत साहसी का कार्य इन कम्पनियो पर पूर्ण रूप से अथवा अधिकतर लागू नही होता तो भी यह अन्य तथ्यो तथा समय पर लागू होता है। स्टोनियर हेग का मत है कि पुराने सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है विशेषत उस समय जब कि यह ससार के अधिकतर देशो मे लागू होता है। यह केवल उन देशो मे लागू नही होता जिनमे कि पूजीवादी का स्थान बडे-बडे एकतत्रीय

संगठन (Bureaucratic combine) लेते जा रहे हैं। इनमे व्यापारी, व्यापारी के रूप मे कार्य न करके एक सार्वजनिक सेवक के रूप मे कार्य करता है। साहस एक व्यक्तिगत साहसी का कार्य करता है, परन्तु व्यक्तिगत साहसियो की सख्या आजकल समाप्त होती जा रही है। यह बात सत्य है कि यह सिद्धान्त कभी लागू अवश्य होता था। सच यह है कि यह पूर्ण रूप से विकसित होने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।*

आलोचनायें—

(१) इस सिद्धान्त मे अनिश्चितता सहन करने को उत्पादन का एक साधन माना गया है, परन्तु बात ऐसी नही है। जिस प्रकार एक मजदूर अरुचिकर परिस्थिति मे काम करने से ऊंची मजदूरी प्राप्त करता है उसी प्रकार एक व्यापारी अनिश्चितता सहन करने के कारण अधिक लाभ प्राप्त करता है, परन्तु जिस प्रकार हम अरुचिकर परिस्थिति को उत्पादन का एक साधन नही कह सकते उसी प्रकार अनिश्चितता को भी हम उत्पादन का एक साधन नही मान सकते। अनिश्चितता सहन करना साहसी के बहुत से कार्यों मे से एक है। इसके लिये भी साहसी को कुछ लाभ प्राप्त होता है, परन्तु सारे लाभ का यही कारण नही है। शेष लाभ उसको इसलिये मिलता है कि वह उत्पादन के साधनो को एकत्र करता है, उनको ठीक मात्रा तथा निष्पत्ति मे उत्पादन कार्य मे लगाता है तथा उत्पादन कीमत सम्बन्धी नीति निर्धारित करता है। इन सबके लिये भी उसको कुछ लाभ प्राप्त होता है।

(२) साहसी की पूर्ति अनिश्चितता के कारण कम नही होती है। उसके अन्य कारण भी हैं, जैसे कोष, ज्ञान एव उपयुक्त अवसर का अभाव, आर्थिक सघर्ष आदि।

अन्य विचार—

कुछ अर्थशास्त्रियों ने लाभ को भी अन्य साधनो के प्रतिफल के समान सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि किसी उद्योग मे साहसियो की सख्या इस बात पर निर्भर होती है कि वे उस उद्योग मे क्या कमाते हैं अर्थात यह उनकी सीमान्त उत्पादनीयता पर निर्भर होती है। अब यहा प्रश्न उठता है कि साहस के सीमान्त उत्पादनीयता वक्र का क्या रूप होगा। इस प्रश्न का उत्तर किसी विशेष उद्योग मे साहसियो की सीमान्त आय उत्पादनीयता का अध्ययन करके दिया जा सकता है, परन्तु साहस की सीमान्त आय उत्पादनीयता को ज्ञात करना उतना सरल नही है जितना कि वह भूमि, श्रम व पूंजी के सम्बन्ध मे है क्योंकि हम किसी उद्योग मे एक साहसी की सीमान्त आय उत्पादनीयता का उसी उद्योग के आधे अथवा दो साहसियो की सीमान्त आय उत्पादनीयता से तुलना

* *Stonier and Hague*—A Text Book of Economics Theory Pp 317 to 324.

करके मालूम नही कर सकते। किसी साहसी द्वारा उत्पादन कार्य मे दिये गय योगदान को हम उस समय द्वारा भी नही माप सकते जिसमे कि वह उत्पादन सम्बन्धी निर्णय करता है। साहसी की क्रिया को मापने के भी अन्य कोई ढग नही हैं। ऐसी स्थिति मे किसी फर्म के साहसी की सीमान्त आय उत्पादनीयता का ज्ञात करना असम्भव सा है।

परन्तु जहा किसी एक फर्म के साहसी को सीमान्त आय उत्पादनीयता को ज्ञात करना कठिन है वहा किसी उद्योग मे लगे हुये सब साहसियो की सख्या मे परिवर्तन किया जा सकता है। तथा ऐसी सम्भावना के कारण हम उस उद्योग के सीमान्त साहसी की सीमान्त आय उत्पादनीयता को ज्ञात कर सकते हैं, परन्तु ऐसा करते समय हमे यह उपधारणा करके चलना पडेगा कि सब साहसी समान गुण वाल हैं तथा उनमे स किसी का भी दूसरे द्वारा स्थानापन्न किया जा सकता है। साहसी की सीमान्त उत्पादनीयता को हम निम्नाकित चित्र द्वारा दिखा सकते हैं—
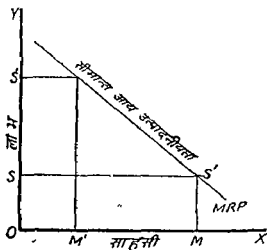
उपर्युक्त चित्र मे OX पर साहसी तथा OY पर लाभ दिखाया गया है। MRP किसी उद्योग का सीमान्त आय उत्पादन वक्र है। यह वक्र बायी ओर से दायी ओर को नीचे गिर रहा है। इस वक्र की नीचे गिरने की प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि कम साहसियों के होने से लाभ अधिक तथा अधिक के होने से कम हो जायगा। Ss साहसियो का पूर्ति वक्र है। यह क्षैतिज अक्ष के समानान्तर एक सरल रेखा है क्योंकि हम उपधारणा करके चले हैं कि सब साहसी गुण म समान है। इसलिये उन सबका सामान्य लाभ OS के बराबर होगा। यह उनकी हस्तातरित आय (**Transfer earning**) भी है। इससे कम आय प्राप्त होने पर इस उद्योग के साहसी इस उद्योग को छोडकर दूसरे उद्योग मे चले जायगे। साहसियों

की पूर्ति कम होने से लाभ बढ जायगा । लाभ बढने पर साहसी दूसरे उद्योगो को छोडकर उस उद्योग मे पुन आ जायेंगे । इस प्रकार उद्योग मे लाभ की मात्रा अन्त म OS के बराबर हो जायेगी ।

पृष्ठ ८२० पर दिये गय चित्र मे OM साहसी होने पर स स्थिति उत्पन्न होती है । इस अवस्था मे प्रत्यक साहसी को OS लाभ प्राप्त होना है । परन्तु OS लाभ सामान्य लाभ है जो कि दीर्घकाल मे साहसियो को प्राप्त होगा । अल्पकालीन अवधि मे साहसियो की पूर्ति केवल OM हो सकती है तथा उनका लाभ OS हो सकता है जो कि सामान्य लाभ OS से बहुत अधिक है । पूर्ण प्रतियोगिता होने पर यह अल्पकालीन अत्यधिक लाभ साहसियो के बीच होन वाली प्रतियोगिता के कारण समाप्त हो जायगा । परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे साहसी इस अत्यधिक लाभ को स्थायी रूप से कमा सकत हैं ।

आलोचनायें—

साहस के सीमान्त उत्पादनीयता सिद्धान्त के विरुद्ध भी कुछ आलोचनाये की गई हैं । आलोचको का कहना है कि उत्पादन के अन्य साधनो को बहुत थोडी-थोडी मात्रा मे बढा-घटाकर हम उनकी सीमान्त उत्पादनीयता का पता लगा सकते हैं परन्तु साहसी को थोडी मात्रा म बढाना घटाना असम्भव है । साहसी एक से कम नही बढाया-घटाया जा सकता । लेकिन, चू कि एक उद्योग मे प्राय एक ही साहसी होता है इसलिये उसको हटाने से सारा उद्योग ही चौपट आ जायेगा । इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अन्य साधनो की सीमान्त उत्पादनीयता तो साहसी निकाल लेता है परन्तु अपनी सीमान्त उत्पादनीयता को वह कैसे निकाले क्योकि वह ऐसा तभी कर सकता है जबकि वह उस उद्योग से हट कर अपनी अनुपस्थिति का प्रभाव उस उद्योग पर देखे । परन्तु उसके हटते ही सारा उद्योग ही चौपट हो जायेगा । इसलिये साहस की सीमान्त उत्पादनीता को हम सीधे ढग से ज्ञात नहीं कर सकते । उसको साहसियो के बीच होने वाली प्रतियोगिता के आधार पर ही परोक्ष रूप से मापा जा सकता है ।

ऊपर हमने विभिन्न विद्वानो के लाभ सम्बन्धी विचारो का अध्ययन किया है । इनके अध्ययन से हमको पता चला है कि प्रत्येक विद्वान ने साहसी के एक विशिष्ट कार्य को ध्यान मे रखकर ही लाभ की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है । परन्तु यदि हम विचारकर देखें तो हमको पता चलेगा कि साहसी बहुत से कार्य करता है । वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क मे व्यापार अथवा उद्योग चालू करन की बात आती है । उसके पश्चात् वह उत्पादन के अन्य साधनो को एकत्र करता है तथा उनको उत्पादन कार्य मे इस ढग से लगाता है कि उनसे अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त हो सके । वही उत्पादन तथा कीमत सम्बन्धी नीति को निर्धारित करता है । उसको यह सब काय करत समय बहुत से निर्णय करने पडते

हैं। उसके निर्णय का सही या गलत होना उसकी सहज अथवा अर्जित योग्यता पर निर्भर होता है। उसके कार्य का सुचारु रूप से सचालन -उसकी व्यवस्था करने की योग्यता पर निभर होता है। लाभ के अन्दर इन सब चीजो का प्रतिफल सम्मिलित होता है। इसके अतिरिक्त उसको जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता सहन करने का भी प्रतिफल प्राप्त होता है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि लाभ का कारण साहसी की वे सब क्रियाये होती हैं जिनके द्वारा व्यापार अथवा उद्योग लाभ प्राप्त करने की स्थिति मे पहुँचता है।

— o —

२६

आर्थिक विश्लेपण में यंत्र-विज्ञान तथा गणित आदि के प्रत्ययों का प्रयोग

पाश्चात्य देशो मे यन्त्र-विज्ञान (Mechanics) की उन्नति के साथ-साथ लोगो के दृष्टिकोण मे भी पर्याप्त परिवर्तन आते गये। विज्ञान की कल्याणकारी खोजो ने मनुष्य को नय दृष्टिकोण, नयी आशायें तथा नया विश्वास दिया। फल यह हुआ कि सामाजिक विचारो मे भी आमूल परिवर्तन आये। विभिन्न शास्त्रो के वैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया जाने लगा, सर्वत्र वैज्ञानिक तथ्यो की तलाश की जाने लगी। वैज्ञानिक विधियो पर जोर दिया गया तथा तमाम शास्त्रो को वैज्ञानिकता प्रदान करने की कोशिश की जाने लगी। अत सामाजिक शास्त्रो मे भी गणित तथा विज्ञान के प्रत्ययो का समावेश प्रारम्भ हो गया। १८वी शताब्दी तक मनुष्य मे 'प्राकृतिक-व्यवस्था' के प्रति आस्था काफी जोर पकड गई थी। लोग सामाजिक क्षेत्र मे भी घटनाग्रो को आकस्मिक न मान अब उनमे कार्य-करण का सम्बन्ध ढूंढने लगे थे। समाज मे भी यान्त्रिकता के उपमान खोजे जाने लगे। जहा तक सभव हो सका सामाजिक शास्त्रो के पण्डित भी गणित की भाषा बोलने तथा समझने का प्रयास करने लगे। अन्य शास्त्रो की भाति अर्थशास्त्र को भी वैज्ञानिकता प्रदान करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। इसकी विधियो मे गणित तथा भौतिक विज्ञानो के प्रत्ययो का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। फलत आज हम देखते हैं कि गणित के माध्यम से अर्थशास्त्र की व्याख्या करने का प्रयत्न अत्यन्त व्यापक हो चुका है। अस्तु, हमारे लिये यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र के इस पहलू पर भी हम एक दृष्टिपात कर ले। यहा हम अर्थशास्त्र के सदर्भ मे प्रयुक्त होने वाले गणित तथा भौतिक विज्ञानो के उपमानो तथा पदो आदि का एक सक्षिप्त परिचय देगे।*

संहृति, परिवर्तनशील तत्व तथा कार्यकरण

आर्थिक व्यवस्था को हम एक संहृति (System) मान सकते हैं। संहृति पद यन्त्र-विज्ञान से लिया गया है, जिसका अर्थ पदार्थो के ऐसे समूह अथवा समुदाय स है

* पीछे अध्याय ३ भी देखिये।

जिसमे भिन्न भिन्न परिवर्तनशील तत्व* (अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थ) एक दूसरे से कार्य-करण के सम्बन्ध मे बधे हो। परिवर्तनशील तत्वों से हमारा अभिप्राय ऐसी राशियो से है जो परिवर्तित होती हैं तथा जिनमे हमारी दिलचस्पी होती है। इस दिलचस्पी का कारण या तो यह होगा कि ये परिवर्तनशील तत्व अपने परिवर्तन द्वारा अन्य परिवर्तनशील तत्वो को प्रभावित करते हैं अथवा इनमे परिवर्तन स्वयमेव महत्वपूर्ण होता है। हमारी आर्थिक-व्यवस्था सहति ऐसे ही परिवर्तनशील तत्वो से बनी है। इस सहति मे परिवर्तनशील तत्वो का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ट होता है, वे एक दूसरे से कार्य-करण के रूप मे सम्बद्ध होते हैं। 'कारण' पद मूलत दर्शन से लिया गया है। स्थूल रूप से हम किसी ऐसी चीज अथवा घटना को 'कारण' कह सकते हैं जो किसी परिवर्तन, गति अथवा कार्य के लिये उत्तरदायी हो। ऐसे परिवर्तन, गति अथवा कार्य को उस 'कारण' का 'कार्य' कहा जाता है। 'कारण' के नियम हमे यह बताते है कि कोई घटना आकस्मिक नही होती, प्रत्येक घटना का एक 'कारण' होता है। वही 'कारण' सर्वदा एक ही उसी 'घटना' को जन्म देता है। बेन इस नियम को इस प्रकार बताते हैं—घटने वाली प्रत्येक घटना निश्चयपूर्वक तथा समरूपेण किसी पूर्ववर्ती घटना अथवा घटनाओ से सम्बद्ध होती है जिसके (या जिनके) घटने पर यह घटती है, तथा जिसके (या जिनके) असफल होने पर यह असफल हो जाती है।"** जे० एस० मिल ने 'कारण' को किसी घटना का अपरिवर्तनशील शर्त रहित पूर्वगामी कहा है।† मिल का अनुसरण करते हुये सी० रीड ने 'कारण' की परिभाषा इस प्रकार की है—"किसी घटना का कारण गुण के दृष्टिकोण से, इसका अपरिवर्तनशील शर्त रहित तत्कालिक पूर्वगामी होता है, तथा परिमाण के दृष्टिकोण से, कार्य के बराबर होता है।"‡ इसका अर्थ यह हुआ कि कार्य तथा कारण परस्पर सम्बद्ध होते है। कारण कार्य का सदा पूर्वगामी होता है, अर्थात् कारण पहले, कार्य बाद मे आता है। उदाहरण के लिये यदि हम कहे कि मुद्रा-स्फीति का 'कारण' मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि समय के दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति से पहले आयेगी। यही नही कि 'कारण' कार्य का पूर्वगामी होता है, बल्कि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार यह अपरिवर्तनशील पूर्वगामी होता है, अर्थात् यह

---

* अध्याय ३ देखिये।

** 'Every event that happens is definitely and uniformly connected with some priors event or events which happening it happens and which failing, it fails " —*Bain*

† We may define the cause of a phenomenon to be the antecedent, or the concurrence of antecedents on which it is invariably and unconditionally consequent." *J. S. Mill*

‡ "The cause of an event is qualitatively, its invariable unconditional immediate antecedent, and quantitatively equal, to the effect," —*C Read*

सर्वदा दिये हुये कार्य के पहले घटित होगा। ऊपर के उदाहरण मे यदि मुद्रा-स्फीति से पूर्व सदैव मुद्रा परिमाण मे वृद्धि न हो तो मुद्रा परिमाण मे वृद्धि मुद्रा-स्फीति का कारण नही हो सकती। इस प्रकार 'कारण' कार्य का न केवल अपरिवर्तनशील अपितु शर्त रहित पूर्वगामी होता है। सब पूर्वगामी घटनाए 'कारण' नही बन सकती। उदाहरण के लिये, दिन तथा रात एक दूसरे के पूर्वगामी होते हैं किन्तु उनमे से किसी को भी दूसरे का कारण नही कहा जा सकता, क्योकि रात दिन का होना कई अन्य शर्तों पर निर्भर होता है, जैसे पृथ्वी का अपने अक्ष पर घूमना तथा इसकी सूर्य से सापेक्षित स्थिति आदि। इसी तरह कारण के बाद तत्काल 'कार्य' उत्पन्न हो जाता है, इन दोनो के बीच कोई अन्य घटना नही घटती।

अब परिमाण के दृष्टिकोण से, उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर, कारण कार्य के बराबर होता है। अर्थात् कारण मे पदार्थ का परिमाण, तथा शक्ति रूपान्तरित होकर कार्य बन जाते हैं। अत जो पदार्थ-मात्रा तथा शक्ति 'कारण' मे होती है, वही रूपान्तरित रूप म पूर्ण त्या कार्य मे आ जाती है।

कार्य तथा कारण का उपर्युक्त परिचय अत्यन्त सक्षिप्त तथा सरल है। इसका देना आवश्यक इसलिये था कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे 'कार्य-करण' के सम्बन्धो को हम समझ सकें। यद्यपि 'कार्य-कारण दर्शन शास्त्र म अत्यन्त विवादपूर्ण विषय है तथा रहा है। आधुनिक दार्शनिकों ने 'सभाव्यता' (Probability) के प्रत्यय को समावेशित कर 'कारण' के प्रत्यय को बडा गूढ बना दिया है। कुछ विचारक तो यहा तक कहने लगे हैं कि "मुझे आशा है कि भविष्य का विज्ञान कार्य तथा कारण के प्रत्यय का परित्याग कर देगा ....। वास्तव मे ऐसा महसूस करने वाला मैं अकेला ही नही हू कि इन प्रत्ययो पर अधविश्वास का एक गहरा रग चढा हुआ है।"[1] हम इस विषय पर अब और आगे विचार न करेंगे क्योकि ऐसा करने से अपने अध्ययन के मुख्य विषय अर्थशास्त्र से हम दूर चले जायेंगे।

सामाजिक विज्ञानो मे कार्य-करण का प्रत्यय और अधिक उलझा हुआ तथा जटिल बन गया है। इसका कारण यह है कि इन विज्ञानो मे मानव हेतुक अत्यन्त प्रभावशाली तत्व होते हैं। इनमे अचेतन कार्य-कारण सम्बन्ध के साथ-साथ हमे हेतुक के अनियमित तथा अनियत्रित शक्ति के प्रभाव का भी ध्यान रखना पडता है। सामाजिक कारणो मे भौतिक शर्तों के साथ साथ गु थे हुए, मानव हेतुक सम्मिलित होते हैं। कभी-कभी इन्ही मानसिक हेतुको को (न कि भौतिक घटनाओ को) हम

---

1 "I hope that the science of the future will discard the idea of cause and effect, as being formally obscure and in my feeling that these ideas contain a strong tincture of fetishism I am certainly not alone"

—Mach, as quoted by *J L Stoks* in *Time, Cause ane Eternity* (London, 1938) Pp 42–43

कारण कहते हैं, जैसे यह कहना कि द्रव्य की इच्छा ही ब्याज-दर के ऊंची होने का कारण है। कभी कभी हम अत्यन्त मिश्रित तथा जटिल सम्बन्धो का कार्य-कारण के सूत्र मे बाधने का प्रयत्न करते हैं, जैसे हम यह कहते हैं कि बैंको की साख तथा कीमतो मे वृद्धि के बीच अत्यन्त जटिल रिश्ता है। फिर जलवायु भी कारण का कार्य करती कही जाती है।

उपर्युक्त तीनो दृष्टातो से यह स्पष्ट है कि सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्रमे कार्य कारण के सम्बन्ध उतने स्पष्ट वैज्ञानिक तथा निश्चित नही होते जितने भौतिक विज्ञानो के क्षेत्र मे। ऐसे सम्बन्धो को कार्य-कारण के रूप मे लेने के दो उपाय हैं—एक यह कि यदि हम इस प्रकार के मानसिक या जटिल उद्दीपनो के वैयक्तिक प्रत्युत्तरो* का सामूहीकरण कर लें तो 'सम्भाव्यता की विधि से हम ऐसे सम्बन्धो को कार्य करण मान सकते हैं। दूसरे, यदि हम परिस्थितियो को इतना सरल बनायें कि हेतुक प्रत्युत्तरो के बारे मे सरल अनुभव जन्य साधारणी करण सम्भव हो सके तो उपर्युक्त दृष्टान्तो मे कार्य-कारण सम्बन्ध की उपस्थिति मानी जा सकती है। आर्थिक सिद्धान्त इसी बाद वाले तरीके का अनुकरण करता है तथा आर्थिक परिस्थितियो मे मानव हेतुक-प्रत्युत्तरो के सम्बन्ध मे कुछ सरल तथा अत्यन्त साधारण निर्देशो वचनो** (Propositions) के आधार पर एक विस्तृत तथा पेचीदा सहति का विकास किया गया है। वास्तविक हेतुक-कारण घटनाओ को आर्थिक आचरणो सम्बन्धी निर्देश-वचनो के एक समूह के अन्तर्गत ले आया गया है। यही निर्देश-वचन (या नियम) आर्थिक विश्लेषण के क्षेत्र का निर्धारण करते हैं। इन्ही निर्देश-वचनो तथा अ-विरोधाभास नियम (Law of non contradiction)*** की सहायता से सस्थिति सिद्धान्त की पचीदा सहति का प्रतिपादन किया गया है।

---

* यदि साप को देख कोई बच्चा चिल्ला उठे तो साप 'उद्दीपन' तथा बच्चे का चिल्लाना उसकी 'प्रत्युत्तर' (या प्रतिक्रिया) कहलावेगा। प्रकृति में तमाम वस्तुए इसी 'उद्दीपन-प्रत्युत्तर' के सम्बन्ध मे क्रियाशील होती हैं।

** निर्देश-वचन (Proposition) किसी निर्णय को जब भाषा मे व्यक्त किया जाता है तो वह निर्देश-वचन बन जाता है। मौलिक रूप से, यह दो पदो के बीच सम्बन्ध की उपस्थिति या अनुपस्थिति बताता है, जैसे 'मनुष्य मरणशील है' मे मनुष्य की मरणशीलता का निर्णय दिया गया है। इसी प्रकार 'मनुष्य सस्ते बाजार मे खरीदता तथा महगे बाजार मे बेचता है' एक निर्देश-वचन है।

*** अ-विरोधाभाप नियम, न्यायशास्त्र का शब्द है जिसके अनुसार दो विरोधी गुण एक ही वस्तु के सन्दर्भ मे उसी समय तथा उसी अर्थ मे एक साथ ही सही नही हो सकते। यदि उनमे से एक सही है तो दूसरा अवश्य गलत होगा, (जिसका विलोम भी सही है, अर्थात् यदि एक गलत हुआ तो दूसरा अवश्य सही होगा।) उदाहरण के लिये, एक ही समय तथा उसी अर्थ मे हम यह नही कह सकते

फलन सम्बन्ध तथा प्राचल (Functional Relationships and Parameters)—ऊपर हम कह आये हैं कि आर्थिक व्यवस्था को हम एक संहति मान सकते हैं जिसमे वे परिवर्तनशील तत्व परस्पर कार्य-कारण के सम्बन्ध मे बंधे होते हैं। कार्य कारण के सम्बन्ध को सामाजिक विज्ञानों मे निर्धारित किये जाने की कठिनाई का भी जिक्र हम कर चुके हैं तथा यह बता चुके हैं कि इसको वैज्ञानिकतापूर्ण ढंग से हम अर्थशास्त्र मे प्रयुक्त नही कर सकते। इसीलिये अर्थशास्त्र मे प्राय हम 'कारण' के बदले 'दत्त' (data) तथा कार्य के स्थान पर 'अनुवर्ती' (Consequent) पदों का प्रयोग करते हैं। 'दत्त' तथा 'अनुवर्ती' पद कार्य-कारण की भाँति किसी कड़े तथा अलचीले अनुशासन से नियन्त्रित नही होते।

दो या अधिक परिवर्तनशीलों के बीच 'फलन सम्बन्ध' के उपस्थित होने का अर्थ यह होता है कि उन परिवर्तनशीलों के मूल्य तथा परिमाण परस्पर किसी विचित्र तथा विशिष्ट सम्बन्ध मे बंधे हुए हैं। किसी एक परिवर्तनशील तत्व मे परिवर्तन किसी नियमित तथा पूर्व ज्ञातव्य ढंग से किसी अन्य परिवर्तनशील तत्व मे परिवर्तन से सम्बन्धित होता है। फलन सम्बन्ध के अन्तर्गत एक परिमाण अथवा परिवर्तनशील राशि किसी अन्य परिमाण अथवा परिवर्तनशील राशि से इस प्रकार सम्बद्ध होती है कि दूसरी राशि (या परिमाण) के प्रत्येक मूल्य के संगत पहली राशि का कुछ मान होगा। इनमे से प्रत्येक राशि दूसरे की फलन कहलायेगी।

उदाहरण के लिये, हम किसी वस्तु की कीमत तथा उसकी अभियाचित मात्रा के बीच के सम्बन्ध को लेते हैं। यदि माग अनुसूची (फलन) दी हुई है, तो प्रत्येक कीमत पर वस्तु की एक विशेष मात्रा ही बिकेगी। अभियाचित मात्रा कीमत की फलन हुई, इस दशा मे इसे हम व्युत्क्रम फलन कहेंगे क्योंकि जब कीमत बढ़ती है अभियाचित मात्रा घट जाती है तथा जब वह घटती है तो अभियाचित मात्रा बढ़ जाती है।

फलन सम्बन्ध, कार्य कारण के प्रत्यय को व्यक्त कर सकता है, यद्यपि यह आवश्यक नही। क में परिवर्तन होता है क्योंकि ख में परिवर्तन होता है। फलन सम्बन्ध को हम निम्न प्रकार चिन्हों द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं —

म=फ (की) अथवा म=म (की)	अंग्रेजी में हम इसे इस प्रकार कर व्यक्त सकते हैं। $D=f\ (P)$ $D=D\ (P)$

कि हमारी आर्थिक व्यवस्था मौद्रिक भी है और अमौद्रिक भी। यह हो सकता है कि विभिन्न समयो अथवा उसी समय किन्तु भिन्न भिन्न अर्थों मे इसे मौद्रिक तथा अमौद्रिक कहा जा सके, लेकिन उसी समय तथा उसी अर्थ मे ऐसा नही किया जा सकता। 'क' या तो मनुष्य है या अ मनुष्य, एक ही समय तथा उसी अर्थ म दोनो नही। इसी नियम को विरोधाभास का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

करती है, फिर भी इसका समझ लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिये माग फलन का प्रयोग हम फिर करते हैं। यहा हम तीन परिवर्तनशीलो को लेते हैं, अन्यो को अचल या दिया हुआ मान लेते हैं। इस फलन को हम निम्नलिखित प्रकार दिखा सकते —

$$म_1 = म\ (की_1,\ य)$$

यहाँ माग कीमत तथा उपभोक्ता की आय का फलन है।

आर्थिक मॉडल (Economic Models)—

आर्थिक मॉडल आर्थिक सिद्धान्त की सक्षिप्त व्याख्या है। आर्थिक मॉडल, आर्थिक सम्बन्धो का एक समूह होता है। इन सम्बन्धो मे से प्रत्येक सम्बन्ध मे कम से कम एक परिवर्तनशील तो ऐसा होता है जो इस मॉडल मे शामिल होने वाले कम से कम किसी एक अन्य सम्बन्ध मे भी शामिल हो। उदाहरण के लिये हम किसी वस्तु के माग तथा पूर्ति के सम्बन्ध, जो कीमत तथा विनिमय की जाने वाली मात्रा निश्चित करते हैं को लें। इसको हम इस प्रकार दिखा सकते हैं —

१ म=म (की)

२. प=प (की)

३ म=प

म तथा प का अर्थ क्रमश अभियाचित तथा पूर्ति की हुई वस्तु मात्राओ से है। 'की' वस्तु की कीमत है। यहा हमने कीमत, माग तथा पूर्ति के अतिरिक्त अन्य सभी परिवर्तनशीलो को स्थिर मान लिया है।

मॉडल पूर्ण होना चाहिये, वर्ना उसकी प्रयोजनीयता शून्य होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि समीकरणो की सख्या अज्ञात राशियो की सख्या मे बराबर हो अर्थात् जितनी अज्ञात राशिया हो उतने ही समीकरण हो। उपर्युक्त समीकरणो मे यदि हम केवल किन्ही दो से कीमत या मात्रा निर्धारित करना चाहे तो ऐसा करना सम्भव न होगा, क्योकि माग, पूर्ति तथा कीमत तीन अज्ञात हैं, अत तीन समीकरणों का होना अनिवार्य है।

संस्थिति (Equilibrium)—

प्रारम्भ से यह पद यत्र-विज्ञान, रसायन शास्त्र तथा शरीर क्रिया-विज्ञान (Physiology) में प्रयुक्त होता रहा है। यत्र विज्ञान मे इसका तात्पर्य ऐसी स्थिति से है जहा किसी भौतिक पिण्ड पर कार्य करने वाली विभिन्न शक्तियो का परस्पर सतुलन हो जाता है। गुरुत्व आकर्षण के सन्दर्भ मे बहुधा इस पर विचार किया जाता है। वह बैलून जो वायु मे टिक जाता है और न ऊपर उठने की प्रवृति रखता है न नीचे सस्थिति मे होता है। साइकिल चलाता हुआ व्यक्ति भी इसी सस्थिति को बनाए रखकर अपनी साइकिल चलाता है।

मूलत संस्थिति का प्रत्यय शरीर क्रिया विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इस विज्ञान मे स्नायु नियत्रण के अन्तर्गत मास पेशियो की समुचित शक्ति द्वारा शरीर को इस प्रकार बनाये रखने की क्षमता, कि यह समस्त अगो के सतुलित योगदान द्वारा गतिशील होने मे, अथवा गुरुत्वाकर्षण शक्ति का प्रतिरोध करने मे समर्थ हो, संस्थिति कहलाती है। संस्थिति का अर्थ यहा होता है शरीर का सीधी स्थिति मे नियत्रण। दौडने या चलने म संस्थिति का खो जाना आसानी से देखा जा सकता है, क्योकि ऐसी हालत मे शरीर का गुरुत्व केन्द्र अपनी स्थिति बदलता रहता है तथा दौडने या चलने वाले की शरीर की संस्थिति शरीर को सीधे रखने की क्षमता, अन्य कई बातो पर निर्भर होती है।

अब हम रासायनिक संस्थिति का भी परिचय दे दे। यन्त्र विज्ञान मे कोई सहति संस्थिति मे तब होती है जबकि इस पर काम करने वाली शक्तियो का पारस्परिक सतुलन हो जाय जिससे कि इन शक्तियों का सयुक्त बल सर्वत्र शून्य हो इसी प्रकार कोई सहति अथवा वस्तु मात्रा रासायनिक संस्थिति मे तब कही जाती है जबकि यह ऐसी स्थिति मे हो जहा इसके किसी अवयव मे रासायनिक परिवतन की प्रवृत्ति न पाई जाय। रासायनिक संस्थिति स्थिरता की दशा नही है, यह ऐसी अवस्था है जिसमे किसी दिशा मे प्रतिक्रिया का वेग उसकी विरोधी दिशा मे प्रतिक्रिया के वेग के बराबर होता है।

सक्षेप मे, संस्थिति पद के मूल प्रयोजन तथा अर्थ को समझ लेने के बाद अब हम अर्थशास्त्र मे इस पद के प्रयोग के सम्बन्ध मे विचार करेंगे। मार्शल ने आर्थिक व्यवस्था को एक जीव पिण्ड के समान माना है, आश्चर्य नही कि संस्थिति का प्रयोग उन्होने शरीर क्रिया विज्ञान मे इसके प्रयोग के अर्थ मे किया है।

अर्थशास्त्र मे 'संस्थिति' एक पद्धत्यात्मक (Methodological) प्रत्यय है, वस्तुओ को देखने की एक विधि है। या इस प्रकार कहे कि उन शक्तियो को देखने की एक विधि है जो आर्थिक जगत मे स्थिरता ले आती हैं।

मूलत एक पद्धति के रूप मे संस्थिति का अध्ययन अर्थशास्त्र मे किया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि चू कि वास्तविक जगत मे पूर्ण संस्थिति कभी आ नही सकती अत चिन्तन उपकरण के रूप मे भी इसका प्रयोग बेकार है। लेकिन अर्थशास्त्र मे, प्रयोगिक परिस्थितियो के अन्तर्गत, संस्थिति की अन्तिम अवस्था मे हमारी दिलचस्पी उतनी अधिक नही है, जितनी कि उन शक्तियो मे है जो संस्थिति की प्रवृत्ति को जन्म देती है। हमारी दिलचस्पी उस प्रक्रिया से है जिससे कि ये शक्तिया आर्थिक व्यवस्था को संस्थिति की ओर ले जाने का प्रयत्न करती हैं। किसी भी इकाई का अन्तिम लक्ष्य संस्थिति की प्राप्ति होता है। जब हमारी सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था संस्थिति पर पहुच जायेगी, जहा फर्म इष्टतम उत्पादन करते होगे, उद्योग धन्धे अपने चरम विकास को पहुच चुके होंगे, उत्पादन तथा

कीमतें दीर्घकालीन सस्थिति को प्राप्त हो चुकी होगी, उत्पादन के समस्त प्रसाधन इष्टतम पारितोषिक पाते होगे, अर्थात् जहा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था अधिकतम कार्य-क्षमता प्राप्त करके सर्वाधिक लाभदायक, इष्टतम अवस्था मे पहुच गई होगी, तब 'सामान्य सस्थिति' की अवस्था प्राप्त हो जायेगी।* ऐसी हालत म परिवर्तन का कोई हेतुक तथा उद्दीपन न रह जायगा।

जब केवल एक फर्म अथवा उद्योग धन्धा विकास करते-करते अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जायेगा तो उसे हम आशिक सस्थिति कहेंगे। Partial Equilibrium

वालरस के अर्थ मे सस्थिति का प्रत्यय सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के लिये प्रयुक्त होता है। किसी सहति मे सस्थिति की अवस्था वह होगी जहा व्यवस्था का प्रत्येक गृहस्थी तथा प्रत्येक फर्म, अलग-अलग, सस्थिति मे होगा। "आर्थिक सस्थिति इस बात से निर्धारित होती है कि समस्त सम्बन्धित पक्षो तथा समस्त आर्थिक सहति की सयुक्त उपयोगिता अधिकतम हो" ** लेकिन यहा एक बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि सामान्य सस्थिति के लिये यही पर्याप्त नही कि प्रत्येक फर्म सस्थिति मे हो। प्रत्येक फर्म की सस्थिति सामान्य सस्थिति तभी ला सकती है जब आर्थिक व्यवस्था मे शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थायें पाई जाती हों। लेकिन वास्तविक जगत मे ऐसा पाया नही जाता। सस्थिति उपकरण के प्रयोग से आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने बाजार का एक व्यापक सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है जिससे केवल पूर्ण प्रतियोगिता ही की नही, विक्रयेकाधिकार तथा अन्य अवस्थाओ की भी व्याख्या की जा सकती है। हा, तो हमारी आर्थिक व्यवस्थायें अपूर्ण हैं, इसलिये सम्पूर्ण व्यवस्था मे सामान्य सस्थिति लाने के लिये यह भो आवश्यक शर्तें हैं कि प्रत्येक फर्म न केवल सस्थिति मे हो बल्कि इन फर्मों का एक दूसरे से, उपयोगित ससाधनो से तथा सम्पूर्ण उपभोक्ताओ से एक विशिष्ट, निश्चित, सम्बन्ध हो।

मार्शल द्वारा चिन्तित सस्थिति जो आर्थिक व्यवस्था की इकाइयो, फर्मों, उद्योग धन्धो पर अलग अलग लागू होती है आशिक सस्थिति (Partial Equilibrium) कहलाती है। 'विनिमय' के सदर्भ मे फर्मों तथा उद्योगो के विवेचन मे पीछे इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की जा चुकी है।

पीगू ने तीन प्रकार की सस्थितियो को बताया है*** अस्थिर, तटस्थ तथा स्थिर। कोई सहति स्थिर सस्थिति मे तब कही जाती है जब, यदि कोई छोटा

---

* अध्याय ८ मे पीछे हम उत्पादन की सामान्य सस्थिति पर प्रकाश डाल चुके हैं।

** Papers Relating to Political Economy 3 Vols London 1725, Vol. II P. 255.

*** Economics of Welfare Pp. 794—795

व्यतिक्रम उत्पन्न हुआ, तो तुरन्त ऐसी शक्तियां प्रकट हो जाती हैं जो सस्थिति की स्थापना पुन कर देती हैं। यदि इस व्यतिक्रम के बाद प्रारम्भिक स्थिति म ले जाने वाली शक्तिया तो प्रकट न हुई, लेकिन साथ ही आगे और व्यतिक्रम उत्पन्न करने वाली शक्तिया भी प्रकट नही होती, जिसके फलस्वरूप सहति पहले व्यतिक्रम के बाद जिस अवस्था पर पहुची थी उसी पर स्थिर टिकी है तो सहति तटस्थ सस्थिति मे कही जायेगी। यदि प्रारम्भिक व्यतिक्रम उत्पन्न होने के बाद कोई ऐसी अशाति लाने वाली अधिकाधिक शक्तिया इस प्रकार प्रकट होती गई कि सहति अपनी शुरू की सस्थिति से अधिकाधिक दूर चली जाती है तो सहति अस्थिर सस्थिति म होगी।

पीगू ने उदाहरण भी दिया है। गम्भीर कील पर लगा हुआ जलयान स्थिर सस्थिति मे होगा। करवट पडा हुआ अण्डा तटस्थ सस्थिति मे होगा तथा एक सिरे पर टिकाया हुआ अण्डा अस्थिर सस्थिति मे होगा।

अब हम एक अन्य अत्यन्त आवश्यक विषय, स्थैतिक तथा प्रवैगिक का विवेचन करेंगे और इस सम्बन्ध मे हम पुन सस्थिति के विषय मे कुछ कहेगे।

स्थैतिक तथा प्रवैगिक अर्थशास्त्र (Statics and Dynamics)—स्थैतिक तथा प्रवैगिक दोनों प्रत्यय यन्त्र-विज्ञान (Mechanics) से लिये गये हैं। अत उचित यह होगा कि यन्त्र विज्ञान के सन्दर्भ में इन दोनों पदो के अर्थों को समझ लें। तत्पश्चात् अर्थशास्त्र मे इनके प्रयोग को समझने मे हम कठिनाई कम होगी।

यन्त्र-विज्ञान भौतिक विज्ञान (Physical Science) की एक शाखा है। यह (यन्त्र-विज्ञान) शक्ति, पदार्थ तथा गति का अध्ययन करता है। भौतिक पदार्थ के पिण्डो पर दो प्रकार की शक्तिया कार्य करती हुई मानी जा सकती हैं, एक आन्तरिक, दूसरी वाह्य। गतिजवाद (Kinetic Theory) के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के अणु अथवा परमाणु निरन्तर गति करते हैं। लेकिन पदार्थ के अन्दर काम करने वाली शक्तियाँ इस प्रकार सयाजित होती हैं कि वे एक दूसरे की क्रिया का विरोध कर उसे निष्फल बना देती है। आधुनिक यन्त्र विज्ञान के जनक न्यूटन के तीसरे सिद्धान्त के अनुसार 'प्रत्येक क्रिया के लिये एक समान तथा विरोधी प्रतिक्रिया होती है।"* अत पदार्थ के अन्दर काम करने वाली शक्तियों से उत्पन्न क्रिया प्रतिक्रिया परस्पर एक दूसरे को नष्ट कर देती हैं, जिससे कि प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर तब तक स्थिर रहेगी, अथवा यदि वह गति म है तो तब तक उसी दिशा तथा वेग से गतिशील रहेगी, जब तक कि कोई वाह्य शक्ति उस पर अपना प्रभाव नही डालती। उदाहरण क लिये, एक गेंद यदि भूमि पर स्थिर पडा है तो वह तब तक वैसे स्थिर पडा रहेगा जब तक कि उस पर कोई वाह्य शक्ति नही लगाई जाती है। लेकिन वाह्य

---

* To every action, there is an equal and oppo ite reaction,"
—*Newton's Third Law of Motion*

शक्तियाँ भी ऐसी हो सकती हैं जो परस्पर एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर दें तथा वह अपनी अवस्था में पूर्ववत् रहे। यन्त्र-विज्ञान विशेषत बाह्य शक्ति से ही सम्बन्ध रखता है। वह शक्ति जिसका वस्तुओं पर प्रयोग करने से उनमें गति या गति-परिवर्तन उत्पन्न हो जाय उसे यन्त्र-विज्ञान में शक्ति या बल कहते हैं। यदि किसी स्थिर पिण्ड पर बल का प्रयोग किया जाय तो या तो वह टूट जावेगा अथवा अपने स्थान पर से हट जावेगा और यदि वह गतिशील है तो उसकी गति का वेग तथा उसकी दिशा बदल जावेगी।

स्थिति-विज्ञान (Statics) उन परिस्थितियों का अध्ययन करता है जिनमें भौतिक पिण्ड, भिन्न-भिन्न शक्तियों के द्वारा प्रभावित होने पर अपनी गति तथा दिशा नहीं बदलते। अर्थात्, यदि एक पिण्ड पर विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं, फिर भी वह यदि स्थिर है तो वैसे ही स्थिर रहेगा और यदि गतिमान है तो इन शक्तियों का उसकी दिशा तथा गति-वेग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उदाहरण के लिये वायु में स्थिर गुब्बारा।

इसके विपरीत, गति-विज्ञान (Dynamics) यन्त्र-विज्ञान की वह शाखा है जो शक्तियों (विशेषतया विचाराधीन प्रकृति से बाहर की शक्तियों) के प्रभाव के अन्तर्गत भौतिक कणों की प्रकृति की गति का अध्ययन करता है।० इसका घनिष्ट सम्बन्ध गति से है, पदार्थ तथा शक्ति का अध्ययन यह गति के सन्दर्भ ही में करता है। इसके अध्ययन की विषय सामग्री वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें भौतिक पिण्ड भिन्न-भिन्न शक्तियों के द्वारा प्रभावित होने पर अपनी गति तथा दिशा बदल देते हैं। वायु में, ऊपर आकाश की ओर फेंके हुये पत्थर की गति गति-विज्ञान के अध्ययन का विषय है। गति-विज्ञान का उद्देश्य पिण्ड की उस गति की जाँच-पड़ताल करना है जो उस पिण्ड पर काम करने वाली शक्तियों से प्रभावित होती है।

संक्षेप में इतना समझ लेने के बाद अब हम स्थैतिक तथा प्रवैगिक अर्थशास्त्र के विषय में, विचार करेंगे। लेकिन इसी सम्बन्ध में हमें इस बात का भी ज्ञान होना आवश्यक है कि समाजशास्त्रों में सामान्य रूप से इन प्रत्ययों का समावेश कैसे हुआ।

'स्थैतिक' तथा 'प्रवैगिक' शब्दों का प्रयोग अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र में मुख्यत दो अर्थों में किया जाता है। एक तो इन शास्त्रों में से दोनों को दो प्रमुख भागों में विभक्त करने के लिये, और दूसरे, कभी-कभी, विश्लेषण प्रणाली के दो चरणों को व्यक्त करने के लिये। इन शब्दों का स्पष्ट प्रयोग १९वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हुआ। उस समय तक सामाजिक चिन्तन में यान्त्रिक उपमायें यथेष्ठ स्थान

० अंग्रेजी में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं :

That branch of Mechanics which deals with the motion of a system of material particles under the influence of force, especially those which originate outside the system under consideration.

जा चुकी थी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पूर्व इनके विषय में सामाजिक शास्त्रों में कुछ सोचा ही नहीं गया था। स्थैतिक दशा के प्रत्यय का प्रादुर्भाव बहुत पहले ही हो चुका था। १८वीं शताब्दी में 'प्राकृतिक व्यवस्था' (natural order) में व्यापक आस्था की भूमिका 'स्थैतिक' ही थी। उस समय सामाजिक चिन्तन के स्वर स्थैतिक ही थे। निश्चित मानव स्वभाव तथा निश्चित बाह्य प्रकृति के तारतम्य रखने वाली व्यवस्था की शर्तों की ही उस समय लोग खोज कर रहे थे। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में निर्बाध विनिमय के स्थैतिक यन्त्र में ऐसी व्यवस्था का दिग्दर्शन करने का प्रयत्न किया गया। और इसी सदर्भ में 'स्थिर राज्य' (Stationary State) की कल्पना भी की गई जो निर्बाध-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत, इष्टतम विकास पा सकने में समर्थ माना गया था।

मानव समाज सम्बन्धी विज्ञानों में 'विकास' का प्रत्यय लाने का श्रेय कोत (Comte) को है। वह 'स्थैतिक' को सामाजिक व्यवस्था के शुद्ध सिद्धान्त के रूप में मानता है तथा प्रवैगिक को सामाजिक प्रगति के रूप में। उसके अनुसार 'स्थैतिक' तथा 'प्रवैगिक' दोनों एक होने की प्रवृत्ति रखते हैं, क्योंकि 'व्यवस्था' के नियमों की व्याख्या 'प्रगति' के नियमों द्वारा होती है तथा 'प्रगति' के नियमों की व्याख्या 'व्यवस्था' के नियमों द्वारा।

प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर ने भी विकास को प्रमुख प्रत्यय माना है। स्थैतिक को स्पेन्सर ने एक पूर्णता प्राप्त समाज की संस्थिति का अध्ययन बताया। और इस पूर्णता की ओर अग्रसर होने का जो माध्यम है, उसके अध्ययन को उन्होंने 'प्रवैगिक' की संज्ञा दी।

जे० एस० मिल ने भी कहा कि स्थैतिक स्थिर तथा परिवर्तनहीन समाज का अध्ययन है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्थैतिक तथा प्रवैगिक विषयों पर जे० बी० क्लार्क ने विस्तृत रूप से विचार प्रकट किया।

आज 'स्थैतिक' तथा 'प्रवैगिक' के प्रत्यय आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके हैं।* किन्तु जितने ही अधिक ये प्रत्यय लोकप्रिय बनते जा रहे हैं वैसे ही इनके सही अर्थों को समझना भी जटिल होता जा रहा है। यह गड़बड़ी पैदा करने की जिम्मेदारी कट्टरवादियों पर है। एक ओर तो ऐसे अर्थशास्त्री हैं जिन्होंने इस बात का बीड़ा उठा लिया है कि अर्थशास्त्र को ठोक-पीट कर गणित तथा भौतिकशास्त्र बना देंगे। ऐसे लोगों को चैन तब तक नहीं जब तक कि गणित तथा भौतिक शास्त्रों में पाये जाने वाले प्रत्येक प्रत्ययों के समतुल्य प्रत्यय

* Important modern economics who have made attempt in this direction are —Frisch Samuelson, Harrod, Jan, Tinbergen, Hicks etc.

अर्थशास्त्र में से खोज कर नहीं निकाले जाते। विचार के दूसरे सिरे पर ऐसे लोग हैं जो गणित नाम से पसीने-पसीने हो जाते हैं और जिन्हें अंकों के प्रयोग मात्र से भी नफरत है। स्पष्ट है कि पहली श्रेणी के लोगों द्वारा की गई आर्थिक व्याख्या गणित के अधिक सन्निकट होगी, और दूसरी श्रेणी के लोगों द्वारा की गई व्याख्या गणित से उतनी ही दूर होगी।

अत इन प्रत्ययों का दुरुपयोग भी अर्थशास्त्र में कुछ कम नहीं हुआ। जैसा सेम्युलसन ने कहा है*, प्राय अर्थशास्त्रियों के लेखों मे प्रवैगिक तथा स्थैतिक शब्दों का प्रयोग केवल अच्छे तथा बुरे, यथार्थवादी तथा काल्पनिक, सरल तथा जटिल शब्दों के पर्यायवाची के रूप मे किया जाता है। प्राय. लोग "दूसरे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्थैतिक कहकर उसकी भर्त्सना करते हैं तथा अपने सिद्धांतों को प्रवैगिक कहकर उसका विज्ञापन करते हैं।"**

हम 'स्थैतिक' तथा 'प्रवैगिक' पदों के इस प्रकार के दुरुपयोग पर ध्यान न देकर इनके वास्तविक तथा उपयुक्त पक्ष को देखेंगे। इन दोनों प्रत्ययों में मौलिक भेद है 'समय' का। 'स्थैतिक' खोज में 'समय' का कोई स्थान नहीं, जबकि 'प्रवैगिक' खोज में समय मौलिक सत्ता होती है। अगर हम इससे कुछ आगे बढ़े तो यह कह सकते हैं कि 'प्रवैगिक' का सम्बन्ध परिवर्तन से है तथा 'स्थैतिक' का 'स्थिति' विशेष से। प्रत्येक परिवर्तन में समय का भाव निहित है। समय के एक बिंदु पर हम किसी वस्तु या परिस्थिति को एक हालत में देखते हैं तथा दूसरे बिंदु पर दूसरी हालत मे। तभी हमें परिवर्तन का ज्ञान होता है। एक अवस्था का दूसरी मे चला जाना ही स्थूल रूप से परिवर्तन है। यही 'चलना' प्रवैगिक के प्रत्यय को जन्म देता है और चलना समय के अन्तर्गत होता है।

जब हमारी खोज मे समय के विभिन्न बिंदुओं पर की परिस्थितियों को सम्बद्ध करने वाली किसी वस्तु का समावेश नहीं होता तो इस प्रकार की खोज को हम स्थैतिक कहते हैं। 'स्थैतिक' अध्ययन में समय के अन्तर्गत गति, वृद्धि पिछाड (Lag) अनिश्चय, प्रत्याशा आदि प्रत्ययों का सर्वथा तथा पूर्ण अभाव होता है। प्रो० हिक्स के अनुसार स्थैतिक अर्थशास्त्र मे तिथिकरण (Dating) की समस्या पूर्णरूपेण अनुपस्थित रहती है। † स्थैतिक अर्थशास्त्र से न तो परिवर्तन से कोई वास्ता है न समय से कोई सम्बन्ध। यह आर्थिक व्यवस्था या उसकी किसी इकाई का शांत चित्र प्रस्तुत करता है। आर्थिक सिद्धान्त मे स्थैतिक विधि का प्रयोग सम्भवत. क्वूसने (Quesney) ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से किया था। स्थैतिक अर्थशास्त्र

* Foundations of Eco. Analysis by *Samuelson*, p. 311.

** Ibid.

† "I call economic statics those parts of economic theory where we do not trouble about dating, economic Dynamics thos parts where every quantity must be dated." (Value & Capital, P. 115)

के अध्ययन की विषय-वस्तु स्थिर, ज्ञात तथा सस्थिति प्राप्त अवस्था होती है। हम भूगोल से भी इसका रूपक पा सकते हैं। स्थैतिक विवेचन उस मानचित्र के समान होता है जिस पर धरातल नही दिखाया रहता। अब यदि हमारे खोज की विषय वस्तु समतल भूमि है तो ऐसा मानचित्र हमारे लिये उपयोगी होगा, लेकिन यदि भूमि समतल न हुई और हमे पर्वतो आदि का अध्ययन करना पडा तो स्थैतिक विधि हमारे काम न आ सकेगी।* इसके अध्ययन मे यह उपधारणायें निहित होती हैं कि *हमारे समक्ष कोई चीज या स्थिति अनिश्चित नहीं, न कोई डावाँडोल स्थिति है।*

स्थैतिक विश्लेषण मे यह उपधारणा कर ली जाती है कि उत्पादन इकाइयाँ पूर्ण ज्ञान सम्पन्न प्रबन्धकों के अधीन सुचारु रूप से कार्य कर रही हैं, प्रबन्धकों को भविष्य का पूर्ण ज्ञान है, किसी अज्ञात परिवर्तन के आने का बिल्कुल खतरा नहीं है, तथा अल्पकालीन और दीर्घकालीन अवधियों का कोई प्रश्न ही नही उठता।

लेकिन इससे यह नही समझना चाहिये कि स्थैतिक आर्थिक व्यवस्था (जो स्थैतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु है) मे परिवर्तन होता ही नही। परिवर्तन होता है, किन्तु सुनिश्चित, ज्ञात तथा स्थिरता के साथ। ऐसी आर्थिक व्यवस्था एक ज्ञात तथा पूर्व निर्धारित पथ पर बिना कहीं विचले हुए चलती रहती है। उसकी गति पुनरावृत्ति के अतिरिक्त कुछ नही। यहा सब कुछ पूर्व निर्धारित पूर्व निश्चित तथा पूर्व ज्ञात होता है। अटकलों की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसी आर्थिक व्यवस्था के व्यवहारो को निर्धारित करने वाले नियम ऐसे होते हैं जिनमे समय के परिवर्तनशील तत्व का समावेश नही होता।

स्थैतिक अर्थशास्त्र स्थैतिक आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करता है। इस स्थैतिक आर्थिक व्यवस्था के दो रूप हो सकते हैं। सम्युलसन ने इन्हें स्थैतिक-स्थिर (Static and Stationary) तथा स्थैतिक ऐतिहासिक कहा है**। स्थैतिक अर्थशास्त्र का विषय ऐसी आर्थिक व्यवस्था होती है जो स्थिर है। स्थिर व्यवस्था मे बाजारें तथा प्रतियोगिता—दोनों पूर्ण होते हैं। आर्थिक कारण प्रारम्भ ही से दिये हुए होते हैं। अनिश्चय तथा प्रत्याशा का इसमे कोई स्थान नही होता। उत्पादन मे किसी समायोजन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र मे प्रारम्भ ही से समायोजन पूर्ण होता है। स्वभावत. ऐसी व्यवस्था मे काल अथवा समय कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसी व्यवस्था समय के दृष्टिकोण से स्थिर होती है अथवा इस प्रकार कहे कि यह समय से परे (Timeless) होती है।

स्थैतिक ऐतिहासिक आर्थिक व्यवस्था वह है जिसमे परिवर्तन होते हैं किंतु किसी समय का कोई परिवर्तन या स्थिति किसी अन्य समय की स्थिति अथवा

* Refer to Economic Theory and Method by *F Zenthen*, p. 143

** Foundations of Eco Analysis by *Samuelson*, see Pp 313, 314, 315, etc

परिवर्तन से सम्बन्धित नही होता । ऐसी व्यवस्था भी स्थैतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है। इस प्रकार की व्यवस्था मे किसी परिवर्तन से उत्पन्न परिस्थितियो का अनुकूलीकरण तथा समायोजन तत्काल ही हो जाता है। ऐसी व्यवस्था के अध्ययन के समय स्थैतिक अर्थशास्त्र यह विचार नही करता कि उसकी विषय वस्तुओ का क्रम तथा उनकी समय के दृष्टिकोण से दूरी क्या है। दूसरे शब्दो मे, स्पष्ट रूप से हम यह कह सकते हैं कि स्थैतिक विश्लेषण मे यह उपधारणा कर ली जाती है कि समस्त आर्थिक जीवन का विधान निश्चित तथा दिया हुआ है और सामाजिक आर्थिक दलो (data) मे परिवर्तन के हेतुको का सर्वथा तथा पूर्ण अभाव है।

लेकिन वास्तविक जगत प्रवैगिक है, न कि स्थैतिक। इसीलिये स्थैतिक विश्लेषण का महत्व बहुत सीमित है। आर्थिक जगत मे सब कुछ बदलता रहता है। आर्थिक व्यवस्था के किसी तत्व मे परिवर्तन के फलस्वरूप, उसमे काम करने वाले तमाम तत्वों मे प्रतिक्रिया होती है, तथा क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आर्थिक व्यवस्था एक नये स्तर पर पहुँच जाती है। यदि किसी क्षण हम यह मान लें कि हमारी आर्थिक व्यवस्था सस्थिति मे है, तो उसके किसी तत्व या राशि मे परिवर्तन के फलस्वरूप इस सस्थिति मे विघ्न पैदा हो जायगा, फल यह होगा कि अन्य तमाम राशियो का भी समायोजन तथा अनुकूलीकरण तब मक चलता रहेगा जब तक कि आर्थिक व्यवस्था पुन सस्थिति मे नही पहुच जाती। स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि प्रवैगिक अर्थशास्त्र के अध्ययन के विषय यही परिवर्तन, क्रिया प्रति-क्रिया, समायोजन तथा अनुकूलीकरण की प्रक्रियाए हैं।

प्रवैगिक अर्थशास्त्र मे 'समय' तथा 'परिवर्तन मौलिक प्रत्यय हैं। प्रवैगिक सहति (system) मे परमावश्यक बात यह पाई जाती है कि किसी समय-विशेष पर इसमे होने वाले उत्पादन, विनिमय, माग, कीमतें तथा अन्य घटनायें आदि किसी अन्य समय के उत्पादन, विनिमय, माग, कीमतो तथा घटनाओ आदि पर निर्भर होते हैं, इस क्षण के परिवर्तनशील तत्व (भूत अथवा भविष्य के) किसी अन्य क्षण के परिवर्तनशील तत्वो पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिये, इस क्षण की कीमतें न केवल भूत की कीमतो की देन हैं बल्कि भविष्य की कीमतों की प्रत्याशा का भी उन पर कुछ कम प्रभाव नही।

प्रो० हिक्स के अनुसार स्थैतिक मे सब आर्थिक राशियो के तिथिकरण से हमारा प्रयोजन नही होता। आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग जहा प्रत्येक आर्थिक राशि का तिथिकरण होना आवश्यक होता है प्रवैगिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। हिक्स के अनुसार प्रत्याशा प्रवैगिक अर्थशास्त्र का मूल तत्व है। इसके अन्तर्गत हम समय के सदर्भ मे होने वाले सस्थिति समायोजन का अध्ययन करते हैं। अथवा यह कहे कि भिन्न-भिन्न ऐसे परिवर्तनशीलो का अध्ययन करते हैं जो आवश्यक रूप से समय के फलन होते है। फ्रिश* जिन्होने स्थैतिक तथा प्रवैगिक सम्बन्धी विचार

* "Statickkog Dynamikk i den Economiske Teori", National Economisk Tidsskript, 1929—*By Ragner Frisch*

को हल करने का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है के अनुसार "कोई प्रकृति प्रवैगिक तब कही जाती है जब समय के सदर्भ में इसके व्यवहार का निर्धारण ऐसे फलन समीकरणों द्वारा होता है, जिनमे समय के विभिन्न बिन्दुओं पर परिवर्तनशील तत्व आवश्यक रूप से सम्बद्ध हों"। * यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि समय के विभिन्न बिन्दुओं पर परिवर्तनशील तत्व आवश्यक रूप से प्रार्थिक समस्याओं में शामिल होते हैं। यह भी आवश्यक है कि य परिवर्तनशील आर्थिक महत्व के हों। इस प्रकार की प्रवैगिक प्रकृति कार्य-कारण के सम्बन्ध से निर्मित होगी।

एक अन्य अर्थशास्त्री ने आर्थिक प्रवैगिक की परिभाषा इस प्रकार की है कि यह "आर्थिक घटनाओं का पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती घटनाओं के सन्दर्भ में अध्ययन करना है।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रवैगिक अर्थशास्त्र में समय, परिवर्तन, प्रत्याशा, अनिश्चय आदि परमावश्यक पार्ट अदा करते हैं।

स्थैतिक तथा प्रवैगिक का सम्बन्ध—

य -विज्ञान में गति-विज्ञान जब प्रशस्त अर्थ में प्रयुक्त होता है तो इसके दो भेद किये जाते हैं . एक तो स्थिति विज्ञान और दूसर, गतिज-विज्ञान (Kinetics) स्थिति विज्ञान का सम्बन्ध ऐसी दशाओं तथा स्थितियों के अध्ययन से है जिनके अन्तर्गत विभिन्न शक्तियों द्वारा प्रभावित होने पर कोई भौतिक पिण्ड अपनी गति तथा उसकी दिशा नहीं बदलता। जैसा हम पहले बता चुके हैं ऐसा पिण्ड यदि स्थिर अवस्था मे है तो विभिन्न शक्तियों द्वारा प्रभावित होने पर वह वैसे ही स्थिर रहेगा और यदि वह गतिमान है तो उसकी गति पूर्ववत् अवस्था तथा दिशा में रहेगी। गतिज-विज्ञान का सम्बन्ध गति परिवर्तन की अवस्थाओं के अध्ययन से है। लेकिन हम यत्र विज्ञान के क्षेत्र में अनावश्यक रूप से अपने आर्थिक जगत की समस्याओं का हल खोजने नहीं जायेंगे।*** हा, इतना समझ लेना आवश्यक है कि स्थैतिक को

* "A system is dynamical if its behaviour over time is determined by functional equations in which variables at different point of time are involved in an essential way."

** W J. Baumol Economic Dynamics.

*** कतिपय अर्थशास्त्रियों ने शुद्ध स्थैतिक तथा शुद्ध प्रवैगिक के बीच और कई अवस्थाओं का जिक्र किया है। उदाहरण के लिये कतिपय पूर्ववर्ती अर्थ शास्त्रियों से प्रेरणा लेते हुए एक अर्थशास्त्री ने किसी आर्थिक व्यवस्था की पाच दशाए बताई हैं —

(i) स्थिर या शुद्ध स्थैतिक आर्थिक व्यवस्था (Stationary or Purely Static economy)

(ii) गतिज आर्थिक व्यवस्था (यह शुद्ध प्रवैगिक रग लिये हुये बताई गई है।)

हम प्रवैगिक को ही एक अवस्था मान सकते हैं। जो गतिमान है (और कहीं यदि वेग अधिक हुआ तो) उसका अध्ययन करना कठिन है। इसके लिये हमें पिण्ड की गति को इतने सूक्ष्म भागों में विभाजित करना पड़ेगा जिसमें कि प्रत्येक भाग स्थैतिक हो जाय। यदि हम एक साधारण कैमरा (Camera) से और एक दौड़ते हुए व्यक्ति का चित्र खींचे तो हमें कैसा चित्र मिलेगा। स्पष्ट है कि चित्र उस व्यक्ति को स्थिर अवस्था में दिखायेगा। उस मुद्रा, अवस्था तथा स्थिति में वह व्यक्ति उस चित्र में दिखाई पड़ेगा जिसमें वह फोटो खींची गई है। यह फोटो 'स्थैतिक' होगा। उसका यह फोटो उसकी दौड़ के एक अत्यन्त सूक्ष्म काल (प्रायः एक सेकेण्ड का भी अत्यन्त सूक्ष्म भाग) का परिचायक है जबकि वह व्यक्ति स्थिर अवस्था में दिखाई पड़ रहा है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रवैगिक अवस्थाओं को छोटी-छोटी स्थैतिक अवस्थाओं में तोड़ा जा सकता है और इसमें अध्ययन में सुविधा होती है। जो शुद्ध शुद्ध प्रवैगिक हैं उसका अध्ययन करना कोई सरल काम नहीं। प्रवैगिक स्वभावतः तूफानी होता है और इस अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि प्रवैगिक, स्थैतिक से ही बना है।*

किसी स्थिर समाज के अध्ययन के लिये स्थैतिक रीति ही पर्याप्त है। ऐसी दशा में हम प्रवैगिक विधि का सहारा भी ले सकते हैं, किन्तु हमें शून्य वेग (Velocity) प्राप्त होगी। जैसा हमने ऊपर कहा है, किसी बदलती हुई समाज, जिसमें दत्तों के परिवर्तन के साथ-साथ अनुकूलीकरण अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा है के प्रत्येक क्षण की दशाओं का विश्लेषण हम स्थैतिक द्वारा कर सकते हैं। लेकिन जहां अनुकूलीकरण की रफ्तार इतनी तेज नहीं है वहाँ स्थैतिक द्वारा किया गया विश्लेषण हमें केवल अधूरा चित्र ही दे सकता है।

स्थैतिक सिद्धान्त वैकल्पिक सम्भावनाओं तथा पर्यवेक्षणों की श्रेणी (Series) का बिना उनके क्रम तथा सामयिक दूरी का विचार किये, अध्ययन करता

(iii) समान रूप से उन्नतिशील आर्थिक व्यवस्था (Uniformly Progressive Economy)

(iv) क्रमिक संस्थितियों की आर्थिक व्यवस्था (जिसे कभी-कभी तुलनात्मक स्थैतिक (Economy of Consecutive equilibrio) भी कहते हैं।)

(v) शुद्ध प्रवैगिक आर्थिक व्यवस्था।

इनमें आखिर की तीन अवस्थायें प्रवैगिक धर्मों वाली हैं।

—See Economic Synthesis by Boris Ischboldin

किन्तु हमारा अभिप्राय इतने बारीक वर्गीकरणों के झगड़ों में पड़ना नहीं है।

* "Dynamic Economics is . ... a running commentary on static Economics"—*J. K. Mehta* in his Lectures on Modern Economic Theory P. 149.

है, जबकि प्रवैगिक में यही क्रम तथा समावेश दूरी मौलिक शर्तें होती हैं। हिक्स ने इसका एक उदाहरण दिया है। मान लिया कि भिन्न भिन्न समय पर किसी वस्तु की कीमत तथा मात्राएं कार्डों पर लिखित हैं। यदि हम इन कार्डों को कीमतों की ऊंचाई के क्रम से माग वक्र प्राप्त करने के दृष्टिकोण से रखें तो यह स्थैतिक अध्ययन होगा, क्योंकि यहा हम यह उपधारणा कर लेते हैं कि कीमतें तथा मात्राय, दोनों समान आर्थिक दशाओं के अन्तर्गत वैकल्पिक सयोगों में प्रकट हो सकती हैं। लेकिन यदि हम उनका ऐतिहासिक निरूपण करें तो हमारा अध्ययन प्रवैगिक होगा।

हिक्स के अनुसार यदि हम स्थैतिक के अन्तर्गत भी राशियों का तिथीकरण कर दें या उनको प्रत्याशा की शृ खला में बाध सकें तो स्थैतिक को प्रवैगिक का रूप दिया जा सकता है।

तुलनात्मक स्थैतिक
(Comparative Statics)

यहाँ एक अन्य प्रत्यय का परिचय दे देना भी आवश्यक है। शुद्ध स्थैतिक तथा शुद्ध प्रवैगिक के बीच एक अवस्था और है जिसे तुलनात्मक स्थैतिक कहते हैं। इसके अन्तर्गत हमारी उपधारणा यह होती है कि आर्थिक व्यवस्था सुचारु रूप से आगे नहीं बढ़ती। यह कभी अत्यन्त अल्पकालीक सस्थिति प्राप्त कर लेती है। इन्हीं विभिन्न सस्थितियों का, बिना उनकी सामाजिक दूरी अथवा क्रम का विचार किये, अध्ययन तुलनात्मक स्थैतिक कहलाता है। इसको हम केन्ज के शब्दों में 'स्थानान्तरित होती हुई सस्थिति' विधि, अथवा गतिशील सस्थिति (Moving equilibria) विधि भी कह सकते हैं। यदि आर्थिक व्यवस्था सस्थिति मे है और उसमें हम किसी परिवर्तन का समावेश करें तो सस्थिति भग हो जायेगी। अब यदि हम इस परिवर्तन के अन्तिम प्रभाव का अध्ययन करना हो और हम न तो यह देखें कि यह प्रभाव परिवर्तन की भिन्न प्रक्रियाओं स और कैसे उत्पन्न हुआ है और न उसमे लगने वाले समय पर विचार करें तो हमारे अध्ययन की विधि तुलनात्मक स्थैतिक कहलायेगी। यह स्थैतिक इसलिये होगी कि इसमें समय के तत्व का समावेश नहीं किया गया है। लेकिन इसका स्वभाव परिवर्तन के समावेश के कारण प्रवैगिक भी है।

संस्थिति, स्थैतिक तथा प्रवैगिक—

कोई सहृति सस्थिति म तब कही जा सकती है। जब इसके महत्वपूर्ण परिवर्तनशील तत्वों में से कोई भी विचाराधीन अवधि म परिवर्तन होने की प्रवृति न दिखाता हो और न परिवर्तन की शक्तिया अथवा दबाव ही ऐसे हो जो कि आगे चलकर इन महत्वपूर्ण परिवर्तनशीलों म परिवर्तन ले आयें। वास्तव मे सहृति पर कार्य करने वाली तमाम शक्तिया सन्तुलित हो जाती हैं।

दी हुई प्रत्येक वाह्य परिस्थिति के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था मे कार्य करने वाले परिवर्तनशील तत्वो के कुछ सयोग ऐसे हो सकते हैं जिनको प्राप्त कर परिवर्तनशील तत्व परिवर्तन की ओर प्रवृति न रखते हो। सस्थिति हो जाने पर सहति मे परिवर्तन बिल्कुल समाप्त हो जाता है।

आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा जो सस्थिति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करती है, स्थैतिक कहलाती है। यह सस्थिति किस प्रकार प्राप्त हुई, स्थैतिक इस पर विचार नही करता, यह काम प्रवैगिक शाखा का है। प्रवैगिक मूलत असस्थिति तथा परिवर्तन से सम्बन्धित है। प्रवैगिक को एक ओर तो हम आर्थिक परिवर्तनशील तत्वो की एक सस्थिति से दूसरी तक जाने की गति का अध्ययन करते हैं, दूसरी ओर यह ऐसी सहति का भी अध्ययन करता हुआ माना जा सकता है जिसमे सस्थिति कभी आती ही नही। ऐसी सहति या तो इसलिये सस्थिति मे नही आती कि सस्थिति का कोई अस्तित्व ही नहीं है अथवा वाह्य परिस्थितियो, जैसे उत्पादन विधि, जनसख्या, रुचि, सरकारी कार्यक्रम आदि मे लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। प्रवैगिक का बाद वाला अर्थ व्यापक है तथा व्यापार चक्र का अध्ययन इसी के अन्तर्गत आता है।

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त मे स्थैतिक सस्थिति तथा प्रवैगिक सस्थिति के प्रत्यय महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आधुनिक समय मे मूल्य के ऐसे सामान्य सिद्धान्त की खोज की गई है जो बाजार की प्रत्येक अवस्था चाहे वह पूर्ण प्रतियोगिता की हो अथवा विक्रयेकाधिकार या इन दोनो के बीच की कोई अवस्था पर समान रूप से लागू हो सके। यह प्रयत्न भी किया गया है कि वस्तु-मूल्य तथा मुद्रा-मूल्य पर समान रूप से लागू होने वाले किसी सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। श्री मती रॉबिन्सन तथा चेम्बरलिन, जिनके सिद्धान्तो का विवेचन पहले हो चुका है, ने इस क्षेत्र मे स्तुत्य कार्य किया है। इनके तथा अन्य अर्थशास्त्रियो के परिश्रम के फलस्वरूप हमे सीमान्त लागत, सीमान्त आय, स्थानापन्नता आदि के प्रत्यय प्राप्त हुए हैं जिन्होने उल्लिखित सामान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन को सुलभ बनाया। सस्थिति का प्रत्यय भी इस सन्दभ मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी सामान्य सिद्धान्त के सम्बन्ध मे, इसके कथन को सुस्पष्टता प्रदान करने के लिये ही, सस्थिति, स्थैतिक सस्थिति, प्रवैगिक सस्थिति, अल्पकालीन अवधि तथा दीर्घकालीन अवधि आदि का विवेचन आवश्यक हो जाता है।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, स्थैतिक सस्थिति वह सस्थिति है जिसमे, विचाराधीन अवधि मे विघ्न पडने की कोई आशा नही की जाती। ऐसी सस्थिति की स्थिरता समय के अनुसार परिवर्तन की शिकार नही होती। इसके द्वारा जो निरूपण तथा विश्लेषण होगा, वह समय के बन्धन से मुक्त होगा।

आर्थिक सहति पर जब कोई नई तथा महत्वपूर्ण शक्ति प्रभाव डालती है तो उसके समस्त अवयव तदनुकूल अपना अनुकूलीकरण करने लगते हैं। जैसा हम

अन्यत्र कह चुके हैं, अल्पकालीन अवधि मे उत्पादन के साधन, उसकी विधि आदि दिये हुए मान लिये जाते हैं, यह अवधि इतनी छोटी होती है कि इसमे किसी अनुकूलीकरण तथा समायोजन की सम्भावना ही नहीं होती। लेकिन दीर्घकालीन अवधि मे अनुकूलीकरण तथा समायोजन सम्भव होता है। अत दीर्घकालीन अवधि म प्राप्त की हुई सस्थिति प्राय स्थैतिक होगी, क्योकि उसमे परिवर्तन की प्रवृतियो का अभाव पाया जायेगा। जबकि अल्पकालीन अवधि की सस्थिति प्रवैगिक होगी क्योकि इसमे परिवर्तन का भाव निहित होगा। हमे यहा यह स्मरण रहना चाहिये कि केवल प्रवैगिक (अथवा साधारण भाषा मे विकासोन्मुख) आर्थिक व्यवस्था मे दीर्घ अथवा अल्पकाल किसी महत्व का नही क्योकि वहा स्थिरता है तथा जो परिस्थितियाँ आज है वही दीर्घकाल बाद भी रहेगी।

हम ऊपर यह कह आये है कि प्रवैगिक का सम्बन्ध मूलत असस्थिति की अवस्थाओ से है। इसलिये हमारा यह कहना कि अल्पकालीन अवधि मे सस्थिति प्रवैगिक होती है विरोधाभास सा लगता है। किन्तु बात ऐसी नही है। प्रवैगिक तथा स्थैतिक शब्दो के कई अर्थों मे प्रयुक्त किये जाने के कारण यह अस्पष्टता तथा असदिग्धता पैदा होती है। अब तक हमने स्थैतिक तथा प्रवैगिक शब्दो का प्रयोग स्थूल रूप से तीन प्रकार स किया है। एक तो, अर्थशास्त्र के क्षेत्र को दो भागो मे विभक्त करने के लिये हमने इन शब्दो का प्रयोग किया है, दूसरे, हमने विशिष्ट विश्लेषण पद्धति के रूप मे इन्ह प्रयुक्त किया है और तीसरे, सस्थिति के विश्लेषण के रूप मे। वास्तव मे, प्रथम दो अर्थ एक दूसरे से घुले मिले हैं, लेकिन अन्तर स्पष्ट है। एक मे तो ये विषय-वस्तु के रूप मे प्रयुक्त होते है और दूसरे मे विश्लेषण-उपकरण के रूप म। जब हम यह कहते हैं कि प्रवैगिक का सम्बन्ध मूलत असस्थिति से है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रवैगिक सस्थिति का अध्ययन नही करता, चाहे वह प्रवैगिक सस्थिति हो अथवा स्थैतिक। हम पहले बता चुके हैं कि प्रवैगिक को अत्यन्त छोटे-छोटे स्थैतिक में तोडा जा सकता है लेकिन दोनो प्रकार के अध्ययन समान नही होंगे। प्रवैगिक गतिशील का अध्ययन करता है, स्थैतिक स्थिरता का। दोनो के अध्ययन के विषय तथा परिणाम भिन्न भिन्न हो सकते हैं, जैसे वायुयान के डैन। जब वे स्थिर अर्थात् सस्थिति मे हों तो हम सस्थिति की अवस्था मे उनका स्थैतिक अध्ययन कर सकते हैं। यदि इस सस्थिति मे समय क साथ-साथ बाधा पडने की आशा न हो तो यह स्थैतिक सस्थिति हुई। लेकिन यदि वे डैने चल रहे है तो उनका अध्ययन प्रमुखत प्रवैगिक होगा। लेकिन यदि हम डैने की गति की तीव्रता के हिसाब से समय का इतना छोटे से छोटा हिस्सा ले कि उसमे डैने की स्थिति का हम निश्चय कर सकें (अर्थात् चलने की अवस्था मे भी डैने किसी स्थिति पर एक सूक्ष्म समय के लिये स्थिर माने जा सकते हैं चाहे वह एक सेकिण्ड के अताश ही के लिये क्यो न हो) तो हम एक अत्यन्त सूक्ष्म काल के लिये डैने को सस्थिति मे होने की कल्पना कर सकते हैं। यदि इस सूक्ष्म

उदाहरण के लिये हम ऐसे आचरणों को ले सकते हैं जिनमे विलम्बन* (Lag) के भाव अन्तर्निहित हो, जैसे जो विनियोग-व्यय आज हम करते है, वह कल की ब्याज दर पर निर्भर होगा। अथवा हम ऐसे आचरणों का उदाहरण लें जिनमे कोई आदत काम कर रही है जैसे हमारा आज का उपभोग अन्य बातो के साथ-साथ इस बात पर भी निर्भर करता है कि कल हमारा उपभोग क्या था। जिस महति मे ऐसे एक अथवा अधिक सम्बन्धो का समावेश हो उसे हम प्रवैगिक सहति कहते। यह स्पष्ट कि ऐसी महति मे प्राय सर्वदा असस्थिति की अवस्था बनी रहगी।

स्थैतिक की आलोचनात्मक उपयोगिता—

ऊपर हमने इस विषय पर प्रकाश डाला है। विश्लेषण की यह विधि सरल तथा बोधगम्य है। स्थैतिक विश्लेषण का मौलिकसिद्धान्त सस्थिति का प्रत्यय है। सस्थिति की अवस्था वह प्रतिमान है जिसकी ओर आर्थिक व्यवस्था उन्मुख होती है। फिर ससार की वास्तविक आर्थिक घटनायें इतनी चचल है कि उनको हम किसी प्रतिमान पथ के सहारे तथा सदर्भ मे लेकर ही अध्ययन का विषय बना सकते हैं। यह प्रतिमान आदर्श ही होता है, जिसकी प्राप्ति के लिय प्रवैगिक सहति प्रयत्नशील रहती है। कार्य-कारण के जटिल सम्बन्धो मे उलझे हुये आर्थिक जगत का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है। इन कार्य-कारण के सम्बन्धो को एक एक करके उनका स्थैतिक अध्ययन ही साध्य तथा सम्भव है जो, यद्यपि वास्तविकता का सही चित्र प्रस्तुत नही कर सकता फिर भी, यथार्थ के निकट होगा। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे हमे अपने अध्ययन को कतिपय उपधारणाओ पर आधारित करना होता है। जब हम यह कहते है कि यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहे तो किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन उसकी माग मे विपरीत परिवर्तन लाता है, तो यहाँ वास्तव मे हम स्थैतिक विश्लेषण का सहारा लेते हैं। लेकिन कीमत तथा माग के सम्बन्धो के अध्ययन की यही सम्भव विधि है। यदि अन्य 'बातों' मे भी हम तत्कालीन परिवर्तन माने तो कीमत तथा माग के सम्बन्धो का पता लगाना कठिन ही नही असम्भव हो जायगा।

यह न समझना चाहिय कि स्थैतिक विश्लेषण-पद्धति का परिवर्तन होने वाली परिस्थितियो मे कोई उपयोग ही नही है। जिस व्यवस्था मे दत्तो मे परिवर्तन होने पर महति मे अत्यन्त तीव्रगति से प्रत्येक दिशा मे समुचित अनुकूलीकरण तथा समायोजन सपादित हो जाता है, उसमे प्रतिक्षण की दशाओं के अध्ययन के लिये स्थैतिक विधि का सहारा सफलतापूर्वक लिया जा सकता है। कठिनाई वहां उपस्थित होती है जहा किसी दत्त मे परिवर्तन आने पर सहति के अन्य तत्व तदनुसार तत्काल अपना अनुकूलीकरण करने मे असमर्थ होते हैं। जैसे किसी वस्तु की माग मे वृद्धि होने पर यदि उसकी पूर्ति तदनुसार बढ जाय तथा अन्य परिवर्तनशील तत्व भी

* Lag को कही 'पिछडा हुआ' भी कहा गया है।

अपना समुचित अनुकूलीकरण कर लें तो यहा हम सफलता पूर्वक स्थैतिक विश्लेषण-पद्धति को अपना सकते हैं। साधारणतया स्थैतिक विश्लेषण वहा उपयोगी हो सकता है जहा परिवर्तन को उत्प्रेरित करने वाली प्रेरणाओं का बाहुल्य तथा प्राबल्य न हो तथा अनुकूलीकरण की गति तीव्र तथा बाधा रहित हो। जैसा हमने अन्यत्र कहा है, स्थैतिक का दर्शन एक ऐसा मानचित्र हमारे समक्ष उपस्थित करता है जिस पर हम समतल धरातल ही पाते हैं, जिससे धरातल की ऊचाई-नीचाई का कोई ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा अध्ययन भी तो अपना उपयोग रखता है, इससे हमें यातायात के सम्बन्ध में दूरी तथा अन्य ऐसी बातों का पता लग ही जायेगा। कम से कम अध्ययन का प्रारम्भ तो हम इससे कर सकते हैं।*

लेकिन वास्तविक आर्थिक जीवन इतने परिवर्तनों का शिकार होता है, उन पर इतनी शक्तियां काम करती हैं कि स्थैतिक विश्लेषण हम उसको केवल एक अनाकर्षक, धुंधली तथा काल्पनिक तस्वीर ही दे सकता है। स्थैतिक में हम केवल आर्थिक परिवर्तनशील तत्वों को ही नहीं बल्कि तमाम भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को भी स्थिर तथा दिया हुआ मान लेते हैं, जिससे कि हमारा विश्लेषण मानसिक-कसरत के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। आर्थिक व्यवस्था के कतिपय तत्व प्रबल परिवर्तन के शिकार होते हैं। जे० बी० क्लार्क ने कुछ आर्थिक परिवर्तन की कुछ प्रमुख प्रेरणाओं को निम्नलिखित बताया है** —

१. जनसंख्या में वृद्धि। २. पूंजी में वृद्धि। ३. उत्पादन की विधि में परिवर्तन। ४. संगठन में परिवर्तन तथा। ५. मांग में परिवर्तन।

इनमें कुछ और भी जोड़ी जा सकती हैं —

६. फर्मों में प्राप्त उत्पादन-परिमाण में परिवर्तन। ७. प्राकृतिक अवस्थाओं में अन्य परिवर्तन। ८. प्रथाओं में परिवर्तन। ९. सरकार की नीति में परिवर्तन।

उपर्युक्त परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था को सन्स्थिति से सदैव विचलित करते रहते हैं, जबकि स्थैतिक ऐसे परिवर्तनों की बिल्कुल अनुपस्थिति की उपधारणा कर लेता है स्थैतिक अध्ययन में यदि गति का समावेश है भी तो वह अपरिवर्तनीय मान ली जाती है, जिसका अर्थ यह होता है कि वही उत्पादन, उतनी ही मात्रा में, उन्हीं परिस्थितियों के अन्तर्गत उसी विधि से किया जा रहा है। सब कुछ के निश्चय तथा स्थिर और अपरिवर्तनशील होने की उपधारणा कर ली जाती है। यह एक अत्यन्त काल्पनिक जगत् की बात है, इस पर वास्तविक जगत में सूक्ष्म से सूक्ष्म अवधि या समय में भी ये सब स्थिर नहीं माने जा सकते।

फिर स्थैतिक के अध्ययन में यह उपधारणा निहित है कि मुद्रा तटस्थ रहती है। यह अत्यन्त थोथी उपधारणा है। मुद्रा एक क्षण भी तटस्थ रहने से परहेज करती है।

* F. Zeuthen, Ibid P 143

** *Essentials of Economic Theory —by J. B. Clark.*

स्थैतिक मे पूर्ण सस्थिति तथा पूर्ण प्रतियोगिता के पाये जाने की भी उपधारणा करली जाती है। यह उपधारणा भी वास्तविकता से बहुत दूर है। पूर्ण सस्थिति एक आदर्श प्रतिमान है, जिस पर एक क्षण के लिये भी आर्थिक सहति नही पहुँच पाती। वही हालत पूर्ण प्रतियोगिता सम्बन्धी उपधारणा की है—वास्तविक जगत मे इसका भी कही चिन्ह नही। यद्यपि चेम्बरलिन ने यह दावा किया है कि कोई कारण नही कि स्थैतिक व्यवस्था मे विक्रेताधिकारिक परिस्थितियां न पाई जाय, किन्तु स्थैतिक अध्ययन के अन्तर्गत उपधारणा की जाती रही है पूर्ण प्रतियोगिता की, क्योकि सम्पूर्ण दिशाओं मे सस्थिति की अवस्था केवल पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत ही सम्भव होती है।

प्रवैगिक की आलोचनात्मक उपयोगिता—

वास्तविक जगत के अध्ययन की विधि प्रवैगिक ही है। विवाद केवल इस बात पर है कि यह है क्या। यदि यह बात निश्चित हो जाए तो प्रवैगिक के अध्ययन की उपादेयता पर सन्देह नही किया जा सकता। आर्थिक सहति किस रास्ते पर और किस प्रकार है—इस बात का अध्ययन प्रवैगिक अर्थशास्त्र ही कर सकता है। स्थैतिक केवल मजिल अर्थात् सस्थिति का ही अध्ययन करने मे समर्थ है। व्यापार चक्र के समझाने के लिये तो प्रवैगिक परमावश्यक है, क्योकि 'चक्र' नाम मे ही गति का भाव निहित है और गति का अध्ययन केवल प्रवैगिक कर सकता है। *आज हमारे लिये यही जान लेना काफी नही कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत* समय समय पर व्यापार चक्र का प्रकोप होता रहता हैं। जानना यह है कि आर्थिक व्यवस्था व्यापार चक्र की एक कक्षा (Phase) से दूसरी तक जाती कैसे है। उदाहरण के लिये, अवनति से समृद्धि तक पहुँचने की प्रक्रिया क्या है। जब तक हम इन प्रक्रियाओं को नही समझते तब तक उपचार करना तो दूर रहा हम व्यवस्था को इस व्याधि का निदान भी नही कर सकते और यह सब प्रवैगिक अर्थशास्त्र के अन्तगत सम्भव हो सकता है।

फिर, हमारी आर्थिक व्यवस्था मे वे कोई भी उपधारणाए सत्य के निकट नही हैं, जिनके आधार पर स्थैतिक अपना विश्लेषण करता है। विक्रयेकाधिकारिक प्रतियोगिता, विक्रयाल्पाधिकार आदि तथा आशिक सस्थिति, मुद्रा की सक्रियता आदि अवस्थाओ का विवेचन स्थैतिक करने में सर्वथा असमर्थ है। इनके न पाये जाने की उपधारणा करके स्थैतिक चलता है। *इनका प्रवैगिक ही मे अध्ययन सम्भव है।*

इन सब बातो के होते हुये भी अर्थशास्त्र मे प्रवैगिक अर्थशास्त्र की विषय वस्तु विधि तथा परिभाषा आदि अभी तक निश्चित नहीं की जा सकी। इसका पूर्ण तथा निश्चित विकास अभी हो नही पाया। अतः स्थैतिक अर्थशास्त्र की आवश्यकता भी हमे कुछ कम नही।

३०

व्यष्टि-अर्थशास्त्र तथा समष्टि-अर्थशास्त्र

(Micro-Economics and Macro-Economics)

परिचय —

'माइक्रो' (व्यष्टि) शब्द सूक्ष्मार्थी है। इसमें सूक्ष्म, परमाणुविक, अंश अथवा समूह में से एक या विशिष्ट का बोध होता है। दूसरी ओर 'मैक्रो' (समिष्टि) शब्द स्थूलार्थी है। इसमें स्थूल, सम्पूर्ण, समूह, सामान्य तथा माध्य (औसत) का ज्ञान होता है।

अर्थशास्त्र के विवेचन की साधारणतया दो दिशाएं हैं। एक तो वह जिसके अन्तर्गत व्यक्ति-विशेष, फर्म-विशेष, उद्योग धंधा विशेष तथा अन्य ऐसी इकाइयों का विश्लेषण तथा विवेचन किया जाता है। इस प्रकार के विवेचन तथा विश्लेषण का सम्बन्ध उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के वैयक्तिक हेतुक (motive) तथा आचरण से होता है। इसके अन्तर्गत वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है। सामान्य मूल्य के बजाय वस्तु विशेष का मूल्य, देश की कुल आय नहीं, केवल व्यक्ति-विशेष की आय तथा अन्य ऐसे व्यक्ति प्रधान प्रश्न ही व्यष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख विचारणीय विषय होते हैं। यह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर सामूहिक रूप में विचार नहीं करता, फर्म-विशेष अथवा उद्योग धंधा विशेष के मसलों का यह अध्ययन करता है, जैसे किसी विशिष्ट फर्म या उद्योग-धंधे में मजदूरी की क्या दर है, मशीनों का कैसा उपयोग होता है, लाभ या हानि का क्या स्तर है, संगठन तथा संचालन की क्या समस्याएं हैं, उत्पादन कितना होता है आदि आदि। विवेचन की इस प्रणाली को 'माइक्रो' अर्थात् व्यष्टि अर्थशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है। यह विशिष्ट आर्थिक पिण्डों तथा उनकी अन्तर क्रियाओं तथा विशिष्ट आर्थिक राशियों और उनके निर्धारण का अध्ययन करता है। यह आर्थिक पिण्डों (गृहस्थी अथवा फर्म) के ऐसे सिद्धान्तों द्वारा निर्मित है जिनका उद्देश्य पिण्डों के वातावरण*

* 'वातावरण' से अभिप्राय ऐसे कार्यों तथा राशियों से है जो इस फर्म अथवा गृहस्थी को 'दिये हुए' (given) होते हैं, उन पर इसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। दूसरी ओर 'व्यवहार' में क्रियाएं अथवा राशियां सम्मिलित होती हैं जिन पर फर्म अथवा गृहस्थी का पूर्ण नियन्त्रण होता है।

मैक्रो (समिष्टि) आर्थिक विवेचन को दूसरी दशा है। "आधुनिक अर्थशास्त्र का सिद्धान्त सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के आचरण के विश्लेषण को भिन्न भिन्न अनुपातो में मिलाकर एक कर देता है।"[1]

समिष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के व्यापक प्रश्नो पर तात्कालिक विचार किया जाता है। आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार पर यह विचार करता है। समस्त आर्थिक क्षेत्रों के आकार, स्वरूप तथा कार्यों पर यह दृष्टिपात करता है। रूपक के प्रयोग द्वारा हम यह कह सकते हैं कि यह सम्पूर्ण वन के गुण के अध्ययन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, जिन वृक्षों द्वारा यह वन बना है उन पर यह अलग-अलग विचार नहीं करता। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक राशियों के यौगिकों तथा औसतो के स्वभाव, सम्बन्धो तथा व्यवहारो का अध्ययन है। इसका सम्बन्ध कुछ परिवर्तन-शीलों से है जैसे किसी आर्थिक व्यवस्था के कुल-उत्पादन का आयतन, राष्ट्रीय आय का आकार, सामान्य कीमत-स्तर आदि। समष्टि अर्थशास्त्र के लिये यही पर्याप्त नहीं है कि वह केवल समष्टि परिवर्तनशील तत्वों के पारिभाषिक सम्बन्ध ही तक अपना ध्यान सीमित रखे, इसे उन सम्बन्धो की भी खोज करनी आवश्यक है जो हेतुक तथा आचरण व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के व्यापक तथा सम्पूर्ण के विवेचन करने के कारण ही इसको समिष्टि अर्थशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की विवेचन पद्धति पर तो सैद्धान्तिक रूप से भले ही आक्षेप न किया जा सके, किन्तु जिन उपधारणाओं पर वह प्रतिष्ठित की गई है वे आज मान्य नहीं हैं। व्यक्ति के भरोसे उसी का निजी हित नहीं छोडा जा सकता उसके कार्यों को सर्वदा जन-हित का पोषक मानना तो वास्तविकता तथा बुद्धि से बहुत दूर जाना है। न पूर्ण उपयोगीकरण ही को स्वय सिद्धि माना जा सकता है जैसा कि व्यष्टि अर्थशास्त्र ने माना है। बल्कि, जैसा केन्ज ने कहा है न्यून-उपयोगी-करण ही आधुनिक आर्थिक व्यवस्थाओं का व्यापक नियम है, पूर्ण उपयोगीकरण उस व्यापक नियम के अपवाद-स्वरूप कहीं मिल जाये तो बात दूसरी है। पूर्ण प्रतियोगिता के सर्वत्र पाए जाने की उपधारणा तो और भी निर्मूल है। माग-पूर्ति के 'अविचल' नियम तथा मूल्य-यत्र के सहारे 'अदृश्य हाथ' का अर्थ व्यवस्था का सचालन भी कोरी कल्पना है, और यह स्पष्ट है कि इन उपधारणाओं का आधार न रहने पर व्यष्टि अर्थशास्त्र का विश्लेषण बहुत कुछ अपना मूल्य खो बैठता है।

प्रथम युद्धोत्तर परिस्थितियो, विशेषत तृतीय दशक की भीषण मन्दी ने समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता को महसूस कराया। समष्टि अर्थशास्त्र को पूर्ण प्रकाश मे ले आने का श्रेय केन्ज को है। इस प्रकार के विश्लेषण में सम्पूर्ण

1 Introduction to Keynesian Dynamics by Kurihar K K, p 9

आय, कुल उपयोगीकरण, कुल विनियोग, कुल उपभोग आदि के अध्ययन पर ध्यान दिया गया। समष्टि अर्थशास्त्र किसी एक वस्तु का मूल्य नही अपितु समस्त उत्पादित वस्तुओं के मूल्यो का, किसी एक व्यक्ति की आय का नही बल्कि सम्पूर्ण देश की आय का, किसी विशिष्ट उद्योग-धन्धे या फर्म मे उपयोगीकरण या अन्य मसलो पर नहीं अपितु सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ मे उपयोगीकरण आदि प्रश्नों पर व्यापक रूप से विचार करता है। यहा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था एक सजीव पिण्ड (Organism) के रूप मे देखी जाती है। व्यष्टि अर्थशास्त्र मे हम तमाम वस्तुओं का अलग-अलग इकाइयो के रूप मे अध्ययन करते हैं। पर इन वस्तुओ के अन्तर-सम्बन्ध इतने जटिल तथा इतने विविध हो जाते हैं कि सही मार्ग पाना तथा आर्थिक-व्यवस्था का सही मूल्यांकन असम्भव सा हो जाता है। एक फर्म या उद्योग-धन्धा दूसरो को प्रभावित करता है और स्वय उन दूसरो से प्रभावित होता है। अत एक-एक फर्म या उद्योग धन्धे के निरपेक्ष अध्ययन द्वारा हम अपनी अर्थ-व्यवस्था की समूची तस्वीर नही देख सकते। आज प्रश्न किसी एक फर्म या उद्योग-धन्धे मे बेकारी तथा अनउपयोगीकरण का नही, सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था मे उनके औसत स्तर का है। औद्योगिककरण के निरन्तर बढते हुये चरण आर्थिक-व्यवस्था को प्रति-पग पर डावाडोल कर देने का प्रयास करते दृष्टिगोचर होते है। अत विनाश से बचाने के लिये आर्थिक-व्यवस्था की समुचित नियोजन की आवश्यकता है और यह सुनियोजन तब तक सम्भव नही जब तक कि आर्थिक-व्यवस्था के समूचे पिण्ड को ध्यान रखकर उसका अध्ययन नहीं किया जाता। समष्टि अर्थशास्त्र का प्रयोजन तथा उद्देश्य ऐसे ही अध्ययन से है। यह अर्थ-व्यवस्था का समूचा, सम्पूर्ण ढाचा एक पिण्ड के रूप मे प्रस्तुत करता है तथा सामान्य कीमत-स्तर का, सम्पूर्ण उत्पादित माल की कुल माग तथा राशि का, सामूहिक विनियोग, आय, बचत, खर्च तथा सामूहिक उपयोगीकरण, मजदूरी, लागत, लाभ आदि का अध्ययन करता है। पूंजीवादी व्यवस्था मे समय समय पर प्रकट होने वाले जिन व्यापक चक्रो की व्यवस्था व्यष्टि अर्थशास्त्र अपने सकुचित दृष्टिकोण के कारण नही कर सका, समष्टि अर्थशास्त्र उनकी व्याख्या अपनी व्यापक दृष्टि से करने की क्षमता रखता है।

ऐतिहासिक सिंहावलोकन—

अर्थशास्त्र के, यत्र-तत्र बिखरे हुए, राजनीति, दर्शन आदि के गहन जगलो मे खोये हुये, शैशव अवयवो को एकत्रित कर उसे सामाजिक शास्त्र के प्रशस्त मार्ग पर लाकर खडा करने का श्रेय बहुत कुछ आडमस्मिथ को है। पर, आडमस्मिथ का युग वह युग था जब खेतिहर अर्थव्यवस्था की प्रधानता बाकी थी। उद्योग धन्धो का कलेवर छोटा तथा मुख्यत यन्त्र-मुक्त था, आर्थिक व्यवस्था का सारा ढाचा व्यक्ति प्रधान था। राजनैतिक क्षेत्रो का ही नही व्यक्तिवाद अन्य क्षेत्रों का भी केन्द्र था। सवत्र 'प्राकृतिक व्यवस्था' पर विश्वास बहुत बढ चुका था। आश्चर्य नही कि आडम-स्मिथ ने भी व्यक्ति-विशेष तथा 'प्राकृतिक-व्यवस्था' को प्रधानता दी। उसके बाद

विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए आडमस्मिथ के मार्ग अनुकरण किया। मार्शल मे यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इस प्रकार अध्ययन म वैयक्तिक रूप में उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के हेतुक (Motive) व्यवहार के विश्लेषण पर जोर दिया गया; विशिष्ट फर्म या उद्योग-धन्धे के तथा कार्य प्रणाली म अन्तग्रस्त सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाने लगा। भिन्न मे उत्पादन के साधनों के सयोग मे किस वस्तु का निर्माण होता है और तैयार के मूल्य का विभाजन भिन्न भिन्न साधनों मे किस प्रकार होना है, ये बातें अध्ययन के मुख्य विषय बने। उन्नीसवी शताब्दी के अर्थशास्त्र के सिद्धान्त ने परम्परा के आधार पर पूजीवादी व्यवस्था को स्वत सतुलित आर्थिक यन्त्र के रूप में देखा जिसम प्राकृतिक व्यवस्था आभासित होती थी तथा जिसमें कतिपय अपवादों को छोडकर 'अदृश्य हाथ' भिन्न भिन्न उत्पादन कार्यों में ससाधनो (Resources) का इष्टतम वितरण करता रहना था। यहा इस बात पर ध्यान रखना पडता है कि आडमस्मिथ प्राकृतिक व्यवस्था म आस्था रखता था तथा आर्थिक क्षत्र में भी प्राय. उसे प्राय उसी प्रकार की व्यवस्था दिखाई पडती थी। आडमस्मिथ ने आर्थिक व्यवस्था सतुलन मे कोई अदृश्य हाथ' देखा। उसका 'अदृश्य हाथ' फ्रास के फिजियोक्रेट्स के 'प्राकृतिक व्यवस्था (Natural Order) के अनुरूप हैं। दोनों का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक शक्ति से है जो व्यक्तियो के कार्यो को जन-हित मे बदलती रहती है, उसकी प्ररणा से व्यक्ति का स्वार्थ जनहित की वृद्धि करता है। यह 'अदृश्य हाथ' व्यक्ति के हित तथा जन हित मे तादात्म्य स्थापित करता है। यही नही इसके प्रभाव से स्वत तथा आवश्यक रूप से उत्पादन के साधनों का पूर्ण-उपयोगीकरण होता रहता है। आडमस्मिथ तथा उसके अनुयायियो ने 'अदृश्य हाथ' को समस्त आर्थिक व्यवस्था सौंप दी। माग-पूर्ति के 'अचूक' नियम तथा मूल्य यन्त्र, इस 'अदृश्य हाथ' की देख-भाल में सारी आर्थिक व्यवस्था को पूर्ण तथा समुचित रूप से सचालन करते हुये मान लिये गये। उत्पादको के बाजार तथा उपभोक्ताओ के बाजार में ऐसा आदर्श सहयोग बनाए रखना, जिससे कभी अत्योत्पादन का प्रश्न ही न उठे, साहसी (Entrepreneur) के ऊपर छोड दिया गया—वह इस कार्य के लिये पूर्णतया योग्य समझा गया। इसी तर्क की लकडी के सहारे जे० बी० से, जिन्होंने आडमस्मिथ की आर्थिक विचारधाराओ की फ्रास मे व्याख्या की, इस फैसले पर पहुँच गए कि 'आर्थिक मनुष्य' का स्वार्थ तथा बाजार-शक्तियो की क्रिया-प्रतिक्रिया एसी है कि उत्पादन की सम्पूर्ण लागत (जो उत्पादन के साधनो के स्वामियों को मजदूरी, लगान, ब्याज आदि के रूप में मिलती है) उत्पादित माल के क्रय में अनिवार्यत खर्च हो जाती है, जिससे सामान्य रूप से अत्योत्पादन का न्यायत कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता अर्थात् पूर्ति स्वय अपनी माग की सृष्टि करती है। ऐसी कल्पनाओं के आधार पर ही अर्थशास्त्रियों ने अर्थ व्यवस्था के परमाणविक तत्वों के

विवेचना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। अर्थव्यवस्था के पूर्ण कलेवर का सचालन जब 'अदृश्य' द्वारा हो ही गया तो दृश्य के लिये उसके अंगों का यत्र-तत्र निरूपण करने को छोड़ और शेष ही क्या रहा ? अर्थ-व्यवस्था के इस प्रकार परमाणुविक तत्वो पर जोर देने के कारण अर्थशास्त्र की विश्लेषण पद्धति को व्यष्टि (micro) अर्थशास्त्र कहा जाता है।

प्रस्तुत शताब्दी के तीसरे दशक तक अर्थशास्त्र में व्यष्टि विश्लेषण पर ही बल दिया जाता रहा। आर्थिक व्यवस्था का सामूहिक ढग से अध्ययन करने का कोई दृढ प्रयास नहीं किया गया। कुछ थोडा सा सामूहिक विचार यदि किया भी जाय तो मुद्रा तथा सामान्य मूल्य पर। आडमस्मिथ द्वारा प्रस्थापित तटस्थता की नीति का भूत आर्थिक क्षेत्र मे जब भी अपना पैर जमाये हुआ था। किन्तु युग की अन्य वस्तुओं की भांति ही "आर्थिक परिस्थितियां निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं तथा प्रत्येक पीढ़ी अपने मसलो पर अपनी निजी पद्धति से विचार करती है।"* अर्थशास्त्र को भी अपने फोकस (Focus) तदनुसार ही बदलते रहना पड़ता है।

यद्यपि परम्परागत पृथक्त्व की दीवारो को बहुत कुछ ध्वस्त कर प्रथम महायुद्ध ने युगीन मान्यताओ को विचलित कर दिया था तथा औद्योगीकरण के प्रसार की बढती हुई रफ्तार, विशिष्टीकरण पर अधिकाधिक बल तथा यातायात क्षेत्र मे क्रान्तिकारी प्रगति आर्थिक जगत के कलेवर मे पर्याप्त वृद्धि कर उसको अधिकाधिक सवेदनशील बनाते जा रहे थे, पर यह तीसरे दशक के प्रारम्भ मे आने वाली ससार-व्यापी मन्दी थी जिसने अर्थशास्त्र-वेत्ताओ की चेतना को प्रचण्ड रूप मे झकझोरा तथा उन्हे आभास कराया कि उनके पृथकत्वजात परमाणुविक तथा व्यक्तिवादी विश्लेषण के दिन कब के खत्म हो चुके थे। इस मन्दी ने सरकारों को उनकी आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप न करने की सहज तथा आरामदायक तद्रा को भग किया। अर्थशास्त्र के समष्ट्यात्मक पहलू के विश्लेषण का सपुष्ट उद्भव हुआ। इसी काल मे अर्थशास्त्र-वेत्ताओ के जगत मे केन्ज की शक्तिशाली प्रतिभा एक नये युग के अभ्युदय का सन्देश लेकर उतरी। यह केन्ज था जिसने सर्वप्रथम समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन को वरिष्ठ आधार दिया।

यह बात नहीं कि समष्टि अर्थशास्त्र केन्ज की कोई नई देन है। तथाकथित मरकेन्टाइलिस्ट युग के कुछ अर्थशास्त्र के पण्डितो ने राष्ट्रीयता की भावना से उत्प्रेरित हो अपने-अपने देश की समूची आर्थिक व्यवस्था के सर्वाङ्गीण विकास पर जोर दिया था और तदर्थ सरकारों को उचित आर्थिक नीति अपनाने के लिये कहा था। केन्ज के अनुसार मर्केन्टाइलिस्ट अर्थशास्त्रियों ने अनुकूल व्यापारिक-तुला (Favourable balance of trade) तथा राष्ट्रीय समृद्धि, सूद की दर तथा विनियोग के परिमाण, स्वर्ण का देश की ओर बहाव तथा सूद की दर और विनियोग की मात्रा तथा

---

* A. Marshall. Principle of Eco Preface to the Ist. Edn.

उपयोगीकरण के बीच कार्य-कारण का सम्बन्ध देखा था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'मैक्रो' अर्थशास्त्र ही प्रधान आर्थिक विश्लेषण-पद्धति थी। अर्थशास्त्र के रंगमंच पर आडमस्मिथ के आगमन ने परिस्थिति बदल दी। वह 'माइक्रो' विश्लेषण का पक्षपाती प्रवर्तक तथा पोषक था। उसके बाद की क्लासिक विश्लेषण पद्धति में मैक्रो तथा माइक्रो दोनों का सम्मिश्रण चलता रहा, यद्यपि माइक्रो का बोलबाला रहा तथा यह बहुत लोक-प्रिय रहा। नियोक्लासिक अर्थशास्त्र के लेखकों को माइक्रो के प्रति अधिक मोह रहा तथा उन्होंने मैक्रो अर्थशास्त्र पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। मार्शल ने माइक्रो अर्थशास्त्र के शिरोबिन्दु पर पहुँचा दिया। जब तक अर्थ व्यवस्था—जो अभी तक बहुत पेचीदी नहीं हुई थी—सुचारु रूप से बिना किसी परेशानी के आगे बढ़ती जा रही थी, उसके प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप बिना हस्तक्षेप के चलने देने में कोई आपत्ति भी तो नहीं हो सकती थी।

किन्तु माइक्रो की इस तमाम व्यापक लोक-प्रियता के बीच मैक्रो अर्थशास्त्र की पतली ही किन्तु स्पष्ट लकीर खिंची चली आ रही थी, अटूट। नियोक्लासिक युग के कतिपय अर्थशास्त्र वेत्ता इसे आगे बढ़ाने का असफल प्रयत्न करते रहे। आधुनिक मैक्रो, अर्थशास्त्र का प्रस्थापक कहा जा सकता है माल्थस को जिसने सर्वप्रथम अत्युत्पादन् की सम्भावना पर प्रकाश डाला और कहा कि आर्थिक व्यवस्था ऐसी अवस्था पर पहुँच सकती है जब कुल माँग सम्पूर्ण उत्पादित माल की खपत के लिये पर्याप्त न हो। उसने जे० बी० से के नियम का खण्डन किया और बताया कि मितव्ययिता, अधिक बढ़ने से, उत्पादन की प्रेरणा को नष्ट कर सकती है तथा पूँजी को स्थिर तथा बेकार बना, तत्पश्चात् मजदूरों के लिये माँग को भी स्थिर बना सकती है। मार्क्स ने भी अपने ढंग से सम्पूर्ण आर्थिक प्रश्नों पर दृष्टि डाली। बोल्डिंग के अनुसार 'कैपिटल' के मार्क्स ने "सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के मसलों पर विचार करने का" तथा "आर्थिक जीवन तथा सम्बन्धों की पूरी तस्वीर" बनाने का "समन्वयन कार्य, जिसको कि पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों ने उपेक्षित किया था"—"प्रथम प्रयत्न किया"। सिसमांडी तथा तत्कालीन कुछ अमेरिकन लेखकों में भी मैक्रो अर्थशास्त्र की प्रवृत्ति पाई जाती है।

फिर भी यह निर्विवाद है कि मैक्रो अर्थशास्त्र की ओर यदि किसी ने दृष्टि डाली भी तो वह केवल गौण, आंशिक तथा सन्देहात्मक रूप से। ऊपर जैसा कहा जा चुका है यह केन्ज था जिसने परम्परा की विश्लेषण पद्धति की मान्यताओं को तहस-नहस कर मैक्रो अर्थशास्त्र का प्रभुत्व स्थापित किया। केन्ज का समष्ट्यात्मक विचार मार्क्स तथा अन्यों से भिन्न रहा।

केन्ज के अतिरिक्त कई अन्य अर्थशास्त्रियों का नाम भी समष्टि अर्थशास्त्र की आधुनिक प्रगति में सन्दर्भ में लिया जा सकता है। वालरस, विक्सैल तथा फिशर इनमें से प्रमुख हैं, किन्तु आज के समष्टि अर्थशास्त्र पर केन्ज की अमिट छाप है।

आधुनिक समष्ट्यात्मक अर्थशास्त्र को जन्म तथा प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियां

संक्षेप मे आधुनिक समष्टि अर्थशास्त्र के विकास को जन्म तथा प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियां निम्नलिखित हैं —

(१) आर्थिक जगत मे अभूतपूर्व औद्योगीकरण, नगर-जीवन की ओर बढती हुई जन-प्रवृत्ति, बडे पैमाने पर राशि उत्पादन तथा आर्थिक ढांचे मे बढती हुई संवेदनशीलता जिसके फलस्वरूप इस ढांचे के किसी क्षेत्र मे किंचित मात्र हलचल का भी प्रभाव समस्त ढांचे को प्रभावित कर देने लगा।

(२) "राष्ट्रीय आय' के प्रत्यय (Concept) जिसका स्पष्ट प्रतिपादन सबसे पहले मार्शल ने किया तथा जिसकी व्याख्या तथा व्यापकता पर पीगू ने आगे चलकर प्रकाश डाला—ने भी आधुनिक समष्टि अर्थशास्त्र की विश्लेषण पद्धति के विकास मे सहायता दी। 'राष्ट्रीय आय के प्रत्यय मे समस्त आर्थिक व्यवस्था को एक इकाई के रूप मे लेना आवश्यक हो गया।

(३) सरकारो का हस्तक्षेप न करने की नीति का परित्याग कर आर्थिक क्षेत्र मे उतारना समष्टि के विवेचन-पद्धति को बराबर प्रोत्साहन देने लगा। अब जन-कल्याण के लिये तथा आर्थिक जगत मे स्थिर व्यवस्था बनाये रखने के लिये सरकारी वित्त की महत्ता को स्वीकार किया जाने लगा तथा सामूहिक रूप से तमाम आर्थिक व्यवस्था की एकता पर जोर दिया जाने लगा। इससे समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन का विकास आगे बढा। सच तो यह है कि राज्य के इस क्षेत्र मे पदार्पण ने समस्त आर्थिक क्रियाओ, व्यवस्थाओं आदि को एक सूत्र मे बाध दिया।

(४) फिज़ियोक्रेट्स ने अर्थ व्यवस्था मे भुगतानों (Payments) का जो 'वृत्तात्मक प्रवाह' (Circular flow) देखा था उससे भी समष्टि अर्थशास्त्र को प्रोत्साहन मिला।

(५) आर्थिक जगत मे बढती हुई पेचीदगियाँ तथा जटिलताएं, विशिष्टीकरण जन्य प्रवृतियो का समन्वयन आदि बातो ने भी इस बात की आवश्यकता पैदा कर दी कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की तस्वीर को सामने रखकर ही कोई नीति निर्धारित की जाये।

(६) व्यापार-चक्र का समय-समय पर आघात अर्थशास्त्र वेत्ताओ के लिये एक बडा महत्वपूर्ण विषय रहा है—किन्तु धीरे-धीरे इस बात पर अर्थशास्त्र-वेत्ताओं का विश्वास हो गया कि व्यापार चक्र के विश्लेषण के लिये सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तो एक इकाई के रूप मे मानकर चलना पडेगा, समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन का ही सहारा सर्वश्रेष्ठ तथा आवश्यक समझा जाने लगा।

(७) मुद्रा के मूल्य पर आय के दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। इस प्रकार यौगिक क्षमशील माग (Effective demand) तथा यौगिक पूर्ति, कुल उपयोग, बचत तथा विनियोग के प्रत्यय उत्पन्न हुए।

(८) तीसरे दशक की भीषण मन्दी ने अर्थशास्त्र-वेत्ताओं को अध्ययन की रीति व्यष्टि से समष्टि करने पर बुरी तरह विवश कर दिया। सम्पूर्ण व्यवस्था का एक इकाई के रूप में लेकर आर्थिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करना अवश्यम्भावी हो गया। केन्ज की "साधारण सिद्धान्त" नामक पुस्तक निकली, जिसने मैक्रो पद्धति को अग्रसर करने का भागीरथ प्रयत्न किया।

आज तो राज्यों ने आर्थिक जगत को प्राय पूर्णरूपेण, परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से, एक सूत्र मे बाध उनका नियन्त्रण अपने हाथ मे ले लिया है। उद्योग धन्धो का समुचित विकास तथा सम्पूर्ण आर्थिक जगत का उन्नयन आज की सरकारों की नीति का अभिन्न तथा अनिवार्य अग बन गया है। सरकारो मे आर्थिक नियोजन तथा सगठन के लिये अलग-अलग मत्रालय स्थापित किये गय हैं और राज्यो मे ऐसे मत्रालयों की सख्या निरन्तर बढती जा रही है। जबसे योजना-बद्ध आर्थिक विकास का विचार पनपा तब से तो समष्टि पद्धति का सहारा अनिवार्य हो गया है।

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र पद्धतियो का सम्बन्ध—

अर्थशास्त्र की व्यष्टि तथा समष्टि, दोनो प्रणालिया, एक ही प्रकार की सामाजिक घटनाओ के अध्ययन की दो पद्धतिया हैं। दोनो वास्तविक जगत से सम्बन्ध रखती हैं, दोनो का कार्य-क्षेत्र आर्थिक जगत है, व्यष्टि अर्थशास्त्र सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के अगो का अलग अलग अध्ययन करता है, समष्टि अर्थशास्त्र उसका एक यौगिक के रूप के अध्ययन करता है। वास्तव मे व्यष्टि अर्थशास्त्र समष्टि अर्थशास्त्र की बुनियाद तथा पोषक है। सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर विचार करने के लिये भिन्न-भिन्न आर्थिक क्षेत्रो, इकाइयो से, सामग्री इकट्ठा करना अनिवार्य है क्योंकि समष्टि अर्थशास्त्र सामान्यीकरण तथा औसत की पद्धति पर चलता है और यह तभी सम्भव है जब आर्थिक व्यवस्था को इकाइयों का निरीक्षण कर उनसे सामग्री प्राप्त की जाय। ऐसी सामग्री हमे व्यष्टि अर्थशास्त्र से ही प्राप्त हो सकती है। जैसे, यदि कुल राष्ट्रीय आय पाना है तो, उसके लिये हमे तमाम इकाइयों की आय का पता लगाना होगा जो काम व्यष्टि अर्थशास्त्र का है। समष्टि अर्थशास्त्र कुल उत्पादन का एक यौगिक के रूप मे अध्ययन करता है। किन्तु कुल उत्पादन निकालने के लिये हमे इकाइयो के उत्पादन को पाना होगा और यह कार्य व्यष्टि अर्थशास्त्र का है।

समाज परक अध्ययन व्यक्ति-परक अध्ययन की आवश्यकता को समाप्त नही कर देता। जिस प्रकार समाज के सदस्यो के वैयक्तिक गुणो पर ही समाज का गुण निर्भर होता है, उसी प्रकार अवयवो (फर्म, उद्योग धन्धे आदि) के स्वास्थ्य ही पर सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का स्वास्थ्य टिका होता है।

उदाहरण के लिये राज्य की व्यवस्था से राज्य के अन्तर्गत अन्य समुदाय तथा उनकी व्यवस्थाएं प्रभावित होते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि इन समुदायो का इकाई के रूप मे अध्ययन कुछ कम महत्व का है। राज्य की व्यवस्था अपने अन्तर्गत कार्य करने वाले तमाम समुदायो की सश्लेषणात्मक अवस्था को ध्यान मे रखकर आगे बढेगी।

इन समुदायो का (जिनमे मजदूर सघ, मालिक सघ, क्लब, जाति, सम्प्रदाय आदि शामिल हैं) जब सश्लेषणात्मक अध्ययन किया जायगा तो, यह सच है कि उनके पृथक् पृथक् मसले तथा अवस्थाये सब महत्वपूर्ण न होगे। क्योकि उनके स्वार्थों मे पारस्परिक सघर्ष हो सकता है (और प्राय होता है) लेकिन सश्लेषण के लिये सम्बन्धित तत्वो के गुणो से परिचित होना आवश्यक है और इसके लिये उन तत्वो का अलग-अलग व्यष्टियात्मक अध्ययन करना पडेगा। यही दशा आर्थिक जगत मे है। उदाहरण के लिये सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति का एक यौगिक इकाई के रूप मे अध्ययन, उद्योग विशेष, जैसे जूट अथवा चाय उद्योग से प्राप्त होने वाली आय की प्रवृति के अध्ययन के महत्व को कम नही कर देगा। कुल राष्ट्रीय आय समस्त इकाइयो की आय ही से निकाली जाती है, कुल उत्पादन व्यक्तियो, फर्मों, उद्योग-धन्धो तथा अन्य इकाइयो के पृथक्-पृथक् उत्पादन से ही निकाला जा सकता है।

तथ्य यह है कि व्यष्टि तथा समष्टि, ये दोनो पद्धतिया निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करती रहती है। जिस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र, समष्टि-अर्थशास्त्र की सहायता करती है, उसी प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र भी समष्टि-अर्थशास्त्र पर बहुत निभर होता है। फर्म अपने द्वारा दी जाने वाली मजदूरी की दर अथवा अपनी वस्तु की कीमत सामान्य मजदूरी स्तर तथा सामान्य कीमत-स्तर के आधार ही पर निर्धारित करेगा कि आर्थिक व्यवस्था की किसी इकाई का व्यष्टियात्मक अध्ययन शून्य मे नही किया जा सकता।

लेकिन यह समझना गलत होगा कि समष्टि-अर्थशास्त्र, व्यष्टि-अर्थशास्त्र का योग है। जिस प्रकार व्यक्ति विशेष का स्वार्थ तथा सुख-दुख साधारणतया सम्पूर्ण समाज का हित तथा सुख-दुख नही बन सकता इसी प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र यौगिक रूप मे समष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन नही बन सकता।

यहा हम यन्त्र-विज्ञान से एक उदाहरण लेकर व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्रों की भिन्नता को और स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

स्थूल रूप से समस्त आर्थिक व्यवस्था एक बहुभुज क्षेत्र की भाति है, जिसकी भुजाए भिन्न भिन्न परिमाणो मे काम करती हुई शक्तिया हैं। ये शक्तियाँ ठीक उसी तरह से हैं जिस प्रकार कि आर्थिक व्यवस्था मे व्यष्टि इकाइया (जैसे फर्म उद्योग आदि) अपने अपने हित साधन मे तत्पर हो काम करती हैं। गणित का थोडा सा भी ज्ञान रखने वाला यह जानता है कि जब बहुमुखी शक्तिया किसी सहति पर कार्यशील होती हैं तो एक सयुक्त शक्ति (resultant force) का जन्म होता है।

उसी प्रकार हमारे बहुभुज क्षेत्र पर काम करने वाली शक्तिया (भुजाए) एक ऐसी सयुक्त शक्ति-रेखा को जन्म देती हैं जो मात्रा तथा दिशा के दृष्टिकोण से इन तमाम भुजाओं की शक्तियो से भिन्न होती है। हम बहुभुज पर काम करने वाली शक्तियों को जोडने से इस सयुक्त-शक्ति को नही पा सकते, यद्यपि यह इन्ही शक्ति भुजाओ की क्रिया-प्रतिक्रिया का सामूहिक परिणाम होती है। इस सयुक्त शक्ति-रेखा को हम समष्टि शक्ति कह सकते हैं जो जन्म तो पाती है व्यष्टि शक्ति-भुजाओ के सामूहिक आचरण से लेकिन जिसकी समस्याए, दिशा तथा जिसके आचरण, गुण आदि इन व्यष्टि शक्ति-भुजाओ की अलग-अलग समस्याओ, दिशाओ तथा इनके आचरणो तथा गुणों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार आर्थिक-सहति पर तमाम शक्तिया काम करती हैं। ये शक्तिया परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव डालती रहती हैं। अपने अपने क्षेत्र म सब महत्वपूर्ण हैं, किन्तु वे कभी एक दूसरे का स्थान नही ले सकती। समष्टि अर्थशास्त्र मे हम उपर्युक्त सयुक्त शक्ति रेखा का अध्ययन करते हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र में हम उन शक्ति-भुजाओं का अलग अलग अध्ययन करते हैं। इन शक्ति भुजाओ का अलग अलग अध्ययन, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, अत्यन्त आवश्यक हैं—यह अध्ययन "विचारों के उपकरणो का आवश्यक अग है'', इस बात को केन्ज ने भी स्वीकार की है।* आपत्ति तब खडी होती है जब कल्पनाओ के आधार पर हम इस पद्धति को सर्व सर्वा मान समस्त आर्थिक क्षेत्र को 'भगवान' के भरोसे छोड देते हैं और पूर्ण उपयोगीकरण, मूल्य-यत्र की सार्वभौमिकता तथा प्रवृत्तता आदि जटिल समस्याए जिनका हल तथा निदान अर्थशास्त्र का लक्ष्य होना चाहिए, स्वत -सिद्धिया मान ली जाती हैं।

परम्परागत व्यष्टि अर्थशास्त्र जाने अनजाने विश्व को दो भागों मे विभक्त कर देता है—आर्थिक तथा अनार्थिक। वह केवल आर्थिक पिण्डों, जैसे फर्म, उद्योग आदि का तो अध्ययन करता है लेकिन अनार्थिक इकाइयो, जैसे राज्य, मन्दिर, जाति आदि को छोड देता है और इनसे कोई सरोकार नही रखता। किन्तु यह विभाजन तथा 'अनार्थिक' की उपेक्षा अत्यन्त भ्रामक तथा त्रुटिपूर्ण है। इन तथाकथित 'अनार्थिक' इकाइयों के भी आर्थिक पहलू होते हैं। जैसे मन्दिरो को भी मजदूर काम पर लगाने पडते हैं तथा अन्य क्रय विक्रय करने पडते हैं। राज्य भिन्न-भिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं में लगा रहता है। इन तमाम आर्थिक क्रियाओ को भुटलाया तो नही जा सकता। आर्थिक जीवन सामाजिक-सम्बन्धो की यौगिक जटिलताओ का एक पहलू है, वह इन जटिलताओं के किसी अग विशेष से बधा नही है। समष्टि अर्थशास्त्र ऐसे ही पहलू के रूप में सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का इकाई के रूप में अध्ययन करता है।

साराश यह है कि समष्टि अर्थशास्त्र बिना व्यष्टि के असम्भव सा है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र का एक स्वतन्त्र अस्तित्व तो अवश्य है, किन्तु समष्टि-अर्थशास्त्र

* General Theory, P 340

को ध्यान मे न रखने से यह अस्तित्व कोरा सैद्धान्तिक ही है। आर्थिक जगत की प्रत्येक इकाई को सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के प्रकाश ही मे अपने को सगठित तथा सचालित करना पड़ता है। सम्पूर्ण उपयोगीकरण को ध्यान मे रखकर ही कोई फर्म या उद्योग अपने मे उपयोगीकरण को नियोजित करेगा। किसी फर्म अथवा उद्योग-विशेष मे मजदूरी का स्तर, उसका उत्पादन, उत्पादित वस्तुओ की कीमतें आदि बातें सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे मजदूरी के स्तर, कुल आय, कुल उत्पादन तथा सामान्य कीमत-स्तर पर निर्भर होते हैं वास्तव मे व्यष्टि तथा समष्टि दोनो मे से किसी का भी अकेले मे अध्ययन निष्प्रयोजन सिद्ध होगा। प्रत्येक को दूसरे का सहारा आवश्यक है, यदि सहायता न मिली तो विश्लेषण बेकार होगा। समष्टि अर्थशास्त्र बिना व्यष्टि अर्थशास्त्र के जन्म ही न ले सकेगा, व्यष्टि बिना समष्टि के भली-भाति जी न सकेगा।

समष्टि स्थैतिक, समष्टि तुलनात्मक स्थैतिक तथा समष्टि प्रवैगिक—समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन की पद्धतियो को भी हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं।*

(१) समष्टि-स्थैतिक (Macro Statics)

(२) तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक (Comparative macro-Statics)

(३) समष्टि प्रवैगिक Macro-Dynamics)

समष्टि स्थैतिक—यह सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की स्थिर अवस्था का अध्ययन करता है। कुछ यौगिक सम्बन्ध जो सस्थिति पर पहुँच गये हैं, यह उन्ही की व्याख्या करता है। मूलत यह सस्थिति का अध्ययन है। आर्थिक जगत गतिशील है। भिन्न-भिन्न यौगिक (aggregates) अपनी क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा नये-नये सस्थिति बिन्दुओ का निर्माण करते रहते हैं। समष्टि स्थैतिक इन्ही सस्थिति बिन्दुओ की व्याख्या करता है, वह यह बताने का प्रयत्न नही करता कि आर्थिक व्यवस्था सस्थिति बिन्दु पर पहुची कैसे। स्थैतिक सस्थिति प्रक्रिया की कोई व्याख्या नही करता। यह सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को एक इकाई मान, उसकी शात तथा स्थिर तस्वीर खीचता है। एक सस्थिति तो सदैव बनी रहती है (स्मरण रहे कि यहाँ हम किसी स्थिर-अवस्था का नही अपितु प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था का विवेचन कर रहे हैं)। प्रत्येक सस्थिति की अन्तिम अवस्था म निहित समायोजन प्रक्रिया पर विचार किये बिना सस्थिति की अन्तिम अवस्था म समष्टि परिवर्तनशील इकाइयो के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है। सस्थिति की ऐसी अन्तिम अवस्था का उदाहरण हम दो प्रकार दे सकते हैं, एक तो समीकरण द्वारा, दूसरे चित्र द्वारा।

* पिछले अध्याय मे 'स्थैतिक तथा प्रवैगिक' के विवेचन को देखिये।

समीकरण द्वारा इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

य=उ+वि
Y=C+I

इस समीकरण में
य=कुल आय
उ=कुल उपभोग पर व्यय
वि=कुल विनियोग

इस समीकरण को हम ऐसी अवस्था में देखते हैं जहा कुल आय कुल उपभोग व्यय तथा कुल विन्यिोग के बराबर तथा अनुरूप है। इस समीकरण से हमें इस बात का बिल्कुल पता नहीं चलता कि आर्थिक-व्यवस्था ऐसी अवस्था पर पहुँची कैसे, जहा कि कुल आय कुल उपभोग व्यय तथा कुल विनियोग के बराबर हो गई। यह अवस्था सस्थिति की अवस्था है जहा सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था स्थिर हो गई है—चाहे एक ही क्षण के लिये। यह समीकरण काल से परे है अर्थात् काल का विचार इसमें नहीं किया गया है, यद्यपि इसमें यह तथ्य निहित है कि यदि उपभोग-व्यय या विनियोग में कुछ परिवर्तन हुआ तो कुल आय में भी परिवर्तन होगा। आर्थिक व्यवस्था ऐसी अवस्था में पहुँच गई है जहा कि कुल आय, कुल उपभोग-व्यय तथा कुल विनियोग के है। सारी आर्थिक व्यवस्था सस्थिति में है। समष्टि स्थैतिक ऐसी ही सस्थिति पर प्रकाश डालता है। ग्राफ द्वारा हम समष्टि-स्थैतिक के समीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—
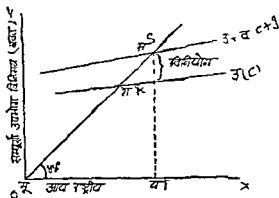
इस चित्र में ४५° की रेखा ऐसी रेखा है जिसके प्रत्येक बिन्दु पर क्षैतिज अक्ष का निर्देशांक वही है जो ऊर्ध्वग निर्देशांक का है। वक्र उपभोग अनुसूची है, यह इस बात को बताती है कि आय के प्रत्येक स्तर पर समाज उपभोग पर कितना खर्च करेगी। उ-वक्र के प्रत्येक बिन्दु से हम आय के प्रत्येक स्तर पर किये जाने वाले विनियोग को जोड देते हैं और इन दोनों के योग से हमें उ+वि वक्र मिलता है। उ—वक्र तथा उ+वि वक्र के बीच की ऊर्ध्वग दूरी से हमे विनियोग

अनुसूची प्राप्त होती है। उ-वक्र तथा ४५° की रेखा के बीच की ऊर्ध्वग दूरी बचत कहलाती है। स्पष्ट है कि श बिन्दु से बायी ओर बचत ऋणात्मक होती है, श बिन्दु पर बचत शून्य हो जाती है और उसके बाद यह धनात्मक हो जाती है।

य आय से हम दो अर्थ निकाल सकते हैं।

१. यह ऐसी आय है जिस पर कि, होने वाले उपभोग व्यय तथा विनिमय दोनो मिलकर इस आय के बराबर हो जाते हैं और सस्थिति आ जाती है।

२ *यह ऐसी आय है जिस पर कि की जाने वाली बचत (उ-वक्र तथा* ४५° रेखा के बीच की ऊर्ध्वग दूरी) बराबर होती है विनिमय के (अर्थात् उ-वक्र तथा उ+वि-वक्र के बीच की दूरी के।

दोनो हालतो मे हमें 'स' बिन्दु पर सस्थिति मिलती है। लेकिन यह स्थैतिक सस्थिति है। इस बिन्दु पर सम्पूर्ण आर्थिकव्यवस्था सस्थिति मे आ गई है। या हम इस प्रकार कहें कि स बिन्दु आर्थिक ढाँचे की सतुलित अवस्था प्रकट करता है। हमे इस बात का पता इस चित्र से नही चलता कि आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार इस सतुलन की अवस्था मे पहुँची। हमारे समक्ष केवल एक स्थिर रूप उपस्थित है जिसकी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती क्रिया विधियो का हमे इस चित्र से कोई ज्ञान नही हो पाता। यह स्थिति है समष्टि स्थैतिक की।

तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक *—आर्थिक व्यवस्था कभी स्थिर तो रहती ही नही। कभी एक सतह पर तो कभी दूसरी सतह पर सस्थिति होती रहती है। समष्टि परिवर्तनशील तत्वो, जैसे उपभोग तथा विनिमय म किसी परिवर्तन के फलस्वरूप आर्थिक व्यवस्था की सस्थिति का तल भी परिवर्तित हो जाना है। समष्टि परिवर्तनशील तत्वो मे परिवर्तन होते रहने के फलस्वरूप आर्थिक व्यवस्था मे भिन्न भिन्न स्तरो पर आने वाली सस्थितियो का तुलनात्मक अध्ययन ही तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक कहलाती है। इस अध्ययन प्रणाली मे हम आर्थिक व्यवस्था *के कई "शात चित्रो का दिग्दर्शन करते हैं। यदि हम उपधारणा कर लें कि* उपभोग आय पर निर्भर होता है तथा किसी समय विशेष पर विनिमय एक निश्चित राशि होती है तो हम तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं —

य=उ (य)+वि
Y = C(Y) + I

य=कुल आय
उ (य)=कुल आय पर निर्भर करने वाला उपभोग अर्थात् आय मे परिवर्तन उपभोग मे परिवर्तन से आता है।
वि=विनियोग जो किसी समय विशेष पर स्थिर मान लिया गया है।

* K K Kurihara op cit. के आधार पर यह लिखा गया है।

इस प्रकार उपभोग तथा विनिमय सम्बन्धी उपर्युक्त उपधारणाओं के आधार पर कुल आय के कई सस्थिति मूल्य देखे जा सकते हैं। कुल विनिमय तथा उपभोग मे किसी समायोजन यत्र द्वारा हेर-फेर होता है। इस हेर-फेर से ही आय के भिन्न-भिन्न सस्थिति मूल्य (equilibrium Values) उत्पन्न होते हैं। केन्ज ने इसको 'बदलती रहने वाली सस्थिति' (Shifting Equilibrium) कहा है। निम्नलिखित समीकरण प्रणाली द्वारा हम इस क्रिया को देख सकते हैं :—

$$\Delta \text{ य} = \Delta \text{ उ} + \Delta \text{ वि} \quad \cdots\cdots\cdots\cdots (१)$$

यहा :

Δ य = आय मे वृद्धि

Δ उ = उपभोग मे वृद्धि

Δ वि = विनियोग में वृद्धि

यदि अल्पकाल के लिये विनियोग की मात्रा को स्थिर मान लें तो ऊपर दी हुई उपधारणा के अनुसार, उपभोग आय पर निर्भर करता है। यदि आय मे वृद्धि होती है तो उपभोग मे एक निश्चित अनुपात मे वृद्धि होगी, इस प्रकार

$$\Delta \text{ उ} = \text{क } \Delta \text{ य} \quad \cdots\cdots\cdots\cdots (२)$$

क : आय मे वृद्धि होने पर उपभोग की मात्रा में वृद्धि होने का अनुपात है। अब यदि समीकरण (१) मे समीकरण (२) के मूल्यों को ले आयें तो।

$$\therefore \Delta \text{ य} = \Delta \text{ उ} + \Delta \text{ वि}$$

$$= \text{क } \Delta \text{ य} + \Delta \text{ वि}$$

$$\text{अथवा } \Delta \text{ य} - \text{क } \Delta \text{ य} = \Delta \text{ वि}$$

$$\text{,, } \Delta \text{ य } (१ - \text{क}) = \Delta \text{ वि}$$

$$\therefore \Delta \text{ य} = \frac{\Delta \text{ वि}}{१ - \text{क}}$$

$$= \frac{१}{१ - \text{क}} \Delta \text{ वि}$$

$$= \text{म } \Delta \text{ वि}$$

$$\left(\frac{१}{१ - \text{क}} \text{ को 'म' के बराबर मान लेने से} \right)$$

यहाँ हम देख सकते हैं कि आय मे Δ य के परिवर्तन से आय का एक नया स्तर तुरन्त वजूद मे आ जाता है। विनिमय की मात्रा में परिवर्तन स्वतन्त्र रूप से होता माना गया है। विनिमय मे जब परिवर्तन होता है तो आय भी तत्क्षण एक नये स्तर पर आ जाती है। यदि हम विनिमय की मात्रा में वृद्धि को 'म' से गुणा करें तो हम आय मे परिवर्तन दिखा सकते हैं। केन्ज ने इसी 'म' को विनिमय-गुणक (Investment Multiplier) कहा है।

हम तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक को ग्राफ की सहायता से भी दिखा सकते हैं।
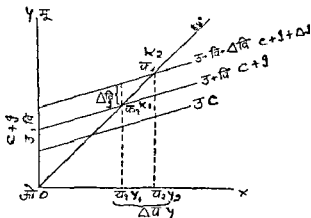
चित्र न० (१)

उध्वर्ग अक्ष पर उपभोग तथा विनिमय दिखाये गये हैं तथा क्षैतिक पर आय। प्रारम्भ मे आय ओ य, है। यह आय उस समय की है जब विनिमय मे कोई अकस्मात् वृद्धि नहीं हुई थी। अब मान लिया कि विनिमय की मात्रा △ वि बढा कर, इससे उत्पन्न नये स्तर पर स्थिर रखी गई। अब आर्थिक व्यवस्था नये आय-स्तर य₂ पर तुरन्त स्थिर होती देखी जा सकती है। △ य के उ तथा वि पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आर्थिक-व्यवस्था प्रारम्भिक सस्थिति क, से एक नये स्तर क₂ पर चली गई।
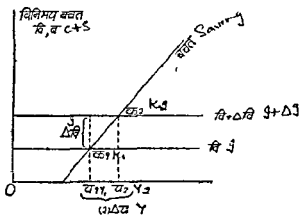
चित्र न० (२)

चित्र न० (२) मे वही फल विनिमय तथा बचत के रूप मे दिखाया गया है। दोनो दशाओं मे गुणक-क्रिया, ऐसी अवस्था से शुरू होकर जहा बचतविनिमय के

है, आय बढाता है जिससे कि बचत मे इतनी वृद्धि हो जाये कि बचत तथा विनिमय एक दूसरे के बराबर हो जायें। इसका फल यह होता है कि आर्थिक व्यवस्था आय के एक नये स्थिर-स्तर य_{2} पर थम जाती है। जब तक विनिमय Δ वि की दर से होता रहेगा, नये आय स्तर की सस्थिति को अनिश्चित काल तक बनाये रखा जा सकता है।

लेकिन कठिनाई यह है कि हमे इस बात का पता उपर्युक्त विवेचन से नही चल पाता कि विनिमय मे Δ य की वृद्धि होने के पहले अर्थात् यह आय-स्तर तथा वृद्धि होने के पश्चात् अर्थात् य_{2} आय-स्तर के बीच क्या होता है, आर्थिक व्यवस्था य_{1} से य_{2} पर पहुची कैसे ? यहा हमे समष्टि प्रवैगिक का सहारा लेना पडता है।

समष्टि प्रवैगिक —यह समष्टि परिवर्तनशील तत्वो की गति का प्रवैगिक जगत की व्याख्या भूत तथा भविष्य के सदर्भ मे करता है, इस विधि द्वारा प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था के सम्पूर्ण ढाचे की क्रिया की व्याख्या की जाती है। समष्टि प्रवैगिक विधि द्वारा हम उन क्रियाओ का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा सस्थिति समय-समय पर आती रहती है, आर्थिक ढाचे के समष्टि परिवर्तनशील अवयवों का अनुपात समय के साथ-साथ बदलता रहता है, यौगिको मे निरन्तर परिवतन होता रहता है। समष्टि प्रवैगिक विधि हमे बताता है कि भिन्न-भिन्न अनुपातो की क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा गुजर कर किस प्रकार आर्थिक व्यवस्था सस्थिति में आती रहती है। यह सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का 'गतिशील चित्र' प्रस्तुत करता है।

प्रवैगिक प्रणाली को हम निम्नलिखित समीकरणो द्वारा समझ सकते हैं —

$$\text{य}_{\text{स}} = \text{उ}_{\text{स}} + \text{वि}_{\text{स}} \cdots\cdots\cdots\cdots (१)$$

$\text{य}_{\text{स}}$ = स समय पर कुल आय

$\text{उ}_{\text{स}}$ = स समय पर कुल उपभोग

$\text{वि}_{\text{स}}$ = स समय पर कुल विनियोग

केन्ज के अनुसार विनियोग मे वृद्धि आय मे वृद्धि करती है और तब उपभोग मे भी वृद्धि होती है, किन्तु उपभोग मे वृद्धि तुरन्त विनियोग मे वृद्धि के साथ ही नही होती। यह एक अवधि (period) के बाद होती मानी गई है। इस प्रकार यदि आधार-अवधि (base period) के उपभोग को हम उ मान लें तो स समय का उपभोग बराबर होगा प्रारम्भिक उपभोग तथा स समय से एक अवधि पहले तथा प्रारम्भिक आयो के अन्तर के एक निश्चित अनुपात के योग के :

$$\text{उ}_{\text{स}} = \text{उ}_{0} + \text{म}\ (\text{य}_{\text{स}-1} - \text{य}_{0}) \cdots\cdots\cdots\cdots (२)$$

उ_{0} = प्रारम्भ का (आधार अवधि का) उपभोग

अ = उपभोग की वृद्धि की एक निश्चित दर

$य_{स-१}$ = स समय से एक अवधि पहले की आय

$य_०$ = प्रारम्भिक आय

अब यदि हम $उ_स$ का मान समीकरण से निकालें जो $(य_स - वि_स)$ के बराबर होगा तथा इसे समीकरण (२) मे $उ_स$ के बदले प्रयोग मे लायें तो

$$य_स = अ(य_{स-१} - य_०) + उ_० + वि_स$$

यह समीकरण प्रवैगिक सस्थिति यत्र का सूचक है। उपर्युक्त प्रणाली मे आय उपयोग, तथा विनियोग सब समयानुसार परिवर्तनशील माने गये हैं। उपभोग पूर्ववर्ती अवधि (स — १), की आय पर निर्भर करता है। विनिमय भी समय पर निर्भर है। लेकिन उसे स्थिर रखा जाता है जिससे कि $वि_स$ = वि के। इस प्रकार समष्टि प्रवैगिक प्रणाली हमे कुल आय, कुल उपयोगीकरण (Employment), कुल उत्पादन, या मूल्यो के व्यवहारो को सदर्शित करती है। इन यौगिको मे हेर-फेर की व्याख्या समष्टि प्रवगिक प्रणाली द्वारा भली भाति की जा सकती है।

ग्राफ की सहायता से हम व्यापक प्रवैगिक प्रणाली को निम्नलिखित भाति दिखा सकते हैं —
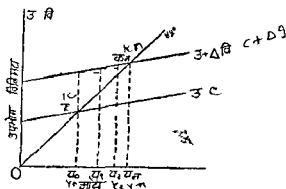
इस चित्र मे आर्थिक व्यवस्था क से क न की ओर बढ रही है, या यों कहें कि $य_०$ आय से $य_न$ आय की ओर बढ रही है। इसके बढने के मार्ग की अनुसूची (schedule) के बीच उर्ध्वग तथा क्षैतिज रेखाय हैं। यह देखा जा सकता है कि आय के किन्ही दो अवधियों के बीच का अन्तर बराबर है विलम्बित (lagged) बचत तथा विनिमय के अन्तर के। यहा आय क बिंदु से प्रारम्भ होती मानी गई है। उ वक्र ४५° की रेखा को क बिंदु पर काटता है तथा सस्थिति की आय $य_०$ को जन्म देती है। यह आय इतनी कम है कि वास्तविक विनियोग तथा वास्तविक बचत

बराबर हैं, तथा सम्पूर्ण आय सम्पूर्ण उपभोग के बराबर है। लेकिन जैसे ही स्वायत्त विनियोग की मात्रा शून्य से △ वि बढाई जाती है 'क' पर की यह मस्थिति खण्डित हो जाती है तथा सम्पूर्ण प्रणाली मे असतुलन पैदा हो जाता है, क्योकि विनिमय अब अधिक है यद्यपि बचत अब भी शून्य है। इस प्रकार सम्पूर्ण ढाचा सतुलन के गुणक मार्गों से होता हुआ उ+△ वि रेखा के सहारे आगे बढता है।

आर्थिक-नीति के निर्धारण में समष्टि-अर्थशास्त्र की महत्ता—आर्थिक नीति के निर्धारण का गुरुतर भार ससार के प्राय सभी राज्य अपने ऊपर ले चुके हैं। केन्ज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक का नाम 'उपयोगीकरण, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त" रखा। उपयोगीकरण, ब्याज तथा मुद्रा पर आज किसी भी देश की समृद्धि निर्भर है। इन्ही का समुचित प्रबन्ध देश को समृद्धिशाली बना सकता है, इनका दुरुपयोग देश को पतन के मार्ग पर ढकेल सकता है। आधुनिक जगत मे शायद ही कोई ऐसी सरकार हो जिसने विशिष्ट रूप से आर्थिक जगत की इन प्रबल शक्तियो को अपने हाथ म न ले रखा हो। मुद्रा तथा ब्याज का उत्तरदायित्व सरकारें अपने अपने देश के केन्द्रीय बैंको (जो अधिकाश हालतो मे सरकारो के हाथ मे हैं) की सहायता से निबाहती हैं। समाधनो, विशेषकर श्रम के उपयोगीकरण की देखभाल तो सरकारों के लिए अनिवार्य कर्तव्य बन गया है। आज की सरकारें जब ये उत्तरदायित्व ले चुकी हैं तो स्पष्ट है कि वे सम्पूर्ण समाज के कल्याण को दृष्टिगत रखकर ही अपनी नीति निर्धारित करेंगी। इन विषयो पर कोई भी निर्णय आर्थिक योगिको तथा औसतों के सन्दर्भ ही मे लगाए जा सकता है। सरकार द्वारा निर्धारित नीति सम्पूर्ण समाज पर लागू होगी।

उत्तरदायी सरकार के प्रत्यय मात्र मे यह भाव अन्तर्निहित है कि यह व्यक्तियो को व्यक्ति विशेष के रूप में न देख उन्हे समाज के सदस्य की हैसियत मे देखती है।* इसलिये सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को समक्ष रखकर ही यह उपयोगीकरण, मुद्रा, ब्याज मजदूरी, सामान्य कीमतो आदि पर (समष्टि रूप से) विचार करती हैं। सब प्रकार की कीमतो, मजदूरियो, लगानो आदि का अलग-अलग नियन्त्रित करना सम्भव नहीं। इस प्रकार चूकि सरकारी नीति तथा व्यवस्था को आर्थिक परिवर्तनशील तत्वो के बडे समूहो तथा जातियो के सन्दर्भ म कार्य करना पडता, है, इसलिये सरकारी नीति तथा व्यवस्था के प्रश्नो पर प्रकाश डालने के लिये यौगिको और औसतों के व्यवहार के सम्बन्ध मे एक सिद्धान्त की आवश्यकता होनी अनिवार्य है, इससे समष्टि अर्थशास्त्र की महत्ता का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

"उस आधुनिक सिद्धान्तवादी के लिये, जो आज के विशद प्रश्नों के हल योगदान देना चाहता है, समष्टि अर्थशास्त्र के प्रत्यय के साथ कार्य करना अनिवार्य

---

* A Reconstruction of Economics by K E Boulding (John Wiley & Sons, Inc, New York), 1950, p 172

है।" * आज के विशद् अर्थों से अभिप्राय है कुल राष्ट्रीय आय तथा उपयोगीकरण की गति विधि के विवेचन से तथा यह बताने से, कि कुल राष्ट्रीय आय तथा उपयोगीकरण में समय-समय पर सकुचन क्यों आ जाता है। तत्पश्चात् प्रमुख प्रश्न उठता कि इस सकुचन को रोकने के उपाय क्या हैं। इन महत्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने के लिये आर्थिक जगत का समष्टि रूप से, व्यापक ढग मे अध्ययन किया जाना अनिवार्य है। आर्थिक जगत की विशिष्ट इकाइयों के विवेचन से सम्पूर्ण आर्थिक-जगत की गतिविधि का पता लगाना हमारे लिये असम्भव प्राय है। आर्थिक यौगिक के गुण धर्म तथा व्यवहार को हम इसके तत्वो के अलग-अलग गुण धर्मों तथा व्यवहारों के सामान्यीकरण द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। जैसा बोल्डिङ्ग ने कहा है, यदि हमारा लक्ष्य वन का अध्ययन करना है तो यद्यपि वन वृक्षों का समूह है, फिर भी किसी एक वृक्ष का गुण-धर्म तथा व्यवहार इसमें नहीं पाया जाता। ** वन वृक्षों की आयु तथा बनावट की दृष्टि से, सम्भव है, सर्वदा सम्स्थिति मे रहे अर्थात् भिन्न-भिन्न आयु वाले वृक्ष सदा उसी अनुपात मे विद्यमान रहे यद्यपि वृक्षो की इकाइयो में से कुछ जीर्ण होकर धराशायी होती होंगी, कुछ उगती होंगी आदि। *** इसी प्रकार आर्थिक जगत तमाम इकाइयों की सयुक्त शक्तियो (जो विभिन्न दिशाओं में इसे खींचती रहती हैं) से मिलकर बनता है, किन्तु उसमें किसी एक इकाई का गुण धर्म तथा व्यवहार नहीं पाया जा.।। इसलिए आर्थिक जगत का विश्लेषण उसके अलग-अलग तत्वों के गुण-धर्मो तथा व्यवहारों के सामान्यीकरण द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अत समष्टि अर्थशास्त्र की विवेचना परमावश्यक है।

आधुनिक ससार म, जब ससार की अधिकाश सरकारें 'कल्याणकारी-राज्य' के आदर्श पर कार्य कर रही हैं, जिसके अन्तर्गत सामाजिक उत्थान तथा कल्याण सरकारी कार्यों का परम ध्येय हो चुका है तब सरकार के तमाम आर्थिक कार्यों मे समष्टि का आर्थिक विधान होना आवश्यक ही है। सरकारी बजट सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को परिलक्षित कर तैयार किया जाता है। सरकार को अपनी नीति निर्धारण के लिये आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि यह अनुमान 'औसत के आधार' पर ही लगाए जा सकते हैं। आने वाले वर्ष में आय-कर से सरकार को कितनी आय होगी, इस अनुमान म 'समस्तपन' का भाव निहित है। एक फर्म अथवा उद्योग द्वारा दिये जाने वाले आय-कर से सरकार का सम्बन्ध नहीं,

* J Tinbergen 'The significance of Keynes's Theories from the Econometric point of view' in *The New Economics* (S E Harris)

** आधुनिक युग के हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार द्वारा लिखित एक कहानी जो 'जैनेन्द्र की कहानियों में छपी है ध्यान देने योग्य है, यद्यपि वह और किसी सन्दर्भ में लिखी गई है फिर भी वृक्षों की परस्पर वार्ता कि 'वन क्या है' बड़ी दिलचस्प है।

*** Boulding, K. E. Reconstruction, p. 173.

वह तो समस्त आर्थिक व्यवस्था के आधार पर आय कर का निर्धारण करती है। आजकल प्राय सरकारें आर्थिक व्यवस्था का विकास योजना बद्ध रीति से करने का प्रयत्न करती दिखाई पड़ती है—विशेषकर उन देशों की सरकारें जहाँ आर्थिक व्यवस्था अविकसित है। समष्टि पद्धति के बिना किसी प्रकार का, सामाजिक स्तर आर्थिक नियोजन असम्भव है। समष्टि पद्धति हम सम्पूर्ण, आर्थिक व्यवस्था की जटिलताओं से परिचित करनी है। तत्पश्चात् ही हमारे लिए यह सम्भव हो सकता है कि हम अपना ध्यान ऐसे यौगिकों पर केन्द्रित करें जो आर्थिक व्यवस्था को प्रमुख रूप से प्रभावित करते हैं।

यदि ध्यानपूर्वक विचार कर तो हम देखेंगे कि आर्थिक व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र मे बढ़ता हुआ विशिष्टीकरण यह अनिवार्य बना देता है कि तमाम विशिष्ठित प्रक्रियाओं का ऐसा सयोजन हो कि सब समन्वित रूप से आगे बढ़ें। उदाहरण के लिये हम कपड़े के उत्पादन को लेते हैं। इसमे रूई उत्पादन से लेकर कपड़ा तैयार करने तथा उसे निर्यात करने तथा उपभोग करने के लिये वितरित करने तक तमाम प्रक्रियायें शामिल हैं। कपड़ा उत्पादन तथा वितरण के प्रत्येक चरण पर विशिष्टीकरण है। कोई रुई उत्पादन करता है, कोई बिनौले निकाल उसे साफ करता, धुनता है, कोई पूनी बनाता है, तो अन्य कोई धागा तैयार करता है आदि। अब इन तमाम प्रक्रियाओं का सतुलित कार्य तभी सम्भव है जब इनका सयोजन तथा समन्वयन करने वाली कोई पद्धति हो। कितना धागा तैयार किया जाय जिससे जन कल्याण तथा देश का हित हो—इस प्रश्न पर सरकार जब विचार करेगी तो उसे यह सोचना पड़ेगा कि सपूर्ण समाज मे कपड़े की कितनी आवश्यकता है, निर्यात के लिये कितना कपड़ा अपेक्षित होगा, फिर क्या रुई उत्पादन के स्थान पर उसी भूमि पर किसी अन्य फसल का उत्पादन कहीं अधिक आवश्यक तो नहीं आदि। इस प्रकार सरकार को, कोई कदम उठाने के पहले, आर्थिक व्यवस्था का समष्ट्यात्मक अध्ययन आवश्यक होगा। अन्यथा व्यवस्था के आणविक इकाइयों के व्यवहार वैविध्य के गहन जजाल म दृष्टि इतनी उलझ जायेगी कि हम अपने वास्तविक मार्ग का कहीं पता भी न मिल सकेगा। भविष्य के प्रति समुचित अनुमान तथा आर्थिक नियन्त्रण समष्टि अध्ययन के बिना, असम्भव से होंगे। समष्टि-अर्थशास्त्र न केवल हमे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की क्रिया विधियों का ही दिग्दर्शन कराता है अपितु हमारा ध्यान आर्थिक सुव्यवस्था के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन व्यावहारिक प्रश्नों की ओर भी आकर्षित कराता है, जो बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय आय, पूर्ण उपयोगीकरण, सामान्य कीमत-स्तर आदि प्रत्ययों का अर्थ केवल समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही सम्भव है। इस समस्या से बहुत से अर्थशास्त्री बीते युग मे भी न्यूनाधिक अवगत थे। कुछ ने अपने ढग से इसको सुलझाना भी चाहा। आडमस्मिथ तथा रिकार्डो का मजदूरी-कोष सिद्धान्त (Wage-fund Theory) तथा मार्क्स का मूल्याधिक्य सिद्धान्त (Surplus-Value Theory)

दोनो, मजदूरी के व्यापक प्रश्न का मूलत व्यष्ट्यात्मक दृष्टिकोण से हल करने की दिशा मे प्रयत्न माने जा सकते हैं।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे भी समष्टि अर्थशास्त्र को पूर्णतया उपेक्षित नही किया जा सका। जैसा कहा जा चुका है, व्यष्ट्यात्मक अध्ययन की प्रधानता के युग मे भी समष्टि-अर्थशास्त्र की एक पतली किन्तु स्पष्ट रेखा खिंची चली आई है। फर्म का व्यष्ट्यात्मक सिद्धान्त भी एक प्रकार के सामान्यीकरण पर हा टिका है और सामान्यीकरण निश्चय रूप से समष्टि-अर्थशास्त्र का प्रश्न है।

ऊपर हमने वन-वृक्षो के सम्बन्ध की चर्चा की है। यहा हम आर्थिक जगत स ऐसा उदाहरण लेंगे जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि इकाई अशो तथा सम्पूर्ण के कार्यों मे कभी-कभी, कितना विरोधाभास हो सकता है अर्थात् जो बैंगन सम्पूर्ण के लिये वावरा होता है वही कैसे इस सम्पूर्ण के इकाइयो के लिये अलग-अलग पथ्य बन जाता है। इकाइयों तथा सम्पूर्ण के समान कार्यों के अलग-अलग विरोधाभासयुक्त परिणाम इस बात को और भी महत्वपूर्ण बना देते हैं कि सम्पूर्ण व्यवस्था की रोगो के निदान हतु समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है। अब हम सक्षेप मे कतिपय ऐसे विरोधाभासो की चर्चा करेंगे।

समष्टि-अर्थशास्त्रीय विरोधाभास (Macro-economic Paradoxes)*

समष्टि अर्थशास्त्रीय विरोधाभास से तात्पर्य उन धारणाओं से है जो किसी एक व्यक्ति के लिये तो सही हो किन्तु जब उनका प्रयोग सम्पूर्ण व्यवस्था के लिये किया जाय तो व निरर्थक निकल जायें। ऐसे विरोधाभासो के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) एक व्यक्ति सचयन द्वारा अपने मुद्रा परिमाण मे वृद्धि कर सकता है, किन्तु सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था इस विधि से मुद्रा परिमाण मे वृद्धि नही कर सकती। सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के मुद्रा परिमाण मे वृद्धि तभी लाई जा सकती है, जबकि नई मुद्रा टाली जाय। सचयन सम्पूर्ण व्यवस्था के लिय असम्भव है। यदि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा-स्टाक निश्चित तथा स्थिर है तो यदि उसमे के किसी एक व्यक्ति के मुद्रा स्टाक मे वृद्धि होगी तो इसका अर्थ यह होगा कि किसी अन्य व्यक्ति (अथवा व्यक्तियो) के मुद्रा-स्टाक म कमी आई होगी। यदि मुद्रा परिमाण स्थिर है और मैं जितनी मुद्रा पाता हूँ उससे कम खर्च करता हू (अर्थात् मैं सचयन करता हू) तो इसका अर्थ यह होगा कि मेरे द्वारा सचित की हुई राशि किसी के असचयन का परिणाम है।

(२) लाभ तथा मजदूरी सम्बन्धी समष्टि-अर्थशास्त्रीय विरोधाभास—राष्ट्रीयआय का मजदूरी तथा अमजदूरी मदो मे विभाजन मजदूर-मालिको की सौदेबाजी तथा प्रबन्धको की कार्य-कुशलता पर निर्भर नही होती, जैसी कि आम धारणा है,

* A Reconstruction of Economics *by K. Boulding*, Pp 173 etc

बल्कि इसका दारोमदार विनियोग, उपभोग, राजस्व तथा द्रवता आदि निर्णयों पर निर्भर होता है। केनेसियन तथा परम्परावादी अर्थशास्त्र में अन्तर बताते समय हमने इस बात का उल्लेख कुछ और विस्तारपूर्वक किया है।

(३) किसी व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष की, आय उसके व्यय से कम या अधिक हो सकती है, किन्तु सम्पूर्ण समाज की आय उसकी व्यय से कम व अधिक नहीं हो सकती—वह उसके बराबर ही होगी।

(४) एक देश का निर्यात उसकी आयात से अधिक या कम हो सकता है, लेकिन संसार के सभी देशों को एक साथ लेने से हम देखेंगे कि सब देशों की आयात बराबर होती है सब देशों की निर्यात् के।

(५) एक व्यक्ति बचत कर सकता है और वह चाहे तो विनियोग न करे, उसी प्रकार व्यक्ति-विशेष बिना वर्तमान में बचत किये हुये भी विनियोग कर सकता है, अर्थात् एक व्यक्ति की बचत तथा विनियोग के बीच काफी अन्तर हो सकता है लेकिन समुचित परिभाषा करने पर हम देखेंगे कि सम्पूर्ण समाज की बचत तथा विनियोग आवश्यक रूप से बराबर होते हैं।

इसी प्रकार विरोधाभास के हम अन्य तमाम उदाहरण दे सकते हैं।

समष्टि-अर्थशास्त्र में अन्तर्निहित कठिनाइयां तथा खतरे—

समष्टि-अर्थशास्त्र की प्रणाली में गम्भीर कठिनाइयां तथा खतरे हैं। इन कठिनाइयों तथा खतरों के कारण इस प्रणाली के अन्तर्गत कार्य करने में बड़ी सतर्कता अपेक्षित है। यदि सावधानी से काम न लिया गया तो प्राप्त किये हुये अनुमान तथा फल भ्रामक तथा निरर्थक हो सकते हैं।

समष्टि-अर्थशास्त्र की कठिनाइयां तथा खतरे वास्तव में इसके 'औसत' तथा 'साधारणीकरण' के स्वभाव में निहित हैं। हम पहले कह आये हैं कि सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था का एक इकाई के रूप में कार्य इसके अन्तर्गत कार्य-रत तमाम इकाइयों के कार्यों से भिन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक-व्यवस्था में कार्य करने वाली कोई आर्थिक इकाई व्यवहार में सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। लेकिन इसका विलोम भी तो सही है। अर्थात् सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था को हम इसके अन्तर्गत काम करने वाली किसी एक इकाई को प्रतिबिम्बित तथा उसका प्रतिनिधित्व करते कैसे मान सकते हैं। यह उन हालतों में और भी सही है जहां 'समष्टि' तथा 'व्यष्टि' के व्यवहारों के बीच स्पष्ट विरोधाभास है। जहां एक व्यक्ति के लिये बचत करना उचित तथा श्लाघ्य हो सकता है वहां सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये ऐसा करना विपद्। और, इसका विलोम भी सही है।

लेकिन इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था के साधारणीकरण की सामग्री प्राप्त कहां से होती है। स्पष्ट है कि तमाम

आर्थिक इकाइयो से अलग सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का वैसे कोई अस्तित्व नही हो सकता जिस प्रकार कि वृक्षो से अलग वन का कोई अस्तित्व नही। फल यह निकलता है कि इन आर्थिक-इकाइयो की क्रिया-विधियो से ही सम्पूर्ण व्यवस्था की क्रिया-विधि का अनुमान लगाया जा सकता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि समष्टि-अर्थशास्त्र का विधि 'औसत' तथा 'साधारणीकरण' है। विभिन्न आर्थिक-इकाइयो से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही हम सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था मे 'औसत' पा सकते हैं, इस 'औसत' से हम फिर सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था के सम्बन्ध मे अन्दाजे लगा सकते हैं। इस औसत के निकालने मे बडी कठिनाइया उपस्थित होती हैं।

पहली बात तो यह है कि जिन आर्थिक-इकाइयो का योग तथा माध्य (औसत) हम निकालते है वे प्राय भिन्न-भिन्न प्रकार की अर्थात् विपमावयव (Heterogeneous) होती हैं। यदि सम्पूर्ण के भिन्न-भिन्न अवयव विषमाङ्ग हुये तो सम्पूर्णता (अर्थात् यौगिक तथा औसत) का कोई अर्थ नहीं होगा। दो सेर दूध तथा दस बैलो को एक साथ कैसे जोडा जा सकता है? अर्थात् इन दोनो का यौगिक (अथवा औसत) क्या हो सकता है? इस योग का कोई अर्थ न होगा। जोडने से १२ अ क प्राप्त हुआ। पर १२ क्या? समान वस्तुए जोडी जा सकती है तथा उनका योग (औसत) कुछ अर्थ रख सकता है। किसी औसत की सतर्कता उसमे शामिल की गई वस्तुओ की समावयता (Homogeneity) पर निर्भर होती है। स्पष्ट है कि आर्थिक-व्यवस्था मे विषमागता इतनी अधिक पाई जाती है कि कोई व्यापक प्रयोजनीयता वाली औसत पाना अत्यन्त कठिन है।

इसी सम्बन्ध मे एक दूसरी कठिनाई की चर्चा आवश्यक है। यदि वस्तुओ को किसी सर्वनिष्ठ माप-दण्ड से मापा भी जा सके तो भी औसत निरर्थक सिद्ध हो सकती है। औसत की सार्थकता इस बात पर निर्भर होती है कि सच्चाई के सन्निकट हो। उदाहरण के लिये मनुष्य के तथा रेलवे के इजिन की तौलो को हम पौंड अथवा वजन की अन्य इकाइयो मे व्यक्त कर सकते हैं, लेकिन इससे जो औसत निकलेगी वह वास्तविकता से बहुत दूर होगी। व्यक्ति की औसत तौल तो काम की वस्तु है, और रेलवे इजिन का औसत वजन भी अपने क्षेत्र मे महत्व रखता है। लेकिन यदि ड्राइवर तथा इजिन का औसत वजन निकाला जाय तो फल बडा ही विचित्र निकलेगा। मान लिया मनुष्य की तौल $\frac{१}{१४}$ टन है तथा रेलवे इजिन का वजन ३० टन है। तो औसत वजन $= (\frac{१}{१४} + ३०) - २$ टन अर्थात् १५$\frac{१}{२८}$ टन के। मनुष्य के लिये तो यह वजन असम्भव है तथा इजिन के लिये एक विचित्रता। यह औसत किसी काम की नही। अतः औसत निकालते समय सम्बन्धित वस्तुओ की समावयता अत्यन्त आवश्यक शर्त है, वर्ना फल निरर्थक होगा। समष्टि-अर्थशास्त्र की यह कठिनाई बडी गम्भीर है। लेकिन चूं कि आज की हमारी आर्थिक-व्यवस्था मुद्रा-प्रधान है इसलिये मौद्रिक मापदण्ड से माप कर हम वस्तुओं का योग तथा उनकी औसत निकाल सकने मे समर्थ हो जाते हैं।

लेकिन यह न समझना चाहिये कि मुद्रा को मापदण्ड बनाकर हम सारी कठिनाइयों से छुटकारा पा लेते हैं। सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली मे अति वैविध्य होता है। वस्तुओं मे परस्पर काफी भेद होता है। फिर उनमे से प्रत्येक वस्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से महत्व नही रखती। 'कार' की कीमत चाहे कितनी ही कम क्यो न हो लेकिन वर्तमान परिस्थितियो मे तो वह भारत के जन-साधारण की पहुँच से परे ही है। इस कीमत को यदि देश की साधारण कीमतो मे शामिल किया जाता है तो सामान्य कीमत स्तर का एक बडा ही कृत्रिम तथा निरर्थक चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जावेगा। मान लिया कि खाद्य तथा उपभोग की अन्य वस्तुओं की कीमतो में कोई अन्तर नही होता, लेकिन किसी कारण से कार की कीमत बढ जाती है तो चूं कि कार की कीमत और कीमतो की अपेक्षा कही अधिक और प्रभावोत्पादन होती है, इसलिये कार की कीमत मे वृद्धि सामान्य कीमत-स्तर को बेजा तौर पर ऊपर उठा देगी तथा सामान्य कीमत-स्तर (जो समष्टि अर्थशास्त्र का प्रत्यय है) अत्यन्त भ्रामक चित्र उपस्थित करेगा क्योकि सामान्य कीमत-स्तर के ऊंचे हो जाने का अर्थ लगाया जायेगा कि सभी प्रकार के विक्रेताओं की (उत्पादकों की जिनमें किसान भी शामिल हैं) आय बढी है, किन्तु वस्तुत ऐसा होगा नही। फिर हो सकता है कि सामान्य-कीमत स्तर पूर्ववत् रहे लेकिन उसकी आन्तरिक बनावट मे पर्याप्त अन्तर आ जाय। ऐसा तब होगा जब सामान्य कीमत मे शामिल कीमतो मे से कुछ तो बढ जाय किन्तु अन्य घट जायें। मान लिया खाद्य पदार्थों की कीमतें घटती हैं तथा अन्य प्रकार की औद्योगिक वस्तुओं की कीमतो मे इस प्रकार वृद्धि आती है कि सामान्य कीमत स्तर पर इन परिवर्तनो का कोई प्रभाव नही पडता अर्थात् पूर्ववत् रहता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक व्यवस्था मे सबकी आय स्थिर है, लेकिन ऐसा अनुमान भ्रामक होगा तथा यदि इसके आधार पर किसी नीति का निर्धारण किया गया तो स्वभावत वह असफल होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग तथा औसत तैयार करने मे बडी बाधायें उपस्थित हो सकती हैं। वस्तुओं की विषमाङ्गता, उनके विरोधी स्वभाव तथा बनावटें और व्यक्ति के लिये उनका महत्व-वैषम्य इन तमाम बातो को ध्यान मे रखकर ही हमे समष्टि अर्थशास्त्र पर विचार करना चाहिये। मौद्रिक मूल्य की सहायता से हम इन कठिनाइयों को कम कर सकते हैं, लेकिन बिल्कुल निर्मूल नही। इससे यह स्पष्ट है कि समष्टि-अर्थशास्त्र मे मुद्रा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, केन्ज के मौद्रिक सिद्धान्तो के साथ ही समष्टि-अर्थशास्त्र के पूर्ण आगमन की बात भी इससे समझी जा सकती है।

यहां हमने समष्टि अर्थशास्त्र मे यौगिको तथा औसतो को निकालने की कठिनाइयो की चर्चा की है। यदि औसत निकाली भी जा सके तो भी आर्थिक जगत मे उसकी प्रयोजनीयता सीमित ही होगी। एक अत्यन्त सरल तथा देहातो मे

प्रचलित कहानी द्वारा इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। कहा जाता है कि किसी गाव मे एक तालाब था जो बहुत गहरा न था। उसमे एक बच्चा गिर गया तथा डूबकर मर गया। गाव का पटवारी आया और उसने उस सम्पूर्ण तालाब मे पानी की गहराई नापी। तत्पश्चात् उसने तालाब मे पानी की औसत निकालकर यह देखा कि पानी की औसत उस बच्चे की ऊचाई से कही कम थी। यह देखकर उसने घोषित किया कि बच्चा उस तालाब मे डूबकर मर ही नही सकता था। अपनी औसत का उसे इतना विश्वास था कि उसे यह ध्यान ही न आ सका कि तालाब जिस स्थान पर बच्चा डूबा है वहा पानी की गहराई औसत से अधिक रही होगी। निर्विवेक औसत के प्रयोग के दुष्परिणाम का यह साधारण किन्तु ज्वलन्त प्रमाण है।

यहा भी विषमाङ्गता ही सबसे अधिक कठिनाई प्रस्तुत करती है। जैसा बोल्डिङ्ग ने कहा है*, अर्थशास्त्रमे प्राय गणित-विश्लेषण की सुविधा के लिये वस्तुओं के साधारण समावयव होने की उपधारणा कर ली जाती है। राष्ट्रीय आय को हम प्राय 'य' के बराबर मान लेते हैं। लेकिन यह उपधारणा बडी ही जटिल तथा कृत्रिम है। गणित शास्त्र मे परिवर्तनशील तत्व समावयव होते हैं, जैसे दूरी। यदि हम पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी 'द' से प्रकट करें तथा इस आधार पर अपना विश्लेषण प्रस्तुत करें तो हमे यह विश्वास है कि इस दूरी का कोई आन्तरिक ढाचा नही है अर्थात् प्रत्येक मील दूरी अन्य मीलो की दूरी के समाने ही है। लेकिन अर्थशास्त्री जब राष्ट्रीय आय को 'य के बराबर मानता है तो वह अधिक खतरे मे है। यहा वह राष्ट्रीय आय की आन्तरिक बनावट को नजरन्दाज कर केवल उसके योग पर ही ध्यान दे रहा है। कतिपय प्रयोजनो के लिये राष्ट्रीय आय का योग मात्र भले ही महत्वपूर्ण हो, प्राय मसलो को सुलझाने के लिये इस यौगिक आय की आन्तरिक बनावट (अर्थात् विभाजन) का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन गणित विश्लेषण हमे यह बताने मे पूर्णरूपेण असमर्थ है। अत इस आधार पर भ्रामक भविष्यवाणिया की जा सकती हैं जैसा कि आर्थिक इतिहास मे कई बार हो चुका है। मार्क्स के विश्लेषण मे भी यही भूल हुई है। 'मजदूर वर्ग' (working class) को एक समावयव वर्ग मानकर उन्होंने अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस 'मजदूर वर्ग के आन्तरिक ढाचे तथा उसकी अनन्त वैषम्यता पर उन्होने ध्यान नही दिया। वास्तव मे 'मार्क्स का 'मजदूर वर्ग' एक कल्पना-मात्र है जिस यौगिक मे 'राष्ट्र' से भी कम आन्तरिक सगति तथा समावयवता पाई जाती है।** इस वर्ग मे धोबी, जुलाहे, अध्यापक, मोची और कितने पेशे वाले शामिल हैं जिनकी परिस्थितिया एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनको एक यौगिक मानकर विश्लेषण

---

* *Op. cit*, p. 187.

** *Ibid*, p 188.

से किसी खास सफलता की प्राप्ति की आशा नहीं की जानी चाहिये थी। इसी लिये मार्क्स की भविष्यवाणियां प्रायः बिल्कुल गलत सिद्ध हुईं।

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी समष्टि अर्थशास्त्र की पद्धति आज की युगीन-समस्याओं के विवेचन तथा समाधान के लिये ही नहीं, सैद्धान्तिक विश्लेषण के लिये भी अनिवार्य है। 'श्री नेहरू का यह कथन* कि आज "सर्वत्र वृहत्तर यौगिकों की ओर झुकाव है" राजनीतिक संगठनों के सन्दर्भ में उतना ही सही है जितना कि सामाजिक चिन्तन के अन्य क्षेत्रों में (जिसमें आर्थिक विश्लेषण एक है)।

---

* Press Conference by Mr. Nehru on June 13 1962 as reported by The Statesman (City Edn) dated June 14, 1962.

३१

केनेसियन तथा क्लासिकल सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

लार्ड जॉन मेनार्ड केन्ज इस युग के एक महान् अर्थशास्त्री हुए हैं। इन्होंने अपने जीवन काल में बहुत लिखा है। लेकिन इनकी सबसे अधिक विख्यात पुस्तक है 'दी जनरल थ्योरी आफ एमप्लायमन्ट, इन्ट्रेस्ट एण्ड मनी' (The General Theory of Employment, Interest and oney)। इस पुस्तक में उनके आर्थिक विचारों का निचोड़ है। यह पुस्तक सन् १९३६ ई० में प्रकाशित हुई। इसके बाद भी यह बराबर लिखते रहे किन्तु अस्वस्थता, अतिव्यस्तता, फिर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण अपने तत्पश्चात् के विचारों को यह पुस्तक का रूप नहीं दे पाये। हाँ, अपने पत्रों तथा लेखों द्वारा General Theory की विषय-वस्तु की व्याख्या जितनी हो सकी करते रहे। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद युद्धोत्तर विश्व की एत-विक्षत अवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संस्थाओं की रूप रेखा आदि समस्याओं ने इनका काफी समय ले लिया। सन् १९४६ ई० में ६२ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गई।

सन् १९३६ ई० से संसार भर में सहस्त्रों अर्थशास्त्रियों ने जनरल थ्योरी को पढ़ा होगा। कितनी पुस्तकें इसके सिद्धान्तों के खण्डन मडन के लिये छपी, कितने लेख तथा पैम्फलेट इस पर निकले। "…वास्तव में सामान्य अर्थशास्त्र पर सन् १९३६ ई० के पश्चात् लिखी कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जो जाने अनजाने 'जनरल थ्योरी' (General Theory) से प्रभावित न हुई हो।[1] इन सिद्धान्तों के विश्वव्यापी प्रभाव का कारण क्या था? इनमें वह कौनसी क्रान्तिकारी भावना थी जिसने ऊंघती हुई अर्थशास्त्र काया में नई चेतना तथा स्फूर्ति का सचार किया? केन्ज की सफलता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उनके कठोर से कठोर आलोचकों को भी जैसे अपने किए हुए खण्डनों पर विश्वास नहीं होता था बार-बार वे अपने तर्कों की पुष्टि खोजा करते थे—जैसे डरते हों उनके खण्डन वाले तर्क अपना मूल्य खो देते और पुन नये तर्कों की आवश्यकता

1. The New Economics, edited by *S E Harris*, p 45.

पड़ जाती थी। क्लासिकल पद्धति मे अटूट श्रद्धा रखने वालो[2] के पैर भी डगमगा उठे और वे भी जैसे आ मविश्वास सा खो बैठे। कारण ? उत्तर के लिये हमे सबसे पहले उस क्लासिकल आर्थिक सिद्धान्त का सक्षेप मे वर्णन करना होगा जिसकी पृष्ठभूमि पर केन्ज के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। उन सिद्धान्तो से केन्ज के सिद्धान्त की सक्षिप्त तुलना केन्ज के महत्व को बताने मे सहायक होगी।

क्लासिकल सिद्धान्त मुख्यत अत्यधिक व्यवस्था की इकाइयो के अध्ययन पर जोर देता था। उसके अध्ययन की रीति 'माइक्रो' (व्यष्ट्यात्मक) थी। यह विशिष्ट फर्मों तथा उद्योग धन्धों को इकाई के रूप लेकर उनकी व्यवस्था, उनमें ससाधनो का उपयोगीकरण, मजदूरी की दर, लाभ हानि आदि बातो पर अलग-अलग विचार करता था। समस्त आर्थिक व्यवस्था पर माग-पूर्ति के नियम की व्यापकता मान ली गई थी। मूल्य-यन्त्र को आर्थिक व्यवस्था के पथ-प्रदर्शक का रूप दिया गया था। व्यक्ति-विशेष, फर्म-विशेष या विशेष उद्योग धन्धों का स्वार्थ, उत्पादन, वितरण तथा उपभोग पर अचूक प्रभाव डालता माना गया था। पूर्ण प्रतियोगिता युक्त बाजार भी क्लासिकल पद्धति मे एक स्वय-सिद्धि सा था। इस प्रकार माग-पूर्ति के नियम, मूल्य-यत्र तथा व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ण-प्रतियोगिता-युक्त बाजार मे ससाधनों का इष्टतम् वितरण करते हुए माने गये थे। आर्थिक व्यवस्था का सचालन जब ऐसी अचूक तथा निष्पक्ष शक्तियों के हाथ में हो तो यह स्वाभाविक ही था कि क्लासिकल अर्थशास्त्री राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने की सलाह देते, क्योकि ऐसे हस्तक्षेप से इन स्वचालित शक्तियों में असतुलन उत्पन्न हो जाने का भय था। इसलिये राज्यो को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने अर्थात् तटस्थ रहने[3], की नीति पर अधिकाधिक बल दिया जाता था।

केन्ज ने क्लासिकल सिद्धान्त की माइक्रो पद्धति पर आघात किया। उन्होने बताया कि "क्लासिकल सिद्धान्त की उपधारणायें (presumptions) केवल विशिष्ट स्थिति में ही लागू हो सकती है" [4] ······ अपरच, क्लासिकल सिद्धान्त द्वारा

---

2. केन्ज के अनुसार "क्लासिकल अर्थशास्त्री' सज्ञा का आविष्कार मार्क्स ने, रिकार्डो तथा जेम्स मिल तथा उनके पूर्व आने वाले अर्थशास्त्रियो के लिये किया था। केन्ज ने इस नाम का प्रयोग कुछ और विस्तार के साथ किया है। उन्होंने 'क्लासिकल मत' मे रिकार्डो के उन उत्तराधिकारी अर्थशास्त्रियों को भी शामिल किया है जिन्होंने रिकार्डो के अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को पूर्ण बनाया, जैसे जे० एस० मिल० मार्शल, एजवर्थ तथा प्रो० पीगू—G T., p. 3.

3 Po icy of laissez faire.

4 G. T, p. 3

विशिष्ट स्थितियों के जिन लक्षणों की उपधारणा की गई है, वे उस आर्थिक समाज के लक्षण नही हैं जिसमे हम रहते हैं'...... इसलिये यदि हम इन्हे अनुभव जन्य तथ्यो पर लागू करने की चेष्टा करें तो नतीजा भ्रामक तथा विनाशकारी सिद्ध होगा"।[5] यह सही था, जैसा श्री राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है कि वास्तव मे 'मितव्ययी व्यक्ति' (Economic man), अकेला समाज से परे, अपनी बुद्धि बल के सहारे चलता हुआ नियो-क्लासिकल अर्थशास्त्रियो द्वारा अब भी मूल्याकन प्रक्रिया की इकाई माना जाता था।[6]

केन्ज ने 'तटस्थता' की नीति पर कडा प्रहार किया। उन्होने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि इस नीति का उपयोगीकरण, विदेशी व्यापार, विनियोग, मुद्रा, मजदूरी आदि पर बुरा प्रभाव पडता है तथा आज की ससार मे यह नीति निरर्थक, बेकार तथा घातक है। केन्ज ने कहा कि "तटस्थता की नीति" आज के पूँजीवादी व्यवस्था के लिये बहुत ही खतरनाक है। उन्होने चेतावनी दी कि व्यक्ति का स्वार्थ तथा जन-कल्याण दोनो सर्वदा एक दूसरे के पोषक नही होते। अपरञ्च अक्सर व्यक्ति इतने अज्ञानी या कमजोर होते हैं कि वे अपने वास्तविक हित अनहित का ठीक अन्दाजा नहीं लगा सकते, अपने उद्देश्यो की स्वय पूर्ति नही कर सकते, इसलिये क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की यह धारणा गलत है कि व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने लाभ के लिये कार्य करते हुये अधिकतम धन पैदा करेगा। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि व्यक्ति का मस्तिष्क सामाजिक मस्तिष्क की उपस्थिति मे ही वृद्धि पाता है। वह एक 'टापू' के रूप मे नही देखा जा सकता, जिसको मानकर क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने अपने तमाम सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था। इसीलिये आधुनिक मनोविज्ञान ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो द्वारा परि-कल्पित 'मितव्ययी व्यक्ति' (Economic man) के स्थान पर एक अधिक वास्तविक तथा मूर्त व्यक्ति की प्रतिस्थापना की है जिसका पथ-प्रदर्शन सहज प्रवृति (instinct) तथा मनोवेग (impulse) करते हैं। यह सहज प्रवृति तथा मनोवेग बुद्धि या स्वार्थ (self-interest) की उपज नही होते, वरन् मनुष्य के अपने आपको समाज के अनुकूल बनाने की लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप इनका विकास होता है और इसीलिये आर्थिक क्षेत्र मे और क्षेत्रों की भाति आवश्यकता इस बात की थी कि राज्य इन स्वाभाविक प्रवृतियो तथा मनोवेगो को स्वतन्त्र न छोड, हस्तक्षेप कर उनको सही रास्ते पर ले जाता, समाज के पूरे हित को ध्यान मे रखकर उनका उचित सचालन करता। तमाम आर्थिक क्षेत्र भी एक पिण्ड है तथा इसके अशो तथा इकाइयो का एक दूसरे से पृथक् कर अलग-अलग अध्ययन किया जाना भ्रामक था, क्योंकि कोई फर्म या उद्योग अथा

५ वही पृष्ठ ३

६. Border Lands of Economics by R. K. Mukherjee (George Allen's & Unwin Ltd, London 1925), p 128.

शून्य मे नही पनपता । व्यक्ति के अनुकूलन की क्रिया फर्मों तथा उद्योग-धन्धो पर भी लागू होती है । आर्थिक क्षेत्र की तमाम क्रियाओ तथा प्रतिक्रियाओ की शक्ति तमाम आर्थिक क्षेत्र मे काम करती है तथा इस क्षेत्र की प्रत्येक इकाई इससे प्रभावित होती है । इसीलिये मनुष्य या अकेली इकाइयो के अध्ययन के स्थान पर समस्त क्षेत्र व समाज के आर्थिक ढाचे का एक इकाई के रूप मे अध्ययन किया जाना आवश्यक था । केन्ज ने यदि इस प्रकार के अध्ययन पर जोर दिया तो यह मौजूदा परिस्थितियो के बिल्कुल अनुरूप ही था । पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्वत सतुलित होने के दावे को भी उन्होने खोखला बताया । उन्होने यह भी कहा कि बाजार मे पूर्ण-स्पर्धा यथार्थ मे कभी नही मिलती और जब ये मौलिक उपधारणायें गलत हैं तो आर्थिक व्यवस्था को अपने आप पर छोड देना बहुत बडी भूल करना है । इससे पूँजीवादी व्यवस्था का अस्तित्व ही मिट जाने का खतरा है । केन्ज ने कहा कि इसी नीति के फलस्वरूप व्यापार, बडे-बडे उद्योग धन्धे आदि निकम्मे हाथो मे पड गये हैं । प्राकृतिक विभूतियो का दुरुपयोग हो रहा है, और जन कल्याण एक खेलबाड की वस्तु बन गया है । यदि पूँजीवादी व्यवस्था को साम्यवाद तथा अन्य प्रकार के हिंसक समाजवादी प्रवाह से बचाना है तो इसको सशोधित किया जाना चाहिये । सरकार को निश्चय रूप से आर्थिक क्षेत्र मे उतारना तथा पूर्ण व्यवस्था को नियत्रित करना चाहिये । आज सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र की उन्नति का प्रश्न है । परम्परागत पूँजीवाद का माइक्रो अर्थ-शास्त्र सम्पूर्ण देश की उन्नति को सम्भालने मे असमर्थ है ।

इससे यह अन्दाजा नही लगाना चाहिये कि केन्ज व्यक्तिवादी नही थे । वास्तव मे व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था की केन्ज ने बहुत बडी सेवा की । वह इगलैंड मजदूर की पार्टी तथा साम्यवादियो की समय-समय पर कटु आलोचना करते रहे । साम्यवाद को उन्होने अन्यायपूर्ण असगत तथा नीरस कहा तथा कार्लमार्क्स को capital का अवैज्ञानिक बेकार तथा भ्रामक बताया । उन्हे भय था कि मजदूर पार्टी के शासनकाल मे शिक्षित वर्ग के हाथ मे राज्य का नियत्रण न रहकर ऐसे हाथो मे होगा जो यह जानते ही नही कि वे क्या कर रहे हैं ।[7] हा केन्ज पूँजीवादी व्यवस्था को वैसे स्वीकार करने के लिये तैयार न थे जैसी वह क्लासिकल अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो पर आधारित हो चल रही थी । उस व्यवस्था मे केन्ज को जर्जरता, लालच, बेइमानी, दुराचार, पक्षपात, अयोग्यता, बेकारी, तथा ऐसे तमाम घृणित मानवता विरोधी तत्व दिखाई पडे, जो पूँजीवादी व्यवस्था को खोखला बना चुके थे जिससे वह साम्यवाद के प्रबल थपेडो को सहने मे सर्वथा असमर्थ दिखाई पड रही थी । सन् १९२५ ई० मे ही केन्ज ने लिखा था कि "इङ्गलैंड मे व्यक्तिवादी पूँजीवाद ऐसे बिन्दु पर पहुच चुका है कि जहा से आगे अब केवल प्रसार के आवेग

7. Essays in Persuasion, p 324.

पर यह निर्भर नहीं रह सकता तथा इसको अपने आर्थिक यन्त्र के ढांचे के सुधार के वैज्ञानिक कार्य में लग जाना चाहिये" ।[8] वास्तव में केन्ज को न तो 'तटस्थता' की अराजकता पसन्द थी, न साम्यवादियों की तानाशाही की नृशंसता। वह एक ऐसी मिली-जुली अर्थव्यवस्था के समर्थक थे जिसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा वैयक्तिक उपक्रम के आधार पर राज्य के नियन्त्रण में अर्थव्यवस्था एक सुदृढ ढंग से काम करे, क्लासिकल अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की अन्धी मान्यतायें नहीं, बल्कि एक सुनिश्चित बौद्धिक शक्ति अर्थव्यवस्था का सचालन करे। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की सृजनात्मक सम्भावनाओं तथा मध्यम मार्ग की टेकनीकल सम्भावना में उनका विश्वास था। इसीलिये पूंजीवादी व्यवस्था को वे उसमें लगी व्याधियों से बचाना चाहते थे। किन्तु इसके लिये उन्होंने पूंजीवाद के परम्परागत सिद्धान्तों का खण्डन कर पूंजीवाद को आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार एक नया रूप देने पर जोर दिया। इसके लिये सबसे पहले उन्होंने यह आवश्यक समझा कि राज्य आर्थिक क्षेत्र में परम्परागत अपनी तटस्थता की नीति का त्याग करे। यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप को उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्री तथा आधुनिक अमेरिकन पूंजीपति व्यक्तिवाद पर अत्यन्त कड़ा आघात समझेंगे फिर भी "मैं इसका समर्थन करता हूँ" क्योंकि यही 'मौजूदा आर्थिक ढांचे को पूर्ण विनाश से बचाने के लिये एकमात्र व्यवहारिक उपाय" तथा "व्यक्ति उपक्रम के सफलतापूर्वक कार्य करने की शर्त' है।[9]

आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार कर लेने के बाद अर्थशास्त्र के क्लासिकल सिद्धान्तों पर भी नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो गया। केन्ज ने इस बात पर जोर दिया कि राज्य के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप और नियन्त्रण से सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को बल मिलेगा। उन्होंने सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को एक इकाई के रूप में देखा। उन्होंने अर्थशास्त्र की अवहेलिता मैक्रो पद्धति को अपनाया और यह उचित भी था विज्ञान के आविष्कारों ने समाज को अत्यन्त सुसगठित बना दिया है। सम्पूर्ण ससार एक संगठन सूत्र में बंध चुका है। आज वास्तव में "... ससार के प्रत्येक भाग का व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रत्येक दूसरे भाग से सम्बन्ध है, जो (सम्बन्ध) या तो मैत्रीपूर्ण हो सकते हैं या विद्वेषपूर्ण, किन्तु किसी भी हालत में हैं महत्वपूर्ण" ।[10] ऐसी परिस्थिति में देश की आर्थिक व्यवस्था का अलग-अलग इकाइयों में बटा रहकर अध्ययन का विषय होना ठीक नहीं। आज प्रश्न किसी एक फर्म या एक उद्योग-धन्धे में आय, लाभ-हानि, उत्पादन, कार्य-कुशलता, उपयोगीकरण, व्यवस्था, मूल्य-स्तर आदि का नहीं है, प्रश्न है देश की कुल आय

---

8 Quoted by S. E Harris in his book 'John Maynard Keynes' (Charles Scribner & Sons, Ltd. New York & London, 1955)

9 G T, p.380.

10 Sceptical Essays by B Russel (Unwin Books, 1962), p 1[illegible].

लाभ-हानि तथा उत्पादन का, सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे ससाधनो के उपयोगीकरण, सचालन तथा प्रबन्ध का। राज्य-हस्तक्षेप देश की विभिन्न आर्थिक इकाइयों को एकता के सूत्र में बाध कर सम्पूर्ण देश की आर्थिक व्यवस्था का कल्याण देखेगा। इसीलिये केन्ज ने आर्थिक व्यवस्था का सामान्य रूप से अध्ययन करने पर जोर दिया। अपनी उपर्युक्त पुस्तक की विषय-वस्तु पर लिखते हुए वह कहते हैं कि 'यह पुस्तक ...... मुख्यत. ऐसी शक्तियो का अध्ययन करती है जो (देश के) समस्त उपयोगीकरण तथा सम्पूर्ण उत्पादन के पैमाने मे हेर-फेर का निश्चय करती है"—

मार्क्स ने पू जीवादी व्यवस्था मे गरीबी को सबसे बडा प्रश्न बताया है। उन्होने कहा कि इस गरीबी के प्रश्न के हल करने के लिये अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। यह निराशावाद का दृष्टिकोण था, जिसकी छाया अर्थशास्त्र पर शताब्दियों से चली आ रही थी। सम्पूर्ण क्लासिकल अर्थशास्त्र निराशावाद से परिपूर्ण है, जहाँ निर्धनता तथा अभाव की कालिमा सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिये अभाव, मितव्ययिता तथा उनसे उत्प्रेरित विषयो के करुण गीत हमे क्लासिकल अर्थशास्त्र मे यत्र-तत्र सर्वत्र सुनाई पडते हैं। माल्थस के जनसख्या के सिद्धान्त तथा उत्पादन मे क्रमागत ह्रास के नियम से होते हुये ये "अवश्यम्भावी" गरीबी तथा अभाव ग्रो रॉबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषा तक शोर मचाते मिलते हैं। केन्ज ने इस समस्या का अध्ययन किया। काफी तर्क वितर्क के बाद वह इस तथ्य पर पहुचे हैं कि जिस गरीबी को क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने दैवी तथा अपरिहार्य माना है वह सामाजिक तथा आर्थिक कुरीतियों का फल है तथा मनुष्य द्वारा बनाई गई है। गरीबी तथा अभाव के साथ-साथ उन्हे समाज मे एक और घटना दिखाई पडी। उन्होंने गरीबी तथा अभाव के साथ-साथ प्रकृति मे अपार ससाधन राशि को ही नही, समाज मे धनाधिक्य, अतिशय विलास तथा प्रचुरता को भी देखा। पूंजीवादी व्यवस्था मे एक ओर तो धनी (हक्सले के शब्दो मे) 'विलासिता के पङ्क मे गोते लगा रहे थे।"[11] दूसरी ओर अभाव तथा गरीबी नग्न नृत्य कर रहे थे। इस वैषम्य को केन्ज ने आर्थिक व्यवस्था की बहुत बडी कमजोरी बताया और कहा कि यदि पूंजीवाद के इस विरोधाभास से भरे हुए प्रचुरता के बीच अभाव को दूर करने का कोई सरल तरीका नहीं निकाला गया तो पूंजीवाद स्वय नष्ट हो जायगा। "विकल वासना के प्रतिनिधि", पूंजीपति मुरझाये चले जावेंगे और अपनी ही ज्वालाओ मे जल के पुन. साम्यवाद जैसे किसी प्रलय के जल मे तिरोहित हो जायेंगे।[12] उन्हे बचाने के लिये राज्य को अपनी परम्परागत, सम्मानीय तटस्थता की नीति का त्याग करना पडेगा। पूर्ण विनाश से बचने के लिये पूजीवाद को अपनी असीम स्वातन्त्र्य लोलुपता को कुछ कम करना होगा। केन्ज ने चेतावनी दी कि यदि यह वैषम्य

11. Ends & Means (by A. Huxley)

12 Adopted from कामायनी (चिंतासर्ग), लेखक—जयशंकरप्रसाद।

उचित वितरण, अधिक उत्पादन, समय-समय पर आने वाली मन्दी तथा उसके साथ आने वाली व्यापक बेकारी की रोकथाम द्वारा आगे बढने से न रोका गया तो परिणाम अत्यन्त भयकर हो सकते हैं। रूस मे जन क्राति की सफलता जनता को, विशेषतया गरीब वर्ग को, अपना उपचार खोजने का सीधा मार्ग दिखा चुकी थी। केन्ज को ऐसी क्रान्ति से घृणा थी। क्राति के बजाय कर द्वारा वह इस वैषम्य को मिटाने के पक्ष मे थे। उन्होने गरीबी ही पर जोर न दे बाहुल्य पर भी जोर दिया उनके मत से ससार अपरिमित धनराशि से भरा हुआ है और उसमें गरीबी मनुष्य-कृत एक विषय है, वर्ना उसकी कोई आवश्यकता नही। "प्राग् केनेसियन तथा केनेसियन के बीच खास फर्क उनके गरीबी के मसले को हल करने के दृष्टिकोण मे है'।[13] केन्ज ने अव्यक्त धन-प्राचुर्य्य की ओर अर्थशास्त्र का ध्यान आकर्षित किया और यह क्लासिकल अर्थशास्त्र की युगीन अभाव पद्धति पर प्रबल कुठाराघात था जिससे पूँजीपति वर्ग की अलसाई बुद्धि को बडा धक्का लगा। अभाव के अर्थशास्त्र की इस प्रकार प्रचुरता के अर्थशास्त्र ने परिणति अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे एक क्राति का सन्देश था, 'इसको अर्थशास्त्र के इतिहासकार कभी-कभी द्वितीय औद्योगिक क्राति कहते हैं"।[14]

जनरल थ्योरी के प्रत्येक प्रत्यय मे केन्ज के 'प्राचुर्य्य' का आभास मिलता है, किन्तु सबसे अधिक यह भाव मिलता है क्षमशील माग के सिद्धान्त मे। वास्तव मे "मार्शल के सबसे अधिक आवश्यक गरीबी के प्रश्न का केन्ज द्वारा यह उत्तर है"[15] जैसा कि केन्ज ने स्वय कहा है क्षमशील माग का "यह विवेचन हमें प्रचुरता के बीच गरीबी के विरोधाभास की व्याख्या प्रदान करता है"[16] क्योकि अपर्याप्त क्षमशील माग (effective demand)[17] का होना मात्र उपयोगीकरण की स्थिति आने से पहले ही उपयोगीकरण को स्थिर बना सकता है तथा प्राय बना देगा। क्षमशील माग की अपर्याप्तता उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया को प्रभावित करेगी, यद्यपि अब भी श्रम का सीमान्त उत्पादन मूल्य मे श्रम के उपयोगीकरण की सीमात अनुपयोगिता से अधिक होगा। अपरच, कोई समाज जितना ही अधिक धनी होगा उतनी ही इसके वास्तविक उत्पादन तथा अव्यक्त सम्भाव्य (potential) उत्पादन के बीच की खाई बडी होगी। गरीब समाज मे लोग अपनी अधिक आय उपभोग पर व्यय करेंगे इसलिय ऐसे समाज मे थोडा विनिमय भी पूर्ण उपयोगीकरण लाने में

---

13 The American Economics Reviews Vol XLVII (No 2. May 1957) p 80

14 Ibid

15. The American Economic Review Vol. X LVII (No. 2, May 1951) p 80.

16. G-T., p. 30.

17 इसकी व्याख्या के लिये आगे देखिये।

सफल होगा। धनी समाज में आय का अधिक भाग उपयोग से बच जाता है (धनी कहां तक उपयोग करेंगे, यदि आय बहुत बड़ी है तो ?) इसलिये उपयोग पर आय का अधिक भाग नहीं खर्च होता और पूर्ण उपयोगीकरण लाने के लिये विनिमय करने की अधिक आवश्यकता होती है। यदि किसी धनी समाज मे विनिमय करने की प्रेरणा कमजोर है तो इसमें अव्यक्त धन होने के बावजूद भी क्षमशील माग का सिद्धान्त इसे अपने वास्तविक उत्पादन को कम करने पर मजबूर करेगा, और तब तक मजबूर करता रहेगा जब तक कि अपने अत्यन्त धन के बावजूद भी, यह समाज इतना गरीब नहीं हो जाता कि इसकी बचत, विनिमय करने की प्रेरणा के बराबर हो जाय।[18]

इस सम्बन्ध मे एक बात यह कह देना आवश्यक है कि केनेसियन 'प्राचुर्य्य' केवल प्रगतिशील पूंजीवादी ही देश म लागू होता है। केन्ज का अर्थशास्त्र उन पिछड़े हुये देशो के लिये बहुत उपयुक्त नहीं, जिनमें अल्पकाल मे किसी 'प्राचुर्य्य' की सम्भावना नहीं है, तथा (जहाँ) गरीबी के लिये क्लासिकल औषधि कारगर होती है।"[19]

तो इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केन्ज के क्लासिकल सिद्धान्त की उपधारणाओं, जैसे पूर्ण उपयोगीकरण, पूर्णस्पर्धायुक्त बाजार, मूल्य यन्त्रों की अचूक क्रियाशीलता, राज्य की तटस्थता का औचित्य, व्यक्ति कल्याण का जन कल्याण का पोषक होना आदि को भ्रामक तथा निर्मूल बताया तथा माइक्रो के बजाय मैक्रो *अर्थशास्त्र के अध्ययन पर जोर दिया,* और इसीलिये अपनी *अर्थशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ* तथा परिपक्व पुस्तक का नाम उन्होंने 'सामान्य सिद्धान्त' .. ' (General Theory...) रक्खा। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षप का आह्वान किया और पूंजीवाद मे सुधार करके उसे विनाश से बचाने की चेतावनी दी। क्रान्ति के बजाय कर द्वारा पूंजीवाद मे फँसे घृणित वैषम्य को मिटाने पर उन्होंने बल दिया। *उन्होंने अपरिमित धनाढ्यता के बीच गरीबी को बढ़ते देखा,* लेकिन इसके हल के लिए उन्होने आशावादी दृष्टिकोण अपनाया।

आर्थिक व्यवस्था, कीमतें तथा मुद्रा—केन्ज तथा क्लासिकल सिद्धान्तों में दूसरा महत्वपूर्ण भेद मुद्रा तथा इसकी क्रियाओं के सम्बन्ध में है।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा तथा इसकी क्रियाओं को अर्थशास्त्र मे गौण रूप दिया था। उनके अनुसार मौद्रिक क्रियाएं आर्थिक क्षेत्र मे भ्रमोत्पादक होती हैं, इनकी वजह से विनिमय की सरल क्रिया जटिल बन जाती है। वे समझते थे कि मुद्रा आर्थिक व्यवस्था मे, तटस्थ रूप से विनिमय का साधन मात्र है। उनकी दृष्टि मे मुद्रा का प्रभाव माग पूर्ति में सामान्य सिद्धान्त से अलग की वस्तु थी।

---

18 G T., p 31.

19 The American Economic Review, Vol. XLVII (No 2, May 1957) p. 82

इसीलिये उन्होने मान के उत्पादन, विनिमय तथा उपभोग की व्याख्या पर मुख्यत. ध्यान दिया। उन्होंने कभी यह सोचा ही नही कि मुद्रा माग-पूर्ति के 'प्राकृतिक' नियम मे रोडे अटका सकती है। मुद्रा को विनिमय का माध्यम मात्र माना गया था, इसीलिये इसकी क्रियाए कुछ खास महत्व की नही मानी जाती थी। बाद के क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने जब मौद्रिक क्रियाओ की विघ्नोत्पादन प्रवृत्ति को देखा भी तो उनको क्षणिक तथा असाधारण परिस्थिति कह कर टाल दिया। मुद्रा की स्वतन्त्र क्रियाशीलता, को आर्थिक क्षेत्र में उसकी शरारती क्रीडा को, वे पहचान नही पाये। कारण ? क्लासिकल पद्धति मे कतिपय स्वय सिद्धियो की कल्पना कर ली गई थी, जिनके आधार पर उनके अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त प्रतिपादित हुए थे। उनमे से एक यह भी थी कि मुद्रा का मूल्य स्थिर होता है। उन्होने मुद्रा मूल्य की स्थिरता की उपधारणा कर ली थी। यदि हम मुद्रा के मूल्य को स्थिर मान लें तो क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के मुद्रा सम्बन्धी विचार उतने अनुचित नही रह जाते और हम उनके साथ आसानी से यह कह सकते है कि मुद्रा आर्थिक व्यवस्था मे कोई मौलिक असतुलन नही पैदा कर सकती। मुद्रा की क्रयशक्ति (मूल्य) को स्थायी मान कर विभिन्न वस्तुओ की कीमत तथा मात्रा आसानी से निर्धारित की जा सकती है। परम्परागत एक फर्म का विश्लेषण यही कार्य करता है और इस प्रकार मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन तथा आर्थिक क्रियाओ पर उसके सामान्य प्रभाव की व्याख्या करने के लिये किसी विशेष मौद्रिक सिद्धान्त के प्रतिपादित किये जाने की कोई आवश्यकता नही रह जाती।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने मूल्य के सिद्धान्त को प्राथमिकता दी तथा मौद्रिक सिद्धान्त को उसके पीछे गौण स्थान दिया। इसीलिये उनके द्वारा नीति निर्धारण मे भी मुद्रा तथा सामान्य कीमत दर का नही, विशिष्ट वस्तुओ की कीमत का अधिक ख्याल रक्खा जाता था। वास्तव मे, समस्त आर्थिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन 'अमौद्रिक अर्थ-व्यवस्था' आधार पर किया गया था। रिकार्डो का यह मत कि 'मुद्रा की उपस्थिति से आर्थिक व्यवस्था की गतिविधि पर कोई प्रभाव नही पडता', क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के लिये एक अकाट्य तथ्य सा बन गया था। परम्परा से अर्थशास्त्र को दो भागो मे बाट दिया जाता था, प्रथम भाग मे मूल्य तथा वितरण सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन किया जाता था, और यही भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था, दूसरे भाग मे गौण रूप से मौद्रिक सिद्धान्त की चर्चा की जाती थी।

मुद्रा के मुख्यत तीन कार्य माने जाते थे विनिमय के माध्यम के रूप म, मूल्य के माप दण्ड के रूप मे तथा धन सचय के साधन के रूप मे। इनमे सबसे प्रधान कार्य माना जाता था मुद्रा का विनिमय का माध्यम होना। धन सचय के साधन के रूप मे मुद्रा को निरीह तथा निष्क्रिय मान कोई ध्यान मुद्रा के इस कार्य पर दिया ही नही जाता था।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की मुद्रा के प्रति उदासीनता का एक कारण यह भी था कि उन्होंने अर्थ-व्यवस्था के तमाम ससाधनो के पूर्ण उपयोगिता होने की उपधारणा कर ली थी। उन्होंने यह माना था कि आर्थिक व्यवस्था के सब ससाधनों का पूर्ण उपयोगीकरण हो चुका है, इसीलिये मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि किये जाने से उपयोगीकरण तथा उत्पादन में वृद्धि होने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती, कम से कम अल्प काल मे। इससे केवल कीमतों पर प्रभाव पड सकता है, मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने से कीमतें ऊपर चढ सकती हैं। (जैसा कि 'मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त'* ने घोषित किया है)। इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकता पूर्ण उपयोगीकरण की कल्पना कर लने से यह निष्कर्ष सरलता से निकल आता है कि उत्पादन मे वृद्धि नहीं की जा सकती। इसलिये कीमत के सिद्धान्त (Theory of Price) के अन्तर्गत उन प्रत्ययों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता जो मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Value) में इतनी आवश्यक मानी गई हैं, उदाहरणत सीमान्त लागत, पूर्ति की लोच तथा माग का सिद्धान्त—ये सब मूल्य के सिद्धान्त के परमावश्यक तत्व हैं किन्तु कीमत के सिद्धान्त में (मुद्रा के मूल्य के सिद्धान्त मे) इनको आश्रय ही नहीं दिया गया। इसीलिये मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि सदैव मुद्रा-स्फीति पैदा करती हुई मानी गई थी—जो बात पूर्ण उपयोगीकरण को मान कर चलने से तो सही हो सकती है अन्यथा निरर्थक है। इसी आधार पर कीमत का सिद्धान्त कीमत के सामान्य-स्तर का या मुद्रा के मूल्य का सिद्धान्त बन जाता है। मुद्रा के परिमाण तथा उपयोगीकरण के अत्यावश्यक सम्बन्ध को इस प्रकार बिल्कुल उन्होंने देखा ही नहीं। अत मौद्रिक सिद्धान्त अर्थशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों से बिल्कुल पृथक् रक्खा गया था। कन्ज क्लासिकल अर्थशास्त्र की इस अवस्था को बताते हुये कहते हैं कि "जब अर्थशास्त्रियो का सरोकार ... मूल्य के सिद्धान्त से हुआ करता है। तब तो वे यह कहने के आदी थे कि कीमत माग तथा पूर्ति की दशाओं से नियन्त्रित होती है, और विशेषतया सीमान्त लागत तथा अल्पकालीन पूर्ति की लोच विशेष महत्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं। लेकिन जब वे (पुस्तकों के) द्वितीय† भाग या प्राय एक अलग पुस्तक मे मुद्रा तथा कीमतों के सिद्धान्त पर जाते हैं तो इन साधारण किन्तु बोधगम्य प्रत्ययों के बारे में हम कुछ नहीं सुनते और ऐसे ससार मे हम अपने को पाते हैं जहा कीमत का नियन्त्रण, मुद्रा की मात्रा तथा इसकी आय-गति, सव्यवहारो के सापेक्ष, इसकी चलन-गति, सचय, बलात् बचत (Forced Saving), मुद्रा-स्फीति

---

* Quantity Theory of Money

† क्योंकि जैसा ऊपर बताया गया है, क्लासिकल अर्थशास्त्री मुद्रा को गौण द्वितीय स्थान देते थे इसीलिये अपनी पुस्तकों के आखीर म कभी कभी बिल्कुल अलग पुस्तक में इस पर विचार करते थे।

तथा अब स्फीति आदि द्वारा होता है'[20] इन प्रत्ययो को माग पूर्ति के लोच से सम्बद्ध करने का क्लासिकल पद्धति म कोई प्रयत्न हो नही किया गया ।

साराश यह है कि केन्ज के पूर्ववर्ती क्लासिकल अर्थशास्त्री मुद्रा तथा उसकी क्रियाशीलता के महत्व को नही समझ सके । उन्होने इनको गौण स्थान दिया। उनकी भ्रान्त धारणा यह रही कि मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है तथा कतिपय क्षणिक तथा असाधारण अवस्थाओं को छोड, मुद्रा का प्रभाव आर्थिक व्यवस्था पर शून्य होता है । इस धारणा का कारण यह था कि वे एक ओर तो मुद्रा के मूल्य को स्थिर मान बैठे थे, दूसरी ओर आर्थिक व्यवस्था मे उन्होने ससाधनो के पूर्ण उपयोगीकरण होने की कल्पना कर ली थी। इन सब का फल यह हुआ कि उन्होंने अमौद्रिक अर्थव्यवस्था की कल्पना कर अर्थशास्त्र का विवेचन किया, जैसे कि उनकी अर्थ व्यवस्था मे मुद्रा का प्रचलन ही न हो । नीति निर्धारण में भी मुद्रा का कोई विशेष महत्व नही समझा गया । इसको केवल विनिमय का माध्यम तथा मूल्य मापन का एक माप दण्ड स्वरूप ही समझा गया। मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि से कीमतो मे ही वृद्धि होते उन्होंने माना था, क्योंकि ससाधनो के पूर्ण उपयोगीकरण की कल्पना कर लेने से मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि न तो उपयोगीकरण बढाने मे खप सकती थी न अधिक उत्पादन ही म ओर न इसी बात पर अधिक गौर किया गया कि यह वृद्धि लोगो की सचय पिपासा की तृप्ति करने मे लग सकती है । क्लासिकल अर्थशास्त्र की आर्थिक व्यवस्था माग पूर्ति कीमत यत्र के अकाट्य नियम द्वारा नियन्त्रित होती थी ।

किन्तु आधुनिक सिद्धान्त, जिसके स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय केन्ज को है, मुद्रा को निष्क्रिय तथा तटस्थ मानने के बजाय अत्यन्त सक्रिय तथा महत्वपूर्ण मानता है । केन्ज ने सन् १९२३ ई० ही म कहा कि मौद्रिक अस्थिरता पूजीवाद की तमाम व्याधियो की जड है ।[21] उन्होने मुद्रा की अपरिमित शक्ति तथा उसकी घातक अस्थिरता को देखा तथा कहा कि पूजीवाद का सम्पूर्ण ढाचा मुद्रा की विकृति से विकृत हो सकता है । कहा जाता है कि लेनिन ने घोषित किया था कि पूजीवाद को नष्ट करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है मुद्रा को विकृत कर देना . लेनिन वास्तव मे सही था । समाज के मौजूदा ढाचे के आधार को उलट फेंकने के लिये मुद्रा को विकृत करने से बढकर वरिष्ट तथा विश्वस्त अन्य कोई उपाय नही है ।[22] इस प्रकार मुद्रा को केन्ज तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक दृष्टिकोण से प्राणवान तथा सक्रिय बताया । जैसा क्राउथर ने कहा है " .. ..हमने मुद्रा को अपना एक स्वत का जीवन जीते पाया है । हिसाब-किताब रखने की एक यत्र मात्र होने के बजाय यह सब कीमतो पर अपना स्वय का प्रभाव डालती है। यह वैसे ही है जैसे कोई माप दण्ड लम्बाइयो के साथ खेलवाड कर रहा हो । यह मुद्रा की केवल

20 G T, p 292
21 See preface Tract on Monetary Reform by J M Ke nes
22 The Economic Consequences of the Peace, Pp 235 36,

तटस्थ रहने मे असफलता है, उसका अपना स्वय का पार्ट अदा करने का हठ है—संक्षेप मे, यह तथ्य कि मुद्रा का मूल्य एक वास्तविकता है, न कि गणित की एक क्रिया मात्र—जो मौद्रिक अर्थशास्त्र की प्राय सब कठिनाइयों का सृजन करती है।"[23]

केन्ज ने परम्परागत अर्थशास्त्र के दो भागो मे विभाजन को गलत बताया। "अर्थशास्त्र का एक ओर मूल्य तथा वितरण के सिद्धान्त तथा दूसरी ओर मौद्रिक सिद्धान्त मे विभाजन'''गलत विभाजन है"[24]। जैसा कहा जा चुका है, केन्ज ने सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को एक इकाई के रूप मे लेकर अपने आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनका सर्वाधिक स्तुत्य कार्य यह रहा कि मौद्रिक तथा अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तो का उन्होने एकीकरण कर दिया। मौद्रिक सिद्धान्त तथा मूल्य, वितरण तथा उत्पादन के सिद्धान्तो का समन्वयन कर उन्होंने इनको एक कर दिया। मूल्य का सिद्धान्त हमे बताता है कि कीमत (या मुद्रा की इकाई में बताया हुआ मूल्य) माँग तथा पूर्ति की दशाओं से नियन्त्रित होती है। माँग पूर्ति के सम्बन्ध मे सीमान्त लागत तथा सीमान्त आमद, अल्पकालीक पूर्ति की लोच तथा माग की लोच अत्यन्त आवश्यक प्रत्यय हैं। सीमान्त लागत तथा सीमान्त आमद हमे कुल उत्पादन की मात्रा बताते हैं, क्योकि जिस स्थान पर दोनों एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं वही इष्टतम् उत्पादन की मात्रा होती है उतना उत्पादन होने से उत्पादक का लाभ उच्चतम होगा। अल्पकालीन पूर्ति की लोच तथा माग की लोच यह बताते हैं कि किसी वस्तु की कीमत घटने पर उसके उत्पादन मे क्या परिवर्तन होगा? केन्ज ने इन प्रत्ययों का प्रयोग सामान्य मूल्य के सिद्धान्त या कीमत स्तर के विवेचन में भी किया। यद्यपि ये प्रत्यय माइक्रो पद्धति के विश्लेषण के आवश्यक अंग है, फिर भी मैक्रो पद्धति मे भी इनका पर्याप्त उपयोग समझा गया। उत्पादन की लागत बढ़ने से कीमत बढ़ेगी, उत्पादन की लागत, अशत उपयोगीकरण तथा उत्पादन की अल्पकालीन पूर्ति मे अलोच होने के कारण बढ़ती है। माग का सिद्धान्त तो बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार इन प्रत्ययों का मैक्रो विश्लेषण मे भी प्रयोग किया जा सकता है।

केन्ज ने पूर्ण उपयोगीकरण तथा उत्पादन को निर्धारित करने के लिय एक 'मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था' को आवश्यक समझा। उनके अनुसार मुद्रा भविष्य तथा वर्तमान के बीच एक कड़ी है, यही उसकी महत्ता का कारण है। भविष्य के बारे मे हमारे बदलते हुए विचारों का हमारे वर्तमान पर काफी प्रभाव पड़ता है। भविष्य की अनिश्चयता को हम मुद्रा तथा इसकी क्रियाओं द्वारा कुछ कम कर सकते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि मुद्रा के प्रधानत तीन कार्य हैं—विनिमय का माध्यम होना, हिसाब किताब की इकाई होना तथा मूल्य सचय का साधन होना। क्लासिकल

23 An outl ne of Money by G. Crowther (1948) Pp. 90-91.
24. G. T., p. 293.

पद्धति के अन्तर्गत मुद्रा के प्रथम तथा द्वितीय कार्य महत्वपूर्ण थे, तीसरा, अर्थात् मूल्य सचय का साधन होना, एक अवहेलित विषय रहा। इसके विपरीत, केन्ज ने मुद्रा के धन-सचय के साधन के रूप मे कार्य करने पर बहुत अधिक बल दिया है। अपने उपभोग से बची हुई आय को लोग कई कामो मे लगा सकते हैं। वे इसे मुद्रा के रूप मे ही सचित कर सकते हैं, या इसे ऋण के रूप मे ब्याज पर लगा सकते हैं, या इससे कोई सम्पत्ति हासिल कर सकते हैं, या पू जी मे लगा सकते हैं। यदि लोग बचाई हुई मुद्रा को उधार दे देते हैं, या कोई बान्ड या सेक्युरिटी खरीद लेते हैं या अन्य किसी सम्पत्ति मे लगा देते हैं तो उन्हें लाभ, ब्याज आदि के रूप मे कुछ मिलता रहता है। किन्तु यदि वे मुद्रा के रूप मे उसे सचित रखते हैं तो उन्हें कुछ भी नही मिलता, मुद्रा बध्या सी पडी रहनी है। तो लोग मुद्रा सचित क्यो करते हैं? केन्ज इसका उत्तर यह देते हैं कि मुद्रा धन-सचय का सबसे उपयुक्त माध्यम है। मुद्रा को उधार देने या आय लाने वाली सम्पत्ति मे लगाने से हमे भविष्य के प्रति एक अनिश्चय हो जाता है। पता नही दी या लगाई हुई मुद्रा वापस आये कि नहीं। उधार दिया हुआ धन डूब सकता है, खरीदी हुई सम्पत्ति के मूल्य मे ह्रास हो सकता है। यदि हम मुद्रा को ही, तरल रूप मे, सचित रखते हैं तो भविष्य के प्रति हमें कोई अनिश्चय नही रहता, हमे अपनी क्षमता मे विश्वास रहता है, हम बाजार भाव या किसी के दिवालिया हो जाने से प्रभावित नहीं होते, क्योकि हमारा धन ऐसे तरल रूप मे हमारे पास रहता है कि हम उसे जब और जहा चाहे लगा सकते है। किसी अन्य प्रकार के धन से हमे यह सुविधा प्राप्त नही हो सकती। मुद्रा ही ऐसी वस्तु है जो विनिमय के साधन के रूप म सर्व स्वीकृत होती है, लोग बिना किसी सकोच के इसे ऋण शोधन या किसी प्रकार की भुगतान मे स्वीकार कर सकते हे। मकान या अन्य ऐसी सम्पत्तिया तरल नही हैं क्योकि विनिमय के माध्यम के रूप मे हम उनका प्रयोग नही कर सकते और फिर उनके मूल्य की स्थिरता के बारे मे कुछ ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता, कल उनके मूल्य मे ह्रास हो सकता है और हमारे धन में इस प्रकार कमी हो जायेगी। इसलिये तरल रूप मुद्रा का सचय सबसे अधिक विश्वस्त तथा स्थिर धन है। हमारा तरलता के प्रति मोह उतना ही अधिक होगा जितना हमारी आर्थिक व्यवस्था का भविष्य अनिश्चितपूर्ण होगा और समाज मे तरल धन के प्रति जितना ही अधिक सम्मोह होगा उतना ही विनियोग कम हो जायेगा। कम विनियोग का प्रभाव आर्थिक व्यवस्था पर बडा ही आर्थिक आघात करेगा। तरलता से लोगों का मोह दूर करने व तथा विनियोग की मात्रा बढाने का केवल एक उपाय है—वह है ब्याज की दर ऊ ची करना, जिससे ब्याज के लालच मे पडकर लोग अपनी बचन की मुद्रा बैंकों आदि मे जमा करें तथा सचय कम करें। ब्याज की दर बढाने से विनियोग पर प्रभाव पड़ता है और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, विनियोग पर प्रभाव पडने से ससाधनो के उपयोगीकरण, आय तथा उत्पादन पर प्रभाव पडेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में यह लहर फैल जायेगी। इस

प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा का तीसरा कार्य, धन सचय के साधन के रूप मे, जिसको क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने अवहेलना की दृष्टि से देखा था, अत्यन्त महत्वपूर्ण है । मुद्रा इसी कार्य के द्वारा समस्त आर्थिक ढाचे पर हावी रहती है । मुद्रा को तटस्थ बताने के पीछे शायद अर्थशास्त्रियो की, मुद्रा के इस कार्य की ओर, अवहेलना तथा लापरवाही काम कर रही थी ।

केन्ज ने वास्तविकताओ को दृष्टिगत रखते हुए अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया । अपने सिद्धान्तो की जड उन्होने यथार्थ की ठोस भूमि मे रखने की कोशिश की, न कि कल्पना की मधुमय गद्गद् रम्य-स्थली मे । आर्थिक व्यवस्था जैसी थी, उसी की पृष्ठभूमि म उन्होने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । आर्थिक व्यवस्था मे जिस मुद्रा का ऐसा प्रबल प्रभाव हो उसको न देख, एक अमौद्रिक अर्थ-व्यवस्था की कल्पना को अर्थशास्त्र विवेचन का आधार मानना केन्ज को बिल्कुल रुचिकर न लगा । इसलिये मुद्रा के व्यापक प्रभाव को ही उन्होने अपने आर्थिक सिद्धान्तो की धुरी बनाया । उन्होने यह बताया कि कुल आय तथा व्यय मे कुछ घट-बढ होने पर सामान्य आर्थिक सन्तुलन पर क्या प्रभाव पडता है, मुद्रा के मूल्य की स्थिरता पर इसका क्या प्रभाव पडता है ? यह कहना अनुचित न होगा कि केन्ज का मौद्रिक सिद्धान्त क्लासिकल सिद्धान्त से प्राय बिल्कुल विपरीत है ।

केन्ज तथा उनके बाद के अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक व्यवस्था मे स्थिरता लाने के लिये मौद्रिक क्रियाओं के नियन्त्रण पर जोर दिया । उन्होने बताया कि मुद्रा, आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का प्रबलतम् प्रवैगिक तत्व है । यह वर्तमान तथा भविष्य के बीच एक पुल का काम करती है, 'वास्तविक मुद्रा का हाथ मे रहना हमारी अशान्ति को शान्त करता है"[25] । जब तक मौद्रिक अनुमान अनिश्चित रहेंगे, जब तक हम इस योग्य नही हो जाते कि अपने आर्थिक भविष्य के बारे ठीक-ठीक गणित की यथार्थता के साथ, अनुमान लगा सकें, तब तक हमारे आर्थिक वर्तमान तथा भविष्य के बीच पुल का काम करने के लिये मुद्रा की आवश्यकता बनी रहेगी, मूल्य-सचय के माध्यम के रूप मे इसकी आवश्यकता अनिवार्य रहेगी और हम कह चुके हैं कि केन्ज के लिये मुद्रा का यह कार्य आर्थिक व्यवस्था के लिये सबसे अधिक महत्व का है, क्योंकि मुख्यत. इसी कार्य द्वारा मुद्रा समाज मे उपभोग, विनियोग, बचत तथा उपयोगीकरण आवश्यक रूप से अपना प्रभाव डालती है और इसलिये मुद्रा को *आर्थिक व्यवस्था का एक परमावश्यक अग मानकर जो आर्थिक सिद्धान्त प्रति*-पादित होंगे वही वास्तविक जगत के लिये कुछ अर्थ रखेंगे । केन्ज ने मुद्रा की इतनी महत्ता का कारण यह भी बताया कि मुद्रा मे कुछ विशिष्ट गुण पाये जाते हैं जैसे (१) मुद्रा उत्पादन मे लोच नहीं है, यह आसानो से घट बढ नही सकता (२) मुद्रा

25. "The General Theory of Employment The Quarterly Journal of Economics, Feb 1937 Vol LT (No 2) p 216

के स्थान की पूर्ति और किसी चीज द्वारा नहीं की जा सकती तथा (३) धन-सचय के लिये मुद्रा की माग मे अत्यधिक लोच है।

केन्ज तथा उनके अनुयायियों ने इस बात पर जोर दिया है कि उपभोग तथा विनियोग में वृद्धि से उत्पादन तथा उपयोगीकरण में वृद्धि होगी। उचित मौद्रिक नियन्त्रण द्वारा आर्थिक व्यवस्था को व्यापार चक्र के प्रहार से बचाया जा सकता है। राज्य का आर्थिक क्षेत्र में पदार्पण होने के बाद आवश्यकता इस बात की है कि उसके हाथ मे आर्थिक व्यवस्था को नियन्त्रित करने की कुन्जी होनी चाहिये। मुद्रा के अतिरिक्त और क्या ऐसी ताली के रूप मे प्रयुक्त हो सकता है? मुद्रा की गति-विधि पर समुचित नियन्त्रण द्वारा राज्य आर्थिक व्यवस्था की उचित देख-रेख कर सकता है। जो पूर्ण उपयोगीकरण तानाशाही शासन के अन्तर्गत बलपूर्वक स्वतन्त्रता का अपहरण तथा कार्य-क्षमता का बलिदान करके प्राप्त किया जाता है, वही पूँजीवादी व्यवस्था मे मौद्रिक राजस्व की उचित नीति द्वारा सम्पादित किया जा सकता है इसके लिये राज्य की सम्पूर्ण आय तथा उसके सम्पूर्ण व्यय को मौद्रिक राजस्व की समुचित नीति द्वारा नियन्त्रित करना होगा। स्वतन्त्र समाज के आर्थिक कल्याण का पोषण मुद्रा राजस्व की कुशल-व्यवस्था पर निर्भर है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त मे सारी आर्थिक व्यवस्था की देखभाल कुछ 'अन्धी शक्तियों' के हाथ में थी। इन 'अन्धी शक्तियों' के अन्धेरे से समय-समय पर आर्थिक व्यवस्था कष्ट पाती रही है। वैज्ञानिक रीति से यदि मौद्रिक क्रियाओं का उपयोग किया जावे तो आर्थिक व्यवस्था को इन 'अन्धी शक्तियों' के क्रूर पजों से मुक्त किया जा सकता है।

जहा क्लासिकल अर्थशास्त्री पूर्ण उपयोगीकरण को सामान्य अवस्था तथा स्वतः सिद्धि स्वरूप समझते थे, केन्ज ने इसे एक विशिष्ट परिस्थिति बताया। उन्होंने कहा कि आर्थिक व्यवस्था पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था पर कठिनाई से पहुंच पाती है। तथा सामान्यतः न्यून उपयोगीकरण की अवस्था ही समाज में पाई जाती है। अनैच्छिक बेकारी आर्थिक व्यवस्था सामान्य स्थिति है, न कि पूर्ण उपयोगीकरण। इस प्रकार जो क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के लिये सामान्य परिस्थिति थी, उसको केन्ज ने एक विशिष्ट स्थिति बताया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण उपयोगीकरण की उपधारणा के आधार पर ही यह दावा किया था कि मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने से कीमतों मे वृद्धि होगी और समाज को हानि पहुँचेगी। लेकिन यदि हम इस उपधारणा का परित्याग कर दें तो यह साफ जाहिर है कि मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि सामान्यतः उपयोगीकरण तथा उत्पादन मे वृद्धि करेगी न कि कीमतों मे वृद्धि कर समाज को हानि पहुँचायेगी। इसलिये न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था मे मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि लाभप्रद है। टासी जो क्लासिकल मत के पोषक हैं, के अनुसार "अधिक मुद्रा ब्याज में कमी न लाकर, कीमत

मे वृद्धि करती है।"[26] केन्स ने इसका जोरदार शब्दों मे खण्डन किया। उन्होंने बताया कि मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने का प्रथम प्रभाव यह पडता है कि व्याज की दर मे ह्रास हो जाता है, क्योकि लोगों की तारल्य प्रधिमानता की तुष्टि करने के लिये पर्याप्त मुद्रा हो जाती है। व्याज की कम दर होने से विनियोग के लिये क्षमशील माग बढती है और इससे आय, उपयोगीकरण तथा उत्पादन बढते हैं। हा, इसी समय धीरे-धीरे कीमतें भी बढने लगती हैं।● इस प्रकार उपयोगीकरण तथा कीमतों दोनो मे वृद्धि होने लगती है। पहले तो अपेक्षतया उपयोगीकरण में अधिक वृद्धि होती है किन्तु ज्यों-ज्यों आर्थिक व्यवस्था पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति के निकट पहुँचती जाती है त्यों-त्यों कीमतें अपेक्षाकृत अधिक बढती जाती हैं। जब आर्थिक व्यवस्था एक बार पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति मे पहुच जाती है तो फिर मुद्रा के परिमाण में वृद्धि केवल कीमतो को ऊचा उठायेगी, कीमतो में वृद्धि करने मे लगेगी†। इस तर्क के आधार पर हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि यदि समाज मे ससाधन बिना उपयोग हुए पडे हुए हैं, अर्थात् आर्थिक व्यवस्था में ससाधनो का न्यून उपयोगीकरण है तो मुद्रा के परिमाण में वृद्धि समाज के लिये हितकर होगी। सक्षिप्त मे, इस अवस्था को हम इस प्रकार दिखा सकते हैं—

मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि —(मे)→ व्याज की दरमें कमी —(से)→ विनियोग में वृद्धि

—(से)→ 卐
- ↗ उपयोगीकरण में वृद्धि (उत्पादन में वृद्धि)
- → आय " "
- ↘ कीमतो में वृद्धि
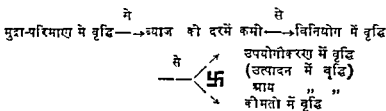
卐 [नोट] प्रथम उपयोगीकरण मे अपेक्षतया अधिक वृद्धि होगी और फिर पूर्ण उपयोगीकरण के निकट कीमतो में।

---

26 Principle of Eco by Taussig, 4th edn Vol II, p. 8.

● कीमतों में वृद्धि होने के मुख्यत तीन कारण होते हैं —

(i) मजदूरों में अपनी मजदूरी बढाने के लिये माग करने का अधिक सामर्थ्य हो जाता है, यदि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि के साथ मजदूरी भी बढने लगी तो मुद्रा के परिमाण में वृद्धि मजदूरी में लग जायगी और उत्पादन वृद्धि उसी हिसाब से कम होगी।

(ii) अल्पकाल में उत्पादन में क्रमागत ह्रास नियम होने लगता है।

(iii) उत्पादन की वृद्धि के मार्ग में अन्य रुकावटें भी आ जाती हैं।

† "So long as there is unemployment, employment will change in the same proportion as the quantity of money and when there is full employment prices will change in the same proportion as the quantity of money."—*G. T.* p. 296.

मुद्रा परिमाण में वृद्धि के, आर्थिक व्यवस्था पर, जिस प्रभाव की व्याख्या अभी हमने की है वह सर्वदा सही नहीं होगा। हमने एक सामान्य परिस्थिति का चित्रण किया है। उपर्युक्त विवरण द्वारा दर्शाये हुये मार्ग का अनुसरण मुद्रा सदैव नहीं करती। इससे "यदि"…… हम यह दावा करने के प्रलोभन में पड़ जाय कि मुद्रा एक ऐसा पेय है जो समस्त (आर्थिक) ढाँचे की क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करता है (तो) हमें यह याद रखना चाहिये कि प्याले तथा होठ के बीच कई बार फिसलन हो सकती है।"[27] प्याले को होठों तक ले जाने तक काफी बाधायें उपस्थित हो सकती हैं। मुद्रा-परिमाण में वृद्धि होने तथा उसके हितकर प्रभाव उत्पन्न होने के बीच काफी अड़चनें आ सकती हैं। जैसे, मुद्रा के परिमाण में वृद्धि से ब्याज की दर में सामान्यतः कमी हो जानी चाहिये, लेकिन यदि साथ-साथ लोगों में तरल मुद्रा के सचय करने का मोह, अर्थात् तारल्य अधिमानता में भी वृद्धि हुई तो मुद्रा का बढ़ा हुआ परिमाण हो सकता है धन-सचय के साधन के ही रूप में खप जाय, बाहर आने का उसे अवसर ही न मिले। ऐसी दशा में मुद्रा-परिमाण में वृद्धि ब्याज की दर को कम न कर सकेगी और न आर्थिक-व्यवस्था पर कोई प्रभाव ही डाल सकेगी, क्योंकि यद्यपि कुल मुद्रा-परिमाण में वृद्धि अवश्य हुई लेकिन क्रियाशील मुद्रा का परिमाण पूर्ववत् ही रहा—बढ़ा हुआ मुद्रा का परिमाण तारल्य अधिमानता की तुष्टि की निष्क्रियता में लग गया। अब यदि हम यह मान भी लें कि ब्याज की दर में कमी हो गई तो यह आवश्यक नहीं कि विनियोग की मात्रा बढ़ जायगी, क्योंकि हो सकता है कि पूंजी की सीमान्त कुशलता में भी ह्रास* हो रहा हो और विनियोग से लाभ की आशा न हो तो विनियोग कौन करेगा? पूंजी की सीमान्त कुशलता में ह्रास यदि ब्याज-दर में कमी की मात्रा से अधिक होगा तो विनिमय में वृद्धि नहीं होगी, क्योंकि उससे विनियोगकर्त्ता को कोई लाभ नहीं होगा। यदि यह कठिनाई भी उपस्थित न हो, तथा मुद्रा-परिमाण में वृद्धि से ब्याज की दर भी कम हो जाय और विनियोग भी बढ़ जाये, फिर भी निश्चय रूप से हम यह नहीं कह सकते कि इससे उपयोगीकरण में भी वृद्धि हो जायेगी। हो सकता है कि लोगों ने उपभोग पर अपना व्यय कम कर दिया हो जिससे सम्पूर्ण व्यय (विनियोग तथा उपभोग) की मात्रा में कोई वृद्धि न हो पाई हो। विनियोग की मात्रा में वृद्धि तो हुई किन्तु उपभोग पर व्यय कम हो गया, जिससे कुल मिलाकर उपयोगीकरण में कोई वृद्धि नहीं हुई। और हम जानते हैं कि कुल व्यय की मात्रा बढ़ने ही से उपयोगीकरण में वृद्धि की सम्भावना है। केन्ज ने धीरे-धीरे इस बात को महसूस किया था। इसीलिये सन् १६३४ ई० में उन्होंने लिखा था कि कुल व्यय की मात्रा की अपेक्षा 'मुद्रा के

---

27. *G T*, p. 173.

* Marginal Efficiency of Capital आगे देखिये।

परिमाण पर अधिक जोर दना एक अत्यन्त भ्रमोत्पादक सिद्धान्त है।'[28] अब यदि यह भी मान लें कि उपयोगीकरण म भी वृद्धि हो गई तो भी हो सकता है कि आर्थिक व्यवस्था का इससे पूरा लाभ न पहुँच पाए, क्योकि उपयोगीकरण के साथ-साथ कीमतें भी बढती हैं—कम या अधिक, 'और जब उत्पादन तथा कीमतें (दोनो) मे वृद्धि होती है तो द्रव अधिमानता पर इसका प्रभाव यह पडेगा कि ब्याज की दर उसी स्तर पर बनाय रखने के लिय दिये हुय मुद्रा के परिमाण म और वृद्धि करनी होगी।"[29]

उपर्युक्त पैराग्राफ मे जो कुछ कहा गया है, उसका साराश पृष्ठ ८६२ और ८६३ पर दी हुई तालिका की भाति दे सकते हैं।

हम देखते है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियो की यह धारणा कुछ हद तक सही हो सकती है कि मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि की कीमतें आवश्यक रूप से बढती हैं। कुछ हालतो मे पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था आने के पूव ही मुद्रा-परिमाण म वृद्धि मुद्रा स्फीति का जन्म दे सकती हैं। इसालिये धीरे धीरे केन्ज की आस्था भी उपर्युक्त मौद्रिक सिद्धान्त, जिसके द्वारा वह आर्थिक व्यवस्था म सतुलन तथा समृद्धि लाने की चेष्टा कर रहे थे से डिग चली थी। केन्ज ने अधिकाधिक यह महसूस किया कि उपयोगीकरण के रास्ते मे पूजी की सीमान्त कुशलता म ह्रास एक प्रबलतम् रुकावट है। मुद्रा की क्रिया के नियन्त्रण द्वारा समाज की सारी आर्थिक व्याधिया दूर नही की जा सकती।

लेकिन केन्ज ने स्वय कहा है कि मौद्रिक सिद्धान्त प्रधानन सोचने की एक विधि है जिससे हमें सही परिमाणो पर पहुँचने मे सहायता मिलती है[30], और इस रूप मे हमारी आर्थिक नीति मे मौद्रिक क्रियाओं का विशेष महत्व है। यथार्थ पर आधारित मौद्रिक सिद्धांत आर्थिक व्यवस्था मे सतुलन ले आने तथा बनाये रखने म हमारी पर्याप्त सहायता कर सकते हैं। लेकिन मौद्रिक नीति के साथ-साथ राजस्व तथा अन्य अमौद्रिक तत्वो का ध्यान रखना आवश्यक है। यदि यथार्थ को ध्यान मे रखकर हम मौद्रिक तथा अमौद्रिक तत्वो का अपने नीति निर्धारण मे समुचित समन्वयन कर सकें तो मौद्रिक सिद्धान्त हमारी आर्थिक व्यवस्था के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, अन्यथा समाज म आर्थिक बुराइया, विशेषतया अपर्याप्त उत्पादन तथा वितरण के वैषम्य के प्रश्न, इतन जटिल है कि केवल मौद्रिक रीति द्वारा यह दूर नही किया जा सकता।[31]

---

28 London Times 2nd January, 1934 Quoted *by S E Harris in 'J M, Keynes.'* (1955), *p* 127.

29 G T., p 173

30 'Keynes' Preface to 'Money *by D H Robertson*

31 'Money' —*Robertson*, p 194

(पृष्ठ ८९०–९१ पर दिये पैराग्राफ का सारांश)
(१) मुद्रा परिमाण मे वृद्धि
|| किन्तु यदि उसी समय
लोगो की द्रव अधिमानता मे भी वृद्धि होती है
तो
ब्याज की दर कम न होगी
न
आर्थिक व्यवस्था ही पर कोई हितकर प्रभाव पड़ेगा।
(२) मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि
से यदि
ब्याज की दर कम हुई भी
|| किन्तु यदि उसी समय पूंजी की सीमान्त कुशलता मे ह्रास हुआ
तो
विनियोग नही बढेगा
न
आर्थिक व्यवस्था ही पर कोई हितकर प्रभाव पडेगा।
(३) मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि
से यदि
ब्याज की दर कम हुई
से
विनियोग मे वृद्धि भी हुई
|| किन्तु यदि उसी समय उपभोग की तीव्रता मे कमी आगई
तो
उपयोगीकरण उत्पादन तथा आय मे वृद्धि न होगी।
न
आर्थिक व्यवस्था ही पर कोई हितकर प्रभाव पडेगा।
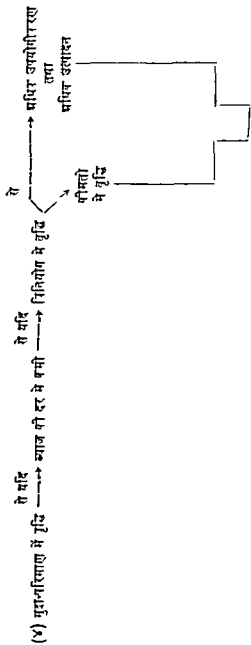
जैसे-जैसे कीमतें तथा उत्पादन में वृद्धि होती है वैसे वैसे मुद्रा परिमाण में वृद्धि करना होगा। कारण ! क्योंकि उत्पादन बढ़ने पर तथा कीमतें बढ़ने पर मुद्रा की मांग विनिमय के माध्यम के रूप में बढ़ जायेगी और यदि इसके परिमाण में वृद्धि न की गई तो ब्याज की दर बढ़ जायेगी और परिणाम बुरे होंगे। इस प्रकार कीमतों में वृद्धि (तथा उत्पादन में भी) मुद्रा परिमाण में वृद्धि कर ली है, यह बात क्लासिकल मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की धारणा से बिल्कुल उल्टी है, जहां मुद्रा परिमाण में वृद्धि कीमतों को बढ़ाती है। इस प्रकार पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति पर पहुंचने के पूर्व ही मुद्रा स्फीति की अवस्था आ सकती है।

मौद्रिक क्रियाओ पर इतना विचार कर लेने के बाद अब हम सक्षेप मे क्लासिकल 'मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त' पर कुछ विचार करेंगे तथा इस सम्बन्ध मे केन्ज के मत का अवलोकन करेंगे।

कीमतो का सिद्धान्त (Theory of Prices) इस बात का अध्ययन करता है कि मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन की कीमत-स्तर (अर्थात् सामान्य कीमत-स्तर) पर क्या प्रतिक्रिया होती है। 'क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के विचार से कीमत का सामान्य स्तर मुद्रा के परिमाण से सम्बद्ध है। इस सम्बद्धता का विवेचन 'मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त' द्वारा करने की चेष्टा की गई है। केन्ज के पूर्ववर्ती प्राय: सभी अर्थशास्त्रियो ने इस बात पर जोर दिया कि मुद्रा के परिमाण तथा कीमत के सामान्य स्तर के बीच एक घनिष्ट सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न अनुपात मे इस सम्बन्ध को कुछ लोगो ने इस प्रकार बताया कि मुद्रा परिमाण मे परिवर्तन से कीमत-स्तर मे परिवर्तन भी ठीक उसी अनुपात मे होगा। कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने किसी निश्चित अनुपात को न बता केवल यह कहा कि यदि मुद्रा के परिमाण मे घट-बढ की जाय तो कीमत-स्तर मे भी उसी दिशा मे घट-बढ होगी। लेकिन इस सिद्धान्त का प्रतिनिधि रूप वह है जो 'विनिमय का समीकरण' या फिशर का समीकरण कहलाता है जिसको बीजगणित के समीकरण के रूप मे व्यक्त किया गया है। साधारण रूप मे इसको हम इस प्रकार लिख सकते हैं —

$$म\ व = प\ ट$$

अथवा

$$प\ ट = म\ व$$

म = मुद्रा परिमाण

व = मुद्रा का चलन-वेग = कितनी बार औसतन एक दिये हुये समय मे मुद्रा की एक इकाई काम मे लाई जाती है।

प = 'प्राइस लेविल' = कीमत-स्तर

ट = समाज में मौजूद कुल माल तथा सेवायें।

अर्थात् मुद्रा-परिमाण तथा उनके चलन-वेग का गुणनफल बराबर होता है माल व सेवाओ के मूल्य स्तर तथा उस काल मे खरीदे गये कुल माल तथा सेवाओ के गुणनफल के।

हम इस समीकरण को इस प्रकार भी लिख सकते हैं—

$$प = \frac{म\ व}{ट} \quad \left(\because प\ ट = म\ व \quad \therefore प = \frac{म\ व}{ट} \right)$$

इस समीकरण के अनुसार 'प' (कीमत स्तर) मे तीन हालतो मे वृद्धि हो सकती है —

(१) 'म' (मुद्रा परिमाण) मे वृद्धि होने से 'ट' तथा 'व' पूर्ववत् रहे।
(२) 'व' (चलन वेग) मे वृद्धि होने से, (यदि 'म' तथा 'ट' पूर्ववत रहें)।
(३) 'ट' (कुल माल तथा सेवाम्रो) मे कमी होने से, (यदि 'म' तथा 'व' पूर्ववत् रहे)।

'व' या मुद्रा का चलन-वेग यह बताता है कि औसतन मुद्रा की इकाई एक दी हुई अवधि में लेन-देन या क्रय-विक्रय के सिल-सिले मे कितनी बार प्रयोग मे लाई जाती है। लोगो की खर्च करने की आदतें, उनके भविष्य के प्रति आर्थिक दृष्टिकोण, शिल्प-विज्ञान सम्बन्धी परिवर्तन, देश की जनसख्या मे वृद्धि आदि बातें मुद्रा के चलन-वेग पर प्रभाव डालती हैं।* ये चीजें ऐसी हैं जिनमे परिवर्तन होने मे समय लगता है। फिशर ने अल्पकालीन अवधि के विश्लेषण के लिये यह मान लिया है कि अल्पकाल मे चलन-वेग को स्थिर माना जा सकता है।

अल्पकालिक अवधि के विश्लेषण के लिये हम यह उपधारणा भी कर सकते हैं कि उत्पादन तथा सेवाम्रो (ट) मे भी कोई परिवर्तन नही होगा, अल्पकाल मे उनकी मात्रा स्थिर रहती है। क्योकि उत्पादन मे शीघ्र कोई वृद्धि या ह्रास नही होता, न देश की जनसख्या ही, जिस पर सेवायें निर्भर हैं, साधारणतया इतनी जल्दी घटती बढती है।

कुल उत्पादन तथा सेवाम्रो (ट) तथा मुद्रा के चलन वेग (व) को स्थिर मान लेने पर समीकरण मे केवल दो तत्व रह जाते हैं—मुद्रा परिमाण (म) तथा कीमत-स्तर (प)। ऊपर हम कह चुके हैं कि यदि (ट) तथा व पूर्ववत् रहे तो मुद्रा परिमाण मे वृद्धि से कीमत स्तर ऊचा उठेगा। इसी आधार पर क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने कहा कि मुद्रा परिमाण मे वृद्धि कीमत स्तर में वृद्धि करती है।

अब हम इस विषय पर केन्ज के मत पर विचार करेगे। केन्ज का मूल्यो का सिद्धान्त क्लासिकल सिद्धान्त से अधिक व्यापक तथा सामान्य है। केन्ज क्लासिकल सिद्धान्त की इस बात को मानते हैं कि मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने के साथ कीमतो का स्तर ऊपर उठेगा। लेकिन यही दोनो का मतैक्य समाप्त हो जाता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियो तथा केन्ज के बीच इस बात पर मौलिक मतभेद है कि मुद्रा परिमाण मे वृद्धि किस प्रकार कीमतो के स्तर को प्रभावित करती है। केन्ज की व्याख्या इस प्रकार है।

वस्तुम्रो की अलग-अलग कीमतें तथा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे सामान्य कीमत स्तर उत्पादन की लागत पर निर्भर है न कि मुद्रा के परिमाण पर जैसा

---

* यहा यह याद रहना चाहिये कि चलन-वेग का अधिक महत्व उन देशो मे है जो आर्थिक क्षेत्र मे काफी उन्नत तथा विकसित हैं। औद्योगिक विकास जितना ही अधिक होगा उतना ही मुद्रा का चलन-वेग बढेगा।

"केन्ज का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित करता है" ...पुराना "मुद्रा परिमाण सिद्धान्त केन्द्रीय बैंक के व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित करता करता है"।[32] उसे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की क्रियाओं, माग, उपयोगीकरण आदि बातों से सरोकार न था। केन्ज ने मूल्य के सिद्धान्त तथा मुद्रा के सिद्धान्त में ही केवल तारतम्य स्थापित नहीं किया बल्कि मुद्रा के सिद्धान्त तथा उत्पादन के सिद्धात मे भी उन्होने समन्वयन स्थापित किया।" वास्तव मे उत्पादन के सिद्धान्त के द्वारा ही मूल्य सिद्धान्त तथा मौद्रिक सिद्धान्त मे स न्निध्य स्थापित किया गया है, क्योंकि मुद्रा परिमाण मे परिवर्तन उत्पादन स्तर मे परिवर्तन कर सकता है। जैसे-जैसे उत्पादन का स्तर बदलता है, लागत बदलती है, मूल्य (कीमतें) प्रभावित होती है'[33] चू कि मौद्रिक सिद्धान्त ब्याज के सिद्धान्त का ही अग है तथा ब्याज की दर का भविष्य के प्रति प्रत्याशा से घनिष्ट सम्बन्ध है, इसलिये मुद्रा के सिद्धान्त मे इस प्रत्याशा को भी उचित स्थान दिया जाना चाहिये, इसमे होने वाले परिवर्तनो को मौद्रिक मान मे व्यक्त किया जाना चाहिये। इस प्रकार मुद्रा के धन सचयन के माध्यम के रूप मे काय को अधिक महत्व दिया गया। इसी रूप मे यह वर्तमान तथा भविष्य के बीच की कडी का कार्य करती है।

यहा यह बता देना भी आवश्यक है कि अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन मे केन्ज ने आर्थिक व्यवस्था को न तो प्रतियोगितापूर्ण और न विक्रयेकाधिकारपूर्ण ही माना है। उन्होने प्रतियोगिता तथा विक्रयेकाधिकारिक स्थितियो को दिया हुआ मान लिया है। उनके विवेचन की सत्यता प्रतियोगिता या विक्रयेकाधिकार पर निर्भर नही है। यदि क्षमदीत माग का सिद्धान्त सही है तो चाहे, प्रतियोगिता हो या विक्रयेकाधिकार, या अन्य कोई अवस्था, आर्थिक व्यवस्था मे बेकारी की समस्या अवश्य विद्यमान होगी।

इसी प्रकार केन्ज के सिद्धान्तो मे मौजूदा श्रमिकों की कुशलता तथा सख्या, पूंजी उपकरणो की सख्या तथा विशेषता, मौजूदा उत्पादन प्रणाली, उपभोक्ताओं की आदतो तथा पसदगियो, श्रमिको की भिन्न भिन्न तीव्रताओं, प्रबन्ध तथा निरीक्षण अथवा व्यवस्था के कार्यों की अनुपयोगिता तथा सामाजिक ढाचे को दिया हुआ मान लिया गया है। इसमे जो परिवर्तन होते हैं उनका ख्याल केन्ज के सिद्धान्तों के प्रतिपादन मे नही रक्खा गया है।[34]

केन्ज का उपर्युक्त मौद्रिक विवेचन व्यावहारिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आर्थिक क्षेत्र मे पहली बार मुद्रा-स्फीति के सही खतरे का ज्ञान लोगो को हुआ। परम्परा से चली आने वाली यह धारणा, कि मुद्रा-परिमाण मे

32. A Guide to Keynes by Hansen, p. 184.

33. The Economics of *J. M Keynes* by D. Dillard, Pp. 224—25.

34. See *G T.*, p 245.

वृद्धि सर्वदा मुद्रा-स्फीति पदा करती है, गलत सिद्ध की गई। जब तक समाज मे ससाधनो का पूर्ण उपयोगीकरण नही हो जाता, मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि साधारणतया उपयोगीकरण, उत्पादन तथा आय मे वृद्धि करेगी। बल्कि केन्ज ने इस बात पर जोर दिया कि मुद्रा की पूर्ति काफी लचीली होनी चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार उसके परिमाण मे वृद्धि की जा सके इसलिये केन्ज ने स्वर्ण-प्रमाण (Gold Standard) का विरोध किया, क्योकि जब किसी देश की मुद्रा स्वर्ण-प्रमाण से बधी होती है तो उसके परिमाण मे वृद्धि करना कठिन होता है, उसमे वृद्धि तभी की जा सकती है जब स्वर्ण सुलभ हो लकिन स्वर्ण का सुलभ होना कठिन होता है। इसलिये मुद्रा को स्वर्ण के बन्धन से मुक्त करने ही से उसके परिमाण मे यथोचित परिवर्तन किया जा सकता है और समाज मे विद्यमान बेकारी अनुपयोगीकरण के प्रश्न को सुलझाया जा सकता है।

केन्ज के विचारो का केन्द्र-बिन्दु है बेकारी, अनुपयोगीकरण। उनके सामने बराबर यही प्रश्न था कि शाति के समय समाज मे ससाधनो की, विशेषतया श्रमिको की इतनी बेकारी क्यो पाई जाती है। उन्होने पूर्ण उपयोगीकरण को जोर दिया। उनके अर्थशास्त्र का उद्देश्य पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था ले आना है। क्लासिकल विचारको न पूर्ण उपयोगीकरण के समाज मे पाये जाने की कल्पना की थी और उनके सामने केवल यह प्रश्न था कि श्रमिको, ससाधनो तथा पूजी का अधिक मे अधिक प्रभावोत्पादक प्रयोग कैसे किया जाना चाहिये। केन्ज के समक्ष सबसे बडा प्रश्न था बेकारी तथा अनुपयोगीकरण को हल करने का। जो बात क्लासिकल पद्धति म स्वय सिद्धि मानी गई थी केन्ज ने उसी को सबसे बडी युगीन समस्या बताया।

क्लासिकल पद्धति मे मितव्ययिता को प्रोत्साहन दिया जाता था, परम्परा-वादियो का विश्वास था कि मितव्ययिता से व्यापार-चक्र के कुचक्र को रोकने मे सहायता मिल सकती है तथा देश धनवान बन सकता है। उनका तर्क था कि मन्दी के समय मितव्ययिता से 'बचत' बढेगी, 'बचत' मे वृद्धि से ब्याज की दर कम होगी और इससे विनियोग बढेगा। केन्ज ने मितव्ययिता की युगीन मान्यता पर कडा प्रहार किया और इसे आर्थिक व्यवस्था के लिये घातक बताया। उन्होने कहा कि मितव्ययिता को प्रोत्साहित करने वाले लोग भ्रान्ति मे पडे हैं, मितव्ययिता कोई सामाजिक गुण नही बल्कि बहुत बडा दोष है। उन्होंने 'बचत' (Saving) तथा सचय (Hoarding) मे अन्तर बताया और कहा कि मितव्ययिता का अर्थ अधिक बचत या विनियोग नही बल्कि द्रव-धन का मोह तथा सचय है। इस प्रकार सचय करने का मुख्य ध्येय यह होता है कि उसका उपयोग "न तो आप ही करेंगे, न आपके बाद आपके बच्चे ही।"[35]

---

34 Economic Consequences of the Peace, p. 20

मितव्ययिता करने का अर्थ है मुद्रा को प्रचलन से अलग कर देना। यह तब किया जा सकता है जबकि या तो उपभोग या विनियोग या दोनों की मात्राओं में कमी की जाय। उपभोग तथा विनियोग में कमी का यह फल होगा कि उपयोगीकरण, उत्पादन तथा आय में कमी हो जायगी। इसमें समाज की हानि होगी और आर्थिक व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसलिये जो मितव्ययिता किसी एक व्यक्ति के लिये लाभप्रद हो सकती है वही पूरी समाज के लिये हानिकर सिद्ध होगी। परम्परावादी मितव्ययिता का गुण इसीलिये गाते थे कि उन्होंने केवल आर्थिक-व्यवस्था की इकाइयों को ही ध्यान में रखकर अर्थशास्त्र का विवेचन किया था, उनकी पद्धति माइक्रो पद्धति थी। जो बात एक व्यक्ति के लिये गुण है वही पूरे समाज के लिये अवगुण हो सकती है। परम्परावादियों की यह धारणा, कि व्यक्ति का स्वार्थ समाज-कल्याण का पोषक होता है, इस प्रकार गलत साबित होता है। केन्ज के मितव्ययिता पर इस प्रकार से सारे संसार को एक गहरा धक्का लगा। युगों से चली आई आस्था को केन्ज ने अपने सुपुष्ट तर्कों द्वारा दिवालिया घोषित कर दिया। यह ऐसी वास्तविकता थी, जो अत्यन्त सहज होते हुये भी युगों से दबी चली आ रही थी, प्रकट होने पर आर्थिक जगत को यह बड़ी कड़वी लगी।

केन्ज ने समाज में आर्थिक वैषम्य को दूर करने के लिये एक प्रगतिशील कर-नीति का सुझाव दिया। उनके अनुसार जब धन कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है तो उसका पूरा पूरा उपयोग नहीं होता। केवल उसका कुछ ही भाग उपभोग पर खर्च होता है। दूसरी ओर, जन-साधारण के पास आय-वैषम्य के कारण क्रय-शक्ति ही नहीं होती तो वह उपभोग कहां से करेंगे? और जब उपभोग नहीं बढ़ेगा तो समाज में उपभोग वस्तुओं को बनाने के लिये उपकरणों तथा ससाधनों की मांग न होगी, इस प्रकार विनियोग में भी कमी आयेगी। इस सबका परिणाम आर्थिक व्यवस्था के लिये संकटपूर्ण होगा। अतः समाज में धन के समुचित वितरण से ही आर्थिक व्यवस्था में दीर्घकालीन उपयोगीकरण तथा समृद्धि लाई जा सकती है। यह बात परम्परावादियों की धारणा से बिल्कुल विपरीत है, क्योंकि परम्परावादी धन-वैषम्य को 'बचत' तथा 'विनियोग' के लिये आवश्यक मानते थे। उन्होंने इसीलिये आर्थिक वैषम्य को प्रोत्साहित किया था। लेकिन केन्ज ने धन वैषम्य को कम करना पूंजीवाद के अस्तित्व के लिये परम आवश्यक बताया। धन के वितरण में वैषम्य न केवल सामाजिक फूट तथा वर्गवाद लाता है बल्कि देश की आर्थिक-व्यवस्था को पतनोन्मुख बनाता है। धन का जितना ही समुचित वितरण होगा उतना ही उपभोग बढ़ेगा, समृद्धिशीलता आयेगी तथा वैभव और सम्पन्नता बढ़ेगी। धनी वर्ग के लिये यह बात बड़ी ही कड़वी थी और दृढ़ तर्कों पर आधारित होने के बावजूद भी इसका धनिक वर्ग ने बड़ा विरोध किया।

आर्थिक शक्तियो को निर्बाध रूप से काम करने दिया जाय तो माग की सामान्य परिस्थितिया के अनुसार मजदूरी की दर को घटा बढा कर बेकारी दूर की जा सकती है। पीगू के मतानुसार मुद्रा तथा ब्याज की दर का अनुपयोगीकरण तथा बेकारी से कोई सम्बन्ध नही है। यदि मजदूरी की दर घटा दी जाय तो मन्दी के समय यह अत्यन्त कारगर हो सकती है, यह बकारी को बिल्कुल "निर्मूल तो नही कर सकती, लेकिन पर्याप्त रूप से कम जरूर कर सकती है"।[38] इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोण स श्रम का पूर्ण उपयोगीकरण होने के लिये 'वास्तविक मजदूरी की दर पर्याप्त माना म घटा देनी आवश्यक है। इसस मालिको की अधिक आय हो जाने के कारण श्रमिको को नौकरी देने म लाभ होगा और बेकारो को भी काम मिल जायगा। पीगू के सारे तर्कों का सार यह है कि मजदूरी से अलोच (rigidity) दूर की जा सके और आवश्यकता के अनुसार उसे कम किया जा सके तो पूर्ण उपयोगीकरण किया जा सकता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का 'मजदूरी' से अभिप्राय था 'वास्तविक मजदूरी' न कि 'मौद्रिक मजदूरी'। उनकी पद्धति मे 'वास्तविक मजदूरी' मालिको तथा मजदूरो को सौदेबाजी से निर्धारित होती है। ऊपर हम कह चुके हैं क पीगू इस बात पर जोर देते हैं कि मुद्रा तथा ब्याज-दर का श्रम के उपयोगीकरण से कोई मतलब नही।

केन्ज ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियो की मजदूरी-दर सम्बन्धी आधारणाओ से अपनी जनरल थ्योरी को आरम्भ किया है, क्योंकि क्लासिकल तथा नियोक्लासिकल व्याख्या मे मजदूरी दर मे घट बढ को अनुपयोगीकरण के दूर करने का एक आवश्यक यन्त्र माना गया था। केन्ज ने मजदूरी घटाने की नीति की कटु आलोचना की और कहा कि मन्दी के समय मजदूरी को कम करना आर्थिक-व्यवस्था को और तहस-नहस करना है, क्योंकि मजदूरी लागत की ही आवश्यक अश नही, निर्मित वस्तुओं की माग का भी स्रोत है। श्रमिक मजदूरी को उपभोग तथा अन्य वस्तुओं तथा सेवाओ पर खर्च करते हैं, उनकी मजदूरी मे कमी का अभिप्राय होगा उनकी क्रय-शक्ति तथा वस्तु माग को क्षीण करना। इससे वस्तुओ की माग म और कमी आयेगी तथा मन्दी और बढ जायगी। यहा स्मरण रखना चाहिये कि केन्ज सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था को एक इकाई के रूप मे लेकर चले हैं। उनके अनुसार आय तथा उपयोगीकरण निम्नलिखित तीन बातो पर निर्भर करते हैं —

(१) लोगों की उपभोग तीव्रता, द्रव-अधिमानता तथा भविष्य मे पूजी-उपकरणों स प्रत्याय की प्रत्याशा पर—यह तीनो मनोवैज्ञानिक पहलू हैं।

(२) मजदूरो तथा मालिको क बीच सौदे के फलस्वरूप निर्धारित मजदूरी इकाई पर, तथा।

(३) मुद्रा के परिमाण पर,

38 Economics in Practice by *A. C. Pigou* (1935), p 51

केन्ज के इस विषय पर विचारो को सक्षेप में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि उपयोगीकरण के लिये माग परमावश्यक है, श्रमिको का उपयोगीकरण मौद्रिक मजदूरी पर नही अपितु वास्तविक मजदूरी पर निर्भर है और वास्तविक मजदूरी माग तथा उत्पादन पर आधारित है, मौद्रिक मजदूरी मे हम घट-बढ तो कर सकते हैं लेकिन उससे वास्तविक मजदूरी मे कोई फर्क साधारणतया हम नही ला सकते और यदि वास्तविक मजदूरी मे कोई अन्तर नही आया तो मौद्रिक मजदूरी कम करने से लाभ के बजाय हानि अधिक होगी, क्योकि यद्यपि मौद्रिक मजदूरी की दर मे कमी होने से उत्पादन की लागत मे कमी आ जायेगी लेकिन उससे माग मे भी कमी होगी और माग में कमी मन्दी का भीषण प्रकोप लायेगा।

केन्ज की इस व्याख्या का समस्त ससार के राज्यो की नीतियो पर काफी प्रभाव पडा और अब तो कोई यह सोचता भी नही कि मजदूरी मे कटौती आर्थिक व्यवस्था के लिये कुछ फायदा पहुचा सकती हैं।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिये कि यदि मजदूरी मे कटौती का उन्होने विरोध किया तो वे मजदूरी की दर को ऊचे उठाने के पक्ष मे थे। उन्हे मजदूरी का तेजी से बढना भी अरुचिकर था, इसे भी वे आर्थिक-व्यवस्था के लिये हानिकर समझते थे।

केन्ज ने आगे चलकर इस बात को गलत बताया कि रहन-सहन का खर्च ज्यो-ज्यो बढता जाय, त्यो त्यो मजदूरी की दर भी बढाई जानी चाहिये, इसको इन्होने श्रमिक वर्ग के लिये हानिकर बताया और कहा कि मजदूर सघो को मजदूरी बढवाने की हठ नही करनी चाहिये, क्योकि इससे उनकी वास्तविक मजदूरी की दर मे कोई फर्क न पडेगा अपनी बढी मजदूरी से भी वे जितना उपभोग पहले कर पाते थे उससे अधिक नही कर सकेंगे, मजदूरी के साथ कीमतें भी बढ जायेगी।[40]

'जनरल थ्योरी' मे जिस बात पर केन्ज ने जोर दिया वह यह है कि साधारणया मजदूरी मे कटौती करने से श्रमिको के उपयोगीकरण मे वृद्धि नही लाई जा सकती। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, केन्ज ने सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था को ध्यान मे रखकर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की।

ब्याज—अब हम ब्याज दर पर विचार करेंगे। दूसरे की मुद्रा का उपभोग करने के बदले, हमे जो 'कीमत उसे देनी पडती है, वही ब्याज कहलाती है। ब्याज दूसरे की मुद्रा के उपभोग करने का प्रतिफल है। आज के आर्थिक जगत मे ब्याज दर का प्रभाव बहुत ही विशद है। साख (Credit) और ऋण वर्तमान आर्थिक ढाचे के परमावश्यक पोषक हैं, यह कहना कठिन है कि यदि हम साख और ऋण के प्रत्ययो को हटा दें तो हमारे आज के आर्थिक जगत पर इनका क्या प्रभाव पडेगा परन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि परिणाम अत्यन्त भयकर तथा दुखद होंगे।

40 How to pay for the War (1940), Pp 6-7

ब्याज का साख और ऋण से लगभग वही सम्बन्ध है जो मजदूरी से तथा लगान का भूमि से है।

पर, ब्याज हम क्यो देते है इसकी दर किन बातो पर निर्भर होती है ? इन्ही प्रश्नो के उत्तर स्वरूप-अर्थशास्त्र मे ब्याज के सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। हमे यह देखना है कि केन्ज के पूर्ववर्ती क्लासिकल अर्थशास्त्रियो के ब्याज सिद्धान्त तथ केन्ज के ब्याज सिद्धान्तो मे क्या भेद है ?

कुछ प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियो ने इस बात पर जोर दिया कि पूंजी भूमि तथा श्रमिको की भाति उपजाऊ होती है। ब्याज पूंजी द्वारा की गई उपज का प्रतिफल है। इसकी दर पूंजी की सीमान्त उपज पर निर्भर है। इस सिद्धान्त मे मुख्यत पूंजी के लिये माग पर जोर दिया गया है, उसकी पूर्ति पर ध्यान नही दिया गया। इसके विपरीत, कुछ अर्थशास्त्रियो ने पूंजी की पूर्ति से पहलू पर अधिक जोर दिया और कहा कि ब्याज त्याग तथा विरति का फल है। आदमी अपने उपभोग को कम करके, अपने उपभोग करने के सुख से वचित रह करके पूंजी एकत्रित करता है। अत उसके बलिदान, त्याग तथा सयम के लिये कुछ पारितोषिक दिया जाना आवश्यक है, यही पारितोषिक ब्याज है।* आस्ट्रियन अर्थशास्त्रो ने कहा कि मनुष्य के लिये वर्तमान का मूल्य भविष्य के मूल्य से अधिक होता है, न नौ नकद न तेरह उधार। मौजूदा उपभोग अधिक तुष्टि देता है क्योकि भविष्य अनिश्चित होता है। मौजूदा आवश्यकताए भविष्य की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। यदि कोई पूंजी बचाता है तो वह अपने वर्तमान को भविष्य पर बलिदान करता है। किसी रकम के वर्तमान उपभोग से प्राप्त होने वाले सुख व तृप्ति तथा भविष्य मे उपभोग से सभाव्य सुख व तृप्ति के बीच का अन्तर ही ब्याज की दर निर्धारित करता है। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने कहा कि ब्याज बचत तथा विनियोग मे सस्थिति लाने वाला तत्व है। ब्याज पूंजी की माग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। ब्याज की जिस दर पर पूंजी के लिये माँग (investment) पूंजी की पूर्ति (saving) के बराबर हो जाती है, वही ब्याज की दर होती है। यहा यह कह देना भी आवश्यक है कि इन अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्त अमौद्रिक थे, मुद्रा की क्रियाओ पर इन्होने ध्यान नहीं दिया था।

इस प्रकार क्लासिकल तथा नियोक्लासिकल अर्थशास्त्री ब्याज को एक ऐसी रकम मानते हैं जो 'प्रतीक्षा' के लिये, 'त्याग' तथा 'सचय' के लिये या 'बचत के लिये' दी जाती है।

यहा भी इन परम्परावादी सिद्धान्तो के पीछे पूर्ण उपयोगीकरण की उपधारणा काम कर रही थी। यदि समाज मे उत्पादन मे लगने वाले समस्त

---

* मार्शल ने विरति (abstinence) के बदले प्रतीक्षा (waiting) शब्द का प्रयोग किया।

ससाधनो का पूर्ण उपयोगीकरण हो चुका है, उनमे से कोई बेकार तथा अनुपयोगित नही है और हम किसी एक वस्तु के उत्पादन को बढाना चाहते हैं तो आवश्यक ससाधनो को हमे दूसरी जगह से ले आना पडेगा और किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन मे कमी करनी होगी। यदि हम पू जी उपकरण अधिक बनाना चाहेगे तो हमे उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे कटौती करके आवश्यक ससाधनो का उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे लगे हुए उद्योग धन्धो से मशीन बनाने वाले उद्योग धन्धो मे ले जाना होगा। इसलिये यदि हम विनिमय तथा बचत मे वृद्धि ले आना चाहते है तो हमे उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे कटौती करनी पडेगी और उपभोक्ताओ को अधिक उपभोग से विरत करना होगा। उपभोक्ता अपने उपभोग मे कटौती तभी करेंगे जब उनको उसके लिये कुछ प्रतिफल मिलेगा। यही प्रतिफल ब्याज है। इस प्रकार ससाधनो को पूर्ण उपयोगीकरण मान लेने मे बाद 'प्रतीक्षा', सयम, 'त्याग' तथा 'बचत' के सिद्धान्त उचित ज्ञात होते हैं।

किन्तु केन्ज ने यह कहा कि समाज मे न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था पाई जाती है, पूर्ण उपयोगीकरण कुछ विशिष्ट हालतो ही मे सम्भव है। यदि ससाधन काफी मात्रा मे बेकार पडे हैं तो उनको अधिक मशीनो तथा पूंजी उपकरणो के निर्माण मे लगाया जा सकता है तथा उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे कटौती कर ससाधनो का स्थानान्तर करने की कोई आवश्यकता नहीं, न उपभोक्ताओ को उपभोग ही को कम करने की जरूरत है। जब तक पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति नही आ जाती तब तक उपभोक्ताओ को अपने उपभोग मे कटौती करने के लिये कहना बेवकूफी होगी। बल्कि इस कटौती का प्रभाव अधिक विनियोग मे बाधक सिद्ध होगा। इसलिये 'प्रतीक्षा', 'विरति', 'समय-अधिमानता' आदि पर आधारित सिद्धान्त ब्याज की व्याख्या कर सकने मे असमर्थ हैं।

केन्ज ने इन सिद्धान्तो की आलोचना की। उन्होने अपने ब्याज के सिद्धान्त मे ब्याज को एक मौद्रिक घटना बताया। ब्याज हमे यह बताता है कि आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा क्या कार्य करती है। ब्याज की दर मुद्रा के लिये माग तथा उसकी पूर्ति पर निर्भर है। 'द्रवता के लिये माग, मुद्रा की पूर्ति के साथ ब्याज की दर निर्धारित है।'[41] ब्याज की दर दो बातो पर निर्भर है—

(१) द्रव अधिमानता (Liquidity Preference) पर, तथा

(२) मुद्रा के परिमाण पर

प्रथम, मुद्रा की माग का पहलू है तथा दूसरा, उसकी पूर्ति का।

मुद्रा की माग इसलिये होती है कि यही सबसे अधिक द्रव धन है। जिन लोगो को अपने खर्चे के लिये या व्यापार के लिये मुद्रा की आवश्यकता है, किन्तु उनके पास मुद्रा नही है तो वे इसको प्राप्त करने के लिये कुछ कीमत देने को तैयार

41 Monetary Theory and Public Policy, *by K Kurihara*, p. 113.

होते हैं। जिनके पास यह द्रव-धन है, वह इसे तभी देगा जब उसे देने का उचित पुरस्कार मिलेगा। इस प्रकार ब्याज धन की द्रवता को खोने का पुरस्कार है। जो व्यक्ति मुद्रा अपने से अलग करता है, दूसरो को उपयोग करने के लिये देता है, वह अपने धन की द्रवता का त्याग करता है। लोगो मे जितना ही द्रव-धन के प्रति मोह होगा, द्रव-धन को उनसे लेने के लिये उतनी ही अधिक कीमत देनी होगी। वास्तव मे, मुद्रा माग द्रवता की माग है। लोग अपना धन द्रव के रूप मे क्यो रखना चाहते हैं ? केन्ज ने इसके तीन हेतुक बताये (१) सव्यवहार हेतुक, (२) सतर्कता हेतुक तथा (३) सट्टा हेतुक।

(१) सव्यवहार हेतुक (Transaction motive), हमे रोज बरोज कुछ लेन-देन करना होता है। इस लेन-देन या विनिमय की माध्यम मुद्रा है। अपने दैनिक व्यय के लिये हमे कुछ मुद्रा अपने पास रखनी पडती है। वह मुद्रा-परिमाण जो हम इस प्रकार रखते हैं उनके रखने का उद्देश्य हमारा दैनिक सव्यवहार है। उपयोगीकरण, उत्पादन तथा कीमतो के किसी दिये हुये स्तर पर इस हेतुक के लिये रखी गई मुद्रा का परिमाण लगभग निश्चित तथा स्थिर होगा। जैसे जैसे उपयोगीकरण तथा उत्पादन का स्तर ऊपर उठेगा, सव्यवहारो की सख्या भी बढ जायेगी और अधिक मुद्रा की माग होगी। कीमत या मजदूरी मे वृद्धि होने से मुद्रा की माग बढेगी, किन्तु अल्पकाल मे यह राशि स्थिर-प्राय रहेगी।

(२) **सतर्कता हेतुक**—बुद्धिजीवी प्राणी मनुष्य आज की ही नही, अपनी भविष्य की आवश्यकताओ के बारे मे भी सतर्क रहता है। भविष्य मे क्या और कब जरूरत पड जाय, इसके लिये मनुष्य अपनी साधारण आवश्यकताओ के अतिरिक्त भी कुछ मुद्रा बचा कर रखता है। सामान्य अवस्था मे ऐसी मुद्रा की राशि भी स्थिर होती है।

उपर्युक्त दोनों हेतुक मुद्रा को सामान्यतः विनिमय के माध्यम के रूप मे देखते हैं। यहा मुद्रा का उपयोग इसलिये है कि उससे हम अपनी आवश्यकताओ की वस्तुयें खरीद सकते हैं। लेकिन मुद्रा केवल विनिमय-माध्यम के रूप मे ही कार्य नही करती। यह धन सचय का भी माध्यम है, इस माध्यम के रूप मे हम इसे निम्नलिखित हेतुक मे पाते हैं।

(३) **सट्टा हेतुक** (Speculative motive)—यह हेतुक मनुष्य की कुछ जोखिम उठाने की जन्मजात प्रवृत्ति का फल है। भविष्य के विषय मे आदमी अटकलें लगाया करता है। इन अटकलो के द्वारा वह अपने निकट अन्य लोगो से अधिक लाभ कमाने की कोशिश करता है। भविष्य के बारे मे अनभिज्ञता मानव-मात्र की सबसे बडी कमजोरी (या सबसे अच्छी ताकत ?) है। भविष्य के बारे मे अन्दाजा लगाकर हम अपनी आज की स्थिति मे परिवर्तन करने की कोशिश करते हैं। आर्थिक क्षेत्र मे भी हम अन्य लोगो की अपेक्षा भविष्य का अच्छा ज्ञान रखकर अधिक लाभ

कमाने तथा हानि से बचने का प्रयत्न करते हैं।* इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हम अपना कुछ धन द्रव के रूप में अपने पास रखते हैं। यदि भविष्य में हम धन को किसी काम में लगाकर अधिक लाभ उठाने का अनुमान लगाते हैं, तो उस धन को हम अपने पास द्रव के रूप में रखेंगे, जिससे जब उपयुक्त अवसर आ जाये उसे किसी अधिक लाभदायक काम में लगा दें। इसी प्रकार हमें यदि यह आशा है कि ब्याज की दर भविष्य में बढ़ेगी तो हम अपनी मुद्रा आज उधार न देंगे, बल्कि तब तक प्रतीक्षा करेंगे जब तक कि ब्याज की दर काफी ऊंची नहीं हो जाती। धनी लोग तथा विनियोग करने वाली संस्थायें, जैसे बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि अपनी मुद्रा दीर्घकालीन सिक्योरिटी के खरीदने में कभी न लगायेंगे, यदि भविष्य में ब्याज की दर बढ़ने की सम्भावना उन्हें दिखाई देगी। केन्ज ने बताया यदि हम आर्थिक व्यवस्था पर ध्यान दें तो देखेंगे कि इस हेतुक के लिये मुद्रा की माग अत्यधिक अस्थिर होती है। इस राशि का सम्बन्ध सीधा ब्याज की दर से है। उपर्युक्त दो हेतुकों की अपेक्षा यह हेतुक कहीं अधिक अस्थिर तथा प्रभावोत्पादक है। यह हेतुक अत्यधिक मनोवैज्ञानिक है। *लोगों की द्रव-अधिमानता उनको आर्थिक तथा राजनैतिक भविष्य के रुख पर निर्भर है।*

लोगों की द्रव-अधिमानता उनके भविष्य के प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। वे अपने धन को द्रव के रूप में रखें या सिक्योरिटी अथवा किसी विनियोग के क्रय के काम में लगायें। इस बात का फैसला लोग भविष्य की सम्भाव्य आर्थिक तथा राजनैतिक अवस्था को दृष्टिगत रख कर करेंगे। प्रवैगिक समाज में यह अन्दाजा कि भविष्य कैसा होगा, हमेशा बौद्धिक तर्क-वितर्क ही पर निर्भर नहीं होता। बुद्धि-जीवी होते हुये भी मनुष्य व्यवहारिक जीवन में प्राय आवेगों द्वारा ही उत्प्रेरित होता रहता है। यह आवेग क्षणिक हो सकते हैं और इनका सामूहिक रूप क्या होगा, यह बताना आसान नहीं है। इसलिये व्यापारिक क्षेत्र में भी, अन्यत्र की भांति भविष्य अनिश्चित तथा अच्छी या बुरी सम्भावनाओं से परिपूर्ण होता है। व्यापारी इन्हीं सम्भावनाओं को लाभ कमाने का सबल बनाना चाहता है। वह इस बात का प्रयत्न करता है कि औरों की अपेक्षा भविष्य के बारे में उसका दृष्टिकोण तथा उसकी अटकलें अधिक सही निकलें। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भविष्य के प्रति आशा या निराशा का दृष्टिकोण एक मनोवैज्ञानिक विषय है। इस पर आधारित मनुष्य का कोई फैसला स्वभावतः अस्थिर होगा। इसी के अनुसार सट्टा-हेतुक की तुष्टि के लिये आवश्यक द्रव-अधिमानता भी अत्यन्त अस्थिर तथा अस्थाई होती है। इसी अनिश्चित, अस्थिर तथा अस्थाई द्रव-अधिमानता पर ब्याज की दर निर्भर करती है।

---

* Keynes defines speculative motive as "The object of securing profit from knowing the market better than what the future will bring forth"
—*G. T.*, p. 170.

केन्ज के अनुसार ब्याज की दर की सस्थिति वह अवस्था है जहा उपर्युक्त तीनों हेतुको की तुष्टि के लिये मुद्रा की कुल माग बराबर होती है पूरी आर्थिक-व्यवस्था द्वारा परिपूरित (Supplied) मुद्रा के।

या $M=M_1+M_2=L_1\ (y)+L_2\ (r)$

जहा,

M=कुल मुद्रा परिमाण (नकद तथा माग-निक्षेप)

M_1=सव्यवहार तथा सतर्कता हेतुको की पूर्ति के लिये आवश्यक मुद्रा-राशि।

M_2=सट्टा के हेतुक की पूर्ति के लिये आवश्यक मुद्रा राशि।

$L_1\ (y)$=सव्यवहार तथा सतर्कता हेतुकों की पूर्ति के लिये आवश्यक मुद्रा राशि जो कुल आय, (y) पर निर्भर होती है।

$L_2\ (r)$=सट्टा-हेतुक की पूर्ति के लिये आवश्यक मुद्रा-राशि जो ब्याज की दर पर निर्भर करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा की यौगिक माग दो भागो मे बटी होती है, एक तो 'सक्रिय' भाग या सव्यवहार तथा सतर्कता हेतु आवश्यक वह मुद्रा-राशि जो विनिमय के माध्यम के रूप मे काम आती है तथा 'निष्क्रिय' भाग या सट्टे के लिये अभियाचित (demanded) वह मुद्रा राशि जो धन सचय के माध्यम के रूप मे काम आती है। यह दूसरा भाग ही साधारणतया ब्याज की दर को निर्धारित करेगा। मुद्रा की कुल राशि का कितना भाग सट्ट हेतुक की तुष्टि मे लगेगा, यह ब्याज की प्रचलित दर बतायेगी। यदि ब्याज की दर इतनी बढा दी जाय कि भविष्य मे फिर उसके बढने की शीघ्र कोई सम्भावना न दिखाई दे तो लोग कम से कम द्रव अपने पास रखेंगे, और विनियोग बढेगा, और इसका उल्टा होने पर अधिक से अधिक धन अपने पास रखेंगे और विनियोग घटेगा।

यद्यपि कुल मुद्रा-परिमाण के ऊपर जनता का कोई नियन्त्रण या प्रभाव नही होता, लोग उसको अपनी क्रियाओ द्वारा घटा-बढा नही सकते। किन्तु बैंको का प्रभाव उस पर होता है। बैंक मुद्रा की 'पूर्ति' बढा सकते हैं। मुद्रा का प्रबन्ध करने वाले अधिकारी तथा बैंक अपनी नीति से ब्याज की दर को प्रभावित कर सकते हैं। यदि ब्याज-दर बढ़ रही हो तो अधिक मुद्रा समाज को देकर उसकी द्रव-पिपासा को शान्त करके ब्याज की दर बढने से रोकी जा सकती है।

इस प्रकार हम केन्ज की प्रणाली मे यह देखते हैं कि ब्याज की दर विनियोग निर्धारित करती है। जितनी कि ब्याज दर ऊची होगी उतनो ही द्रव अधिमानता घटेगी और विनियोग बढेगा। परम्परागत अर्थशास्त्र मे 'बचत-विनियोग' ब्याज की निर्धारित करते हैं, केनेसियन प्रणाली मे ब्याज की दर 'बचत-विनियोग को निर्धारित करती हैं, ठीक विपरीत।

क्लासिकल विचार मे अधिक बचत का अर्थ होता था नीची ब्याज दर, केन्ज के अनुसार यदि अधिक बचत हुई भी लेकिन उसका बडा भाग द्रव-अधिमानता की तुष्टि के लिये सचित कर लिया गया तो विनियोग कम होगा, इससे अनुपयोगीकरण तथा बेकारी बढेगी, कम आय होगी तथा अन्त मे 'बचत' कम हो जायगी जिससे ब्याज दर ऊपर चढेगी।

केन्ज के अनुसार ब्याज 'बचत' करने के बदले नही दिया जाता जैसा परम्परावादी कहते है, बल्कि 'बचत' की हुई मुद्रा राशि को अ-द्रव धन मे रूपांतर करने के बदले दिया जाता है। यदि कोई आज अपना द्रव धन विनिमय मे लगाता है तो वह जोखिम उठाता है। जोखिम यह है कि आज जो ब्याज दर है वह भविष्य मे बढ सकती है तथा जो सिक्योरिटी वह खरीदता है, उसके मूल्य का भविष्य मे ह्रास हो सकता है। 'बचत' करने वाले को दो फैसले करने पडते हैं। एक तो यह, कि वह खर्च करे या न करे, दूसरे यह, कि अपनी 'बचत' को वह मुद्रा के रूप मे रक्खे या उसको विनियोग के काम में लगा दे। सट्टा हेतुक तुष्टि के लिये मुद्रा की कुल माग, ब्याज दर मे परिवर्तन के हिसाब से घटती-बढती रहती है, ब्याज दर जितनी ही ऊंची होगी यह माग उतनी ही कम होगी और ब्याज दर जितनी ही नीची होगी यह माग उतनी ही अधिक होगी। 'बचत' केवल ब्याज दर पर निर्भर नही होती, वह आय पर भी निर्भर करती है।

केन्ज ने यह भी कहा कि व्यापार-चक्र के तेजी काल मे ब्याज की दर को ऊंचा नही करना चाहिये, जैसा कि परम्परावादी कहते हैं, बल्कि ऐसे काल मे उसको उचित मौद्रिक नीति द्वारा नीचे रखना हितकर होगा, क्योकि व्यापार-चक्र का उपचार तेजी की अवस्था खत्म कर बराबर 'अर्द्ध-मन्दी' की अवस्था बनाये रखने मे नही है, बल्कि मन्दी का निर्मूलन कर बराबर अर्घ तेजी की अवस्था बनाये रखने मे है।[42]

केन्ज की, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को, सबसे बडी देन यह है कि उन्होने परम्परावादियो की पूर्ण उपयोगीकरण की उपधारणा को निर्मूल बताया और कहा कि न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था मे भी आर्थिक व्यवस्था मे सस्थिति पैदा हो सकती है। यह बात उनसे पहले किसी ने भली-भाति सोची ही नही थी। परम्परावादियो के अध्ययन के विषय थे—लागत, माग, मूल्य, विशिष्ट उद्योग-धन्धे या फर्म मे कीमतें, विक्रय एकाधिकार, उत्पादन व्यापारिक इकाइयो का अनुकूलतम आकार, उत्पादन का वितरण आदि। केन्ज ने अर्थशास्त्र को एक नया मोड दिया और इसने अध्ययन का फोकस इन सबसे बदलकर अनुपयोगीकरण की समस्या की ओर कर दिया।

इस सबका फल यह हुआ कि अर्थशास्त्र की अध्ययन विधि मे एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। यहा तक कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी केन्ज ने उपयोगीकरण के प्रश्न को सामने रक्खा।

42. G. T, p 322.

रिकार्डो से केन्ज के समय तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परागत सिद्धान्त मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ। परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अबाध* व्यापार के पोषक थे। उनके विचार से निर्बाध व्यापार सभी देशो के लिये लाभ-प्रद होता है। राष्ट्र के भीतर पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति की उपधारणा करके, परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम के समुचित विभाजन से सभी देशो का कल्याण करना चाहते थे।

अर्थशास्त्र वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विशिष्टीकरण के प्रश्न से उलझा हुआ था। उनके अनुसार अबाध व्यापार से राष्ट्रो के बीच ससाधानो का इष्टतम वितरण स्वय ही हो जायगा। रिकार्डो के तुलनात्मक सिद्धान्त का बोल बाला था। इस क्षेत्र मे भी परम्परावादियो ने राज्य की तटस्थता की नीति तथा अन्तराष्ट्रीय स्तर पर मुद्रा परिमाण के सिद्धान्त की क्रियाशीलता को प्रोत्साहित किया। केन्ज ने भी प्रारम्भ मे इसी मत का अवलम्बन किया था और परम्परावादियो के मन्तव्य को दोहराया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रीय उपयोगीकरण मे कोई सम्बन्ध नही होता।[43]

किन्तु 'जनरल थ्योरी' लिखते समय तक केन्ज के विचार परम्परागत मत से काफी दूर चले गये थे। इस क्षेत्र मे भी केन्ज ने सबसे पहले यह प्रश्न किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उपयोगीकरण पर क्या प्रभाव पडता है। केन्ज के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का प्रमुख कर्तव्य होता है - आन्तरिक स्थिरता तथा ऊचे स्तर पर उपयोगीकरण बनाये रखना। इन दो प्रमुख उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर विचार किया जाना चाहिये। यह केन्ज की देन है कि राष्ट्रीय उपयोगीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बीच के महत्वपूर्ण सम्बन्ध को आज स्वीकार किया जाने लगा है। न्यून उपयोगीकरण की स्थिति मे अबाध-अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हानिकारक तथा भयानक सिद्ध हो सकता है। इसीलिये इसे नियन्त्रित किये जाने की आवश्यकता है। केन्ज को डर था कि इस प्रकार का अबाध-अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश से दूसरे देश को अनुपयोगीकरण तथा बेकारी निर्यात करने का प्रयत्न सिद्ध हो सकता है।

केन्ज का मत था कि अल्पकालीन अवधि मे राष्ट्रो के लिए पर्याप्त रूप से आन्तरिक पूर्ण-उपयोगीकरण की नीति को सफल बनाना कठिन है, इस अवधि मे उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आवश्यक वाह्य नियत्रण, जैसे मुद्रा-विनियोग या आयात नियन्त्रण (Exchange or import Control) बनाये रखना चाहिये, प्रत्येक राज्य को मौद्रिक सार्वभौमिकता प्राप्त होनी चाहिये जिससे किसी विश्व-व्यापी

---

* नोट—Free Trade : हिन्दी मे इसके लिये 'अबाध-व्यापार' प्रयुक्त हुआ है, लेकिन कही-कही निर्बाध-व्यापार' का भी प्रयोग किया गया है।

43 G T, p 334.

व्यापी मन्दी के आक्रमण से वह अपने को बचा सके, वर्ना एक देश में मन्दी आने पर वह मन्दी समस्त विश्व मे फैल जायगी तथा कोई भी देश उससे अछूता न रहेगा। अत आवश्यक है कि किसी देश की मौद्रिक नीति किसी अन्य देश या अन्य बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित न हो। प्रत्येक देश अपनी इच्छा के अनुसार जैसी चाहे वैसी मौद्रिक नीति अपनावे, उस पर कोई बाह्य दबाव, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष नही होना चाहिये। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण तथा सामान्य सरक्षण देश की उन्नति के लिये आवश्यक होते हैं।

केन्ज की सामान्य सरक्षण की नीति की परम्परावादियो ने कटु आलोचना की, क्योकि उनके दृष्टिकोण से ऐसा करने से आयात कम हो जायगी और आयात के कम होने पर निर्यात स्वय कम हो जायगी। केन्ज ने इसका उत्तर यह दिया कि "आयात तथा निर्यात की राशियो मे कोई सहज तथा सीधा सम्बन्ध नही होता"[44] अत आयात कम होने पर भी निर्यात के स्वय कम हो जाने का भय निर्मूल है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि केन्ज ने गोल्ड स्टैन्डर्ड का खुलकर विरोध किया।

केन्ज ने अन्तर्राष्ट्रीय सस्थिति के सिद्धान्त मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उनके अनुसार भिन्न भिन्न देशो के बीच मुद्रा विनिमय लचीला होना चाहिये जिससे प्रत्येक देश अपनी उपयोगीकरण की समस्या की ठीक देखभाल कर सके। उन्होंने यह अपील की कि महाजन देश (जिनको ऋण पाना है) ऋणी देशों के साथ ऐसा व्यवहार न करें जिससे विश्व मे और विशेषतया इन ऋणी देशों में मन्दी की स्थिति पैदा हो जाय और अनुपयोगीकरण मे वृद्धि हो, क्योकि अन्त मे ऐसी नीति स्वय महाजन देशो पर भी विपत्ति लायेगी।[45] स्वर्ण एकत्रित करने तथा स्वर्ण मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने का केन्ज ने विरोध किया। केन्ज के अनुसार स्वर्ण पार्थिव व्यवस्था का कट्टर दुश्मन है। स्वर्ण की सत्ता का उन्होंने सोते जागते विरोध किया। वे ऋण तथा देने पावने के भुगतान के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय क्लियरिंग हाउस स्थापित करने के पक्ष मे थे। मान लिया ब्रिटेन का योरुप के देशो से कुछ पावना है और उसे सयुक्त राज्य अमेरिका को कुछ देना है तो योरुप के पावने से वह अमेरिका के ऋण का भुगतान कर सके। इससे बहुमुखी व्यापार तथा समृद्धि बढ़ेगी।

केन्ज देश से बाहर पूंजी भेजने पर नियन्त्रण चाहते थे। उनका मत था कि पूंजी का एक देश से दूसरे मे अबाध रूप से जाना हितकर नही होता। यदि पूंजी की अबाध गति पर प्रतिबन्ध न लगाया गया तो विनियोग करने वाले जहा लाभ की आशा अधिक देखेंगे वहीं अपनी पूंजी भेज देंगे, इससे देश में ब्याज की दर अत्यन्त अस्थिर रहेगी, जिसके परिणाम बुरे होगे। इसीलिये वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा

---

44 The Times London April 2, 1931, p. 6, quoted by D Dillard in The Eco of J M Keynes' at p 314

45 The New Economics, Ed by Harris (1947), p. 332.

विनिमय पर नियन्त्रण रखना प्रत्येक देश का अधिकार समझते थे। इनके बहुत से विचारों का समावेश अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की क्रिया-विधि में किया गया है।

इस प्रकार केन्ज ने अर्थशास्त्रियों का ध्यान तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से राष्ट्रीय विनियोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग और आयात तथा निर्यात के बीच सम्बन्ध की ओर आकर्षित किया। केन्ज ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इस प्रकार नियंत्रित करने पर जोर दिया कि उससे राष्ट्रीय उपयोगीकरण तथा उत्पादन में वृद्धि आये। यद्यपि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (Comparative Cost Theory) की प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने आलोचना नहीं कि, लेकिन उन बहुत सी उपधारणाओं को, जिन पर यह सिद्धान्त आधारित था, उन्होंने गलत सिद्ध किया, उदाहरण के लिये श्रम की गतिशीलता सम्बन्धी उपधारणा का उन्होंने खण्डन किया।

यह है संक्षेप में केन्ज तथा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों तथा मतों का तुलनात्मक अध्ययन। केन्ज के मॉडल अथवा सिद्धान्त को समझने के लिये यह तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अब आगे हम केन्ज के मुख्य सिद्धान्त का ढांचा प्रस्तुत करेंगे।

—:o:—

३२
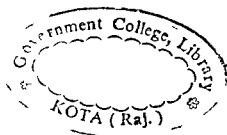
केन्ज का सामान्य सिद्धान्त

केन्ज के विचारों का निचोड़ उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'उपयोगीकरण, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त' (The General Theory of Employment, Interest and Money) में पाया जाता है। इस 'सामान्य सिद्धान्त' द्वारा केन्ज ने ऐसे सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जिनके अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था भिन्न भिन्न स्तरों पर सास्थिति की अवस्थायें प्राप्त करती हैं। परम्परागत 'मूल्य तथा कीमत का सिद्धान्त' की प्रयोजनीयता केवल तभी हो सकती है जब आर्थिक व्यवस्था में समाधनों का पूर्ण उपयोगीकरण हो। केन्ज ने बताया कि पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था आर्थिक व्यवस्था में सामान्यतः नहीं पाई जाती, यह एक विशिष्ट अवस्था है, इसलिये परम्परागत 'मूल्य तथा कीमत का सिद्धान्त' केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही लागू होता है। आर्थिक अवस्था में सामान्य रूप से न्यून-उपयोगीकरण की अवस्थायें पाई जाती हैं, इसलिये इन अवस्थाओं के अध्ययन के लिये एक 'सामान्य सिद्धान्त' की आवश्यकता है, परम्परावादियों का 'विशिष्ट सिद्धान्त' इनके लिये उपयुक्त नहीं। अपने 'सामान्य सिद्धान्त' द्वारा केन्ज ने परम्परावादियों की इस धारणा का खण्डन किया कि आर्थिक व्यवस्था में सुस्थिति की अवस्था केवल पूर्ण उपयोगीकरण की हालत में आ सकती है, उन्होंने यह सिद्ध किया कि न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था में भी आर्थिक व्यवस्था सुस्थिति पर पहुँच सकती है तथा सामान्यतः ऐसा ही होता है।

केन्ज का 'सामान्य सिद्धान्त' से अभिप्राय यह भी था कि इस सिद्धान्त में आर्थिक व्यवस्था को एक इकाई मानकर इसका सामान्य (macro) अध्ययन किया जाना आवश्यक है। परम्परावादियों की रीति थी विशिष्ट फर्मों तथा उद्योग-धन्धों का अलग-अलग अध्ययन करना। इनकी इस आणुविक पद्धति को केन्ज ने भ्रामक तथा मौजूदा परिस्थितियों के लिये अनुपयुक्त बताया।

केन्ज ने अपनी पुस्तक को 'उपयोगीकरण, ब्याज तथा मुद्रा' का सामान्य सिद्धान्त कहा। उपयोगीकरण पर ही आर्थिक व्यवस्था की समृद्धि निर्भर होती है। परम्परावादियों ने इस पहलू पर विचार ही नहीं किया, या किया भी तो बहुत कम इसीलिये इनके सिद्धान्त प्रायः भ्रामक हैं। पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था को दिया

हुआ मानकर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। केन्ज की चिन्ता और मनन का विषय मुख्यत अनुपयोगीकरण तथा न्यून उपयोगीकरण की सर्वत्र पाई जाने वाली अवस्थायें हैं, उनको दूर करना उनके आर्थिक विश्लेषणों का एक मात्र लक्ष्य है। उनके अनुसार पू जीवादी व्यवस्था के अस्तित्व को व्यापक अनुपयोगीकरण ने खतरे मे डाल दिया है।

'ब्याज' को उन्होंने द्वितीय स्थान दिया है। परम्परागत ब्याज के सिद्धान्तों का खण्डन कर उन्होंने नय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 'ब्याज की दर' आर्थिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जैसा हम देखेंगे उपयोगीकरण पर ब्याज का अत्यधिक प्रभाव पडता है। केन्ज ने, स्थूल रूप से, यह कहा कि किसी दिये हुए समाज म उपयोगीकरण, विनियोग पर आधारित होता है तथा विनियोग, ब्याज की दर पर निभर करता है। इसलिय 'ब्याज' क विश्लेषण पर उन्होंन इतना अधिक जोर दिया।

इसके बाद आती है 'मुद्रा'। केन्ज ने आर्थिक व्यवस्था को मौद्रिक माना परम्परावादियो के सार सिद्धान्त अमौद्रिक थ, उन्होंन मुद्रा को निष्क्रिय तथा तटस्थ मान लिया था। केन्ज न मुद्रा को आर्थिक व्यवस्था का एक अत्यन्त सक्रिय तथा महत्वपूर्ण तत्व बताया, मुद्रा 'वर्तमान तथा भविष्य के बीच की कडी है'।[1] समाज मे समृद्धि ले आन के लिय समुचित मौद्रिक प्रणाली द्वारा उपयोगीकरण बढाना उन्होंने परमावश्यक समझा। तमाम आर्थिक व्याधियों तथा शत्रुओं को मारने के लिये उन्होन मौद्रिक उपचारो तथा बाणो को खोजने का प्रयत्न किया।

स्थूल तथा अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे, केन्ज का सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा परिमाण (दी हुई द्रव अधिमानता की दशा मे) ब्याज की दर निर्धारित करता है, ब्याज की दर, विनियोग-मात्रा निश्चित करती है, विनियोग-मात्रा, दी हुई उपभोग करने की प्रवृति मे, -गुणक' द्वारा आय का स्तर निर्धारित करती है, तथा आय-स्तर ही समाज मे उपयोगीकरण स्तर को निर्धारित करता है।

केन्ज का सिद्धान्त, शुद्ध सिद्धान्त, मुद्रा व्यापार चक्र, कीमत सिद्धान्त तथा मूल्य सिद्धान्त के बीच की परम्परागत खाई को पाट देता है। यह सिद्धान्त अल्पकालीन सस्थिति पर विचार करता।

भिन्न भिन्न ससाधनों का उपभोग करने के लिये उत्पादकों को उन समाधनो के स्वामियों को पारितोषिक देना पडता है। इसके अतिरिक्त उत्पादक स्वय कुछ लाभ उठाना चाहता है। यही भिन्न भिन्न समाधनो को, उनके उपभोग के बदले (अर्थात् प्रतिफल स्वरूप), दिये गये पारितोषिक तथा उत्पादकों द्वारा लिये गय पारितोषिक तथा उत्पादकों द्वारा लिय गय लाभ का योग ही राष्ट्रीय आय है। अर्थात् यही योग बराबर होता है कुल राष्ट्रीय आय के।

1. *G. T.*, p. 293.

उत्पादकों का लक्ष्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। भिन्न-भिन्न समाधनों का वे उसी मात्रा में उपयोग करेंगे जिससे कि उन्हें उच्चतम लाभ प्राप्त हो सके। अतः अपने उत्पादन में भिन्न-भिन्न ससाधनों के उपयोगीकरण की मात्राओं, अनुपातों को निर्धारित करते समय वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि उस उपयोगीकरण से जो माल व उत्पादित करेंगे उसे बेचकर वे कितना लाभ प्राप्त करेंगे। उत्पादक ससाधनों का उपयोगीकरण अपने उत्पादन में तब तक बढ़ाता जायगा जब तक कि 'और अधिक' लाभ प्राप्त करने की सभावना समाप्त नहीं हो जाती अर्थात् जब तक उनका लाभ उच्चतम नहीं हो जाता।

इस तरह हम देखते हैं कि उत्पादन तथा उपयोगीकरण को निर्धारित करते समय उत्पादक का पथ-प्रदर्शन करता है 'लाभ'। प्रत्येक उत्पादन-मात्रा तथा इस प्रकार उपयोगीकरण के प्रत्येक स्तर के सगति लाभ की एक मात्रा होती है जिसके प्राप्त होने ही पर उत्पादक उस मात्रा में उत्पादन कर सकेगा तथा उस स्तर पर उपयोगीकरण बनाये रखेगा। उपयोगीकरण केनेसियन विश्लेषण की कुन्जी है। एक विशिष्ट मात्रा में ससाधनों के प्रयोग द्वारा, उत्पादक कुछ माल का उत्पादन करता है। इस उत्पादन को बेचने से उसे जो रकम प्राप्त होती है वही उसके कुल उत्पादन की माग कीमत है या हम यह कहें कि वही उत्पादन में प्रयुक्त ससाधनों की माग कीमत है। जब हम सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर विचार कर रहे हों तो उसमें उपयोगिता तमाम ससाधनों को ध्यान में रखना होगा। जितना माल सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में उत्पादित किया जाता है, उसको भिन्न-भिन्न दरों पर बेचकर उत्पादक जो रकमें प्राप्त करते हैं उन रकमों का कुल योग यौगिक मांग कहलाता है। उपर्युक्त कुल माग के उत्पादन में भिन्न भिन्न ससाधनों की निश्चित मात्रा का उपयोग किया गया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि किसी दिये हुए उपयोगीकरण द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माग कीमत वह रकम है जो उन वस्तुओं के विक्रय से हम प्राप्त करने की आशा करते हैं। यहां एक बात और कह देना उचित होगा। यौगिक उत्पादन को मापने के लिये केन्ज ने श्रम-इकाई का पैमाना अपनाया है। एक साधारण श्रमिक के एक घण्टे की मेहनत से जो उत्पादन होगा उसे हम 'श्रम इकाई' कहेंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्पादन को हम 'श्रम-इकायों' में व्यक्त कर सकते हैं। अथवा हम इस प्रकार कहें कि—किसी स्तर विशेष पर उपयोगीकरण बनाये रखने के लिये उत्पादकों को प्रतिफलस्वरूप एक प्रेरणा चाहिए। किसी निश्चित मात्रा में उपयोगीकरण से जो उत्पादन होता है उसके विक्रय द्वारा उत्पादक कम से कम एक न्यूनतम रकम प्राप्त करने की आशा रखते है। यदि वह न्यूनतम रकम भी उन्हें प्राप्त न हुई तो वह अपना उत्पादन घटायेंगे तथा इस प्रकार उपयोगीकरण भी घटेगा। वह न्यूनतम रकम जो किसी दिये हुए उपयोगीकरण स्तर को बनाये रखने के लिये उत्पादकों को उत्तेजित करती है यौगिक पूर्ति कीमत कहलाती है। उपयोगीकरण का वह स्तर जिस पर

यौगिक-माग कीमत तथा यौगिक पूर्ति कीमत बराबर हो जाती हैं। सस्थिति उपयोगीकरण कहलाता है। अर्थात् उसी स्तर पर उपयोगीकरण सस्थिति पर आ जाता है। उपयोगीकरण उसी स्तर पर इष्टतम् होता है। उससे कम अथवा अधिक दोनो उच्चतम लाभ को कम कर देंगे। उपयोगीकरण का यह स्तर ऐसा होगा जिस पर कि उत्पादित माल के विक्रय से प्राप्त होने वाली रकम ठीक इतनी होगी कि उत्पादको को उस स्तर पर उपयोगीकरण बनाये रखने के लिये प्रेरणा दे सकेगी, उपयोगीकरण का यही स्तर सस्थिति का स्तर होगा और इतने उपयोगीकरण की माग ही 'क्षमशील' मांग कहलायगी।* उत्पादित वस्तु के विक्रय से प्राप्त रकम यदि इससे कम हुई तो उत्पादक उपयोगीकरण कम कर देंगे क्योंकि उन्हे वह न्यूनतम अभिष्ट लाभ न मिल पायेगा जो उस स्तर पर उपयोगीकरण बनाये रखने के लिये उन्हे उत्प्रेरित कर सके। उपयोगीकरण का यह सस्थिति वाला स्तर पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था से पहले ही आ सकता है अवसर आर्थिक व्यवस्था न्यून उपयोगीकरण की हालत मे सस्थिति पर पहुच जाती है। *परम्परावादियो की यह धारणा निर्मूल है कि आर्थिक व्यवस्था मे सस्थिति केवल* पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था मे ही आ सकती है। न्यून-उपयोगीकरण पर ही आर्थिक व्यवस्था मे सस्थिति का आ जाना केन्ज की अत्यन्त महत्वपूर्ण खोज थी। यहा यह भी कह देना उचित है कि जहा तक यौगिक पूर्ति-परिवर्तन का सवाल है, केन्ज उसमे कोई नई बात नही पाते। वह भौतिक साधनों पर निर्भर होता है और देश मे भौतिक साधन दिए हुए होते हैं, वे शीघ्र नही बदलते। इसलिए यौगिक पूर्ति को भी दिया हुआ मान लिया जा सकता है। इसलिये उन्होने अपने विश्लेषण का मुख्य केन्द्र यौगिक-माग मे परिवर्तन को बनाया तथा यौगिक-पूर्ति परिवर्तनो को दिया हुआ स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि केनेसियन प्रणाली मे उपयोगीकरण सस्थिति पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है, जबकि परम्परावादियो की आर्थिक व्यवस्था में कीमत सस्थिति ही सब कुछ थी।

---

* नोट—जनरल थ्योरी का मुख्य विषय यह है कि उपयोगीकरण यौगिक-माग द्वारा निर्धारित होता है और यौगिक-माग उपभोग करने की प्रवृति तथा विनियोग पर निर्भर है। केन्ज कुल उपभोग तथा कुल आय के बीच लगभग एक स्थाई अनुपात मानता है। बचत=विनियोग, यही उपयोगीकरण की मूल कुन्जी है। विनियोग मे केन्ज ने 'गुणक' की मदद से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि विनियोग मे परिवर्तन उपयोगीकरण मे कई गुना परिवर्तन लाता है। ग्राफ द्वारा हम यौगिक-माग तथा यौगिक-पूर्ति तथा सस्थिति को निम्नलिखित प्रकार दिखा सकते हैं—

वक्र म म यौगिक-मांग की अनुसूची से बना है, उपयोगीकरण की भिन्न-भिन्न मात्राओ द्वारा उत्पादित सामग्रियो के विक्रय से जो रकमे प्राप्त करने की आशा की जाती है उन्हे यह व्यक्त करती है। जैसे-जैसे उपयोगीकरण बढ़ता है, हम देखते हैं यह रेखा दाहिनी ओर ऊपर उठती जाती है, अर्थात् माग बढ़ती है।

अब हम केन्ज की इस नई प्रकार की सस्थिति तथा इसके आवश्यक तत्वों का विवेचन सक्षिप्त रूप मे करेंगे । हा, यह कह देना पुन आवश्यक है कि उपर्युक्त क्षमशील माग केन्ज के विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु है क्योकि उपयोगीकरण इसी पर निर्भर होता है। क्षमशील माग के निर्धारक हैं यौगिक मांग परिवर्तन तथा यौगिक-पूर्ति परिवर्तन । दूसरे को तो केन्ज दिया हुआ मान लेते हैं। यौगिक माग-परिवर्तन पर ही वे प्राय विचार करते हैं ।

वक्र य य यौगिक पूर्ति-अनुसूची का परिचायक है, विक्रय की वे न्यूनतम राशियाँ जो भिन्न-भिन्न मात्राओ मे उपयोगीकरण बनाये रखने के लिये उत्पादकों को प्रेरित कर सकती हैं, उन्हे यह रेखा व्यक्त करती है। जैसे-जैसे विक्रय-रकम बढती जाती है वैसे-वैसे उपयोगीकरण मे भी वृद्धि होती जाती है ।
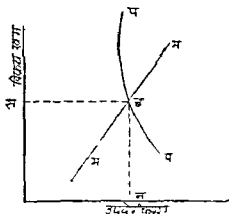
बिन्दु 'क्ष' पर ये रेखायें एक दूसरे को काटती हैं, यही बिन्दु क्षमशील- माग को व्यक्त करता है। यह बिन्दु म न के बराबर उपयोगीकरण व्यक्त करता है। म न उपयोगीकरण की सस्थिति-मात्रा है इससे कम या अधिक उपयोगीकरण उत्पादक के लाभ को कम कर देंगे। लेकिन हम यह नही कह सकते हैं कि इस सस्थिति की दशा मे आर्थिक व्यवस्था पूर्ण उपयोगीकरण पर पहुँच गई है। म न प्राय सदैव पूर्ण उपयोगीकरण से कम होता है। पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था पर पहुँचने के पहले ही आर्थिक व्यवस्था मे सस्थिति का आ जाना केन्ज की मौलिक खोज है। यह देखा गया है कि जैसे-जैसे आय बढती जाती है लोगों की आय का वह अनुपात जो उपभोग पर व्यय किया जाता है। क्रमश. कम होता जाता है। पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति मे यौगिक पूर्ति कीमतों तथा कुल आय के उस भाग मे जो उपभोक्ता उपभोग पर व्यय करते हैं, अन्तर पड जाता है। यदि उपभोग-व्यय तथा यौगिक पूर्ति-कीमत के बीच की यह खाई विनियोग-माग द्वारा भरी जा सके।

जमीदार को दिया जाता है तथा ब्याज पूंजी लगाने वाले को दिया जाता है इस तरह उत्पादन मे जो लागत लगती है वह पाने वाले श्रमिको, जमीनदारो तथा पूंजी वालो के हाथ मे आय का रूप धारण कर लेती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि राष्ट्र की कुल आय बराबर हुई कुल लागत तथा कुल लाभ के योग के। आर्थिक व्यवस्था के सारे फर्मों की आमद बराबर होती है इसी कुल लागत तथा कुल लाभ के योग के। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि कुल राष्ट्रीय आय बराबर होती है वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन के। यहा हम मान लेते हैं कि सरकार आर्थिक क्षेत्र मे निष्क्रिय है)।

अब चूंकि राष्ट्रीय आय सदा ही वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन के बराबर होती है, हम 'य' चिन्ह दोनों के लिये प्रयुक्त कर सकते हैं। अर्थात् य=राष्ट्रीय आय=वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन। केन्ज के अनुसार जो रकम उपभोग पर नही खर्च की जाती उसे बचत कहते हैं। अर्थात् यदि हम कुल आय मे से कुल उपभोग की रकम घटा दें तो शेष बचत (ब) होगी। हम निम्नलिखित समीकरण द्वारा यह सम्बन्ध प्रकट कर सकते हैं.—

$$य=उ+ब \quad \dots \dots \dots \quad २$$

ऊपर हम देख चुके है कि

$$य=उ+वि$$

समीकरण (१) तथा (२) की तुलना से

$$य=उ+वि$$
$$=उ+ब$$
$$\therefore उ+य=उ+वि$$

चूंकि उ उभयनिष्ठ है उसे दोनो ओर से निकाल दिया तो   ब=वि

दूसरे शब्दो मे वास्तविक बचत बराबर है वास्तविक विनियोग के।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'बचत' करने वाले लोग और होते हैं तथा विनियोग करने वाले और 'बचत' करने का फैसला छोटे छोटे श्रमिकों तथा किसानो से लेकर बडे बडे व्यापारी तथा पूंजीपति करते हैं, किन्तु विनियोग करने का फैसला व्यापारी तथा पूंजीपति ही करते हैं, तो दो भिन्न भिन्न प्रकार के लोगो के फैसलो मे किस प्रकार साम्य पैदा हो सकता है? किन्तु यदि हम सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का एक इकाई मान कर विश्लेषण करें तो यह कठिनाई दूर हो जाती है। सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में एक श्रेणी के व्यक्ति तो उपभोग अथवा विनियोग पर अपनी आय खर्च करते हैं तथा दूसरी श्रेणी के व्यक्तियो को यही खर्चा आय के रूप मे मिलता है। आय, विनियोग, बचत तथा उपभोग मे किसी व्यक्ति-विशेष के लिए कोई सम्बन्ध नही दिखाई दे सकता, लेकिन जब सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को हम एक बन्द इकाई मान लेते हैं तो हम देखते हैं कि सम्पूर्ण आय, सम्पूर्ण उत्पादन के मूल्य के बराबर होगी ही और आय का जो भाग उपभोग पर नही खर्च होता वह

विनियोग वस्तुओं मे लगाया जायगा। केनेसियन आर्थिक विश्लेषण मे वास्तविक बचत, वास्तविक विनियोग के बराबर मानी गई है। संक्षेप मे ब $\equiv$ वि।
यहा हमे 'उपभोग' पर भी संक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है।

उपभोग दो बातो पर निर्भर करता है-एक तो आय तथा दूसरे उपभोग करने की प्रवृत्ति पर। इन्ही दो तत्वो में परिवर्तन उपभोग मे परिवर्तन ला सकेगा।

केन्ज के उपभोग सम्बन्धी नियम का आधार मनोवैज्ञानिक है। जब आय मे वृद्धि होती है ता क्या होता है? केन्ज के अनुसार —जब यौगिक आय की मात्रा मे वृद्धि होती है तो उपभोग भी बढता है, लेकिन आय मे सम्पूर्ण वृद्धि बढे हुए उपभोग ही पर खर्च नही होती, उसका कुछ अश 'बचत' मे आ जाता है। उपभोग तथा बचत में यह वृद्धि किसी निश्चित अनुपात मे होगी। साधारणतया आय मे वृद्धि होने से *उपभोग तथा बचत दोनो बढेंगे।*

यदि मौजूदा सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे मे कोई परिवर्तन न हो तो उपभोग की मात्रा आय के साथ प्राय एक निश्चित अनुपात मे घटती-बढती है, क्योंकि किसी दिए हुये सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे मे उपभोग करने की प्रवृत्ति प्राय स्थिर मानी जा सकती है, कम से कम अल्पकालीन अवधि मे। यदि उपभोग करने की प्रवृत्ति दी हुई हो तो उपभोग अल्पकालीन अवधि मे यौगिक-आय की मात्रा पर निर्भर करता है, अर्थात् आय मे परिवर्तन होने से उपभोग मे भी उसी दिशा मे परिवर्तन होगा। इसलिए जो तत्व आय मे वृद्धि लाता है, वह उपभोग मे भी वृद्धि करेगा। जैसा हम आगे देखेंगे, विनियोग में वृद्धि आय मे अपने से कई गुना वृद्धि लाती है।

उपभोग करने की प्रवृत्ति हमे यह बताती है कि उपभोग तथा आय मे सदैव लगभग एक निश्चित सम्बन्ध होता है। आय मे वृद्धि तथा उससे उत्प्रेरित उपभोग मे वृद्धि के बीच जो अनुपात होता है उसे उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति कहते हैं, या हम यों कह सकते हैं कि —

उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति $= \frac{\Delta \text{उ}}{\Delta \text{य}}$ *जबकि* Δ *य = आय मे परिवर्तन (कमी या वृद्धि) तथा* Δ *उ = आय मे* इस परिवर्तन *द्वारा लाया हुआ उपभोग* मे परिवर्तन।

ऊपर कहा जा चुका है कि आय मे वृद्धि की कुल रकम उपभोग पर नही खर्च कर दी जाती। अर्थात् Δ उ सदैव Δ य से कम होना है और उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति सदैव इकाई से कम होती है। इस प्रकार हमने अब तक केनेसियन प्रणाली के अन्तर्गत चार परिवर्तनशील तत्वो का निरूपण किया 'म', 'य', 'उ' तथा ब $\equiv$ वि।

इस प्रणाली का पाँचवा महत्वपूर्ण परिवर्तनशील तत्व है ब्याज (i)। केन्ज ने ब्याज एक मौद्रिक तथ्य माना है। मुद्रा-पूँजी के प्रयोग के लिए जो कीमत चुकानी पडती है उसी को ब्याज कहते हैं। इसे हम प्रतिशत में व्यक्त करते हैं। यह यौगिक न होकर एक दर मात्र है। यह वह कीमत है जो बचत करने वालो को इसलिए दी जाती है कि वे अपने द्रव-धन (मुद्रा) के बदले अद्रव धन (सिक्योरिटी बाण्ड आदि) स्वीकार करें अर्थात् द्रव-धन का परित्याग कर अद्रव धन स्वीकार करें। ब्याज दो बातो की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है —

(१) कुल मुद्रा परिमाण तथा

(२) द्रव-अधिमानता।

मुद्रा परिमाण मे सब नोट, सिक्के आदि ही नही बैंको मे जमा किये हुये धन भी शामिल हैं।

द्रव अधिमानता से अभिप्राय यह है कि लोग साधारणतया अपना धन मुद्रा के रूप मे ही रखना अधिक पसद करते तथा श्रेयस्कर समझते है। साधारण लोगों की यह भावना होती है कि अन्य प्रकार के धन की अपेक्षा मुद्रा-धन श्रेष्ठ तथा उपयोगी होता है। केन्ज ने मुद्रा के इस मोह के लिये तीन हेतुक बताये हैं —

(१) सव्यवहारिक हेतुक

(२) सतर्कता हेतुक

(३) सट्टे का हेतुक

सव्यवहारिक हेतुक से अभिप्राय है व्यक्तिगत तथा व्यापारिक भुगतानों के लिये मुद्रा की आवश्यकता से। मनुष्य अपने दैनिक जीवन मे वस्तुयें तथा सेवायें क्रय-विक्रय करता रहता है, इसके लिये उसे मुद्रा की आवश्यकता होती हैं, क्योंकि मुद्रा ही ऐसा धन है जो किसी वस्तु या सेवा के पारितोषिक के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था मे अधिकाश मुद्रा इसी हेतुक की तुष्टि के लिये रखी जाती है तथा मुद्रा का यह अश अल्पकाल में प्राय स्थाई रहता है। सतककता हेतुक से अभिप्राय यह है किसी निश्चित तथा आकस्मिक खर्चे के लिये मुद्रा की आवश्यकता। मनुष्य अपने भविष्य को बहुत कुछ नही जानता। कल किसी आकस्मिक बीमारी से उसके बैल मर सकते हैं, जिससे उसे तुरन्त बैल खरीदने के लिये मुद्रा की आवश्यकता है अथवा उसके सिर पर एकाएक किसी मुकदमेबाजी की जिम्मेदारी आ सकती है, आदि। इन सब बातो मे मुद्राओं की अचानक आवश्यकता पड सकती है। ऐसे अवसरो के लिये मनुष्य कुछ मुद्रा अपने पास रख छोड़ता है। लेकिन मुद्रा का यह अंश भी अल्पकाल मे प्राय निश्चित और स्थायी होता है।

उपर्युक्त दोनो हेतुको में मुद्रा को विनिमय साधन के रूप में देखा गया है। मुद्रा पास रखने का तीसरा हेतुक है सट्टे का। इस हेतुक का अभिप्राय यह है कि

है अथवा कोई पूंजी-उपकरण खरीदता है तो वास्तव मे वह भविष्य मे आने वाली कुछ प्रत्ययो को खरीदता है। क्योकि जो उपकरण वह खरीदकर बिठायेगा, उससे उत्पादन होगा, यदि उस उत्पादन मे से हम उत्पादन लागत निकाल दें तो जो बचेगा वही उस व्यक्ति का लाभ होगा। इस प्रकार, प्रत्येक वर्ष उसे उस पूंजी उपकरण से लाभ मिलता रहेगा। परन्तु यह लाभ उसे उसी समय तक मिलेगा जब तक कि वह पूंजी उपकरण घिस कर बिल्कुल बेकार नही हो जाता। अब हम मान लें कि उस पूंजी उपकरण की जिन्दगी १० वर्ष की है तो उत्पादक को १० वर्ष लाभ मिलता रहेगा। यह लाभ एक प्रकार की आय है जो १० वर्ष तक उत्पादक को मिलती रहेगी। इन १० वर्षों की आय को हम अलग-अलग वार्षिकी* के रूप मे दिखा सकते हैं, जैसे $च_1$, $च_2$, $च_3$ ... $च_{10}$। यही वार्षिकिया उस पूंजी उपकरण से प्राप्त होने वाली भावी आय हैं।

अब हमे उपर्युक्त पूंजी-उपकरण की पूर्ति कीमत पर विचार करना है। पूर्ति-कीमत से अभिप्राय है प्रतिस्थापना लागत (Replacement cost) से; अर्थात् उस पूंजी-उपकरण की कम से कम वह कीमत जो पूंजी उपकरण के उत्पादक को वैसे उपकरण की एक नई इकाई उत्पादित करने के लिये प्रेरित करे। किसी पूंजी-उपकरण की एक नई इकाई से प्रत्याशित आय तथा उसके उत्पादन करने की लागत बीच का सम्बन्ध हमे पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता का ज्ञान कराता है। हम यह कह चुके हैं कि किसी पूंजी उपकरण से प्रत्याशित आय की तुलना वार्षिकी से की जा सकती है। जैसे प्रथम वर्ष के अन्त मे यदि हमे $च_1$ रुपया मिली तो $च_1$ का वर्ष के प्रारम्भ मे क्या मान था? $च_1$ का वर्ष के प्रारम्भ मे जो मान होगा वही उसका बट्टा का हुआ (Discounted) मान कहलायेगा। बट्टे की वह दर, जिसमे कि पूंजी उपकरण से प्रत्याशित वार्षिकी का प्रारम्भिक मान उसकी पूर्ति कीमत के बराबर हो जाय, उस पूंजी उपकरण की सीमान्त कार्य-क्षमता (र) कहलायगी।

---

* नोट—वार्षिकी एक प्रकार की क्रमिक तथा शर्ती भुगतान है जो नियमित रूप स एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को किसी प्रतिफल के बदले एक निश्चित अवधि (प्राय प्रति वर्ष) बीतने पर करता है। उदाहरण के लिये मान लिया कि मैं ने नौकरी मे अवकाश ग्रहण किया। अवकाश ग्रहण करते वक्त मेरे पास कुछ इकट्ठी रकम है। यह रकम अगर मैंने अपने पास रखी तो मानव स्वभाव के अनुसार यथा आवश्यकता मैं इसे खर्च कर दूंगा, क्योकि हाथ मे पैसा रहने से कोई तकलीफ नहीं सहना चाहता। पर मैं अपने बुढापे के लिये भी कुछ बचाये रखना चाहता हूँ। इसके लिये एक उपाय यह है कि मैं अपना सब रुपया एक साथ ही किसी बीमा कम्पनी मे जमा कर दू। तब अपने नियमानुसार बीमा कम्पनी प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम देती रहेगी। यही निश्चित रकम वार्षिकी कहलायेगी।

यह साफ जाहिर है कि पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता ब्याज की दर (इ) के बराबर होने का प्रयत्न करेगी। जब तक (र), (इ) से बड़ा है अर्थात् पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता ब्याज दर से अधिक है तब तक उत्पादकों को अधिक संख्या मे पूंजी उपकरण उत्पादित करने की प्रेरणा मिलती रहेगी। जब र=इ के हो जायगा तब उत्पादकों को उत्पादन म वृद्धि लाने की प्रेरणा मिलनी बंद हो जायगी। सीमान्त कार्य-क्षमता का वह मान जो प्रचलित ब्याज दर के बराबर होता है, उसका उच्चतम मान है।

इसलिये ही ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता से जितनी ही कम होगी विनियोग के उतना ही अधिक बढ़ने की सम्भावना होगी। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उपयोगीकरण मे वृद्धि लाने तथा उच्च स्तर पर इसे बनाये रखने के लिये केन्ज ने विनियोग पर अधिक जोर दिया। विनियोग की वृद्धि से आय मे वृद्धि होती है। विनियोग तथा आय के बीच घनिष्ट सम्बन्ध को बताने के लिये केन्ज ने गुणक (Multiplier) का प्रयोग किया। गुणक की खोज अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे एक अत्यन्त मौलिक खोज थी। यद्यपि इसकी खोज का मुख्य श्रेय केन्ज के शिष्य रिचार्ड एफ काहन[3] को दिया जाता है, फिर भी इस शब्द के आविष्कारक केन्ज ही हैं, जिन्होंने काहन से पहले ही इस शब्द का प्रयोग किया था। बाद मे उन्होंने *गुणक को अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन मे एक प्रावैगिक तत्व के रूप में स्थान* दिया। केन्ज ने अपने आय-वृद्धि के सिद्धान्त को विनियोग पर आधारित किया है। संक्षेप में हमें गुणक का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

केन्ज के अनुसार जब विनियोग बढ़ता है तो आय बढ़ती है, लेकिन आय मे *यह वृद्धि, विनियोग मे वृद्धि की कई गुना होती है। इसलिये यदि विनियोग* मे हम वृद्धि करें तो कुल आय मे, विनियोग में की गई वृद्धि की कई गुना वृद्धि आयेगी। गुणक वह अनुपात है जो बढ़े हुए विनियोग *तथा* उससे *उत्प्रेरित आय* मे वृद्धि के बीच होता है। "गुणक हमे यह बताता है कि जब यौगिक विनियोग मे वृद्धि होती है तो आय मे भी वृद्धि होगी, वृद्धि विनियोग मे वृद्धि की 'क' * होगी'[4]।

अर्थात् $\frac{\Delta \text{य}}{\Delta \text{वि}} = \text{क}$, *अथवा* $\text{क} - \Delta\,\text{वि} = \Delta\,\text{य}$

ऊपर हम देख चुके हैं कि,

य = उ + वि, तथा य = उ + व

---

3 *R F Kahn* "The relations of home investment to unemployment" Economic Journal June 1931

* क कोई संख्या है जो एक से बड़ी है।

4 *G T*, p 115

हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त समीकरण भिन्न-भिन्न अवधियों में भी सही होंगे। यदि हम किसी ऐसी आर्थिक व्यवस्था को लें जिसमें आय निरन्तर बढ़ रही हो तो दो भिन्न-भिन्न तिथियों पर

$$\text{य}_1 = \text{उ}_1 + \text{वि}_1 \text{ तथा } \text{य}_1 = \text{उ}_1 + \text{ब}_1 \text{ (किसी एक समय पर)}$$

तत्पश्चात् $\text{य}_2 = \text{उ}_2 + \text{वि}_2$ तथा $\text{य}_2 = \text{उ}_2 + \text{ब}_2$ (उसके बाद किसी समय पर)

यदि हम प्रथम तिथि से सम्बन्धित समीकरणों को दूसरी तिथि से सम्बन्धित समीकरणों से घटायें तो :

$$\text{य}_2 - \text{य}_1 = \text{उ}_2 - \text{उ}_1 + \text{वि}_2 - \text{वि}_1$$

(आय में वृद्धि) = (उपभोग में वृद्धि) + (विनियोग में वृद्धि)

तथा

$$\text{य}_2 - \text{य}_1 = \text{उ}_2 - \text{उ}_1 + \text{ब}_2 - \text{ब}_1$$

(आय में वृद्धि) = (उपभोग में वृद्धि) + (बचत में वृद्धि)

अथवा

$\Delta\text{य} = \Delta\text{उ} + \Delta\text{वि}$ और $\Delta\text{य} = \Delta\text{उ} + \text{ब}$ (Δय बढ़ी हुई आय है, इसी प्रकार अन्य तत्वों में 'Δ' चिन्ह वृद्धि बताता है)

अथवा $\frac{\Delta\text{य}}{\Delta\text{य}} = \frac{\Delta\text{उ}}{\Delta\text{य}} + \frac{\Delta\text{वि}}{\Delta\text{य}}$ और $\frac{\Delta\text{य}}{\Delta\text{य}} = \frac{\Delta\text{उ}}{\Delta\text{य}} + \frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}}$ (दोनो समीकरणों में उभय पक्षों को Δय से भाग दिया)

अथवा $१ = \frac{\Delta\text{उ}}{\Delta\text{य}} + \left(\frac{\Delta\text{वि}}{\Delta\text{य}}\right)$ और $१ = \frac{\Delta\text{उ}}{\Delta\text{य}} + \frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}}$

या $\frac{\Delta\text{वि}}{\Delta\text{य}} = १ - \frac{\Delta\text{उ}}{\Delta\text{य}}$ तथा $\frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}} = १ - \frac{\Delta\text{उ}}{\Delta\text{य}}$ ....(३)

तथा $\frac{\Delta\text{वि}}{\Delta\text{य}} = \frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}}$

अथवा $१ - \frac{\Delta\text{वि}}{\Delta\text{य}} = १ - \frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}}$

(१ को दो बराबर संख्याओं से भाग दिया)

अथवा $\frac{१}{\frac{\text{वि}}{\Delta\text{य}}} = \frac{१}{\frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}}}$, या $\frac{\Delta\text{य}}{\Delta\text{वि}} = \frac{१}{\frac{\Delta\text{ब}}{\Delta\text{य}}} = \text{क}$ ....(४)

लेकिन $\frac{\Delta य}{\Delta य}$ = बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति के तथा $\frac{\Delta य}{\Delta वि}$ = गुणक तो समीकरण चार के अनुसार,

$$\text{गुणक} = \frac{१}{\text{बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति}}$$

अर्थात् $\Delta य = क \ \Delta वि$

यही 'क' गुणक कहलाता है तथा हम ऊपर जैसा कह चुके हैं कि इससे हमें यह ज्ञात होता है कि नये विनियोग द्वारा उत्पेरित कुल आय में वृद्धि, नये विनियोग की 'क' गुना होगी।

हमें यहां एक बात पर और ध्यान देना आवश्यक है। पहले हम कह आए हैं कि आय में वृद्धि से उपभोग में जो वृद्धि आती है इसे हम उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति कहते हैं और यह $\frac{\Delta उ}{\Delta य}$ द्वारा व्यक्त की जा चुकी है।

ऊपर के समीकरण शृंखला (३) से हमें 'गुणक' तथा उपभोग की सीमांत प्रवृत्ति का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। हमने देखा कि

$$\frac{\Delta वि}{\Delta य} = १ - \frac{\Delta उ}{\Delta य}$$

या $$१ - \frac{\Delta वि}{\Delta य} = १ - \left(१ - \frac{\Delta उ}{\Delta य}\right)$$

(यदि हम एक ही संख्या, १ को दो बराबर संख्याओं से भाग दें तो भजन फल बराबर होंगे।)

अथवा $$१ \times \frac{\Delta य}{\Delta वि} = १ \times \frac{१}{१ - \frac{\Delta उ}{\Delta य}}$$

अथवा $$\frac{\Delta य}{\Delta वि} = \frac{१}{१ - \frac{\Delta उ}{\Delta य}}$$

$$\therefore \text{गुणक} = \frac{१}{१ - (\text{उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति})}$$

[यह स्मरण रहे कि जो रकम उपभोग के काम में नहीं लाई जाती वह बचत कहलायेगी, इसलिये १ में से उपभोग का अंश घटाने से हमें बचत का अंश मिल जाता है।

और ऊपर हम देख चुके हैं कि :

$$\text{गुणक} = \frac{१}{\text{बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति}}$$

इससे जाहिर है कि उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति जितनी ही अधिक होगी गुणक का मूल्य उतना ही अधिक होगा। मान लिया कि उपभोग मे ९००) तथा विनियोग मे १००) वृद्धि के फलस्वरूप आय मे ५००० की वृद्धि होती है

$$\Delta य = \quad उ + \quad \Delta वि$$
$$१०००) = \quad ९००) + \quad १००)$$

अब उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति $= \frac{\Delta उ}{\Delta य} = \frac{९००}{१०००} = \frac{९}{१०}$

ऊपर हम कह आये हैं कि

$$\frac{१}{१ \text{ उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति}} = \text{गुणक}$$

या $\frac{१}{१ - \frac{९}{१०}} = \text{गुणक} = १०$

हम देख सकते हैं कि उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति को हम जितना ही बढायेंगे, गुणक का मूल्य उतना ही बढेगा। जैसे यदि हम उपभोग करने की सीमात प्रवृत्ति में $\frac{१}{२०}$ जोड दें जिससे कि इसका मान $\frac{१९}{२०}$ हो जाय तो हम देखगे कि गुणक का मान भी बढकर २० हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि गुणक का मान सदैव इकाई से अधिक होगा।

इसलिये किसी दी हुई सस्थिति से हम एक नई सस्थिति पर पहुँच सकते हैं यदि हमें यह ज्ञात हो कि

(१) विनियोग मे कितना परिवर्तन हुआ है। तथा,

(२) उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति (या बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति का मान क्या है।)

कोई भी ऐसी चीज जो उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति मे वृद्धि लाती है (अथवा बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति में ह्रास लाती है) अथवा कोई भी वस्तु जो विनियोग को उत्प्रेरित करती है, राष्ट्रीय आय मे वृद्धि लायेगी। पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति से पूर्व तो यह वृद्धि वास्तविक होगी लेकिन उस स्थिति पर या उसके बाद मुद्रा-स्फीति की स्थिति पैदा हो जायगी।

अब हमने सक्षेप मे केन्ज द्वारा प्रयुक्त सब परिवर्तनशील तत्वो को पा लिया है म, य, उ, ब, वि तथा र। इन्ही की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा केन्ज की प्रणाली में सस्थिति की दशा पाई जा सकती है।

मुद्रा परिमाण (य) को हम दिया हुआ मान लेते हैं—क्योकि इसका निर्धारण अधिकारी वर्ग करता है, न कि आर्थिक व्यवस्था के व्यापारी। यदि हम यह मान

त (व)=विनियोग (वि) तथा पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता (र)=
प्रभाव दू (इ) तो हमारे पास चार परिवर्तनशील तत्व बचते हैं :—
कि प्रर्ट आय (य)
के f उपभोग (उ)
वर पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता (र)
ब्याज की दर (इ) तथा
बचत (व)=विनियोग (वि)
यह चार तत्व अज्ञात है।

यदि हम चार समीकरण या सम्बन्ध ऐसे प्रस्तुत कर सकें जिनके द्वारा उपर्युक्त चारों अज्ञात परिवर्तनशील तत्वों को आपस में सम्बद्ध किया जा सके तो हम आर्थिक व्यवस्था की हालत को जान सकते हैं।

केन्ज ने ऐसे चार सम्बन्धों को बताया। एक समीकरण तो उन्होंने य=उ+वि बताया और तीन अन्य तत्व मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित हैं। यह तत्व हैं उपर्युक्त द्रव-अधिमानता, उपभोग करने की प्रवृत्ति तथा विनिमय करने की प्रेरणा।०

द्रव-अधिमानता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मुद्रा परिमाण के संयोग से ब्याज की दर निर्धारित करती है, ब्याज की दर तथा पूंजी-उपकरण की कार्यक्षमता (जो एक दूसरे के बराबर होने के लिये प्रयत्नशील रहती हैं) विनिमय निर्धारित करते हैं। इससे म, इ, र तथा य के सम्बन्ध व्यक्त होते हैं।

उपभोग करने की प्रवृत्ति, उपभोग तथा कुल आय का सम्बन्ध बताती है। *इसमे उ, य तथा व=वि के सम्बन्ध शामिल हैं।*

---

० सामान्य सस्थिति को हम इन्हीं चार युगपत् समीकरणों (simultaneous equations) के हल से समझ सकते हैं। केनेसियन प्रणाली में निम्नलिखित चार सह समीकरण किसी आर्थिक व्यवस्था की सामान्य सस्थिति को निर्धारित करते हैं.—

(१) य=उ+वि अर्थात् ($y=c+I$)

(२) म=ल (इ, य), अर्थात् [$M=L(i, y)$ अर्थात् मुद्रा (म) की मांग राष्ट्रीय आय (य) तथा ब्याज की दर (इ) पर निर्भर करती है (द्रव अधिमानता अनुसूची)

(३) वि=फ (इ, य) या [$I=F(i, y)$] अर्थात् पूंजी की सीमान्त *कार्यक्षमता अनुसूची जो यह बताती है कि विनियोग (वि) ब्याज की दर (इ) तथा* राष्ट्रीय आय के साथ घटता बढ़ता है।

(४) उ=$\emptyset$(इ, य) या ($C=C$) (i, y) अर्थात् उपभोग करने की प्रवृत्ति की अनुसूची जो यह बताती है कि उपभोग पर खर्च होने वाली रकम ब्याज की दर तथा राष्ट्रीय आय के साथ घटती बढ़ती है।

पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता अर्थात् र=इ से सम्बन्धित है। अौर भी, विनियोग उपभोग पर निर्भर करता है।

यदि हम ग्राफ द्वारा दिखायें तो द्रव-अधिमानता की रेखा (ल) द्रव्य की रेखा (म) को काटती है, उसी बिन्दु द्वारा निर्धारित ब्याज की दर सस्थिति ब्याज दर होगी।
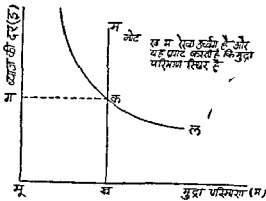
उपर्युक्त ग्राफ मे ल वक्र द्रव-अधिमानता का वक्र है जो हमे बताती है कि ब्याज की दर जैसे-जैसे कम होती है द्रव-अधिमानता के लिए आवश्यक मुद्रा-परिमाण वैसे-वैसे बढती जाती है। मुद्रा परिमाण ख म वक्र द्वारा व्यक्त की गई है। यह सरल रेखा है तथा यह व्यक्त करती है कि मुद्रा-परिमाण स्थिर रहता है। जहा ल वक्र ख म को काटता है वही ब्याज-दर का सस्थित बिन्दु है। मू ग सस्थित ब्याज दर बताती है।

जब ब्याज की दर तथा पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता परस्पर बराबर हो जाती है तो विनियोग की वृद्धि रुक जाती है क्योंकि उत्पादको को इससे आगे विनियोग बढाने से घाटा लगने लगेगा।

उसी प्रकार यदि उपभोग (उ) इस प्रकार है कि कुल आय मे से यदि इसे घटा दिया जाये तो शेष 'बचत' के बराबर हो और बचत=विनियोग के, तो यह अल्पकालीन सस्थिति की दशा ला देता है और कुल उपभोग तथा विनियोग का योग ही उपयोगीकरण, आय तथा क्षमशील माग निर्धारित करते हैं।

जे० ई० मीड ने कुछ उपधारणाओ के आधार पर केनेसियन प्रणाली मे सस्थिति की कुछ शर्तों को बताया है[5]। सक्षेप मे, हम उसका परिचय दे देना उचित समझते हैं। उनकी उपधारणायें है कि जिस आर्थिक व्यवस्था मे हम यह सस्थिति पाना चाहते है वह बन्द है अर्थात् अन्य देशो की आर्थिक दशाओ का

5 The New Economics Ed By Harris, Pp 06 608

प्रभाव उस पर नहीं पडता। उसमे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पाई जाती है जिससे कि प्रत्येक कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर है। फिर अपनी विवेचना के लिये हम केवल दो प्रकार के ही उद्योग धन्धों को लेते हैं, एक तो वे जो उपभोग वस्तुएं तैयार करते हैं, दूसरे वे जो पूंजी-उपकरण उत्पादित करते हैं। इनमे से प्रत्येक उद्योग धन्धे मे मजदूरी ही मुख्य लागत (Prime Cost)● मानी गई है। श्रमिकों के अतिरिक्त दूसरा उत्पादन का साधन है पूंजी-उपकरण। अत उपभोग वस्तुओं तथा नये पूंजी-उपकरणों पर खर्च की हुई मुद्रा-राशि बराबर होगी राष्ट्रीय आय के, और यह राष्ट्रीय आय मजदूरों तथा पूंजी-उपकरण के मालिकों के बीच वितरीत होगी। हम यह भी उपधारणा कर लेते हैं कि हमारी विवेचना की अवधि अल्पकालीन है और इस अवधि मे पूंजी-उपकरणों का लोच बराबर है उपभोग वस्तुओं की पूर्ति के लोच की।

उपर्युक्त धारणाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यदि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो जाए तो आर्थिक व्यवस्था संक्षिप्त मे आ जायेगी —

(१) पूंजी-उपकरण की एक इकाई की कीमत बराबर हो, उसकी सीमान्त मुख्य लागत के। इसी प्रकार उपभोग वस्तु की एक इकाई की कीमत भी उसकी सीमान्त मुख्य लागत के बराबर हो। पूर्ण प्रतियोगिता, जिसकी उपधारणा हमने की है, में यह शर्त पूरी हो जाती है।

(२) कुल आय बराबर हो उपभोग-वस्तुओं पर खर्च की गई तथा नये पूंजी उपकरणों पर खर्च की गई मुद्रा-राशियों के योग के।

(३) कुल आय बराबर हो कुल लाभ तथा मजदूरी के योग के।

(४) कुल उपभोगीकरण बराबर हो पूंजी-उपकरणों के उत्पादन में तथा वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए उपभोगीकरण के योग के।

(५) लोगों की उपभोग वस्तुओं पर व्यय राष्ट्रीय आय का एक निश्चित अंश हो। अर्थात् राष्ट्रीय आय यह बात निर्धारित करे कि लोग उपभोग वस्तुओं पर कितना खर्च करेंगे। हम यह उपधारणा कर लेते हैं कि यदि उपभोग प्रवृति दी हुई हो तो लोग सदैव राष्ट्रीय आय का एक निश्चित अंश उपभोग पर खर्च करते हैं।

(६) ब्याज की दर बराबर हो पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता के।

● मुख्य लागत (Prime Cost) किसी उत्पादित वस्तु की मुख्य लागत वह रकम है जो सीधे उत्पादन में लगने वाले ससाधनों, कच्चे माल तथा श्रमिकों को पारिश्रमिक के रूप में दी जाती हैं। वे संसाधन जिनके पारिश्रमिक को मुख्य लागत में शामिल किया जाता है, उत्पादित वस्तु के अंश बनते हैं। इनके अतिरिक्त वस्तु उत्पादन के लिये अन्य वस्तुओं तथा ससाधनों की आवश्यकता भी पड़ती है, जैसे तेल शक्ति पैदा करने वाली वस्तुएं (कोयला, विद्युत तथा पैट्रोल) आदि, इन पर किये गये व्यय मुख्य लागत में शामिल नहीं होते।

(७) मुद्रा के लिये माग उसकी पूर्ति के बराबर हो। मुद्रा के लिये माग दो बातो द्वारा निर्धारित होती है—एक तो आर्थिक व्यवस्था मे मौद्रिक सव्यवहारो की सख्या तथा दूसरी ब्याज की दर। हमने मुद्रा को स्थूल रूप मे दो भागों मे विभाजित कर दिया है। एक भाग तो वह जो लोग व्यापारिक सव्यवहारो मे प्रयोग के लिये रखते हैं। वह भाग कुल मुद्रा परिमाण का एक निश्चित अनुपात होता है क्योकि अल्पकालीन अवधि मे सम्पूर्ण समाज मे ऐसे सव्यवहारो की सख्या स्थिर मानी जा सकती है। दूसरा भाग वह है जो सट्टे के हेतुक की तुष्टि के लिये लोग रखते हैं। यदि ब्याज दर मे वृद्धि होती है तो इस भाग को लोग अद्रव सम्पत्ति मे बदल देते हैं। अर्थात् सिक्योरिटी आदि खरीद लेते हैं। सट्टे की हेतुक की तुष्टि के लिये रक्खी मुद्रा-राशि तथा अद्रव- सम्पत्ति के बीच का अनुपात ब्याज दर द्वारा निर्धारित होता है।

उपर्युक्त शर्तों के पूरा होने पर अल्पकालीन अवधि मे सस्थिति की अवस्था आ जायेगी।

इससे हम यह भी दिखा सकते हैं कि मुद्रा-पूर्ति मजदूरी-दर या बचत किये हुए आय के अनुपात मे प्रत्येक परिवर्तन से उपयोगीकरण मे परिवर्तन आयेगा।

वास्तव मे केन्ज ने जैसा स्वय कहा है, उनकी 'जनरल थ्योरी' का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि किसी दी हुई परिस्थिति मे उपयोगीकरण का जो स्तर है वह क्यो है। उपयोगीकरण तथा उत्पादन विशिष्ट परिस्थिति मे अमुक स्तर पर क्यो हैं? सस्थिति का मॉडल तैयार करने के फेर मे वे अधिक नही दिखाई पडते।

उनका मुख्य उद्देश्य था उपयोगीकरण तथा उत्पादन का विवेचन करना। विनियोग को उन्होने उपयोगीकरण तथा उत्पादन की कुजी माना। उन्होने ने कहा कि जनता की साधारण प्रवृति यदि ज्ञात हो तो "उत्पादन तथा उपयोगीकरण ......विनियोग पर व्यय होने वाली रकम पर निर्भर होंगे"[6]। आगे चलकर वे फिर कहते हैं कि यौगिक-उत्पादन सचयन की प्रवृति, मुद्रा परिमाण पर पूंजी-उपकरणो से प्रत्याशित आय के प्रति लोगो के विश्वास की अवस्था, व्यय करने की प्रवृति और ऐसी सामाजिक बातें जो मौद्रिक मजदूरी के स्तर को प्रभावित करते हैं, ये सब मिलकर यौगिक उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करते हैं। इस यौगिक उत्पादन के हम दो भाग कर सकते हैं—एक तो उपभोग वस्तुओं का, दूसरे, पूंजी-उपकरणों का उत्पादन। केन्ज के अनुसार, उपर्युक्त तत्वो में वे तत्व जो विनियोग की दर (और इस प्रकार पूंजी उपकरणो के उत्पादन की दर) को निर्धारित करते हैं, अत्यन्त अस्थायी होते हैं, क्योकि विनियोग भविष्य के प्रति हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है—उस भविष्य के प्रति जिसका हमे इतना कम ज्ञान है।

केन्ज के लिये उपयोगीकरण ही तमाम आर्थिक व्यवस्था की समृद्धि की कुन्जी है। उपयोगीकरण मे वृद्धि का अभिप्राय है कुल आय तथा उत्पादन मे

6 New Economics by Harris Pp 191-92

वृद्धि। उपयोगीकरण क्षमशील माग पर निर्भर है। क्षमशील मांग निर्धारित होती है यौगिक माग-फलन तथा यौगिक-पूर्ति-फलन द्वारा। अभी हम कह चुके हैं कि जहा तक यौगिक पूर्ति-फलन का प्रश्न है उसको हम अल्पकालीन अवधि में दिया हुआ मान सकते हैं। केन्ज ने यौगिक माग-फलन पर, अपना ध्यान केन्द्रित किया। अब यौगिक-माग दो तत्वों से मिलकर बनी है, उपभोग के लिये वस्तुओं की माग+ विनियोग अर्थात् पूंजी-उपकरणो की मांग। इनमें विनियोग पर केन्ज ने अत्यधिक जोर दिया और कहा कि अन्ततोगत्वा नव विनियोग की दर ही उपयोगीकरण को सबसे अधिक प्रभावित करती है। विनियोग मे वृद्धि अपने साथ ही उपभोग मे भी वृद्धि करेगी, क्योकि जनता का व्यवहार सामान्यत ऐसा होता है कि जब आय बढती है तो उपभोग भी बढता है, किन्तु अपेक्षतया कम दर से। जैसे-जैसे आय की मात्रा बढती जाती है वैसे-वैसे आय का उपभोग पर खर्च होने वाले अश का अनुपात कम होता जाता है, यद्यपि उपभोग पर खर्च होने वाली कुल रकम पहले से अधिक होती जायगी। इसलिये यदि कुल आय तथा उपभोग पर खर्च होने वाली रकम के बीच बढती हुई खाई को नव विनियोग द्वारा पूरा न किया गया तो उपयोगीकरण मे ह्रास आ जायेगी।

जैसा हमने ऊपर कहा है सक्षेप म आय का वह भाग जो उपभोग पर खर्च नही होता, 'बचत' कहलाता है। अर्थात् य=उ+ब अथवा ब=य—उ। आय में वृद्धि होने से उपभोग तथा 'बचत' दोनो मे वृद्धि होती है। बढी हुई आय का कितना भाग उपभोग मे लगेगा तथा कितना भाग बचत में? अर्थात् उपभोग मे वृद्धि होने से बचत मे भी वृद्धि आयगी अवश्य, पर किस अनुपात में? इन दोनो प्रकार की वृद्धियो के बीच उपभोग करने की प्रवृति द्वारा एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

केन्ज की परिभाषाओ के अनुसार · बचत=विनियोग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपभोग मे वृद्धि उपयोगीकरण तथा कुल आय मे वृद्धि ले आती है। बचत से विनियोग होता है और विनियोग भी उपयोगीकरण तथा आय में वृद्धि लाता है। आय मे वृद्धि उपभोग मे वृद्धि लाती है तथा पुनः उपभोग मे वृद्धि आय में। उपभोग दो बातों पर निर्भर होता है—(१) आय की मात्रा तथा (२) उपभोग करने की प्रवृति पर। किसी समाज मे उपभोग करने की प्रवृति अल्पकालीन अवधि मे स्थिर-प्राय होती है। इसलिये उपभोग में वृद्धि, आय मे वृद्धि के फलस्वरूप ही होती हुई मानी जा सकती है, अर्थात् उपभोग में वृद्धि का कारण आय मे वृद्धि है।

इसी प्रकार, एक ओर, आय में वृद्धि विनियोग (बचत) में वृद्धि लाती है, दूसरी ओर, हम यह कह सकते हैं कि विनियोग मे वृद्धि आय मे वृद्धि का कारण बनती है। विनियोग मे वृद्धि के फलस्वरूप आय मे आने वाली वृद्धि को हम

'गुणक' की सहायता से व्यक्त कर सकते हैं। विनियोग के पीछे काम करने वाले प्रमुख दो तत्व हैं —(१) पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता, जो प्रत्याशित प्राय तथा पूंजी उपकरण की पूर्ति-कीमत द्वारा निर्धारित की जाती है तथा (२) ब्याज की दर जो समाज मे मौजूदा, कुल मुद्रा-परिमाण तथा द्रव अधिमानता द्वारा निश्चित की जाती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, द्रव अधिमानता के पीछे तीन हेतुक होते हैं—(१) सव्यावहारिक (२) सतर्कता तथा (३) सट्टा। इनमे स तीसरा अर्थात् सट्टे का हेतुक अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

अब हम एक अलग कागज केनेसियन प्रणाली का अत्यन्त ढाचा प्रस्तुत करेंगे, जो इस प्रणाली को समझने मे सहायक होगा।

केन्ज के सिद्धान्तों का मूल्याकन –

केन्ज की बहुमुखी प्रतिभा ने अर्थशास्त्र पर अमिट छाप डाली है। अर्थशास्त्रियो के विचारो मे सर्वत्र एक मौलिक परिवर्तन आ गया है, अब वे कभी उस प्रकार न सोचेंगे जैसा वे प्राक-केनेसियन युग मे सोचते थे। केन्ज के सिद्धान्त केवल दार्शनिक नही, ये व्यावहारिक जगत मे हमारा पथ-प्रदर्शन करते है। विशेषकर समाज में लगी व्याधियो जैसे अनुपयोगीकरण, न्यून-उपयोगीकरण तथा बेकारी आदि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर इन सिद्धान्तो ने मानव-जाति का बडा उपकार किया है। सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने 'दि एम्प्लायमेंट एक्ट, १९४६ (The Employment Act 1946) पास कर केन्ज को बहुत बडी श्रद्धाँजलि दी। इस एक्ट के द्वारा सरकार ने पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति लाने तथा उसे बनाये रखने का व्रत लिया। आज के ससार मे उपयोगीकरण, बेकारी, बजट आदि प्रश्नो को सुलझाने के प्रयत्न सवत्र केन्ज द्वारा दिखाये गये मार्ग के अनुसरण द्वारा ही किये जा रहे हैं। अर्थशास्त्र का कोई पहलू ऐसा नही जहा केन्ज का प्रभाव न पहुँचा हो। सस्थिति सिद्धान्त, पूंजी तथा मौद्रिक सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजस्व, मजदूरी, व्यापार चक्र, ब्याज दर, आर्थिक नियोजन आदि विषय सम्बन्धी सिद्धान्त—सभी केन्ज की विचारधारा से प्रभावित हुए। पुराने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को तो उन्होंने नव-शक्ति प्रदान ही की, लेकिन उन्होने कुछ नये क्षेत्र भी खोल दिये जो आज तक जोते बोये जा रहे हैं और जिनके माध्यम से होकर और नये क्षेत्रो की खोज की जा सकती है।

केन्ज के मॉडल मे *आश्रित परिवर्तनशील (dependent variable)* हैं मजदूरी-इकाई द्वारा मापित उपयोगीकरण, राष्ट्रीय आय (या राष्ट्रीय लाभाश) के आयतन* तथा ब्याज की दर।

---

* *G T*, P. 245.

केनेसियन माडल के अन्तिम स्वतन्त्र परिवर्तनशील हैः—

(१) तीन मौलिक मनोवैज्ञानिक तत्व, अर्थात् उपभोग करने की मनोवैज्ञानिक प्रवृति, द्रवता की ओर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा पूंजी तथा सम्पत्ति से भविष्य मे प्रत्यय प्राप्त होने की प्रत्याशा,

(२) मजदूर तथा मालिको के बीच सौदेबाजी के फलस्वरूप निश्चित की गई मजदूरी-इकाई,

(३) केन्द्रीय बैंक* के कार्यों द्वारा निर्धारित मुद्रा-परिमाण।"

"... ...यदि हम उपर्युक्त बातो को दी हुई मान लें तो परिवर्तनशील तत्व राष्ट्रीय-आय (अथवा लाभाश) तथा उपयोगीकरण की मात्रा को निर्धारित करते हैं।"†† "इस सक्षिप्त कथन मे, आर्थिक विश्लेषण को, केन्ज द्वारा दिया गया खास तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान निहित है।"*** आय तथा अन्य यौगिक परिवर्तनशील तत्वो के सैद्धान्तिक तथा साख्यकी सम्बन्धी अध्ययन को स्पष्ट रूपरेखा देना केन्ज का काम है। इन्ही के लेखों तथा कृतियो द्वारा सामान्य सस्थिति का गणित—अकार्थशास्त्रीय अध्ययन उत्प्रेरित किया गया। जैसा ऊपर कहा गया है, उपभोग करने की प्रवृत्ति-सारिणी, पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता, गुणक, द्रव-अधिमानता आदि के सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा विवेचन द्वारा केन्ज के अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण मे क्रान्ति ला दी।

पीगू ने भी, जो सर्वप्रथम केन्ज के कडे आलोचक थे, स्वीकार किया है कि "हम मे से जो उनके (केन्ज के) विश्लेषण के कुछ अश को स्वीकार नही भी करते वे भी निश्चय रूप से इससे प्रभावित हुए हैं" तथा "यह ठीक-ठीक स्मरण करना बडा ही कठिन है कि इससे पूर्व हम कहां खडे थे।"

केन्ज ने सरल रीति से आज के तमाम मसलो का समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया। नीति-निर्धारण का सरल मार्ग इन्होंने दिखाया। युगीन अधी मान्यताओ को त्याग अर्थशास्त्र को वास्तविक-जगत के अध्ययन के रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा इन्होंने की। समाज मे धन तथा आय के वैषम्य को पूंजीवादी व्यवस्था का शत्रु कह कर केन्ज ने पूंजीवाद व्यवस्था की बडी सेवा की क्योंकि आर्थिक वैषम्य के कुप्रभाव को आज ससार जानता है। मितव्ययिता की भी इन्होने भर्त्सना की, जिससे कि परम्परावादियो को बडा धक्का लगा। उन्होने कभी भी कोई ऐसा विवेचन-विश्लेषण नही किया जो किसी न किसी सामयिक मसले को हल करने के लिये सहायक न समझा जाए।

---

* केन्द्रीय बैंक से तात्पर्य ऐसे बैंक से है जो देश की मुद्रा, साख आदि का प्रबन्ध करता है, जैसे हमारे देश मे रिजर्व बैंक।

†† *G. T.* Pp 246–47

*** *Keynes's* 'General Theory'—A Retrospective View by *A. C. Pigou* Pp 20

केन्ज ने आय, उपयोगीकरण, विनियोग, उपभोग आदि की यौगिक अवस्थाओं पर अपने विश्लेषण का ढाचा खडा किया जो आधुनिक जगत मे परमावश्यक है। आज यह सोचना कितना आसान है कि कुछ बातें ऐसी हैं जो एक व्यक्ति के लिये तो गुण है पर सम्पूर्ण समाज के दृष्टिकोण से वे घातक सिद्ध हो सकती हैं (पीछे के अध्याय मे देखिये 'समष्टि अर्थशास्त्रीय विरोधाभास')। युगो से अर्थशास्त्र के अलग-अलग पडे टुकडो को एक सूत्र मे उन्होने बाधा।

योजना बद्ध आर्थिक विकास की आज की लोक प्रियता का श्रेय केन्ज को है पूर्ण उपयोगीकरण सभी देशो का एक प्रधान अग बन गया है। व्यक्तिगत तथा सरकारी विनियोगो को सामने रखकर आज न देश अपना बजट बनाते हैं। 'घाटे के बजट' को प्रतिष्ठित स्थान दिलवाने का श्रेय केन्ज को है। केन्ज की पनी दृष्टि तथा कुशाग्र बुद्धि ने समस्त आर्थिक व्यवस्था को एक सहृति मे लाने का भागीरथ प्रयत्न किया जिससे कि आज इस सहृति के सर्वांगी विकास को सोचना आसान हो गया है।

यहा हम एक बात और कह देना चाहते हैं। केन्ज का आर्थिक माडल पूर्ण नही है, उसमे तार्किक असगतिया भी हो सकती हैं। किन्तु उसे केवल इसी दृष्टिकोण से बुरा-भला नही कहा जा सकता। किसी माडल की परीक्षा उसकी वास्तविक जगत के तथ्यो से दूरी या निकटता के दृष्टिकोण से भी की जानी चाहिए। केन्ज का मॉडल इस दृष्टिकोण से—वास्तविक जगत को समझने, आर्थिक व्यवस्था मे प्रच्छन्न शक्तियो को देखने तथा किसी क्रिया के भावी परिणाम की भविष्यवाणी करने के दृष्टिकोण से औसतन सफल हुआ है।

यह कहना बहुत कुछ सच है कि केन्ज के मुख्य विचारों की सामग्री परम्परावादी विचारधाराओं से ही ली गई है। लेकिन उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन के आधार पर यदि कुछ अर्थशास्त्री इन प्रभावों को केनेसियन क्रान्ति के नाम से अभिहित करना चाहते हैं, तो यह कोई आश्चर्य अथवा अतिशयोक्ति की बात नही, न यह मिथ्या ही है। बिल्कुल आमूल नये विचार के अर्थ मे शायद ही कोई व्यक्ति मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित कर सके। मौलिकता अलौकिक सामग्री खोजकर निकालने मे ही नही होती, मौजूदा सामग्री से एक नया ढाचा प्रस्तुत कर देना भी मौलिक तथा क्रान्तिकारी काम कहा जाता है।

इसी प्रकार अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रदत्त सामग्री को केन्ज ने छ टा तथा कुछ अपने आविष्कारो के साथ उसका समावेश तथा समन्वय कर आर्थिक विश्लेषण का एक नया ढाचा तैयार किया, जिसके कुछ कुछ अ ग तो परम्परावादियों के दिये हुए प्रतीत होते हैं- लेकिन समस्त शरीर को यदि देखा जाय

तो इसका जोडा परम्परागत विवेचन तथा विश्लेषण मे कही ढूंढने से भी नही मिलता।* फिर केन्ज ने क्लासिकल सिद्धान्तो के मालिक तत्वो का खण्डन नही किया, और न सर्वथा मौलिक अपने होने का दावा ही किया। केन्ज का झगडा केवल उन थोथी उपधारणाओ से था जिसके आधार पर क्लासिकल सिद्धान्त प्रतिपादित गये थे। उन्होने यह सिद्ध किया कि क्लासिकल अर्थशास्त्री जिन बातो को स्वत. सिद्धि मानकर चले हैं (जैसे पूर्ण उपयोगीकरण, पूर्ण प्रतियोगिता आदि) वास्तव मे वही आर्थिक विश्लेषण के मुख्य विषय हैं।

यदि केन्ज की कुछ भविष्यवाणिया सही न उतरी हो, या उनके सिद्धान्तो मे हेर-फेर करने की जरूरत पड जाय, तो इससे उनके विश्लेषण के मूल तत्वों का खण्डन नहीं होता, समय के साथ-साथ परिस्थितिया बदलती रहती हैं, फिर भिन्न-भिन्न देशो की परिस्थितिया भी भिन्न-भिन्न होती हैं, ऐसी हालत मे उनके विश्लेषण का सशोधन तथा परिवर्द्धन आवश्यक हो सकता है। अपरच केन्ज ने स्वय को न तो ईश्वर का दूत ही होने का दावा किया है, न ज्योतिषी ही। मानव-दुर्बलताओ को दृष्टिगत रखते हुये, यह कहा जा सकता है कि केन्ज के विचार, कम से कम व्यवहारिक क्षेत्र में 'क्रान्ति' का सन्देश लेकर अवतीर्ण हुए। पीगू ने ठीक कहा हैं कि "···· अपने मौलिक प्रत्ययों को प्रस्तुत तथा विकसित करके केन्ज ने आर्थिक विश्लेषण के शस्त्रागार मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण, मौलिक तथा मूल्यवान की वृद्धि की"।**

आलोचनायें—

केन्ज के विचारो तथा सिद्धान्तो की विशद आलोचना होना स्वाभाविक था। मार्क्स की 'कैपिटल' को छोडकर आधुनिक युग की शायद ही किसी पुस्तक को इतनी आलोचना की गई हो जितनी कि केन्ज की 'जनरल थ्योरी' की हुई। आलोचनाओ के आयतन ही को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि केन्ज ने आर्थिक जगत के "चिन्तन तथा व्यक्त करने के परम्परागत तरीको"† से छुटकारा पाने का कितना तूफानी साहस किया। यदि कोई सिद्धान्त इतनी आलोचनाओ को आमन्त्रित करने मे समर्थ हो सके तो अवश्य ही वह महान् है। केन्ज के आर्थिक मॉडल के मौलिकता होने पर भी, इसके अवयवों मे कमियां हैं। केन्ज की 'जनरल थ्योरी' मे हम तीन बातें पाते हैं। एक तो सिद्धान्त या मॉडल, दूसरे "तथ्य"

* इसी प्रकार कोप लायन्ड कहते हैं "The Component parts of a System of thought may all be borrowed, but they may be put together into a new whole, a whole that brings our new relationships and has new meanings .The Keynesian aggregative economic model was a new whole."—*The Keynesian Reformation occasional Paper No 4, Delhi School* of Economics. Lecture delivered by *Morris* A. Copuland.

** Keynes's 'General Theory' (A Retrospective View) by *A. C. Pigou* p 66.

† G. T. Preface, p. viii.

निरूपण जैसा कि केन्ज ने उन्हे देखा और तीसरे मॉडल तथा निरूपित "तथ्यों के आधार पर नीति निर्धारण तथा भविष्यवाणी। केन्ज की आलोचना अधिकतर इस आधार पर अधिक की जाती है कि उनकी भविष्यवाणिया बिल्कुल सही नही उतरी, न उनके द्वारा प्रदर्शित नीति-पथ ही सफल रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक तो उनके मॉडल मे खराबी है और दूसरे "तथ्यो' का सही निरूपण उन्होने नही किया। लेकिन हम यही यह बता देना चाहते हैं कि नीति तथा भविष्यवाणियो की सफलता से ही किसी मॉडल की सफलता नही जानी जा सकती। नीति-निर्धारण तथा भविष्यवाणी करने मे कई स्थान पर त्रुटिया हो सकती हैं, जो इन्हें गलत बना दे सकती हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य परिस्थितियो तथा भविष्य को नियत्रित तो नही किया जा सकता। नीति तथा भविष्यवाणी कुछ मान्यताओ तथा शर्तों पर आधारित होती हैं। परन्तु शर्तें तमाम अनियत्रणीय परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं इन शर्तों के पूरा न होने पर भविष्यवाणिया सही नही होगी। उदाहरण के लिये हम केन्ज के विचारो मे बहुत कुछ प्रच्छिन्न और हॉन्सन द्वारा पोषित इस भविष्यवाणी का लेते हैं कि पश्चिम के धनी तथा उन्नत देशो मे बीसवी शताब्दी मे सामान्यत अपर्याप्त कुल माग का प्रश्न चिरस्थायी होगा। द्वितीय महायुद्ध के बाद इस भविष्यवाणी के अनुसार कुल माग की कमी तथा अनुपयोगीकरण की समस्या को इन देशो मे सिर उठाना चाहिये था, लेकिन ऐसा हुआ नही। अत कुछ अर्थशास्त्रियो के विचार से केन्ज की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। लेकिन हमे उन परिस्थितियो को देखना चाहिये जिनके बीच से उत्तर युद्धकाल का ससार गुजर रहा है। युद्ध रुका कहा? शीत युद्ध तो ससार को अब भी तबाह कर रहा है। यदि शीत युद्ध के बादल छट जाए, यदि नि शस्त्रीकरण की समस्या सफलता के साथ सुलझ जाये, यदि शान्ति का वातावरण स्थायी रूप से पैदा हो जाये तो इसम सन्देह नही कि सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो म उपयोगीकरण का क्या हाल होगा। केन्ज उस समय शायद ही गलत साबित हो।

यह भी आपत्तिया की गई हैं कि यदि केन्ज के 'पूर्ण उपयोगीकरण' को लागू किया जाये तो एक तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन होगा, दूसरे, इससे मुद्रा स्फीति की अवस्था पैदा होगी और तीसरे, इससे सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि होगी।

लेकिन इन आलोचनाओ मे कोई महत्वपूर्ण तत्व नही है। 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' के नाम पर पता नही कितना शोषण समाज मे होता रहा है। गरीबी, बेकारी, भूख की पीडा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से कही अधिक प्रबल होती है। फिर, केन्ज ने जिस योजना वृद्ध व्यवस्था को ध्यान मे रखकर 'पूर्ण उपयोगीकरण' की समस्या का सुझाव दिया था, उसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर अनुशासन का, न कि उसके अपहरण का, विधान निहित था और अनुश सनहीन व्यक्तिगत स्वतन्त्र समाज के अस्तित्व के बिल्कुल विपरीत है। रही मुद्रा स्फीति की बात तो यहा भी यही बात है कि यदि थोडी मुद्रा स्फीति के द्वारा भूख, बेकारी तथा दरिद्रता की समस्या को

किसी सीमा तक सुलझाया जा सके, तो कुछ मुद्रा-स्फीति ही को अपनाना श्रेयकर है। फिर राज्य के नियंत्रण में होने के कारण मुद्रा-स्फीति की समस्या को सुलझाने तथा कम करने के और भी तरीके हैं। बिना मुद्रा-स्फीति के आये भी पूर्ण-उपयोगीकरण की प्राप्ति के लिये अन्य कई उपाय हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक कल्याण के लिये यदि सार्वजनिक ऋण में वृद्धि हो तो आज कदाचित् ही कोई सार्वजनिक ऋण में वृद्धि पर आपत्ति करेगा। वह युग और था जब घाटे का बजट भयावह था। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि सार्वजनिक ऋण अहितकर नहीं होते।

यदि यह मान भी लिया जाए कि केनेसियन नीति तथा भविष्यवाणियां गलत हैं तो भी केनेसियन मॉडल को स्वीकार किया जा सकता है।

अब हम कुछ गम्भीर आलोचनाओं का जिक्र करेंगे। ये आलोचनायें बहुत कुछ सही हैं। केन्ज के अनुसार 'जनरल थ्योरी' के लिखते समय तीन बाधायें प्रमुख रूप से उनके सामने उपस्थित थीं [7]:—

(१) सम्पूर्ण आर्थिक संहति की समस्याओं को सुलझाने के लिये आवश्यक, मात्रा को मापने की कोई उपयुक्त इकाई का अभाव।

(२) आर्थिक विश्लेषण में प्रत्याशा के प्रभाव के विषय में द्विविधा तथा।

(३) आय की उपयुक्त परिभाषा की समस्या।

मार्शल के आंशिक सुस्थिति विवेचन में इन समस्याओं का कोई स्पष्ट उचित सुझाव नहीं दिया गया था।

लेकिन केन्ज ने इन समस्याओं का समाधान भी क्लासिकल विचारधारा के उन्हीं तत्वों द्वारा करने की कोशिश की जिन पर वे आक्रमण करने जा रहे थे।

उन्होंने 'मजदूरी इकाई' को चुना तथा अपनाया। लेकिन इसका चुनाव एक अत्यन्त आपत्तिजनक क्लासिकल उपधारणा पर किया गया, क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की भांति केन्ज ने भी यह उपधारणा कर ली कि श्रम सर्वत्र तथा सर्वदा एक समावयव यौगिक है, इस यौगिक अंशों के बीच पाये जाने वाले गहरे वैषम्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। समष्टि-अर्थशास्त्र की कठिनाइयों के सन्दर्भ में अन्यत्र हम कह चुके हैं कि विषमांगी वस्तुओं का योग तथा उसकी औसत निकालना अत्यन्त भ्रामक होता है। एक मिस्त्री, जो मशीन बनाने में दक्ष है, को एक ठेला चलाने वाले मजदूर के साथ तथा उनकी आय की औसत लगाने से हमें अत्यन्त भ्रामक तथा बेकार फल प्राप्त होगा। केन्ज ने भी क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की भांति यह भूल की।

इसी प्रकार केन्ज के प्रत्याशा सम्बन्धी विचार मार्शल से पर्याप्तरूपेण प्रभावित हुए हैं। केन्ज की अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन की प्रत्याशा सम्बन्धी विवेचना मूलतः मार्शल के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन विश्लेषण के समान ही है।

7. *G. T.*, p. 37,

और स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि केन्ज की माय की परिभाषा, मार्शल द्वारा प्रतिपादित अल्पकालीन अवधि मे फर्म के सिद्धान्त की व्याख्या तथा इसी की परिवर्धित रूप कही जा सकती है।

केन्ज का मन्तव्य यह था कि ऊंची मौद्रिक-मजदूरी बेकारी का कारण नही हो सकती तथा इस मौद्रिक मजदूरी को सीमान्त उत्पादनीयता के स्तर तक काम कर देने से बेकारी मे कोई खास कमी नही की जा सकती। केन्ज क्लासिकल सिद्धान्तों के खण्डन करने मे इतने तल्लीन हो गये कि आर्थिक जगत के सहज ज्ञान को भी उन्होने भुला दिया। यह सामान्य नियम है कि वस्तु अथवा सेवा की कीमत मे वृद्धि होने से उसकी माग घटेगी तथा कीमत मे कमी आने से मांग बढेगी।

यहा हमे यह नही भूलना चाहिए कि केन्ज ने स्पष्ट रूप से यह नही कहा है कि मौद्रिक मजदूरी उपयोगीकरण में वृद्धि नही ला सकती। उनका कहना यह था कि ऐसा करना व्यवहारिक न होगा, क्योकि मजदूर सघ इसका विरोध करेंगे। इसका सबसे अच्छा तरीका उन्होने बताया मुद्रा का समुचित प्रबन्ध। उन्होने कहा कि यदि आर्थिक व्यवस्था बन्द हो (अर्थात् वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग न लेती हो) तो मौद्रिक क्रियायो मे समुचित समायोजन करके उपयोगीकरण बढाया जा सकता है और यदि आर्थिक व्यवस्था खुली हो तो विदेशी मुद्रा-विनिमय दर को घटा बढा कर ऐसा किया जा सकता है।

केन्ज की एक अन्य धारणा की कटु आलोचना की गई है। केन्ज के अनुसार आर्थिक व्यवस्था का सस्थिति पर पहुँचने के लिये यह आवश्यक नही कि वह पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था मे हो, न्यून उपयोगीकरण की स्थिति मे भी आर्थिक सहति सस्थिति प्राप्त कर सकती है। हैजलिट आदि ने इस धारणा की बडी आलोचना की है। हैजलिट के अनुसार सस्थिति तब आती है जब वे सब शर्तें पूरी हो जाती हैं जिन पर सस्थिति निभर होती है, और इनमे से ऐसी एक आवश्यक शर्त है पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था। और जब सस्थिति होगी तो पूर्ण उपयोगीकरण होगा, अर्थात् पूर्ण उपयोगीकरण तथा सस्थिति की अवस्थायें एक दूसरे की अनिवार्य शर्तें हैं, एक के न रहने पर दूसरी नही होगी।

अत न्यून-उपयोगीकरण की अवस्था मे सस्थिति आने की बात करना असगत तथा विरोधाभास के अतिरिक्त और कुछ नही। केन्ज ने न्यून उपयोगीकरण तथा सस्थिति के सहअस्तित्व पर जोर देकर 'सस्थिति' पद का दुरुपयोग किया है, वास्तव म उनका अभिप्राय जमी हुई, अवरुद्ध असस्थिति (Frozen dis-equilibrium) से था।

केन्ज ने आर्थिक क्रियाओ पर प्रत्याशा के प्रभाव को भी ठीक-ठीक नही समझा। उन्होने प्रत्याशा को केवल वर्तमान उत्पादन तथा उपयोगीकरण को ही ,

8 The failure of the New Economics p 52.

प्रभावित करते हुये देखा। इसीलिये 'द्रव अधिमानता' तथा 'सट्टेबाजी' की उन्होंने भर्त्सना की। लेकिन प्रत्याशा का प्रभाव प्रत्येक कीमत, ब्याज-दर तथा मजदूरी-दर में अन्तर्निहित होता है। भविष्य के प्रति अटकलें तथा जोखिम सब प्रकार की आर्थिक क्रियाओं मे सन्निहित होती हैं। आखिर, कोई तो उनका भार वहन करेगा। अतः सट्टेबाजी को इतनी भर्त्सना उचित नही।

केन्ज का अर्थशास्त्र अत्यधिक यौगिक तथा समष्टयात्मक है। विश्लेषण करने मे उनके यौगिको को तोडने की आवश्यकता पड जाती है। इस प्रकार समष्टि विवेचन की भ्रान्तिया उनके विवेचन मे प्राय स्थान पा जाती हैं।

यह भी आरोप लगाया जाता है कि केन्ज का अर्थशास्त्र अत्यन्त स्थैतिक है। इसका फल यह होता है कि एक ओर तो इस मॉडल द्वारा आय परिवर्तन के अल्पकालीन प्रवैगिक का अध्ययन करने मे असमर्थता हो जाती है और दूसरी ओर दीर्घकालीन आर्थिक वृद्धि के प्रश्न पर विचार करने के लिये भी यह उपयुक्त नही। केन्ज ने स्थानान्तरित होती हुई सस्थिति (Shifting eqm.) को तो अवश्य बताया लेकिन वह यह नहीं बता सके कि जब सहति एक सस्थिति से दूसरे को जाती है, अर्थात् जब वह गतिमान होती है तब उपयोगीकरण, विनियोग आदि को क्या होता है। इस प्रकार केन्ज का सिद्धान्त अधिक से अधिक सहति का क्रमिक, शात, स्थिर चित्र दे सकता है, उसका प्रवैगिक चित्र यह नही खीच सकता। केनेसियन मॉडल के सामयिक ढाचे (temporal frame work) के अन्तर्गत सस्थाओ में परिवर्तन का विश्लेषण हम नही कर सकते।

केन्ज के मॉडल मे सबसे अधिक भ्रान्तियां उनके 'बचत', 'विनिमय', 'आय' तथा 'ब्याज' आदि पदो के द्विविध प्रयोगों के सम्बन्ध में उत्पन्न होती हैं। केन्ज का बचत तथा विनियोग सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त जटिल तथा भ्रामक है। इनके सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी वक्तव्य उन्होने दिये। एक ओर, तो वह कहते हैं कि बचत तथा विनिमय आवश्यक रूप से समान होते हैं तथा वे एक ही वस्तु के दो पहलू होते हैं, दूसरी ओर, वे कहते हैं कि बचत तथा विनियोग आवश्यक रूप से भिन्न दो क्रियायें हैं, जिनके बीच कोई सम्बन्ध नही है, जिससे बचत न केवल विनियोग से अधिक हो सकती है, बल्कि निरन्तर होती है तथा मुद्रा अस्फीति की अवस्था का सृजन करती रहती है।[9] वास्तव में, यह सम्पूर्ण विषय अत्यन्त गूढ रूप से 'जनरल थ्योरी' मे आया है जो सरलता से बोधगम्य नही और भ्रम पैदा करता है। केन्ज भिन्न भिन्न अर्थों मे इन शब्दों का प्रयोग करते हैं।

केन्ज के पास पूंजी तथा ब्याज के विषय में भी कोई पर्याप्त तथा सन्तोषजनक सिद्धान्त नही है। पहली बात तो केन्ज 'ब्याज' तथा 'पूंजी की सीमान्त क्षमता' को एक ही अर्थ में सर्वत्र नही लेते। कही बट्टे की दर के अर्थ मे उन्होंन

9 The Critics of Keynesian Eco Ed *H. Hazlitt*, Pp. 5-6

'ब्याज' शब्द का प्रयोग किया है तो कहीं उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ मे (उदाहरण के लिये जब वे ब्याज की दर को द्रव अधिमानता तथा मुद्रा परिमाण पर निर्भर बताते हैं)। फिर वह यह भी कहते हैं कि ब्याज लोगों को बचत करने की प्रेरणा के रूप मे नहीं दिया जाता बल्कि उन्हें असंचयन करने के लिये प्रेरणा-स्वरूप दिया जाता है। यदि हम ब्याज-दर को द्रवता के लिये दी हुई कीमत के लिये भी लें, जैसा कि केन्ज ने इसकी परिभाषा की है, तो भी ब्याज-दर आय स्तर के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकती, और चूंकि आय बचत तथा विनियोग द्वारा निर्धारित होती है इसलिये ब्याज दर बचत तथा विनियोग से अवश्य प्रभावित होगी। ब्याज दर आय-स्तर के प्रभाव से मुक्त क्यों नहीं रह सकती? इसका कारण यह है कि आय म परिवर्तन के साथ-साथ द्रव-अधिमानता भी बदलती रहती है और द्रव-अधिमानता पर, केन्ज के अनुसार, ब्याज-दर निर्भर करती है।

केन्ज ने 'समय' के प्रत्यय का भी आमक प्रयोग किया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि एक प्रत्यय का कई अर्थों म केन्ज न प्रयुक्त किया है। यही नहीं, प्राय प्रत्ययों की परिभाषा तथा उनके प्रयोग म अन्तर है। यद्यपि केन्ज आय, व्यय, बचत तथा विनियोग की परिभाषा समय के आदिम फलन (Primitive functions of time) के अर्थ मे देते हैं लेकिन इनका प्रयोग 'समय मे' दर के रूप मे (as rates in time) करते हैं।* फिर केन्ज न यह भी बताया कि 'उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति' आय की पहली उपलब्धि (Derivative) है या दूसरी। केन्ज ने स्वय कहा है कि 'उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति' म परिवर्तन का प्रभाव विनिमय तथा आय प्रभाव डालता है और विनिमय तथा आय म प्रभाव 'उपयोग की सीमान्त प्रवृत्ति' को पुन. प्रभावित करता है। केन्ज ने यह नहीं बताया कि 'उपभोग की सीमान्त' वह पहली वाली को कहते हैं या दूसरी वाली को।

केन्ज का प्रसिद्ध 'गुणक' भी सर्वदा समान रूप से काम नहीं करता। व्यापार चक्र की उत्थान वेला मे गुणक का सिद्धान्त तीव्रता से लागू होता है किन्तु 'अवनति' काल में इसका प्रभाव बहुत कम हो जाता है। दूसरी बात यह है कि पहले केन्ज ने 'गुणक' को समय से परे रखा। किन्तु बाद मे जब अवधि शृंखला के रूप में उस लाना हुआ तो बहुत सी ऐसी उपधारणायें करनी पड़ी जिन्होंने केनेसियन विश्लेषण को दुर्बल बना डाला है।

केन्ज ने यह भी मान लिया है कि सभी विश्लेषित प्रत्ययों का सांख्यकी द्वारा सत्यापन (Verification) किया जा सकता है। लेकिन अभी तक उपभोग फलन को इस भांति नापने मे सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

केन्ज यह बताने में असफल रहे कि पूंजीवादी व्यवस्था, जो स्वत सन्तुलित नहीं है, पर सरकारी नियन्त्रण मे उत्पन्न होने वाली आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक मामलों को कैसे हल किया जाय।

* The Theory of Economic Change *by B S. Keirstead*, p 53.

ऊपर हमने केन्ज के सिद्धान्त की केवल कुछ प्रमुख कमजोरियो को बताया है। उपयुक्त तथा अन्य कुछ सैद्धान्तिक त्रुटियो के कारण इनके आधार पर जिस आर्थिक नीति का केन्ज ने प्रतिष्ठान किया, वे प्राय निष्फल निकली। केन्ज ने सरकारो से यह अनुरोध किया कि वे विनिमय की दिशा को नियन्त्रित करें। यदि यह बात मान ली जाय तो आर्थिक व्यवस्था मे अधिनायकवाद का जन्म हो जायेगा। घाटे के बजट तथा सस्ती मुद्रा नीति की सहायता से केन्ज ने उपयोगीकरण बढ़ाने का सुझाव दिया। इगलैण्ड तथा स० रा० अमेरिका मे यह नीति परखी गई, लेकिन अनुपयुक्त पाई गई। अत इगलैड ने सन् १६५७ ई० मे बैंक आफ इगलैड का बट्टे का रेट बढा कर ७ प्रतिशत कर दिया। यह नीति स० रा० अमेरिका मे और भी बुरी तरह असफल हुई।

इन तमाम आलोचनाओ का केन्ज के अनुयायियो ने उत्तर देने का प्रयत्न किया है, लेकिन इनमे मे कुछ अत्यन्त गम्भीर और सही हैं।

लेकिन इन आलोचको के होते हुये भी केन्ज के आर्थिक सिद्धान्तो के मूल्यवान, मौलिक तथा उपयोगी होने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अन्त मे, एक बात और कह देनी आवश्यक है। केन्ज द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण मॉडल, हमारे तथा अन्य ऐसे देशो पर जहा कि आर्थिक व्यवस्था अविकसित अवस्था मे है, लागू नही होता। ऊपर हमने कहा है कि केन्ज की 'जनरल थ्योरी' मे हमे प्राय तीन बाते मिलती हैं। वे ये हैं—'तथ्य-निरूपण', विश्लेषण तथा भविष्यवाणिया हमारे देश के 'तथ्य' भिन्न है अत. उन भविष्यवाणियो के यहा सही उतरने का कोई प्रश्न ही नही उठता। रहा विश्लेषण का प्रश्न, तो वह भी लागू हो सकता है। जबकि जिन 'तथ्यों' पर वह आधारित है, वे यहा पाये जायें। लेकिन केन्ज के विचारो मे जो प्रवृत्यात्मक बातें पाई जाती हैं उनका प्रयोग हमारे देश तथा अन्य देशो मे भी किया जा रहा है। उपयोगीकरण का प्रश्न, घाटे का बजट, सरकार द्वारा नियोजित विनियोग, कर द्वारा आर्थिक वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न, मौद्रिक व्यवस्था तथा नियन्त्रण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक व्यवस्था का योजनाबद्ध विकास—ये सब बातें हमारे देश के लिये आज अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और ये देन हैं केन्ज की। केन्ज से पूर्व शायद ही किसी ने इन बातो पर ध्यान दिया या देता। अत केन्ज का अध्ययन हमारे लिये आवश्यक है। फिर यह और भी आवश्यक इसलिये है कि हम री तथा पाश्चात्य देशों की आर्थिक व्यवस्था के मूल तत्व—निजी सम्पत्ति, सरकार की रूपरेखा, आर्थिक उन्नति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति दृष्टिकोण और कुछ हद तथा सामाजिक दर्शन आदि—समान हैं।

—:o:—

३३

व्यापार-चक्र

आर्थिक जगत निरन्तर विकास पा रहा है। आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ आर्थिक साधन भी बढ़ते जा रहे हैं। लेकिन आर्थिक व्यवस्था की प्रगति का पथ सीधा तथा सरल नहीं हैं। इस व्यवस्था मे भी उत्थान पतन के नाटक सदा रचते रहते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तगत आर्थिक जगत के इतिहास को हम देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह जगत अत्यन्त अस्थिर है। यों तो जगत परिवतन का पर्यायवाची है, किन्तु आर्थिक जगत मे उत्थान पतन की तरंगो मे एक प्रकार का क्रम तथा पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति होती देखी गई है, अर्थात् व्यापार मे उत्थान अथवा पतन, स्थूल रूप से एक क्रम मे तथा एक अवधि लिये आते जाते हैं। व्यापारिक क्षेत्र मे उतार-चढाव एक नियमित क्रम से आते हैं। इस उत्थान पतन अथवा उतार-चढाव से उपयोगीकरण, उत्पादन, कीमतें, मजदूरी, लगान, ब्याज तथा लाभ आदि आर्थिक जगत के समस्त तत्व प्रभावित होते हैं। व्यापार के इसी नियमित प्राय उतार-चढाव को 'व्यापार चक्र' की सज्ञा दी जाती है। जैसा नाम ही से विदित होता है, व्यापार-चक्र व्यापारिक जगत पर चक्र के समान चला करता है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र को यह प्रभावित करता है। यहा तक कि अपराध, विवाह की दर, जन्म-मृत्यु के आकडे भी व्यापार चक्र द्वारा प्रभावित होते कहे जाते हैं। मुद्रा प्रणाली की व्यापकता के कारण आर्थिक जगत और अधिक सवेदनशील बन चुका है। यह स्मरण रहना चाहिये कि व्यापारिक व्यतिक्रम भी मौलिक रूप से मनुष्य की अदूरदर्शिता, अज्ञानता तथा अन्याय का परिणाम है। इसके कारण बराबर खोजे जाते रहे हैं। लेकिन अभी तक कोई सर्वसम्मत व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकी।

व्यापार के ये व्यतिक्रम कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो आकस्मिक, अकेले तथा विरत होते हैं, कुछ दीर्घकालीन अवधि मे एक ही दिशा मे गतिमान रहते हैं, अर्थात् यदि उत्पादन बढ रहा है तो वह उसी दिशा मे निरन्तर बढता रहेगा। कुछ व्यतिक्रम लगभग नियमित रूप से आर्थिक व्यवस्था मे ज्वार-भाटा की उत्पन्न क्रिया करते हैं। कुछ ऋतु-सम्बन्धी परिवर्तन भी होते हैं, जैसे-उत्तर प्रदेश मे फसल कटने के वक्त मन्दी आ जाती है।

गन्ना तैयार होने पर कुछ लोगो को चीनी बनाने की मिलो मे मौसमी काम मिल जाता है। कुछ प्रकार के व्यतिक्रम ऐसे होते हैं जो आर्थिक व्यवस्था के किसी भाग विशेष को प्रभावित करते हैं, अन्य सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को।

हम स्थूल रूप से इन व्यतिक्रमो को चार वर्गों मे बाट सकते हैं —

(१) अति दीर्घकालीन प्रवृत्तिया।

(२) दीर्घकालीन अथवा माध्यमिक प्रवृत्तिया।

(३) व्यापार-चक्र, तथा

(४) मौसमी, आकस्मिक तथा विविध प्रकार के व्यतिक्रम।

अति दीर्घकालीन प्रवृत्तियाँ आर्थिक व्यवस्था की विकास के पथ पर बहुत दीर्घकालीन ऊर्ध्व अथवा अधोगामी यात्रा की सूचक होती है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह तब तक चिंता के विषय नही जब तक इनकी गति ऊर्ध्व है।

दूसरी तरह की प्रवृत्तियां ऐसी होती हैं जिनकी सामान्य अवधि लगभग ६०–७० वर्षों की होती है।

तीसरे प्रकार की तरगें, जिनकी अवधि ३–४ वर्ष हो सकती है, व्यापार-चक्र *(Business cycles or trade cycle) कहलाती हैं। इनमे एक स्थूल क्रम पाया* जाता है। यह आर्थिक व्यवस्था की चिंताओं का विशेष विषय है।

चौथे प्रकार की गति विधिया मौसमी अथवा आकस्मिक होती हैं। व्यापार का अध्ययन मौसम के अनुसार बदलता रहता है। आकस्मिक घटनायें जैसे हड़ताल, प्राकृतिक प्रकोप आदि भी व्यापार को प्रभावित करते हैं।

इन गतियो, इनकी अवधियो तथा इनके वृत्तीय या चक्रीय होने के प्रश्न विवाद से भरे हुये हैं। इन सब पर हम यथासमय विचार करेंगे। वास्तव मे, यह सम्पूर्ण विषय ही अत्यन्त जटिलता से भरा हुआ है। इसका अन्दाजा हम इस बात से लगा सकते हैं कि व्यापार-चक्र सम्बन्धी व्याख्याओ तथा सिद्धान्तो की संख्या सैकड़ो तक पहुँच गई है।

व्यापार-चक्र के कई चरण होते हैं। पहले हम इसके विभिन्न चरणो पर तथा उनकी विशेषताओ पर विचार करेंगे, उसके बाद हम इसकी विशेषतायें तथा कुछ अन्य प्रकार के वाद विवाद पर विचार करके इसके सम्बन्ध मे प्रतिपादित कतिपय प्रमुख सिद्धांतों पर विचार करेंगे। व्यापार-चक्र की व्याख्या हम किसी चरण से कर सकते हैं। लेकिन हमने एक व्यापार-चक्र की अवधि को चार भागो— (i) पुनरुत्थान, (ii) समृद्धि, (iii) अवनति तथा (iv) अवसाद में बाटा है। हम पुनरुत्थान से अपना वर्णन प्रारम्भ करेंगे।

पुनरुत्थान—

अवसाद काल मे कुछ समय व्यतीत हो जाने पर आर्थिक व्यवस्था मे कुछ ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती हैं कि व्यापारी क्रियायें बढने लगती हैं। कीमतें

तथा अनुपयोगीकरण निम्नतम स्तर पर पहुँच जाते हैं, व्यापार करने मे लागत कम पडने लगती है। बैंको मे रिजर्व काफी बढ जाता है तथा ब्याज की दर भी नीची होती है, लाभ कम होती है। व्यापारियो के पुराने स्टॉक खत्म होने को आ जाते है, मशीनें भी काफी घिस जाती हैं, जिससे उनकी प्रतिस्थापना की जरूरत आ जाती है। धीरे धीरे व्यापारियो मे यह धारणा पनपने लगती है कि अब कीमतें इससे अधिक नही गिरेंगी। इसलिये अपने समाप्त-प्राय स्टाक को वे पुन परिपूरित करने लगते हैं। बाजार में धीरे-धीरे नैराश्य का स्थान आशा लेती है। क्रय बढता है। अवसाद के प्रारम्भ मे व्यापारियो के पास काफी स्टॉक जमा रहता है। वे उसी स्टाक मे से बेचते है तथा थोक माल नही खरीदते। लेकिन धीरे-धीरे वह स्टाक खत्म होने को आता है और इन्हे फिर माल खरीदने की जरूरत पड जाती है। मशीनो का भी यही हाल है, अवसाद के शुरू म भविष्य इतना अधकार पूर्ण हो जाता है कि नई मशीनो को बिठाना तो दूर रहा, पुरानी घिसी मशीनों के स्थान की पूर्ति भी लोग करना बन्द कर देते हैं। लेकिन धीरे-धीरे यह स्थान-पूर्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। वर्ना कारखाने और उद्योग धन्धे बिल्कुल बन्द कर देने पडगे। मुद्रा काफी सस्ती होती है और मन्दी की अवधि के खत्म होने का लोगो को विश्वास होने लगता है, उत्पादक मे यह विश्वास आने लगता है कि अब कीमतें ऊपर चढेगी और कीमतो के बढने के पहले ही वह नई मशीनों मे लिये, कच्चे माल आदि उत्पादन के साधनो के लिये आर्डर देने लगता है। बाजार मे जाने आने लगती है। उसी प्रकार उपभोक्ताओ की उपभोग सामग्रियो का भण्डार भी खत्म हो जाता है, कपडे फट जाते हैं, गृहस्थी की और चीजें भी खत्म हो जाती हैं। मन्दी शुरू होते वक्त उपभोक्ताओ के पास काफी सामान था, मन्दी के समय वे क्रय करना कम कर देते है, लेकिन आखिर तो एक न एक दिन वे सामान खत्म होगे और नये सामानो की आवश्यकता पडगी ही। इसलिये वह भी उपभोग वस्तुओ की माग करने लगते हैं। उपभोक्ताओ की माग बढती है, तो दूकानदारो को भी और माल खरीदने की सूझती है। माल की माँग बढने से धीरे धीरे उत्पादन भी बढने लगता है।

व्यापार का पुनरुत्थान प्राय किसी प्रकार के विनियोग से ही प्रारम्भ होता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। विनियोग का कोई नया क्षेत्र पैदा हो सकता है। हो सकता है कि सरकार ने जनहित कार्यो अथवा शस्त्रीकरण पर अधिक व्यय करना शुरू किया हो। इससे उपयोगीकरण बढता है, आय बढ़ती है, क्रय शक्ति तथा वस्तु विक्रय बढते है। नई आशा का सचार होता है। लोगों मे आवश्यक सामग्रियो को, कीमतो के बढने के पूर्व ही खरीद लेने की होड सी लग जाती है। आर्थिक व्यवस्था मे इस क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा व्यापार बढ जाता है।

एक बार जब यह पुनरुत्थान प्रारम्भ हो जाता है तो यह बढता ही जाता है। पहले यह अत्यन्त क्षीण होता है, किन्तु शनै शनै एक के बाद दूसरी प्रेरणा

इसे मिलती जाती है, तथा इसकी गति तीव्रता होने लगती है। व्यापारी का व्यापार जब बढ़ेगा वह अपने पुराने घिसे-पिटे उपकरणों को भी बदलने का साहस करेगा, मशीनों को निर्माण करने वाले उद्योग-धन्धे भी क्रियाशील हो जायेंगे उत्तम उपयोगीकरण बढ़ेगा, विश्वास बढ़ेगा, आय में वृद्धि होगी। अत लोग उपभोग की वस्तुओं की अधिक माग करेंगे। इससे पुन व्यापारियों को प्रोत्साहन मिलेगा। एक उद्योग-धन्धों में जागृति अन्य कई उद्योग धन्धों में जागृति ले आती है। इस प्रकार चक्राकार, वर्द्धमान गति से, व्यावसायिक क्रिया-शीलता बढ़ने लगती है। कभी-कभी यह क्रियाशीलता या तो कतिपय बाह्य प्रोत्साहन से और तीव्र हो जाती है, जैसे फसल का अच्छी हो जाना, नई खानों का प्राप्त हो जाना, या कोई नया आविष्कार हो जाना आदि, या कतिपय बाह्य कारणों से यह उत्थान उतनी अधिक द्रुतगति से नहीं हो पाता जैसे राजनीतिक अवस्था का डावाडोल होने से उत्थान के माग में अड़चनें आ जायेंगी, किन्तु न्यूनाधिक, उत्थान की यह दशा सफल रूप से अग्रसर होती जाती है।

व्यापारी बढ़ती हुई मागों को देखकर मौजूदा माल का कुछ दाम बढ़ाना शुरू करता है। वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि से अच्छे लाभ की सम्भावना बढ़ती है, क्योंकि उत्पादन की लागत तथा व्यापार की लागत में उतनी शीघ्रता से वृद्धि नहीं होती जितनी शीघ्रता से कीमतें बढ़ती हैं। ऊपरी खर्चे जैसे भाड़ा, वेतन, आदि पहले ही से करार द्वारा निर्धारित होती है। मजदूरी की दर में भी वृद्धि होने देर लगती कच्चे माल का भाव तथा बैंक ब्याज की दर कुछ जल्दी बढ़ा सकते हैं किन्तु कीमतों से अधिक जल्दी नहीं। इस प्रकार लागत तो पीछे पड जाती है और व्यापारी की आय बढ़ जाती है, प्रतिशत लाभ की मात्रा अधिक हो जाती है। लाभ की सम्भावना बढ़ जाने से, सर्वत्र नई आशा तथा विश्वास की तीव्रता बढ़ जाती है। अधिक लाभ तथा नवीन आशा तथा विश्वास नये-नये विनियोग को प्रोत्साहित करते हैं। उद्योग-धंधे बैंकों से अधिकाधिक ऋण लने लगते हैं, बैंक भी बढ़ती हुई समृद्धि से लाभ उठाना चाहते हैं। साख मे वृद्धि होती है; साख जनित मुद्रा में वृद्धि होती है, मुद्रा की चलन गति भी बढ़ती है। इससे कीमतों मे और भी वृद्धि होती है; लाभ बढ़ता है। बंकों से अधिकाधिक उधार लेकर व्यवसायी विनियोग की ओर बढ़ता है। उपयोगीकरण, आय, उत्पादन सब बढ़ते हैं।

इस अवस्था मे आर्थिक व्यवस्था पर कितनी ही सशक्त शक्तियाँ काम करने लगती हैं, पुनरुत्थान समृद्धि मे बदल जाता है। व्यापार मे वृद्धि अन्य वृद्धिया भी लाती हैं; आशा की एक ज्योति बहुमुखी प्रतिमा धारण कर लती है; कीमतों मे वृद्धि नय विनियोग तथा ऋण लेने को प्रोत्साहन देती है; इससे पुनः व्यावसायिक विश्वास बढ़ता है—पुनश्च कीमतों में तथा विश्वास में वृद्धि व्यापार में वृद्धि लाती है और यह तीनों मिलकर लाभ की मात्रा मे तथा विनियोग म वृद्धि लाते हैं जिससे व्यापार में और वृद्धि होती है। इस प्रकार पेचीदी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा

सारी आर्थिक व्यवस्था मे उत्साह भर जाता है, व्यवसाय दिन दूना रात चौगुना बढने लगता है। नई मशीनें बनने तथा बैठने लगती हैं, उत्पादन की क्रिया खूब तेज हो जाती है। अब व्यापार मे किसी को कोई हिचक नही रह जाती। सट्टेबाजी भी बढ जाती है। व्यापारी अपना सामर्थ्य से अधिक विनियोग करना शुरू कर देते हैं। उपयोगीकरण बढते-बढते पूर्णता पर पहुँच जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक धन कमाने मे लग जाता है। समृद्धि की अवस्था आ जाती है।

(२) **समृद्धिकाल**—यह आर्थिक व्यवस्था की वह अवस्था होती है जिसमे ससाधनो का प्राय पूर्ण उपयोगीकरण हो जाता है। व्यवसाय की गति तीव्रतर होती है। मजदूरी की दर तथा कीमतें काफी ऊची उठ जाती हैं। बैंको द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा बहुत बढ जाती है। सर्वत्र तीव्र स्पन्दन होता है। आशा तथा विश्वास का साम्राज्य होता है।

पूर्ण उपयोगीकरण का यह अर्थ नही कि ससाधनो का पूर्ण रूपेण उपयोग हो जाता है और बेकारी बिल्कुल नही रह जाती, लेकिन यह सही है कि मौजूदा पारितोषिक पर काम करने वाले ससाधन प्राय. बेकार नही रह जाते। व्यापार का यह समृद्धिकाल ही आर्थिक व्यवस्था का सबसे सुखकर लक्ष्य है। इसी की प्राप्ति आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य होता है। इस अवस्था को यदि बनाया रखा जा सके तो आर्थिक व्यवस्था कभी विपन्न हो ही नही सकती। आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इस अवस्था को बनाये रखने के लिये तरह तरह की नीतियो के अवलम्बन का सुझाव दिया है। वास्तव मे आज के अर्थशास्त्र की एक मात्र खोजपूर्ण उपयोगिता की अवस्था की प्राप्ति तथा उसको बनाये रखना है। किन्तु यह समृद्धिकाल शिरोबिन्दु पर पहुच वहा अधिक दिन ठहरता नही। आर्थिक व्यवस्था मे कही कोई न कोई ऐसी अड़चन उपस्थित हो जाती है जिससे एक अवधि के बाद इसका ह्रास होने लगता है। पूर्ण उपयोगिता, लाभ, आशा, आय, उत्पादन का मध्याह्न समाप्त होने लगता है। समृद्धि-सूर्य ढलने लगता है, वह अस्तोन्मुख हो जाता है—व्यापारिक क्षेत्र मे अपराह्न बेला आती है, जिसमे अवसाद तथा मन्दी सध्या की काली रेखायें दृष्टि-गोचर होने लगती हैं।

अवनति

जब समृद्धि कुछ समय तक रह जाती है तो आर्थिक व्यवस्था मे परिस्थितिया बदलने लगती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था मे यह समृद्धिकाल अधिक दिन टिकने नही पाता। कारण ? इसके उत्तर पर अर्थशास्त्री एकमत नही है। पुराने अर्थशास्त्रियो का मत था कि प्राकृतिक प्रकोप से व्यापार के बुरे दिन आते हैं। कुछ अर्थशास्त्री मनोविज्ञान पर निर्भर करते हैं और उनके लिये व्यापार की अवनति का कारण है निराशा का प्रसार। कुछ कारण ऐसे पैदा हो जाते हैं कि आर्थिक व्यवस्था मे नैराश्य पैदा हो जाता है और लोग अपना कारबार कम करने लगते हैं। कुछ

अर्थशास्त्रियों का मत है कि व्यापार व्यतिक्रम मौद्रिक कारणों से घटित होता है, उनके अनुसार समझ-बूझकर मुद्रा परिमाण में कमी कर देने से समृद्धि का अन्त किया जा सकता है। कतिपय अर्थशास्त्री पूंजीवादी व्यवस्था के आवश्यक तत्व, प्रतियोगिता, में अवसाद का कारण पाते हैं। उनके अनुसार, समृद्धिकाल में प्रतियोगिता उत्पादकों को आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने पर विवश कर देती है। माग से कही अधिक माल उत्पादित होने लगता है। दूसरी ओर, लागतें बढ़ने लगती हैं। ये दोनो बातें मिलकर अवनति की दशायें पैदा कर देती हैं। समाजवादी अर्थशास्त्री वितरण की बुराई को पूंजीवादी व्यवस्था की इस महामारी का कारण मानते हैं। उनके अनुसार, आय का वैषम्य कुछ लोगो को अधिक धनी और कुछ को गरीब बना देता है। समृद्धिकाल मे धनी बचत ज्यादा करते हैं (आखिर कितना उपभोग करें, उनकी आय जो इतनी बढ जाती है!) गरीबो की आय उस हिसाब से बढ़ती नही—इसलिये उपभोग अपेक्षतया कम होता है। अमीरो की बचत विनियोग के काम आती है। विनियोग बढता है, उत्पादन माग से अधिक हो जाता है। कीमतें गिरने लगती हैं। हेयक के अनुसार, अवनति का कारण बैंकों की ऋण देने मे लापरवाही होता है। केन्ज ने पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे ह्रास को इसका कारण बताया है।

यह भिन्न-भिन्न मत एक दूसरे के पूरक हैं तथा अपने मे अकेला कोई भी पर्याप्त नही। अब हम समृद्धि के पतन की सामान्य दशाओ पर एक नजर डालेंगे।

समृद्धि वेला मे शनैः शनैः सभी ससाधनो का पर्याप्त उपयोगीकरण हो जाता है जिससे कि माग मे और वृद्धि उनकी कीमतो मे वृद्धि आवश्यक रूप से लाने लगती है। ससाधनों की कीमत में वृद्धि का परिणाम यह होता है कि उत्पादन की लागतें बढने लगती है। ऊपरी खर्चे पहले घट रहे थे, लेकिन जब उत्पादन के सारे मौजूदा यन्त्रों तथा उपकरणो का पूर्ण उपयोगीकरण हो गया तो ऊपरी खर्च की औसत बढने लगती है। मौजूदा खुशहाली के समय मे जबकि ब्याज, लगान, मजदूरी आदि की दरें काफी ऊची हैं, तत्सम्बन्धी पुराने सविदे (Contracts) समाप्त होने लगते हैं और उनके बदले नये करार करने आवश्यक हो जाते हैं। इसका फल यह होता है कि उत्पादको को, ससाधन के स्वामियों (मजदूर, पूंजीपति, जमीदार आदि) को नई करारो के प्रतिफलस्वरूप अब अधिक धन मजदूरी लगान आदि के रूप मे देना पडता है जिससे कि उत्पादन लागत और बढ जाती है। समृद्धिकाल मे अपर्याप्त कार्य क्षमता वाले पुराने तथा घिसे हुये पूंजी उपकरणो को भी काम मे ले आना पडता है। इससे भी लागत बढ़ती है। श्रमिको को निर्धारित समय से अधिक, अतिरिक्त (Over time) काम करना पडता है जिससे कि उनकी कार्य-क्षमता तथा कुशलता मे कमी आ जाती है, अधिक परिश्रम उनमे थकान पैदा करता है। उनको तेजी से काम करने के लिए दबाया भी नही जा सकता क्योंकि इस समय उन्हे काम की कमी नही होती, वे अन्यत्र कही जा सकते हैं। कच्चे माल की कीमतें बढती ही जाती हैं। अधिक मात्रा तथा तीव्र गति से उत्पादन करने मे काफी कच्चे माल

आदि की बर्बादी भी होती है। इन सबका सयुक्त फल यह होना है कि लागते तेजी से बढने लगती है। लाभ मे कमी होनी शुरू हो जाती है। प्रत्याशा की ज्योति मन्द पडने लगती है तथा धीरे-धीरे नैराश्य के बादल आर्थिक जगत को घेरने लगते हैं। अत्यधिक व्यस्त आर्थिक सहति शिथिल होने लगती है उन्नति का सूर्य ढलने लगता है। एक बार प्रारम्भ होने पर यह अवनति भी गुणोत्तर वृद्धि पाती है और इसी पतनावस्था मे सट्टेबाजी का तूफान अपने प्रबल झोको से समृद्धि के सारे ढाँचे को धराशायी बना देता है।

विनियोग तथा मुद्रा के बाजार मे भी विपत्ति आती हैं। मुद्रा की, ऋण की माग इतनी बढ जाती है कि उसकी पूर्ति होना कठिन हो जाता है। बैंको को अपने रिजर्व को देखकर ही चलना पडेगा। जब इतना ऋण दे चुकते हैं जितना उनका रिजर्व अनुमति देता है तो वे ऋण देना बन्द कर देते हैं, और दिये हुये ऋण को वापस भी मागने लगते हैं। व्यापार मे वृद्धि के फलस्वरूप कीमतो मे वृद्धि के कारण और नित नये विनियोग के लिये बैंको से लोग अधिकाधिक उधार चाहते हैं। बैंक उधार देने से इन्कार करने लगते हैं। ब्याज की दर भी इतनी ऊची हो जाती है कि लाभ का अनुपात कम होने लगता है। ऊची ब्याज की दर, उधार का न मिलना दोनो विनियोग के विस्तार पर रोक लगा देते है। विनियोग रुकने लगता है, बहुत सी नई परिकल्पनायें अधूरी छोड दी जाती हैं। अधिक व्यवस्था मे यह प्रतिकूल क्रिया-प्रतिक्रिया मन्दी रफ्तार को तेज करती जाती है।

यदि ऋण और मुद्रा की कमी न हो तो भी यह विनियोग प्रसार रुक जाता है क्योंकि कुछ आवश्यक प्रकार के विनियोग के लिये, हो सकता है, माग बिल्कुल खत्म हो जाये। हो सकता है कि मकानो का निर्माण इतना अधिक हो गया हो कि अब उससे अधिक मकानो की माग ही न रह जाये। इससे मकान निर्माण मे लगे हुए साधन बेकार हो जायेंगे। यदि इन साधनो का उपयोग अन्यत्र कही किया जा सके तब तो ठीक है किन्तु ऐसा व्यवहारिक जगत मे हो नही पाता। इस प्रकार श्रमिक तथा अन्य ससाधन बेकार होते जाते हैं। विनियोग घटने लगता है।

व्यापारियो के पास काफी स्टॉक जमा रहता है। कुछ बैंको का अधिक ऋण देने और उनको वसूल न कर पाने से दिवाला निकल जाता है, भविष्य के अनिश्चय से डर कर लोग बैंको से जमा की हुई मुद्रा निकालने लगते हैं—कितने बैंक इस माग को पूरा करने मे असमर्थ हो जाते हैं क्योकि जो उधार उन्होंने ने दिया है उसका जल्द वापस लेना आसान नही होता, अत. बैंक भी फेल होने लगते है। इससे व्यापारिक जगत मे सनसनी पैदा हो जाती है, लोगो की द्रव-अधिमानता व मुद्रा-पिपासा बढ जाती है। मुद्रा बाजार त्रस्त हो उठता है। जब कीमतें गिरने लगती हैं तो उनके और गिर जाने के भय से व्यापारी अपने माल जल्दी जल्दी बेचने का प्रयत्न करते हैं। स्वाभाविक है कि कीमतें जब गिरने लगती हैं तो उपभोक्ता उनके और गिरने का अनुमान लगा सामान खरीदना स्थगित कर देते हैं।

इससे माग मे कमी आ जाती है। माग मे कमी आने पर उत्पादक अपने उत्पादन को कम करने लगता है। उत्पादन म कमी आने पर मजदूरों की छटाई अवश्यमावी हो जाती है। अन्य समाधनों की माग में भी ह्रास आता है और इस सबका परिणाम होता है कि लोगों की आय कम और उनकी क्रय शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे कि माग और उत्पादन पर पुन प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। फर्म और उद्योग फेल होने लगते हैं। एक क्षेत्र मे प्रतिकूलता अन्य क्षेत्रो म भी प्रतिकूलता का प्रसार करती है। एक विनाशकारी प्रवृत्ति का प्रभाव इस प्रकार कई गुना होकर आर्थिक व्यवस्था मे तहलका-महल मचा देता है। बेकारी, नैराश्य की महामारी आर्थिक अग-अग को घेर लेती है। अवसाद आ जाता है। आर्थिक जगत की चहल-पहल समाप्त हो जाती है। सब कुछ बर्फ निष्प्राण हो जाता है। व्यापार ठप तथा क्रियाएं निश्चेष्ट हो जाती हैं। ससाधनों म व्यापक बेकारी छा जाती है। व्यापारिक जगत मे अवसान आ जाता है। जडता का निस्पंदन सर्वत्र घिनौनी शांति छा रहा देता है। यह अवसाद का काल भी समृद्धि बेला की भाति कुछ समय तक टिकता है इसके बाद उपर्युक्त प्रकारेण कुछ समय म अवसाद प्लावन का जल घटने लगता है और पुनरुत्थान के युग का प्रभात उदय होता है।

अवसाद

उत्पादन तथा उपयोगीकरण निम्नतर स्तर पर होते हैं कीमतें काफी गिरी और ससाधनों के पारितोषिक काफी नीचे स्तर पर चले जाते हैं। लाभ शून्य प्राय हो जाते हैं—बल्कि अक्सर घाटा होने लगता है। ब्याज की दर भी गिर जाती है किन्तु काफी बाद में। वैसे ब्याज राष्ट्रीय आय का मुख्य अग बनी रहती है। वास्तविक मजदूरी उतनी कम नहीं होती जितनी मौद्रिक किन्तु फिर भी बेकारी अत्यधिक होती है। गरीबी बढती है। खेती की उपज पर मन्दी का तीव्रतर और और अधिक कठोर आघात होता है, जिससे किसानों की आय बहुत कम होती है। अनुपयोगीकरण का प्रभाव वैसिक उद्योग धन्धों जैसे गृह-निर्माण कार्य, मशीन उत्पादन करने वाले उद्योग धन्धे लोहे के कारबार आदि पर अधिक बुरा प्रभाव पडता है। निर्माण तथा उत्पादन कार्य बिल्कुल ठप्प रहता है। यदाकदा कुछ चहल पहल यदि हो भी जाती है—विशेषत अवसाद का प्रारम्भिक बेला मे—तो यह बुझते हुए दीपक की लौ के सदृश्य होता है। लेकिन कुछ समय बाद कही से कोई फिर इस स्खलित शरीर में प्राण फूक देता है और पुनरुत्थान शुरु हो जाता है।

भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न भागों में व्यापार चक्र के भागों को बांटा है। उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं।

(क) बोन्डिंग

अवसाद	पुनरुत्थान	पूर्ण उपयोगीकरण	व्यापारातिशयता	अवनति
Depression	Recovery	Full employment	Boom	Recession

(ख) अन्य अर्थशास्त्री

अवसाद पुनरुत्थान समृद्धि अवनति

(ग) कुछ ने इन चार अवस्थाओं को और नाम दिया है :

संकुचन	पुनर्जागृति	विस्तार	अवनति
Contraction	Revival	Expansion	Recession

मुख्य चार वस्तुओं को हम निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं—
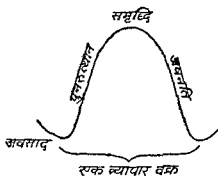
एक अर्थशास्त्री ने बहुत समय पहले व्यापारिक-व्यतिक्रम की गति को निम्नलिखित प्रकार बताया है :

निष्प्राण शान्ति की अवस्था → फिर सुधार → बढता हुआ व्यापारिक विश्वास → समृद्धि → उत्तेजना, व्यापारातिशयता → संक्षुब्धता → दबाव → निश्चलता → पीडा → निष्प्राण शान्ति मे पुन: अन्त ।[1]

इस प्रकार संक्षेप मे हम पुनरुत्थान की विशेषतायें निम्नलिखित प्रकार बता सकते हैं—

(१) विनियोग में लगातार वृद्धि ।

(२) उत्पादन मे क्रमश. मजबूत तथा लगातार वृद्धि ।

(३) उपयोगी करण तथा आय मे क्रमश. मजबूत तथा लगातार वृद्धि ।

(४) व्यवसायिक क्षेत्र मे बढते हुए उत्साह, विश्वास तथा आशा ।

(५) बढते हुए लाभ, मजदूरी तथा कीमतें ।

(६) बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋण में लगातार वृद्धि ।

(७) सट्टों के बाजार मे बढती हुई क्रियाशीलता ।

---

1 "State of quiescence → next improvement → growing confidence → prosperity → excitement → overtrading—convulsion—pressure—stagnation—distress—ending again in quiescence. Jones Loyd (afterwards Lordoverstone) quoted *by R. G. Hawtrav* in Quarterly Journal of Economics. *May 1927, Pp 471 etc.*

अन्त मे पुनरुत्थान समृद्धिकाल मे बदल जाता है, जिसकी विशेषता सक्षिप्त मे निम्नलिखित है—

(१) विनियोगाधिक्य,

(२) उत्पादनाधिक्य,

(३) लगभग पूर्ण उपयोगीकरण की अवस्था,

(४) पर्याप्त आय,

(५) बाजारो मे अत्यधिक आशा तथा भविष्य के प्रति लापरवाह विश्वास,

(६) सट्टेबाजी की धूम,

(७) ऊची कीमतें, बढी हुई मजदूरी तथा लाभ की दरें,

(८) बैंकों द्वारा प्रदत्त ऋण का बाहुल्य,

लेकिन कुछ समय बाद—

(१) बढी हुई मजदूरी, अतिरिक्त-समय का श्रम तथा अधिकाधिक उत्पादन करने के लिये अकुशल श्रमिको को काम पर लगाने आदि बातों के कारण मजदूरी की लागत बढ जाती है।

(२) पुरानी मशीनों के घिस जाने से, उनके स्थान पर ऊचे दाम पर खरीद कर मशीनें बिठाने से तथा कच्चे मालो की कीमतो के बढ जाने से उत्पादन की लागत बढ जाती है।

(३) ब्याज की दर ऊंची हो जाने तथा बैंको के मुक्त ऋण देन म कमी आ जाने के कारण पूंजी-लागत भी बढ जाती है।

(४) भविष्य के प्रति लोग सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगते हैं जिससे व्यापार चक्र का तीसरा चरण, अवनति काल आ जाता है जिसकी विशेषता है कि—

(१) व्यवसाय मे ह्रास होने लगता है।

(२) उत्पादन, आय, विनियोग, उपयोगीकरण घटने लगते हैं।

(३) व्यवसायिक क्षेत्र से भविष्य के प्रति अविश्वास तथा निराशा पैदा हो जाती है जिससे व्यापारी किसी प्रकार भी जल्दी-जल्दी अपने स्टाको को बेचना शुरू करते हैं, घाटे लगने लगते हैं, फर्म तथा बैंक फेल होने लगते हैं।

(४) कीमतें, मजदूरी तथा लाभ घटने लगते हैं।

(५) साख की कडी शर्तों तथा बढी हुई ब्याज-दर से बैंको द्वारा दी जाने वाली ऋण मे कमी आने लगती है,

यह अवनति वेला प्राय आकस्मिक वाणिज्य आपत्ति (अर्थात् एकाएक *व्यवसायिक विश्वास के किसी कारणवश समाप्त हो जाने के कारण) या राजस्व* आपत्ति (अर्थात् साख प्रणाली मे किसी आशका-वश अधिकाधिक मुद्रा की माग के कारण) के साथ आती है। इस सबका फल यह होता है कि अवनति का अन्त अवसाद मे हो जाता है जिसकी प्रमुख विशेषताए हैं।

(१) निष्क्रिय व्यवसाय, विनियोग शून्य प्राय उत्पादन निम्नतर स्तर पर।

(२) निम्नतम स्तर पर अनुपयोगीकरण तथा आय ।

(३) सर्वत्र गहन निराशा ।

(४) दिवालियापन तथा घाटे का साम्राज्य ।

(५) घटी हुई कीमतें तथा मजदूरी तथा लाभ या तो बिल्कुल नहीं या केवल नाम मात्र ।

(६) बैंकों से कोई उधार लेने वाला नहीं ।

लेकिन कुछ समय बाद—यह समय काफी लम्बा हो सकता है, आर्थिक व्यवस्था की अन्तर्निहित शक्तियाँ ऊर्ध्वगामी दिशा अपनाती हैं । अवसाद की अन्तिम बेला में, विनियोग, व्यवसाय तथा उपयोगीकरण को उत्प्रेरित करने वाली शक्तियां क्रियाशील हो उठती हैं, क्योंकि ।

(१) मजदूरी की लागत काफी गिर चुकी होती है । मजदूरी की दर निम्नतम स्तर पर होती है, अतिरिक्त समय काम करने का कोई प्रश्न ही नहीं होता तथा अकुशल श्रमिकों की छटाई हो जाती है ।

(२) उत्पादन की लागत बहुत कम हो जाती है क्योंकि पूंजी-उपकरण काफी सस्ते हो जाते हैं तथा कच्चे माल की कीमतें काफी गिरी होती हैं ।

(३) निराश कुहर कुछ कम होने लगता है क्योंकि लोग सोचते हैं कि मन्दी अब अधिक दिन चलने वाली नहीं, इसलिये कीमतों के बढने के पहले स्टॉक या अपने उपभोग की आवश्यक वस्तुएं जिनका क्रय अवसाद काल में बन्द था, शीघ्र खरीद लें । इससे बाजार में स्फूर्ति आने लगती है ।

(४) ब्याज की दर निम्नतम स्तर पर होती है तथा बैंक ऋण देने के लिये उत्सुक होते हैं ।

इन सबमें आर्थिक व्यवस्था को पुन. बल मिलता है और पुनरुत्थान का प्रादुर्भाव होता है ।

व्यापारिक चक्र की विशेषतायें

व्यापारिक चक्र एक अत्यन्त जटिल आर्थिक घटनाचक्र है । काफी दिनों तक इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा कि क्या इस प्रकार का कोई चक्र वास्तव में आर्थिक जगत में क्रियाशील है । कुछ लोगों का ख्याल था कि 'तथा कथित' व्यापार 'चक्र' यदा-कदा किन्हीं-किन्हीं उद्योग उद्योग धन्धों में आने वाली अनियमित तथा अस्वाभाविक व्याधियां हैं जिनका प्रभाव पूरे आर्थिक जगत पर कमोवेश पड़ा करता है, अवश्य, किन्तु इन व्याधियों में कोई वैज्ञानिक एकरूपता, या नियम नहीं पाया जाता जिससे हम इन्हें व्यापारिक चक्र कह कर पुकारें । इस विवाद पर विचार करने के पूर्व यह समझ लेना उचित है कि 'चक्र' शब्द से अभिप्रेत क्या है ।

गणित में चक्रीय गति एक सापेक्ष गति होती है । यह गति या तो किसी केन्द्र से बराबर दूरी पर उसके चतुर्दिक, वृत्तात्मक, होगी या किसी मध्यमान स्थिति

के दोनो ओर नियमित रूप से स्थानान्तरित होनी रहेगी। व्यापारिक 'चक्र' से हमारा अभिप्राय यही होता है कि आर्थिक क्षेत्र मे क्रियाशील शक्तिया व्यापार को नियमित रूप से सस्थिति-मध्यमान स्थिति से ऊपर नीचे झुलाया करती हैं। व्यापारिक अवस्था अपनी सस्थिति मे रह नही पाती, उस पर काम करने वाली वाह्य तथा आन्तरिक शक्तियां उसे सस्थिति से ऊपर ले जाती है। किन्तु व्यापारिक अवस्था सदा सस्थिति-उन्मुख रहती है, ऊपर स्थानान्तरित किये जाने पर उसमे पुन सस्थिति की अवस्था मे पहुँचने की प्रेरणा विद्यमान रहती है लेकिन जब वह सस्थिति की ओर लौटती है तो वही शक्तियाँ उसको सस्थिति से नीचे ढकेल देती हैं जहाँ से वह पुन सस्थिति की ओर लौटने का प्रयत्न करती है। विज्ञान सम्मत होने के लिये, व्यापारिक अवस्था के इस आरोहण-अवरोहण का एक निश्चित तथा समान आवृत काल होना चाहिए।

यदि हम इस बात को रेखाचित्र द्वारा दिखायें तो व्यापारिक चक्र की अवस्थाए निम्न प्रकार होनी चाहिये—
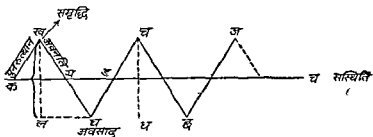
यहाँ क च सस्थिति (मध्यमान स्थिति) की रेखा है।

ख ल व्यापार चक्र का कम्पन-विस्तार (amplitude) है।

जितना समय आर्थिक व्यवस्था को क से ख, ग, घ होते हुए ङ पर पहुचने मे लगेगा उसको व्यापार चक्र का आवृत्ति-काल (Period) कहेंगे।

ख च की दूरी को हम चक्र-दैर्घ्य (Cycle length) कहेगे।

यदि व्यापारिक चक्र वास्तव मे *वैज्ञानिक* चक्र है *तो भिन्न-भिन्न* चक्रो के कम्पन्न विस्तार, आवृत्ति काल, तथा दैर्घ्य समान होने चाहियें।

पर क्या ऐसा वास्तविक जगत मे देखा जाता है? नही। पाश्चात्य देशो मे इस विषय पर काफी अध्ययन किया गया है, जिससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकले हैं.—

(१) *व्यापारिक-चक्र का दैर्घ्य (length) तथा आवृति-काल एकसा नहीं होता* तथा इसमे काफी घट-बढ होती है। ३ वर्ष से लेकर ८–९ वर्ष लम्बा यह हो सकता है। पाश्चात्य देशो मे १९१९—१९२२ के व्यापार चक्र मे यह दैर्घ्य केवल ३ वर्ष लम्बा था, १९२९–१९३७ के व्यापार चक्र में इसकी अवधि ८ वर्ष हो गई।

(२) व्यापार-चक्र का कम्पन-विस्तार भी बहुत ही अनियमित है। पाश्चात्य देशो मे १९२३–१९२४ की मन्दी मे निर्माण होने वाले उत्पादन की मात्रा लगभग १/६ कम हुई थी लेकिन १९३७–३८ मे वह लगभग १/२ कम हो गई।

(३) कभी कभी तो समृद्धि पर पहुँच कर व्यापारिक स्थिति वहा कुछ समय तक रुकी रहती है, और कभी पहुचते देरी हुई नही कि अवनति पथ पर दौड पडनी है। और कभी अवसाद पर पहुँच कर यही हाल होता है। यह भी है कि समृद्धि पर ठहरने की अवधि अवसाद पर ठहरने की अवधि से छोटी होती है।

(४) व्यापारिक-चक्र की गतिविधि के बारे मे कुछ भविष्यवाणी नही की जा सकती, अर्थात् इसकी चाल अत्यन्त अनिश्चित है।

(५) कोई दो व्यापारिक-चक्र यकसा कभी नही होते। आर्थिक-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न पहलुओ पर सब चक्रो का समान प्रभाव नही पडता। किसी चक्र मे आर्थिक व्यवस्था के एक प्रकार के तत्वों की प्रेरणा होती है तो दूसरी मे दूसरे प्रकार के तत्वो की। कोई उपभोग वस्तुओ से अधिक प्रभावित होता है तो कोई पूजी उपकरण से। इन चक्रो की शक्ति भी सदा एकसी नही होती, न सब मे 'हिंसा' ही एकसी पाई जाती है।

इन बातो को देखते हुए क्या समय समय के व्यापारिक उथल-पुथल को हम 'चक्रीय' कह सकते है? क्या इनमे से प्रत्येक को हम आकस्मिक परिस्थितियो का परिणाम नही कह सकते।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसके नियम गणित के गुर की तरह सही होते हैं। आर्थिक व्यवस्था पर कार्य करने वाली शक्तियो का पूर्ण ज्ञान तो हमे हो ही नही पाता। किसी घटना मे कौन-कौन सी शक्तिया काम कर रही हैं—इसका ठीक ठीक ज्ञान हमे नही होता, उनमे कुछ तो ज्ञात होती हैं, कुछ अज्ञात। इसलिये अर्थशास्त्र के कथन केवल एक प्रवृति बताते हैं—गणित का यथार्थ नही। अर्थशास्त्र के नियम औसतन तथा स्थूल रूप से सही होते हैं। अर्थशास्त्र के नियम आर्थिक घटनाओ के बीच औसत सम्बन्ध को बताते हैं। ये सम्बन्ध इतने जटिल होते हैं कि इनकी ठीक ठीक व्याख्या करना कठिन है। इसलिये सामाजिक शास्त्रो के सम्बन्ध मे जब कोई कथन किया जाता है तो वह केवल एक प्रवृति मात्र का कथन है। इस प्रकार हम कहते हैं कि किसी वस्तु की माग तथा कीमत के बीच विपरीत अनुपात होता है, अर्थात् एक बढता है तो दूसरी घटती है। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि माग तथा कीमत के बीच कोई गणित का अनुपात है। हमारा मतलब केवल यह है कि मांग तथा कीमत विपरीत अनुपात म घटने बढने की प्रवृति रखती हैं।

अब यदि हम अर्थशास्त्र के नियमों को स्थूल तथा प्रवृति स्वरूप मानें तो समय समय पर होने वाले व्यापारिक व्यतिक्रम को हम 'चक्र' कह सकते हैं।

भिन्न-भिन्न व्यापारिक चक्रों के दैर्घ्यकाल तथा आवृतिकाल समान होने की प्रवृति रखते हैं। उनके कम्पन-विस्तार भी औसतन एक से होने की प्रवृति रखते हैं। पाश्चात्य देशो मे अनुभव के आधार पर यह पाया गया है कि आर्थिक व्यवस्था मे अच्छे तथा बुरे समय लगभग नियमित रूप से आते जाते रहते हैं। सामान्य व्यापारिक व्यतिक्रम कमोवेश नियमित रूप से आते हैं। हमे व्यापारिक प्रसार तथा सकोच की प्रवृति पर अधिक ध्यान देना है, न कि उनके आवृति काल पर। ऊपर बताई हुई चार अवस्थाओ (पुनरुत्थान, समृद्धि, अवनति, अवसाद) को हम उसी क्रम मे बार बार आते हुये देखते हैं। इसलिये 'चक्र' के अस्तित्व को हमे स्वीकार करना ही होगा।

व्यापार चक्र को यदि हम अनुप्रस्थ तरग मान लें तो अधिक उपयुक्त होगा।*

इनके आवृति-काल म एक रूपता न होने पर भी प्राय एक नियमन से यह आते हैं।

दूसरी बात है इनकी व्यापकता। ऊपर बताई चारो अवस्थाओ का सम्पूर्ण पूजीवादी आर्थिक जगत मे उसी क्रम में बारी बारी आगमन होता है। आर्थिक जगत एक कलेवर है। इसके एक भाग मे कुछ हलचल होने से उसका प्रभाव सम्पूर्ण कलेवर पर पडता है। उत्पादन, उपयोगीकरण, आय तथा कीमत-स्तर मे परिवर्तन लाना व्यापार 'चक्र' की मुख्य विशेषता है। आर्थिक-व्यवस्था के यह स्तम्भ व्यापार

---

* अनुप्रस्थ तरग (Transverse Wave) एक वैज्ञानिक शब्द है जिसकी परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं अनुप्रस्थ तरग वह तरग है, जिसमे तरग के मार्ग के प्रत्येक कण तरग की दिशा में ९०° का कोण बनाते हुए कम्पन करते हैं। उदाहरण के लिये, यदि तालाब के किसी भाग मे एक ककड फेंका जाय तो हम देखेंगे कि पानी के तल पर तरगे पैदा हो जाती हैं। यह तरगे तालाब भर मे फैलने लगती हैं। इनमे दो प्रकार की गति होती हैं, एक तो पानी की लहर किनारे की ओर बढती है, दूसरे, यह लहरें ऊपर-नीचे उठती-गिरती जाती हैं। हमने ऊपर ही बता दिया है कि जब हम अर्थशास्त्र मे किसी वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे हमारा अभिप्राय केवल प्रवृति बताने से होता है। इसी प्रकार, यहा जब हम आर्थिक-व्यवस्था को तालाब मानकर उसमे आने वाले व्यापार, चक्र की अनुप्रस्थ तरगो से तुलना करते हैं तो यह हम केवल एक प्रवृति बताते हैं। यह ऊपर-नीचे होने वाली लहर की गति ही व्यापार-चक्र के ऊपर नीचे की अवस्था मानी जा सकती है और लहरो की किनारे की ओर की गति हम आर्थिक-व्यवस्था की सस्थिति की रेखा मान सकते है जिसके सहारे आर्थिक-व्यवस्था बढती है। यह कथन केवल औसतन सही है।

Readings in Business Cycles and National Income edited by Cansen and Clemence (1953), p 552

से समान रूप से प्रभावित होते हैं। पुनरुत्थान की वेला में यह सभी कमोबेश परिमाण में, बढ़ते हैं तथा अवनति के समय घटते हैं। इन्हीं के आँकड़ों के वैज्ञानिक अध्ययन से व्यापार-चक्र की गति जानी जा सकती है। निम्नलिखित बातें सामान्यतः सभी व्यापार-चक्रों में पाई जाती है—

(१) खेती को छोड़, आर्थिक-व्यवस्था में सर्वत्र कीमतें तथा उत्पादन एक साथ उठते तथा गिरते हैं,

(२) टिकाऊ वस्तु पर किया जाने वाला व्यय अटिकाऊ वस्तुओं पर किये जाने वाले व्यय से अधिक प्रतिशत में घटता-बढ़ता है। उसी प्रकार पूँजी उपकरणों पर किया जाने वाला व्यय भी अधिक ऊपर-नीचे होता है तथा उपभोग वस्तुओं पर किया गया व्यय अपेक्षतया कम। इसीलिये उत्पादन तथा उपयोगीकरण पूँजी उपकरणों तथा टिकाऊ माल निर्माण करने वाले उद्योग धन्धों में अन्य धन्धों की अपेक्षा अधिक घटता-बढ़ता हैं।

(३) कुल विक्रय की अपेक्षा व्यापार की इन्वेन्ट्रीज (inventories) पर होने वाला मौजूदा व्यय अधिक घटता-बढ़ता है।

(४) मुद्रा-परिमाण तथा इसकी चलन गति और कुल उत्पादन, उपयोगीकरण तथा कीमतों में समान रूप से परिवर्तन होता है। अर्थात् यदि कुल उत्पादन, उपयोगीकरण तथा कीमतें बढ़ेगी तो उनके साथ मुद्रा परिमाण तथा मुद्रा चलन-वेग भी बढ़ी होंगी और घटने पर घटेंगी।

(५) कुछ कीमतें बड़ी लचीली होती हैं और कुछ अत्यन्त कम लचीली। निर्मित वस्तुओं की कीमतें प्रायः कम लचीली होती हैं तथा मतों की उपज और खाद्य पदार्थ की कीमतें लचीली।

(६) अन्य साधनों के पारितोषिक से कहीं अधिक परिवर्तन होता है कुल लाभ में। मजदूरी, लगान तथा ब्याज की अपेक्षा लाभ कहीं अधिक तेजी से घटता बढ़ता है।

(७) देश में जितना ही औद्योगीकरण होगा, व्यापार चक्र का प्रभाव ही उतना ही अधिक देश पर पड़ेगा। पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्थाओं में इसका प्रभाव उतना दृष्टिगोचर नहीं हो पाता।

(८) ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापार चक्र आर्थिक विकास की आवश्यक शर्त है, क्योंकि यदि हम गौर से देखें तो प्रत्येक चक्र आर्थिक-व्यवस्था को कुछ-कुछ आगे बढ़ाता है।

(९) व्यापार-चक्र का प्रभाव व्यापक होता है। यह किसी देश-विदेश तक सीमित नहीं रहता। न यह किसी एक उद्योग धन्धे तक सीमित रहता है। कमोवेश सब उद्योग-धन्धों पर इसका प्रभाव पड़ता है। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए उद्योगधन्धों पर इसका प्रभाव उतना तीव्र नहीं होता जितना पूँजी उपकरण क

उत्पादन मे लगे हुए उद्योग-धन्धो पर। जो उद्योग धन्धे देश के भीतर खपत होने वाली सामग्रिया तैयार करता है उन पर व्यापार-चक्र का उतना तीव्र आघात नही होता जितना कि उन उद्योग-धन्धो पर जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे काम आने वाली सामग्रिया तैयार करते है। इसी प्रकार थोक व्यापारियो पर व्यापार-चक्र का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पडता है, खुदरा बेचने वालो पर कम। और भी सेवा-रत पेशो (जैसे डाक्टर, अध्यापक, वकील) पर उतना अधिक प्रभाव नही पडता जितना तैयार करने वाले उद्योग-धन्धो पर।

(१०) व्यापार-चक्र का प्रभाव वर्द्धमान होता है।

(११) व्यापार-चक्र के भय से कभी-कभी एकाधिकारो का जन्म होता है।

(१२) यह ऐसी विरोधाभास की परिस्थितियाँ पैदा करता है कि एक ओर तो (कम से कम अवसाद काल के प्रारम्भ मे) तमाम माल गोदामो मे जमा है, कोई खरीदने वाला नही, दूसरी ओर, लोगो का जीवन-स्तर नीचे गिरा हुआ है।

व्यापार चक्र के सम्बन्ध मे कितने ही सिद्धान्त भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा समय समय पर प्रतिपादित किये जाते रहे हैं। काफी समय पहले प्रो० हॉबलर ने अपनी एतद सम्बन्धी पुस्तक मे ऐसे १४० लेखको का उल्लेख किया था जिन्होने कि व्यापार-चक्र के सम्बन्ध मे विचार, सिद्धान्त अथवा तर्क-वितर्क प्रस्तुत किये हैं। लेकिन उन्होंने बहुत से नामो को जाने-अनजाने छोड दिया है। और फिर उपर्युक्त पुस्तक के लिखे जाने के बाद भी बहुत से नये अर्थशास्त्रियों ने इस क्षेत्र मे पदार्पण किया है। इस सम्बन्ध मे सिद्धान्तो तथा दृष्टिकोण की भरमार है। हाल मे इन तमाम सिद्धान्तो के सश्लेषात्मक अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा है तथा इस बात की चेष्टा की गई कि इन सिद्धान्तो का समन्वयन कर एक सर्वग्राह्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जाय। किन्तु अभी तक कोई ऐसा सर्वमान्य सिद्धान्त प्रतिपादित नही हो सका। हा, केन्ज के अनुयायियो ने व्यापार चक्र सम्बन्धी ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जो पहले के तमाम मुख्य सिद्धान्तो का समन्वयनात्मक एकीकरण करता है तथा व्यापार-चक्र को सस्थिति सिद्धान्त के क्षेत्र मे ले आता है। इससे यह नही समझा जाना चाहिये कि इन लेखको के बीच इस सम्बन्ध मे पूर्ण मतैक्य है, फिर भी इनके दृष्टिकोणों मे अत्यधिक साम्य है।

अभी तक व्यापार चक्र के सिद्धान्तो का कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नही हो पाया। कोई इन्हें मनोवैज्ञानिक तथा 'वास्तविक' सिद्धान्तो मे बाँटना चाहता है, तो कोई मौद्रिक तथा अमौद्रिक मे। कुछ लोग इनका वर्गीकरण 'बाह्य' तथा 'आन्तरिक' के अन्तर्गत भी करते हैं। लेकिन ये सब वर्गीकरण अवैज्ञानिक तथा निरर्थक हैं।

---

* इन केन्ज के अनुयायियों मे विशेष उल्लेख किया जा सकता है होन्सन, पॉल ए० समुएल्सन, आर० एफ० हैरॉड, कालडोर, केलकी, मेजलर आदि का।

एक-एक वर्ग के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्त शामिल किये जायें यह भी तो एक विवादग्रस्त विषय है।

इन सिद्धान्तो का विवेचन, जैसा हमने कहा है, अलग-अलग अर्थशास्त्रियो के नाम से करना सम्भव नही। नीचे हम कतिपय प्रतिनिधि सिद्धांतो का सक्षिप्त विवेचन करेंगे।

पहले हम ऐसे सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं जो व्यापार चक्र के 'बाह्य सिद्धात' कहे जा सकते हैं। तत्पश्चात् हम अन्य प्रमुख मतो का वर्णन करेंगे। लेकिन हमे यह न भूलना चाहिये कि ये भिन्न भिन्न सिद्धान्त एक ही वस्तु, आर्थिक व्यवस्था, के भिन्न-भिन्न पहलुओ के पर्यवेक्षण के फलस्वरूप प्रतिपादित हुये है। अत उनमे बहुत कुछ सामानता पाई जानी कोई आश्चर्य की बात नही।

व्यापार चक्र के 'बाह्य' सिद्धान्त--

आर्थिक व्यवस्था से बाहर की भी कितनी शक्तिया ऐसी होती हैं जो इस पर समय-समय पर काफी प्रभाव डालती हैं। कुछ अर्थशास्त्री व्यापार चक्र का कारण प्राकृतिक घटनाओं मे ढूंढने की चेष्टा करते है। उनके अनुसार, प्राकृतिक घटनाओ मे भी चक्रीय हेर फेर हुआ करते हैं। इन चक्रीय हेर फेरो से फसलें प्रभावित होती है जिनसे व्यापार चक्र का जन्म होता है।

ऐसे ही सिद्धान्तो में जीवन्स का 'सूर्य-धब्बे' का सिद्धान्त है। उनके अनुसार, सूर्य पर समय-समय धब्बे प्रकट होते रहते हैं। जलवायु पर इन धब्बो का बहुत बडा प्रभाव पडता है। वर्षा के न होने से फसलें नही होतीं, खेती चूंकि आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख अंग है, इसलिये इस पर पडने वाला प्रभाव सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर धीरे-धीरे फैल जाता है और सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर अवसाद छा जाता है। अच्छी जलवायु तथा समुचित वर्षा का इससे विपरीत प्रभाव पडता है। यह सिद्धान्त इतना सरल तथा सुबोध है कि जन-साधारण को इस पर विश्वास करते देर न लगेगी। लेकिन इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है, न अनुभव तथा इतिहास ही इसका पोषक है।

इसी प्रकार, कुछ अर्थशास्त्रियो ने युद्ध, भूचाल, बाढ आदि प्राकृतिक प्रकोपों को व्यापार चक्र का कारण बताया है। कुछ लोगो का विचार है कि युद्ध व्यापार चक्र की दीर्घ तरंगो के प्रमुख रूप से उत्तरदायी होते हैं।

कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार आविष्कार तथा अन्वेषण उद्योग-धन्धो को प्रभावित करते हैं तथा व्यापार चक्र के उत्तरदायी हैं। इनमे से शुमपेटर के अभिनव परिवर्तन के सिद्धान्त का विवेचन हम आगे करेंगे।

लेकिन आज यह बात स्वीकार करली गई है कि आर्थिक व्यवस्था पर काम करने वाली यह बाह्य शक्तिया व्यापार चक्र को प्रभावित तो कर सकती हैं लेकिन उसका जन्म नहीं दे सकती। विशेषकर लघु व्यापार-चक्रो के लिये हमे आर्थिक

व्यवस्था की आन्तरिक परिस्थितियों को ही ढूंढना पड़ेगा। आर्थिक व्यवस्था के स्वभाव में ही कुछ ऐसी बातें हैं जो व्यापार चक्र की जिम्मेदार है, यह एक सजीव सस्थान की भांति है, जिसकी आन्तरिक क्रियायें प्रतिक्रियायें ही व्यापार चक्र के लिये उत्तरदायी होती हैं।

यदि व्यापार चक्र किसी शक्ति वाह्य द्वारा गतिमान कर भी दिया जाय तो भी उसकी गति, उसके विभिन्न चरण तथा स्थिति आर्थिक व्यवस्था की आन्तरिक परिस्थितिया ही करेंगी।

सबसे पहले हम शुम्पेटर के 'अभिनव परिवर्तन सिद्धान्त का विवेचन करेंगे। उसके बाद अन्य आवश्यक सिद्धान्तों का।

अभिनव-परिवर्तन
(Innovation)

इस सिद्धान्त की आधारभूत धारणा यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे व्यापार चक्र एक जन्मजात तथा अनिवार्य घटना होती है, तथा आधुनिक पूंजीवादी की विशेषताओं तथा प्रक्रियाओं में व्यापार चक्र की व्याख्या की खोज की जानी चाहिये।

पूंजीवादी की तमाम विशेषताओं मे सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमे निरन्तर आर्थिक परिवर्तन हुआ करते हैं। पूंजीवाद कभी स्थिर तथा स्थैतिक नही रहा। *यह एक प्रवैगिक व्यवस्था है, जो अभिनव परिवर्तन द्वारा अपनी उत्पादन* विधि तथा उपभोग के तरीकों को निरन्तर बदलता रहता है। यह परिवर्तन- प्रक्रिया पूंजीवाद की प्रमुख विशेषता है, तथा यही प्रक्रिया है जो पूंजीवाद मे सर्वत्र व्यापार चक्र की घटना की उत्तरदायी है। इस सिद्धान्त के दो प्रवर्तक माने जाते हैं, एक शुमपेटर दूसरे कासेल। कासेल का सिद्धान्त विनिमय-अतिशयता (Over-investment) *का सिद्धान्त कहलाता है, पर यह भी अभिनव-परिवर्तन के सिद्धान्त* का पोषक है। इन दोनों ने उन्नति तथा अभिनव-परिवर्तन को व्यापार-चक्र का उद्‌गम बताया है। दोनों के अनुसार व्यापार चक्र पूंजीवादी-प्रक्रिया की जन्मजात विशेषता है। इन दोनों के मतों मे भेद केवल उन्नति तथा अभिनव-परिवतन द्वारा उत्प्रेरित प्रक्रिया-गति की व्याख्या मे है। विशेषकर, उनमे मतभेद इस बात पर है कि विस्तार *तथा समृद्धि का अन्त कैसे होता है।* शुमपेटर के सिद्धान्त की हम नीचे व्याख्या करते हैं :—

शुम्पेटर का अभिनव-परिवर्तन सिद्धान्त—

प्रतियोगितापूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है इसमे होने वाले प्राविधिक परिवतन। यही प्राविधिक परिवर्तन व्यापार-चक्र के कारण निमित्त है, सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ पोषक **योजेफ शुम्पेटर** हैं। व्यापार-चक्र का

उद्गम (origin) आविष्कार, अभिनव परिवर्तन तथा प्राविधिक परिवर्तन में खोजने वाले सिद्धान्तों में शुम्पेटर का सिद्धान्त प्रतिनिधि-स्वरूप माना जा सकता है।*

अभिनव-परिवर्तन कई रूप धारण कर सकता है। शुम्पेटर के अनुसार, इसके पाँच रूप हो सकते हैं —

(१) किसी नये माल का उत्पादन,
(२) उत्पादन में नई-विधि का प्रयोग,
(३) नये बाजार का खुलना,
(२) कच्चे माल का कोई नया श्रोत निकल आना, तथा
(५) उद्योग के सगठन का पुनर्गठन।

उत्पादन के क्षेत्र में कोई प्राविधिक-विकास अभिनव परिवर्तन की श्रेणी में तभी आयेगा जब उत्पादन उसका प्रयोग शुरू करें। आविष्कार तथा अभिनव-परिवर्तन म अन्तर होता है, आविष्कार एक वैज्ञानिक तथ्य है, अभिनव परिवर्तन आर्थिक तथ्य है, जब तक व्यवहार में न लाये जायें, आविष्कार आर्थिक दृष्टिकोण से असगत तथ्य होते हैं। सभी अभिनव परिवर्तनों में लागत में कमी लाने के भाव निहित होते हैं। उत्पादन की कोई नई विधि तब तक प्रयोग में नहीं लाई जायगी जब तक कि वस्तु की विशेषता मे बिना कोई फर्क लाये, उससे औसत लागत ही में कमी नही आती। य अभिनव-परिवर्तन केवल लागत मे कमी नहीं लाते, बल्कि उत्पादन क साधनों के क्रम मे भी परिवर्तन लाते हैं। उनको नये रूप से सयुक्त करते है। ये उत्पादको की प्रत्याशा मे वृद्धि करते हैं जिससे कि वे उत्पादन के नये उपकरणों की माग करते हैं। शुम्पेटर के अनुसार, उत्पादक का काम केवल प्रबन्ध करना, लाभ पाना या हानि उठाना अथवा जोखिम उठाना नहीं होता, उसका कर्तव्य होता है नव-निर्माण नव काय विधियं, नव वस्तुयें तथा सेवायें, नव बाजार। उत्पादक की अभिनव परिवर्तन की क्षमता ही आर्थिक व्यवस्था को प्रवेगिता की जान है। अभिनव-परिवर्तन म कवल आकस्मिक आविष्कारो के उत्पादन क्षेत्र मे प्रयोग ही से अभिप्राय नही है, सुदीर्घ अवधि मे शनै. शनै. होने वाली तथा सचित उन्नति से भी इसका अर्थ लगाया जाता है।

शुम्पेटर का विश्लेषण कतिपय उपधारणाओ के आधार पर प्रारम्भ होता है। वे एक बन्द प्रतियोगितापूर्ण समाज की कल्पना करते हैं। इस मॉडल को उन्होंने 'आर्थिक जीवन का वृत्तीय प्रवाह' (Circular flow of Economic) कहा है। ऐसे समाज मे जनसख्या, उसकी रुचियाँ, मुद्रा परिमाण तथा उत्पादन की विधिया दी हुई होती हैं। ऐसी व्यवस्था की शान्ति को यदा-कदा कुछ वाह्य प्रभाव, जैसे युद्ध, कानून,

* शाम्पटायर ने यह सिद्धान्त अपनी जर्मनी भाषा मे लिखी गई पुस्तक 'The Theory of Economic Development (German Edn. 1911 English Translation 1939) मे प्रतिपादित किया। और बाद मे चल कर इसकी व्याख्या उनकी बृहद् कृति 'Business Cycles' (1939) म हुई।

प्राकृतिक घटनायें ग्रादि भग कर देते हैं किन्तु ये वाह्य प्रभाव व्यापार-चक्र को जन्म नही दे सकते इसलिये ये विचारणीय नही होते। एसे स्थिर समाज मे ग्रभिनव परिवर्तन का पूर्णतया ग्रभाव होता है। सर्वत्र सामान्य सस्थिति की ग्रवस्था पाई जाती है। समस्त सहृति एक वृत्तीय पथ पर ग्रपरिवतनीय ढग पर चलती जाती है। उत्पादन ग्रादि क्रियायें एक ही नमूने पर बार बार दुहराई जाती रहती हैं। यद्यपि ऐसी ग्रवस्था वास्तविक जगत मे नही पाई जाती, फिर भी व्यापार चक्र की व्याख्या के लिये ऐसी उपधारणायें सुविधाजनक हैं।

स्थिर स्थिति की यह सस्थिति किसी भी ग्रभिनव परिवर्तन से भग होती है। चाहे किसी नये ग्राविष्कार का उत्पादन मे प्रयोग किया गया हो ग्रथवा ग्रन्य किसी प्रकार यह ग्रभिनव परिवर्तन ग्राया हो लेकिन उत्पादको की क्रियाशीलता मे इससे वृद्धि होगी। वे उत्पादन के नये यन्त्रो की माग करेगे, जिसका प्रभाव ग्रत्यन्त व्यापक होगा। इससे पू जी की माग बढगी।

वास्तव मे, प्राविधिक उन्नति ग्रल्पकाल ही मे कुल विनियोग को बहुत बढा देनी है। विनियोग धीरे धीरे नही किये जाते, बल्कि वे तरगो के वेग से ग्राते हैं। व्यापारी बहुधा 'पुरानी लकीर के फकीर' होते हैं। वे ग्रभिनव परिवर्तन को ग्रपनाने से घबडाते हैं। नये तरीकों के ग्रपनाने मे जोखिम भी उठाना पडता है, उत्पादक शीघ्रता से उन्ह ग्रपनाने को तैयार नही होते। लेकिन एक बार जहा ग्रभिनव के परिवर्तन के लाभ सामने दिखाई पडे, वहाँ सारी हिचक मिट जाती है। तब ग्रभिनव परिवतन के ग्रनुकरण करने वालो की सख्या बढगी ग्रौर शीघ्र ही यह सख्या काफी बडी हो जायेगी। व्यापार-प्रसार तेजी से होगा। स्थिर-स्थिति मे मुद्रा परिमाण स्थिर तथा निश्चित था, इसलिये इस नये प्रसार के लिये उत्पादको को साख का कोई नया श्रोत ढ ढना पडता है। बैंक उनका यह काम कर देता है, यह साख का निर्माण करता है। बैंक से उधार लेकर उत्पादक भूमि तथा श्रम को उनके मौजूदा उपयोगीकरण से ग्रपने-ग्रपने उपयोग मे ले ग्राने का प्रयत्न करते हैं। इसी क्रय शक्ति कोष को, हाल ही मे बैंको ने जिसकी सृष्टि की तथा जिसको, वृत्तीय प्रवाह की धारा मे गोता लगाने तथा उपयोग के लिये ग्रन्यत्र से भूमि तथा श्रम को खीच लेने के लिये उत्पादक को दिया, शुम्पटर ने पू जी कहा है। यह स्मरण रहे कि इस चरण तक शुम्पेटर के पास केवल उत्पादन के दो ही साधन-भूमि तथा श्रम थे। इस स्थान पर तीसरे साधन ग्रर्थात् पू जी का प्रवेश होता है। स्पष्ट है कि पू जी ग्रभिनव-परिवर्तन की देन है। हमने ग्रभी यह कहा कि ग्रब उत्पादक भूमि तथा श्रम को उनके मौजूदा उपयोगीकरण से ग्रपने उपयोग मे बुलाने के लिये होड लगा देते हैं। फल यह होता है कि कीमतें बढ़ने लगती हैं ग्रौर तब तक बढती जाती हैं जब तक कि ग्रभिनव-परिवर्तन वाले उत्पादको की ग्रावश्यक्ता पूरी नही हो जाती।

पू जी-उपकरणों की माँग बढेगी। मजदूरी तथा लगान मे वृद्धि होगी। इससे उपभोग-वस्तुग्रों की कीमत म वृद्धि होगी क्योकि मजदूर तथा भूमि के स्वामी, दोनो

करता है जो चक्रीय गति की सृष्टि करती है, यह चक्रीय गति दो कलाओं की होती है, समृद्धि तथा अवनति। चूंकि समृद्धि तब शुरू होती है जब आर्थिक-व्यवस्था के ससाधनो का लगभग पूर्ण उपयोगीकरण हुआ रहता है, अत अभिनव-प्रवर्तक (Innovators) बैंक द्वारा दिये गये ऋण से समाधनो को अन्य उपयोगो से अपनी ओर खीचते हैं जिससे कि वे आवश्यक प्लान्ट तथा उत्पादन-यन्त्र बना सकें। इन नई मागो के फलस्वरूप लागतें तथा कीमतें बढती हैं। लेकिन स्वाभाविक है कि कीमतें लागतो से पहले और अधिक बढेंगी। अत समृद्धि समस्त आर्थिक व्यवस्था मे फैल जाती है। जब तक इन नय प्लान्टों तथा उत्पादन यन्त्रों द्वारा उत्पादित माल बाजार मे नही पहुचता तब तक सब ठीक रहता है, लेकिन इसके बाजार मे पहुँचते ही कीमतें गिरने लगती हैं क्योंकि पूर्ति माग की अपेक्षा अधिक हो जाती है। लेकिन कीमत गिरने से भी अभिनव प्रवर्तक विचलित नहीं होते क्योंकि यह हम पहले ही बता चुके हैं कि अभिनव परिवर्तन की प्रमुख विशेषता यह है कि वह लागत को कम करती है और इसलिये अभिनव प्रवर्तकों को कीमत गिरने पर भी लाभ कुछ कम नही मिलता। मरते हैं व पुराने फर्म जिनको इस अभिनव परिवर्तन का लाभ नही मिल पाया है। उनका बहुत घाटा होता है, और फिर इस परिवर्तन के अनुकूल अपने को बनाने के लिए व विवश हो जाते हैं। फल यह होता है कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में लागत-कीमत सम्बन्ध बिगड जाते हैं। विनियोग की योजनाओ को पूरा करना कठिन हो जाता है, इसलिय अभिनव-परिवर्तन के कदम ढीले पड जाते हैं और कुछ समय बाद बिल्कुल रुक जाते हैं। कीमतों मे गिरावट आने लगती है। लोगो के पास क्रय-शक्ति ऐसे वक्त क्षीण होने लगती है जबकि अभिनव परिवर्तन के

मानलिया कि हौज के पेंदे के निकट एक वाल्व (Valve) वाला मुख है। यह वाल्व किसी दबाव द्वारा बाहर की ओर खुलता है और दबाव हट जाने पर बन्द हो जाता है। जब तक वाल्व बन्द रहेगा तब तक हौज का पानी नही गिरेगा, लेकिन इसके खुलने पर तेज धारा से अथवा विस्फोट की भाति पानी निकलेगा और कुछ ही देर में हौज खाली हो जायेगा। हौज के खाली होने पर यह पुन. बन्द हो जायेगा और जब पानी पुन. काफी भर जायेगा तो वही क्रिया दुहराई जायेगी। हौज मे नियमित रूप से पानी गिरने की तुलना हम समाज मे होने वाले आविष्कारों से कर सकते हैं, तथा पानी निकालने के द्वार के वाल्व के दबाव पडने पर, विस्फोट के साथ तेजी से खुलने को हम अभिनव-परिवर्तन मान सकते है, तथा पानी के बाहर निकलने को हम क्रमशः आर्थिक व्यवस्था मे होने वाले आविष्कारों का क्रमशः उपयोग तथा अनुकूलीकरण (जिसके लिए अभिनव परिवर्तनीय विनियोग की आवश्यकता पडेगी, इसलिय दूसरे शब्दों मे हम इस पानी निकलने को अभिनव-परिवर्तन से उत्प्रेरित विनियोग का प्रवाह भी मान सकते हैं कह सकते हैं।

Cf. The Trade Cycle by *Reo Mathew* p 71.

परिणामस्वरूप उत्पादित वस्तुओं की अधिक-अधिक राशि बाजार में पहुँचती है, इस क्रय-शक्ति के क्षीण होने का कारण यह होता है कि इसी समय अभिनव-प्रवर्तक अपना ऋण भी बैंकों को चुकाने लगते हैं।

इन सब का फल यह होता है कि समृद्धि अवनति में बदल जाती है। यद्यपि शुम्पेटर इस बात को स्वीकार करते हैं कि समृद्धि कला में विकास के कारण ही अवनति आती है, लेकिन वे समृद्धि का कारण उसके पूर्ववर्ती कलाओं में ढूँढने का प्रयास नहीं करते। उनका व्यापार चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त व्यापार चक्र का स्व-परिचालित नहीं मानता। यदि और कोई बाधा उपस्थित न हुई तो अवनति स्तरों ही पर आर्थिक व्यवस्था पुनः सस्थिति को प्राप्त होगी। लेकिन यह हम जानते हैं कि अवनति के बाद अवसाद आता है तथा अवसाद के बाद पुनरुत्थान। अभी तक शुम्पेटर ने हमें व्यापार चक्र की केवल दो ही कलाओं, समृद्धि तथा अवनति, से परिचित किया है दूसरे तल पर वे हमें अन्यों से भी परिचित करते हैं।

द्वितीय तल (The Second Approximation)

अभिनव-परिवर्तन द्वारा उत्प्रेरित द्वि-कलात्मक व्यापार-चक्र चार कलाओं वाला बन जाता है क्योंकि व्यापारातिशयता (Boom) के दौरान में आर्थिक व्यवस्था में कुछ अन्य तत्व प्रवेश कर जाते हैं। व्यापारातिशयता के दौरान में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति काफी बढ़ जाती है, लोग आवश्यकता से अधिक आशावादी हो जाते हैं जिससे कि भविष्य के बारे में अटकलें गलत होने लगती हैं, विनियोग गलत दिशा में किया जाने लगता है। फर्म अपने ऋण का भार इस आशा से बढ़ाते जाते हैं कि भविष्य उज्ज्वल है और व्यापार में वृद्धि करना लाभप्रद है। गृहस्थों के ऊपर भी कर्ज बढ़ जाता है क्योंकि उन्हें भविष्य में अपनी आय के बढ़ने की गलत आशा होती है। "गौण विस्तार" शुरू हो जाता है। अभिनव-परिवर्तन द्वारा उत्प्रेरित समृद्धि और आगे बढ़ती है तथा ऐसे स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ अभिनव-परिवर्तन उसे भेजने में असमर्थ था और उपर्युक्त क्रियायें ही उसका पोषण करती हैं, अभिनव-परिवर्तन जात प्रवृत्तियाँ नहीं।

लेकिन जब एक बार अविनियोग प्रारम्भ हो जाता है जैसा कि ऊपर हम बता चुके हैं तो उपर्युक्त सट्टेबाजी तथा भूलों के कारण अवनति इतनी नीचे चली जाती है जितनी कि वह यदि अभिनव-परिवर्तन सम्बन्धी क्रियायें उस पर अकेली काम करतीं होतीं; तो वह न जाती। अभिनव-परिवर्तन के कदम धीमे पड़ने पर, व्यापारातिशयता के दौरान में की गई बेजा सट्टेबाजी, अन्धाधुन्ध विनियोग तथा गलत आशावादिता के कारण पतन व्यापक रूप से सम्पूर्ण व्यवस्था पर छा जाता है। मूल्य नीचे लुढ़कने लगते हैं और ऋण की भित्तियाँ ढहने लगती हैं। गौण सकुचन, बढ़ती हुई निराशा तथा मुद्रा सकुचन का तेज दौरा व्यवस्था में उस अवस्था को जन्म देते हैं जिसे शुम्पेटर ने "असामान्य पतन" (Abnormal Liquidation) कहा जाता है। आर्थिक व्यवस्था में अवसाद आ जाता है। अवसाद के कुछ समय

तक रह जाने के बाद पुनरुत्थान प्रारम्भ होता है तथा आर्थिक व्यवस्था ऊपर उठकर नई सस्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करने लगती है। 'पुनरुत्थान' व्यापार चक्र की चौथी कला है।

इस प्रकार समृद्धि तथा अवनति में दो कलायें और जुड़ गई ' अवसाद तथा पुनरुत्थान।

शुम्पेटर के अनुसार पुनरुत्थान व्यापार-चक्र की अन्तिम कला है तथा सामान्य स्तर अर्थात् समृद्धि उसकी प्रथम कला है। इसलिये व्यापार-चक्र के धैर्य को एक पेंदी (Trough) से दूसरी तक मापना भ्रामक है। पुनरुत्थान तथा अवनति के दौरान मे आर्थिक व्यवस्था के तत्व सस्थिति की ओर ससृत (Convergent) होते हैं तथा अवसाद और समृद्धि में वे सस्थिति से दूर जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। यदि भ्रमवश हम पुनरुत्थान को व्यापार-चक्र की प्रथम कला मानते हैं तो हम यह भूल जाते हैं कि इसका प्रारम्भ प्राय. गौण तत्वो द्वारा होता है, लेकिन समृद्धि अभिनव-परिवर्तन का परिणाम होती है। अब हम शुम्पेटर के तृतीय तल पर आते हैं।

तृतीय तल (The Third Approximation)

अभिनव परिवर्तन भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ अपना प्रभाव शीघ्र जता देते हैं, अन्य का प्रभाव प्रकट होने मे समय लगता है। तीन प्रकार के व्यापार-चक्र हमे मिलते हैं: एक तो लघु या किचिन● चक्र जिनका धैर्य लगभग ३½ वर्ष होता है, दूसरे, बड़े या जगलर● चक्र जिनका दैर्घ्य लगभग ९–१० वर्ष होता है तथा तीसरे, दीर्घ तरगे अथवा कोन्ड्राटीफ● चक्र जिसका दैर्घ्य ५०–६० वर्ष के लगभग होता है। इन सभी चक्रो का प्रादुर्भाव अभिनव-परिवर्तन से होता है। अभिनव-परिवर्तन भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, यह हम कह आये हैं। किसी भिन्न-भिन्न अभिनव-परिवर्तन के 'गर्भ धारण' उनसे उत्पन्न प्रभावो के 'शोषण' की अवधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। कुछ अभिनव-परिवर्तन शीघ्र स्खलित हो जाते हैं, कुछ को अपने प्रभावो को प्रकट करने मे समय लगता है। प्रभावो को दीर्घकाल में प्रकट करने वाले अभिनव-परिवर्तनों का उदाहरण रेल पथ हैं। सभी रेल पथ एक साथ ही नहीं बन जाता। उनके विकास के लिये समय अपेक्षित होता है। फिर रेल पथ द्वारा उत्पन्न सुविधाओं को उत्पादन के काम मे लगाने के लिये भी समय चाहिये।

इस प्रकार कुछ अभिनव-परिवर्तन जो अपना प्रभाव शीघ्र प्रकट कर स्खलित हो जाते हैं, लघु व्यापार चक्र को जन्म देते हैं, कुछ जगलर के प्रकार के चक्रों का निर्माण करते हैं तथा कुछ की प्रक्रिया की अवधि काफी दीर्घ होती है, कोन्ड्राटीफ् चक्रों को जन्म देते हैं। औद्योगिक 'क्रान्ति' का युग, जो १८वी शताब्दी के अन्तिम

● किचिन, जगलर तथा कोन्ड्रटीफ् उन अर्थशास्त्रियो के नाम हैं जिन्होंने क्रमशः इन व्यापार चक्रों की खोज की है।

चरण से लेकर १८४२ तक रहा, रेल पथ का युग जो १८४२ से १८९७ तक माना जा सकता है तथा १८९८ से आगे बिजली, रसायनशास्त्र, मोटर आदि के युगो को कोन्ड्राटीफ् चक्र के उदाहरण कह सकते हैं। यह सभी चक्र साथ-साथ तरंगायित होते हैं और सभी उसी आर्थिक विकास की विभिन्न कड़ियों की तरह हैं। उन सबका कारण तथा उत्प्रेरक अभिनव-परिवर्तन है। किसी मे दो कलायें होती हैं परन्तु जहा गौण तत्वो का प्रयोग हो जाता है वहा उपर्युक्त चार कलायें पैदा हो जाती हैं। शुम्पेटर के अनुसार, एक कोन्ड्राटीफ् चक्र मे ६ जगलर चक्र होते है तथा एक जगलर चक्र मे ३ किचिन चक्र।

चक्रीय-विकास—

शुम्पेटर के अनुसार अभिनव-परिवर्तन आर्थिक क्रियाओ मे परिवर्तन लाता है। आर्थिक प्रगति का पथ समतल नही है। यह चक्रीय-प्रक्रिया मे अपने को व्यक्त करती है। प्रगति तथा आर्थिक उतार चढाव मे कोई विरोध नही है। प्रगति तथा आर्थिक उतार चढाव एक ही है। यह सही है कि भिन्न-भिन्न समाजो मे प्रगति के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। प्रत्येक अभिनव परिवर्तन के बाद, चक्रीय पथ से चलकर, आर्थिक व्यवस्था एक नई सस्थिति को प्राप्त करती है। हरएक नई सस्थिति मे आर्थिक व्यवस्था इससे पूर्व की सस्थिति की अपेक्षा उत्पादन, लागत आदि बातो मे श्रेष्ठतर अवस्था मे हो जाती है। अर्थात् प्रत्येक नई सस्थिति अधिक उत्पादन, नई उत्पादन विधि, लागत—कीमत के नये सम्बन्ध कम कीमतो आदि की द्योतक होती है। हमारी प्रवैगिक आर्थिक व्यवस्था मे अभिनव परिवर्तन निरन्तर गति-प्रेरक होते हैं। प्रत्येक सस्थिति आर्थिक व्यवस्था को एक नई मजिल पर ला देती है जो अपनी पूर्ववर्ती मजिल से आगे होती है।

आलोचना—

शुम्पेटर के सिद्धान्त के अनुसार, केवल अभिनव परिवर्तन ही प्राथमिक रूप से आर्थिक प्रगति तथा व्यापार चक्र के कारण होते हैं। अन्य बातें गौण हैं, लेकिन यह बात व्यापक रूप से सही नही कही जा सकती। अभिनव परिवर्तन आर्थिक प्रगति तथा व्यापार-चक्र के कई कारणों मे एक है।

शुम्पेटर की पुस्तक से यह पता चलता है कि उनके अनुसार गत १५० वर्षों मे जो आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए हैं उनका एक मात्र श्रेय अभिनव परिवर्तन को है। यह मत ऐतिहासिक तथ्यो की अवहेलना के अतिरिक्त और कुछ नही। सामाजिक उत्थान पतन के अन्य तमाम एजेन्ट हैं। शुम्पेटर यह कह कर कि प्रगति का श्रेय केवल मुट्ठी भर अभिनव प्रवर्तको को है इतिहास के नायक सिद्धान्त (Hero Theory) का पोषण करते हैं।* प्रगति का श्रेय इने-गिने

* "It is leadership .... rather than ownership that matters"
—Business Cycles by *Shumpeter*, p. 103.

अभिनव प्रवर्तको को ही नही मिलना चाहिये। प्रगति समस्त समाज के सामूहिक प्रयत्न की देन होती है।

प्रतियोगिता की अवस्था मे अभिनव प्रवर्तक के नेता बनने की बात सही नही हो सकती, यह बात केवल विक्रयाल्पाधिकार की हालत ही मे कुछ सगत हो सकती है।

एक ही प्रकार का अभिनव परिवर्तन सभी उद्योगो को समान रूप से प्रभावित नही कर सकता। अत इसका प्रभाव व्यापक तथा समस्त व्यवस्था को गति देने वाला नही कहा जा सकता।

अधिक से अधिक शुम्पेटर का सिद्धान्त केवल उन अभिनव परिवर्तनो पर लागू हो सकता है जो परिवहन तथा भौगोलिक प्रसार के सदर्भ मे हुए हैं। परिवहन मे प्रसार तथा नये भू भागो पर अधिकार के प्रभाव अत्यन्त व्यापक होते हैं। लेकिन अन्य प्रकार के अभिनव परिवर्तनो के प्रभाव अधिक से अधिक कुछ थोडे से उद्योगो पर ही लागू हो सकते हैं।

शुम्पेटर की एक अन्य भूल यह है कि वे लाभ तथा अभिनव-परिवर्तन को एक समझते हैं, उनके अनुसार अभिनव परिवर्तन के स्खलित हो जाने पर लाभ भी शून्य हो जाता है। यह बात गलत है। लाभ प्राय किसी न किसी प्रकार के शोषण का परिणाम होता है, केवल अभिनव परिवर्तन का नही।

शुम्पेटर के अनुसार, किसी देश की प्रगति कुछ उत्पादक साहसियो की योग्यता के परिणाम हैं। यह स्पष्ट नही होता कि योग्यता जैसे मानसिक तत्व को चक्रीय रूप कैसे दिया गया, क्या कारण है कि योग्यता केवल ३½ वर्ष, या ९–१० वर्ष अथवा ५०–६० वर्ष के अनन्तर ही कैसे और क्यो ऊपर मानी है।

केवल अभिनव परिवर्तन को व्यापार-चक्र का कारण मानकर शुम्पेटर ने सट्टेबाजी, अन्दाजा, अनिश्चय आदि तत्वो को टाल गये हैं। कहना तो यह चाहिये कि अभिनव परिवर्तन व्यापार चक्र के परिणाम होते हैं। व्यापार चक्र मे ऊर्ध्वगामी प्रवृत्तिया उत्पादको को अभिनव परिवर्तन करने का आह्वान देती हैं।

शुम्पेटर ने एक अत्यन्त सरल 'बाह्य' सिद्धात प्रतिपादित किया है। व्यापार-चक्र की जडें इससे कही अधिक गहरी तथा जटिल हैं। फिर प्राप्त आकडे शुम्पेटर के सिद्धान्त को सिद्ध नही करते।

अत हम कह सकते हैं कि यद्यपि अभिनव परिवर्तनो का प्रभाव प्रबल हो सकता है फिर भी एकमात्र उसको व्यापार चक्र का कारण नही माना जा सकता।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के सदर्भ मे हम दो अन्य सिद्धान्तो की चर्चा करेंगे। एक तो है प्रतियोगिता का सिद्धान्त जिसके साथ अनिश्चय का तत्व जुडा हुआ होता

गलत अन्दाजे लगाने की सम्भावनायें बढ जाती हैं। मान लिया आर्थिक व्यवस्था उत्थान के चरण मे है। कीमतो के बढने का अनुमान लगाकर अधिक लाभ कमाने की आशा से उत्पादक पूंजी उपकरणो के लिये आर्डर देना प्रारम्भ करते हैं। मागें तो बढ रही हैं लेकिन गर्भधान की अवधि के कारण ये मागें तुरन्त पूरी नही हो पाती, अर्थात् पूर्ति माग से पीछे रह जाती है। पूंजी उपकरण के उद्योग-धन्धो मे, उपभोग वस्तुओ के उत्पादको की मागो के फलस्वरूप, उत्पादन की क्रिया तेज हो जाती है तथा उसमे उपयोगीकरण बढ जाता है, अत मजदूरो की आय बढती है। लेकिन चूकि उपभोग वस्तुओ के उत्पादन को, पूंजी उपकरणो की तैयारी मे समय लगने के कारण अभी तक नही बढाया जा सका, उपभोग वस्तुओ की कीमतें बढती हैं। कीमतो की इस वृत्ति का अर्थ व्यापारी यह लगाते हैं कि वस्तु की माग निरन्तर बढती ही जायगी, इसलिये वे अपनी उत्पादन क्षमता बढाने के लिये और पूजी उपकरणों का आर्डर देते हैं। यदि व्यापारियो ने तनिक सोचा होता कि कीमत मे यह वृद्धि अस्थाई है तथा जैसे ही आर्डर के पूजी उपकरण बिठा दिये जायगे तथा उत्पादन होने लगेगे वैसे ही ये कीमतें सामान्य स्तर पर आ जायेंगी तो वे अपनी उत्पादनशीलता बढाने के लिये अधिक पूंजी उपकरणो का आर्डर देते ही नहीं। नतीजा यह होता है कि जब नये पूजी उपकरणों का उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है तथा माल बाजार मे जमा होने लगता है तो व्यापारी अपनी भूल महसूस करते है, लेकिन अब बहुत देर हो चुकी होती है, स्टाक जमा होने लगते हैं, पूर्ति माग से कहीं आगे बढ जाती है। कीमतो में गिरावट अवश्यम्भावी हो जाती है। अवनति प्रारम्भ हो जाती है।

आशावादी तथा निराशावादी दृष्टिकोण

ऊपर के दो सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के पोषक तथा पूरक हैं। आर्थिक व्यवस्था मे उत्पादको के निर्णयो मे गलतिया प्राय. इस लिये आती हैं कि एक तो हमारी आर्थिक व्यवस्था का ढाचा परमाणुविक है जिससे कि एक फर्म यह निश्चित कर सकने मे असमर्थ होता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी क्या करेंगे, दूसरे पूजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन क्रिया समय लेने वाली होती है। इसमे से पहला तो सामाजिक—आर्थिक तत्त्व हैं, तथा दूसरा प्राविधिक। यही दो तत्त्व उत्पादकों तथा व्यापारियो के निर्णयो को दूषित करते हैं। यदि ये दोनो तत्त्व दिये हुए हो तो यह आश्चर्य की बात नहीं कि व्यापारी-समाज आशावादी तथा निराशावादी दृष्टिकोण से काफी प्रभावित होता है। तथ्यो के विषय मे ठीक जानकारी के अभाव मे सामाजिक-मनोवैज्ञानिक तत्वो का प्रभाव बहुत बढ जाता है।

समस्त व्यापारी-वर्ग एक सामाजिक मनोविज्ञान के प्रच्छन्न बन्धन मे बधा होता है। व्यापार के एक कोने मे आशा अन्य क्षेत्रो मे भी आशा का सचार करेगी। आशावाद मस्तिष्क की एक सामाजिक स्थिति है।

अच्छे समय मे आशावादी की तरगें सर्वत्र फैलकर सबके दृष्टिकोण को आशा से रग देती हैं।

इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति का आशावादी दृष्टिकोण द्वारा की गई भूल अन्यो को गलत आशा देने का कारण बनती है। यदि 'क' प्रत्याशा के अत्यधिक होने का गलत अन्दाजा लगाता है तो वह अधिक माग करके पूर्ति करने वाले तथा अन्य लोगो की आय के बढाने का कारण बन जाता है। यह बढ़ती हुई आय 'ख' के व्यापार मे वृद्धि करती है, जिससे अधिक आशावादी बन वह 'ग' की आय बढने का कारण होता है, और इस प्रकार वह आशावादिता 'ग' को भी घेर लेती है। इसी भाति सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे आशा का सचार छुआ-छूत की बीमारियो से भी तीव्रतर गति मे हो जाता है।

व्यापार-जगत मे इस अन्तर-भावना को और जटिल बनाने का कारण होता है ऋणी महाजन का सम्बन्ध, जो व्यापारिक जगत में सर्वत्र पाया जाता है। अधिकतर व्यापारी ऋणी और महाजन दोनो होते हैं। व्यापारी कच्चा माल आदि उधार लेकर उत्पादन करते हैं तथा उत्पादित माल को उधार बेचते भी हैं। मान-लिया कोई उत्पादक ऐसा हुआ जो खूब आशावादी हुआ, जिससे कि वह अपने ग्राहक व्यापारियो को आसान शर्तों पर तथा लम्बे अर्से तक के लिये उधार देने को तैयार है तो यह ग्राहक व्यापारी भी अपने ग्राहको को आसान शर्तों तथा लम्बे अर्से के लिये उधार देने मे नही हिचकेगा। इस प्रकार सम्भवत एक उत्पादक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इस प्रकार सर्वत्र छहर जाएगी। इस प्रकार वित्तीय अन्तर-सम्बन्ध के कारण आशावादिता की एक सामान्य भावना सर्वत्र फैल जाती है तथा आर्थिक जगत मे सर्वत्र क्रियाशीलता की धूम मच जाती है। व्यवस्था समृद्धि प्राप्त कर व्यापारातिशयता की चोटी पर चढने लगती है।

इस उत्थान तथा समृद्धि काल मे व्यापारिक जगत इतनी अधिक प्रत्याशा लेकर चलता है, जो कभी पूरी उतर ही नही सकती। किसी न किसी दिन प्रत्याशा के गलत होने का भेद खुले बिना रह नही सकता। यह समय प्राय गर्भधान की अवधि पर निभर होता है। जब गलतियो का पता चलता है तो सारे हवाई किले ध्वस्त होने लगते हैं। स्वप्न के भग होने पर जगत की कटु वास्तविकताए सामने आती हैं। सारी प्रत्याशा मायावी बन गायब हो जाती है। लाभ का उत्साह का स्थान हानि का भय लेने लगता है। चिन्तायें बढने लगती हैं। अवनति प्रारम्भ हो गई, और फैक्टरिया बन्द होने लगती हैं, आर्डर वापस लिये जाने लगते हैं तथा अनुपयोगीकरण बढने लगता है।

जिस प्रकार आशावादिता का सचार आर्थिक व्यवस्था मे हुआ था उसी प्रकार सक्रामक रूप से सर्वत्र निराशा का सचार हो जाता है। आशावादिता जितनी ही प्रबल रही होगी, निराशावादिता की कालिमा की छाप उतनी ही गहरी होगी। मुद्रा-सकुचन हो जाता है। बैंक उधार देने के बजाय दिये हुए उधार वापस मागने

लगते हैं। यदि आर्थिक व्यवस्था की योजनाएं अधिकतर बैंकों के उधार पर पूरी की गई हैं (जैसा होना तब अधिक सम्भव है जब पूंजी-उपकरण खूब उत्पादित किये गये हैं) तो विपत्ति और भी बढ़ जायेगी। ऋण का बोझ झकझोरी हुई भावनाओं को और बोझिल बना देता है, जिससे कि जहां क्रियाशीलता सम्भव भी थी, वहां भी निष्क्रियता फैल जाती है। अन्त में संकट का रोकना असंभव हो जाता है। जब संकट आ पड़ता है तो कीमतें काफी गिर जाती हैं, उत्पादन पर और रोक लगा दी जाती है, दिवाले निकलने लगते हैं तथा एक निरर्थक तथा काल्पनिक निराशा गहन रूप से छा जाती है। गर्भधान की अवधि अब विपरीत दिशा में काम करने लगती है। जिस प्रकार उत्पादन होने में समय लगा था, वैसे ही उसे कम करने में भी समय लगेगा। धीरे-धीरे करके यह कमी आती है, माल के प्रवाह को एक दम तुरन्त नहीं बन्द किया जा सकता। इसलिये कीमतें धीरे-धीरे गिरती ही जाती हैं, यदि उत्पादन तेजी से गिर जाता तो शायद कीमतें उस स्तर तक न गिरती जितनी कि उत्पादन के धीरे-धीरे घटने में वे गिरती हैं। कीमतों का गिरना, चाहे वह थोड़ा ही हो, व्यापारियों के लिये अमंगल का सूचक होता है तथा उनमें निराशा को और भी गहरा कर देता है। अवसाद का चक्र आ जाता है।

लेकिन अन्त में बाजार को जब उत्पादन की कमी का पूर्णरूपेण मान हो जाता है तो उसे पुन अपनी नैराश्य की भूल मालूम पड़ती है; उसे ज्ञात होता है कि परिस्थितियां इतनी खराब नहीं थी जितनी मान कर हम बैठे हुए थे। बैंकों में रिजर्व बढ़ जाता है, मुद्रा बेकार पड़ी होती है, लोगों के स्टॉक समाप्त हो चुके होते हैं अतः आशा की ज्योति किसी तरफ से फिर उदय होती है और व्यापार-चक्र पुनः उसी पथ से गुजरने लगता है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक तत्व व्यापार चक्र का सृजन तथा संचालन करते हैं। कुछ अर्थशास्त्री तो यहाँ तक दावा करते हैं कि मनोवैज्ञानिक तत्व को आर्थिक व्यवस्था का एक अपरिवर्तनशील तत्व तथा आर्थिक परिवर्तन (जो व्यापार-चक्र उत्प्रेरित होते हैं) को परिवर्तनशील तत्व मान लेते हैं।

आलोचना—यह सही बात है कि समृद्धशालिता का एक चिन्ह विश्वासाधिक्य तथा अवसाद का विश्वासाभाव होता है, लेकिन ये स्वतन्त्र रूप से व्यापार के उद्दीपन तथा संचालक नहीं हो सकते। बल्कि ये आर्थिक व्यवस्था के किसी गहरे कुसंयोजन में निहित होते हैं। फिर प्रश्न यह उठता है कि यह तो सच है कि कुछ व्यापारी अदूरदर्शिता के कारण गलत आशा तथा निराशा के शिकार हो जाते हैं, लेकिन वहीं अज्ञान के मार्ग का अनुसरण सब के सब उसी समय क्यों करने लगते हैं, इस बात का उत्तर यह सिद्धान्त नहीं दे सकता। दूसरे, मनोवैज्ञानिक तथा अमनोवैज्ञानिक कारणों में स्पष्ट भेद करना भी अत्यन्त कठिन है।

मनोवैज्ञानिक आशा तथा निराशा व्यापार-चक्र के किसी चरण को दीर्घकालीन बना सकती हैं, लेकिन यह कहना सही न होगा कि वे व्यापार-चक्र को

कि इस मजदूर की प्रत्यक्ष, वास्तविक सीमान्त उत्पादनीयता क्या है, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि उत्पादक इस मजदूर की सीमान्त उत्पादनीयता के मूल्य से कितना होने की आशा करता है —उसका अनुमान कितना है।

प्रत्याशा को निर्धारित करने वाले तत्व—

यह एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तथा जटिल प्रश्न है। इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन है। क्या हम मौजूदा प्रवृत्तियो के यथापूर्व कायम रहने की आशा कर सकते हैं ? उत्तर 'हां' भी है और 'नहीं' भी। उदाहरण के लिये, यदि मौजूदा कीमतो मे वृद्धि की ओर प्रवृति है अर्थात् व बढ रही हैं तो क्या हम यह कह सकते हैं कि वे भविष्य मे बढती ही जायेंगी ? उत्तर है कि कतिपय परिस्थितियो मे वे बढती रहेंगी, लेकिन कुछ अन्य परिस्थितियो म वे भविष्य म गिरने की प्रवृति रखेंगी। अब यहा हमारे लिये भूत को देखना आवश्यक हो जाता है। भूतकाल के इतिहास को देखकर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि आज जो कुछ हो रहा है क्या ऐसा ही भविष्य मे होता रहेगा। जगत की कुछ बातें तो ऐसी होती हैं जिनके भविष्य के बारे मे हमे पूर्ण विश्वास होता है कि जब हम कल प्रात काल सोकर उठेंगे तो हम अपने सम्बन्धियो तथा वातावरण को बिल्कुल भूल नही जायेंगे अर्थात् हमे यह विश्वास होता है कि हमारी स्मरण शक्ति कल भी हमारे पास रहेगी। उसी प्रकार हमें यह विश्वास होता है कि भविष्य मे साधारण मनुष्य दो हाथ पैर वाले ही रहेंगे, चौपाये न हो जायेंगे। इसी प्रकार हम भी विश्वास रखते हैं कि हमारे अनुभव की अन्य वस्तुए भी भविष्य मे ठीक उतरेंगी। लेकिन सब बातो के भविष्य के बारे हम ऐसा विश्वास नही कर सकते। ऊपर कही हुई बातें विश्वास योग्य इसलिये है कि उसमे प्रकृति के नियम निहित हैं। जो बातें मानव स्वभाव तथा हेतुको पर निर्भर हों अनिश्चय उन्ही मे भरा होता है। जहा प्रकृति की समरूपता का प्रश्न है, वहा भविष्य विश्वस्त तथा निश्चय होता है।

आर्थिक विश्लेषण मे हमारे अध्ययन का बहुत कुछ विषय मानव स्वभावो, व्यवहारो, हेतुको तथा निर्णयो आदि से सम्बन्ध रखता है। इनके भविष्य के विषय मे भी इसको छोड और कोई चारा नही कि हम भूत को देखकर अपना अनुमान लगायें। वास्तव मे भविष्य के बारे मे कुछ आशा-दुराशा तथा भविष्यवाणी का आधारभूत ही बन सकता है।

लेकिन भूत के अनुभवो की भी व्याख्या करना कोई आसान काम नही। हम यहा केवल इतना ही कह सकते हैं कि विगत का हमारा अनुभव जितना ही अधिक नियमित होगा, भविष्य का अनुमान लगाने मे वह हमारी उतनी ही अधिक सहायता देगा तथा उतने ही विश्वस्त अनुमान होंगे।

विगत मे घटनाओ के नियमित रूप से उसी क्रम मे घटने से हम भविष्य को विगत का प्रतिरूप मान सकते हैं। यदि कीमतें दीर्घकाल से स्थाई हैं तो हम यह आशा कर सकते हैं कि वे निकट भविष्य मे भी स्थाई रहेंगी। व्यापारी समृद्धि काल

मे अन्त तक यह विश्वास किये रहते हैं कि समृद्धि ऐसी ही बनी रहेगी। अवसाद की अवधि जितनी ही दीर्घ होगी, उसके अन्त होने मे उतना ही अधिक समय लगेगा क्योंकि जितनी ही अधिक यह टिकेगी लोग उतना ही अधिकाधिक विश्वास करते जाते हैं कि यह टिकेगी, इसलिये लोगो मे नैराश्य रहता है जो कि अवसाद की शर्त है। इसलिये जितना ही अधिक लोग इसके टिकने मे विश्वास करते हैं उतनी ही अधिक यह टिकती है।

प्रत्याशा की लोच—

प्रत्याशा को मापने के लिये हिक्स ने 'प्रत्याशा की लोच' के प्रत्यय की स्थापना की है। इसकी परिभाषा करते हुए वह कहते हैं कि "किसी वस्तु की प्रत्याशित भावी कीमतो मे समानुपाती वृद्धि तथा प्रचलित कीमतो मे समानुपाती वृद्धि के बीच की निष्पत्ति को प्रत्याशा की लोच कहते हैं'*। यदि उसी अर्थात् एक ही दर पर कीमतो मे वृद्धि होते रहने की आशा है तो प्रत्याशा की लोच इकाई होगी। यदि वर्तमान कीमतो मे वृद्धि इस बात की सम्भावना प्रकट करती है कि भविष्य मे इससे कम वृद्धि होगी तो प्रत्याशा की लोच इकाई से कम होगी। यदि वर्तमान की कीमत वृद्धि के कारण भविष्य मे कीमत गिरने की सम्भावना पाई जाती है तो प्रत्याशा की लोच ऋणात्मक होगी।

बचताधिक्य तथा उपभोग-न्यूनता सिद्धान्त

(Oversaving and under Consumption Theories)

इस सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। ये सिद्धान्त अमेरिका मे अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इन सिद्धान्तो के विषय मे शिकायत यह है कि यह वैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत नही किये गये हैं। ऐसा कदाचित् इसलिये है कि ये सिद्धान्त बहुधा पेशेवर अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित हुए हैं। ये ऐसे अर्थशास्त्रियों द्वारा प्राय प्रतिपादित हुए हैं, जिनमे अर्थशास्त्र की जटिलताओ को समझाने की क्षमता का अभाव था। उनके सिद्धान्त इतने सरल रूप से प्रस्तुत किये गये कि जनसाधारण ने उनका स्वागत किया, क्योंकि इन सिद्धान्तों मे गरीबी का प्रश्न भी प्रकट हुआ है, जो इतिहास मे एक अत्यन्त हृदयग्राही तथा लोकप्रिय चर्चा सिद्ध हो चुकी है। इन सिद्धान्तों के प्रमुख प्रतिपादकों मे अमेरिका मे **फोस्टर** तथा **कॅचिंग्स मोल्टन** तथा इगलैंड मे **मेजर सी० एच डुगलस तथा हॉबसन** हैं। वास्तव में उपभोग-न्यूनता का सिद्धान्त काफी पुराना है, लेकिन जे० बी० से के नियम (कि प्रत्येक पूर्ति अपनी माग खुद सृजित कर लेती है, इसलिये उत्पादनाधिक्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता) के प्रतिकूल होने से इस सिद्धान्त पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। समाजवादी अर्थशास्त्री ने ही इस पर विचार किया।

इस प्रकार के सिद्धान्त व्याख्या मे भले ही एक दूसरे से कुछ अन्तर रखते हो, लेकिन मूलत वे सब बचत के परस्पर दो विरोधी प्रभावो पर आधारित हैं।

* Value and Capital, p. 205

बचत का अर्थ है एक ओर तो उपभोग मे कटौती और दूसरी ओर विनियोग और इस प्रकार उत्पादन और पूर्ति मे वृद्धि। इसका फल यह होता है कि पूर्ति माग से कहीं अधिक हो जाती है तथा अवनति का कारण बन जाती है। आर्थिक व्याधियो की जड आय तथा धन के वैषम्य मे है।

इस सिद्धान्त की व्याख्या हम पहले तो फोस्टर तथा कैचिग्स के दृष्टिकोण से करेंगे फिर हॉबसन के विचार प्रस्तुत करेंगे। ये दृष्टिकोण इस सिद्धान्त के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं।

फोस्टर तथा कैचिग्स के मतानुसार* समृद्धिकाल मे उपभोक्ताओ की क्रय-शीलता दो प्रकार से कम होती है—एक तो वे बचत अधिक करने लगते हैं, दूसरे, फर्म अपने बढे हुए लाभो का बहुत थोडा भाग उपभोक्ताओ को विभिन्न ससाधनो के पारितोषिक स्वरूप देते हैं, अधिकाश वे स्वय ले लेते हैं। व्यक्तिगत तथा फर्मों द्वारा इस बचत का अर्थ होता है अधिक विनियोग तथा अधिक उत्पादन। जिस मे बचत की जाती है, उस वर्ष कोई परेशानी नही होती, क्योकि यह रकम मजदूरी आदि के रूप म सम्भवत बाट दी जायेगी जिससे कि लोग उन्हें उपभोग की वस्तुओ को खरीदने मे लगा दगे। कठिनाई उस समय आयेगी जब इस बढे हुए विनियाग का फल आयेगा, अर्थात् अधिक उत्पादन राशि बाजार मे आयेगी। वैसी हालत म मजदूरों के पास इतनी क्रय-शक्ति नही होती कि वे सब माल खरीद सकें।

क्रय-शक्ति म कमी बैंको से उधार लेकर पूरी नही की जा सकती, क्योंकि बैंक प्रमुख रूप से उधार देते हैं। उत्पादकों को, जो इस उधार की रकम को अधिक उत्पादन के काम मे लायेंगे और उत्पादन-विक्रय के लाभ के अधिकाश भाग को अपने लिए लेकर पुन उसे विनियोग के काम मे लगायेंगे। इस प्रकार उत्पादन तथा पूर्ति, मागकी अपेक्षा आवश्यक रूप मे अधिक होंगे। फलत अवनति तथा आश्वासन का आना अवश्यभावी है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा-आय की कमी के कारण यह उपभोग न्यूनता उत्पन्न होती है, जितना माल उत्पादित होता है उतने की खपत नहीं हो पाती और इसके दो ही परिणाम हो सकते हैं, या तो माल जमा करके रखा जाय अथवा यह घाटे पर बेच दिया जाए। ये दोनों परिणाम आर्थिक व्यवस्था मे मन्दी तथा अवनति लायेंगे। इसलिये बचत व्यापार चक्र को सदा जन्म देगी। यही व्यापार चक्र के लिये उत्तरदायी है।

हॉबसन का मत†

हॉबसन एक समाजवादी विचार धारा के प्रख्यात अर्थशास्त्री थे। वे इस बात को नहीं मानते कि उपभोग न्यूनता का कारण मुद्रा-आय की अपर्याप्तता होती

* W. T Foster and W Catchings. Profits (1925), Business Without a buyer (1927) and The Road to Plenty (1928),

† J A Hobson The Economics of Unemployment Allen and Unwin, (1922)

है। न वे इसी बात के कायल हैं कि बचत स्वय मे बुरी है (जैसा कि फोस्टर तथा कैचिंग्स का मत है)। हॉबसन बचत को नही, अनुचित बचत को बुरा बताते हैं। हॉबसन की 'बचत' के अन्तर्गत विनियोग भी शामिल है। वे ऐसे उत्पादन के साधनो मे विनियोग करने पर आपत्ति करते हैं जिससे कि माग से अधिक माल का उत्पादन हो जाता है। उनका यह मत नही है कि बचत का अर्थ आवश्यक रूप से उपभोक्ताओ के हाथ मे क्रयशक्ति का ह्रास लाना है। अवनति इसलिये आती है कि बचत-दर तथा उपभोग पर की जाने वाली व्यय की दर मे समुचित समन्वयन नही हो पाता। यदि आर्थिक व्यवस्था मे स्थायित्व लाना है तो बचत तथा उपभोग मे समुचित समन्वयन बनाये रखना पडेगा।

लेकिन बचत तथा उपभोग मे समन्वयन, तथा सस्थिति पूंजवादी व्यवस्था मे अधिक काल तक नही टिक सकती क्योकि यहा-वितरण मे बडी वैषम्यता होती है। जहा समाज का ढाचा एक पिरामिड की भाति हो (जिसकी पतली चोटी उन मुट्ठी भर धनिको की प्रतीक है जिनकी आय उच्चतम है, लेकिन जैसे-जैसे नीचे उतरें पिरामिड की काया बढती जाती है, अर्थात् अधिकतर उपभोक्ताओ की आय बहुत कम होती है) वहा बचत तथा उपभोग की सस्थिति को देर तक बनाये रखना असभव है। औरो की भाति धनी भी आदतो के शिकार होते हैं, आय बढने पर उनके उपभोग का स्तर तो पूर्ववत् रहता है, (फिर, उसे वह बढायें भी तो कितना बढायें?) बढती है बचत, जिसका विनियोग अधिक उत्पादन के काम मे किया जाता है। इससे उपभोग वस्तुओ की पूर्ति धीरे-धीरे इतनी बढ जाती है कि उसकी खपत केवल हानि उठाकर कम दाम पर बेचने से ही कुछ समय तक हो सकती है, वर्ना वह बिना बिके ही पडी रह जायेगी। यदि आय का वितरण इतना विषम न होता तो बचताधिक्य तथा उत्पादन आधिक्य के यह प्रश्न उत्पन्न न होते।

हॉबसन के मतानुसार ब्याज-दर तथा कीमतों म कमी द्वारा बचताधिक्य तथा उत्पादनाधिक्य को नही रोका जा सकता, जैसा कि कुछ अर्थशास्त्रियों का अनुमान है। इनके द्वारा बचत तथा उपभोग पर व्यय सस्थिति नही लाई जा सकती। धनियों के हाथ मे पू जी स्वत एकत्रित होती रहती है, फिर ब्याज के थोडे हेर-फेर की धनियो को क्या परवाह हो सकती है, विशेषत उस समय जब वे उस पू जी का विनियोग मे लगाकर अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा करते हैं और यदि हम यह मान भी लें कि ब्याज की दर मे कमी होने से बचत कम हो जायेगी तो भी यह प्रभाव काफी समय के बाद पडेगा। तब तक व्यापार चक्र अपना एक चरण पूरा कर चुकेगा।

रही कीमत मे कमी की बात, तो वह भी इतनी प्रभावोत्पादक नही बनाई जा सकती कि विनियोगाधिक्य के फलस्वरूप जो माल उत्पादित किया गया है उस सब की पूरी खपत हो स ।

वास्तव मे, अवसाद ही बचत तथा उपभोग व्यय के बीच पुन सस्थिति ला सकता है। यह सस्थिति काफी अनुपयोगीकरण के बाद आती है।

इस प्रकार आय-वैषम्यता हमारी आर्थिक व्यवस्था के स्थायित्व की सबसे बडी दुश्मन है। व्यापार चक्र की यही जननी है, अत व्यापार चक्र की यातनाओं से आर्थिक व्यवस्था को मुक्त करने के लिये इस वैषम्य को दूर करना ही एकमात्र उपाय है।

हम कह चुके हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने उपभोग-न्यूनता के सिद्धान्त को स्वीकार करने से इन्कार इसलिये किया था कि वह जे० बी० से० के नियम के विरुद्ध थी। लेकिन तीसरे दशक की भीषण मन्दी के बाद उपभोग न्यूनता के सिद्धान्त को काफी प्रोत्साहन मिला है। केन्ज-हैन्सेन के मतावलम्बी भी इस सिद्धान्त के स्थूल रूप से पोषक हैं। यद्यपि यह सिद्धान्त हमे व्यापार चक्र का पूरा चित्र नही देता लेकिन इसमें कुछ मौलिक सत्य हैं जो व्यापार चक्र की क्रिया-विधि पर काफी प्रकाश डालते हैं।

व्यापार-चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री व्यापार चक्र को शुद्ध मौद्रिक घटना मानते हैं। आर० जी० हॉट्रे इनमे से प्रमुख हैं। इन अर्थशास्त्रियो के मतानुसार यदि मुद्रा की पूर्ति लोचदार न हो तो व्यापार चक्र का इस रूप मे आर्थिक व्यवस्था मे आना असम्भव है। लेकिन आज के युग मे जब सर्वत्र बैंको का बोल-बाला है मुद्रा की पूर्ति काफी लोचदार होती है, जिससे कि इसे घटाया-बढाया जा सकता है। जब ऐसी घट-बढ की जाती है तो इसका प्रभाव वर्द्धमान तथा सचित रूप से कार्य करता है। मुद्रा-पूर्ति मे परिवर्तन ही व्यापार-चक्र का कारण निमित्त (Efficient cause) है। बैंको का आचरण इस सम्बन्ध मे अत्यन्त त्रुटिपूर्ण तथा असयत होता है। व्यापारिक क्षेत्र मे स्थिरता लाने के लिये वे मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण क्या करें, उल्टे वे इसे बढाते तथा सकुचित करते रहते हैं और प्राय गलत मौको पर, अर्थात् जब सकुचन किया जाना आवश्यक है तो प्रसार करते हैं और जब प्रसार करने का समय होता है तो सकुचन करते हैं। इस प्रकार हॉट्रे कहते हैं कि "कुछ मौद्रिक तथा साख गति-विधियाँ ही देखी जाने वाली व्यापार-चक्र घटनाओ की आवश्यक तथा निमित्त कारण होती हैं" और "इन घटनाओ की आवधिकता (Periodicity) का विवेचन किया जा सकता है उन मौद्रिक प्रवृत्तियो द्वारा, जो इन गतियो को क्रमिक बनाती हैं तथा इनका प्रसार कई वर्षों की अवधि पर फैला देती हैं।"*

हॉट्रे का सिद्धान्त

हॉट्रे को मौद्रिक सिद्धान्त के प्रतिनिधि-स्वरूप लिया जा सकता है। हॉट्रे के अनुसार "क्षमशील माँग (Effective demand) मे परिवर्तन, जोकि व्यापार-चक्र

* *R. G. Hawtray* From Quarterly Jcunral of Economics May 1927 Pp 471—486

का वास्तविक सार है, का श्रोत बैंको की साख म परिवर्तन है।" तथा "व्यापार-चक्र एक मौद्रिक घटना है क्योंकि सामान्य माग स्वय एक मौद्रिक घटना होती है।" अब हम हॉट्रे की कुछ परिभाषाओं की चर्चा कर फिर उनके सिद्धान्त का सक्षिप्त मे विवेचन करेंगे।

उपभोक्ताओं की आय—मुद्रा मे व्यक्त की गई कुल आय जो राष्ट्रीय आय के समतुल्य होती है उपभोक्ताओ की आय कहलाती है।

उपभोक्ताओ का व्यय—आय मे से कुल मौद्रिक-भुगतान, जिसमे विनियोग भी शामिल होता है उपभोक्ताओ का व्यय कहलाता है। उपभोक्ताओ की आय ही क्षमशील माग का सृजन करती है। जैसा कहा गया है, इसमे उपभोग तथा विनिमय दोनो प्रकार के व्यय शामिल होते हैं।

नकद कोष—एक निश्चित अवधि मे व्यक्तियो तथा फर्मों की आय तथा व्यय का अन्तर ही नकद कोष कहलाता है। इसमे नकद तथा बैंक निक्षेप दोनो शामिल हैं, तथा समाज की कुल मुद्रा-पूर्ति इन्ही से मिलकर बनी होती है।

कुल नकद कोष = अ व्ययित सीमान्त = समाज की कुल मुद्रा-पूर्ति। यह कुल राशि स्थिर होती है, इसको केवल बैंक की साख मे परिवर्तन करने अथवा स्वर्ण की निर्यात अथवा आयात करके ही घटाया-बढाया जा सकता है। व्यक्तियों के नकद कोष एक व्यक्ति से दूसरे को स्थानान्तरित किये जा सकते हैं।

चलन का वेग—(आय-वेग) किसी दिय हुये समय मे उपभोक्ताओ के व्यय तथा नकद कोष के बीच की निष्पत्ति चलन-वेग कहलाती है।

हॉट्रे का सिद्धान्त मौद्रिक सस्थिति स प्रारम्भ होता है। मौद्रिक सस्थिति वह स्थिति है जबकि व्यक्तियो तथा फर्मों के नकद कोष मे परिवर्तन नही होता तथा जब उपभोक्ताओ की आय बराबर होती है उनके व्यय के। इसी स्थिति मे उपभोक्ताओ की माग क्षमशील माग कहलाती है। यह सस्थिति बहुत नाजुक होती है तथा कई कारणों से भग हो सकती है, जैसे नये आविष्कार, विनिमय करने के कुछ नये क्षेत्रो का अन्वेषण अथवा मनोवैज्ञानिक कारण इससे स्थिति को भग कर सकते हैं या किसी कारण-वश व्यापारियो ने यदि अधिक नकद बाजार मे लाना शुरू किया अथवा बैंकों ने अपनी साख बढानी अर्थात् उधार देना शुरू किया तो भी यह सस्थिति भग हो जायेगी। यदि प्रत्याशा अच्छी हुई तो व्यापारी अपने स्टाक को बढाना शुरु करेंगे तथा नकद मुद्रा अपनी तिजोरियो म से निकालेंगे।

इसी प्रकार बैंको के रिजर्व मे अधिकता आने पर बैंक अपनी ब्याज दर मे कमी लाकर अधिक उधार देना प्रारम्भ कर सकते हैं। जो कुछ भी कारण हो जब बैंक बाजार मे अपने उधार द्वारा अधिकाधिक क्रय शक्ति छोडना शुरू करते हैं तो व्यापार-चक्र का उत्थान-चरण प्रारम्भ हो जाता है। हॉट्रे के अनुसार बैंक जो ऋण थोक व्यापारियो को देते हैं उसी पर ब्याज मे परिवर्तन द्वारा वे मुद्रा-पूर्ति को नियन्त्रित करते हैं। चाहे व्यक्ति अपने नकद को बाजार मे लायें अथवा बैंक अधिक ऋण

द्वारा समाज मे मुद्रा-राशि मे वृद्धि करे, दोनो प्रकार से उपभोक्ता के व्यय मे वृद्धि होती हैं। लोगो की ग्राय मे वृद्धि होती है। यद्यपि यह ग्रावश्यक नही कि बढी हुई ग्राय को लोग व्यय ही कर दें, वे इन्हे बचाकर नकद के रूप मे रख भी सकते हैं फिर भी इस सम्बन्ध में सामान्य प्रवृत्ति के ग्राधार पर हॉटे का मत है कि इस बढी हुई ग्राय को लोग व्यय करते हैं। इससे क्षमशील माँग बढती है। क्षमशील माग मे इस वृद्धि का परिणाम व्यापार विस्तार को क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा कई गुना बढाना होता है। व्यापारी ग्रधिकाधिक स्टाक की माँग करेंगे जिससे कि वे ग्रपनी नकद मुद्रा राशि को बाजार में छिटका ही देंगे, ऊपर से बैंको से भी उधार लेंगे। इससे मुद्रा-राशि मे ग्रौर वृद्धि होगी। बैंक उधार देकर वास्तव मे ग्राय का सृजन करते हैं। इससे सामान्य कीमतें बढने लगती हैं। इससे व्यापार विस्तार को ग्रौर प्रेरणा मिलती है। उत्पादन को ग्रौर बढाने के लिये ऋण की माग होती है। लोग ग्रपने पास की सारी मुद्रा राशि व्यापार मे लगाकर लाभ कमाने की चेष्टा करने लगते हैं। इससे मुद्राराशि मे ग्रौर भी वृद्धि होती है, क्योंकि मुद्रा का चलन वेग बढ जाता है, इससे क्षमशील माग तथा व्यापार विस्तार ग्रौर बढते हैं। एक प्रकार से ग्रब मुद्रा स्फीति की ग्रवस्था पैदा हो जाती है, ग्रार्थिक व्यवस्था समृद्धि के शिरो बिन्दु पर पहुँच जाती है। यदि बैंक उधार देना बन्द न करें तो यह व्यापार विस्तार बढ़ता ही जायेगा। लेकिन धीरे-धीरे बैंकों का नकद कोष खाली होने लगता तथा रिजर्व खतरे के बिन्दु से नीचे जाने लगता है। ग्रत मजबूर होकर उन्हें ऋण देने पर नियन्त्रण लगा देना पडता है। पहले वे यह नियन्त्रण व्याज-दर मे वृद्धि करके करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन जब वे ऐसा करने पर विवश होते हैं तब ग्रार्थिक व्यवस्था की बागडोर हाथ से निकल चुकी होती है, उनके रिजर्व का गिरना व्यापार चक्र के उत्थान काल की ग्राखिरी चरण है। नतीजा यह होता है कि व्यापार विस्तार को ग्रब बिना सकट की ग्रवस्था पैदा किए नियन्त्रित करना ग्रसम्भव हो जाता है। ग्रत बैंक जब उधार देना एकाएक बन्द कर देते हैं तो ग्रवनति प्रारम्भ हो जाती है।

धीरे-धीरे उधार मिलना ग्रसम्भव सा हो जाता है। इस कारण विनियोग कम हो जायेगा। लोग स्टाक खरीदना बन्द कर देंगे। बैंक ऋण वापस मांगने लगेंगे। हर व्यक्ति मुद्रा की तगदस्ती महसूस करने लगता है। क्षमशील माँग कम हो जाती है। उत्पादन, तथा ग्रन्य ग्रौद्योगिक क्रियाग्रों मे शिथिलता ग्राने के कारण लोगों की ग्राय ग्रौर कम हो जाती है। इससे क्षमशील माँग में ग्रौर कमी ग्राती है। फल यह होता है कि कीमतें गिरती ही जाती हैं तथा मुद्रा का चलन वेग भी कम होता जाता है। मुद्रा-ग्रकुचन क्रमश बढ़ता ही जाता है। फलत क्षमशील माग का बिल्कुल पतन हो जाता है। ग्रवसाद सवत्र फैल जाता है।

लेकिन कुछ समय बाद ग्रार्थिक व्यवस्था मे जागरण के चिन्ह फिर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। पुनरुत्थान की शक्तियां पुन. काम करने लगती हैं। ग्रवसाद काल जैसे जैसे ग्रागे बढता है बैंको के पास बेकार रिजर्व बढता जाता है। यदि ग्रवसाद ग्रन्तर्राष्ट्रीय न हुग्रा तो कीमतो के गिर जाने पर निर्यात भी बढ जाती है। इससे देश

काल इतना लम्बा हो जाता है। सच यह है कि यदि भविष्य मे लाभ कमाने की आशा उत्पादक को हुई तभी वह उधार लेकर काम करेगा। अर्थात् किसी उत्पादक को उधार लेने के लिये केवल ब्याज-दर का नीचा होना ही आवश्यक नही, और भी बहुत सी बातें प्रमुख होती हैं, यदि भविष्य उज्जवल है तो ब्याज दर ऊँची होने पर भी उत्पादक उधार लेगा। इसी प्रकार कतिपय अन्य बातें भी हाट्रे के विवेचन मे असगत हैं। जैसा हमने ऊपर कहा है, मुद्रा तथा बैंक आज की आर्थिक व्यवस्था के अभिन्न अग हैं तथा इनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक है, फिर भी इनमे इतनी सामर्थ्य नही कि ये सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को चक्रीय रूप मे उद्वेलित करते रहे, फिर यह सिद्धान्त हमे यह भी बताने मे असफल है कि किसी देश विशेष की मौद्रिक घटनायें कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कैसे अपना प्रभाव डालती हैं।

विनियोगाधिक्य तथा पूंजी-न्यूनता के सिद्धान्त

(Over-investment and Capital Shortage Theories)

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि व्यापार चक्र का कारण उपभोग-न्यूनता तथा बचताधिक्य है, ऐसे अर्थशास्त्रियो मे हॉब्सन, माल्थस, फोस्टर तथा कैचिंग्स आदि सम्मिलित हैं। लेकिन अर्थशास्त्रियो का एक वर्ग ऐसा भी है जो कि इसके ठीक विपरीत भावना रखता है, अर्थात् इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार, व्यापार-चक्र का कारण बचत-न्यूनता तथा उपभोगाधिक्य है, समृद्धि इसलिये समाप्त नही हो जाती कि उपभोक्ताओ की माँग मे कमी आ जाती है, (जैसा पहले बताये हुए मतवाले सोचते हैं) यह इसलिए समाप्त हो जाती है कि पूंजी की कमी पैदा हो जाती है।

ऐसे सब अर्थशास्त्री जो पूंजी-न्यूनता को व्यापार-चक्र का कारण बताते हैं इस बात पर एक मत हैं कि पूंजी-उपकरण की उत्पादन करने वाले उद्योगो मे उन्नति-अवनति ही मूलत. व्यापार चक्र के लिये उत्तरदायी होती है। ऐसे अर्थशास्त्रियो मे कुछ तो ऐसे हैं जो अमौद्रिक विनियोगाधिक्य पर जोर देते हैं, अन्य मौद्रिक विनियोगाधिक्य पर।

आर्थर स्पीथॉफ (Arthur Spiethoff) तथा कैसेल (Cassel, Gustav) अमौद्रिक विनियोगाधिक्य सिद्धान्त के प्रतिनिधि हैं तथा हेयक (F. A. Hayek) मौद्रिक विनियोगाधिक्य के।

स्पीथाफ का सिद्धान्त—

स्पीथाफ के सिद्धान्त ने कैसेल तथा शुम्पेटर दोनो को प्रभावित किया है। यह सिद्धान्त, अमौद्रिक विनियोगाधिक्य सिद्धान्तो का प्रतिनिधि स्वरूप माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र की ऊर्ध्वगामी कला का जन्म तब होता है जब नये अन्वेषण, नये बाजार आदि के उपस्थित होने के कारण लाभदायक विनियोग के सुअवसर की आशा पैदा होती है। पूंजी उपकरण मे लगे हुये उद्योगो पर इसका

प्रभाव पड़ता है और वे इन उपकरणों का उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं तथा अपने प्लान्ट का भी विस्तार करना शुरू करते हैं।

आने वाली समृद्धशालिता से लाभ उठाने के लिये फर्म शीघ्रातिशीघ्र अपनी उत्पादन शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। लोहा इस्पात, सिमेंट आदि निर्माण-कार्य में लिए आवश्यक सामग्रियों की माग बढ़ती है। इससे उपयोगीकरण बढ़ता है तथा जनसधारण की आय मे वृद्धि होती है। आय मे वृद्धि होने से वे अधिक उपभोग वस्तुओं की माग करने लगते हैं। कीमतो मे वृद्धि आती है और लाभ भी बढ़ता है क्योंकि लागतें तथा मजदूरी अब भी विक्रय कीमतों से काफी पीछे होती हैं। यह समृद्धि की अवस्था होती है।

लेकिन पूंजी-उपकरण वाले उद्योगों का विस्तार निश्चित काल तक नही होता जायेगा। पूंजी उपकरणों तथा प्लान्टो की पूर्ति इतनी बढ़ जाती है कि कुछ समय के लिये इनकी मौजूदा माग पूर्णतया तुष्ट हो जाती है। फर्मों को यह विश्वास हो जाता है कि उपभोग तथा अन्य ऐसी वस्तुओं की बढ़ती हुई माग को पूरा करने के लिए उनके पास काफी प्लान्ट तथा उपकरण हैं। फल यह होता है कि नये पूंजी-उपकरणों पर विनियोग रुक जाता है तथा विनियोग केवल पुराने, घिसे हुये उपकरणों की प्रति स्थापना तथा मरम्मत तक ही सीमित हो जायेगा। नतीजा यह होगा कि बहुत से नव-निर्मित पूंजी-उपकरण बेकार पड़े रह जायेंगे, अर्थात् पूंजी-उपकरणों के उत्पादनाधिक्य की अवस्था पैदा हो जायेगी।

व्यापारानिश्चयता के समय भी हो सकता है कि कुछ प्लान्ट अभी अधूरे हों तथा पूंजी उपकरणों के लिये कुछ आर्डर भी अभी पड़े हों, लेकिन पूंजी बाजार मे तनाव आ जाने के कारण इनके लिये धन जुटाना कठिन हो जाता है। समृद्धि काल मे मुद्रा बचत की कमी बढ़ती जाती है। लाभ जो कि पूंजी-उपकरणों के क्रय के काम मे लगाया जा सकता था वह भी कम होता जाता है क्योंकि एक ओर तो मजदूरी तथा लागतें बढ़ती जाती हैं और दूसरी ओर बढ़े हुये उपयोगीकरण तथा उत्पादन के कारण मजदूरो और प्रबन्धकों की कार्यक्षमता मे भी ह्रास आ जाता है।

स्पीथाफ के अनुसार कठिनाई यह नहीं कि ऐसे वक्त विनियोग के लिये धन की कमी होती है, बचत की कमी केवल यह बताती है कि उपभोग-माल की अपेक्षा पूंजी-उपकरणों का उत्पादन अधिक हो गया है। बैंक की साख बढ़ाकर विनियोग करने के लिए कोष बढ़ाया जा सकता है। लेकिन बचत तथा विनियोग की खाई इससे नहीं पाटी जा सकती। इसका कारण यह कि माल की अनानुपातिक पूर्ति के कारण यह संकट उत्पन्न होता है। यद्यपि पूंजी उपकरण बहुतायत से है लेकिन अन्य पूरक तत्वों, मजदूर शक्ति तथा मजदूरों की जीविका के साधनों की अपेक्षातया कमी होती है। जैसे जैसे समृद्धि बढ़ती है, बचत का प्रवाह कम होने लगता है और उपभोग मालों की माग के बढ़ने के कारण मजदूर तथा अन्य समादन पर्याप्तिरूपेण

उपकरण के उद्योग की ओर नहीं खींचे जा पाते। सारांश यह कि आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन-आधिक्य तथा उत्पादन-न्यूनता दोनों हालतें उपस्थित होती हैं उत्पादनाधिक्य होता है पूंजी-उपकरण वाले उद्योग में तथा उत्पादन-न्यूनता होती है उपभोग-वस्तुओं के उद्योगों में। इस प्रकार, समृद्धि की चोटी पर हम यह दो विरोधी चीज मिलती हैं। धीरे-धीरे यह पूंजी-उपकरणों के उत्पादन का बाहुल्य सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में फैल जाता है। अब हम हेयक के सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

मौद्रिक विनियोगाधिक्य सिद्धान्त

(Monetary Cver-investment Theory)

पूंजी उपकरणों के उद्योगों में, उपभोग-वस्तुओं वाले उद्योगों की अपेक्षा, तेजी मन्दी के चक्र क्या अधिक तीव्रता तथा हिंसात्मक रूप से चलते हैं? किसी भी व्यापार-चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त को तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक कि वह इस प्रश्न का भली भांति, सतोषजनक उत्तर न दे। हाट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त यह उत्तर देने में असमर्थ है, यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत कुछ सही बात कहता है।

जिस सिद्धान्त का उल्लेख नीचे किया जा रहा है वह इस कमी को दूर करने की चेष्टा करता है। यह सिद्धान्त मौद्रिक इसलिए है कि इसके अनुसार व्यापार चक्र का कारण है बैंकों की साख में लोच। लेकिन यह मौद्रिक सिद्धान्त के अतिरिक्त आर्थिक-व्यवस्था में साख तथा दोनों प्रकार के माल तैयार करने वाले उद्योगों के बीच के सम्बन्ध को भी बनाता है। इस सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ प्रवतक एफ० ए० हेयक (F. A. Hayek) हैं। निम्नलिखित सिद्धान्त मुख्यत उन्हीं के विचारों का अनुसरण करता है।*

इस सिद्धान्त का सारांश यह है कि उत्पादक, भविष्य की आर्थिक परिस्थितियों का गलत अन्दाजा लगाते हुए, उपलब्ध भौतिक तथा वित्तीय सत्साधनों का अतिक्रमण कर अपने उद्योग-यन्त्रों व प्लॉन्ट तथा उत्पादन उपकरणों को बिठाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने में वे बहुत से ऐसे कार्य भार उठा लेते हैं जिनको भविष्य में निभाना असम्भव हो जाता है और ऐसे कार्य भार तथा संविदाओं को पूरा न होना ही आर्थिक व्यवस्था में व्यापारिक पतन लाता है।

इस सम्बन्ध में हेयक के द्वारा प्रयुक्त कुछ पदों का अर्थ समझ लेना समीचीन होगा।

उत्पादन का ढांचा :—किसी दिये हुए समय पर आर्थिक व्यवस्था के सत्साधन उत्पादन के विभिन्न 'चरणों' पर कार्य में लगे होते हैं। वे चरण (Stages), जो उपभोक्ता से दूर होते हैं, उत्पादन के उच्चतर चरण कहे जा सकते हैं। इन 'उच्चतर

---

* हेयक का सिद्धान्त मूलतः पूंजी के आस्ट्रियन सिद्धान्त (जिसके प्रतिपादकों में प्रमुख थे बाम-बॉवर्क) का अनुसरण करता है।

चरणों' पर कच्चे माल का उत्पादन, पूंजी उपकरणों का निर्माण फैक्टरी आदि के लिये आवश्यक इमारतों का निर्माण होता है। ये 'चरण' 'उच्चतर' इसलिये कहलाते हैं कि अभी उपभोग सामग्री के तैयार होने तथा उनमे उपभोक्ताओं की तुष्टि होने मे बहुत समय लगेगा। उत्पादन के इसके बाद के चरण जिसमे उपभोग वस्तु उत्पादित की जा रही है, 'निचले चरण' कहलाते हैं। इस प्रकार उत्पादन के चरण अत्यन्त निकट से लेकर पर्याप्त दूरी तक हो सकते हैं। उत्पादन के ये विभिन्न चरण मिलकर उत्पादन के ढाचे कहलाते है। उत्पादन का ढाचा, समाज द्वारा अपनी आय को, बचत तथा उपभोग के बीच वितरित करने सम्बन्धी निर्णय पर आधारित होता है। समाज द्वारा बचत का अर्थ यह होता है कि वह अपनी आय को उत्पादन के 'उच्चतर चरणों' पर लगाना चाहती है, अर्थात् वह पूंजी उपकरण के उत्पादन तथा भविष्य मे आय उत्पन्न करने वाले काम मे आय को विनियोगित करना चाहता है। इससे पूंजी उपकरणों का उत्पादन बढता है। आय को उत्पादन के 'निचले चरणों' पर लगाने का अर्थ यह होगा है कि समाज उपभोग वस्तुओं का उत्पादन बढ रहा है। उत्पादन के ढाचे में क्रमिक परिवर्तन ही व्यापार चक्र का सृजन करता है।

ब्याज की दर—उपभोक्ता अपनी आय को दो भागो मे विभक्त करता है— व्यय तथा बचत। जो कुछ वह उपभोग पर खर्च करता है वही व्यय है, उसकी आय के दूसरे भाग को 'बचत' कहते हैं। इसी बचत का प्रवाह, पूंजी-बाजारों से गुजरते हुए पूंजी उपकरण के उत्पादकों के हाथ मे जाता है। यही प्रवाह या प्रक्रिया, विनियोग कहलाती है। ब्याज दर का काय है, 'बचत' तथा 'विनियोग' मे साम्य स्थापित करना। 'ब्याज की प्राकृतिक दर', अथवा 'ब्याज की सस्थिति दर' ब्याज की वह दर है जिस पर 'बचत' तथा 'विनियोग' म साम्य स्थापित हो जाता है, अर्थात् बाजार मे उधार दी जाने वाली रकम की माग तथा पूर्ति बराबर हो जाते हैं। यदि ब्याज दर इससे ऊची हुई तो बचत इतनी अधिक हो जाती है कि इसका विनियोग नही हो पाता और ब्याज दर यदि 'प्राकृतिक दर' से नीची हुई तो 'बचत' कम होगी जिससे कि विनियोग की माग पूरी नही हो पायेगी। यदि ब्याज की दर ठीक-ठीक कार्य कर रही है तो बचत तथा व्यय के समतुल्य ही पूंजी उपकरणों तथा उपभोग वस्तुओं का उत्पादन होगा। यदि बचत म वृद्धि होती है तो ब्याज दर गिरेगी तथा उत्पादन मे आय का अधिक भाग जायगा। यदि बचत मे ह्रास आता है तो ब्याज दर बढेगी तथा उपभोग वस्तुओं के उत्पादन की ओर आय का अधिक भाग लगेगा।

'ऐच्छिक' बचत तथा बलात्' बचत
('Voluntary' Savings and 'Forced Savings')

जब व्यक्ति इच्छानुसार अपनी आय का कुछ भाग उपभोग से बचाता है तो उसे 'ऐच्छिक बचत' कहा जाता है। लेकिन जब कीमतों के अधिक बढ जाने के

कारण कोई उपभोग की पहले से कम वस्तुएं खरीदने लगता है तो इसे 'बलात् बचत' कहते हैं। यही बलात् बचत विनियोगाधिक्य के लिये मूलतः उत्तरदायी होती है।

अब हम मुख्य सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

हेयक का सिद्धान्त इस उपधारणा के साथ शुरू होता है कि आर्थिक व्यवस्था सस्थिति मे है। व्यापार-चक्र इस सस्थिति के भग होने को कहते हैं। सस्थिति की हालत में ब्याज की दर 'प्राकृतिक' होती है जिससे कि बचत तथा विनियोग समतुल्य होते हैं। उत्पादन का ढाचा उसी रूप मे समायोजित होता है जिस अनुपात मे कि राष्ट्रीय आय, पूंजी तथा उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे बटी होती है। अनुपयोगित ससाधन समाज मे नही है, सबका उपयोगीकरण हो चुका है, जिसका अर्थ यह हुआ कि यदि एक क्षेत्र मे उत्पादन बढता है तो इसके लिये दूसरे क्षेत्र से ससाधनो को हटाकर पहले क्षेत्र मे ले आना होगा अर्थात् एक क्षेत्र म उत्पादन कम करके ही दूसरे क्षेत्र मे उत्पादन बढाया जा सकता है। अथात् यदि (सस्थिति की अवस्था में) हम पूंजी उपकरणो का उत्पादन बढाना चाहे तो हमे उपभोग वस्तुओं के उत्पादन म कमी करनी पडेगी।

हेयक के अनुसार, उत्पादन के ढाचे मे परिवर्तन ही व्यापार चक्र का सृजन करता है। समृद्धि काल में उत्पादन अवधि मे दैर्घ्य तथा अवसान काल मे उत्पादन अवधि में लघुता होती है। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि समृद्धि काल मे उत्पादन के 'उच्चतर चरणो मे (अर्थात् पूंजी उपकरण आदि के उत्पादन में) 'निचले चरणों' की अपेक्षा अधिक विकास होता है तथा अवसान काल मे ठीक इसके विपरीत होता है। (अर्थात् उपभोग वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है।)

उत्पादन के ढाचे मे परिवर्तन निर्भर होता है बचत तथा व्यय० की सापेक्ष दरों पर। जब बचत की पूर्ति बहुतायत से है तथा ब्याज की दर नीची है तो उत्पादन मे दैर्घ्य आता है तथा जब बचत की पूर्ति कम तथा ब्याज की दर अधिक हो जाती है तो उत्पादन शृङ्खला लघु हो जाती है।

अब मान लिया कि सस्थिति, बैंकों द्वारा साख मे † वृद्धि करने के कारण भग होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र के ऊर्ध्वगामी अवस्था मे विनियोग, ऐच्छिक बचत से अधिक हो जाता है। ऐसा बैंको की साख निर्माण की क्षमता के कारण होता है। बैंकों मे 'साख' निर्माण करने की क्षमता होती है। जब

---

० व्यय का अर्थ उपभोग पर खर्च करना।

† यह साख मे वृद्धि दो प्रकार से आ सकती है। या तो बैंको का रिजर्व (निक्षेप) बढ जाने के कारण उन्हें बाजार ब्याज दर कम करनी पडती है या प्रत्याशा बढने के कारण उत्पादक अधिकाधिक उधार की माग करके ब्याज की दर बढा देते हैं।

कोई बैंक अपने किसी ग्राहक को उधार देता है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह उसे नकद दे देता है। बहुधा वह अपने इस ग्राहक के हिसाब में यह उधार दी जाने वाली रकम जमा कर लेता है, और ग्राहक अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे चैक द्वारा वह रुपया निकाल सकता है। यह ग्राहक जब माल के बदले अन्य व्यक्तियों को चैक देता है तो भी बहुधा उन सब चैकों का भुगतान बैंक को नहीं देना पड़ता क्योंकि चैक पाने वाले में से बहुतों का एकाउन्ट इस बैंक में होगा, अतः इन लोगों के चैक का रुपया बैंक अपने पहले ग्राहक (जिसने ऋण लिया था तथा चैक जारी किया था) के हिसाब से निकाल कर चैक जमा करने वाले के हिसाब में डाल देते हैं। इस प्रकार बैंक अपने नकद ससाधन से कई गुनी साख का निर्माण कर सकते हैं। व्यापार के प्रसार के समय जब उधार की माग बढ़ जाती है तो बैंक 'उधार' देना शुरू करते है। साख का इस प्रकार निर्माण वह तब तक करते जा सकते है, जब तक कि उनका 'नकद निक्षेप' उनको अनुमति दे। फल यह होता है कि क्रय-शक्ति में वृद्धि होनी प्रारम्भ होती है। उत्पादक इन उधारों से अपने उत्पादन के माध्यम को बढाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि यह उधार अल्पकालीन अवधि के लिये ही दिये जाते हैं लेकिन इनकी अवधि बार बार बढ़ाई जा सकती है जिससे कि उत्पादक व्यवहार में इन्हे दीर्घकालीन ही समझना है। इस प्रकार उत्पादकों के हाथ मे ऐसी रकम पड जाती है जिसे वे स्थाई विनियोग मे लगा सकते हैं। फलत वे उपभोग माल तैयार करने वाले उद्योगो से ससाधनो को पूँजी उपकरण वाले उद्योगो में खीचते हैं। मुद्रा प्रसार से कीमतें तो बढ जाती हैं लेकिन उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति तो अभी पूर्ववत् है (जो क्रय शक्ति बैंको की साख द्वारा बढ़ी है वह तो उत्पादकों के हाथ मे पड गई, उपभोक्ताओं को तो वह मिली नहीं) अत कीमतों के बढ जाने पर वह अब कम उपभोग वस्तुएं खरीदेंगे। बैंक द्वारा सृजित मुद्रा स्फीति के कारण उन्हें अपने उपभोग से कुछ अंश तक विरत रहना पड रहा है।* नतीजा यह होता है कि उपभोग वस्तु के निर्माण करने वाले उद्योगो में सकुचन आता है तथा इस क्षेत्र से अधिकाधिक समाधन पूँजी वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र में स्थानान्तरित होने लगते हैं। उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे कमी इस प्रकार दोनो तरफ से आती है—एक तो बैंकों द्वारा दी गई अधिक क्रय शक्ति से पूँजी वस्तु के उत्पादक ससाधनो को लालच देकर उपभोग वस्तु उद्योगो से खीच लेते हैं, दूसरे माग की कमी के कारण भी उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे ह्रास आता है।

व्यापार उन्नत होते-होते ऐसे स्थान पर पहुच जाता है जहा कि एक ओर तो शुरू किये हुए विनियोग के कामों की लागत बढ जाती है, दूसरी ओर, उनको पूरा करने के लिये आवश्यक कोष की भी कमी हो जाती है।

---

* दूसरे शब्दो मे, उन्हें 'बलात्' बचत करनी पड रही है।

कीमतें बढने लगती हैं और बैंको से अधिकाधिक उधार की माग की जाने लगती है, बैंकों के साख निर्माण की भी तो सीमा है। जब बैंको का रिजर्व बहुत घट जायगा तो आखिर उन्हे उधार देना बन्द ही करना पडेगा, नतीजा यह होगा कि आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा सकुचन आ जाता है। फिर जैसे-जैसे उधार की माग बढती गई, वैसे-वैसे ब्याज दर भी बढती गई। फलत पूजी उपकरण के उत्पादको को धीरे-धीरे उधार लेना कम लाभदायक भी दिखाई पडने लगा। जब उधार का स्रोत बन्द हो गया तो अब पूजी उपकरण के उत्पादको के पास अपने अधूरे विनियोग कार्यों को पूरा करने की सामर्थ्य न रही। आर्थिक व्यवस्था को समृद्धि से अवनति पथ पर ढकेल देने के लिये यही काफी है।

फिर यह स्थिति और भी गम्भीर इसलिये हो उठती है कि शुरू किये गय विनियोग कार्यों की लागतें भी अब तक काफी बढ गई। बढते हुये विनियोग कार्यों ने मजदूरो तथा ससाधनों के अन्य स्वामियो के हाथ मे काफी क्रय शक्ति दे दी। फल यह हुआ कि अब उपभोग वस्तुओं की माग बढ गई। माग बढने पर उपभोग वस्तुओ के उत्पादक भी ससाधनों का बढ-चढ़कर दाम लगाकर उन्हे पूजी उपकरण के उत्पादन क्षेत्र से खींचने का प्रयत्न करने लगे। अत ससाधनों की कीमतों मे और वृद्धि हो गई। इसके लिये पूजी वस्तु उत्पादकों ने बैंकों से और उधार चाहा, ब्याज की दर स्वभावत बढ जायेगी। इन सब लागतो म वृद्धि होने के कारण विनियोग कार्यों मे अनुमान स अधिक खर्च बैठने लगा तथा पूजी-उपकरणों का निर्माण अब हानि का स्रोत बन गया। विनियोग अफसल सिद्ध हाने लगे। जो योजनायें शुरू की गई थी वह अधूरी पडी रह गई, क्योंकि उनसे प्रत्याशित प्रत्याय से उनकी लागतें कही अधिक बढ गई।

इन सब कारणों से व्यापार का विस्तार रुक जाता है तथा आर्थिक व्यवस्था में अवनति प्रारम्भ हो जाती है। एक विरोधाभास की स्थिति सी पैदा हा जाती है।

पूजी उपकरण का न्यून उत्पादन तथा उपभोग वस्तु का उत्पादनाधिक्य दोनों परिस्थितियां साथ-साथ उत्पन्न हो जाती हैं उत्पादन के ढाँचे मे लघुता शुरू होती है। विनियोग कार्य यद्यपि बन्द हो जाते हैं फिर भी उपभोग वस्तुओ की माग म कमी नही होती क्योंकि उपभोक्ताओं के हाथ म क्रय-शक्ति अभी काफी है। अत ससाधन उत्पादन के उच्चतर चरणों से निचले चरणो पर आ जाते हैं। लेकिन ससाधन जितनी जल्दी उच्चतर चरणो से निकाले जाते हैं उतनी शीघ्रता से उनको निचले चरणो पर काम नहीं मिल पाता। बैंक अपना उधार भी वापस मागने लगते हैं। मुद्रा सकुचन हो जाता है। बैंकों को उधार के बन्द हाने तथा लोगा के पास सचित मुद्रा राशि के जमा हाने से कीमतें गिरने लगती हैं। विनियोग ऐच्छिक बचत से भी कम हो जाता है। कई क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप अवसाद काफी समय तक रह जाता है।

लेकिन धीरे-धीरे बैंकों का रिजर्व काफी बढ जाता है जिससे, उधार लेना फिर सस्ता हो जाता है तथा धीरे-धीरे पुनरुत्थान पुन आने लगता है।

हेयक तथा हॉट्रे—

हेयक का सिद्धान्त 'न्यून-उपभोग' सिद्धान्त का बिल्कुल विरोधी है। किन्तु हॉट्रे के मौद्रिक सिद्धान्त तथा हेयक के मौद्रिक विनियोगाधिक्य में बहुत कुछ बाते मिलती-जुलती हैं। दोनों में खास अन्तर यह है कि हेयक व्यापार चक्र का श्रोत मुद्रा लाये हुए ऐसे कुसयोजन में ढूंढते हैं जो एक ओर तो बचत तथा विनियोग के बीच की सस्थिति को भग कर देता है, दूसरी ओर, पूंजी-उपकरण तथा उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के मध्य की सस्थिति को बिगाड देता है, हॉट्रे सामान्य माग में परिवर्तन को व्यापार चक्र का कारण मानते हैं। हॉट्रे के अनुसार यदि बैंक अपने उधार देने पर प्रतिबन्ध न लगाये तो व्यापार-चक्र ऊर्ध्व दिशा में चलता जायगा। लेकिन हेयक के अनुसार, बैंकों के अपने उधार देने पर प्रतिबन्ध न लगाने का परिणाम केवल यह होगा कि पूजी-उपकरण के उत्पादन-कार्य में लगे हुए उद्योगों के विस्ताराधिक्य के कारण कीमतें और आगे बढेंगी और कीमत वृद्धि अवश्यम्भावी अवनति को अस्थाई रूप से स्थगित कर सकती है, उसे टाल नही सकती। लेकिन व्यापारातिशयता का समाप्त होना आवश्यक है क्योकि पूजी-उपकरण बचत की अपेक्षा कही अधिक बढ गये हैं। पूजी की न्यूनता उपभोगाधिक्य के साथ मिलकर व्यापार-चक्र को अधोगति में लाती है। अत बैंक के उधार देने पर प्रतिबन्ध व्यापाराधिक्य के समाप्त होने का तात्कालिक कारण हो सकता है, किन्तु मूलत इसका कारण है 'उत्पादन के ढाचे' में कुसयोजन। जैसा ऊपर कहा गया है, हॉट्रे का सिद्धान्त यह बताने में असफल है कि पूजी-उपकरण के उद्योगों पर उपभोग वस्तु के उद्योगों की अपेक्षा व्यापार चक्र का प्रहार अधिक भयकर क्यो होता है, हेयक इसका उत्तर देते हैं।

आलोचना— हेयक की उपधारणायें अव्यावहारिक तथा अत्यन्त काल्पनिक हैं। ससाधनों का पूर्ण उपयोगीकरण समृद्धि के शिरोबिन्दु पर भी नहीं होता, उसको समृद्धि के प्रारम्भ ही में मान लेना अत्यन्त भ्रामक तथा काल्पनिक है। न यही सही है कि मौद्रिक सस्थिति को ब्याज की दर भग कर देती है। इस सिद्धान्त के पुनर्प्रस्थापन में हेयक ने इन दोनों उपधारणाओं को छोड दिया है*। अब वे अपने सिद्धान्त को 'लाभ' के दृष्टिकोण से प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं, उत्पादन के एक क्षेत्र में लाभ में वृद्धि का अर्थ है उत्पादन के किसी अन्य चरण पर इसकी कमी। हेयक की यह उपधारणा भी व्यावहारिक जगत में कम देखी जाती है कि ससाधनों की माग जब पूजी-उपकरण उत्पादित करने वाले उद्योगों में बढती है तो ये ससाधन उपभोग वस्तु के उद्योगों से स्थानान्तरित होकर आते हैं। ससाधनों की न्यून उपयोगिता के कारण, जब माग बढेगी तो अनुपयोगित ससाधन उपयोग में

* Hayek, Profits, Interest and Investment, Chapter 1.

पहले लाये जायेंगे न कि किसी अन्य क्षेत्र मे उनके उपयोग को समाप्त कर उन्हें लाया जायेगा। और जब तक ससाधनो का पूर्ण उपयोगीकरण नही हो जाता तब तक उनकी कीमतो के बढ़ने का कोई प्रश्न उपस्थित ही नही होता।

हेयक का उत्पादन के दैर्घ्य तथा लघु, अर्थात् उच्चतर चरण तथा निचले चरण पर होने की बात भी तकसयत नही मालूम पडती। यह बात तथ्य से बहुत दूर है कि अवनति काल मे उपभोग-वस्तुओ की माग, बढगी, उत्पादन बढगा और पू जी-उपकरण के उद्योग धन्धो मे उत्पादन ठप होगा। पू जी उपकरणों का निर्माण उनकी माग पर निभर करता है, फिर प्रत्याशा का भी इसमे बहुत बडा हाथ होता है। यह कैसे हो सकता है कि एक ओर, जब बाजार मे उपभोग-वस्तुओ की माग बढ रही हो तो पू जी-उपकरण के उत्पादक किसी निराशा के शिकार हो सकते हैं। बाजार मे उपभोक्ताओं की माग की स्थिति ही तो वास्तव मे आशा निराशा के दृष्टिकोण का निर्माण करती है। सच तो यह होता है कि बाजार के एक कोने मे क्रियाशीलता अन्य क्षत्रो मे भी क्रियाशीलता ले आती है। अत यह कहना बिल्कुल भूल है कि पू जी-उपकरण के उत्पादक उपभोक्ताओं की बढती हुई माग को देखते हैं, उपभोग वस्तुओ के अधिकाधिक उत्पादन को देखते हैं और यह भी देखते हैं कि उपभोग वस्तुओ को निर्माण करने वाले प्लांट अधिकाधिक काम के कारण शीघ्र घिस जायेंगे, फिर भी वे अपना उत्पादन बन्द कर देते हैं। फिर यह भी सम्भव है कि उपभोग वस्तुओ की बढती हुई माग को देखकर कुछ नये फर्म उद्योग मे प्रवेश करें, इन नये फर्मों को नये प्लांट की आवश्यकता होगी, इन सब भावी उज्ज्वल आशाओ को देखकर व्यापारिक जगत का कोई उत्पादक निराशा का शिकार हो ही नही सकता। हेयक का यह कहना भ्रामक है कि अवनति शुरू होती है उत्पादन कुसयोजन से अर्थात् इस समय उत्पादन के निचले चरणो पर उत्पादन अधिक तथा उच्चतर चरणो पर कम होता है।

हेयक द्वारा यह उपधारणा कि ससाधन इतने अधिक गतिशील होते हैं कि वे अवनति काल मे उपभोग वस्तु के धधो मे शीघ्र चल आयेंगे। फिर मजदूर जैसे समाधन के लिये यह कहा भी नही जा सकता कि वे पूंजी उपकरण उद्योग से जाकर उपभोग वस्तु उद्योग मे अपने को खपा सकेंगे क्योंकि ये दोनो प्रकार के उद्योग तथा उनके कार्य एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। अत मजदूरो की गतिशीलता इतनी आसान नही, जितनी हेयक ने सोचा है।

जो कुछ भी हो हेयक ने व्यापार चक्र को प्रभावित करने वाले तत्व की ओर इशारा किया है, हम इसके अध्ययन को अवहेलित नही कर सकते।

गति वर्द्धक

व्यापार-चक्र अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। समय-समय पर व्यापार-चक्र सम्बन्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किय जाते रहे हैं, इन सिद्धान्तों मे हमे

कभी-कभी बडा ही विरोधाभास मिलता है। वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक मे, विशेषतया केन्ज की 'जनरल थ्योरी' के बाद जो सिद्धान्त, हमारे सामने आते हैं उनके दृष्टिकोण मे हमे एक प्रकार की मौलिक समता दिखाई पडती है। नई, विचारधारा में एक ससरण है, जो पहले नही था। आधुनिक अर्थशास्त्री आय तथा विनियोग को व्यापार चक्र का आधार मानते हैं। आय तथा विनियोग का सम्बन्ध आर्थिक व्यवस्था मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह दोहरा है, आय विनियोग पर निर्भर करता है और विनियोग आय पर। केन्ज के अनुसार विनियोग मे वृद्धि आय मे वृद्धि लाती है। विनियोग मे थोडी वृद्धि होने से भी आय पर 'काफी' प्रभाव पडता है, विनियोग बढने से आय म (तथा इस प्रकार उपयोगीकरण तथा उपभोग मे) अपेक्षतया कही अधिक वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर भविष्य मे अधिक लाभ की आशा के कारण आय, विनियोग मे वृद्धि लाती है। इसकी व्याख्या गति वृद्धि क्रम के सिद्धान्ता द्वारा करने की चेष्टा की जाती रही है।

गति-वृद्धि-क्रम के सिद्धान्त के अनुसार उपभोग तथा विनियोग मे घनिष्ट सम्बन्ध है। यह देखा जाता है कि जब उपभोग वस्तुओ की माग बढती है तो उससे पूंजी वस्तुओ की माग मे वृद्धि हो जाती है। हमे यह भी ज्ञात है कि पूंजी वस्तुओ के उत्पादन मे लगे हुए उद्योग धन्धे प्राय तेजी मन्दी के शिकार होते रहते हैं। यह तेजी-मन्दी उपभोग वस्तुओ के उद्योग धन्धो मे आने वाली तेजी मन्दी से कही अधिक तीव्र होती है। गति वृद्धि-क्रम सिद्धान्त सामान्य रूप से इस तेजी मन्दी तथा इसके स्वभाव की व्याख्या करने की चेष्टा करता है तथा यह बताता है कि किस प्रकार उपभोग के परिवर्तन विनियोग मे कई गुना समान परिवर्तन ले आता है।

इस सिद्धान्त को आगे बढाने वालो मे जे० एम० क्लार्क का नाम सर्वप्रथम आता है।* उपभोग वस्तुओं को बनाने के लिये मशीनो की, पूजी-वस्तुओ की आवश्यकता होती है। जिस समाज मे उपभोग की मात्रा स्थिर है वहा एक निश्चित सख्या मे मशीने काम कर रही होगी, उनकी सख्या मे घट-बढ की कोई आवश्यकता नही। केवल प्रत्येक वर्ष घिसी मशीनो की स्थान पूर्ति करनी पडेगी। इस पूर्ति के लिये ही नई मशीने बनेंगी। अब मान लिया कि उपभोग वस्तुओ की माग बढनी है तथा हमारी आर्थिक व्यवस्था अपनी मौजूदा मशीनो की पूर्ण क्षमता भर उनसे काम ले रही है जिससे कि यदि हम उपभोग-वस्तुओ की अधिक माग करते हैं तो हमे इनको निर्माण करने वाली नई मशोनो तथा नये पूंजी उपकरणों की आवश्यकता पडेगी। पूजी उपकरणो की माँग दो ओर से होगी —

* Other important names are Frisch, Harrod, Samuelson Hicks Kalecki and Kaldor etc

(१) एक तो, दिये हुए उत्पादन-स्तर को बनाये रखने के लिये घिसी मशीनों को बदल कर उनके स्थान पर दूसरी मशीनें बैठाना पडेगा। पुरानी घिसी मशीनो को बदलने के लिये हमे हर साल नई मशीनों की आवश्यकता पडेगी।

(२) अब चूंकि हम उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन बढाना चाहते हैं, तो हम अतिरिक्त मशीनो की जरूरत पडेगी, उपभोग वस्तुओं की माग मे जितनी ही अधिक वृद्धि होगी, उतनी ही नई मशीनो की माग बढगी तथा अधिक विनियोग होगा। इस प्रकार के विनियोग को 'उत्प्रेरित' विनियोग कहते हैं।

उपभोग वस्तुओं की माग मे वृद्धि तथा (इसके फलस्वरूप) विनियोग मे वृद्धि के बीच जो अनुपात होता है उसे गति-वृद्धि-क्रम का गुणाङ्क या सक्षेप मे 'गति वर्द्धक' कहते हैं। अर्थात् गति-वृद्धि-क्रम का गुणाङ्क वह अनुपात है जो *उपभोग-व्यय मे विशुद्ध परिवर्तन तथा उससे उत्प्रेरित विनियोग के बीच होता है।* यदि हम मान लें कि उपभोग-व्यय की दर मे पाच लाख रुपये की विशुद्ध वृद्धि हुई है और इसके फलस्वरूप विनियोग मे दस लाख रुपये की विशुद्ध वृद्धि होती है तो गति-वृद्धि-क्रम गुणाङ्क २ होगा [५ १२ या १ २]। यहा यह कह देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्त की एक आवश्यक उपधारणा यह है कि उत्पादन तथा पूंजी का अनुपात टैक्नीकल अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होता है जिनमे अल्पकाल मे कोई *खास परिवर्तन नही होता।*

यदि हम पूरी आर्थिक व्यवस्था को ध्यान मे रक्खें तो हम देखेंगे कि उपभोग की माग-दर में वृद्धि से उत्पादन में वृद्धि होगी तथा उससे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी। ० इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गति-वृद्धि-क्रम गुणाङ्क राष्ट्रीय आय (या उत्पादन) मे वृद्धि तथा उससे उत्प्रेरित विनियोग के बीच का अनुपात है। पहले गति-वृद्धि-क्रम गुणांक, उपभोग व्यय मे प्रारम्भिक परिवर्तन तथा उससे उत्प्रेरित विनियोग के बीच के अनुपात ही तक सीमित था। लेकिन अब इसके *क्षेत्र का अधिक विस्तार हो गया है।* मशीन बनाने वाली मशीनों के लिये भी यदि माग बढती है तो ऐसी मशीनो के उत्पादन मे वृद्धि के फलस्वरूप भी राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। इसलिये उपभोग व्यय मे वृद्धि द्वारा उत्प्रेरित विनियोग तक सीमित न रह, गति वर्द्धक, आज सम्पूर्ण व्यय (चाहे उपभोग मे हो, या पूंजी म) मे वृद्धि द्वारा उत्प्रेरित विनियोग तक बढ गया है। इस रूप मे कुल आय (या उत्पादन) म वृद्धि *तथा उसके द्वारा 'उत्प्रेरित' विनियोग के बीच के अनुपात को गति-वृद्धि गुणाङ्क* कहा जाने लगा है। इसको सक्षिप्त मे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

० क्योंकि समाज द्वारा क्रय की हुई समस्त वस्तुओं की कीमत को हम सम्पूर्ण समाज की राष्ट्रीय आय कह सकते हैं। यही कुल, यौगिक कीमत उत्पादन के भिन्न भिन्न साधनों मे बटती है जो राष्ट्र की आय हो जाती है।

$$\Delta \text{ वि} = \text{ख } \Delta \text{ य}$$

$$\text{या ख} = \frac{\Delta \text{ वि}}{\Delta \text{ य}}$$

ख=गति-वृद्धि-क्रम गुणाङ्क या 'गति वर्द्धक' या विनियोग करने की सीमान्त इच्छा।

△ वि=विनियोग मे वृद्धि या 'उत्प्रेरित' विनियोग।

△ य=कुल आय मे वृद्धि (माग बढने के फलस्वरूप)।

बढती हुई माग के प्रत्युत्तरस्वरूप उत्पादन शक्ति मे भी वृद्धि आती है इससे पूजी के विस्तार को प्रेरणा मिलती है। पूजी-विस्तार की दर, माग मे वृद्धि दर की समानुपाती होने की प्रवृति रखती है। माग जब इतनी बढ जाती है कि मौजूदा उत्पादन शक्ति मे वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है तो नई मशीनें तथा समस्त पूजी उपकरण जो इस अतिरिक्त उत्पादन के लिय आवश्यक है बैठाने पडते हैं। यदि उत्पादन शक्ति का पूर्ण-उपयोगीकरण नहीं हो पाया है तथा कुछ मशीनें तथा अन्य उत्पादन के उपकरण बेकार हैं, या न्यून-उपयोगिता हैं तो पूंजी विस्तार की कोई आवश्यकता ही नहीं। पूंजी विस्तार की आवश्यकता तब होती है जब बढती हुई माग को पूरा करना मौजूदा उत्पादन-उपकरणो की शक्ति के बाहर हो जाता है। बढती हुई जनसख्या तथा साधारण आर्थिक विकास के लिये पूजी का विस्तार होते रहना आवश्यक है। यदि माग मे कमी हुई तो पूंजी का विस्तार होना रुक जाता है और जनसख्या मे वृद्धि तथा आर्थिक विकास के कारण जो स्वाभाविक पूजी-विस्तार आवश्यक होता है वह भी बकाया पड जाता है। यदि माग मे पुन वृद्धि होने लगी तो इस बकाया की पूर्ति के लिये पूंजी-विस्तार बहुत ही तीव्र गति से बढता है। उत्पादन शक्ति बढाने के लिये अधिक मजदूरो की भी माग होती है। धीरे धीरे जब मशीनें बैठा दी जाती हैं तथा काम करने लायक सभी लोगो को काम मिल जाता है तो यह पूर्ण उपयोगीकरण इस बात का द्योतक होता है कि अब जो बकाया पूजी-विस्तार रुका हुआ था पूरा हो गया। तब विस्तार की गति की तीव्रता समाप्त हो जाती है तथा वह साधारण स्तर पर आ जाती है। पूजी-व्यय म कमी आने से माग सकुचित होने लगती है, और व्यापार-चक्र की मन्दी अपना सिर उठाने लगती है। प्रो० हिक्स ने व्यापार-चक्र की यही व्याख्या की है।[1]

सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था के लिये 'गति वर्द्धक' के मान को जाच पडताल द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विश्लेषण के लिये हम इसके मान को कुछ मान लेते हैं। निम्नलिखित दशाओ मे 'गति वर्द्धक' की क्रियाशीलता मे कठिनाई होगी तथा इसका प्रभाव तथा मान शून्य-प्राय होगा—

---

1 Contribution to the Theory of the Trade Cycle by *Hicks*

(१) यदि उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के लिये पूंजी-उपकरण, मशीनों की या तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती या बहुत थोड़ी आवश्यकता होती है। अविकसित देशों मे उत्पादन पूंजी प्रधान नहीं होता, उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें प्राय दस्तकारों से, श्रम से या छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों से पूरी हो जाती हैं। इसलिये माग मे कमी या अधिकता से पूंजी-संकुचन या पूंजी-विस्तार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहा गति-वर्द्धक का मान शून्य-प्राय होता है। *किसी देश मे उत्पादन जितना ही अधिक पूंजी प्रधान होगा, वहा 'गति वर्द्धक' का मान उतना ही अधिक होगा।*

(२) यदि किसी देश में शिल्प-विज्ञान में इस प्रकार का विकास हो रहा है कि पूंजी की आवश्यकता कम होती जा रही है, अर्थात् यदि शिल्प विज्ञान के आविष्कार पूंजी में बचत कर रहे हैं, तो 'गति वर्द्धक' का मान शून्यप्राय होगा। ऐसी स्थिति पश्चिम के कुछ अत्यन्त विकसित देशो मे पाई जाती है। वहा शिल्प विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि पूंजी मे बचत होने लगी है, क्योंकि अधिक विकसित मशीनों से पहले की अपेक्षा अधिक तथा सुन्दरतर वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है। इसलिये इन देशो मे उत्पादन के लिए अब पहले की अपेक्षा कम पूंजी की आवश्यकता पड़ती है।

(३) यदि देश में पूंजी-उपकरण आवश्यकता से अधिक हो अथवा न्यून-उपयोगित हों जिससे कि उत्पादन मे वृद्धि के लिये नये उपकरणों की आवश्यकता न पड़े बल्कि उन्हीं उपकरणों के पूर्णउपयोगीकरण द्वारा उत्पादन में वृद्धि लाई जा सके तो 'गति वर्द्धक' शून्य-प्राय होगा, क्योंकि उपभोग वस्तुओं की माग मे वृद्धि से नये पूंजी-उपकरणों की माग नहीं बढ़ेगी। व्यापार चक्र के उत्थान (Recovery) वेला मे काफी उपकरण बेकार रहते हैं—इसलिये माग मे वृद्धि होने के बावजूद भी नये उपकरणों की माग तुरन्त नही बढ़ेगी और गतिवर्द्धक शून्य होगा।

(४) यदि उपभोग वस्तुओं की माग मे वृद्धि के टिकाऊ होने की आशा नहीं है तथा लोग इस वृद्धि को केवल क्षणिक या अस्थाई समझते हैं तो नये पूंजी-उपकरण नहीं बैठाये जायेंगे और 'गति-वर्द्धक' शून्यप्राय होगा। भविष्य के प्रति प्रत्याशा 'गति वर्द्धक' सिद्धान्त मे निहित है तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(५) यदि आर्थिक व्यवस्था में पूंजी-उपकरण की माग बढने पर भी उनका निर्माण न हो पाये तो 'गति वर्द्धक' कार्य न कर सकेगा और इसका मान शून्य प्राय. होगा। (उपभोग-वस्तुओं की माग मे वृद्धि विनियोग में वृद्धि तभी ले आ सकेगी जब विनियोग उद्योग-धन्धों मे अतिरिक्त, अप्रयुक्त शक्ति विद्यमान होगी, और अधिक पूंजी-उपकरण तैयार किये जा सकेंगे। यहा इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि गतिवर्द्धक के क्रियाशील होने के लिये एक तरफ, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, जहां उपभोग-वस्तुओं को निर्माण करने वाले उद्योग-धन्धों में अतिरिक्त उत्पादन शक्ति नहीं होनी चाहिये, वहाँ दूसरी ओर पूंजी-उपकरण तैयार करने वाले उद्योग धन्धो में अतिरिक्त उत्पादन शक्ति का होना आवश्यक है। यदि पूंजी-उपकरण तैयार करने

वाले उद्योग-धन्धों में अतिरिक्त उत्पादन शक्ति न हुई तो उपभोग वस्तुओं की माग बढने से भी 'गति वर्द्धक' का मान शून्यप्राय होगा। इस प्रकार, हम देखते हैं कि एक श्रेणी के उद्योग-धन्धों मे तो अतिरिक्त शक्ति, न्यून-उपयोगीकरण, की अवस्था होगी किन्तु दूसरी श्रेणी के उद्योग-धन्धों में अतिरिक्त शक्ति का पूर्णत अभाव होगा।

(६) यदि पूंजी की माग वाह्य (exogenous) परिस्थितियो पर निर्भर है तो भी 'गति वर्द्धक' शून्यप्राय होगा। जन-कल्याण के लिये या राजनैतिक तथा अन्य ऐसे कारणों से जिनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र से नहीं होता, समाज मे कुछ विनियोग होते ही रहते हैं। ऐसे विनियोग आय-स्तर पर उपभोग मे वृद्धि होने के कारण नहीं होते। इनमे 'गति वर्द्धक' का हाथ नहीं होता। इसी प्रकार कभी-कभी उपभोग वस्तुओं की माग बढने पर भी पूंजी उपकरण में वृद्धि नहीं होती। जनोपयोगी सेवाओं में दीर्घकालीन विनियोग किया जाता है, चाहे मांग मे वृद्धि हो या नहीं, चाहे आय-स्तर बढे या नहीं। इस प्रकार, आर्थिक व्यवस्था में सदा कुछ वाह्य परिस्थितिया काम करती हैं जो बिना आय-स्तर या माग के वृद्धि के भी विनियोग मे वृद्धि लाती रहती हैं।

(७) आर्थिक व्यवस्था मे साख यदि आसानी से उपलब्ध न हो सके तो भी गति वर्द्धक कार्य न कर सकेगा, क्योंकि साख अभाव में नये विनियोग भी नहीं बढ सकेंगे।

उपर्युक्त अपवादों तथा सीमाओं को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि गति वर्द्धक का मान जितना अधिक होगा उतना ही 'उत्प्रेरित विनियोग' अधिक होगा।

गतिवर्द्धक सिद्धान्त की क्रिया-विधि—

मान लिया कि १००० उपभोग वस्तुओं के निरन्तर निर्माण के लिये १०० मशीनों की आवश्यकता है। यदि प्रत्येक मशीन की आयु १० वर्ष की हो और उपभोग वस्तु की माग मे कोई परिवर्तन न हो अर्थात् वह पूर्ववत् रहे तो प्रति वर्ष पुरानी, बिगडी मशीनों की जगह १० नई मशीनों की जरूरत पडेगी तथा पूंजी-उपकरण बनाने वाले उद्योग-धन्धों का उत्पादन १० मशीन प्रति वर्ष होगा*। अब यदि उपभोग-वस्तुओं की माग में वृद्धि होती है, और उपर्युक्त अपवाद की

---

* यहा यह स्मरण रहे कि ये १०० मशीनें एक साथ ही नहीं बिठाई गई हैं। अन्यथा सब मशीनें एक ही समय खराब होंगी। लेकिन इसके बजाय यदि वे भिन्न-भिन्न समय पर बिठाई गई है तो सब एक साथ ही खराब न होंगी। इसके अतिरिक्त एक बात और हो सकती है कि यदि मशीनें एक साथ भी बिठाई गई हों तथा प्रत्येक वर्ष उत्पादक १० नई मशीनों के खरीदने भर की रकम किसी फण्ड में जमा करता जाता है तो भी फल वही होगा।

ऊंचाई-निचाई से विनियोग स्तर नहीं बदलेगा। ऊपर हमने देखा कि दूसरी अवधि मे उपभोग मे वृद्धि की दर के (१० से शून्य पर) घट जाने से मशीनो की माग में ह्रास आ गया यद्यपि उपभोग का स्तर पहले ही जैसा अर्थात् ११०० ही है। हा, यह हो सकता है कि उपभोग वस्तुओं की मांग बढते-बढते कई वर्षों मे इतनी बढ जाय (तथा उसी के साथ उपभोग वस्तुओ के उत्पादन करने वाली मशीनों की सख्या इतनी बढ जाय) कि फिर माग म यदि स्थिरता भी आ जाये तो पुरानी घिसी मशीनों की प्रतिस्थापना करते रहने ही के लिये इतनी मशीनों का निर्माण आवश्यक हो जाये कि मशीन बनाने वाले उद्योग-धन्धे मे एकाएक अवसाद न आय। जब दीर्घकालीन-सस्थिति प्राप्त हो जायगी'' '''तो प्रतिस्थापना (replacement) के लिये मशीनो की माग ही इतनी अधिक हो जायगी कि उससे (मशीन बनाने वाले) उद्योग-धन्धो का सचालन होता रहगा।[2]

आलोचना—

कुछ अर्थशास्त्रियो ने गतिवर्द्धक के सिद्धान्त की कडी आलोचना की है, उनमे से मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं —

(१) गतिवर्द्धक का प्रभाव सदा एक-सा नहीं होता। 'व्यापार-चक्र' अवधि में जब आर्थिक व्यवस्था समृद्धि की ओर जा रही हो तब गति वर्द्धक का सिद्धान्त लागू हो सकता है, लेकिन अवसादोन्मुख अवस्था मे यह काम नही करता। जब आर्थिक व्यवस्था समृद्धि की ओर जा रही हो तब गति वर्द्धक का सिद्धान्त लागू हो सकता है, लेकिन अवसादोन्मुख अवस्था मे यह काम नही करता। जब आर्थिक व्यवस्था मे तेजी बढ रही है वैसी हालत मे उपभोग आय तथा उत्पादन मे वृद्धि, विनियोग को प्रभावित कर सकती है, लेकिन जब आर्थिक व्यवस्था मन्दी की ओर जा रही हो तो गति वर्द्धक निष्क्रिय सा हो जाता है। इसका कारण यह है कि आर्थिक व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता का प्रयोग न्यून हो जाता है और गति वर्द्धक का सिद्धान्त काम करना वन्द कर देता है।

(२) गतिवर्द्धक का सिद्धान्त अपना ध्यान मुख्यतः वास्तविक विनियोग (उत्प्रेरित विनियोग) ही पर केन्द्रित करता है इसलिय घिसे पूंजी-उपकरणों की प्रतिस्थापना के लिये आवश्यक विनियोग पर ध्यान नहीं देता, किन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, प्रतिस्थापना के लिये पूंजी-उपकरणों की माग काफी प्रभावोत्पादक हो सकती है।

(३) भविष्य के प्रति प्रत्याशा इस सिद्धान्त मे अव्यक्त सी पडी है। इसको प्रकाश मे लाकर पूर्व विवेचना की जानी चाहिए, क्योंकि विनियोग पर भविष्य की प्रत्याशा का बहुत प्रभाव पडता है। यदि भविष्य निराशापूर्ण होगा तो माग बढ जान पर भी विनियोग नहीं बढेगा। इसीलिये इस सिद्धान्त को प्रत्याशा का सिद्धान्त

---

2 Text Book of Economic Theory by Ston er and Hague, p 430

कहा गया है, 3 अर्थात् प्रत्याशा का सिद्धान्त ही भेष बदल कर 'गतिवर्द्धक' सिद्धान्त बन गया है। केन्ज ने भविष्य के प्रति हमारे दृष्टिकोण को बहुत महत्व बताया और कहा कि विनियोग इसी पर निर्भर करता है इसीलिये उन्होने विचारो मे गतिवर्द्धक को कोई स्थान नही किया।

(४) कुछ अर्थशास्त्रियो को यह विश्वास नही है कि उत्पादन की दर परिवर्तन तथा पूंजी-उपकरण के स्टॉक मे कोई निश्चित सम्बन्ध है। उत्प्रे विनियोग मे अन्य कारणो से परिवर्तन आ सकता है, उदाहरण के लिये, साख मजदूरो का अभाव विनियोग मे कमी ला सकता है।

(५) गतिवर्द्धक सिद्धान्त यह उपधारणा करता है कि समस्त उत्प्रे वास्तविक विनियोग, उत्पादन-राशि मे परिवर्तन के फलस्वरूप किया जाता। लेकिन अर्थशास्त्रियो ने इस उपधारणा के औचित्य पर सन्देह प्रकट किया (स्वतन्त्र विनियोग (प्रतिस्थापना के लिये आवश्यक विनियोग) भी काफी महत्वपू हैं तथा उस पर काफी ध्यान दिया जाना चाहिए था।

(६) गतिवर्द्धक के सिद्धान्त की उचित कार्यशीलता के लिये यह परमावश्य है कि मशीनो (पूंजी उपकरणो) की आयु ठीक-ठीक आंकी जा सके। इसका ठी ठीक पता लगाना आवश्यक है कि उपभोग वस्तुओ के निर्माण में लगी हुई मशी कितने दिन मे घिसकर बेकार हो जायेंगी, किन्तु व्यवहार मे यह अन्दाजा ठीक-ठी लगाना बहुत मुश्किल है। इसलिये गतिवर्द्धक-सिद्धान्त को व्यापार-चक्र जैसी पेची चीज की व्याख्या के लिये काम मे नही लाया जा सकता।

(७) यह सिद्धान्त अत्यन्त सरल है। इतने सरल सिद्धान्त द्वारा हमा इतनी पेचीदी अर्थव्यवस्था के व्यवहार का अध्ययन नही किया जा सकता विशेषतया इसकी यह धारणा कि उपभोग वस्तुओ के निर्माण मे लगे हुए ... उपकरणो के उत्पादन में तो बहुत अलोच होता है तथा मशीन-निर्माण मे लगे हु पूंजी-उपकरणो के उत्पादन मे काफी लोच होता है, सही नही है। उसी अर्थ-व्यवस्थ मे दो ऐसे उद्योग-धन्धो मे, जिनमे इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, बिल्कुल विपरी उपधारणाए सही नही हो सकती।

(८) इस सिद्धान्त की एक उपधारणा यह भी है कि उत्पादन तथा पूं के बीच का अनुपात टैक्नीकल अवस्थाओ द्वारा निर्धारित होता है और इन अवस्थाओ मे अल्पकाल, मे भी कोई खास परिवर्तन नही होता, जब कि व्यापार-चक्र व विशेषता यह है कि इसके दौरान में यह अवस्थाए निरन्तर परिवर्तित होती रहत हैं। इसका अर्थ यह भी हुआ कि उत्पादन मे एक निश्चित वृद्धि से विनियोग मे ' वृद्धि होगी वह उत्पादन की प्रणाली (टैक्नीक) द्वारा निर्धारित न होकर विनियो

3. R. M Bissel "The rate of Interest" American Economic Review Supplement 1938.

प्राप्त होने वाले लाभ की आशा पर निर्भर होगी। इसलिये यह उपधारणा था सही नही।

(९) इस सिद्धान्त मे एक और कमजोरी है। यह सिद्धान्त यह उपधारणा ता है कि किसी दिये हुए उत्पादन मात्रा मे परिवर्तन से विनियोग मे परिवर्तन ता है, यह वृद्धि उत्पादन मात्रा के किसी गुणाक के बराबर होती है तथा वृद्धि कुल मात्रा से इसका कोई सम्बन्ध नही होता। लेकिन वास्तव मे फर्मों के प्रसार गति उनके आर्थिक साधनो पर निर्भर होती है, बडे-बडे विनियोग के सुअवसरो वे उतनी जल्दी लाभ नही उठा पाते जितनी कि छोटे छोटे सुअवसरो से उठ ते हैं। उदाहरण के लिये, कोई जहाजी कम्पनी है जिसके पास १०० जहाज हैं। द जहाजो की सेवाओ की माग बढती है तो जहाजो की सख्या मे भी वृद्धि करनी गी। मान लिया कि जहाज की सेवाओ की माग १०% बढ जाती है तो जहाजी म्पनी १० और नई जहाजें खरीदेगी। लेकिन इस आधार पर यह मान लेना त्यन्त भ्रामक होगा कि यदि जहाज की सेवाओ की माग ५०% बढ जाय, तो म्पनी ५० नई जहाजें खरीदेगी। यही नही कि कम्पनी के रास्ते मे केवल आर्थिक ठिनाइया हैं, वल्कि यह बात भी है कि बडे परिवर्तनो मे लाभ का भविष्य तना उज्जवल नही जितना छोटे परिवर्तनो मे। छोटे परिवर्तनो की हालत भविष्य के प्रति हमारी प्रत्याशायें अधिक लोच रखती हैं। हमें यह आशा हती है कि यह परिवर्तन स्थायी होगे, जबकि बडे पैमाने पर परिवर्तनो के प्रति म सन्दिग्ध होते हैं। एक प्रकार से इस सिद्धान्त ने भविष्य के प्रति आशाओ के ोच को इकाई मान लिया है, [अर्थात् जितने परिवर्तन उत्पादन मात्रा मे होगे सब थाई होगे] यह धारणा भ्रमपूर्ण है।[४]

(१०) इस सिद्धान्त के विरोध मे एक और बात है यह सिद्धान्त उत्प्रेरित था प्रतिस्थापना के लिये आवश्यक (induced or net and replacement) विनियोग मे अन्तर मानता है। इसके अनुसार, यह दो प्रकार के विनियोग एक दूसरे । बिल्कुल भिन्न हैं। एक ऐसी दुनिया मे जहा टैक्नीकल परिवर्तन न होते हो, जहा भविष्य के प्रति अनिश्चय की भावना न हो—भविष्य सुनिश्चित हो—वहा यह भिन्नता कदाचित् ठीक ठीक बनाई रखी जा सके। लेकिन जहा निरन्तर टैक्नीकल परिवर्तन हो रहे हो और जहाँ भविष्य अनिश्चय के गहन अन्धकार से पूर्ण हो जैसा क हमारी दुनिया मे होता है—तो ऐसी दुनियाँ मे उत्प्रेरित तथा प्रति-स्थापना के लिये आवश्यक विनियोगो मे फर्क बताना बडा कठिन है, और यह भी बताना कठिन है कि मौजूदा उत्पादन-दर तथा मौजूदा विनियोग मे ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है। हम यह भी देखते हैं कि उत्प्रेरित विनियोग या प्रतिस्थापना के लिये किये गये विनियोग का उपयोग मौजूदा मशीनो को हटा कर नई तथा अधिक विकसित मशीनों के बैठाने मे किया जा सकता है जिनमे कार्य-क्षमता अधिक होगी। यहाँ उत्प्रेरित

4, Essays in economic stability and growth (1960) by N Kaldor, p 200

विनियोग या प्रतिस्थापना के लिये किये गये विनियोग के बीच रेखा खींचना कठिन है, क्योंकि न तो हम यही कह सकते हैं कि विनियोग बिल्कुल प्रतिस्थापना के लिये किया गया है, न हम यही कह सकते हैं कि ऐसा विनियोग पूर्णतया उत्प्रेरित तथा वास्तविक ही है—जहाँ तक पुरानी मशीनों को हटाकर नई लगाने का प्रश्न है, यह प्रतिस्थापना विनियोग है, किन्तु जहा तक उन मशीनों के अधिक उपयोगी तथा क्षमशील होने का प्रश्न है, यह उत्प्रेरित तथा वास्तविक विनियोग है। इसलिये कुल विनियोग की क्रियाओं का अध्ययन आवश्यक है। उत्पादन के क्षेत्र मे नये तरीको का प्रयोग 'गतिवर्द्धक' के सिद्धान्त मे बाधा उपस्थित कर देता है। इसी प्रकार, यदि किसी नई वस्तु का उत्पादन किया जाय तथा उसकी खपत के लिये बाजार पैदा किया जाय तो भी यह सिद्धान्त किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है।

(११) यह सिद्धान्त यह मानता है कि यदि उपभोग में कमी आ जाय तो विनियोग मे भी कमी हो जायगी। कुछ अर्थशास्त्री इस धारणा को गलत बताते हैं। वे कहते हैं कि एक तो उत्पादन तथा विनियोग मे इतना घनिष्ट सम्बन्ध है ही नहीं, दूसरे, व्यापार-चक्र पर अन्य शक्तियाँ भी काम करती रहती हैं। इन 'अन्य शक्तियों' के विषय में काफी मतभेद है तथा भिन्न-भिन्न रूप से इन शक्तियों तथा 'गतिवर्द्धक' के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिशें की गई हैं। हिक्स ने इसी अभिप्राय से 'गतिवर्द्धक' के मूल्य को तीन श्रेणियों मे बाटा है और उनमे से प्रत्येक श्रेणी की अलग अलग विशेषतायें बताई है, किन्तु इस विषय पर जितनी खोज की गई है उससे हम अभी किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुच सकते।

इन्ही सब आलोचनाओं को ध्यान मे रखते हुये कुछ अर्थशास्त्रियो ने 'गतिवर्द्धक' के सिद्धान्त को अनावश्यक तथा बेकार बताया है। व्यापार-चक्र विश्लेषण के लिये "यह एक स्थूल तथा बहुत ही अनुपयुक्त" विधि है। यह मृतप्राय हो चुकी है तथा "हिक्स जैसे गम्भीर अर्थशास्त्री को इसका बहुत पहले ही परित्याग कर देना चाहिए था।[5]

इस सिद्धान्त से उपर्युक्त कठिनाइयो तथा कमियो को दूर करने के लिये हमे इसमे इतना सुधार लाना पड़ेगा तथा इतनी उपधारणायें करनी पड़ेंगी कि यह पहचाना भी न जा सकेगा।[6]

केन्ज के पहले, गतिवर्द्धक का सिद्धान्त जे० बी० से (J. B Say) के नियम पर आधारित था। इसलिये पूंजी-उपकरणो की माग को उपभोग वस्तुओं की माग पर निर्भर बनाया जाता था। यह मान लिया गया था कि उपभोग की दर मे वृद्धि होने से उसी अनुपात में विनियोग मे भी प्रसार होगा और कमी होने से समानुगामी कमी होगी। इसी सचित प्रसार या सकुचन की कोई सीमा नहीं मानी गई थी।

5 Ibid, p 198

6. Ibid, p 201

यह दृष्टिकोण बढा-चढा कर व्यापारिक अस्थिरता का रूप प्रकट करता था। इससे इस बात का पता नही चलता था कि जब प्रसार बिना सीमा के बढता जायेगा तो पूर्ण उपयोगीकरण पर पहुचने के पहले ही यह रुक क्यो जाता है। इसी प्रकार, यदि यह बेरोक-टोक नीचे जितना चाहे गिरता जायगा तो फिर आर्थिक व्यवस्था के पूर्ण विनाश के पहले ही गिरना रुक क्यो जाता है? केन्ज ने इस प्रश्न को यह कह कर हल किया कि उपभोग की सीमान्त तीव्रता इकाई से कम होती है। इसीलिए यह कहा गया है कि केन्ज के उपभोग सम्बन्धी सिद्धान्त ने 'गतिवर्द्धक' के वास्तविक महत्व को बताया।[7]

अत केन्ज के गुणक सिद्धान्त की व्याख्या के योग से गतिवर्द्धक काफी महत्वपूर्ण बन जाता है। यह सिद्धान्त गुणाक के साथ मिलकर, व्यापार-चक्र की व्याख्या मे महत्वपूर्ण योग दे सकता है। सतुलन लाने और बनाये रखने के लिये भी यह हमारा पथ प्रदर्शन कर सकता है। इस सिद्धान्त ने एक महत्वपूर्ण बात बताई, वह यह कि टिकाऊ माल के उत्पादन मे लगे हुए उद्योग-धन्धो मे अन्य प्रकार के उद्योग-धन्धो से कही अधिक तेजी-मन्दी क्यो आती रहती है। इस सिद्धान्त ने हमे यह भी बताया कि पू जी-उपकरण उत्पादन मे लगे हुए उद्योग धन्धों की दिशा मे परिवर्तन तभी होगा जबकि उपभोग वस्तुओं की माँग-दर मे वास्तविक परिवर्तन हो, यदि उपभोग वस्तुओ की माँग की दिशा मे केवल परिवर्तन होता है तो पू जी उपकरण के उत्पादन मे लगे हुए उद्योग-धन्धो की दिशा मे पूर्ण परिवतन नही होगा। उदाहरण के लिये, यदि यात्रा करन वालो की सख्या मे वृद्धि न हो, और रेल द्वारा यात्रा करने वालो मे से कुछ बस द्वारा सफर करने लगे तो यहाँ सवारियो की माँग की दर म परिवर्तन न हो केवल माँग की दिशा बदली है और इससे पूर्ण-रूपेण पू जी उद्योग-धन्धो पर कोई प्रभाव न पडेगा।

केन्ज का व्यापार-चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त

यह हम पहले कह आये है कि केन्ज के सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया गया है। आर्थिक-व्यवस्था मे लगी हुई व्याधि के "निदान ही मे केवल मेरी दिलचस्पी नही है, बल्कि (मैं) उसे आरोग्य बनाने मे भी दिलचस्पी रखता हू।"[8] यहा पर हम सक्षिप्त रूप से केन्ज के व्यापार-चक्र सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करेंगे।

व्यापार-चक्र

केन्ज ने व्यापार-चक्र को अपने विश्लेषण मे प्रमुख स्थान नही दिया। किन्तु उन्होने व्यापार चक्र की समस्या पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। यद्यपि केन्ज ने व्यापार चक्र की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का कोई ब्योरा नही दिया, न व्यापार-चक्र सम्बन्धी कोई सामग्री ही प्रत्यक्ष रूप मे इकट्ठा की, किन्तु उन्होने आय, उपयोगीकरण

7 See Metzler, L A "The New Economics" Pp 336–349

8 The New Economics Edited by *Harris* (1947) Pp 191–192.

तथा उत्पादन की सामान्य अवस्थाओं का अध्ययन किया तथा आर्थिक-व्यवस्था की तमाम व्याधियो की उपचार हेतु जाचा। व्यापार-चक्र पर भी उन्होने इसी सदर्भ मे विचार किया।

केन्ज के व्यापार-चक्र की व्याख्या का मूल तत्व है पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता। *हम यह देख चुके हैं कि विनियोग दो बातो पर निर्भर होता है एक तो* ब्याज की दर पर, दूसरे, पूजी की सीमान्त कार्य-क्षमता पर। ब्याज की दर अपेक्षाकृत चिपचिपी (Sticky) होती है, अर्थात् इसके घटने-बढने मे देर लगती है और अल्पकालीन अवधि मे इसको स्थाई मान लिया जा सकता है। यद्यपि हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्याज की दर व्यापार-चक्र का कारण नही बन सकती, फिर भी यह उसे कुमक अवश्य पहुँचा सकती हैविशेषतया मन्दी के प्रारम्भिक काल मे। उपयोगीकरण के स्तर-निर्धारण मे तीन स्वतन्त्र परिवर्तनशील तत्वो का हाथ होता है, १. ब्याज की दर, २ उपभोग करने की प्रवृत्ति तथा ३ पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता। हम पहले कह आये है कि उपभोग करने की प्रवृत्ति अल्पकालीन अवधि मे स्थाई मानी जा सकती है, क्योकि किसी समाज की वे परिस्थितिया, जो इस प्रवृत्ति को निर्धारित करती हैं, शीघ्र नही बदलती। इसलिये ब्याज की दर तथा उपभोग करने की प्रवृत्ति—दोनो मे से कोई भी व्यापार-चक्र का कारण नही बन सकती। तो शेष *रही पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता। यही व्यापार-चक्र को सारी प्रेरणा-शक्ति प्रदान* करती है। पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता भविष्य मे नये विनियोग से प्रत्याशित प्रत्याय (Return) है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि भिन्न भिन्न नये विनियोगों से, भविष्य में, लाभ प्राप्त करने की प्रत्याशा मे हेर-फेर ही व्यापार-चक्र को जन्म देता है। भविष्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण बहुत अनिश्चित होता है, इसलिये पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता भी आकस्मिक परिवर्तनो की शिकार बराबर बनी रहती है। 'गुणक' द्वारा केन्ज ने यह बताया कि व्यापार-चक्र की तेजी मन्दी की अवस्थायें *किस प्रकार वर्द्धमान (Cumulative) होती हैं। किसी दिशा मे जब आर्थिक-* व्यवस्था चल पड़ती है तो तब तक उसी दिशा मे यह चलती जाती है जब तक कि इसकी शक्ति क्षीण नही हो जाती। इसके बाद यह विपरीत दिशा मे लौट पड़ती है।

व्यापार-चक्र की व्याख्या के लिये यह भी आवश्यक है कि उसके आवृत्तिकाल की क्रमिकता पर भी प्रकाश डाला जाय। केन्ज ने भी व्यापार-चक्र मे एक क्रम देखा। लेकिन व्यापार-चक्र की इस क्रमिक गति को उन्होने उन्नीसवी शताब्दी की *आर्थिक-व्यवस्था के लिए ही उपयुक्त पाया, बीसवी शताब्दी मे व्यापार-चक्र की यह* (क्रमिक होने की) विशेषता उतनी सही नहीं है। आज की आर्थिक-व्यवस्था दीर्घकालीन गतिरोध (Secular Stagnation) के खतरे मे पड गई है। पर इस दीर्घकालीन गतिरोध मे भी व्यापार-चक्र का अस्तित्व बना हुआ है।

केन्ज ने कहा है[9] कि "चक्रीय गति से हमारा अभिप्राय यह है कि जैसे जैसे आर्थिक-व्यवस्था . ऊर्ध्व दिशा मे अग्रसर होती जाती है, वे शक्तियां जो इसको ऊर्ध्व दिशा मे ले जाती हैं, पहले प्रबल होती जाती हैं तथा एक दूसरे पर बर्द्धमान प्रभाव डालती हैं, लेकिन धीरे-धीरे ये अपनी ताकत खोने लगती हैं और फिर ऐसे बिन्दु पर पहुच जाती हैं जहा इनका स्थान विपरीत दिशा मे कार्य करने वाली (अधोगामी) शक्तिया ले लेती है। ये अधोगामी शक्तियां भी पहले तो प्रबल होती जाती हैं किन्तु शिरोबिन्दु पर पहुचने के बाद इन शक्तियों का स्थान पुनः ऊर्ध्वगामी शक्तियां ले लेती हैं" ..."हमारा अभिप्राय (इस चक्रीय गति से) यह भी है कि इन ऊर्ध्व तथा अधोगतियो मे समय तथा अवधि के दृष्टिकोण से एक प्रकार का क्रम देखा जा सकता है।"

केन्ज ने इस बात पर भी गौर किया कि व्यापार-चक्र के दौरान मे तेजी तो एकाएक तथा उग्रता के साथ मन्दी मे बदल जाती है लेकिन मन्दी को तेजी मे बदलने मे समय लगता है। ऊर्ध्वगामी अवस्था का पतन आकस्मिक तथा प्रचड होता है किन्तु अधोन्मुख अवस्था का समाप्त होने और ऊर्ध्वोन्मुख होने मे अपेक्षतया अधिक समय की आवश्यकता होती है। केन्ज ने इसका कारण पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे परिवर्तन की स्थिति बताया। पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता मे ह्रास अत्यत आकस्मिक रूप से हो जाता है किन्तु उसमे वृद्धि धीरे-धीरे होती है। इस समस्या का समाधान अर्थशास्त्र का एक विवादग्रस्त विषय रहा है। आर्थिक-व्यवस्था के ऊर्ध्व से अधो तथा अधो से ऊर्ध्व दिशा मे पलटने के बिन्दुओं की व्याख्या करने मे क्लासिकल अर्थशास्त्री सफल नही हो पाये। "यह विशेषतया इस पलटने के बिन्दु के सम्बन्ध मे है कि केन्ज का सिद्धान्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।"[10]

व्यापार-चक्र की गति तथा कलायें

हमने पहले देखा है कि पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता, पूंजी उपकरणों के मौजूदा आधिक्य अथवा अभाव तथा पूंजी-उपकरण के निर्माण की मौजूदा लागत पर ही निर्भर नही करती बल्कि इन पूंजी उपकरणों से भविष्य मे क्या प्रत्याय होगी—इस बात की प्रत्याशा पर भी निर्भर करती है। इसलिये टिकाऊ माल के सम्बन्ध मे यह स्वाभाविक तथा उचित ही है कि भविष्य के प्रति प्रत्याशा का नये विनियोग के किये जाने मे बहुत बडा हाथ हो। लेकिन इन प्रत्याशाओं का आधार अत्यत सदिग्ध तथा अनिश्चित होता है।[11]

हम ऐसे समय से अपना विवरण प्रारम्भ करते हैं जब आर्थिक-व्यवस्था ऊर्ध्वगामी है तथा व्यापार मे विस्तार हो रहा है। इस समय विनियोग बडे पैमाने पर बढ रहा है। भविष्य उज्ज्वल तथा आशापूर्ण है। लोगों मे भविष्य के प्रति दृढ

9 G. T Pp, 313 314
10. John Maynard Keynes by *S. Harris*, p. 147.
11. G T. p. 315

विश्वास है, पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता ऊँची है, तथा उत्पादन आय उपयोगीकरण बढ रहे हैं। प्रत्येक नया विनियोग गुणक के प्रभाव से उपभोग वृद्धि करता है तथा इस प्रकार आय को कई गुना बढा देता है। व्यापार का ... होते होते यह समृद्धि-स्तर पर पहुँचने लगता है। इस समय भविष्य के प्रति लोगो की प्रत्याशा इतनी अधिक बढ जाती है कि पूंजी-उपकरणो की ... बहुतायत तथा उनके उत्पादन की बढती हुई लागत और शायद ब्याज की दर वृद्धि भी विनियोगको को विचलित नही कर पाती।[12] लेकिन विपरीत दिशा ... करने वाली शक्तियां अब क्रियाशील होने लगती हैं तथा पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता मे ह्रास होने के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। कच्चे माल तथा पहले जैसे सुलभ तथा सस्ते नही रह जाते तथा पूंजी उपकरणो के उत्पादन करने लागत मे वृद्धि होने लगती है। नये पूंजी उपकरणो द्वारा किया गया उत्पादन बाजार मे माल, माग से अधिक ला देता है। इससे आय प्रत्याशा कम होने ... है। जब तक भविष्य मे लोगो का विश्वास होता है, पूंजी की सीमान्त कार्य ऊंची होती है। लेकिन भविष्य के प्रति तनिक भी सदिग्धता पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता पर बहुत बडा आघात करती है। धीरे-धीरे भविष्य के प्रति इतना विश्वास एक छलना सिद्ध होता है। उत्पादन की लागत बढती जाती है तथा तैयार माल का स्टाक बढने लगता है। नये प्रतिद्वन्दी भी तमाम बढ जाते हैं। आशा तथा उल्लास का अवसान होने लगता है। लोगो की आशावादिता पहले सदेह मे और फिर नैराश्य मे बदल जाती है। इस वक्त पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता मे आकस्मिक तथा कभी-कभी भयकर ह्रास होता है। समृद्धि वेला के शिरोबिन्दु पर पहुची हुई आर्थिक-व्यवस्था मे इतनी अन्धाधुन्धी फैल गई होती कि "क्रेता इस बात स अनभिज्ञ होते हैं कि वे क्या खरीद रहे हैं' तथा सटोरिये पूंजी उपकरणो द्वारा होने वाली भावी-प्रत्याय का समुचित अन्दाजा लगाने के बजाय बाजार के रुख के प्रति भविष्यवाणी करने मे तल्लीन हो जाते हैं।[13] इसका फल यह होता है कि सगठित विनियोग-बाजार पर जब नैराश्य की आपत्ति आती है तो अत्यन्त आकस्मिक प्रचण्ड रूप से आती है। पूंजी की सीमान्त कार्य क्षमता मे ह्रास के साथ साथ आने वाला नैराश्य तथा हतोत्साहन लोगो की द्रव-प्रधिमानता मे तेजी के से साथ वृद्धि कर देता है, ब्याज की दर बढ जाती है। इस प्रकार पूंजी की कार्य क्षमता मे ह्रास के साथ-साथ ब्याज-दर मे वृद्धि, विनियोग मे आशातीत पतन ला सकती है। किन्तु अवसाद की जिम्मदारी पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता के ह्रास पर है न कि ब्याज-दर पर। द्रव-प्रधिमानता मे वृद्धि बाद मे आती है, पहले पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता का ह्रास होता है।

---

12 Ibid.

13 Ibid, P 316

इस प्रकार, ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति आकस्मिक रूप से अधोमुखी हो जाती है। गुणक के प्रभाव से तथा व्याज-दर म वृद्धि के कारण व्यापार मे सकुचन तीव्र गति से आगे बढता है। जब विनियोग मे ह्रास ग्राता है तो गुणक विपरीत दिशा मे काम करने लगता है। विनियोग मे १) की कमी ग्राने से गुणक ग्राय मे १) की कई गुनी कमी लायेगा। जैसे-जैसे विनियोग मे ह्रास होता है वैसे-वैसे उपयोगीकरण भी गिरता जाता है। कीमतें गिरने लगती हैं, इसलिये लोग अपने स्टाक, माल, सिक्योरिटी, बॉण्ड ग्रादि को शीघ्र से शीघ्र द्रव मे परिणित करने की चेष्टा करने लगते है। लोग अधिकाधिक द्रव धन की माग करते हैं अर्थात् द्रव अधिमानता बढती ही जाती है और उसी के साथ साथ बढती जाती है व्याज की दर। सिक्योरिटी, बॉण्ड ग्रादि की कीमतें गिरने लगती हैं, इनकी कीमता के ग्रौर अधिक गिरने की सम्भावना होने से लोग सिक्योरिटी, बॉण्ड ग्रादि क्रय करना बन्द कर देते हैं। बढती हुई व्याज की दर लोगो मे सट्टा हेतुक की वृद्धि करती है। इन सबका वर्द्धमान प्रभाव यह होता है कि व्याज की दर तो बहुत बढ जाती है।

पूँजी की सीमान्त कार्य-क्षमता का अधोपतन तथा तत्पश्चात् व्याज-दर मे वृद्धि ग्राथिक व्यवस्था मे विनियोग तथा उपयोगीकरण मे वर्द्धमान ह्रास ले ग्राते हैं। 'गुणक' अपना काम विपरीत दिशा मे तीव्र कर देता है, उत्पादन तथा ग्राय घटने लगते हैं। स्टॉक बाजारो मे सिक्योरिटी, बॉड, स्टॉक ग्रादि की कीमतो मे ह्रास ग्राने से इनके रखने वालो मे उपभोग करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। ग्राय घटने के कारण ग्रौर वर्ग के लोगो मे भी उपभोग करने की प्रवृत्ति का ह्रास होने लगता है। पुराने स्टॉक को येन-केन-प्रकारेण लोग बेच देना चाहते हैं। ग्राथिक व्यवस्था मे सर्वत्र नैराश्य, निष्क्रियता तथा बेकारी फैल जाती है, अवसाद की कालिमा मे ग्राथिक ग्रग जग तिरोहित हो जाता है। ग्राथिक क्रियायें बन्ध्या हो जाती हैं तथा स्पन्दन का उल्लास काफूर—निष्प्राण हो जाता है। इस वक्त यदि व्याज की दर काफी गिरा भी दी जाय तो विनियोग को प्रेरणा मिलनी मुश्किल है। विनियोग मे प्राण भरने के लिये ग्राशा का सचार तथा पूँजी की सीमान्त कार्य-क्षमता मे वृद्धि ग्रावश्यक शर्तें हैं, ग्रौर इन शर्तो के पूरा होने मे समय लगता है। सबसे बडी कठिनाई यह है कि ये शर्तें मनोवैज्ञानिक होती हैं, जिन पर काबू पाना ग्रासान नहीं। इसलिये ग्राथिक व्यवस्था मे जितनी जल्दी समृद्धि समाप्त होती है उतनी जल्दी मन्दी नही समाप्त होती।

लेकिन धीरे धीरे पुन स्थिति बदलने लगती है। ग्राथिक व्यवस्था का अधोपतन तलेटी पर पहुँच जाता है ग्रौर पुनरुत्थान अवश्यम्भावी हो जाता है। कितने समय के बाद पुनरुत्थान शुरू होगा ? इस प्रश्न का उत्तर दो बातो पर निर्भर करता है—(१) पुराने पूजी उपकरणो (जो समृद्धि काल या उन्नति काल मे बैठाए गये थे) के घिसने तथा प्रयोग के अनुपयुक्त होने के लिये ग्रावश्यक समय, जिससे कि नई मशीनो की ग्रावश्यकता पडे, (२) समृद्धि काल के अन्त के समय

उत्पादकों के हाथ में बचे हुये माल के स्टाक को खपाने, बेचने के लिये आवश्यक समय। जिस प्रकार उत्थान के समय पूंजी उपकरणों की बढ़ती हुई बहुतायत के कारण पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में क्रमागत ह्रास आ रहा था, वैसे कुछ समय बीतने के बाद व्यापक मन्दी में भी ऐसी परिस्थितियां उपस्थित हो जायेंगी जिससे कि (पुरानी मशीनों के घिसने और बेकार होने के कारण) पूंजी उपकरणों का बढ़ता हुआ प्रभाव पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता को ऊपर ढकेलना शुरू करेगा। इससे पूंजी उपकरणों की मांग धीरे-धीरे बढ़नी शुरू होगी। अवसाद काल कितनी लम्बी होगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि समृद्धि काल में जो स्टाक बच गया था उसको बचने में कितना समय लगेगा। जब अवनति शुरू होती है तो उत्पादकों के पास काफी बड़ा स्टॉक जमा रहता है। गिरती हुई कीमतों पर यदि अपना स्टाक बेचें तो उनको नुकसान उठाना पड़ेगा, इसलिय कुछ समय तक बेचना कम या बिल्कुल बन्द कर देते हैं। लेकिन अनिश्चित काल तक ऐसा करना कठिन है। स्टॉक में जो रुपया फंसा हुआ है वह कदाचित् उत्पादकों ने बैंक से उधार लिया रहा होगा। बैंक अपना रुपया वापस मांगते हैं, फिर उस रुपये पर व्याज भी बढ़ता जाता है और गोदामों में माल जमा रखने का भी खर्च देना पड़ता है, वैसे ही खतरा होता है, अधिक दिन जमा रखने से माल के खराब हो जाने का। इन सबको केन्ज ने स्टॉक-वहन-लागत (Carrying Costs) कहा है। कुछ समय के बाद यह लागत इतनी अधिक बढ़ जाती है कि स्टाक रखने वाले घाटे पर भी अपना माल बेचने के लिये मजबूर हो जाते हैं। दूसरी ओर उपभोक्ताओं की मांग भी बढ़ने लगती है। मन्दी के शुरू में जब कीमतें गिरने लगती हैं तो यह सोचकर कि कीमतें अभी और गिरेंगी, उपभोक्ता उपभोग वस्तुएं खरीदना बन्द कर देते हैं। लेकिन धीरे-धीरे उनके घर का स्टाक खतम हो ही जायेगा और उन्हें मजबूर होकर आवश्यक वस्तुएं खरीदनी पड़ेंगी। इस प्रकार, एक ओर, स्टाक रखने वाले अपना स्टॉक बेचने पर तुले हैं और दूसरी ओर उपभोक्ताओं की मांग बढ़ रही है। इन सबका फल यह होगा कि पुराना स्टाक अब शीघ्र समाप्त हो जायगा। पुराने स्टॉक की विक्रय-क्रय को केन्ज ने अविनिमय करना (dis-investment) कहा है।

इस प्रकार पुराने पूंजी उपकरणों के घिसने तथा पुराने स्टॉक के खतम होने के लिये आवश्यक समय के समाप्त होने पर पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता बढ़नी शुरू होगी तथा आर्थिक व्यवस्था पुनरुत्थान के पथ पर चल पड़ेगी। इस प्रक्रिया में गिरी हुई व्याज की दर भी काफी सहायक होती है। लेकिन पूंजी की सीमान्त कार्य-क्षमता ही इस उत्थान-पतन की प्रधान नायिका है।

चिर-कालीन अवसाद—

आज के युग में समाज में जितना ही धन बढ़ता जाता है, केन्ज के अनुसार लोगों की उपभोग करने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम होती जाती है तथा

बचत करने की आदत बढ़ती जाती है। यदि विनियोग इस बचत के साथ कदम से कदम मिलाकर न चल सका तो समाज विपत्ति में पड़ जायगा। समाज जितना ही अधिक धनी होता जाता है, बचत उतनी ही बढ़ती जाती है। केन्ज के अनुसार धनी समाजों में विनियोग उस गति से नहीं बढ़ता जिस गति से कि बचत बढ़ती है। १६वीं शताब्दी में तो पाश्चात्य धनी देशों में जनसंख्या में वृद्धि, आविष्कार, नये-नये बाजारों का खुलना, युद्धों का होते रहना आदि बातें ऐसी थी जिनसे कि विनियोग को सदा प्रेरणा मिलती रही तथा पूँजी की सीमान्त कार्य-क्षमता का स्तर बना रहा। लेकिन अब ऐसी सम्भावनाएं बहुत कम रह गई हैं। अतः विनियोग का बचत से पीछे रहना बहुत कुछ अनिवार्य सा हो गया है। अब विनियोग करने के सुअवसर उतने नहीं रह गये हैं। फल यह है कि विनियोग के न बढ़ने पर तथा बचत के निरन्तर बढ़ते रहने के कारण आर्थिक व्यवस्था में अनुपयोगीकरण बढ़ेगा तथा क्षमशील माग कम होगी। यह अनुपयोगीकरण तब तक बढ़ता जायगा जब तक कि विनियोग तथा बचत में पुनः साम्य स्थापित नहीं हो जाता अर्थात् जब तक सस्थिति पुनः नहीं आ जाती। स्पष्ट है कि यह सस्थिति समाज में अनुपयोगीकरण के बावजूद भी आवेगी। यह प्रक्रिया बार-बार दोहराई जाती रहेगी और पूर्ण उपयोगीकरण की स्थिति पर पहुचने के पहले ही बचत तथा विनियोग के वैषम्य के कारण आर्थिक व्यवस्था सदैव नीचे को लौट पड़ेगी। इस प्रकार पाश्चात्य धनी समाजों को आर्थिक व्यवस्था में सदैव विनियोग न्यूनता तथा अवसाद की हालत बनी रहने का खतरा है।

हैन्सन भी इस विचार के पोषक हैं। केन्ज के इस मत ने पाश्चात्य देशों को आर्थिक नीति पर बहुत प्रभाव डाला है।

आर्थिक दृष्टिकोण से अविकसित देशों पर यह बात बिल्कुल लागू नहीं है। दूसरी बात यह है कि आज के विश्व व्यापी आर्थिक सहयोग ने पाश्चात्य धनी देशों को भी अपनी बचत को एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका में विनियोग करने का मौका दे रखा है अर्थात् विकासोन्मुख इन देशों ने पाश्चात्य धनी देशों को विनियोग का अवसर प्रदान कर रखा है। फिर युद्ध की आशंका तथा शस्त्रीकरण की योजनाओं ने भी विनियोग को काफी अवसर दे रखा है, वर्ना शायद केन्ज के चिरकालीन अवसाद की अवस्था आ गई होती।

व्यापार-चक्र तथा चिरकालीन अवसाद के रोकथाम की विधियां—

केन्ज ने व्यापार-चक्र तथा चिरकालीन अवसाद का उपचार यह बताया कि विनियोगीकरण को निरन्तर प्रोत्साहन मिलते रहना चाहिये। अवसाद के समय विनियोग को प्रोत्साहित करने का एकमात्र तरीका यह है कि उपभोग में वृद्धि की जाए। व्यापारी ऐसे समय में विनियोग बढ़ायेंगे नहीं क्योंकि उन्हें लाभ के हेतु काम करना है। अतः ऐसे समय में सरकारी विनियोग की आवश्यकता है।

केन्ज ने अवसाद काल मे इसीलिये मजदूरी कम करने का विरोध किया, क्योंकि मजदूरी कम करने से मजदूरो की आय कम होगी। उनकी क्रय-शक्ति उस समय घटेगी जबकि उसके बढने की जरूरत है। क्लासिकल अर्थशास्त्री यह कहते थे कि अवसाद काल को समाप्त करने के लिये मजदूरी का कम किया जाना आवश्यक होता है। केन्ज ने इसे अत्यन्त भ्रामक अन्धविश्वास कहा, मजदूरी कम होने से सामान्य क्रय-शक्ति क्षीण होगी तथा क्षमशील माग मे कमी आयेगी, जिससे कि अवसाद को और प्रोत्साहन मिलेगा। यदि निजी विनियोग नही बढता है तो सरकारो को चाहिए कि वे तब तक विनियोग करती जायें जब तक कि या तो सारी बचत खप न जाए या जब तक कि निजी विनियोग पुन पर्याप्त रूप से नही होने लगता।

चिरकालीन अवसाद तथा विनियोग न्यूनता का उपचार*—

(१) उपभोग करने की प्रवृत्ति मे सामान्य वृद्धि लाने के लिये यह आवश्यक है कि आय तथा धन का कुछ अधिक उपयुक्त रूप से वितरण हो तथा आर्थिक वैषम्यता को प्रगतिशील कर नीति द्वारा दूर किया जाए, जिससे कि लोगो का उपभोग बढे क्योंकि यही, उपभोग मे वृद्धि ही, अवसाद को समाप्त करने में समर्थ हो सकती है।

(२) ब्याज-दर मे कमी की जानी चाहिए। प्रश्न केवल यह है कि कैसे। केन्ज कदाचित विनियोग के राष्ट्रीयकरण द्वारा यह करने का सुझाव देना चाहते थे।

(३) अधिकाधिक सरकारी विनियोग के क्षेत्र मे वृद्धि।

केन्ज तथा उपभोग-न्यूनता विचार वाले —

केन्ज का व्यापार-चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त उपभोग-न्यूनता के सिद्धान्त से बहुत मिलता जुलता है। केन्ज यह स्वीकार करते हैं कि उत्पादन का निर्धारण क्षमशील माग करती है। केन्ज उपभोग-न्यूनता वाले सिद्धान्त के ५. फोस्टर तथा कैचिंग से इस बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि बचत एक प्रकार का मुद्रा-सकुचन है, तथा उपभोग मे वृद्धि प्रगति की निशानी है।

लेकिन हॉबसन, (जो उपभोग-न्यूनता सिद्धान्त के पोषक है) तथा केन्ज के बीच एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पर विरोध है। हॉबसन के अनुसार, बचत बढती है तो उत्पादन इतना बढ जाता है कि बाजार मे उत्पादित माल की बाढ आ जाती है, जो पूर्णरूपेण खप नही सकता, जिससे कि मन्दी होनी आवश्यक हो जाती है। केन्ज के अनुसार, उत्पादक माल से बाजार को भर देना पसद न करेगा, वह विनियोग को पहले ही रोक देगा, कीमत इसलिये कम नही होगी कि माल की अधिकता है, माल की अधिकता इस लिये होगी कि लोगो के पास क्रय-शक्ति कम हो गई है।

---

* विशेषकर केन्ज की "General Theory" के २४वें अध्याय मे यह पाये जाते हैं।

अर्थात् हॉबसन के अनुसार, पतन लाने वाली बचत वह होगी जिसका विनियोग हो जायेगा। हॉबसन तथा केन्ज दोनो इस बात पर कमोवेश सहमत है कि आय का वैषम्य दूर होना चाहिए।

केन्ज का व्यापार-चक्र के सिद्धान्तो पर बहुत व्यापक प्रभाव पडा है। केन्ज के कुछ प्रत्यय, अर्थात् पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता, उपभोग फलन, द्रव अधिमानता, व्यापार-चक्र के तमाम प्रमुख सिद्धान्तो के विवेचन के प्रयोग मे ले आये जा सकते हैं। जैसा हाबर्लर ने कहा है, केन्ज ने व्यापार-चक्र के सम्बन्ध मे कोई विशिष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया, फिर भी हाबर्लर ने जितने सिद्धान्तो पर विचार किया है उनके अनुसार उन सबकी व्याख्या केन्ज द्वारा प्रस्तुत विधियो से की जा सकती है।

केन्ज के सिद्धान्तो से उन अर्थशास्त्रियो के मतो को सबसे अधिक बल मिला जो विनियोग को व्यापार-चक्र का सक्रिय कारण समझते हैं। विनियोग तथा उपभोग का योग समस्त आर्थिक व्यवस्था की कुल मांग का निर्माण करता है। उपभोग मे विस्फोटक परिवर्तन नही होते, अत आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन का कारण प्रमुखत. और अल्पकालीन अवधि मे विनियोग है। विनियोग उत्पादको की अत्यन्त अस्थिर प्रत्याशा पर आधारित होता है, जिसके परिवर्तन का द्योतक है पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे परिवर्तन। आज के सिद्धान्तो मे इन प्रत्ययो का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

केन्ज के सिद्धान्तो ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि व्यापार-चक्र का जनन कोई बाह्य शक्ति नही करती, आन्तरिक शक्तियाँ ही उसको उत्प्रेरित तथा गतिमान करती है।

हाल ही मे 'गुणक' सिद्धान्त तथा 'गति वर्द्धक' सिद्धान्त की यौगिक अन्त-क्रियाओ तथा उनके प्रभावो के अध्ययन का प्रयत्न किया जा रहा है। इस सम्बन्ध मे तीन मॉडल उल्लेखनीय हैं। एक तो हैरॉड* का दूसरे सम्युलसन** का और तीसरे हिक्स*** का। ये सब व्यापार-चक्र का प्रवैगिक अध्ययन करने के पक्ष मे है। इसमे से हिक्स का सिद्धान्त बहुत कुछ गतिवर्धक सिद्धान्त पर आधारित है। स्थानाभाव से हम इनका विवेचन यहा नही करेंगे। लेकिन इस बात को हम पुन. याद दिला देना चाहते हैं कि उत्तर-केनेसियन सिद्धान्त सश्लेषणात्मक रूप से व्यापार-चक्र के सिद्धान्तो के अध्ययन का प्रयत्न कर रहे हैं।

**R. F Harrod*, The Trade Cycle (1936)

***P. A. Samuelson*, "A Synthesis of the Principles of Acceleration and the Multiplier" in Journal of Political Economy Dec 1939 Pp 786 97

**** J. R Hicks*, A Contribution to the Theory of the Trade Cycle (1950)

व्यापार-चक्र का निरोध तथा निवारण—

जिस प्रकार से व्यापार चक्र के कारण तथा क्रियाविधियो के विषय मे लोग एक मत नही है, उसी प्रकार इनके निदान तथा उपचार के विषय मे भी मतभेद है । इनकी रोकथाम तथा इनके उपचार मे आज के जगत मे जो तत्व सबसे अधिक आवश्यक हैं वह है मुद्रा तथा साख । बिना समुचित मुद्रा तथा साख नीति के अनुसरण के व्यापार-चक्र को रोकना अत्यन्त कठिन है । हम विभिन्न सिद्धान्तो पर विचार करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि विनियोग का प्रश्न व्यापार चक्र से अकाट्य रूप से जुडा हुआ है । इसका समुचित ढग से नियन्त्रित करने के लिये जो कुछ भी कदम उठाया जा सके वह व्यापार-चक्र की रोकथाम की दिशा मे सही कदम होगा । फिर उपभोग मे न्यूनता या आधिक्य भी व्यापारिक गतिविधि पर प्रभाव डालते हैं । कीमत की स्थिरता आर्थिक जगत के स्वास्थ्य की द्योतक है, इसके लिए समुचित कदम उठाना भी आवश्यक होता है । अनुचित आयात निर्यात भी आर्थिक व्यवस्था मे अशांति पैदा कर सकती हैं । अत इनका नियन्त्रण भी आवश्यक है । सरकार की राजस्व नीति का प्रभाव अत्यन्त व्यापक होता है, इसके द्वारा व्यापार-चक्र का बहुत कुछ उपचार सम्भव है । आर्थिक क्षेत्र मे सस्थात्मक गतिरोध का पैदा होना हानिकर है । मजदूरी, लगान तथा अन्य ऐसी तत्व सम्बन्धी नीतियो मे लोच आर्थिक सयोजन के लिये आवश्यक है ।

इन सबका अर्थ यह है कि व्यापार-चक्र के निरोध तथा निवारण के लिये कोई स्पष्ट तथा निश्चित नीति निर्धारित करना कठिन है । यह देश-देश की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो पर निर्भर होता है । व्यापार-चक्र के मूल मे मनुष्य की कमजोरिया, अदूरदर्शिता, लालच, बेसब्री उसके वातावरण, रीति-रिवाज सामाजिक तथा राजनैतिक सस्थायें आदि होती हैं । व्यापार-चक्र एक सामाजिक व्याधि है, अत इसका निदान भी समाज की समस्त परिस्थितियो को देखकर किया जा सकता है । कठिनाई यह है कि आर्थिक क्षेत्र में निर्णय करने वाले असख्य व्यक्ति होते हैं । वे सब अपना-अपना निर्णय भिन्न भिन्न हेतुओं, भिन्न भिन्न स्वार्थों तथा भिन्न-भिन्न मानसिक तथा सामाजिक परिस्थितियो से उत्प्रेरित होकर करते है अभी तक विज्ञान ने मानव हेतुओ तथा मानसिक स्थितियो पर काबू पाने का कोई रास्ता नही निकाला अत हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक जगत के प्रमुख प्रश्नो—जैसे उत्पादन, वितरण, विनियोग, उपयोगीकरण आदि—के निर्णय करने वालो की सख्या जितनी ही अधिक होगी, व्यापार-चक्र की रोकथाम उतनी ही मुश्किल होगी । आज आर्थिक जगत अराजकता का भार सभालने मे सर्वथा असमर्थ है । दूसरी सबसे बडी बात यह है कि आय तथा धन वैषम्यता की युगीन व्याधि का कोई निदान तब तक नही हो सकता जब तक कि राज्य इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित कदम नही उठाता और आय वैषम्य तथा धन वैषम्य आर्थिक जगत मे स्थिरित्व तथा क्रम के शत्रु है । अत हम यह कह सकते हैं कि व्यापार-चक्र के विरोध तथा निवारण का एक मात्र उपाय

पहले मौद्रिक उपचार आर्थिक व्यतिक्रमों के लिये पर्याप्त माना जाता था, लेकिन आज इसको पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया जा सकता। केन्ज तथा उनके अनुयायी अकेली मौद्रिक नीति द्वारा व्यापार-चक्र के निरोध तथा निवारण करने की बात पर कम विश्वास करते हैं। मौद्रिक नीति तभी सफल हो सकती है जबकि व्यापार-चक्र का कारण हो व्यापारियों की साख-प्रत्याशा तथा ब्याज-दर। लेकिन केनिसयन के मत ने इसे अस्वीकार किया है, उनके अनुसार यदि लाभ की प्रत्याशा ऊँची है तो ब्याज की दर द्वारा विनियोग को प्रभावित नहीं किया जा सकता, यदि लाभ की प्रत्याशा नहीं है तो शून्य ब्याज की दर पर भी लोग उधार नहीं लेंगे।

इन सब कारणों से हम यह कह सकते हैं कि केवल मुद्रा तथा साख के नियन्त्रण तथा नियोजन द्वारा हम व्यापार-चक्र का निरोध तथा निवारण नहीं कर सकते, यद्यपि इसके बिना भी हम ऐसा न कर सकेंगे। अत हम इसे व्यापार-चक्र के निरोध तथा निवारण के सामान्य उपायों की पूरक मानेंगे।

(२) **राजस्व नीति**—आर्थिक व्यवस्था का कुल व्यय (और इस प्रकार राष्ट्रीय आय) तीन प्रकार के व्ययों से मिलकर बनी होती है —

(क) व्यक्तियों द्वारा किया गया उपभोग व्यय,

(ख) व्यक्तियों द्वारा किया गया विनियोग, तथा

(ग) सरकार द्वारा किया गया विनियोग तथा अन्य व्यय।

उपयोगीकरण तथा आय के किसी स्तर को तभी बनाये रखा जा सकता है जब उपभोग से बची हुई समस्त आय का विनियोग होता रहे। लोगों के उपभोग की आदतें प्राय स्थिर प्रायः मानी जा सकती है, विशेषतया अल्पकालीन अवधि में, इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी बचत-दर भी स्थिर प्राय. होती है (क्योंकि आय-उपभोग बचत) लेकिन बचत करना एक बात है, तथा, विनियोग दूसरी बात। विनियोग चूँकि लाभ की प्रत्याशा पर निर्भर होता है, अत यह अत्यन्त अस्थिर तथा आततायी होता है। इसलिये विनियोग बचत से कम भी हो सकता है और अधिक भी। यदि यह बचत से अधिक होगा तो यौगिक क्षमशील माग बढ़ेगी, तथा मुद्रा-स्फीति की अवस्था के आ जाने की सम्भावना होगी, यदि विनियोग बचत से कम है तो यौगिक माग घटेगी तथा मुद्रा सकुचन का भय है। मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-सकुचन, दोनों व्यापार-चक्र के पोषक है। इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि समुचित राजस्व नीति द्वारा इस कठिनाई को दूर किया जाय।

सरकार यदि व्यक्तियों तथा अपने व्यय को नियोजित कर सके तो यह यौगिक क्षमशील माग में आवश्यकता अनुसार परिवर्तन ला सकती है। सरकार की राजस्व नीति इसीलिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजस्व नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा व्ययों की दरें, करों का वितरण तथा स्तर निर्धारित करना, सार्वजनिक ऋण लेने, वापस देने तथा उस पर ब्याज सम्बन्धी बातों को निश्चित करना आदि बातें शामिल होती। स्पष्ट है कि इन बातों द्वारा सरकार आर्थिक जगत को नियन्त्रित तथा नियोजित

कर सकती है। पूर्णरूपेण समाजीकरण (Socialization) की नीति के न होने पर भी सरकार के हाथ में राजस्व एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण हथियार होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में इसका महत्त्व अत्यधिक है जहां यह समुचित कर-नीति द्वारा समाज में आर्थिक तथा आय वैषम्य को किसी हद तक दूर कर कुल क्षमशील माग मे वृद्धि ला सकती है। वास्तव में, पूंजीवादी व्यवस्था को भीषण रोगों से मुक्त करने के लिये राजस्व नीति बहुत कारगर सिद्ध हो सकती है और हो रही है। लर्नर ने* सरकारों के लिये तीन नियम बताये हैं।

(क) सरकार आर्थिक-व्यवस्था में कुल व्यय का एक समुचित स्तर बनाये रखेगी। (ख) सरकार इतनी ब्याज दर बनाये रखेगी जो इष्टतम विनियोग के पोषण के लिये आवश्यक हो तथा (ग) सरकारी प्रेस इन नियमों के पालन के लिये आवश्यक मुद्रा को छापेगा।

मुद्रा तथा बैंकों के नियोजन द्वारा किसी हद तक मुद्रा स्फीति पर तो काबू पाने की बात की जा सकती है लेकिन मुद्रा सकुंचन की व्याधि उससे दूर होने की नहीं। अवसाद काल में जबकि लाभ की प्रत्याशा बहुत क्षीण होती है तो सस्ते ब्याज पर भी मुद्रा को कोई उधार नहीं लेता। लेकिन समुचित राजस्व नीति द्वारा मुद्रा-सकुंचन को रोका जा सकता है।

सरकार के हाथ में राजस्व नीति के साधनों को स्थूल रूप से हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं

(अ) सरकार के व्यय को यथासम्भव आर्थिक व्यवस्था में स्थायित्व लाने के दृष्टिकोण से परिवर्तित किया जाये। सरकारी व्यय जो इस प्रकार नियंत्रित किये जा सकते हैं दो भागों में बांटे जा सकते हैं

(१) सार्वजनिक कार्यों पर व्यय (सड़कें, मकान आदि का निर्माण)।

(२) स्थानान्तरित भुगतानें, जैसे सार्वजनिक ऋण पर लगान, जन साधारण *को कोई अनुपूर्ति देना, सहायतार्थ भुगतानें (उदाहरण के लिए बाढग्रस्त अथवा* अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोपग्रस्त क्षेत्रों को सहायता देना), बेकारी बीमा, तथा सामाजिक सुरक्षा लाभ आदि।

(आ) कर के वितरण तथा उसकी दरों में इस प्रकार परिवर्तन कि उपभोग तथा विनियोग को वांछित दिशा में तथा वांछित मात्रा में मोड़ा जा सके। ये परिवर्तन या तो कर की दरों में किया जा सकता है या उसके ढांचे में।

इन समस्त राजस्व नीतियों का उद्देश्य यह है कि कुल व्यय इतना हो कि *उससे उत्पादन तथा उपयोगीकरण के वांछित स्तर को कायम रखा जा सके, व्यय न* इससे कम होने पाये न अधिक। अवसाद के समय जब व्यापारी कोई विनियोग का काम उठाने में हिचकिचाते हों तो सरकार को सार्वजनिक निर्माण, जैसे नहरें, सड़कें, इमारतें आदि, प्रारम्भ कर देना चाहिये तथा ऐसा कदम उठाना चाहिए कि लोगों

* Economics of Employment Ch 1

जाना चाहिये, जिसमे कि उन्हे समुचित दिशा मे तथा समुचित मात्रा मे ऊचा-नीचा किया जा सके और सस्थिति शीघ्र वापस लाई जा सके ।

कीमतो के बेलोच होने के कई कारण हो सकते हैं । समृद्धि वेला मे वे इसलिये बेलोच हो सकती हैं कि अभिनव परिवर्तन का लाभ जन साधारण तक नही पहुच पाया । अवसाद के समय उनमे बेलोचपन इसलिये हो सकता है कि आर्थिक-व्यवस्था मे विक्रयेकाधिकारी काम कर रहे हैं जो कीमतो को घटाने के बदले उत्पादन कम करना अपने लिये अधिक श्रेयस्कर समझते हैं । फिर हो सकता है कि व्यापार दीर्घकालीन ऋण द्वारा अपना उत्पादन कार्य कर रहे हो, जिससे कि उन्हे एक निश्चित ब्याज की रकम देनी ही पडेगी और वक्त पर ऋण लौटाना पडेगा, अत. वे व्यापारी अपनी वस्तु की कीमत को स्थिर रखेगे ।

कीमतो को अवसाद के समय स्थिर बनाये रखने की सलाह बहुत से अर्थशास्त्री देते आये हैं। लेकिन कीमत का वाछित उतार-चढाव तभी किया जा सकता है जबकि वह लोचदार हो । कीमतो मे लोच का समर्थन करने वालो का कहना है कि इससे प्राविधिक उन्नति के समय लाभ-मुद्रा स्फीति को रोका जा सकता है । कीमत लोच अवसाद के कम्पन विस्तार तथा दैर्घ्य को कम कर सकेगी और सबसे बडी बात तो यह है कि मौद्रिक तथा राजस्व नीतियो की सफलता के लिये भी कीमतो का लोचदार होना आवश्यक है ।

कीमतो को लोचदार बनाये रखने के लिये कई तरीके अपनाये जा सकते है। व्यापारियों को बराबर समझाते रहने और उन्हे उत्प्रेरित करते रहने से ऐसा किया जा सकता है । व्यापारिक सघो द्वारा भी इसमे सहायता मिल सकती है । सरकार सीधे इन पर नियत्रण रख सकती है ।

सरकार कीमतो का निम्नतम तथा अधिकतम स्तर भी निर्धारित कर सकती है । यदि कीमत निम्नतम स्तर से गिर जाय तो सरकार यह कर सकती है कि वस्तुओ को स्वय खरीदना शुरू करदे ।

लेकिन इन तमाम बातो के होते हुए भी कीमतो को सर्वत्र लोचदार बनाने का प्रयत्न कामयाब हो सकेगा, इसमे सदेह है । पू जीवादी व्यवस्था मे इन्हे पूर्णतया और सर्वत्र लोचदार नही बनाया जा सकता और फिर पूर्णता को लोचदार बनाने मे भी खतरे कम नही हैं । बेलोचपन मे अस्थिरता का भाव प्रच्छन्न है और अस्थिरता को दूर करने के लिये ही हम ऐसा करना चाहते हैं । अच्छा यह होगा कि लोगो की क्रयशीलता मे सयोजन लाने का मूलत प्रयत्न किया जाय । कीमत का बेलोच होना इस बात की गारटी नही दे सकता कि इसमे लोगो की क्रयशक्ति अथवा उनके दृष्टिकोण मे कोई विशेष परिवर्तन आ सकेगा । अत इस नीति को हम मौद्रिक तथा राजस्व नीति के सहायक के रूप मे यत्र-तत्र ले सकते हैं, इससे अधिक कुछ नही ।

(४) इसी प्रकार कुछ अर्थशास्त्रियों के विचार से मजदूरी की नीति भी लोचदार होनी चाहिये । लेकिन यहा कीमत-लोच के प्रश्न से भी अधिक

कठिनाइया हैं। केन्ज ने इस बात को स्वीकार भी नही किया है कि मजदूरी को कम करके उपयोगीकरण बढाया जा सकता है। केन्ज ने राजस्व नीति को व्यापार-चक्र से लडने का सबसे अधिक उपयुक्त हथियार समझा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी व्यापार चक्र के नियत्रण के लिये नीति-निर्धारण का प्रयत्न किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खास खास सामग्रियो का उत्पादन तथा उनकी कीमत नियत्रित की जानी चाहियें। फिर बफर स्टॉक बनाये रखने का भी सुझाव दिया गया है, जिससे कि अभाव-ग्रस्त क्षेत्रो को कुमक पहुचाई जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग करने का भी सुझाव दिया गया है। वास्तव मे, सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रयत्न इन दिशाओ मे जारी हैं। जब तक राष्टो की सीमायें कायम हैं तब तक इन अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो की सफलता अत्यत सीमित रहेगी। फिर भी अब तक के सयुक्त राष्ट्र सघ के इतिहास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आर्थिक क्षेत्र मे इसके प्रयत्न फल देने लगे हैं।

अन्त मे, हमे इन तमाम नीतियो के सीमित होने की बात न भूलनी चाहिए, न यही भूलना चाहिए कि पूजीवाद मे व्यापारिक उथल-पुथल स्वभाव जन्य होती है। उचित तथा सयोजित नीतियो द्वारा हम उसके प्रभाव को कम कर सकते हैं। उसका पूर्ण रूप से अन्त करना कठिन है। फिर देश और काल की परिस्थितियो के हिसाब से इस दिशा मे नीतिया भी अपनाई जा सकती हैं।

३·४

तटस्थ वक्र तथा मानचित्र के कतिपय कठिन प्रयोग

हम यह जानते हैं कि विनिमय आर्थिक विश्लेषण का एक परमावश्यक अंग है। मुद्रा विनिमय की माध्यम है। विनिमय मे मुद्रा का प्रवेश होने के बाद हम 'क्रय' तथा 'विक्रय' को दो क्रियाओं मे विभक्त कर सकते हैं। वास्तव मे, एक ही क्रिया के ये दो पहलू हैं। एक व्यक्ति जिसको 'क्रय' करता है, उसे दूसरा विक्रय करता है। बिना विक्रय के क्रय नही हो सकता। अब, जब हम अपनी आर्थिक व्यवस्था पर दृष्टि डालते हैं तो क्रय करने वाली तथा विक्रय करने वालो के तीन वर्ग स्थूल रूप से हमे मिलते है : गृहस्थ, फर्म तथा सरकार। प्रत्येक गृहस्थ को यह निर्णय करना पडता है कि कौन-कौन वस्तुयें, या सेवायें किन-किन मात्राओ मे कहां-कहां और कब-कब वह क्रय करे। इन बातो का निर्णय उस गृहस्थ की क्रय योजना कहलाती है। लेकिन गृहस्थो के पास क्रय-शक्ति, मुद्रा, आयेगी कहा से ? स्वभावत. मुद्रा या सामान्य क्रय-शक्ति को प्राप्त करने के लिये उन्हे भी कुछ विक्रय करना पडता है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ की एक विक्रय-योजना भी होती है, वह यह निश्चिय करता है कि कौन सी वस्तुयें, सेवायें, श्रम, कच्चा माल आदि—वह कब, कहा तथा किन मात्राओ मे विक्रय करेगा। अपनी क्रय-विक्रय योजनाओ के बनाने मे वह कौनसा उद्देश्य अपने समक्ष रखता है ? इन योजनाओं से वह क्या प्राप्त करना चाहता है ? अर्थशास्त्री यह उपधारणा करते चले आ रहे हैं कि प्रत्येक गृहस्थ इन योजनाओ द्वारा अधिकतम तुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् आर्थिक जगत मे प्रत्येक गृहस्थ का लक्ष्य होता है अधिकतम तुष्टि की प्राप्ति। यहा यह कह देना आवश्यक है कि गृहस्थ को प्रमुखत: हम आर्थिक-व्यवस्था के उपभोक्ता के रूप मे ले रहे हैं। गृहस्थ तैयार माल की खपत करता है, उपभोग करता है, इसलिये हम प्रमुख रूप से उसकी मागो पर ही जोर दे रहे हैं। गृहस्थ क्या विक्रय करता है ? उत्पादन के साधन—श्रम, भूमि, पूंजी तथा प्रबन्ध-कौशल्य। *श्रम के बदले जो उसे प्राप्त होती है वह पारिश्रमिक मजदूरी कहलाती है,* भूमि के उपयोग के विक्रय से उसे लगान मिलता है तथा पूंजी उधार के बदले उसे ब्याज मिलती है। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि अपनी सेवाओ तथा वस्तुओ को उच्चतम् पारिश्रमिक पर विक्रय कर प्राप्त धन को अपने उपभोग मे वह इस प्रकार लगाना चाहता है जिससे उसे अधिकतम

तुष्टि प्राप्त हो सके। इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि गृहस्थ को क्रय तथा विक्रय योजनायें एक दूसरे से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं।

अब हम फर्म को लेते हैं। प्रो० बोल्डिंग के अनुसार फर्म "एक ऐसी संस्था है जो चीजों को क्रय करती है, उनका किसी प्रकार रूपान्तर करती है और तब लाभ कमाने के उद्देश्य से उनको विक्रय कर देती है।"[1] जिन वस्तुओं को यह खरीदता है उन्हें आदा (Inputs), जिनको विक्रय करता है उन्हें प्रदा (Output) तथा उस प्रक्रिया को जिससे यह खरीदी हुई चीजों का रूपान्तर बेची जाने वाली चीजों में करता है उसे 'उत्पादन की प्रक्रिया' कहते हैं। इन कार्यों के लिये फर्मों को तीन प्रकार की योजनायें बनानी पड़ती हैं आदा के लिये क्रय-योजना, उत्पादन-योजना तथा प्रदा के लिये विक्रय योजना।

लेकिन इन योजनाओं से उसका अभिप्राय क्या होता है? उत्तर है लाभ *कमाना प्रत्येक फर्म अपने उत्पादन तथा विक्रय* को इस प्रकार *नियोजित* करता है कि उसे उच्चतम् लाभ प्राप्त हो सके। हाल ही तक इस उत्तर पर किसी प्रकार का सदेह नही किया गया था और आज भी अभी तक कोई वैकल्पिक उत्तर गम्भीरतापूर्वक हमारे सामने नहीं आया है। वास्तविकता तो यह है कि 'उच्चतम् लाभ' के द्वारा ही हम फर्म की संस्थिति आदि बातों पर विचार करते रहे हैं।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि 'लाभ' शब्द का अर्थ कई प्रकार से लगाया जाता है। कुछ भी हो, किन्तु *'उच्चतम लाभ' की उपधारणा पर ही* परम्परागत फर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।

इस उपधारणा पर आघात करने वालों में प्रो० बोल्डिङ्ग का नाम प्रमुख है। वे कहते हैं कि फर्मों का एकमात्र ध्येय अधिकतम लाभ कमाना नहीं होता, न उनका इष्टतम आकार ही अधिकतम लाभ पर आधारित होता है। फर्मों के समक्ष और भी ऐसी आवश्यकताएं होती हैं जिनकी तुष्टि के लिये वे 'लाभ' का *बलिदान कर सकते हैं। जैसे, द्रवता तथा सुरक्षा आदि बातें ऐसी हैं जिनके लिये* फर्म कुछ लाभ का भली प्रकार बलिदान कर सकता है। जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं कि गृहस्थ उच्चतम तुष्टि पाने का प्रयत्न करता रहता है। इसीलिये प्रो० बोल्डिंग कहते हैं कि हम इष्टतम चुनाव (optimum choice) के ऐसे सामान्य सिद्धान्त की आवश्यकता है जिसके द्वारा हम किसी प्रकार के संगठन-फर्म, *गृहस्थ, सरकार आदि सबकी इष्टतम अवस्था को निर्धारित कर सकें।*

---

1. Economic Analysis by K. E. *Boulding* 3rd Edn p. 491.

इस अध्याय की सामग्री के लिये लेखक कथित विद्वान अर्थशास्त्री, बोल्डिंग की उपर्युक्त पुस्तक के ऋणी हैं।

पहले हम उदासीन वक्र रेखाओ के बारे मे बहुत कुछ कह चुके हैं। प्रो० बोल्डिग ने इन्ही उदासीन वक्रो का प्रयोग कतिपय आर्थिक सिद्धान्तो की व्याख्या के लिये किया है। विशेषतया उपर्युक्त इष्टतम अवस्था के निर्धारण मे इन उदासीन वक्रो से दिलचस्प काम लिया गया है। हम सक्षेप, मे इन प्रयोगों का जिक्र करते हैं।

अधिमानता का पैमाना (The Preference Scale)

हमारे समक्ष तमाम वस्तुए हैं। हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये न जाने कितनी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओ की जरूरत होती है। लेकिन हमारा सीमित सामर्थ्य दुनिया की हर चीज बहुतायत के साथ तो प्राप्त नही कर सकता। क्या ले, क्या न लें इन बातो का चुनाव करना पडता है। वही हालत फर्म की भी होती है, उसे इस बात का चुनाव करना पड़ता है कि वह अपने माल को किस मात्रा मे, कहा और कब बेचे।

हम भिन्न-भिन्न वस्तुओ का ऐसा सयोग चाहते हैं जो हमे इष्टतम तुष्टि दे सके। फर्म तथा समस्त आर्थिक व्यवस्था भी ऐसा ही इष्टतम सयोग ढूढा करते हैं। अब हम कोई ऐसा उपाय पाना चाहते हैं जिससे कि राशियो के बुद्धि-गम्य भिन्न-भिन्न सयोगो को उनके 'कल्याणकारी' गुण के हिसाब से क्रम मे रक्खा जा

सके। सयोगो का इस क्रम मे रक्खा जाना आवश्यक है जिससे कि इष्टतम सयोग को हम पा सकें। कौन सयोग अच्छा है, कौन अपेक्षाकृत बुरा—यह एक अत्यन्त सामान्य प्रत्यय है। अधिमानता व्यक्तिगत आधार पर की जा सकती है। या इसका आधार नैतिक मूल्य हो सकता है। अथवा सामाजिक अधिमानताओ की ओर

ये दोनो रेखायें क्षेत्र को चार पादों मे विभक्त करती है। $म_{ख}$ म $म_{क}$ से घिरे हुए पाद के भीतर 'क' तथा 'ख' दोनो राशियाँ 'वस्तुए' कही जायेंगी, क्योंकि यदि एक को स्थिर रख दूसरे की राशि मे हम वृद्धि करते हैं तो हम अधिमान्य स्थिति मे जाते हैं इस प्रकार, जब हम 'ह' से $ह_{क}$ की ओर जाते हैं और 'ख' को स्थिर रखते है तो हम एक "उच्चतर" उदासीन वक्र पर पहुचते हैं। यह स्थिति $ह_{क}$, पहले से अधिक अधिमान्य है। तथैव 'ह' से $ह_{ख}$ पर जाने का अर्थ होगा अधिक अधिमान्य स्थिति पर पहुचना। यदि 'म' को हमने पर्वत की उच्चतम शिखर कहा है तो ह से $ह_{क}$ या $ह_{ख}$ विन्दुओ पर जाने को हम 'पर्वतारोहण' कह सकते हैं। इसी प्रकार हम चारो पादो के सम्बन्ध मे फल निकाल सकते हैं।

$म_{क}$ म $म'_{ख}$ से घिरे हुए पाद मे 'ख' तो 'वस्तु' ही रह गई, किन्तु 'क' 'अवस्तु' हो गई, क्योंकि 'च' विन्दु से $च_{क}$ की ओर चलने से यद्यपि 'क' राशि मे वृद्धि होती है फिर भी यह गति पर्वतारोहण कही जा सकती है, उपयोगिता पर्वत से हम नीचे उतरते दिखाई पड़ते हैं। च से $च_{क}$ की ओर जाने का अर्थ होता है पहले से खराब अवस्था की ओर जाना, अपेक्षाकृत कम अधिमान अवस्था की ओर हम आते हैं या इस प्रकार कहे कि निम्नतर उदासीन वक्र की ओर हम उतरते हैं।

च से $च_{ख}$ विन्दु की ओर जाना, पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी, अधिमान्य अवस्था की ओर जाना है। क्योकि 'ख' वस्तु है। इसी प्रकार $म_{ख}$ म $म'_{क}$ से घिरे हुए पाद मे 'क' वस्तु है लेकिन 'ख' 'अवस्तु हो गई।

वैसे ही हम सिद्ध कर सकते हैं कि $म'_{क}$ म $म'_{ख}$ से घिरे हुए पाद मे 'क' तथा 'ख' दोनो 'अवस्तुएं' हैं।

सम्भावना वक्र

हमारी परिस्थितियाँ हमारी अपरिमित इच्छाओ की पूर्ति मे बाधक हैं। फिर आर्थिक व्यवस्था मे उत्पादन लागत तथा बाजार की समस्याएं इतनी जटिल हैं कि वे हमारे निर्णय तथा इष्टतम चुनाव की सम्भावनाओ को सीमित करती हैं। ये राशियो के सयोगो को दो वर्गों मे बॉट देती हैं। राशियो के सयोगो का एक वर्ग तो ऐसा है जिसको प्राप्त करना तो हमारे लिये सम्भव है, दूसरा वर्ग ऐसा है जिसको प्राप्त करना हमारे वश मे नहीं।

अब, यदि हम अपने उपर्युक्त चित्र मे एक 'सम्भावना वक्र' फ ह ज खींचे तो हम देखते हैं कि सम्पूर्ण क्षेत्र को यह दो भागों मे बाँट देती है। इस क्षेत्र का एक भाग तो 'अ ज ह फ' सीमाओ के भीतर घिरा है, दूसरा इन सीमाओं से बाहर है।

'क' तथा 'ख' वस्तु या राशियों के भिन्न-भिन्न अनुपातों में योग हम इसी 'अ ज ह फ' के चित्र के अन्तर्गत ही प्राप्य हैं। इसके बाहर जो कुछ है वह सब असम्भव, अप्राप्य हैं। अब इसी सीमित सम्भव क्षेत्र 'अ ज ह फ' में हमें 'क' तथा 'ख' राशियों के इष्टतम संयोग को पाना है। वह कौन सी स्थिति है जहां का 'क' तथा 'ख' का संयोग इष्टतम होगा ? इस 'सम्भावना' वक्र से घिरे हुए उपयोगिता-पर्वत पर कौन सा शिखर सबसे ऊंचा है। उत्तर में हमें 'ह' बिन्दु मिलता है। 'ह' बिन्दु पर 'सम्भावना वक्र' को एक उदासीन वक्र छूता है। यही संयोग की इष्टतम अवस्था होगी क्योंकि 'सम्भावना' वक्र पर्वत के उच्चतम स्थान पर यहीं पहुँचती है, इसके बाद वह पर्वत से नीचे उतरने लगती है। 'ह' पर फ ह ज वक्र 'ह' बिन्दु से गुजरने वाली उदासीन वक्र की स्पर्शक है।

'ह' बिन्दु पर, जहां दोनों वक्र एक दूसरे वक्रों के स्पर्शक है, दोनों वक्रों के ढाल बराबर हैं। उदासीन वक्र के ढाल को हम उदासीन स्थानापन्न की दर कह सकते हैं। उदासीन स्थानापन्न की दर 'ख' राशि की वह मात्रा है जो अवस्था की अधिमानता पर प्रभाव डाले बिना 'क' की एक इकाई की स्थानापन्न हो सके। अर्थात् यदि 'ख' की उस मात्रा को हम 'क' की एक इकाई के स्थान पर प्रयुक्त करें तो हम पहले से अच्छी या बुरी अवस्था पर न जायें, बल्कि हमारी अवस्था पूर्ववत रहे। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि 'उदासीन स्थानापन्न की दर' 'ख' की वह मात्रा है जिसकी अधिमानता 'क' की एक इकाई की अधिमानता के समतुल्य हो। संक्षेप में, इसे हम 'स्थानापन्न की सीमान्त-दर' कहते हैं। 'सम्भावना वक्र' की ढाल को 'वैकल्पिक स्थानापन्न की दर' या 'क' के लिये 'ख' की 'सीमान्त वैकल्पिक लागत' * कहा जा सकता है। ख की 'सीमान्त वैकल्पिक लागत' 'म' की वह उच्चतम मात्रा है जो 'क' की एक इकाई की स्थानापन्न हो सकती है। या हम यह कहें कि ख की सीमान्त वैकल्पिक लागत ख की मात्रा में वह अधिकतम वृद्धि है जो 'क' की एक इकाई को बलिदान करके प्राप्त की जा सकती है।

हमने यह देखा कि 'ह' इष्टतम अवस्था है, ह बिन्दु पर उदासीन रेखा का ढाल बराबर होता है 'सम्भावना वक्र' के ढाल के उदासीन वक्र का ढाल बराबर है 'स्थानापन्न की सीमान्त दर' के तथा 'सम्भावना वक्र' का ढाल बराबर है सीमान्त वैकल्पिक लागत के। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि इष्टतम अवस्था 'ह' पर 'स्थानापन्न की सीमान्त दर' बराबर है 'सीमान्त वैकल्पिक लागत' के (संक्षेप में स्था० सी० दर=सी० वै० ला०)। या हम यों कहें कि इष्टतम अवस्था तभी प्राप्त

---

* वैकल्पिक लागत दो वस्तुओं का हम किस अनुपात में विनिमय करेंगे ? यदि हम यह मान लें कि समाज में संसाधनों के एक पेशे या उपयोगीकरण से दूसरे पेशे या उपयोगीकरण में जाने आने पर कोई रुकावट नहीं है तो हम यह कह सकते हैं कि बाजार में इन दो वस्तुओं के विनिमय का अनुपात बराबर होगा इन

होगी जब 'उदासीन स्थानापन्न की सीमान्त दर' बराबर हो जाय सीमान्त वैकल्पिक लागत के ।

लेकिन उपर्युक्त शर्त की पूर्ति सदा इष्टतम् अवस्था पैदा करने के लिए पर्याप्त नही है । कल्पना की कि अब 'सभावना वक्र' नये स्थान स ल ट पर आ गई है। इस वक्र पर 'ल' बिन्दु इष्टतम अवस्था है, लेकिन यह तभी जब हम 'सलट' की सीमा पर हो- थोडा ही भीतर की ओर आने पर हमे 'म' बिन्दु मिलता है जो, हम पहले बता चुके हैं कि 'म' बिन्दु कन्टूर रेखाओ द्वारा दर्शित उपयोगिता-पर्वत का शिखर है जो निरपेक्ष रूप से उपयोगिता की इष्टतम अवस्था प्रकट करता है । यह सम्पूर्ण क्षत्र मे इष्टतम अवस्था को प्रकट करने वाला बिन्दु है । इसलिये यद्यपि 'ल' बिन्दु पर 'उदासीन स्थानापन्न की सीमान्त दर', 'सीमान्त वैकल्पिक लागत के बराबर हो जाती है लेकिन फिर भी यह सभाव्य क्षेत्र की इष्टतम अवस्था प्रकट नही करता। इष्टतम बिन्दु है भीतर का 'म' बिन्दु ।

वही हाल है एक दूसरी 'सभावना रेखा', फ भ व ज का। यहा हम देखते हैं कि 'भ' तथा 'व' दोनो ऐसे बिन्दु हैं जहा कि क्रम से 'उदासीन स्थानापन्न की सीमान्त दरें' बराबर हैं सीमान्त वैकल्पिक लागतो के । लेकिन 'भ' सापेक्ष उच्चतम अवस्था है तथा 'व' सापक्ष निम्नतम ।

इसलिये उपर्युक्त सीमान्त दशाओ पर ही भरोसा कर इष्टतम के पाने का प्रयत्न करना उचित नही है बल्कि समस्त 'सभाव्यता' के क्षेत्र को ढूंढना चाहिये। हमे एक सीमित क्षेत्र मे उच्चतम बिन्दु पाना होता है, उपर्युक्त सीमान्त दशाओ की पूर्ति इसमे हमारी एक सहायक मात्र है ।

अब हम अपने मुख्य दो सिद्धान्तो, फर्म के सिद्धान्त तथा गृहस्थ के सिद्धान्त पर इन उदासीन वक्रो का प्रयोग करेंगे और फल निकालेंगे । फर्म के सिद्धान्त पर उदासीन वक्रों के विश्लेषण द्वारा प्रो० बोल्डिंग ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि फर्म के सिद्धान्त का विश्लेषण, जो परम्परागत इस भावना पर टिका है कि प्रत्येक फर्म का मुख्य लक्ष्य होता है अधिकतम लाभ कमाना त्रुटिपूर्ण तथा अपर्याप्त है। जैसा हम पहले कह आये हैं कि लाभ के अलावा भी बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जिनका फर्म ध्यान रखता है । ऊपर हमने द्रवता तथा सुरक्षा का उदाहरण दिया है । इसके अतिरिक्त और बहुत सी बातें फर्म के अन्तिम निर्णय को प्रभावित करती

दोनो वस्तुओ की उन राशियो के अनुपात के जो आर्थिक ससाधनो मे समान व्यय से उत्पादित की जा सकती हैं । तो, आर्थिक ससाधनो के समान व्यय से उत्पादित दो वस्तुओ की राशियो का अनुपात ही वैकल्पिक लागत कहलायेगा । मान लिया कि ससाधनो की एक निश्चित मात्रा से हम १० गज रेशमी या १ मन ऊन उत्पादित कर सकते है तो रेशमी कपडे की वैकल्पिक लागत (ऊन के बदले मे) $\frac{1}{10}$ मन ऊन प्रति गज है ।

हैं, जैसे लाभ कमाने की भावी सभावनाय, निश्चित या अनिश्चित भविष्य, जनता के बीच लोकप्रियता आदि।

इसलिए फर्म का उद्देश्य केवल अधिक से अधिक लाभ कमाना नहीं बल्कि एक ऐसी इष्टतम स्थिति पर पहुँचना है जहा सारी परिस्थितियों का इष्टतम अनुपात म मेल होता है। हम इसके विश्लेषण मे निम्नलिखित चित्रो का सहारा लेगे।
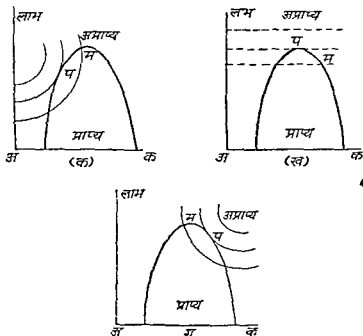
चित्र न० २ फर्म की उपयोगिता को अधिकतम करना

उपर्युक्त चित्रो मे लाभ उर्ध्वग अक्ष पर माना गया है। मान लिया कि फर्म के लिये कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तनशील तत्व है जिनको क्षैतिज अक्ष पर लिया गया है। यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तनशील तत्व मापने योग्य कोई भी वस्तु हो सकती है—भौतिक या अभौतिक, जैसे उपर्युक्त द्रवता, सुरक्षा, निश्चयपूर्णता, ख्याति तथा लोकप्रियता आदि। इन परिवर्तनशील तत्वो को हमने 'क माना है।

लाभ तथा 'क' को सम्बन्धित करती हुई तथा 'सम्भावना' धर्म को बताता हुआ प्रत्येक दशा म हमने एक लाभो का वक्र खीचा है। म पर लाभ के लिये इस वक्र का मूल्य उच्चतम मान लिया जाता है। वक्र के भीतर, लाभ तथा 'क' के जितने

योग भी सम्भव हो सकते हैं, सब प्राप्य (सभाव्य) हैं। प्रत्येक दशा मे हमने तीन उदासीन वक्र खींचे है।

अब हम चित्र २ (क) को लेते है। इस चित्र म इन उदासीन वक्रो का ढाल ऊपर की ओर है। जैसे ऊपर के चित्र (१) मे $म_क$ म $म'_ख$ से घिरे पाद मे क एक 'अवस्तु' थी वैसे, यहा, इस चित्र मे भी 'क 'अवस्तु' है। 'क' अप्रियता का द्योतक माना गया है। यदि अप्रिय 'क' मे वृद्धि होती है तो इस क्षति की पूर्ति के लिय लाभ मे भी वृद्धि होनी आवश्यक है। इष्टतम अवस्था 'प' है जहा उदासीन रेखा सभावना वक्र पर स्पर्शक है। 'प' बिन्दु उच्चतम लाभ के बिन्दु 'म' से नीचे है जहा 'क का मूल्य अपेक्षाकृत कम है। 'म' बिन्दु पर पहुँचने से कोई लाभ नही क्योकि वहा जाने से जितनी लाभ मे वृद्धि होगी उतनी ही अवस्तु' 'क म वृद्धि होगी और लाभ म वृद्धि का मान 'अवस्तु', क म वृद्धि के मान से कम होती है।

चित्र २ (ख) मे उदासीन वक्र क्षैतिज हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि 'क' तटस्थ है। अर्थात् हमे इस बात की बिल्कुल परवाह नही है कि इसकी कम मात्रा हमारे पास है कि ज्यादा। ऐसी हालत म इष्टतम बिन्दु 'प' उच्चतम लाभ के बिन्दु 'म ही पर पडता है। दोनो बिन्दु एक ही पर पडत हैं अर्थात् इष्टतम अवस्था, उच्चतम लाभ की अवस्था के समरूप है।

चित्र २ (ग) मे, 'क' एक वस्तु है तथा उदासीन रेखाओ का ढाल नीचे की ओर है। इसका अर्थ यह है कि 'क वस्तु को अधिक मात्रा म प्राप्त करने के उद्देश्य स हम लाभ को बलिदान करने पर तत्पर हैं। इस चित्र म 'प' बिन्दु म बिन्दु स नीचे बिन्दु दाहिनी ओर है, जिसका अभिप्राय यह है कि हम 'क वस्तु को अधिक प्राप्त करने का सुख-लाभ उठाने के लिय अधिकतम लाभ के बिन्दु से आगे जान के लिय तत्पर हैं।

इस प्रकार अधिकतम लाभ कमाने का सिद्धान्त एक विशिष्ट रूप से देखा गया है। इसमे फर्म उन समस्त परिवर्तनशील तत्त्वो की ओर से उदासीन रहता है जो एक 'सभाव्य फलन मे लाभ से सम्बन्ध रखत है।

तटस्थ-वक्र की विश्लेषण विधि का हम गृहस्थो पर भी लागू कर सकते हैं। हमने यह माना है कि गृहस्थ उत्पादन के विभिन्न साधनो का विक्रय करते हैं तथा तैयार माल को खरीदते हैं, यद्यपि गृहस्थ की यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल है।

गृहस्थ की आय उत्पादन के साधनो के विक्रय मे प्राप्त होती है। उस आय तथा बच जाने वाले ससाधन —वस्तु अथवा सेवा के—विभिन्न सयोगो म से सर्वाधिक तुष्टि प्रद सयोग को चुनना पडता है।

यहा हम श्रम तथा आय को ही लेगे। श्रमिक (गृहस्थ) श्रम करते समय मजदूरी की दर पर ध्यान रखता है। यहा हम यह उपधारणा कर लते हैं कि मजदूर इच्छानुसार एक निश्चित मजदूरी दर पर जितने घटे चाहे काम कर सकता है।

वह उतने घंटे काम करना पसंद करेगा जितने मे कि मौजूदा मजदूरी-दर पर उं अधिकतम तुष्टि प्राप्त हो सके। उसके चुनाव, अधिमानता को, हम निम्नांकित चित्र द्वारा प्रस्तुत कर सकते है।
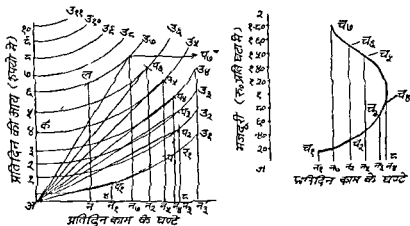
ऊपर के चित्र मे एक दिन के काम के घण्टो को हमने क्षैतिज अक्ष तथा आय को उर्ध्वर्ग अक्ष पर लिया है। चित्र मे उदासीन वक्र $उ_1$, $उ_2$, $उ_3$, $उ_4$ आदि, श्रमिक की काम तथा आय के बीच अधिमानता प्रकट करते हैं। इनमे से प्रत्येक वक्र उन विन्दुओ को मिलता है जो काम तथा आय के समान रूप से लाभ-प्रद सयोगो को प्रकट करते हैं। इस प्रकार $उ_1$ वक्र पर दो विन्दु $प_1$ तथा $र_1$ स्थित हैं, $प_1$ ४ घण्टे काम तथा १ २५ रुपया प्रतिदिन आय प्रकट करता है, $र_1$ ८ घण्टे काम तथा २ ५० रुपया प्रति दिन आय प्रकट करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि श्रमिक को १ २५ रु० की दर पर ४ घण्टे काम करने को कहा जाये या २ ५० रु० की दर पर ८ घण्टे काम करने को कहा जाये तो वह असमजस मे पड जायेगा कि वह दोनो म से कौन काम चुने क्योंकि दोनो समान रूप से लाभप्रद हैं।

उदासीन वक्रो की प्रणाली को हम एक दूसरी भाँति भी देख सकते हैं। इन्हे हम त्रय-विस्तार वाले उपयोगिता-तल के कन्टूर के रूप म भी देख सकते हैं। इस हालत म उपयोगिता को हम कागज पट से ऊर्ध्वर्ग अक्ष की दिशा मे लेते हैं।

हमने ऊपर यह भी कहा है कि हमारी उदासीन रेखायें कुछ विशेषतायें रखती हैं। पहली बात जिसकी उपधारणा हमने कर ली है वह यह है कि प्रत्येक उदासीन वक्र अन्त मे ऊपर की ओर तथा दाहिनी ओर को ढालू है। चित्र मे इसका अर्थ यह हुआ कि किसी व्यक्ति से अधिक काम लेने के लिये उसे अधिक काम लेने के लिय उसे अधिक पारिश्रमिक देना पडेगा। जैसे १ २५ रु० की दर से ४ घटा रोज काम या २ ५० रु० की दर से ८ घण्टा रोज काम दोनो श्रमिक के लिये समान हैं, किन्तु]

दि उसे ८ घण्टा रोज काम १) की दर पर करने को कहा जाय तथा १.२५ रु० की दर पर करने के बीच चुनाव करना हो तो वह बाद वाले को अवश्य अधिक पसन्द करेगा और यदि हमारे उदासीन वक्रों का ढाल नीचे की ओर होना तो ऐसी परिस्थिति पैदा हो सकती थी जहा कि वह १.२५ रु० मजदूरी पर ४ घंटे रोज काम करने तथा १ रु० की दर ८ घंटे रोज काम करने के बीच कोई फर्क न समझता हुआ माना जाता।

इसका अर्थ यह हुआ कि चित्र न० १ के $म_क$ म म$'_म$ पद मे हम काम कर रहे हैं जहा श्रम 'अवस्तु' है।

हमारी दूसरी उपधारणा यह है कि काम के घंटे जैसे बढ़ते जाते हैं उदासीन वक्र उतने ही अधिक ढालू होते जाते हैं। ऐसा इसलिये कि एक दिन मे कितने घंटे काम किया जा सकता है—इस बात की एक सीमा है—कोई १२, १३ या १८ काम कर लेगा। वास्तव मे, मजदूर जब अपनी सामर्थ्य की सीमा पर पहुँच जायगा तो सब उदासीन वक्र ऊर्ध्व हो जायेगी, क्योंकि १८ घंटे या उससे लगभग काम करने से आगे काम करने की उस मजदूर की क्षमता ही न होगी। इस सीमा पर उसे चाहे जितनी ताकत दी जाय वह आगे बढ़ेगा ही नही।

उठते ढाल वाले उदासीन वक्रो को लेने का एक कारण और है। कोई स्थिति ऐसी आती है, जब काम के घंटो मे वृद्धि क्रमश अधिकाधिक अरुचिकर होती जाती है। तीन घंटा काम करने के बाद एक घंटा अतिरिक्त काम करने मे श्रमिक को कोई विशेष कष्ट न होगा, लेकिन यदि वह पहले ही ८ घंटा काम कर चुका है तो १ घंटा अतिरिक्त काम करना उसे उतना रुचिकर प्रतीत न होगा। यदि उपयोगिता को हम माप सकें तो हम यह कह सकते हैं कि काम के घंटे जितने ही बढ़ते जाते हैं, वैसे ही, एक निश्चित स्थिति के बाद, काम की सीमान्त उपयोगिता गिरने लगती है।

ऊपर दिये हुए चित्र ३ क म शुरू ही से काम को 'अनुपयोगिता' मान लिया गया है जिससे कि जैसे-जैसे एक दी हुई आय के बदले काम करने के घंटो मे वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे काम की कुल उपयोगिता तथा आय, दोनों, साथ-साथ निरन्तर बढ़ती हुई गति से कम होते जाते हैं। यदि आय अक्ष अ द से क्षैतिज दिशा मे हम बाहर की ओर चलें तो हम बढ़ेमान तेजी से उदासीन रेखाओं को पार करते जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल उपयोगिता तल अधिकाधिक ढालू होता जा रहा है तथा काम की सीमान्त उपयोगिता अधिकाधिक एक ऋणात्मक राशि होती जा रही है और यह फल हम उपर्युक्त किस्म की वक्र रेखाओं से ही प्राप्त कर सकते हैं।

अब यदि किसी श्रमिक को प्रति घंटे के हिसाब से निश्चित मजदूरी जितने घंटे वह काम करता है उतने घंटे की मिलती है तो वह रेखा जो काम करने के घंटों

की संख्या तथा एक दिन में प्राप्त कुल आय के बीच सम्बन्ध को प्रकट करती मूल बिन्दु से खींची हुई सरल रेखा होगी। इस रेखा की ढाल प्रति घंटा मज बताती है।

यदि प्रति घंटा मजदूरी $\frac{न_1 प_1}{म न_1}$ (या स्पर्शक प, म न$_1$) हो तो म रेखा आय घंटों के बीच सम्बन्ध को प्रकट करती है।

यदि हम आय तथा घंटों का इष्टतम संयोग खोजें तो यह हमें वहां मि जहां म प$_1$ रेखा को कोई उदासीन वक्र छूता है। 'प$_1$' बिन्दु के नि (Co-ordinates) घंटों तथा आय का इष्टतम संयोग प्रकट करते हैं। प्रति एक निश्चित मजदूरी की दर से कोई श्रमिक ऊंचे से ऊंचे इसी बिन्दु पर सकता है।

श्रम का पूर्ति वक्र—

उपर्युक्त विचारों के आधार पर अब हम श्रम का पूर्ति वक्र आसानी खींच सकते हैं। प्रति घण्टा मजदूरी जितनी ही अधिक होगी, घंटे आय की उतनी ही अधिक ढालू होगी। मजदूरी जब $\frac{न_1 प_1}{म न_1}$ से $\frac{न_2 प_2}{म न_2}$ पर चली जाती है घंटे आय की रेखा मप$_1$ से मप$_2$ को ढल जाती है अर्थात् सस्थिति का बिन्दु प$_2$ पर चला जाता है तथा काम के घंटे मन$_1$ से मन$_2$ हो जाते हैं।

जैसा मप$_3$, मप$_4$ आदि ढालों से प्रकट है, मजदूरी जैसे-जैसे बढ़ती है वैसे-वैसे सस्थिति का बिन्दु प$_3$ से प$_4$ आदि को स्थानान्तरित होता जाता है। तरह हम श्रम के पूर्ति वक्र को पूर्णतया खींच सकते हैं। यह चित्र ३ (ख) दिखाया गया है। ३क चित्र की भांति और उसी पैमाने पर काम के घंटे को अक्ष पर लिया गया है तथा प्रति घंटा के हिसाब से दी जाने वाली मजदूरी ऊर्ध्वगं अक्ष पर। वक्र च$_1$ च$_5$ किसी व्यक्ति द्वारा श्रम का पूर्ति वक्र है।

जब मजदूरी 'न$_1$ च$_1$' $\left[\text{चित्र ३(क) में } \frac{न_1 प_1}{मन_1}\right]$ है तो मन$_1$ प्रकटित घंटे काम करने के लिये मजदूर राजी है। जब मजदूरी न$_2$ $\left[\text{चित्र ३ (क) में } \frac{न_2 प_2}{मन_2}\right]$ है तो म न$_2$ घंटे काम करने के लिये वह राजी है आदि।

यह देखा जा सकता है कि वक्र च$_1$ च$_5$ पुनर्प्रवेश० करने वाला वक्र काम के घंटे उच्चतम म न$_4$ हो जाते हैं। इस स्तर पर मजदूरी न$_4$ च$_4$ है।

० पुनर्प्रवेश करने वाले वक्र से अभिप्राय है पीछे की ओर ढालू वक्र से। का वक्र पीछे की ओर ढालू तब होता है जब कीमत बढ़ने पर पूर्ति कम होती है

ये री इससे अधिक बढाई जाती है तो किये हुए काम मे कमी आ जाती है। इस
पूर्ति के उदासीन वक्रो द्वारा हम ने यह भी देख लिया कि पूर्ति का वक्र पीछे को
ढालू हो सकता है। हम जानते है कि कोई विक्रेता यदि भिन्न-भिन्न वस्तु
ओ के लिये भिन्न-भिन्न की कीमतें लेता है तो वह किसी क्रेता से, अपेक्षाकृत,
क मुद्रा पा सकता है। इसी प्रकार श्रम का क्रेता यदि भिन्न भिन्न घटो के लिये
-भिन्न मजदूरी देता है तो एक निश्चित रक्म से अपेक्षाकृत वह अधिक श्रम खरीद
ा है। उदाहरण के लिये, मान लिया कि कोई श्रम का क्रेता चित्र ३ (क)
नुसार पहले अ न$_3$ घटो के लिये प्रति घटा के हिसाब से $\frac{प_3 न_3}{अ न_3}$ मजदूरी
है, तथा उसके बाद प्रति घटा काम के लिये प$_3$ प'$_3$ द्वारा प्रकट ऊची दर
मजदूरी देता है तो आय घटे की रेखा अ प$_3$ प'$_3$ हो जाती है तथा उच्चतम
सीन वक्र जिस पर हम पहुँचते हैं वह उ$_3$ नही बल्कि उ$_4$ है, यदि हम यह मान
कि कि प$_3$ प$_3$ उदासीन वक्र उ$_4$ को बिन्दु प$_3$ पर छूती है। इसको 'अतिरिक्त'
मजदूरी देना कहते हैं। चित्र से हम यह देख सकते हैं कि इस प्रकार मजदूरी से
तने घटे (अ न$_3$) काम लिया जा सकता है उतने घटे, यदि मजदूरी की दर
र होती, तो किसी भी मजदूरी पर वह काम करने के लिये राजी न होता।

चित्र २ (क) हमे यह भी बताता है कि यदि मजदूरी के अतिरिक्त इस व्यक्ति
पास आय के अन्य साधन भी हैं तो एक निश्चित प्रति घटा मजदूरी पर वह
तने घटे काम करना चाहेगा। मान लिया कि अन्य साधनो से उसकी आय अ क
बराबर है तथा वह अ प$_5$ द्वारा प्रकटित प्रति घटे मजदूरी कमा सकता है तो
से अ प$_3$ के समानान्तर खीची हुई 'कुल' रेखा आय घटे की वक्र है। यदि यह
क्र किसी उदासीन वक्र को 'ल' पर छूता है तो 'ल' बिन्दु के निर्देशाक हमे यह
ताते हैं कि वह कितने घटे (अ न) काम करेगा और कितनी कुल आय (न ल) वह
मायेगा। हम यह आसानी से देख सकते हैं कि अन्य श्रोतो से उसकी आय जितनी
अधिक होगी (अ क') उतने ही कम घट वह काम करेगा।

ीमत घटने पर अधिक। साधारण अवस्था मे इसका विपरीत सहा होता है इसका
दाहरण हम एक किसान की अवस्था से दे सकते हैं। मान लिया कि किसान गन्ना बेच-
र अपनी आय करता है। और उसे अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये १०००)
तिवर्ष चाहिए। अब यदि किसी वर्ष उसने देखा कि गन्ने का दाम आगे चलकर बढने
ला है तो वह कम गन्ना बोयगा इस आशा से कि उसे १०००) इसी के बेचने से
मल जायेंगे, किन्तु यदि गन्ना सस्ता है तो १०००) पाने के लिये अधिक गन्ना
ोना पडेगा। पूर्ति की इस विचित्रता को पृष्टगामी वक्र द्वारा हम दिखा सकते हैं।

नेशनल प्रेस, मेरठ।

BIBLIOGRAPHY

BIBLIOGRAPHY

1	*Allen C L and Others*	Prices Income and Public Policy
2	*American Economic Association*	(i) Readings in Business Cycle Theory (ii) Readings in the Theory of Income Distribution (iii) Readings in Price Theory
3	*(Asia Publishing House)*	A Survey of contemporary Economics
4	*Bach, G L*	Economics
5	*Bain J S*	Pricing Distribution and Employment
6	*Baumol W J*	Economic Dynamics
7	*Benham F*	Economics, A General Introduction
8	*Berle A A & Means, G C*	The Modern Corporation and Private Property
9	*Boris Ischboldin*	Economic Synthesis
10	*Boulding K E*	(i) Economic Analysis (ii) A Reconstruction of Economics
11	*Burns A R*	The Decline of Competition
12	*Bye E & Hewett, P*	Applied Economics
13	*Cannan E*	Review of Economic Theory
14	*Carr Saunders*	Population
15	*Chamberlin E H*	Theory of Monopolistic Competition
16	*Chandrasekhar, S*	Population Planning and Planned Parenthood in India
17	*Chapman*	Outline of Political Economy
18	*Clark J B*	Essentials of Economic Theory
19	*Crowther, G*	An Outline of Money
20	*Dernburg and M C Dougall*	Macro Economics
21	*Dobb M*	On Economic Theory and Socialism
22	*Dudley Dillard*	The Economics of John Maynard Keynes
23	*Eastham J K*	Graphical Economics
24	*Estey*	Business Cycles

25 *Eric Roll*	A History of Economic Thought
26 *Fellner W*	Competition among the Few
27 *Fisher Irving*	The Nature of Capital and Income
28 *Frazer L M*	Economic Thought and Language
29 *Friedman M*	Essays in Positive Economics
30 *Gide*	Political Economy
31 *Gide & Rist*	A History of Economic Doctrines
31A *Griffin Clare*	An Economic Approach to Anti Trust Problems
32 *Gyan Chand*	India's Teeming millions
33 *Haberler G*	Prosperity and Depression
34, *Haley B F*	Survey of Contemporary F
35 *Halm G N*	Monetary Theory
36 *Hamberg*	Business Cycles
37 *Haney*	History of Economic Thought
38 *Hans Brem*	Product Equilibrium Under Monopolistic Competition
39 *Hansen A H*	(i) Business Cycles and Natural Income (ii) Fiscal Policy and Business Cycles (iii) A Guide to Keynes
40 *Harris, S E*	(i) The New Economics (Edt) (ii) John Maynard Keynes
41 *Harrod R F*	Towards Dynamic Economics
42 *Hawtrey, R G*	(i) Economic Destiny (ii) Trade and Credit
43 Hayek, Von F A	(i) Prices and Production (ii) Pure Theory of Capital (iii) Individualism and Economic Order
44 *Hazlitt, H*	(i) The Failure of the New Economics (ii) The Critics of Keynesian Economics (Edt)
45 *Hicks, J R*	(i) Value and Capital (ii) Theory of Wages (iii) *A Theory of Trade Cycle* (iv) A Contribution to the Theory of Trade Cycle

Author	Title
46 *Ian Bowen*	Population
47 *Kalecki, M*	(i) Theory of Economic Dynamics (ii) Essays in Theories of Economic Fluctuations
48 *Kaldor Nicholas*	(i) Essays on Economic Stability and Growth (ii) Essays on Value and Distribution
49 *Keynes, J M.*	(i) The General Theory of Employment Interest and Money (ii) A Treatise on Money Vols I and II (iii) Essays in Persuasion (iv) How to Pay for War (v) Monetary Reform.
50 *Keirstead B S*	The Theory of Economic Change
51 *Klein L R*	The Keynesian Revolution
52 *Knight F*	(i) The Ethics of Competition and other Essays. (ii) Risk, Uncertainty and Profit
53 *Kurihara, K*	(i) Monetary Theory and Public Policy (ii) Introduction to Keynesian Dynamics (iii) Post Keynesian Economics
54 *Kuznets, S*	Economic Change
55 *Landis, P H*	Population Problems A Cultural Interpretation.
56 *Lerner*	Economics of Employment
57 *Lundberg, Erik*	Business Cycles and Economic Policy (Trans by J Potter)
58 *Macord Wright, D*	A Key to Modern Economics
59. *Malchup, F*	Economics of Sellers Competition
60 *Malthus, T R*	An Essay on Population
61 *Marx*	Critique of Political Economy
62. *Marshall, A*	Principles of Economics
62A *Matthews, R C O*	The Trade Cycle

63 *Meade J E and Hitch C J*	Introduction to Economic Analysis and Policy
64 *Mehta J K*	(i) Lectures on Modern Economic Theory (ii) Studies in Advanced Economic Theory
65 *Meyers*	Elements of Modern Economics
66 *Mises Von*	The Anti Capitalistic Mentality
67 *Mitchell W C*	Business Cycles and their causes
68 *Moo & others*	Modern Economics
69 *Mund V A*	Government and Business
70 *Myrdal, Gunrar*	(i) Population a problem for Democracy (ii) Monetary Equilibrium.
71 *Oskar Lange & F M Taylor*	On Economic Theory of Socialism
72 *Pearson & Harper*	The World s Hunger
73 *Pigou A C*	(i) Economics of Welfare (ii) Industrial Fluctuations (iii) Keyne s General Theory—A Retrospective View
74 *Raymond Pearl*	The Biology of Population growth
75 *Ricardo, D*	Principles of Political Economy and Taxation
76 *Robertson*	Lectures on Economic Principles Vol I
77 *Robins*	The Nature and Significance of Economic Science
78 *Robinson E A G*	(i) The Structure of Competitive Industry (ii) Monopoly
79 *Robinson Joan*	Economics of Imperfect Competition
80 *Ryan W J L*	Price Theory
81 *Samuelson, P A*	(i) Economics An Introductory Analysis (ii) Foundation of Economi Analysis
82 *Samuleson Bishop and Cole man*	Readings in Economics.

83 *Schumpeter* — (i) Business Cycles
(ii) Theory of Economic Development

84 *Scitovsky T* — Welfare and Competition

85 *Sexton C C* — The Economic of Price Determination

86 *Smith Adam* — Wealth of Nations (Everyman's Library) Vol I & II

87 *Stalin J V* — Economic Problems of Socialism in U S S R

88 *Stigler* — (i) Production and Distribution Theories
(ii) Readings in Price Theory (Ed)
(iii) Theory of Prices
(iv) Five Vecture on Economic Problems

89 *Storks J L* — Time Cause and Eternity

90 *Stonier & Hague* — A Text book of Economics

91 *Sweezy P* — The Theory of Capitalistic Development

92 *Tarshis L* — The Elements of Economics

93 *Taussig* — Principles of Economics

94 *Thompson W S* — Population Problems

95 *Triffin R* — Monopolistic Competition and General Equilibrium Theory

96 *Umbriet Hunt and Kinter* — (i) Economics An introduction to Principles and Problems
(ii) Modern Economic Problems

97 *Walras* — Papers relating its Political Economy

98 *Warren S T* — Population Problems

99 *Waugh A E* — Principles of Economics

100 *Weintraub Sydney* — Price Theory

101 *Wick Sell* — (i) Lectures on Political Economy Vol I
(ii) Selected Papers in the Economic Theory
(iii) Value Capital and Rent

102 *Wicksell P H* — The Commonsense of Political Economy Vols I & II

103 *Wiles P J D* — Price Cost and Output

104 *Zeuthen F* — Economic Theory and Method

INDEX

इस पुस्तक में प्रयुक्त कतिपय आवश्यक पदों के समानार्थी अंग्रेजी पद

अक्ष Axis

अग्रिम Advance

अज्ञात परिवर्तनशील Unknown Variables

अतिमानव Superman

अत्युत्पादन Over production

अर्थव्यवस्था Economy

अर्थशास्त्र Economics

अधिमानता Preference

अधोन्मुखी Declining, Falling

अधोमुख Downward

अनन्त Infinite

अनवरत वक्र Continuous Curve

अनुकूलतम Optimum

अनुक्रम Succession

अनुत्पादक Unproductive

अनुप्रस्थ तरंगें Transversal Waves

आनुपातिक Proportional

अनुपूर्ति Subsidy

अनुभववाद Empiricism

अनुमान Inference, Conclusion Guess

अनुवर्ती Consequent

अनुसूची Schedule

अपनयन Elimination

अपस्फीति Deflation

अपसृत Divergent

अभिनव-परिवर्तन Innovation

अर्जित Earned, Acquired

अल्पकालीन अवधि Short-term Period

अवधि Period

अवनति Recession

अवमूल्यन Depreciation

अवयव Organ

अवरोध Resistance

अवसाद Depression

अविनियोग Dis-investment

आंशिक Partial

आकृति Form

आगमन

आदा Input

आभास Quasi

आरोही Descending

आलेखन Plot

आलोचना Criticism

आवृत्ति Recurrence

इच्छा Want

उत्क्रमणीय Reversible

उत्तरपद Consequent

उद्वेग Emotion

उन्नतोदर Convex

उपधारण Assumption

उपभोग Consumption

उपभोग वस्तु Consumption goods

उपमान Anology

उपोत्पादक By product

ऊर्ध्व Vertical

एकीकरण Integration

ऐच्छिक Voluntary

कम्पन विस्तार Amplitude

कम्पनांक Frequency

कलाएँ Phases
कुल Aggregate, Total Gross
कारण Cause
कारण निमित्त Efficient Cause
कार्य Effect
कार्य क्षमता Efficiency
कोटि Ordinate
क्षमशील माग Effective demand
क्षैतिज Horizontal
खम Kink
गतिशास्त्र Dynamics
गुणक Multiplier
गतिज Kinetic
गतिवर्द्धक सिद्धान्त
Accleration Principle
गर्भधारण Gestation
गुणोत्तर श्रणी
Geometrical Progression
घातक प्रतियोगिता
Cut throat competition
चरण Stage, Phase
चिरकालीन Chronic
जीवपिण्ड Organism
तादात्म्य Identity
तीव्रीकरण Intensification
दत्त Data
दुरभि सधि Collusion
दैर्घ्य Length
द्रव अधिमानता
Liquidity Preference
द्रवता Liquidity
द्विपाश्व Bilateral
धर्म Property
नतोदरीय Concave
निगमन Deduction
निर्णय Judgment
निर्देश वचन *Proposition*
निर्देशांक Coordinate
निर्धारक Determinant
नियमित Regular
निष्पत्ति/*Ratio*
न्यूनोपयोगित Under employed
न्यून उपयोगीकरण
Under employment
पक्षावयव Minor Premise
पद Term
पदान्तर Common Difference
परवलय Parabola
पारिभाषिक Technical
परिमाण Quantity, Magnitude
परिवर्तनशील *Variable*
पर्यवेक्षण Observation
पिछाड Lag
पार्श्विक Lateral
पुनरुत्थान Revival
पूञ्जी की सीमान्त कार्यक्षमता
Marginal efficiency of capital
पूरक Complementary
पूर्ण प्रतियोगिता Perfect competition
पूर्वपद Antecedent
पूर्वसिद्धि Presumption
पेशियों की शक्ति Muscular Force
प्रचलित Current
प्रचुरता Abundance
प्रच्छन्न Latent
प्रति Cross
प्रतिक्रिया Reaction
प्रतिज्ञा *Premises*
प्रतिच्छायित Overlapped
प्रतिभा Intuition
प्रतिमान Norm
प्रदा Output

प्रत्यय Idea, Concept
प्रत्याय Return
प्रत्याशा Expectation
प्रयोजन Purpose
प्रयोजनीयता Applicability
प्रवृत्ति Propensity, Tendency
प्रवैगिक अर्थशास्त्र
Dynamics-Economics
प्रशुल्क Tariff
पारितोषिक Remuneration
प्राचल Parameter
प्राविधिक Technological
फलन Function
फलन-सम्बन्ध
Functional-Relationship
भेदक लोच Cross elasticity
मितव्ययिता Economy, Frugality
मुद्रा-परिमाण Quantity of Money
मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त
Quantity Theory of Money
यौगिक Aggregate
राशि Quantity
राशिपातन Dumping
वर्द्धमान Cumulative
वस्तुविषयक Objective
विकास Development, Evolution
विकास्य Developmental
विक्रयद्वयाधिकार Duopoly
विक्रयाल्पाधिकार Oligopoly
विक्रयैकाधिकार Monopoly
विक्रयैकाधिकारिक प्रतियोगिता
Monopolistic Competition
विनियोग Investment
विभाजन Allocation
विभेदित
Differentiated, Discreminated
विरत वक्र Discontinuous Curve
विलम्बित Lagged
विषमाङ्ग विषमावयव Heterogeneous
विस्तार Extention
वैकल्पिक Alternative
व्यतिक्रम
Fluctuation, Disturbance
व्यष्टि अर्थशास्त्र Micro Economics
व्युत्क्रम Reciprocal
व्याख्या Interpretation
व्यापार चक्र Trade cycle,
Business cycle
व्यापारातिशयता Boom
शरीर क्रिया-विज्ञान Physiology
शुद्ध प्रतियोगिता Pure Competition
सङ्कुचन (सङ्कोच) Contraction
सगठन Integration, organization
सगत Corresponding
सज्ञा सज्ञानि सम्बन्ध Denotation
सतुलित Balanced
सयुक्त बल Resultant Force
सयुक्त माग Joint Demand
सविदा Contract
सविद-वक्र Contract Curve
सव्यवहार Transaction
सश्लेषण Synthesis
सस्थिति Equilibrium
ससृत Convergent
समतुल्य Equivalent
समन्वय Analysis
समरूपता Uniformity
समष्टि-अर्थशास्त्र Macro Economics
समान्तर श्रेणी
Arithmetical Progression
समायोजन Adjustment
समावयव Homogeneous

विभेदीकरण Discrimination
मम्पात Coincidence
माध्यावयव Major premise
मापश Relative
मामान्य General, Normal
साम्य Equality Balance
मारिणी Table
सीमान्त Marginal
सूत्र Formula
सैद्धान्तिक Theoritical
स्टाक वहन लागत Carrying Cost
स्थानापन्नता Substitution
स्थानापन्न Subsitute
स्थैतिक अर्थशास्त्र
Statics Economics
स्नायु प्रणाली Nervous System
स्पर्शक Tangent
स्वपरिचालित Self generating
स्वय सिद्धि Axiom
स्वीकृत नियम Postulates
स्थिर Stationary
स्थिरता Stability
त्रिविस्तारी Three dimensional